आचार्य देवेन्द्र मुनि

६

कर्म-विज्ञान

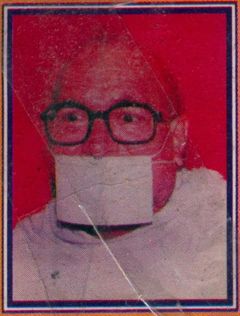

प्रज्ञापुरुष आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

साधुता, सरलता से दीप्तिमान होती है,

विद्या, विनय से शोभती है,

सबके प्रति सद्भाव, समभाव और सबके लिए हित-कामना से संघनायक का पद गौरवान्वित होता है।

श्रद्धेय आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी के साथ यदि आप कुछ क्षण बितायेंगे और उनके विचार; व्यवहार को समझेंगे तो आप अनुभव करेंगे–ऊपर की पंक्तियाँ उनकी जीवन-धरा पर बहती हुई वह त्रिवेणी धारा है, जिसमें अवगाहन करके सुख, शान्ति और सन्तोष का अनुभव होगा।

श्रुत की सतत समुपासना और निर्दोष निष्काम सहज जीवनशैली, यही है आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी म. का परिचय। छोटे-बड़े; अमीर-गरीब सभी के साथ शालीन व्यवहार, मधुर स्मित के साथ संभाषण और जन-जन को संघीय एकतासूत्र में बांधे रखने का सहज प्रयास; आचार्यश्री देवेन्द्र मुनिजी की विशेषताएँ हैं।

वि. सं. १९८८ धनतेरस (कार्तिक वदी १३) ७-११-१९३१ को उदयपुर में जन्म।

वि. सं. १९९७ में गुरुदेव उपाध्यायश्री पुष्कर मुनि जी म. सा. के चरणों में भागवती जैन दीक्षा।

वि. सं. २०४९ अक्षय तृतीया को श्रमण संघ के आचार्य पद पर प्रतिष्ठा।

प्राकृत-संस्कृत, गुजराती, मराठी, हिन्दी आदि भाषाओं का अधिकार पूर्ण ज्ञान तथा आगम, वेद, उपनिषद्, पिटक, व्याकरण, न्यास, दर्शन, साहित्य, इतिहास आदि विषयों का व्यापक अध्ययन अनुशीलन और धारा प्रवाह लेखन।

लिखित/संपादित/प्रकाशित पुस्तकों की संख्या ३६० से अधिक। लगभग पैंतालीस हजार से अधिक पृष्ठों की सामग्री।

विनय, विवेक, विद्या की त्रिवेणी में सुस्नात पवित्र जीवन; इन सबका नाम है आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी महाराज।

–दिनेश मुनि

कर्म-विज्ञान

छठा भाग

संवर तत्त्व के विविध स्वरूपों का विवेचन

आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय का ३४४वाँ रत्न

- **कर्म-विज्ञान** : छठा भाग
  (संवर तत्त्व के विविध स्वरूपों का विवेचन)

- **लेखक** : आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

- **सम्पादक** : विद्वद्रत्न मुनि श्री नेमिचन्द्र जी

- **प्रथम आवृत्ति** : वि. सं. २०५३, श्रावण शुक्ला १
  अगस्त १९९६

- **प्रकाशक/प्राप्ति-स्थान** : श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
  गुरु पुष्कर मार्ग, उदयपुर-३१३ ००१
  फोन : (०२९४) ४१३५१८

- **मुद्रण** : श्री राजेश सुराना द्वारा,
  दिवाकर प्रकाशन
  ए-७, अवागढ़ हाउस, एम. जी. रोड
  आगरा-२८२ ००२
  फोन : (०५६२) ३५११६५

- **मूल्य** : एक सौ पच्चीस रुपया

प्रकाशकीय बोल

धर्म और कर्म अध्यात्म जगत् के ये दो अद्‌भुत शब्द हैं, जिन पर चैतन्य जगत् की समस्त क्रिया/प्रतिक्रिया आधारित है। सामान्यतः धर्म शब्द मनुष्य के मोक्ष/मुक्ति का प्रतीक है और कर्म शब्द बंधन का। बंधन और मुक्ति का ही यह समस्त खेल है। कर्मबद्ध आत्मा प्रवृत्ति करता है, कर्म में प्रवृत्त होता है, सुख-दुःख का अनुभव करता है, कर्म से मुक्त होने के लिए फिर धर्म का आचरण करता है, मुक्ति की ओर कदम बढ़ाता है।

'कर्मवाद' का विषय बहुत गहन गम्भीर है, तथापि कर्म-बंधन से मुक्त होने के लिए इसे जानना भी परम आवश्यक है। कर्म-सिद्धान्त को समझे बिना धर्म को या मुक्ति-मार्ग को नहीं समझा जा सकता।

हमें परम प्रसन्नता है कि जैन जगत् के महान् मनीषी, चिन्तक/लेखक आचार्यसम्राट् श्री देवेन्द्र मुनि जी महाराज ने 'कर्म-विज्ञान' नाम से यह विशाल ग्रन्थ लिखकर अध्यात्मवादी जनता के लिए महान् उपकार किया है। यह विराट् ग्रन्थ लगभग ४५०० पृष्ठ का होने से हमने आठ भागों में विभक्त किया है। प्रथम भाग में कर्मवाद पर दार्शनिक एवं वैज्ञानिक चर्चा है तथा दूसरे भाग में पुण्य-पाप पर विस्तृत विवेचन है। तृतीय भाग में आस्रव एवं उसके भेदोपभेद पर तर्क पुरस्सर विवेचन है। चौथे भाग में कर्म-प्रकृतियों का, पाँचवें भाग में बंध की विविध प्रकृतियों की विस्तृत चर्चा है।

इस छठे भाग में कर्म का निरोध एवं क्षय करने के हेतु संवर तथा निर्जरा के साधन एवं स्वरूप का विवेचन किया गया है।

यद्यपि कर्म-विज्ञान का यह विवेचन बहुत ही विस्तृत होता जा रहा है, प्रारम्भ में हमने तीन भाग की कल्पना की थी। फिर पाँच भाग का अनुमान लगाया, परन्तु अब यह आठ भाग में परिपूर्ण होने की संभावना है। किन्तु इतना विस्तृत विवेचन होने पर भी यह बहुत ही रोचक और जीवनोपयोगी बना है। पाठकों को इसमें ज्ञानवर्द्धक सामग्री उपलब्ध होगी साथ ही जीवन में आचरणीय भी।

इसके प्रकाशन में पूर्व भागों की भाँति दानवीर डॉ. श्री चम्पालाल जी देशरड़ा का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। डॉ. श्री देशरड़ा साहब बहुत ही उदारमना समाजसेवी गुरुभक्त सज्जन हैं। पूज्य गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज के प्रति आपकी अपार आस्था रही है, वही जीवन्त आस्था श्रद्धेय आचार्यश्री के प्रति भी है। आपके सहयोग से इस भाग का प्रकाशन करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता है।

चुन्नीलाल धर्मावत

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय

पुस्तक प्रकाशन के विशिष्ट सहयोगी
डॉ. श्री चम्पालाल जी देसरड़ा

सभी प्राणी जीवन जीते हैं, परन्तु जीना उन्हीं का सार्थक है जो अपने जीवन में परोपकार, धर्माचरण करते हुए सभी के लिए सुख और मंगलकारी कर्त्तव्य करते हों। औरंगाबाद निवासी डॉ. श्री चम्पालाल जी देसरड़ा एवं सौ. प्रभादेवी का जीवन ऐसा ही सेवाभावी परोपकारी जीवन है।

श्रीयुत चम्पालाल जी के जीवन में जोश और होश दोनों ही हैं। अपने पुरुषार्थ और प्रतिभा के बल पर उन्होंने विपुल लक्ष्मी भी कमाई और उसका जन-जन के कल्याण हेतु सदुपयोग किया, कर रहे हैं। आपमें धार्मिक एवं सांस्कृतिक अभिरुचि है। समाजहित एवं लोकहित की प्रवृत्तियों में उदारतापूर्वक दान देते हैं, स्वयं अपना समय देकर लोगों को प्रेरित करते हैं। अपने स्वार्थ व सुख-भोग में तो लाखों लोग खर्च करते हैं परन्तु धर्म एवं समाज के हित में खर्च करने वाले विरले होते हैं। आप उन्हीं विरले सत्पुरुषों में एक हैं।

आपके पूज्य पिता श्री फूलचन्द जी साहब तथा मातेश्वरी हरकूबाई के धार्मिक संस्कार आपके जीवन में पल्लवित हुए। आप प्रारम्भ से ही मेधावी छात्र रहे। प्रतिभा की तेजस्विता और दृढ़ अध्यवसाय के कारण धातुशास्त्र में (Metallurgical Engineering) पी-एच. डी. की उपाधि प्राप्त की।

आपका पाणिग्रहण पूना निवासी श्री मोतीलाल जी नाहर की सुपुत्री अ. सौ. प्रभादेवी के साथ सम्पन्न हुआ। सौ. प्रभादेवी धर्मपरायण, सेवाभावी महिला हैं। जैन आगमों में धर्मपत्नी को 'धम्मसहाया' विशेषण दिया है वह आपके जीवन में चरितार्थ होता है। आपके जीवन में सेवा, दान, स्वाध्याय एवं सामायिक की चतुर्मुखी ज्योति है।

आपके सुपुत्र हैं—श्री शेखर जी। वह भी पिता की भाँति तेजस्वी प्रतिभाशाली हैं। इंजीनियरिंग परीक्षा १९८६ में विशेष योग्यता से समुत्तीर्ण की है। आपने तभी से पिता के कारखानों के कारोबार में निष्ठा से तथा अतियोग्यता के साथ काम-काज सम्भाला है। पेपर मिलों के अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में अपने उत्पादन को लब्धप्रतिष्ठित किया है। शेखर जी की धर्मपत्नी सौ. सुनीतादेवी तथा सुपुत्र श्री किशोर कुमार एवं मधुर हैं।

उदार सहयोग प्रदाता

धर्मप्रेमी दानवीर परम गुरुभक्त
श्रीमान डॉ. चम्पालाल जी पी. देशरडा, औरंगाबाद

धर्मशीला सौ. प्रभाबाई चम्पालाल जी देशरडा

श्री शेखर जी भी धर्म एवं समाज-सेवा में भाग लेते हैं तथा उदारतापूर्वक सहयोग प्रदान करते हैं।

श्री चम्पालाल जी की दो सुपुत्रियाँ हैं—सौ. सपना दुगड, नासिक और कुमारी शिल्पा।

आप अनेक सेवाभावी सामाजिक संस्थाओं के उच्च पदों पर आसीन हैं। दक्षिणकेसरी मुनि श्री मिश्रीलाल जी महाराज होम्योपैथिक मेडिकल कॉलेज, गुरु गणेशनगर तथा गुरु मिश्री अस्पताल, औरंगाबाद के आप सेक्रेटरी हैं। आप अभी दक्षिणकेसरी मुनि मिश्रीलाल जी महाराज ग्रामीण केन्सर अस्पताल तथा रिसर्च इन्स्टीट्यूट की विशाल महायोजना को सम्पन्न कराने में तन-मन-धन से जुटे हुए हैं।

सन् १९८८ में श्रद्धेय उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज एवं आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी महाराज अहमदनगर का वर्षावास सम्पन्न कर औरंगाबाद पधारे, तब आपका आचार्यश्री से सम्पर्क हुआ। आचार्यश्री के साहित्य के प्रति आपकी विशेष अभिरुचि जाग्रत हुई। कर्म-विज्ञान पुस्तक के विभिन्न भागों के प्रकाशन में आपश्री ने विशिष्ट अनुदान प्रदान किया है। अन्य अनेक प्रकाशनों में भी आपश्री ने मुक्त हृदय से अनुदान प्रदान किया है तथा स्वाध्यायोपयोगी साहित्य फ्री वितरण करने में भी बहुत रुचि रखते हैं। आपकी भावना है, घर-घर में सत्साहित्य का प्रचार हो, धर्म एवं नीति के सद्विचारों से प्रत्येक पाठक का जीवन महकता रहे।

आपकी उदारता और साहित्यिक सुरुचि प्रशंसनीय ही नहीं अनुकरणीय भी है। आपके सहयोग के प्रति हार्दिक साधुवाद !

आपके व्यावसायिक प्रतिष्ठान निम्न हैं :

- **PRATISHTHAN ALLOY CASTINGS**
- **PRATISHTHAN ALLOYS PVT. LTD.**
- **PARASON MACHINERY (INDIA) PVT. LTD.**
- **SUNMOON SLEEVES PVT. LTD.**

—चुन्नीलाल धर्मावत
कोषाध्यक्ष
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर

अनेक प्रश्नों का एक उत्तर : कर्म-विज्ञान

जैनदर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है। सापेक्षवाद की पृष्ठभूमि पर इसका विकास हुआ है। प्रत्येक प्रश्न पर वह सापेक्षदृष्टि से विचार करता है। आत्मा के सम्बन्ध में भगवान महावीर ने कहा है—एगे आया—आत्मा एक है। यह कथन स्वभाव की दृष्टि से है। आत्मा का स्वभाव है चेतना। उपयोग। चेतना की दृष्टि से संसार की सभी आत्माएँ समान हैं। सबमें सुख-दुःख की संवेदना है। सबको सुख प्रिय है। दुःख अप्रिय है। इस दृष्टि से सब आत्माएँ समान हैं। स्वभाव, स्वरूप एवं अस्तित्व की दृष्टि से प्रत्येक आत्मा समान है।

दूसरी दृष्टि से चिन्तन करने पर हम यह देखकर विस्मय में पड़ जाते हैं कि संसार में कोई भी आत्मा समान नहीं है। कोई जीव एकेन्द्रिय वाला है, कोई दो इन्द्रिय वाला, कोई तीन तो कोई चार व पाँच इन्द्रिय वाला। किसी प्राणी की चेतना बहुत विकसित है। बुद्धि प्रखर है। शरीर व इन्द्रियाँ परिपूर्ण हैं तो किसी प्राणी की आत्मचेतना बहुत अल्पविकसित है। मंद-बुद्धि है। शरीर से रोगी है, इन्द्रियाँ भी हीन हैं। इस प्रकार संसार में कोई भी आत्मा या जीव समान नहीं दीखता। प्रत्येक जीव के बीच इतनी असमानता व भिन्नता है कि देखकर विस्मय एवं कुतूहल होता है कि यह कौन कलाकार है जिसने इतनी कुशलता व चतुरता के साथ प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ का निर्माण किया है कि सभी परस्पर एक-दूसरे से भिन्न और असमान दिखाई देते हैं।

संसार की विचित्र स्थितियों को देखकर मन में एक कुतूहल जगता है। संसार में इतनी विभिन्नता/इतनी विचित्रता क्यों है? प्रकृति के अन्य अंगों को छोड़ देवें, सिर्फ मनुष्य जाति पर ही विचार करें तो हम देखेंगे, भारत के ८0 करोड़ मनुष्यों में कोई भी दो मनुष्य एक समान नहीं मिलते। उनकी आकृति में भेद है, प्रकृति में भेद है। कृति, मति, गति और संस्कृति में भी भेद है। विचार और भावना में भेद है। तब प्रश्न उठता है, आखिर यह भेद या अन्तर क्यों है? किसने किया है? इसका कारण क्या है?

प्रकृतिजन्य अन्तर या भेद के कारणों पर तो वैज्ञानिकों ने बड़ी सूक्ष्मता और व्यापकता से विचार किया है और उन्होंने एक कारण खोज निकाला—हेरिडिटी—(Heredity) वंशानुक्रम।

वैज्ञानिकों का कहना है—हमारा शरीर कोशिकाओं द्वारा निर्मित है। एक कोशिका (एक सेल) कितना छोटा होता है, इस विषय में विज्ञान की खोज है—एक पिन की नोंक पर टिके इतने स्थान पर लाखों लाख कोशिकाएँ हैं। कोशिकाएँ इतनी

सूक्ष्म हैं। उन सूक्ष्म कोशिकाओं में जीवन-रस है। उस जीवन-रस में जीवकेन्द्र–न्यूक्लीयस (Nucleus) है। जीवकेन्द्र में क्रोमोसोम (Chromosomes) गुणसूत्र विद्यमान हैं। उनमें जीन (जीन्स–Genes) हैं। जीन में संस्कारसूत्र हैं। ये जीन (Genes) ही सन्तान में माता-पिता के संस्कारों के वाहक या उत्तराधिकारी होते हैं। एक जीन जो बहुत ही सूक्ष्म होता है, उसमें छह लाख संस्कारसूत्र अंकित होते हैं। इन संस्कारसूत्रों के कारण ही मनुष्यों की आकृति, प्रकृति, भावना और व्यवहार में अन्तर आता है।

इस वंशानुक्रम विज्ञान (जीन सिस्टमोलोजी) का आज बहुत विकास हो चुका है। यद्यपि वंशानुक्रम के कारण अन्तर की बात प्राचीन आयुर्वेद एवं जैन आगमों में भी उपलब्ध है। आयुर्वेद के अनुसार पैतृक गुण अर्थात् माता-पिता के संस्कारगत गुण सन्तान में संक्रमित होते हैं। भगवान महावीर ने भी भगवती तथा स्थानांगसूत्र में जीन को मातृअंग पितृअंग के रूप में निरूपित किया है। इसलिए आधुनिक विज्ञान की वंशानुक्रम विज्ञान की खोज कोई नई बात नहीं है। मारवाड़ी भाषा का एक दूहा प्रसिद्ध है:

बाप जिसो बेटो, छाली जिसो टेटो,
घड़े जिसी ठिकरी, माँ जिसी दीकरी।

यह निश्चित है कि माता-पिता के संस्कार सन्तान में संक्रमित होते हैं और वे मानव व्यक्तित्व के मूल घटक होते हैं। परन्तु देखा जाता है, एक ही माता-पिता की दो सन्तान–एकसमान वातावरण में, एकसमान पर्यावरण में पलने पर, एकसमान संस्कार और शिक्षा की व्यवस्था होने पर भी–दोनों में बहुत-सी असमानताएँ रहती हैं। एकसमान जीन्स होने पर भी दोनों के विकास में, व्यवहार में, बुद्धि और आचरण में भेद मिलता है। एक अनपढ़ माता-पिता का बेटा प्रखर बुद्धिमान् और एक डरपोक कायर माता-पिता की सन्तान अत्यन्त साहसी, वीर, शक्तिशाली निकल जाती है। बुद्धिमान् माता-पिता की सन्तान मूर्ख तथा वीर कुल की सन्तान कायर निकल जाती है। सगे दो भाइयों में से एक का स्वर मधुर है, कर्णप्रिय है, तो दूसरे का कर्कश है। एक चतुर चालाक वकील है, तो दूसरा अत्यन्त शान्तिप्रिय, सत्यवादी हरिश्चन्द्र है। ऐसा क्यों है?

वंशानुक्रम विज्ञान के पास इन प्रश्नों का आज भी कोई उत्तर नहीं है। मनोविज्ञान भी यहाँ मौन है। एक सीमा तक जीन्स का अन्तर समझ में आ सकता है। परन्तु जीन्स में यह अन्तर पैदा करने वाला कौन है? विज्ञान वहाँ पर मौन रहता है, तब हम कर्म-सिद्धान्त की ओर बढ़ते हैं। कर्म जीन से भी अत्यन्त सूक्ष्म सूक्ष्मतर है और जीन की तरह प्रत्येक प्राणधारी के साथ संपृक्त है। अतः जब हम सोचते हैं कि व्यक्ति-व्यक्ति में जो भेद है, अन्तर है, उसका मूल कारण क्या है? तो कर्म शब्द में इसका समाधान मिलता है। असमानता एवं विविधता का कारण कर्म है।

गणधर गौतम ने भगवान महावीर से पूछा–इन प्राणियों में परस्पर इतना विभेद क्यों है? तो भगवान महावीर ने इतना स्पष्ट और सटीक उत्तर दिया– "**गोयमा ! कम्मओ णं विभत्तीभावं जणयइ !**"–हे गौतम ! कर्म के कारण यह भेद है? 'कर्म' ही प्रत्येक प्राणी के व्यक्तित्व का घटक है। कर्म ही संसार की विचित्रता का कारण है।

विभिन्न दर्शनों में कर्म मान्यता

यद्यपि कर्म के विषय में संसार के सभी धर्म व दर्शनों ने चिन्तन किया है और अपने-अपने तर्क व युक्तियों के आधार पर संसार की इस विभिन्नता का समाधान दिया है। पश्चिमी विचारकों, दार्शनिकों एवं वैज्ञानिकों ने इस विचित्रता एवं विभिन्नता का मुख्य कारण वातावरण, वंशानुक्रम व सामाजिक परिस्थितियाँ माना है।

भारत के आस्तिक दर्शनों ने इस चिन्तन के आंतरिक कारणों पर भी चिन्तन किया है। वेदान्ती इसका कारण अविद्या, बौद्ध वासना, सांख्य क्लेश, न्याय, वैशेषिक-अदृष्ट तथा जैनधर्म ने इसे कर्म कहा है। ईश्वरवादी दर्शन संसार की भिन्नता का मूल ईश्वर को मानते हैं परन्तु वे भी कर्म को अवश्य मानते हैं। ईश्वरवादी से जब पूछा गया कि मनुष्य का अच्छे और बुरे कर्म के फल को कौन भुगताता है, तो उत्तर मिला–ईश्वर ही सबको फल भुगताता है।

किन्तु प्रश्न फिर भी खड़ा रहता है, ईश्वर तो दयालु है, समदृष्टि है, न्यायी है, फिर किसी को अच्छा और किसी को बुरा फल क्यों भुगताता है? तो ईश्वरवादी का उत्तर मिलता है–मनुष्य जब जैसा कर्म करता है, ईश्वर उसको वैसा ही फल प्रदान करता है। इस प्रकार ईश्वरवादी भी कर्म को माने बिना व्यवस्था की संगति नहीं बैठा सकता, उसे मनुष्य और ईश्वर के बीच 'कर्म' को मानना ही पड़ा। इसका मतलब हुआ–'कर्मवाद' के बिना संसार की विचित्रता का कोई समाधानकारक उत्तर नहीं मिल सकता।

विपाकसूत्र[१] में वर्णन आता है–इन्द्रभूति गौतम मृगापुत्र (मृगालोढा) को देखने के लिए गये। वह विजय क्षत्रिय राजा की रानी मृगादेवी की कुक्षि से जन्मा था। रानी की अन्य सन्तानें बहुत सुन्दर और दर्शनीय थीं, परन्तु मृगालोढा एक पत्थर के गोलमटोल आकार का लोढा जैसा था। न आदमी, न पत्थर ! उसका मुखद्वार और मलद्वार एक ही था। उसके शरीर से इतनी भयंकर बदबू आती थी कि कोई उसके पास खड़ा भी नहीं रह सकता था। यह विचित्र और अत्यन्त करुणाजनक स्थिति देखकर गौतम जैसे ज्ञानी भी द्रवित हो गये। गौतम ने भगवान के पास आकर पूछा–भन्ते ! राजघराने में जन्मा यह प्राणी इतना दारुण/असह्य दुःख क्यों भोग र ं है?

---

१. प्रथम ध्ययन

भगवान ने उत्तर दिया—गौतम ! आज यह इतना कष्ट क्यों पा रहा है, इसका उत्तर पाने के लिए वर्तमान को नहीं, अतीत को देखो। पूर्व-जन्म में उसने क्या-क्या कर्म किये हैं? उन कर्मों पर विचार करो तो तुम्हें समाधान मिलेगा कि इसे दुःख देने वाला कोई अन्य नहीं, इसी के स्वकृत कर्म हैं।

जैनदर्शन कर्म-विज्ञान के सहारे सूक्ष्म समाधान तक पहुँचता है। प्राणी के एक या दो जन्म तक नहीं, किन्तु सैंकड़ों हजारों पूर्व-जन्मों तक कर्म संस्कारों को खोजता रहा है और उस विज्ञान के आधार पर उसकी हर गति-मति का समाधान भी दिया गया है!

जैनधर्म का कर्म-विज्ञान इतना सूक्ष्म और इतना सटीक है, इतना तर्कसंगत और व्यावहारिक है कि यह सिद्धान्त अगर विज्ञान के हाथ में पहुँच गया होता तो आज वह मानव-जीवन की अनेक गूढ़ पहेलियाँ सुलझा देता और संसार को 'कर्म' के बंध, कारण और परिणाम (फल) से अवगत कराकर शायद उसे इतने घोर दुराचार से कुछ हद तक रोक भी सकता था। जिस धर्म और अध्यात्म के पास कर्म-सिद्धान्त जैसा विज्ञान है, उसके पास प्रयोग, पर्यवेक्षण, अनुसंधान जैसे विकसित साधन नहीं हैं। इसलिए कर्म-विज्ञान आज सिर्फ धार्मिक सिद्धान्त बनकर रह गया है।

मैंने बचपन से ही कर्मशास्त्र को पढ़ा है। अनेक गुरु गम्भीर ग्रन्थों का परिशीलन भी किया है। जैनधर्म की सचेलक एवं अचेलक परम्परा में कर्म-सिद्धान्त पर बहुत ही सूक्ष्म, बहुत ही गहराई से चिन्तन-मनन और अध्यात्मिक अनुभव किया गया है और मनुष्य-जीवन की प्रत्येक समस्या को कर्म-विज्ञान की दृष्टि से देखकर उसका तर्क-संगत समाधान भी दिया गया है। जैन मनीषियों का कर्म विषयक चिन्तन इतनी गहराई तक गया है कि समूची सृष्टि के कार्य-कारण भाव पर विचार करके उसका सम्यक् समाधान दिया गया है। अगर हम कर्म-साहित्य को पढ़ेंगे तो अपनी हर समस्या का समाधान स्वयं खोजने में कुशल हो जायेंगे।

प्रायः हम अपने सुख-दुःख का दोष परिस्थितियों के मत्थे मँढ़ देते हैं या किसी दूसरे के गले बाँधकर उसे कोसते हैं, गालियाँ देते हैं और मन में क्रोध, रोष, द्वेष, अनुताप, पश्चात्ताप, मोह और ममत्व से संत्रस्त होते रहते हैं। कर्म-विज्ञान हमें इस संकट से उबारता है। वह एक ही सशक्त और सम्पूर्ण समाधान देता है—''अत्त कडे दुक्खे ! णो परकडे।'' तुम्हें जो दुःख हैं, चिन्ताएँ, तनाव हैं, संकट और संत्रास के कारण हैं वे किसी दूसरे के खड़े किये हुए नहीं, उनका कारण तुम्हारी अपनी ही भावनाएँ, प्रवृत्तियाँ और वृत्तियाँ रही हैं। तुम सिर्फ वर्तमान को देखते हो इसलिए दुःखी हो, अतीत में झाँकने की चेष्टा करो, इन दुःखों का कारण समझ में आ जायेगा। दुःख का कारण समझ में आने पर उसका निवारण भी किया जा सकेगा। दुःख का सही कारण पता चलने पर व्यर्थ का रोष, द्वेष, चिन्ता, शोक स्वयं शान्त हो जायेगा। इस प्रकार कर्म-सिद्धान्त हमें बाहर से भीतर मोड़ता है, अन्तर्मुखी

बनाता है। वर्तमान से अतीत में ले जाकर द्रष्टा को स्रष्टा से परिचित करा देता है। अपने दुःख-सुख की जिम्मेदारी स्वयं पर डालता है और स्वयं ही उसका समाधान करने का मार्ग बताता है। उसके फल या परिणाम भुगतने के समय शान्त और संतुलित रहना सिखाता है।

जैनदर्शन का 'कर्मवाद' यद्यपि एक स्वतंत्र सिद्धान्त है, परन्तु वास्तव में वह आत्म-सापेक्ष है। कर्म एक कृति है, क्रिया है या क्रिया द्वारा आकृष्ट विशेष प्रकार के पुद्गल समूह है। किन्तु इसका कर्त्ता आत्मा है। इसलिए कर्म पर आत्मा की सत्ता स्वीकार की गई है। कर्म को करने वाला आत्मा है। आत्मा अपने संकल्प से कर्म करता है। इसलिए फल का उत्तरदायी कर्म नहीं, किन्तु आत्मा है। आत्मा अच्छे कर्म करेगा तो अच्छे फल पायेगा। बुरे कर्म करेगा तो बुरे फल।

सुचिन्ना कम्मा सुचिन्ना फला भवंति,
दुचिन्ना कम्मा दुचिन्ना फला भवंति।

आत्मा के द्वारा किया हुआ अच्छा कर्म अच्छा फल देता है। बुरा कर्म बुरा फल देता है। कर्म का कर्तृत्व आत्मा पर आने से जगत् में सामाजिक एवं नैतिक न्याय भी अखण्डित चलता है।

इस प्रकार जैनदर्शन ने संसार की विचित्रता का, संसार के सुख-दुःख, उन्नति-अवनति के कारण कर्म को मानकर भी उस कर्म की बागडोर आत्मा के हाथ में रखी है। आत्मा अपने संकल्प, अपनी भावना और धारणा के अनुसार कर्म करने में स्वतंत्र है। वह अपनी स्थिति, परिस्थिति में परिवर्तन ला सकता है। प्रगति कर सकता है। जीवन में परिवर्तन और प्रगति का सिद्धान्त ही साधना और तपस्या का मूल्य स्थापित करता है। इसलिए जैनदर्शन का कर्म-सिद्धान्त लचीला है, वैज्ञानिक है और आत्मा के अधीन है। लोग कहते हैं, जीव कर्म के अधीन है, परन्तु यह एकांगी दृष्टि है, वास्तव में कर्म जीव के अधीन है। कर्म क्रिया है, जीव कर्त्ता है। जीव तपस्या, ध्यान, स्वाध्याय, भावना, अनुप्रेक्षा द्वारा कर्म का निरोध करता है, कर्म का क्षय करता है और अशुभ कर्म से शुभ और शुद्ध की ओर गतिशील बनता है।

कर्म-विज्ञान के पिछले भागों में जहाँ कर्मास्रव के कारण और उसकी बंध स्थिति आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है, अब इस छठे भाग में कर्म से मुक्त होने की प्रक्रिया संवर और निर्जरा धर्म पर विस्तृत रूप में चिन्तन किया गया है। संवर के अन्तर्गत दस श्रमण धर्म और मैत्री आदि शुभ भावनाओं/अनुप्रेक्षाओं पर विवेचन किया है। क्योंकि जब तक कर्म प्रवाह का निरोध नहीं होगा, तब तक आत्मा कर्म-बन्धन से मुक्त नहीं हो सकेगा। कर्म सरोवर में आता जल प्रवाह जब तक रुकेगा नहीं, तब तक उस जल को सुखाकर सरोवर को खाली करने का प्रयास सफल नहीं हो सकता। संवर धर्म-कर्म प्रवाह को रोकता है। इसलिए इस भाग में

संवर के भेदोपभेदों पर, संवर की बहुमुखी साधना पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है। अगले भाग में निर्जरा और मोक्ष तत्व पर विवेचन किया जायेगा।

इस प्रासंगिक प्राक्कथन के साथ ही आज मैं अपने अध्यात्म नेता, श्रमणसंघ के महान् आचार्यसम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज व आचार्यसम्राट् राष्ट्रसन्त महामहिम स्व. श्री आनन्द ऋषि जी महाराज का पुण्य स्मरण करता हूँ जिन्होंने मुझे श्रमणसंघ का दायित्व सौंपने के साथ ही यह आशीर्वाद दिया था कि "अपने स्वाध्याय, ध्यान और श्रुताराधना की वृद्धि के साथ ही श्रमणसंघ में आचार कुशलता, चारित्रनिष्ठा, पापभीरुता और परस्पर एकरूपता बढ़ती रहे—जनता को जीवन-शुद्धि का सन्देश मिलता रहे इस दिशा में सदा प्रयत्नशील रहना।" मैं उनके आशीर्वाद को श्रमण-जीवन का वरदान समझता हुआ उनके वचनों को सार्थक करने की अपेक्षा करता हूँ.... चतुर्विध श्री संघ से।

मेरे परम उपकारी पूज्य गुरुदेव स्व. उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज का पावन स्मरण करते हुए मैं अपनी श्रद्धा व विश्वास के सुमन उनके पावन चरणों में समर्पित करता हूँ कि उनकी प्रेरणा और आशीर्वाद मुझे जीवन में सदा मिलता रहा है और मिलता रहेगा।

आदरणीया पूजनीया मातेश्वरी प्रतिभामूर्ति प्रभावती जी महाराज व बहिन महासती पुष्पवती जी महाराज की सतत प्रेरणा सम्वल के रूप में रही है।

कर्म-विज्ञान जैसे विशाल ग्रन्थ के सम्पादन में हमारे श्रमणसंघीय विद्वद् मनीषी मुनि श्री नेमिचन्द्र जी महाराज का आत्मीय सहयोग प्राप्त हुआ है। मुझे विहार, प्रवचन, जनसम्पर्क व संघीय कार्यों में अत्यधिक व्यस्त रहने के कारण समयाभाव रहा है, पर मेरे स्नेह सद्भावनापूर्ण अनुग्रह से उत्प्रेरित होकर मुनिश्री ने अपना अनमोल समय निकालकर सम्पादन का कठिन कार्य सम्पन्न किया तदर्थ वे साधुवाद के पात्र हैं। उनका यह सहयोग चिरस्मरणीय रहेगा और प्रबुद्ध पाठकों के लिए भी उपयोगी होगा। मैं उनके आत्मीय भाव के प्रति हृदय से कृतज्ञ हूँ।

इस लेखन-सम्पादन में जिन ग्रन्थों का अध्ययन कर मैंने उनके विचार व भाव ग्रहण किये हैं, मैं उन सभी ग्रन्थकारों/विद्वानों का हृदय से कृतज्ञ हूँ।

पुस्तक के शुद्ध एवं सुन्दर मुद्रण के लिए श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना का सहयोग तथा इसके प्रकाशन कार्य में परम गुरुभक्त उदारमना दानवीर डॉ. चम्पालाल जी देसरड़ा की अनुकरणीय साहित्यिक रुचि भी अभिनन्दनीय है। जिसके कारण प्रस्तुत ग्रन्थ शीघ्र प्रकाशित हो सका है।

मैं पुनः पाठकों से अनुरोध करता हूँ कि जैनधर्म के इस विश्वविजयी कर्म-सिद्धान्त को वे समझें और जीवन की प्रत्येक समस्या का शान्तिपूर्ण समाधान प्राप्त करें। समता, सरलता, सौम्यता का जन-जन में संचार हो, यही मंगल मनीषा....।

—आचार्य देवेन्द्र मुनि

जैनदर्शन मोक्षवादी दर्शन है। वह आत्मा की परम विशुद्ध स्वभाव-दशा में विश्वास करता है। स्वभाव है सुख/आनन्द/परम निर्मलता।

आत्मा में मलिनता स्वाभाविक नहीं, कर्मों के कारण है। कर्ममुक्ति की प्रक्रिया को समझना–जैनधर्म का साधना मार्ग है।

साधना का पथ हैं संयम; संवर और तप अर्थात् निर्जरा। इन्हीं दो उपायों से कर्ममुक्ति की साधना सम्भव है।

संयम/संवर साधना के विषय में विस्तारपूर्वक पढ़िये प्रस्तुत भाग में।

कर्म-विज्ञान : भाग ६

विषय-सूची

क्या	कहाँ
१. कर्ममुक्ति के लिए चार तत्त्वों का ज्ञान आवश्यक	१
२. धर्म और कर्म का कार्य, स्वभाव और प्रभाव	११
३. धर्म और कर्म : दो विरोधी दशाएँ	२६
४. संवर और निर्जरा : एक विश्लेषण	३९
५. समस्या के स्रोत : आस्रव, समाधान के स्रोत : संवर	५७
६. पहले कौन? संवर या निर्जरा	७४
७. संवर और निर्जरा का प्रथम साधन : गुप्तित्रय	९०
८. संवर और निर्जरा का द्वितीय साधन : पंच-समिति	१११
९. संवर और निर्जरा का स्रोत : श्रमणधर्म	१३४
१०. दशविध उत्तम धर्म	१६६
११. संवर और निर्जरा की जननी : भावनाएँ और अनुप्रेक्षाएँ	१७९
१२. कर्ममुक्ति में सहायिका : अनुप्रेक्षाएँ	१९५
१३. आत्म-रमण में सहायिका : अनुप्रेक्षाएँ	२२१
१४. भाव-विशुद्धि में सहायिका : अनुप्रेक्षाएँ	२४३
१५. मैत्री आदि चार भावनाओं का प्रभाव	२६९
१६. आत्म-मैत्री : कर्मों से मुक्ति का ठोस कारण	२९५

क्या		कहाँ
१७.	विविध दुःखों के साथ मैत्री आत्म-मैत्री है	३१५
१८.	परीषह विजय : उपयोगिता, स्वरूप और उपाय	३३९
१९.	चारित्र : संवर, निर्जरा और मोक्ष का साधन	३६२
२०.	सम्यक्त्व-संवर का माहात्म्य और सक्रिय आधार	३८२
२१.	विरति-संवर : क्यों, क्या और कैसे ?	४२०
२२.	अविरति से पतन, विरति से उत्थान-१	४५०
२३.	अविरति से पतन, विरति से उत्थान-२	४७५
२४.	पतन और उत्थान का कारण : प्रवृत्ति और निवृत्ति	५१०

कर्म-विज्ञान

छठा भाग

संवर तत्त्व के विविध स्वरूपों का विवेचन

१

कर्ममुक्ति के लिए चार तत्त्वों का ज्ञान आवश्यक

बन्ध एवं मुक्ति का विज्ञान है कर्मविज्ञान

आपने देखा होगा कि मकड़ी अपना जाला स्वयं बुनती है और फिर उसमें स्वयं ही फँसती है। बाद में वह स्वयं ही जाले को तोड़कर बाहर निकलती है। इसी प्रकार संसारी जीव स्वयं ही कर्मों का जाल बुनता है और स्वयं ही उसके बन्धन में फँसता है और भेदविज्ञान सुदृढ़ होने पर स्वयं ही उसमें से मुक्त होता जाता है और एक दिन कर्मों के बन्धनरूप जाल से पूर्णतया मुक्त हो जाता है।

कर्मविज्ञान में यह सब विस्तृत रूप से बताया गया है कि मनुष्य या सभी संसारी जीव कर्मों को किस प्रकार आकर्षित करते हैं और किस प्रकार किन-किन कारणों से वे स्वयं (आत्मा) कर्मों से बँधते हैं? तत्पश्चात् मोह और कषायों की मन्दता होने से राग-द्वेषवश नये आते हुए कर्मों को प्रविष्ट होने से कैसे रोकते हैं? साथ ही पुराने बँधे हुए कर्मों को उदय में आने पर अथवा उदीरणा करके उदय में लाकर किस-किस अवलम्बन से समभावपूर्वक शान्ति और धैर्य से कैसे-कैसे भोगकर उन्हें समाप्त (निर्जरा) करते हैं तथा राग-द्वेष, काम और मोह के एवं कषायों के सर्वथा क्षीण होने पर किस प्रकार वे चार घातिकर्मों को नष्ट कर देते हैं? उसके पश्चात् शेष चार अघातिकर्मों को किस प्रकार नष्ट करके कर्मों से सर्वथा मुक्त (मोक्षगामी), सिद्ध, बुद्ध एवं परिनिर्वृत बन जाते हैं? इस प्रकार कर्मविज्ञान विविध कर्मों के आस्रव, बन्ध और उनके विविध कारणों की मीमांसा ही नहीं बताता, अपितु कर्मों के आगमन को रोकने, कर्मों से आंशिक रूप से मुक्त होने तथा सजातीय कर्मों के अनुभाग (रस) और स्थितिबन्ध में परिवर्तन करने के नियमों की सारी प्रक्रिया भी बताता है, अन्त में चार घातिकर्मों तथा चार अघातिकर्मों का क्षय करके कर्मों से आत्मा को सर्वथा मुक्त होने का उपाय भी बताता है। कर्मविज्ञान द्वारा प्रतिपादित सभी तथ्य एवं सिद्धान्त महापुरुषों द्वारा अनुभूत, दृष्ट एवं सक्रिय रूप से मानव-जीवन में क्रियान्वित और सरलतम तथा युक्तिसंगत हैं।

साधक को चार तथ्यों का ज्ञान आवश्यक

जब कोई रोगी किसी प्रसिद्ध चिकित्सक के पास जाता है, तो चिकित्सक सर्वप्रथम यह जानने का प्रयत्न करता है कि उसका रोग क्या है? रोग का निदान कर लेने के बाद वह उस रोग के कारणों की जाँच-पड़ताल करता है। फिर यह सोचता है कि इस रोग को मिटाने, रोगी को रोग से मुक्त करने के क्या-क्या उपाय हैं? साथ ही वह यह भी चिन्तन करता है कि इस रोग को तात्कालिक रोकने, शरीर में प्रविष्ट होने से पहले रोकने के क्या-क्या उपाय हैं? किस-किस उपचार से तथा पथ्य-पालन से रोगी शीघ्र ही निरोग हो सकता है? इसके पश्चात् उस स्थिति का भी आकलन करता है कि रोगमुक्ति के पश्चात् आरोग्य-सम्पन्नता एवं पूर्ण स्वस्थता का स्वरूप कैसा होता है? इन चारों मुख्य तथ्यों को भलीभाँति जानकर निपुण चिकित्सक उस रोगी के रोग का इलाज (चिकित्सा) करता है।

जिस प्रकार चिकित्सा-निपुण चिकित्सक रोग, रोग के हेतु, आरोग्य-प्राप्ति (रोगमुक्ति) और रोगमुक्ति के हेतु (आरोग्य हेतु), इन चारों का सम्यक् परिज्ञान करके व्याधि की चिकित्सा करता है, इसी प्रकार कर्मविज्ञान-निपुण साधक कर्म, कर्म के हेतु, कर्ममुक्ति और कर्ममुक्ति के हेतु को जानकर आत्मा कर्ममुक्ति की साधना में पुरुषार्थ कर सकता है। दूसरे शब्दों में निपुण साधक को बन्ध, बन्ध के हेतु, बन्धमुक्ति तथा बन्धमुक्ति के हेतु को जानना अनिवार्य है।[1]

सर्वप्रथम आस्रव और बन्ध को जानना आवश्यक

कर्मों से मुक्ति के इच्छुक को सर्वप्रथम कर्म को यानी कर्मों के आस्रव और बन्ध को जानना आवश्यक है। कर्मों के आस्रव को जाने बिना कोई भी कर्ममुक्ति का साधक विविध रूप से विविध प्रकार से आत्मा में प्रविष्ट और आकृष्ट होकर आने वाले कर्मों का निरोध नहीं कर सकता। आस्रवद्वारों को बंद किये बिना प्रतिदिन और प्रतिरात्रि अनवरत कर्मों के आने (आस्रवों) का ताँता जारी रहेगा। जब व्यक्ति कर्मों के आने के स्रोतों को जान जाएगा तो उन्हें बंद भी कर सकेगा। यह बताया गया है कि प्राणियों के जीवन में राग-द्वेष तथा काम, क्रोध, अहंकार, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि के प्रबल आवेगों के कारण कर्मों के आस्रव निरन्तर चलते रहते हैं। ये और इस प्रकार के आवेग कर्मों के आने के द्वारों को खोलते रहते हैं। आस्रव के उन स्रोतों—आवेगों—द्वारों को बंद करने का विचार तभी पैदा होगा, जब व्यक्ति कर्मों के आस्रवों को जान लेगा।

इसके साथ ही कर्मों के बन्ध को जानना अत्यावश्यक है, क्योंकि कर्मबन्ध ही व्यक्ति की आध्यात्मिक चेतना के विकास में बाधक हैं। जो व्यक्ति अपने

---

१. 'कर्मवाद' (आचार्य महाप्रज्ञ) से भावांश ग्रहण, पृ. ७४

आत्म-विकास में बाधक तत्त्वों को नहीं जान पाता, वह अपनी बाधाओं, आत्म-विकास में आने वाली रुकावटों को कैसे दूर कर सकता है? यही कारण है कि 'सूत्रकृतांगसूत्र' में सर्वप्रथम कहा गया है–

"बुज्झिज्ज तिउट्टिज्जा, बंधणं परिजाणिया।"

–सर्वप्रथम बन्धन को समझो और समझकर फिर उसे तोड़ो।

इसके साथ ही यह जिज्ञासा भी प्रगट की गई है कि "वह बन्ध (कर्मबन्ध) क्या है? भगवान महावीर ने बन्धन का क्या स्वरूप बताया है? और किसको जानकर जीव बन्धन (कर्मबन्ध) को तोड़ पाता है।"[1]

ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान-परिज्ञा से तोड़ो

यहाँ 'परिज्ञान' शब्द भी यह द्योतित करता है। जैनागमों की वृत्तियों में जहाँ-जहाँ परिज्ञा या परिज्ञान शब्द आया है, वहाँ अर्थ किया गया है–ज्ञपरिज्ञा से जानना और प्रत्याख्यान-परिज्ञा से उसे त्यागना। इसी कारण यहाँ कहा गया है कि सर्वप्रथम बन्धन (कर्मबन्ध) को ज्ञपरिज्ञा से भलीभाँति जानकर, फिर प्रत्याख्यान-परिज्ञा से उसे तोड़ने का पुरुषार्थ करो। यही कारण है कि कुशल अध्यात्म-साधक के लिए सर्वप्रथम कर्मों के आस्रव और बन्ध को जानना आवश्यक बताया है।

परन्तु सिर्फ बन्ध या कर्म को जानना ही पर्याप्त नहीं है। जब तक कर्मबन्ध या कर्मास्रव के हेतुओं = कारणों को नहीं जाना जाता, तब तक कर्मों के आस्रव को रोका एवं बन्ध को नष्ट नहीं किया जा सकता। अतएव कर्मास्रव और कर्मबन्ध (कर्म) को जानने के पश्चात् कर्मों के आस्रव और बन्ध के हेतुओं–कारणों अथवा बीजों को जानना जरूरी है। इसी आशय से कर्मविज्ञान के प्रथम भाग में कर्म के अस्तित्व, स्वरूप और प्रकार का सांगोपांग निरूपण किया गया है, इसी प्रकार कर्मविज्ञान के तृतीय, चतुर्थ और पंचम भाग में क्रमशः कर्मों के आस्रव, संवर, बन्ध, बन्ध के प्रकार, बन्ध के हेतु, बन्ध से सम्बन्धित उदय, उदीरणा, सत्ता, निधत्ति, निकाचना, संक्रमण, उपशामना, उद्वर्तना, अपवर्तना आदि कर्म-सम्बन्धित विषयों का विशद रूप से निरूपण किया गया है। अतः कर्म और कर्म के हेतु का परिज्ञान करने के लिए इन सब तथ्यों का परिज्ञान अपेक्षित है। तभी कुशल अध्यात्म-साधक, मोक्ष (कर्ममुक्ति) की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ कर सकता है और उसमें सफल हो सकता है।

---

१. (क) सूत्रकृतांगसूत्र, श्रु. १, अ. १, गा. १
(ख) किमाह बंधणं वीरो, किं वा जाणं तिउट्टइ। *–सूत्रकृतांगसूत्र १/१/१*

कषाय, नोकषाय आदि राग-द्वेष के ही बेटे-पोते

कर्म के दो बीज हैं–राग और द्वेष। कषाय, नोकषाय, आसक्ति-घृणा, प्रियता-अप्रियता का भाव, अच्छे-बुरे का प्रतिभाव, इष्ट-अनिष्ट के संयोग-वियोग में समता, सहिष्णुता, धैर्य और गाम्भीर्य का अभाव आदि सब राग और द्वेष के ही बेटे-पोते हैं। अतः जब तक राग-द्वेष को नहीं जाना जाता, तब तक राग और द्वेष से अथवा इन्हीं के सदृश अध्यवसायों (परिणामों) या संवेदना से होने वाली जीव की कर्मोपाधिक परिणतियों, अवस्थाओं, विसदृशताओं की तथा कर्मों के संयोग से आत्मा की ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, आनन्द और वीर्य की शक्ति की होने वाली कुण्ठित, आवृत, मूढ़ एवं सुषुप्त अवस्थाओं की जानकारी नहीं हो सकती। इसी प्रकार कर्मों के आस्रव और उसके उत्तरवर्ती बन्ध के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग; ये पाँच मुख्य कारण बताये गए हैं। साथ ही पुण्य (शुभ) और पाप (अशुभ) कर्मों का वर्गीकरण करके उनके कारण भी बताये गए हैं। अतः कर्म, कर्मबन्ध, कर्मबन्ध के हेतु तथा कर्मबन्ध से सम्बन्धित विविध अवस्थाओं का परिज्ञान आवश्यक बताया है। तभी ज्ञानादि अनन्त चतुष्टय-सम्पन्न आत्मा से कर्मों को पृथक् करने के लिए व्यक्ति तत्पर हो सकता है और कर्मरोग की सम्यक् चिकित्सा कर सकता है।

कर्ममुक्ति और उसके हेतु को जानना आवश्यक

उपर्युक्त दोनों तत्त्वों–कर्मबन्ध और कर्मबन्ध के हेतु को जान लेने पर भी यदि कर्ममुक्ति और कर्ममुक्ति के हेतु को नहीं जाना तो कर्मों का आत्मा से उच्छेद करना–आत्मा से कर्मों का सम्बन्ध तोड़ना शक्य नहीं हो सकेगा। रोग एवं रोग के हेतु को जान लेने मात्र से क्या रोगमुक्ति हो सकती है? कदापि नहीं। रोग से छुटकारा पाने के लिए; रोगमुक्ति के लिए औषध, उपचार, तप-जपादि उपाय जब तक नहीं किये जाते, तब तक उस रोग से मुक्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार कर्मरोग से भी मुक्ति कर्मबन्ध और उसके हेतुओं को जान लेने मात्र से नहीं हो सकती। कर्ममुक्ति के लिए पूर्वोक्त दोनों तत्त्वों को जानने के अतिरिक्त कर्ममुक्ति के हेतु और सर्वथा कर्ममुक्ति की अवस्था का परिज्ञान भी आवश्यक है। जैसे–कुशल चिकित्सक रोग और रोग के कारणों को जान लेने के पश्चात् रोग से मुक्ति के लिए रोगी को औषध, उपचार, पथ्य-परहेज आदि बताता है। जब तक रोग नहीं मिट जाता, तब तक रोगी को औषधादि देता रहता है, किन्तु उक्त औषधोपचार देने के काफी अर्से बाद वह रोगी के शरीर की पूरी चैकिंग करता है कि रोगी उक्त औषधोपचार से, रोगमुक्त या स्वस्थ हुआ या नहीं? इसी प्रकार कुशल आत्म-साधक भी कर्म-रोग से मुक्ति के हेतुरूप वीतराग-प्ररूपित संवर और निर्जरा की, अमुक अवधि तक साधना करने के

पश्चात् अपनी आत्मा शुद्ध-बुद्ध, कर्मों से मुक्त या कम से कम चार घातिकर्मों से मुक्त हुई या नहीं? इसकी जाँच-पड़ताल स्वयं करता है तथा उसका धर्मसंघ या संघनायक भी करता है। आत्मा कर्मों के रोग से सर्वथा मुक्त हो गयी है, यह जान लेने पर कर्म-चिकित्सा समाप्त हो जाती है। जब तक अन्तरात्मा छद्मस्थ (अल्पज्ञ) रहता है, संसारस्थ है, तब तक पूर्वोक्त चारों तत्त्वों को जानना और तदनुसार उपाय एवं आचरण करना अत्यन्त आवश्यक होता है।

तनाव आदि मानसिक रोग : कारण और निवारण

आजकल तनाव, चिन्ता, व्यथा, विपत्ति, क्रोध, अहंकार, ईर्ष्या, भय आदि मानसिक रोग बहुत बढ़ गए हैं, लोग नासमझी के कारण इन और ऐसे कतिपय अन्य मानसिक रोगों को कायिक रोग समझकर डॉक्टरों–वैद्यों के पास जाते हैं। उनकी दवा और उपचार से जब रोग ठीक नहीं होता, तो निराश होकर बैठ जाते हैं। जैसे कायिक रोग-चिकित्सक पहले रोग और रोग के कारणों को जानकर फिर रोग से मुक्ति के लिए रोगी को औषध उपचार आदि बताता है, उसी प्रकार पूर्वोक्त मनोरोगों से मुक्ति के लिए भी मनोचिकित्सक पहले रोगी को कुरेद-कुरेदकर पता लगाता है कि इसके मनोरोग का वास्तविक कारण क्या है? उसके पश्चात् ही वह उस मनोरोग के कारण का पता लगा पाता है। मनोरोग और उसके कारण का पता लगाने पर ही मनोचिकित्सक उस मनोरोग से छुटकारे का उपाय सोचकर तदनुसार अमल करता है और कराता है। इतना होने पर वह रोगी जब स्वस्थ हो जाता है, तब उसकी रोगमुक्त दशा का निरीक्षण वह, चिकित्सक, रोगी एवं उसके पारिवारिक जन करते हैं।

मनोरोग चिकित्सा के लिये भी चार बातों का ज्ञान आवश्यक

एक सच्ची घटना 'कल्याण' में पढ़ी थी। एक भाई को उदरपीड़ा की व्याधि थी। उसने अनेक डॉक्टरों से इलाज कराया, मगर रोग ठीक न हुआ। एक वैद्यराज मिले। उन्होंने उसकी शारीरिक परीक्षा की। रोगी से अब तक ली हुई दवाओं के बारे में पूछा और अपनी बुद्धि से रोग का निदान करके दवा दी। उस दवा के कुछ दिन सेवन से कुछ आराम भी मिलने लगा। किन्तु कुछ दिनों बाद फिर पेटदर्द शुरू हो गया। वैद्य जी को सारी हकीकत बताई। वैद्यराज ने कुछ सोचकर कहा–"आप मेरा दवाखाना बंद होने से कुछ पहले अकेले ही यहाँ आइए।" वैद्य जी के कहे अनुसार वह रुग्ण व्यक्ति प्रतिदिन रात को नियमित समय पर आता और काफी रात बीतने पर वापस घर लौट जाता। पूरे दो महीने इस प्रकार बीतने पर उसे पेटदर्द के रोग से मुक्ति मिल गई।

उस रोगी का घनिष्ट मित्र उक्त वैद्यराज से मिला। उनसे अपने मित्र के रोग से मुक्ति दिलाने का रहस्य पूछा। पहले तो वैद्य जी आनाकानी करते रहे। किन्तु उक्त रुग्ण मित्र के अत्यधिक आग्रह के कारण कहा–मेरे पास कोई जड़ी-बूटी या जादू-टोना, यंत्र-मंत्र-तंत्र नहीं है। परन्तु मैंने तुम्हारे मित्र से बार-बार उसके जीवन की घटनाओं को कुरेद-कुरेदकर पता लगा लिया कि उसका रोग शारीरिक नहीं, मानसिक है। आपके मित्र पढ़ते हैं और अपने बड़े भाई-भाभी के साथ रहते हैं। इनके पड़ोस में एक व्यक्ति ऐसा है, जो इनके बड़े भाई के नाम टाइप किये हुए बेनामी पत्र भेजता है और उनको परेशान करता रहता है। उस परिचित पत्रलेखक पर आपके मित्र को बड़ा गुस्सा आता। यह सोचते रहते कि कौन-सा इल्जाम कैसे लगाकर उसे सीधा करूँ। इसी विचार से यह व्यर्थ में क्रोध करता था। यह बताते समय भी उग्र क्रोध के साथ टेबल पर हाथ पटकते हुए उसके मुँह से उग्र शब्द निकल रहे थे–"अगर वह रास्ते में मिल जाए तो उस (पत्रलेखक) की हड्डी-पसली ढीली कर दूँगा।" आप विश्वास नहीं करेंगे, परन्तु हमारे आयुर्वेदिक ग्रन्थों (सुश्रुतसंहिता, माधवनिदान आदि) में बताया है कि काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, मोह, मद, मत्सर आदि सभी विकार मानसिक रोगों को उत्पन्न करने वाले हैं। आपके मित्र के मानसिक रोग का कारण क्रोध था। वह पत्रलेखक पर बार-बार काल्पनिक क्रोध करके मन में घुटता रहता था। क्रोध से पित्त बढ़ता है। आपके मित्र द्वारा बार-बार क्रोध करने से पित्त की वृद्धि होती थी। पित्त का तीक्ष्ण गुण भी साथ-साथ बढ़ता, इसी कारण पेट में दर्द होता था। पित्तशमन के लिए जो भी बाह्य औषधियाँ दीं, उन्होंने काम नहीं किया; क्योंकि उस मानसिक रोग का असली कारण क्रोध था। मैंने आपके मित्र को उलाहना देते हुए कहा–"मैंने आपके रोग को समझ लिया है। कोई मनुष्य अगर नीच काम कर रहा हो तो उसकी ओर ध्यान नहीं देना चाहिए। आप अपने काम में मस्त रहिये। जो आदमी आपको हैरान करने का कार्य करता हो, आप उसे महत्त्व देकर व्यर्थ ही क्रोध करते हैं; मन में संताप करते हैं। इसी कारण आप पेटदर्द से पीड़ित रहते हैं। ऐसा करने से आपको हैरान करने वाले व्यक्ति को विशेष महत्त्व मिलता है। आप उसे मारने या बदला लेने का विचार ही मत कीजिए। ऐसा विचार करना अपनी दुर्बलता है। यदि आप क्रोध करना बंद नहीं करेंगे तो आपका यह रोग नहीं मिटेगा। अतः आप मेरी सलाह मानकर इसे भूल जाइए।" आपके मित्र मेरी सलाह मानकर उस बात को धीरे-धीरे भूल गए। उन्होंने क्रोध करना छोड़ दिया। फलतः उन्हें इस रोग से मुक्ति मिल गई।[1]

---

१. 'कल्याण' (मासिक) (गीता प्रेस, गोरखपुर) में प्रकाशित सच्ची घटना से, जून १९९४

मनोरोग चिकित्सा की इस घटना से स्पष्ट प्रतिफलित होता है कि मानसिक रोग से मुक्ति दिलाने के लिए भी मनोरोग चिकित्सक को रोग, रोग का कारण, रोग की चिकित्सा का हेतु (उपाय) और रोग से मुक्ति की अवस्था का ज्ञान आवश्यक है। मनोरोग चिकित्सा में रोग के निदान (कारण) का परिवर्जन ही रोग की मुख्य चिकित्सा मानी गई है।

कर्मरोगमुक्ति के उपाय : संवर और निर्जरा

कर्मविज्ञान में कर्मजन्य रोग का लक्षण और फिर निदान किया जाता है कि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, अशुभ योग इन पंचविध कर्मबन्ध के कारणों में से कौन-से कारण से यह कर्मरोग है? फिर उस कारण के निवारण का उपाय आजमाने का भी विधान कर्मविज्ञान ने बताया है। संक्षेप में कर्मरोग से मुक्ति के दो उपाय (हेतु) बताये हैं–संवर और निर्जरा। संवर से नये आने वाले या आने की संभावना वाले कर्मों को रोका जाता है, कर्म के कारणों को सफल नहीं होने दिया जाता है। उस पर समभावपूर्वक धैर्य और शान्ति के साथ ब्रेक लगा दिया जाता है।

आस्रव और बन्ध तथा संवर और निर्जरा क्या है?

ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक निजगुण है। वह आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव या स्वरूप-रमण की अवस्था में विजातीय तत्त्व का कोई प्रवेश, प्रभाव या संक्रमण नहीं हो पाता। किन्तु जब आत्मा अपने स्व-भाव को–ज्ञाता-द्रष्टापन को भूलकर विभाव या पर-भाव को अपनाती है, तो अच्छे-बुरे, प्रिय-अप्रिय या राग-द्वेष का संवेदन होता है। संवेदन के द्वारा आत्मा का बाह्य जगत् के साथ सम्पर्क और संयोग होता है। अर्थात् जीव बाह्य जगत् से कुछ लेता है और उसे अपने साथ जोड़ता है। जोड़ने की इस विभाव धारा को हम 'आस्रव' कहते हैं और पर-भावों या विभावों के जुड़ने को कहते हैं–बन्ध। आत्मा के साथ जुड़ा हुआ पर-भाव या विभाव (विजातीय तत्त्व) परिपक्व होकर अपना प्रभाव दिखाता है, तब उसे कर्म (बन्ध) कहा जाता है। दूसरे शब्दों में आत्मा और कर्मपुद्गलों का जो संयोग है, वही बन्ध है, वही संसार है। पूर्वबद्ध कर्म जब अपना प्रभाव दिखाकर यानी अशुभ या शुभ फल भुगवाकर या तो स्वयं चला (अलग हो) जाता है अथवा प्रयत्न के द्वारा उसे आत्मा से पृथक् किया जाता है। स्पष्ट शब्दों में कहें तो आत्मा से कर्मपुद्गलों को पृथक् (विलग) करने का यह प्रयत्न निर्जरा है। बाह्य-आभ्यन्तर तप से कर्म निर्जीर्ण (आंशिक रूप से क्षीण) होते हैं। इस कारण तपस्या का ही दूसरा नाम निर्जरा है। कर्मों का पूर्णतया निर्जीर्ण होना मोक्ष है। मोक्ष का अर्थ है–कर्मों की सदा-सदा के लिए सर्वथा मुक्ति, केवल आत्मा (आत्म-गुणों या

आत्म-भावों) के अस्तित्व का रहना, कर्मपुद्गलों या विभाव पर-भावों से सर्वथा पृथक्-मुक्त हो जाना मोक्ष है।[1]

इसी तरह केवल आत्मा का अनुभव होना संवर है। चैतन्य (आत्मा) के साथ राग-द्वेष या कषाय का मिश्रण होना आस्रव है। आस्रव के द्वारा कर्मपुद्गल-परमाणु आकर्षित होते हैं, आत्मा के मूल गुणों-ज्ञान-दर्शनादि की क्षमता पर आवरण डालते हैं, ज्ञान और दर्शन को अपना कार्य पूर्णतया नहीं करने देते। चारित्र को विकृत, कुण्ठित और मूढ़ कर देते हैं, आत्मा के सहज आनन्द (आत्म-सुख) को विकृत करते हैं, आत्मा की शक्ति को कुण्ठित एवं अवरुद्ध कर देते हैं। कुछ कर्म आत्मा को सांसारिक सुख-दुःख का अनुभव कराते हैं। आत्मा के वास्तविक आनन्द का अनुभव नहीं होने देते। कई शुभाशुभ कर्म-परमाणु शरीर तथा शरीर से सम्बद्ध अवयवों तथा बातों की उपलब्धि के हेतु बनते हैं। इस प्रकार पहले आस्रव और फिर उससे निर्मित बन्ध पुण्य-पापकर्म (शुभाशुभ कर्म) द्वारा आत्मा को प्रभावित करते हैं। जब तक वीतरागता या केवलज्ञान की उपलब्धि नहीं हो जाती, तब तक यह कर्म का चक्र चलता रहता है।[2]

इस पर से यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्ममुक्ति के लिए कर्म, कर्म के हेतु (आस्रव और बन्ध), कर्ममुक्ति का हेतु (संवर-निर्जरा) एवं कर्ममुक्ति की अवस्था, इन चारों को सम्यक् प्रकार से जानना-समझना अत्यन्त आवश्यक है।

पातंजल योगदर्शन में भी दुःखत्रय मुक्ति का उपाय

पातंजल योगदर्शन में इन्हीं चारों को जानना सर्वथा दुःखमुक्ति के लिए आवश्यक बताया है-(१) हेय, (२) हेयहेतु, (३) हान, और (४) हानोपाय। अनागत (भविष्यकालिक) दुःख हेय है। द्रष्टा और दृश्य का संयोग हेयहेतु है। अविद्या, अविवेक या अदर्शन के अभाव से (द्रष्टा-दृश्य के) संयोग का अभाव हो जाना हान है। वही चैतन्यस्वरूप आत्मा का कैवल्य (मोक्ष) है। विवेक-ख्याति (भेदविज्ञान) प्रकृति-पुरुष की तथा अविप्लव (विप्लव = विघ्न-बाधा, अस्थिरता आदि दोषों से रहित) हानोपाय है।[3]

---

१. 'सत्य की खोज : अनेकान्त के आलोक में' (युवाचार्य महाप्रज्ञ) से भावांश ग्रहण, पृ. ५१

२. (क) 'कर्मवाद' (आचार्य महाप्रज्ञ) से भावांश ग्रहण

(ख) 'सत्य की खोज : अनेकान्त के आलोक में' (युवाचार्य महाप्रज्ञ) से भावांश ग्रहण

३. (क) हेयं दुःखमनागतम्।

(ख) द्रष्टृ-दृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः।

(ग) तदभावात् संयोगाभावो हानं, तद् दृशेः कैवल्यम्।

(घ) विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः।

-पातंजल योगदर्शन, पा. २, सू. १६-१७, २५-२६; भाष्य (उदयवीर शास्त्री)

तात्पर्य यह है–जैन-कर्मविज्ञानसम्मत कर्म शब्द को यहाँ दुःखरूप बताया है। सांसारिक दुःख आदि को हेय बताया है तथा द्रष्टा = चेतन, आत्मा = पुरुष है और दृश्य कर्मोपाधिक बाह्य रूप-रसादि विषय तथा अन्य भोग्य पदार्थ एवं आन्तर पदार्थ–इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि हैं। इन्हीं के आकर्षण के कारण आत्मा इनसे बँधी रहती है। अतः इन दोनों का संयोग = बन्ध हेयहेतु है। हान का शाब्दिक अर्थ है–छूटना। आत्मा का पूर्वोक्त जड़ के बन्धन से छूटना हान है। हान का उपाय करने से व्यक्ति दुःख से मुक्ति पा जाता है। आत्म-तत्त्व (चेतन) देह, मन, बुद्धि आदि से सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार की विवेकख्याति ही 'हान' (दुःखमुक्ति) का उपाय है।

निष्कर्ष यह है कि जैसे किसी व्यक्ति के पैर में तीखा काँटा चुभ जाने से उसे दुःख होता है। पैर का छिदना दुःखरूप है। काँटा उसका कारण है। काँटे से बचकर निकल जाना अथवा पैर में जूते आदि का पहनना उसके प्रतिकार का उपाय है। उपाय के अनुष्ठान से व्यक्ति दुःख से बचा रहता है। इसी प्रकार दुःख से बचने के अभिलाषी व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि वह चिकित्साशास्त्र के चारों अंगों (रोग, रोग का कारण, आरोग्यलाभ, भैषज्यप्रयोग) की तरह योगदर्शनोक्त चारों चीजों की वास्तविकता को समझें–(१) दुःख क्या है? (२) दुःख का कारण क्या है? (३) उस कारण (द्रष्टा-दृश्य-संयोगबन्ध) के प्रतिकार (नाश) के लिये उपाय क्या है? (४) अविद्यादि के अभाव से पूर्वोक्त संयोग का छूटना दुःख से मुक्ति है, जिससे आत्मा (चितिशक्ति) केवल स्वरूप में स्थित हो जाती है। यही हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय, इन चार अंगों का तात्पर्य है।[1]

बौद्धदर्शन में दुःखमुक्ति रूप निर्वाण के उपाय

इसी प्रकार जन्म-जरा-मृत्यु-व्याधिरूप दुःखमय संसारयात्री को दुःखमुक्तिरूप मोक्षयात्रा या मुमुक्षा-पूर्णता के लिए बौद्धदर्शन में भी इन्हीं चार अंगों को जानना अनिवार्य बताया है–(१) दुःख, (२) दुःख-समुदय, (३) दुःख-निरोध, और (४) दुःख-हान। कर्मरूप रोग दुःख है। कर्म को यहाँ दुःखरूप बताया गया है। इसका तात्पर्य है–उक्त दुःख का स्वरूप क्या है? यह जानना सर्वप्रथम आवश्यक है। फिर यह जानना चाहिए कि उस दुःख का समुदय (उत्पत्ति) किस-किस कारण से होता है या हुआ है? तत्पश्चात् यह जानना है कि उक्त दुःख का निरोध कैसे हो सकता है? यानी दुःखनिरोध या दुःख को आने से रोकना कैसे होता है? तत्पश्चात् उक्त दुःख से मुक्ति (छुटकारा) अथवा दुःख का सर्वथा नाश कैसे होता

१. 'योगदर्शन, विद्योदय भाष्य सहित' (डॉ. उदयवीर शास्त्री) से भावांश ग्रहण, पृ. ११२

है, इसका ज्ञान होना जरूरी है। जैन-कर्मविज्ञान के अनुसार इन चारों की तुलना हम क्रमशः (१) कर्म, (२) कर्म के आस्रव और बन्ध, (३) संवर (कर्मनिरोधरूप), और (४) निर्जरा (कर्म का आंशिक क्षय) से की जा सकती है। स्पष्ट शब्दों में कर्म, आस्रव-बन्ध, संवर और निर्जरा, इन चारों तत्त्वों का परिज्ञान दुःखों से सर्वथा छुटकारे की तरह कर्मों से सर्वथा छुटकारे के लिए अतीव आवश्यक है। यही बौद्धदर्शन के अनुसार निर्वाण (जैनदर्शन के अनुसार कर्मों से सर्वथा मोक्ष व अन्त में निर्वाण) की परिकल्पना है।[1]

●●

१. 'बौद्धदर्शन' (राहुल सांकृत्यायन) से भावांश ग्रहण

२

धर्म और कर्म का कार्य, स्वभाव और प्रभाव

धर्म और कर्म : परस्पर विरोधी या संवादी ?

जैन-कर्मविज्ञान में धर्म और कर्म दोनों का साथ-साथ निरूपण किया गया है। यद्यपि धर्म और कर्म दोनों की प्रकृति एक-सी नहीं है परन्तु हैं दोनों साथ-साथ ही। जिस प्रकार धूप और छाया दोनों साथ-साथ रहते हैं, दोनों सटे हुए रहते हैं, परन्तु दोनों एक नहीं होते, पृथक्-पृथक् होते हैं। धूप में छाया नहीं होती, तथैव छाया में धूप नहीं होती। दोनों का अलग-अलग स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। ये दोनों समानान्तर रेखा की भाँति रहते हैं, इन दोनों के बीच में कहीं अन्तराल नहीं होता, परन्तु दोनों का कार्य भिन्न-भिन्न है। धर्म चेतन की प्रवृत्ति है, उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है, जबकि कर्म अचेतन और पौद्गलिक है। उसका लौकिक अस्तित्व स्वतन्त्र है। धर्म का कार्य है–नये आते हुए कर्मों को रोकना तथा पहले बाँधे हुए कर्मों को तोड़ना। वह अच्छे और बुरे–शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों का निरोध भी करता है और प्राचीन शुभ-अशुभ कर्मों को तोड़ता भी है। अतः धर्म कर्ममात्र को तोड़ने का साधन है। धर्म से न तो पुण्य का बन्ध होता है और न ही पाप का। वह अबन्धक है, कर्म का निरोधक है; जबकि कर्म आस्रव और बन्ध के द्वारा प्राणी को जकड़ने और संसार में भटकाने वाला है।

धर्म और कर्म का कार्यक्षेत्र

धर्म सम्यग्ज्ञान है, सम्यग्दर्शन है, सम्यक्चारित्र है तथा सम्यक्तप है। ये चारों मिलकर धर्म हैं, आत्म-धर्म हैं। इन चारों की अभिव्यक्ति चार प्रकार से आत्मा के निजी गुण के रूप में होती है–ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति; ये चारों आत्मा के निजी गुण माने गये हैं। जब हम 'धम्मं सरणं पवज्जामि' कहते हैं तो अपने चैतन्य (ज्ञान और दर्शन), अपने आत्मिक अव्याबाध सुख (आनन्द) और अपनी शक्ति (आत्मिक वीर्य) की शरण में जाते हैं। अतः धर्म (आत्म-धर्म) सुप्त का अव्यक्त, आवृत ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति को अनावृत, व्यक्त या जाग्रत करता है। जबकि (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय) कर्म ज्ञान और दर्शन को आवृत करते हैं।

आज इन्हीं दो कर्मों के कारण सांसारिक जीवों के ज्ञान की अनन्त शक्ति आवृत है, दर्शन की असीम शक्ति भी आवृत है, अवरुद्ध है। ये दोनों कर्म आत्मा की, ज्ञान और दर्शन की शक्ति पर रुकावट डालते हैं। हमारी आत्मा के अभिन्न एवं निजी गुण हैं–ज्ञान और दर्शन, ये दोनों आवरण से मुक्त नहीं हैं। धर्म (उक्त कर्मद्वय के कारण) ज्ञान और दर्शन की मूर्च्छित और सुषुप्त शक्ति को विकसित और जाग्रत करता है।

संवर-निर्जरारूप धर्म का प्रभाव

आठ कर्मों में एक कर्म है–मोहनीय। यह कर्म जीव (सांसारिक आत्मा) की दृष्टि (सम्यक्त्व) और चारित्र, दोनों को विकृत करता है। मोहकर्म का एक कार्य दृष्टि को मूढ़, मूर्च्छित और विकृत करना है, जिसके कारण मनुष्य सत्य को, यथार्थ को तथा सजीव-निर्जीव को वास्तविक रूप में जान-पहचान नहीं पाता। इस कर्म से दृष्टि विपर्यस्त या मोहित-मूर्च्छित हो जाने पर व्यक्ति किसी वस्तु को ठीक से जाँच-परख या देख नहीं सकता एवं ठीक निर्णय नहीं ले पाता; हर बात में–शास्त्र प्ररूपित सत्य के प्रति या आत्मा-परमात्मा, पुनर्जन्म-पूर्वजन्म, इहलोक-परलोक, जीवन-मरण, जीवादि नवतत्त्व आदि के विषय में अपनी शंका, वहम, अविश्वास या अश्रद्धा प्रकट करता रहता है। यह मोहनीय कर्म का ही प्रभाव है कि व्यक्ति जीव (सचेतन) को अजीव (अचेतन) तथा अजीव को जीव मानता है, वैसी श्रद्धा रखता है, धर्म (कर्मों से मुक्ति दिलाने वाले संवर-निर्जरारूप शुद्ध धर्म) को अधर्म (पुण्य या पाप) समझता है, तथैव अधर्म को धर्म समझता है। स्व-पर-कल्याण-साधक आत्मार्थी साधु को असाधु (ढोंगी, दम्भी, उदरम्भरी) समझता-मानता है तथा असाधु (भंगेड़ी, गंजेड़ी, चारित्रभ्रष्ट, हिंसा-परायण व्यक्ति) को साधु मानता-समझता है। संसार के मार्ग (शुभाशुभ कर्म = पुण्य-पाप) को मोक्ष (कर्म) से मुक्त होने (संवर-निर्जरा) का मार्ग समझता है तथा मोक्ष के मार्ग को संसार का मार्ग समझता है। इसी प्रकार अष्टविध कर्मों से मुक्त को अमुक्त और अमुक्त को मुक्त समझता है।[1]

शुभ कर्मफल को धर्मफल मानना : महाभ्रान्ति

पड़ोसी धर्मों की देखादेखी जैनधर्म के सामान्य अनुयायियों ने ही नहीं, कतिपय बड़े-बड़े विशिष्ट पण्डितों, विद्वान् आचार्यों तथा कई साधुओं ने शुभास्रवरूप या शुभबन्धरूप पुण्य (शुभ कर्म) को धर्म मान लिया है। जिस आस्रव

१. देखें–स्थानांगसूत्र में दसविहे मिच्छत्ते पण्णत्ते. इत्यादि पाठ, स्थानांग, स्था. १०

और बन्ध को अधर्म की कोटि में माना गया है, उसे (उस पुण्य को) धर्म मानना कितनी बड़ी भ्रान्ति है? अधर्म को धर्म मानना-समझना मिथ्यात्व है। उसी प्रकार जो (पुण्य) संसार का मार्ग है, उस शुभ कर्मरूप पुण्य को संवर-निर्जरारूप या रत्नत्रयरूप धर्म का (कर्ममुक्तिरूप) मोक्ष का मार्ग मानना उससे भी बढ़कर मिथ्यात्व है। संवर-निर्जरारूप धर्म के साहचर्य से शुभ कर्मरूप पुण्य को भी भ्रान्तिवश धर्म मान लिया गया। धर्म का कार्य है–संसार को परित्त (सीमित) करना, घटाना, कर्मों को रोकना तथा कर्मों को तोड़ना। इन्हें जैन-कर्मविज्ञान की भाषा में क्रमशः संवर और निर्जरा कहते हैं। पुण्य न तो कर्मों को रोकता है और न ही कर्मों को तोड़ता है। फिर भी लोग कह देते हैं, धर्म से पुत्र-पौत्र मिलता है, धर्म से धन मिलता है, धर्म से अच्छा मकान, सुन्दर नारी, जमीन, जायदाद, अच्छे मित्र आदि मिलते हैं। परन्तु ये सब धर्म के कार्य नहीं हैं। शुभ कर्म (पुण्य) के कार्य हैं। परन्तु ऐसा कथन धर्म के साथ पुण्य का साहचर्य होने के कारण होता है। निर्जरारूप धर्म के साथ पुण्य (बन्ध) होता है। कई दफा साहचर्य के कारण दोनों को एक मानकर इधर का भार उधर और उधर का भार इधर डाल दिया जाता है। पुण्य (शुभ कर्म) का बन्ध धर्म का काम नहीं है। धर्म का कार्य संवर-निर्जरा के माध्यम से चेतना को बदलना, अन्तःकरण को शुद्ध करना है। मन-वचन-तन की प्रवृत्तियाँ दोनों प्रकार की होती हैं–अच्छी भी, बुरी भी। इनके साथ राग-द्वेष जुड़ता है, तब पुण्य-पाप का बन्ध होता है। कई लोग भ्रान्तिवश यह भी कह देते हैं–संवर-निर्जरारूप धर्म से पुण्यबन्ध होता है और उससे राज्य, धन-सम्पत्ति, स्त्री, पुत्र आदि मिलते हैं। जैसा कि 'शान्तसुधारस' में धर्मभावना के सन्दर्भ में कहा गया है–

''प्राज्यं राज्यं सुभग-दयिता, नन्दनानन्दनानाम्।
रम्यं रूपं सरस-कविता-चातुरी सुस्वरत्वम्॥
नीरोगत्वं गुण-परिचयः, सज्जनत्वं सुबुद्धिः।
किन्नु ब्रूमः फल-परिणतिं धर्म-कल्पद्रुमस्य॥''[1]

–विशाल राज्य, सौभाग्यशाली पत्नी, पुत्रों के पुत्र, रमणीय रूप, सरस काव्य-रचना चातुर्य, सुस्वरत्व, नीरोगता, गुणिजनों का परिचय (सत्संग), सज्जनता, सद्बुद्धि आदि कहाँ तक कहें, धर्मरूपी कल्पवृक्ष से सब कुछ मिलता है, ये सब धर्म-कल्पतरु के ही परिपक्व फल हैं।

---

१. 'शान्तसुधारस' (उपाध्याय विनयविजय) में धर्मभावना, श्लो. ७

पुण्यफल को धर्म का फल मानने से आत्मिक हानि

इसी भ्रान्ति के शिकार होकर अधिकांश व्यक्ति संवर-निर्जरारूप या ज्ञानादि रत्नत्रयरूप वास्तविक धर्म का पालन न करके शुभ कर्मरूप पुण्य को धर्म मानकर उसका आचरण करते हैं, ताकि उससे धन, मकान, पुत्र, पौत्र, सौभाग्य, सौन्दर्य आदि मिल जायें। यदि इस भ्रमवश वे स्वार्थ, लोभ और प्रलोभन से प्रेरित होकर कुछ करते हैं और उन्हें अपनी इच्छा के अनुरूप फल या पदार्थ मिल जाता है, तब तो उस तथाकथित धर्म के प्रति उनकी आस्था बढ़ जाती है, अगर उनके अशुभ कर्मोदयवश मनोऽनुकूल कुछ नहीं होता है या उलटा हो जाता है, तो उनकी आस्था धर्म के प्रति डगमगा जाती है। वे वास्तविक संवर-निर्जरारूप धर्म को तो अज्ञातवश पहले से छोड़े हुए हैं, उक्त तथाकथित धर्म को भी छोड़ बैठते हैं। इतना ही नहीं, वे धर्म, धर्म-गुरु और भगवान को भी गालियाँ देने या कोसने लगते हैं। उनका मनःसमाधान न हो तो वे अन्तिम समय तक नास्तिक बने रहते हैं। वीतराग देव, निर्ग्रन्थ गुरु और रत्नत्रयरूप धर्म के प्रति उनकी अनास्था हो जाती है। धर्म तो वासनाओं, आकांक्षाओं, कामना-नामनाओं से तथा स्वार्थ और पर-पदार्थों के प्रति राग-द्वेष से मुक्ति दिलाने वाला है, परन्तु गलत धारणावश धर्म को जोड़ दिया वासनाओं, आकांक्षाओं, कामना-नामनाओं के साथ।

धर्म और पुण्य को एक मानने से शुद्ध धर्म मूल्यों की हानि

इस भ्रान्त धारणा का परिणाम यह हुआ कि धर्म और पुण्य को तथा मिलने वाले पदार्थ को भी धर्म के साथ जोड़ दिया गया। कोई (तथाकथित) धर्म नहीं करता है तो लोग उसे कहने लगते हैं—"धर्म करोगे नहीं, तो परलोक में जाकर क्या पाओगे? धन चाहिए, पुत्र चाहिए, सुख-सुविधा एवं सुखभोग के साधन चाहिए तो धर्म (तथाकथित) करो।" कर्मसिद्धान्त के अनुसार पुण्य से सुख और पाप से दुःख प्राप्त होता है। कोई अगर निर्धन है, अभाव-पीड़ित है तो उसके लिए लोग कह देते हैं—बेचारे ने पूर्व-जन्म में धर्म नहीं किया, अशुभ कर्म किये, उन्हीं का फल भोग रहा है। कोई धनिक है तो उसके लिए कह देते हैं—बड़ा भाग्यशाली है, पूर्व-जन्म में धर्म, पुण्य किया है, इसलिए धन-सम्पन्न है। इस प्रकार धर्म और पुण्य को एक मानकर धनादि पदार्थों के साथ जोड़ दिया गया। महाभारतकार वेदव्यास जी ने भी कहा—

"धर्मादर्थश्च कामश्च, स धर्मः किं न सेव्यते ?"[1]

—धर्म से अर्थ और काम स्वतः प्राप्त होते हैं, उस धर्म का सेवन क्यों नहीं करते?

---

१. 'महाभारत' (वेदव्यास)

शुद्ध धर्म (संवर-निर्जरारूप या रत्नत्रयरूप धर्म) की साधना इसलिए की जाती है कि (अर्थ) पदार्थों के परिग्रह (ममता) की तथा काम (कामभोग और सुखभोग के साधनों) की भावना समाप्त हो। कर्ममुक्तिरूप मोक्ष के लिए भी धन, राज्य, परिवार, सुख-सुविधा, इन्द्रिय-विषय सुख आदि सब कुछ छोड़ना जरूरी होता है। परन्तु भ्रान्तिवश पुण्य को धर्म मान लिया गया। फलतः अधिकांश मनुष्यों की प्रवृत्ति पुण्य के उपार्जन में लग गई। पुण्य का उपार्जन मुख्य और धर्माचरण में पुरुषार्थ गौण हो गया।

धर्म की उपासना करने पर भी जीवन में परिवर्तन क्यों नहीं ?

चेतना के स्तर पर जागने का नाम धर्म है। चेतना के स्तर पर अर्थात् आत्मा पर आए हुए राग-द्वेष, काम-क्रोधादि आवरणों को दूर कर आत्म-शुद्धि के स्तर पर जो नहीं जागता, वह चाहे कितने ही क्रियाकाण्ड करे, कितनी ही बाह्य भक्ति-उपासना करे, वह कदाचित् शुभ कर्म (पुण्य) का उपार्जन कर सकता है, परन्तु धर्म का लाभ प्राप्त नहीं कर सकता। यही कारण है कि दीर्घकाल तक धर्म की इस रूप में उपासना करने पर भी व्यक्ति के जीवन में परिवर्तन नहीं आता। उसके जीवन में काम, क्रोध, लोभ, मोह, माया, स्वार्थभावना आदि कम नहीं होते। धर्म-धुरन्धरों द्वारा भी उसे धार्मिक का पद दे दिया जाता है। धार्मिक और धर्मानुयायी में बड़ा अन्तर है। धार्मिक वह है, जिसके जीवन में अहिंसादि व्रत हों, संयम और बाह्याभ्यन्तर तप हों। धर्मानुयायी में ये हो भी सकते हैं, नहीं भी हो सकते। धर्मोपदेश से जब भी पूछा जाता है कि इस क्रियाकाण्ड और बाह्य भक्ति-उपासनात्मक धर्म से क्या मिलेगा? तब उनके द्वारा प्रायः यही समाधान दिया जाता है–तुम्हारा परलोक सुधर जायेगा। वहाँ धन-सम्पदा, ऋद्धि और ऐश्वर्य प्राप्त होगा। जिसका वर्तमान जीवन नहीं सुधरता, उसका पारलौकिक जीवन कैसे सुधर जायेगा? कषाय मन्द नहीं हुआ, विषयासक्ति कम नहीं हुई, वृत्तियों में परिवर्तन नहीं हुआ, उसका परलोक कैसे सुधर जायेगा?

धर्म के नाम से नाना भ्रान्तियाँ : धर्म की आत्मा लुप्त

धर्म का गठबन्धन कर दिया–स्वार्थसिद्धि और पदार्थ-प्राप्ति के साथ। ऐसा करने से धर्म की वास्तविक आत्मा लुप्त हो गई और धर्म के नाम से नाना भ्रान्तियाँ फैल गईं। एक बार जब धर्म के नाम से मन में मिथ्या धारणा जड़ जमा लेती है, तो वही पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रहती है। एक उदाहरण से इस तथ्य को स्पष्ट समझ लेना ठीक होगा–

एक बुढ़िया थी। वह सन्तदर्शन, धर्मध्यान, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि धार्मिक क्रियाएँ करती थी। उसके एक ही पुत्र था। पति के देहावसान के बाद उसने

उसे पाल-पोसकर बड़ा किया। वयस्क होने पर उसका विवाह किया। किन्तु विवाह को बारह वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी उसके कोई पुत्र नहीं हुआ। उसे बड़ी चिन्ता हुई। धर्म पर से उसकी आस्था डगमगा गई। उसने अब सन्तदर्शन तथा विविध धर्मक्रियाएँ करना छोड़ दिया। कई साथी महिलाएँ उसे प्रेरणा करतीं तो वह उन्हें मुँहतोड़ जवाब दे देती—"तुम्हीं करो धर्म ! जो धर्म एक पोता भी नहीं दे सकता, उस धर्म को करके मैं क्या करूँ? मुझे तो लगता है, धर्म का पालन करना व्यर्थ समय खोना है।" अब समवयस्क महिलाओं ने भी उस बुढ़िया को धर्माचरण के लिए कुछ भी कहना छोड़ दिया।

एक बार उस गाँव में एक वृद्ध और अनुभवी संत पधारे। उन्होंने धर्मस्थान में अन्य महिलाओं के साथ उक्त वृद्धा को नहीं देखा तो बहनों से पूछा—"आजकल वह माताजी नहीं आतीं क्या?" बहनों ने कहा—"महाराज ! वह तो नास्तिक बन गई है। उसने अब धर्म-कर्म करना सब छोड़ दिया है।" वृद्ध मुनिवर ने सोचा—"मैं स्वयं भिक्षाचरी के बहाने उसके यहाँ जाकर उसे युक्तिपूर्वक धर्म और कर्म का वास्तविक स्वरूप समझाऊँ तो सम्भव है कि उसकी धर्म के प्रति डिगी हुई आस्था पुनः सुदृढ़ हो जाय।" एक दिन वे उस बुढ़िया के यहाँ पहुँचे। बुढ़िया ने उठकर मुनिराज को वन्दना की। उन्होंने बुढ़िया से पूछा कि "आजकल तुमने धर्मध्यान, संतदर्शन, धर्मक्रिया आदि क्यों छोड़ दी हैं? धर्मक्रियाएँ क्यों नहीं करतीं?" इस पर बुढ़िया तपाक से बोली—"महाराज ! यह धर्म आप ही सँभालो। मुझे ऐसा धर्म नहीं चाहिए।" मुनिराज—"क्यों, क्या बात है? क्या धर्म ने तुम्हें धोखा दिया है?" बुढ़िया—"हाँ, धोखा ही तो दिया है ! इतने-इतने वर्ष हो गए मुझे धर्म करते-करते, मेरे बेटे का विवाह हुए बारह वर्ष हो गए, उसके एक भी पुत्र नहीं हुआ। जो धर्म एक पौत्र भी नहीं दे सकता, वह मेरे किस काम का?" मुनिराज ने बुढ़िया के क्षोभभरे वचन सुनकर सोचा—"यह बुढ़िया वास्तविक धर्म के स्वरूप और कार्य से अनभिज्ञ है। इसी कारण भ्रान्तिवश पुण्य को धर्म समझ बैठी है। इसे युक्तिपूर्वक समझाना ही ठीक रहेगा।" अतः मुनिवर ने कहा—"बहन ! तुम्हारे पुत्र के पुत्र न होने में धर्म कारण न होकर अन्य कई सांसारिक कारण हो सकते हैं। जैसे कि—बेटा और बहू स्वस्थ न होना, दोनों में परस्पर मेल न होना, बेटे का परदेश रहना, बेटे या बहू का सन्तानोत्पत्ति के योग्य न होना, माता-पिता की सेवा न करने से उनसे प्राप्त होने वाले आशीर्वाद से वंचित होना इत्यादि।"

बुढ़िया बोली—"महाराज ! मैं इतनी भोली नहीं हूँ। मेरे बाल पक गए हैं, इसके साथ मेरा अनुभव भी परिपक्व हो गया। आपने सन्तान न होने में जिन-जिन कारणों को गिनाया है, उनमें से एक भी कारण नहीं है तथा मैंने संतों के मुख से कई कथाएँ सुनी हैं, जिनमें बताया गया था—अमुक व्यक्ति को धर्म के प्रताप से बेटा हुआ,

अमुक की धर्म के प्रभाव से दरिद्रता दूर हुई और धन-सम्पन्नता प्राप्त हुई। अमुक व्यक्ति को धर्म के अनुग्रह से संकट दूर हो गया इत्यादि। जब धर्म के प्रताप से इतने-इतने कार्य होते हैं तो मुझे पोता देने में धर्म का प्रभाव कहाँ चला गया?"

मुनिवर ने उलटकर बुढ़िया से पूछा-"अच्छा बताओ, तुम्हारे बेटा हुआ, वह स्वस्थ रहता है, उसको तुम-सी माता मिली, वह और बहू तुम्हारी सेवा करते हैं, उसका विवाह हुआ, यह सब किसके प्रताप से हुआ?"

बुढ़िया-"इसमें क्या पूछना है, ये सब तो धर्म के प्रताप से हुए हैं!"

मुनिवर-"माँजी! इतने सब कार्य धर्म के प्रताप से मानती हो और एक कार्य (पुत्र को पुत्र-प्राप्ति) न हुआ, तो क्या धर्म का प्रताप घट गया? जो धर्म इतनी बातें दे सकता है, वह क्या तुम्हें एक पोता नहीं दे सकता था? तुम्हीं सोचो-इसमें (पौत्र-प्राप्ति न होने में) धर्म का सामर्थ्य नहीं है या तुम्हारे अन्तराय आदि कर्म कारण हैं? और तुम इस तथ्य को न समझकर धर्म को कोसने लगीं, धर्म के प्रति स्वयं अश्रद्धा करने और दूसरे लोगों में अश्रद्धा पैदा करने लगीं; इससे पुराने बाँधे हुए कर्मों का भुगतान तो हुआ नहीं और नये अशुभ कर्म और बाँध रही हो।"

यह सुनकर बुढ़िया की आँखें खुल गईं। वह कहने लगी-"महाराज! अब मैं समझ गई। मैंने अज्ञानतावश धर्म के प्रति अश्रद्धा प्रगट करके एवं धर्म की आशातना करके कितने अशुभ कर्म बाँध लिये, मुझे क्षमा करें, आप धर्मावतार हैं। आप जैसा कोई मुझे युक्तिपूर्वक समझाने वाला नहीं मिला। आप सब सन्तों और धर्मात्माओं की भी मैंने घोर आशातना की। मुझे यह बताने की कृपा करें कि धन, पुत्र, स्त्री आदि का मिलना, परस्पर स्नेह-सौहार्द, माता-पिता के प्रति सेवाभाव, दरिद्रता, विपन्नता, विपत्ति आदि दूर होना, पाँचों इन्द्रियों के विषयभोगों का प्राप्त होना, सांसारिक सुख और सुख के साधन मिलना इत्यादि क्या ये सब धर्म के कार्य नहीं हैं? ये धर्म के कार्य नहीं हैं तो फिर किसके कार्य हैं?"

मुनिराज-"ये सब धर्म के कार्य होते तो साधु-साध्वी या तीर्थंकर, केवली आदि तो गृहस्थों से कई गुना बढ़कर धर्माचरण करते हैं, संयम-पालन करते हैं, फिर इनको तथा संयम ग्रहण करने वाले चक्रवर्ती नरेन्द्रों को धन-प्राप्ति क्यों नहीं होती? अथवा इन्हें धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद, राज्य-ऋद्धि, भौतिक सुख-साधन आदि का त्याग करने की क्या जरूरत थी? इतने-इतने धर्मात्मा, धर्मनिष्ठ, त्यागी, तपस्वी साधु-साध्वियों पर उपसर्ग और परीषह क्यों आते हैं? क्यों इन्हें संकट, मानसिक सन्ताप, विपत्ति, इष्टवियोग-अनिष्टसंयोग की प्राप्ति, बीमारी, दुःसाध्य व्याधि, अकाल मृत्यु आदि का उपद्रव होता है? धर्म के प्रताप और प्रभाव से ये

सब संकटापंन्न स्थितियाँ साधुवर्ग पर तथा अणुव्रती श्रावकवर्ग पर नहीं आनी चाहिए। इतना धर्माचरण, अहिंसा, सत्य आदि महाव्रतों का पालन, विविध तपश्चरण, सब प्रकार से संयम-पालन करने के बावजूद भी, यानी धर्म के विविध अंगों–क्षमा, दया, ऋजुता, मृदुता आदि के अपनाने पर भी रोग, दुःख, चिन्ता, संकट, उपसर्ग, परीषह आदि क्यों आते हैं? इसके विपरीत जो लोग धर्माचरण नहीं करते हैं, तपश्चर्या भी नहीं करते, श्रावकव्रत या महाव्रत का पालन भी नहीं करते, जिनकी देव, गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धा नहीं है, उनके जीवन में बाह्य दृष्टि से खुशहाली, धन-सम्पन्नता, इन्द्रिय-विषयों की प्राप्ति, स्वस्थता और सुन्दरता आदि देखे जाते हैं; उन पर धर्म का प्रताप क्यों नहीं घट जाता अथवा धर्म के प्रभाव से उन पर दीनता-हीनता क्यों नहीं आती? देव, गुरु और धर्म की निन्दा करने वालों पर वे कहर क्यों नहीं बरसाते? ये और इस प्रकार के धर्म-विषयक प्रश्नों से स्पष्ट है कि धर्म अहिंसा आदि व्रतों के पालन में है, धर्म त्याग, तप, संयम, समिति गुप्ति-पालन, चारित्र, प्रत्याख्यान, व्रत, नियम, परीषह-सहन आदि में है। धर्म परिग्रहत्याग, पाँचों इन्द्रिय-विषयों पर संयम, कामना, वासना, नामना, प्रसिद्धि तथा अहंकार, मद, मत्सर, लोभ, क्रोध, मान, माया आदि विकारों पर विजय प्राप्त करने में है। किसी अशुभ कर्म के उदय में आने पर समभाव से उस कष्ट, दुःख और विपदा को सहने में धर्म है। वह शुभ-अशुभ कर्म है, जो पुण्य-पाप कहलाता है। शुभ कर्म (पुण्योदय) के फलस्वरूप सांसारिक सुख, सुख-साधन, शरीरादि से सम्बन्धित शुभ अवयव आदि या प्रसिद्धि, प्रशंसा आदि मिलते हैं। इसके विपरीत अशुभ कर्म (पाप) के उदय से दुःख, विपत्ति, संकट, अशुभ, अमनोज्ञ, अनिष्ट वस्तुओं का संयोग प्राप्त होता है। पुण्य धर्म की कोटि में नहीं आता। अतः पुण्य और पाप दोनों आस्रव और बन्ध हैं, संसार के मार्ग हैं, धर्म संवर और निर्जरा है, वह मोक्ष का मार्ग है। धर्म का फल तो कर्मों से मुक्त होना है, जबकि पुण्य-पाप का फल प्राप्त होना, न होना शुभ-अशुभ कर्म के उदयाधीन है। किन्तु पुण्य-पाप दोनों के फल प्राप्त होने पर समभाव रखने से, निर्लिप्त रहने से तथा आसक्ति और घृणा से दूर रहने से संवर-निर्जरारूप धर्म उपार्जित किया जा सकता है। सम्भव है, तुम्हारे किसी न किसी पूर्वकृत अशुभ कर्म का उदय हो, उसके कारण तुम्हारा मनोरथ सफल न होता हो।''

मुनिराज द्वारा समझाने पर बुढ़िया का मनःसमाधान हो गया। वह बोली–''मैं अब भलीभाँति समझ गई हूँ।[1] अब मैं कर्मक्षय (संवर-निर्जरा) की दृष्टि से ही धर्माराधना करने का प्रयत्न करूँगी। पूर्वकृत अशुभ कर्मों का क्षय होगा, तभी सब

---

१. 'जवाहर किरणावली, भा. १९' (बीकानेर के व्याख्यान) (जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलाल जी म.) से सार संक्षेप

कुछ होगा, यह जानकर संतोष और समता धारण करूँगी। आपका महान् उपकार है कि मुझे ऐसा अपूर्व ज्ञान दिया।''

यह था, धर्म और पुण्य के स्वरूप और कार्य को न समझने का परिणाम। समझ में आने पर सम्यग्दृष्टि-सम्पन्न व्यक्ति पुण्यफल-प्राप्ति की इच्छा और पुण्यफल प्राप्त होने की शंका, कांक्षा और विचिकित्सा की उधेड़बुन में समय और शक्ति नहीं खोता, वह संवर-निर्जरारूप धर्माचरण में पुरुषार्थ करता है। अपनी प्राप्त शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आत्मिक-शक्तियों का सदुपयोग मोक्ष मार्ग के अग्रदूत सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपरूप धर्म की आराधना-साधना में करता है। कर्ममुक्ति का ही अधिकाधिक ध्यान रखता है।

पूर्वोक्त वृद्धा और मुनिवर के धर्म-कर्म-सम्बन्धी संवाद पर से धर्म और कर्म के स्वरूप और कार्य का अन्तर स्पष्ट हो जाता है।

धर्म करने और न करने वाले में क्या अन्तर है ?

इस संवाद पर से यह प्रश्न भी समाहित हो जाता है कि एक व्यक्ति जो धर्माचरण नहीं करता, धार्मिक कार्य से सदा विमुख रहता है, उस पर जब कोई संकट आता है, तो कह दिया जाता है, वर्तमान में वह धर्म नहीं करता, इसलिए ऐसा कर्मफल मिला। इसके विपरीत धर्माराधक के जीवन में कोई कष्ट या संकट आता है तो कहा जाता है कि यह इसके किसी पूर्वकृत अशुभ कर्म का फल है, जिसे वह भोग रहा है। यह समाधान कर्मविज्ञान की दृष्टि से पूर्णतः यथार्थ नहीं है। संकट या कष्ट चाहे धर्म न करने वाले पर आए अथवा धर्म करने वाले पर आए, दोनों का समाधान एक सरीखा ही होगा कि दोनों के ही किसी पूर्वकृत अशुभ कर्म के उदय से ऐसा हुआ। जो कर्म का विपाक (फल) मिलता है, वह किसी न किसी पूर्वकृत कर्म का ही होता है। वर्तमान में धर्म न करने वाले को वर्तमान कर्मफलजनित कष्ट मिलता है और वर्तमान में धर्म करने वाले को पूर्व कर्मफलजनित कष्ट मिलता है, यह समाधान सिद्धान्त-संगत नहीं है। दोनों का कष्ट तो पूर्व कर्मजनित ही है। धर्म करने वाले को भी पूर्वकृत कर्म का फल भोगना पड़ता है और धर्म न करने वाले को भी पूर्वकृत कर्म का फल भोगना पड़ता है। धर्म करने वाला वर्तमान में संवर-निर्जरा के रूप में जो धर्माचरण कर रहा है, उसके फलस्वरूप या तो नये आते हुए कर्म का निरोध होता है या फिर पूर्वकृत कर्म का क्षय होता है।[1]

१. 'अपने घर में' (युवाचार्य महाप्रज्ञ) से भावांश ग्रहण, पृ. १७१

धर्म करने और न करने वाले दोनों पर भी कष्ट आता है

कष्ट या संकट तो धर्म करने वाले पर भी आता है और न करने वाले पर भी आता है। सामान्य धर्माचरणकर्त्ता की बात तो क्या, विशिष्ट धार्मिक, धर्मगुरु तथा धर्मावतार कहलाने वाले भी कष्ट से बच नहीं पाते। धर्म-परायण को भी शरीर का कष्ट तो भोगना पड़ता है। सामाजिक एवं राष्ट्रीय सेवा करने वालों को भी शारीरिक एवं मानसिक कष्ट, रोग आदि के दुःख भोगने पड़ते हैं। कारण यह है कि धर्म करने वाला अभी वीतराग नहीं बना है। वीतराग के सिवाय प्रत्येक छद्मस्थ धार्मिक राग-द्वेष से मुक्त नहीं है। उसमें राग-द्वेष या प्रियता-अप्रियता या मनोज्ञता-अमनोज्ञता का भाव उसमें पहले भी था, अब भी है और वीतराग नहीं बनेगा, तब तक ये भाव रहेंगे। राग-द्वेषादि या कषायादि की धारा धार्मिक-अधार्मिक दोनों में है। धार्मिक के मन्द है, अधार्मिक में तेज है। ऐसी स्थिति में यह कह देना कि धार्मिक में बीमारी, विपत्ति, दरिद्रता, अभाव-पीड़ा आदि कष्ट क्यों भोगना पड़ता है? मूल बात पूर्वकृत कर्म के विपाक की है। यहाँ वर्तमान में धर्म करना, न करना कोई महत्त्वपूर्ण नहीं है। धार्मिक-अधार्मिक दोनों दुःखों से ग्रस्त होते हैं।

धार्मिक और अधार्मिक के कष्ट भोगने में अन्तर

इस पर स्थूलदृष्टि वाले लोग यह प्रश्न उठाते हैं कि जब धार्मिक और अधार्मिक दोनों ही कष्ट भोगते हैं, तब दोनों में अन्तर क्या रहा? और यह भी है कि जब दोनों स्थितियों में दुःख भोगना है यानी पूर्वकृत अशुभ कर्मोदय के फलस्वरूप दुःख उठाना है, तो फिर धर्म क्यों किया जाए? धर्माचरण–संवर-निर्जरारूप या रत्नत्रयरूप धर्म का पालन करने से क्या लाभ है?

यह सत्य है कि धर्म-पालन करने वाले पर भी दुःख आता है, परन्तु यह भी सत्य है कि धर्म-पालन करने वाला दुःख, कष्ट, विपत्ति या रोग आदि आने पर रोता नहीं, विलाप नहीं करता, दीन-हीन नहीं बनता, अपना मानसिक सन्तुलन नहीं खोता, परिस्थितियों के आगे घुटने नहीं टेकता, वरन् आने वाले कष्टों और संकटों को सहर्ष सह लेता है। हँसते-हँसते प्रसन्नता, धैर्य और शान्ति से कष्टों को झेल लेता है। इसके विपरीत जिस व्यक्ति में धर्म-पालन का उत्साह नहीं होता, जिसने अध्यात्म-साधना का क-ख-ग नहीं सीखा, जिसमें धर्मचेतना नहीं होती, वह जरा-सा कष्ट, संकट या विपत्ति आने पर दीन-हीन बन जाता है, परिस्थिति के आगे घुटने टेक देता है। कष्टों के आने का नाम सुनते ही वह काँप उठता है, अपना सन्तुलन खो देता है, कष्टों को वह सहन नहीं कर पाता। धर्म-पालन करने वाले व्यक्ति की एक विशेषता यह भी होती है कि वह चाहे सुखद स्थिति में हो,

फिर भी क्षमा आदि दशविध धर्मों का पालन, द्वादश अनुप्रेक्षा, मैत्री आदि चार भावना, बाह्य आभ्यन्तर तप, अहिंसादि व्रतों का पालन, छोटे-बड़े त्याग-प्रत्याख्यान आदि संवर धर्म और परीषह जप, उपसर्ग सहन आदि निर्जरा धर्म का आचरण करता रहता है। स्पष्ट शब्दों में कहें तो धर्मात्मा व्यक्ति धर्मनिष्ठ होकर आतापनादि या तपश्चर्यादि के कष्टों को निमंत्रण देता है, कष्टों को समभाव से सहता है। पूर्वबद्ध अशुभ कर्म के फलस्वरूप कष्ट आने पर वह निमित्त को, भगवान को या धर्म को नहीं कोसता, वह स्वयं को ही उस कष्ट के लिए उत्तरदायी मानता है, स्वयं ही शान्ति से उस कष्ट को भोग लेता है। इसके विपरीत धर्म नहीं करने वाला दुःखों के आते ही घबरा जाता है, उसका खून सूखने लगता है, चेहरा उतर जाता है, साथ ही वह धर्म, भगवान, धर्म-गुरु तथा अन्यान्य निमित्तों को गालियाँ देने लगता है, उस कष्ट के लिए खुद को उत्तरदायी न मानकर दूसरों को उत्तरदायी मानता है। कोई धर्मनिष्ठ व्यक्ति तो इतना आत्म-बली होता है कि चाहे कितने ही घोर उपसर्ग, परीषह, कष्ट या संकट आएँ, चाहे उसे फाँसी या शूली पर भी चढ़ा दे अथवा मारणान्तिक कष्ट भी आ पड़े, फिर भी वह समता और शान्ति के साथ उसे सहन करता है, बदले में किसी प्रकार का द्वेष-रोष या प्रतिकार नहीं करता।

जिनकल्पी मुनि की साधना बड़ी कठोर होती है। वह विचरण करते हुए जा रहा है, उस समय यदि सामने से सिंह आ रहा है या और कोई हिंस्र प्राणी आ रहा है, तो भी वह अपने पथ से हटेगा नहीं। वह उस खतरे से डरकर न तो भागेगा, न ही सामने वाले हिंस्र प्राणी को डरा-धमकाकर या प्रहार करके हटाने का प्रयास करेगा। यह साहस की पराकाष्ठा है, जो कर्मों से मुक्ति के लिए शुद्ध धर्म-साधना में सुदृढ़ मुनि में होती है। उसमें धैर्य और साहस कूट-कूटकर भरा होता है। इसलिए वह ऐसे मारणान्तिक कष्ट = उपसर्ग (संकट) के समय मृत्यु को भी सीधा निमंत्रण दे देता है। समाधिमरण के लिए संलेखना-संथारा करने वाला साधक हँसते-हँसते मृत्यु को वरण कर लेता है। धैर्य, शान्ति, स्वस्थता, समाधि और सन्तुलन का प्रतीक होता है-धर्मनिष्ठ व्यक्ति, कर्ममुक्ति के लिए कटिबद्ध संवर-निर्जरा-साधक। यही धार्मिक व्यक्ति और अधार्मिक व्यक्ति का अन्तर है। धार्मिक व्यक्ति कर्मों से मुक्त होने का पुरुषार्थ करता है, जबकि अधार्मिक व्यक्ति कर्मों से अधिकाधिक जकड़ता जाता है।

कष्ट और संकट अधार्मिक व्यक्ति की तरह धार्मिक व्यक्ति पर भी आता है। दोनों में अन्तर इतना ही है धार्मिक व्यक्ति में सहिष्णुता, सहनशीलता, बर्दाश्त करने का मनोबल तथा सहन करने की क्षमता में एवं कष्ट सहन करने के अभ्यास

में इतनी वृद्धि हो जाती है कि वह बड़े से बड़े कष्ट को कष्ट न मानकर प्रसन्नतापूर्वक उसे स्वीकार करता है। किन्तु धर्मश्रद्धा से रहित अधार्मिक व्यक्ति क्रोध, अहंकार, लोभ, द्वेष और आसक्ति के वश भले ही मरने-मारने को तैयार हो जाय, किन्तु उसके अन्तःकरण में तो मृत्यु-भय, प्राण-रक्षा की चिन्ता तथा इष्ट के वियोग से बचने की और अनिष्ट के संयोग से दूर रहने की वृत्ति रहती है। इसी कारण वह हथियार, शस्त्र-अस्त्र तथा पहरेदारों को साथ लेकर या रखकर चलता या रहता है। एक के जीवन में धर्मनिष्ठावश समता और क्षमता है, जबकि दूसरे के जीवन में शरीरादि के प्रति ममता और कायरता है। इसी कारण एक संवर-निर्जरारूप धर्मनिष्ठ है, तो दूसरा आस्रव-बन्धरूप कर्मतत्पर है। दोनों में अन्तर का जायजा लिया जाए तो धर्म में जिसका विश्वास या अभ्यास नहीं है, उस व्यक्ति का अपने शरीर तथा शरीर से सम्बद्ध सजीव-निर्जीव पदार्थ एवं इष्ट-संयोग व अनिष्ट-वियोग के प्रति ममता, मूर्च्छा, आसक्ति का भाव प्रबल होता है। इसके विपरीत, जिसके जीवन में धर्म के प्रति श्रद्धा, भक्ति एवं निष्ठा होती है, उसका शरीर तथा शरीर से सम्बद्ध परिवारादि सजीव तथा धन, सम्पत्ति, जमीन तथा मकान आदि निर्जीव पदार्थों के प्रति समताभाव होता है। धार्मिक और अधार्मिक दोनों में सबसे बड़ा अन्तर है—समता और ममता का। एक में धर्मचेतना है, इसलिए समताभाव का विकास पाया जाता है, जबकि दूसरे में कर्मचेतना है, इसलिए शुभाशुभ = पुण्य-पापकर्म की वृत्ति होने से ममताभाव का विकास होता है।[१] यही अन्तर धर्म और कर्म का समझना चाहिए।

शुद्ध धर्म का कार्य कर्म के कार्य से भिन्न है

धर्म का कार्य कषायादि के पुराने गलत संस्कारों या बुराई के संस्कारों को क्षीण करना है। चेतना पर आए हुए स्वार्थ, लोभ, भय, प्रलोभन आदि के आवरणों को हटाना है। चित्त पर जमे हुए ममकार, अहंकार या अहंता-ममता के मैल से मुक्ति दिलाकर चित्त को निर्मल बनाना है। मूर्च्छा और लालसा को मिटाना है। क्रोध, लोभ, मूर्च्छा-ममता, तृष्णा, ईर्ष्या आदि वृत्तियों का परिष्कार करना है। भावों का शोधन करना है। धर्म का कार्य धन, राज्य, स्त्री-पुत्रादि की प्राप्ति कराना या पद, प्रतिष्ठा, यशकीर्ति अथवा सुख-सुविधा या विषयभोग उपलब्ध कराना नहीं है। यदि तथाकथित धर्म का आचरण करने वाला या नैतिकतापूर्वक जीवनयापन करने वाला यह सोचता है कि मैंने इतना-इतना धर्माचरण किया, किन्तु पूर्वोक्त कार्य नहीं हुए, मैं घाटे में रहा, तो कहना चाहिए कि उस व्यक्ति ने धर्म को समझा ही नहीं, शुद्ध धर्म का आचरण किया ही नहीं। 'दशवैकालिकसूत्र' में तो स्पष्ट कहा

१. 'अपने घर में' से भावांश ग्रहण, पृ. १७६

है–"इहलौकिक उपलब्धियों के लिए धर्माचरण (पंचाचाररूप) मत करो, न पारलौकिक उपलब्धियों के लिए धर्माचरण करो और न कीर्ति, प्रशंसा, प्रसिद्धि आदि के लिए धर्माचरण करो, किन्तु वीतरागता (अर्हत्तत्त्व) की प्राप्ति–राग-द्वेष का–तथा तज्जनित मोहादि कर्मों का क्षय करने के लिए धर्माचरण करो।"[१] अर्थात् वीतरागता की प्राप्ति के लिए तुम्हारा ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपश्चरण और वीर्याचार (शक्ति का प्रयोग) हो।

धर्म से आन्तरिक चेतना में परिवर्तन होना चाहिए

निष्कर्ष यह है कि धर्म से आन्तरिक चेतना में परिवर्तन घटित होना चाहिए, चेतना को आवृत, प्रभावित, कुण्ठित या विकृत करने वाली कर्मवर्गणाओं को बदल जाना चाहिए। पुराने कर्म-संस्कार क्षीण हो जाने या अवरुद्ध हो जाने चाहिए। जब शुद्ध धर्माचरण करने वाले की चेतना का रूपान्तरण हो जाता है, उसके मन में ऐसी शंका, कांक्षा या विचिकित्सा कभी नहीं उठ सकती कि धर्माचरण करने वाला ईमानदार व्यक्ति घाटे में रहता है, दुःखी रहता है और धर्मचेतना से रहित अनीतिमान् बेईमान व्यक्ति नफे में रहता है, सुखी रहता है; ऐसी शंका, कांक्षा या विचिकित्सा तभी होती है, जिसकी चेतना अभी नहीं बदली, जिसने धर्म के नाम पर पुण्य या अन्य किसी धर्मभ्रम को पकड़ा हो या धर्म को स्थूलरूप में पकड़ा हो या धर्म के नाम पर अन्ध-विश्वास को धर्म माना हो, धर्म का मर्म या रहस्य नहीं जाना हो।

विपत्ति दोनों पर आती है : क्यों और कैसे ?

जिसने शुद्ध धर्म का रहस्य और तत्त्व या स्वरूप भलीभाँति जान लिया है उसके मन में कभी यह प्रश्न नहीं उठता कि मैंने इतना धर्म किया, इतना धर्मध्यान किया, इतना सत्संग किया, इतनी धर्मक्रिया की, फिर भी इतनी बड़ी विपत्ति क्यों आ गई? इतना विकट संकट क्यों उपस्थित हुआ? फिर क्या अन्तर रहा धर्म करने वाले और न करने वाले में? ऐसा कोई नियम नहीं है कि धर्म करने वाले के पुत्र, पत्नी आदि का वियोग हो जाता है और धर्म न करने वाले के पुत्रादि का वियोग नहीं होता। यह नियम इसलिए नहीं है कि धर्म करने वाले के पास भी प्राचीन अशुभ कर्मों का भण्डार भरा हुआ है और धर्म न करने वाले के पास भी पुराने अशुभ कर्मों का भण्डार भरा हुआ है। दोनों ही भूतकालिक प्राकृत कर्मों से

१. न इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा, न परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा, न कित्ति-वन्न सद्द-सिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा, नन्नत्थ आरहंतेहिं हेउहिं आयारमहिट्ठिज्जा।

–*दशवैकालिकसूत्र, अ. ९, उ. ४, सू. ५*

जुड़े हुए हैं। वर्तमान में जो व्यक्ति धर्माचरण कर रहा है, क्या उसका वह पूर्वकृत अशुभ कर्मों का भण्डार समाप्त हो गया? अतीत उसके साथ तब तक जुड़ा रहता है, जब तक वह सिद्ध-बुद्ध तथा कर्मों से सर्वथा मुक्त न हो जाए। इतना जरूर है कि धार्मिक व्यक्ति के उस अतीत के कर्म के स्टॉक में कमी हो सकती है। परन्तु अतीत के उस कर्म का स्टॉक सर्वथा खाली नहीं हो जाता। प्रत्येक व्यक्ति के साथ अनन्त अतीत का कर्म-भण्डार जुड़ा हुआ रहता है। वह तब तक एकदम समाप्त नहीं होता, जब तक कर्मों से सर्वथा मुक्त न हो जाए। अतः जब तक व्यक्ति पूर्वबद्ध अशुभ कर्मों से अल्प या अधिक अंशों में जुड़ा रहता है, तब तक धर्म करने और न करने वाले के कर्मफल में कोई अन्तर नहीं आता।

धर्म करने वाले की दृष्टि में धर्म का उद्देश्य

अतः वर्तमान में संवर-निर्जरारूप धर्म करने वालों को यह अवश्य सोचना है कि हमारे द्वारा वर्तमान में किये जाने वाले धर्माचरण का परिणाम या उद्देश्य अतीत का शोधन करना, अतीत के बन्धन को काटना अथवा वर्तमान कर्मों के आस्रव (आगमन) को रोकना तथा अतीत के अशुभ संस्कारों को बदलना है। अतीत के परिणामों (कर्मफलों) से बचना वर्तमान के धर्माचरण का उद्देश्य नहीं है। यह सम्भव है कि वह अतीत के प्रति जाग्रत होकर सत्ता में पड़े हुए अशुभ कर्मों के अनुभाव (रस) और स्थिति को कम कर दे, शुभ में बदल दे। पूर्वबद्ध अशुभ कर्मों के उदय से भविष्य में होने वाले कर्मोदय के आक्रमण को विफल कर दे या उसके दुःखद फल को समभाव से भोगकर अतीत कर्म का क्षय कर दे। पूर्व अशुभ कर्म का भण्डार जो उसे प्रभावित करता है, उसके विरुद्ध वह ऐसी प्रतिरोधात्मक पंक्ति खड़ी कर देता है, जिससे कर्म के कटुफल का प्रमाद उस पर नहीं पड़ता या हावी नहीं हो पाता। अतः धार्मिक इस तथ्य को विस्मृत करके कभी नहीं कहता कि उसके जीवन में विपत्ति या व्याधि क्यों आई? क्योंकि धर्म या सुध्यान करने वाला भी अतीत के कर्मों से बँधा हुआ है। अतीत में उसने न मालूम कितने-कितने अपराध किये हैं? किस-किसके जीवन के विकास में रोड़े अटकाए हैं? अन्तराय दिया है? अतीत में न जाने कितने अवरोध पैदा किये हैं? अतः धार्मिक को अतीत के अशुभ कर्मों का परिणाम न भुगतना पड़े, उस पर संकट न आए, ऐसी कल्पना भी नहीं कर सकता वह। विशेषता यह है कि धार्मिक व्यक्ति में उन अशुभ कर्मों का क्षय करने की तथा वर्तमान में आते हुए अशुभ कर्मों को रोकने की एवं अशुभ को शुभ में परिणत करने की शक्ति पैदा हो जाती है।[1]

---

१. 'अमूर्त चिन्तन' से भावांश ग्रहण, पृ. ७८-७९

धर्माराधना और कर्माराधना करने वाले की विशेषता में अन्तर

धर्म करने वाले व्यक्ति में एक विशेषता यह भी है कि वह विपत्ति की घटना से प्रभावित नहीं होता, वह घटना को जान जाता है, किन्तु प्रियता-अप्रियता या हर्ष-शोक का संवेदन प्रायः नहीं करता, प्रायः वह ज्ञाता-द्रष्टा बना रहता है। जो व्यक्ति धर्माराधना नहीं करता है, यानी कर्माराधना करता है, वह घटना सुनते ही मूढ़ बनकर संवेदन करने लग जाता है, वह प्रियता-अप्रियता या हर्ष-शोक के संवेदन से भर जाता है। धर्म की चेतना जैसे-जैसे जाग्रत होती जाती है, वैसे-वैसे इस प्रकार के संवेदन की चेतना कम होती जाती है, शुभाशुभ कर्मफल से वह मन में सुख या दुःख का वेदन नहीं करता। वह तटस्थ व समभाव में स्थित रहता है। धर्म का यही परिणाम या उद्देश्य है, जबकि कर्म विषमभाव में ले जाता है, वह राग-द्वेष की उत्तेजना पैदा करता है, प्रियता-अप्रियता का संवेदन उत्पन्न करता है। यही धर्माराधना और कर्माराधना के उद्देश्य, परिणाम एवं विशेषता में अन्तर है।

● ●

३

धर्म और कर्म : दो विरोधी दिशाएँ

धर्म और कर्म का केन्द्र-बिन्दु और कार्य भिन्न-भिन्न हैं

यह तो दिन के उजेले की तरह स्पष्ट है कि धर्म और कर्म परस्पर विरोधी हैं, उनके स्वभाव भी पृथक्-पृथक् हैं। धर्म का केन्द्रबिन्दु है—जागृति और कर्म का केन्द्रबिन्दु है—मूर्च्छा या मूढ़ता। मूर्च्छा या मूढ़ता आस्रव और बन्ध है, जबकि जागृति संवर और निर्जरा है। कर्म का कार्य जीव को मूर्च्छाग्रस्त करना है, जबकि धर्म का कार्य है—उस मूर्च्छा को तोड़ना, जागृति लाना। मूर्च्छा घनी होती है, तब जागृति अन्धकाराच्छन्न हो जाती है। मूर्च्छा और जागृति दोनों एक-दूसरे की विरोधी हैं। मूर्च्छा जागृति नहीं, तथैव जागृति मूर्च्छा नहीं।

मोहनीय कर्म आदि क्या-क्या करते हैं ?

वास्तव में, मूर्च्छा सघन होती है—मोहनीय कर्म का उदय होने पर। मोहनीय कर्म की दो शक्तियाँ हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दोनों ही प्रकार के मोहकर्म जीव की दर्शनशक्ति और चारित्रशक्ति को सुसुप्त, मूर्च्छित, कुण्ठित, आवृत और विकृत करते हैं। मानव-जीवन को सबसे अधिक प्रभावित करता है—मोहकर्म। अज्ञान और मोह ये दोनों जीवन को कुण्ठित और विकृत करते हैं। ज्ञानावरणीय कर्म के कारण व्यक्ति सही नहीं जान पाता, दर्शनावरणीय कर्म के कारण यथार्थ दर्शन नहीं कर पाता, अन्तराय कर्म के कारण व्यक्ति अपनी आत्मिक-शक्तियों का सही उपयोग नहीं कर पाता। किन्तु मोहनीय कर्म के कारण व्यक्ति जानता-देखता हुआ भी तथा शक्ति-सामर्थ्य का उपयोग करता हुआ भी सही-सही आचरण नहीं कर पाता। मोहकर्म दृष्टि में भी विकृति उत्पन्न करता है और आचरण में भी। मोहकर्म के सहयोगी दो तथ्य हैं—'अहंकार और ममकार'। अनात्मीय वस्तुओं में आत्मीयता का अभिनिवेश ममकार है। जैसे—शरीर, परिवार, धन, मकान, आभूषण, वाहन आदि के प्रति ममत्व होना ममकार है और इन वस्तुओं की प्रचुरता होने पर उनके प्रति ममत्व के कारण अहंत्व-मद, अहंभाव पैदा होना अहंकार है। इन दोनों की सीमा बहुत ही विस्तृत है, सर्वलोकव्यापी है। इसी

प्रकार मैं सुखी, मैं दुःखी, मैं रोगी, मैं नीरोगी, मैं खुश, मैं नाराज इत्यादि द्वन्द्व भी मोहकर्म की देन है।[1]

मोहनीय कर्म का कार्य मूर्च्छित, मूढ़ और विकृत करना है

यह मोहनीय कर्म ही है, जो व्यक्ति की चारित्र की शक्ति को भी कुण्ठित, अवरुद्ध एवं विकृत कर देता है। जिस प्रकार मदिरा पीने से व्यक्ति भान भूल जाता है, मूर्च्छित हो जाता है तथा आचरण और व्यवहार सही नहीं कर पाता, उसी प्रकार मोहमदिरा पीकर भी व्यक्ति अपना आत्म-भान भूलकर प्रमत्त, उन्मत्त, मदोन्मत्त या इन्द्रिय-विषयासक्त हो जाता है, जिससे वह न तो शुद्ध आचरण कर पाता है और न ही अच्छा व्यवहार कर पाता है और न वह अपनी शक्ति तपश्चर्या, त्याग, व्रतनियम-पालन आदि में लगा सकता है। यह सब मोहकर्म का कार्य है।

चारित्रमोहनीय कर्म और संवर-निर्जरारूप धर्म का फल

इसके विपरीत ज्ञानादि रत्नत्रयरूप अथवा संवर-निर्जरारूप धर्म के आचरण से सम्यग्दृष्टि प्राप्त करके व्यक्ति मिथ्यात्व से छुटकारा पा लेता है तथा व्रताचरण अहिंसादि-पालन, तप, संयम, समभाव आदि में पुरुषार्थ करके चारित्रमोहनीय कर्म की निर्जरा (अंशतः क्षय) कर लेता है। मोहजनित कषायों और नोकषायों का धैर्यपूर्वक निरोध करके संवर (कर्मास्रव-निरोध) करता है। अपने पर आने वाले कष्टों, परीषहों, विपदाओं, संकटों और उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन करके निर्जरा करता है। परन्तु मिथ्यादृष्टि या अज्ञानी व्यक्ति मोहनीय कर्म के उदय से संकट, कष्ट, उपसर्ग या परीषह आने पर घबरा जाता है, समभावपूर्वक सहने की अपेक्षा हायतोबा मचाता है; निमित्तों को, भगवान को, काल को अथवा कर्म को कोसता है, वह अपने उपादान को नहीं देखता कि मैंने ही इस प्रकार का कोई अशुभ कर्म किया होगा, वही कर्म उदय में आया है। अगर मैं समभाव से, शान्ति और धैर्य के साथ उसका फल भोग लेता हूँ तो पूर्वकृत वह कर्म अपना फल भुगवाकर नष्ट (निर्जीर्ण) हो जाएगा, नया कर्म नहीं बँधेगा, किन्तु यदि मैं हाय-हाय करता हुआ, निमित्तों आदि को कोसता हुआ भोगूँगा तो पुराना कर्म पूरी तरह से क्षय नहीं होगा, नया कर्म और बँध जाएगा जिससे उसी कर्म का कटुफल पुनः-पुनः भोगना पड़ेगा। उस समय यह सोचे कि शान्तिपूर्वक भोगूँ या अशान्तिपूर्वक, मुझे कटुफल भोगना तो पड़ेगा। मेरे द्वारा ही किया हुआ कर्म मुझे ही भोगना है, इसी में आत्मा की विजय है, समुत्कर्ष है अथवा उदय में आने से

---

१. 'कर्मवाद' से भावांश ग्रहण, पृ. ६०

पहले ही वह प्रतिदिन कुछ न कुछ त्याग, तप, जप, धर्माचरण कष्ट-सहन या तितिक्षाभाव स्वेच्छा से बिना किसी भय, स्वार्थ या प्रलोभन के अपनाता जाए तो आने वाले कर्मों का निरोधरूप संवर हो सकता है। वस्तुतः धर्म संवर और निर्जरा की कला सिखाता है। धर्म अगर प्रबल हो और श्रद्धा-भक्ति एवं आत्म-विश्वास के साथ उसका प्रयोग संवर या निर्जरा के रूप में किया जाए तो सम्यग्दृष्टि, अणुव्रती या महाव्रती धर्मनिष्ठ व्यक्ति मोहनीय कर्म जैसे प्रबल कर्म को भी परास्त, क्षीण या आंशिक रूप से नष्ट कर सकता है।

मोहकर्म के विरोध में धर्म क्या कर सकता है ?

मोह के उपशान्त या कुछ अंशों में क्षीण होने पर संवर-निर्जरारूप धर्म होता है। परन्तु मोहकर्म विभिन्न रूपों में मनुष्य के जीवन को प्रभावित करता है। आज के अधिकांश व्यक्ति इसी मोहकर्म के कारण धर्म को इस रूप में स्वीकार नहीं करते कि धर्म से हमारी वैयक्तिक, सामाजिक, पारिवारिक या सामूहिक समस्याओं का हल हो सकता है। धर्म को जीवन में रमाने-अपनाने से हमारी क्रोध, लोभ, मोह, मद, अहंकार, दीनता-हीनता, क्रूरता तथा दूसरों को नीचा और खुद को ऊँचा मानने की एवं लड़ाई-झगड़े की मनोवृत्ति मिट सकती है, धर्म से हमारे जीवन में सन्तोष, अहिंसा, क्षमा, सादगी, मानवता, सेवा आदि सद्गुण आ सकते हैं।

धर्म का केवल उपासनात्मक रूप अपनाने से हानि

हम देखते हैं, भारत के अधिकांश व्यक्ति धर्म को केवल उपासनात्मक रूप में स्वीकार करते हैं। सुबह उठकर माला फिराओ, उपाश्रय, मन्दिर या धर्मस्थान में जाओ, साधु-साध्वी हों तो उनके दर्शन कर लो, उनसे मंगल पाठ श्रवण कर लो, समय आया, प्रार्थना कर लो, सामायिक कर लो, बस, इतने में ही धर्म की इति समाप्ति। किसी प्रतिष्ठित साधु ने प्रेरणा दी तो उनका प्रवचन सुन लिया, बाह्य तप कर लिया, किसी शास्त्र का मूल पाठ पढ़ लिया। परन्तु उसके बाद घर, दुकान, संस्था, व्यापारिक संस्थान में वह धर्म, वह समताभाव, वह शान्ति, सन्तोष, अध्यात्म ज्ञान उनके जीवन में नहीं उतरता। इसीलिए आज के युवक प्रायः धर्म का नाम सुनते ही भड़कते हैं, जब उनसे धर्माचरण के लिए कुछ कहा जाता है तो वे तपाक से कह बैठते हैं—जब हम बहुत धर्म करने वाले बड़े-बूढ़ों का आचरण और व्यवहार देखते हैं, तब यह नहीं प्रतीत होता कि धर्माचरण करने से हमारे जीवन में इससे आगे और कुछ लाभ होगा ? धर्म हमारे अन्तर में और क्या तबदीली ला सकेगा ? इनके व्यवहार में उदारता, समता, मधुरता, वत्सलता और परमार्थ-भावना नहीं दिखाई देती तो हमारे जीवन में धर्म व्यवहार में उदारता आदि गुण कैसे ला देगा ? आज बहुत-से स्थूलदृष्टि लोग अपने इहलौकिक और पारलौकिक

जीवन में सुख-शान्ति, मानवता, स्वार्थ-त्याग, संतोष, आत्मौपम्यभाव, मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ आदि भावनाओं को जीवन में उतारने के लिए धर्म का उपयोग नहीं करते। जीवन में उठने वाली विभिन्न समस्याओं को सुलझाने के लिए तप, त्याग, संयम आदि के रूप में धर्म का पालन नहीं करते।

ये भय और प्रलोभन के आधार पर धर्म करने वाले

धर्म के उपासनात्मक रूप को पकड़ने वाले वर्तमान युग के अधिकांश लोग भय और प्रलोभन से, स्वार्थ, अर्थ और काम के लाभ से प्रेरित होकर धर्म करते हैं। किसी को नरक का भय है, समाज में बदनामी का भय है, सरकार के द्वारा दण्ड मिलने का भय है अथवा किसी को स्वर्ग का लोभ है अथवा स्वार्थसिद्धि का या धनादि की उपलब्धि का लोभ है, इसलिए धर्म करता है। भय और प्रलोभन की बात मन से निकाल दें और धर्म की कसौटी अहिंसा, संयम, तप, त्याग को मान लें, तभी वास्तविक धर्म जीवन में परिवर्तन ला सकता है।

केवल कुछ क्रियाकाण्ड करके धर्मात्मा मान लेने और जीवन में कुछ भी परिवर्तन न करने वाले लोगों को देखकर आज का युवक धर्म से विमुख होता जा रहा है।

धर्म-पालन के प्रति कुतर्क और यथार्थ समाधान

आज धर्म के प्रति अनास्था प्रगट करने वाले वर्तमान दृष्टिपरक कतिपय व्यक्ति यह तर्क करते हैं—एक व्यक्ति धर्म करता है और दुःख भोगता है; दूसरा धर्म नहीं करता, फिर भी सुख भोगता है। फिर धर्म करने से क्या फायदा? यद्यपि धर्म करने वाला और न करने वाला दोनों ही सुख और दुःख दोनों भोगते हैं, फिर दोनों में क्या अन्तर रहा?

धार्मिक के समक्ष दो ही तथ्य, अधार्मिक के समक्ष तीन तथ्य

आजकल के वर्तमान दृष्टि-परायण लोग जीवन की अधिकांश उपलब्धियों की कसौटी सुख और दुःख को मानकर अच्छे और बुरे जीवन की मीमांसा करते हैं। सद्व्यवहार और असद्व्यवहार या सदाचार-असदाचार की समीक्षा वे इन्हीं दो बातों के आधार पर करते हैं। इन दोनों से हटकर तीसरे तथ्य पर उनकी दृष्टि नहीं जाती।

ऐसे लोगों के तर्क को सुनकर हजारों धार्मिक उलझन में पड़ जाते हैं और कभी-कभी आस्तिक व्यक्ति भी नास्तिक बन जाते हैं। किन्तु धर्माराधना करने वाले व्यक्ति में इन दो के अतिरिक्त कोई तीसरा तत्त्व काम नहीं करता, जो धर्म न करने

वाले में तीसरा तत्त्व होता है। धर्माराधना न करने वाले की दृष्टि तीसरे तथ्य पर जाती है–सुख-दुःख देने वाले पर।

जो व्यक्ति धर्माचरण नहीं करता, जिसकी रुचि धर्माचरण में नहीं है, उस पर कभी दुःख आ पड़ता है तब उसकी दृष्टि इस तीसरे तथ्य पर जाती है। सर्वप्रथम वह यही सोचता है–"उसने मुझे दुःखी कर डाला। वह ऐसा नहीं करता तो मैं दुःखी नहीं होता।" वह अपने द्वारा पूर्व में बाँधे हुए असातावेदनीय कर्म का ही यह फल है, यह दुःख मेरे द्वारा ही उपार्जित असातावेदनीय कर्म का फल है। निमित्तों को तथा कभी-कभी वह धर्म, धर्म-गुरु एवं भगवान को भी कोसने लग जाता है। वह मिथ्या समझ और कल्पना के जाल में स्वयं फँसता है, औरों को फँसाता है और उन निमित्तों के प्रति इसके तथा उन सबके प्रति घृणा, द्वेष और प्रतिशोध की दुर्भावना जागती है। इस प्रकार अधार्मिक व्यक्ति की दृष्टि में तीन तथ्य होते हैं–दुःख, दुःख पाने वाला और दुःख देने वाला कल्पनाजन्य निमित्त। इसके विपरीत जिसकी रुचि और दृष्टि धर्माराधना पर है, जो धर्माचरण को जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग मानता है, उसके सामने तीसरा तथ्य कभी नहीं होता, वह अपने उपादान को ही देखता है; इसलिए दो ही तथ्य उसके समक्ष होते हैं–सुख-दुःख तथा सुख-दुःख पाने वाला। उसका सारा ध्यान स्वयं के आचरण पर केन्द्रित होता है। दूसरी दृष्टि से कहें तो धर्म और कर्म, ये दो तत्त्व ही उसकी विवेक-परायण बुद्धि में होते हैं। वह यही सोचता है–मैंने ही पूर्व में कभी शुद्ध धर्म को छोड़कर साता-असातावेदनीय कर्म बाँधा होगा। इसके अतिरिक्त सुख-दुःखदाता कोई भी तीसरा तत्त्व उसकी दृष्टि में नहीं आता। वह सारा दायित्व अपने पर ओढ़ता है, किसी दूसरे को उत्तरदायी नहीं मानता। वह वेदनीय कर्म के सारे परिणामों का उत्तरदायित्व अपने पर लेता है।

धार्मिक व्यक्ति की तीन विशेषताएँ

धार्मिक व्यक्ति की यह सबसे बड़ी विशेषता है, जिससे उसे अपने व्यवहार, आचरण और प्रवृत्ति के परिष्कार का मौका मिलता है। उसके जीवन की दिशा और प्रकृति बदल जाती है। ऐसे धार्मिक व्यक्ति की दूसरी विशेषता यह है कि वह वेदनीय कर्मजनित सुख और दुःख में समभाव रखता है, सुख के समय फूलता नहीं, दुःख के समय घबराता नहीं। अपना सन्तुलन नहीं खोता। सम्यग्दृष्टि धार्मिक व्यक्ति दुःख आने पर समभाव से, शान्ति और धैर्य से सहते हैं।

वे अपने भेदविज्ञान द्वारा उस दुःख को हँसते-हँसते झेलकर दुःख में से सुख का पहलू निकाल लेते हैं। जबकि अधार्मिक मिथ्यादृष्टि व्यक्ति अपने दुःख के लिए दूसरों पर आरोप लगाकर स्वयं को उत्तरदायी नहीं मानता, न ही कष्ट को

समभाव से सहता है, वह दुःख को भोगता है रोता हुआ और हाय-हाय करता हुआ। धर्म में विश्वास न रखने वाला व्यक्ति अपने आचरण और व्यवहार में परिष्कार नहीं कर पाता। परन्तु धार्मिक व्यक्ति कष्ट-सहिष्णु बनकर जीवन का आनन्द प्राप्त कर लेता है।

धार्मिक की तीसरी विशेषता यह होती है कि वह तन और मन के सुख से परे आत्मिक सुख को प्राप्त कर लेता है जो अनुभव का सुख है, चैतन्य का सुख है, जबकि मिथ्यादृष्टि या अज्ञानी व्यक्ति के सुख की सीमा शारीरिक और मानसिक सुख में ही परिसमाप्त हो जाती है। इन दोनों से आगे के सुख की वह कल्पना भी नहीं कर पाता। शरीर के अंगों को कोमल स्पर्श मिला, जिह्वा से स्वाद मिला, कानों से प्रिय और मधुर शब्द सुना, आँखों से सुन्दर रूप देखा, अत्यन्त सुख मिला, ये इन्द्रियाँ और मन मनोज्ञ शब्दादि पाकर तृप्त हो गए। इस प्रकार अज्ञानी मिथ्यात्वी एवं धर्मविहीन व्यक्ति के सुख की कल्पना इन्द्रिय-विषयों में ही सीमित हो जाती है। वह यह नहीं सोच पाता कि इन्द्रिय-विषयों से आगे भी ऐसा सुख और आनन्द है, जो स्वाधीन, अव्याबाध, असीम और आत्मिक है। ऐसा व्यक्ति सातावेदनीय कर्मजनित, पदार्थनिष्ठ, वैषयिक तथा मनःकल्पित सुख में रचापचा, आसक्त और मूर्च्छित रहता है। अधर्म-परायण व्यक्ति जहाँ वेदनीय कर्म के उदय से सुख-दुःख का भोग (अनुभव) करता है, वहाँ धर्म-परायण व्यक्ति कर्मजनित सुख और दुःख दोनों को भोगता नहीं, वह निर्लिप्त रहता है। उसकी दृष्टि तन, मन, बुद्धि और इन्द्रियों से जनित मनःकल्पित सुख से आगे दौड़ती है। जबकि धर्मनिष्ठ व्यक्ति की दृष्टि इन्द्रियजनित, पदार्थ-प्रतिबद्ध, वेदनीय कर्मोदय से प्राप्त सुख-दुःख से परे, वास्तविक अमूर्त्त आत्मिक-सुख (आनन्द) पर टिकती है, जो अचिन्त्य, अवर्णनीय और अतर्क्य होता है।

कर्मजनित सुख और धर्मजनित सुख में अन्तर

दूसरे शब्दों में कहें तो—जो सांसारिक और वेदनीय कर्मजनित सुख है, जिस पर आसक्ति और घृणा से, राग और द्वेष से पुनः कर्मबन्ध होता है, जबकि धर्मजनित आत्मिक-सुख, जोकि धर्मनिष्ठ व्यक्ति द्वारा अपनाया जाता है, कर्मक्षय का कारण बनता है। वेदनीय कर्म से प्राप्त सुख-दुःख को राग-द्वेष-निर्लिप्तभाव से भोगकर धर्मनिष्ठ जीव जितने-जितने अंशों में क्षय करता जाता है, उतने-उतने अंशों में वह सहज, स्वाधीन आत्मिक-सुख को प्राप्त करता है।

सुख और दुःख में राग-द्वेष से हानि

कर्मविज्ञान की दृष्टि से प्रत्येक छद्मस्थ प्राणी के जीवन के दो साथी हैं—सुख और दुःख। ये दोनों वेदनीय कर्म से जुड़े हुए हैं। एक का नाम है—सातावेदनीय

और दूसरे का नाम है–असातावेदनीय। सातावेदनीय कर्म का जब उदय होता है, तब जीव का मन सुख से और असातावेदनीय कर्म का उदय होने पर दुःख से भर जाता है। सातावेदनीय कर्म के प्रभाव से जब व्यक्ति को सुख मिलता है, तब सुख की मिठास में आसक्त होकर व्यक्ति अधिकाधिक सुख-लालसा बढ़ाता है, विभिन्न पदार्थों में सुख की कल्पना करता है। परन्तु पदार्थ में अपने आप में सुख या दुःख नहीं है, वह अज्ञानी और विवेकमूढ़ मनुष्य की कल्पना है कि अमुक वस्तु को पाने में सुख है, अमुक को पाने में नहीं। एक आचार्य ने 'मधुबिन्दु' का दृष्टान्त देकर समझाया है कि मधु की बूँद की मिठास के लिए लालायित व्यक्ति जिस प्रकार तीक्ष्ण धार वाली तलवार का विचार नहीं करता, जिस पर मधु लिपटा हुआ है, जिसे चाटने से जीभ कटे बिना नहीं रहेगी। इसी प्रकार अज्ञानी मिथ्यादृष्टि अल्पज्ञ संसारी जीव जिस पदार्थ–प्रतिबद्ध सुख के लिए तरसता है, उससे कर्मबन्ध लिपटा हुआ है, जो अनेक भयंकर दुःखों का जनक है अर्थात् जो सुख आसक्तिपूर्वक भोगा जा रहा है, वह सुखाभास है, अनेक दुःखों को जन्म देने वाला है। वह वास्तव में दुःख का बीज है।

सातावेदनीय कर्म के उदय से प्रियता की और असातावेदनीय कर्म के उदय से अप्रियता की अनुभूति होती है। सातावेदनीय कर्म के उदय से मनुष्य को सुख और असातावेदनीय कर्मोदय से दुःख मिलते हैं। सुख या दुःख मिलना एक बात है और सुख या दुःख के साधन मिलना दूसरी बात। सातावेदनीय = पुण्य (शुभ) कर्म के उदय से सुख और असातावेदनीय = पाप (अशुभ) कर्म के उदय से दुःख होता है, यह कर्मसिद्धान्त-सम्मत है। परन्तु इन दोनों से क्रमशः सुख के साधन या पदार्थ तथा दुःख के साधन या पदार्थ मिलते हैं, यह कर्मसिद्धान्त-सम्मत बात नहीं है। हम जानते हैं कि मनोज्ञ-अमनोज्ञ (अच्छे या बुरे) पदार्थ मिलने पर क्रमशः सुख और दुःख का वेदन (अनुभव) जीव करता है। रेगिस्तान में ग्रीष्म ऋतु में अत्यन्त पिपासा लगी, बड़ी मुश्किल से एक प्याला पानी मिला तो व्यक्ति सुख का अनुभव करता है। पानी अपने आप में सुख या दुःख का अनुभव नहीं है। पानी सुख का निमित्त या हेतु बन सकता है, किन्तु पानी पीना सुखानुभव नहीं है, चेतना सुखानुभव करती है। यदि पानी पीने से ही सुखानुभूति होती है, तो सर्दी के दिनों प्यास न होने पर भी पानी अधिकाधिक पिलाया जाए तो उससे सुखानुभूति नहीं होगी। यही निषेधात्मक तथ्य पाँचों इन्द्रियों के विषयों तथा मन के विषयों में सुखानुभूति या सुखासक्ति का है। वास्तव में जो ज्ञाता-द्रष्टा या तटस्थ धर्माराधक है, वह सुख के साधन माने जाने वाले पदार्थों में भी सुखानुभूति या सुखासक्ति नहीं करेगा और दुःख के संयोगों या दुःख के साधनों के मिलने पर भी दुःखानुभूति नहीं करेगा, वह राग-द्वेष या प्रियंता-अप्रियता के भाव से दूर रहकर आत्मा के

सहज आनन्द की अनुभूति करता है। जैसे नमिराजर्षि ने इन्द्र से कहा था—मुझे सहज आत्मिक आनन्द का स्रोत प्राप्त हो गया है, उस स्रोत की प्राप्ति हो जाने पर मुझे ये कामभोग आनन्द नहीं दे सकते, ये शल्य हैं, विषतुल्य हैं, अतृप्तिवर्द्धक हैं। अतः धर्मनिष्ठ व्यक्ति में जब शुद्ध राग-द्वेषरहित चेतना जाग्रत होती है, तब वह सहज सुख, सहज आनन्द, पदार्थ निरपेक्ष, कामभोगरहित सुख का स्रोत प्राप्त कर लेता है। उसे फिर सातावेदनीय कर्म (पुण्यकर्म) से प्राप्त सुख की आकांक्षा नहीं होती। वह सातावेदनीय और असातावेदनीय दोनों के उदय के समय सावधान होकर निरपेक्ष एवं समभाव से उन्हें भोगकर क्षय (निर्जरा) कर डालता है तथा नये आने वाले इन कर्मों को त्याग, तप, वैराग्य आदि से रोक (संवर कर) लेता है। दुःख और कष्ट को समभाव से सहकर धर्म के द्वारा कर्म पर विजय पा लेता है।

अन्तराय कर्म : स्वरूप, कार्य, निरोध और क्षय का उपाय

चार घातिकर्मों में एक कर्म है—अन्तराय। यह मनुष्य की शक्ति को अवरुद्ध कर देता है, शक्ति को प्रगट होने नहीं देता, विघ्न-बाधाएँ पैदा करता है। मनुष्य के जीवन की सबसे बड़ी विशेषता है—शक्ति, आत्म-वीर्य का प्रकटीकरण। आत्मा में अनन्त शक्ति है दान, लाभ, भोग-उपभोग और वीर्य की। अन्तराय कर्म को भण्डारी की उपमा दी गई है, जो राजा की आज्ञा होने पर भी पुरस्कार-प्राप्त व्यक्ति को पुरस्कार की राशि नहीं देता, टरकाता रहता है। वह विघ्न-बाधा उपस्थित करता है। शुद्ध आत्मारूपी राजा का आदेश है कि तुम्हारे आत्म-भण्डार में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द और शक्ति का असीम भण्डार है, उसे प्राप्त कर लो, परन्तु भण्डारीरूपी अन्तराय कर्म उस निधि को देने में बाधा उपस्थित करता है। आत्मा ने ही पूर्व-जन्म में या इसी जन्म के पूर्वकाल में किसी के दान, लाभ, भोग-उपभोग और वीर्य के प्रदान करने में, विकास करने में अथवा अपने राग-द्वेष-मोह तथा क्रोधादि कषायों और हास्यादि नौ नोकषायों का विसर्जन (व्युत्सर्ग) करने अथवा मन्द व शिथिल करने में घोर प्रमाद किया, उपेक्षा की, अपनी तन, मन, वचन, धन, साधन, विद्या, बुद्धि एवं तप, त्याग, व्रत-प्रत्याख्यान, नियम-पालन आदि की जो शक्तियाँ थीं, उनका अनुपयोग या दुरुपयोग किया, सदुपयोग नहीं किया अथवा अन्यान्य सहायता-याचकों, अभाव-पीड़ितों, दुर्बलों, रुग्णों, अंगविकलों, अवलम्बन-अपेक्षकों के लिये उनका यथायोग्य सदुपयोग या ममत्व-विसर्जन नहीं किया। अपनी शक्तियों का उपयोग या व्यय केवल अपने स्वार्थों को सिद्ध करने में तथा दूसरों के नैतिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक विकास में विघ्न-बाधा उपस्थित करने में किया, दूसरों के दान देने-लेने में, शुभ योगों का लाभ लेने में, शुभ योगों का शुभ संस्थाओं, शुभ प्रवृत्तियों के संचालन में, सेवा, निर्भयता एवं परोपकार के कार्य में रोड़े अटकाने में

पुरुषार्थ किया, धन, विषय-सुखों के साधन, सुख-सुविधा की सामग्री के अधिकाधिक बटोरने में तथा आसक्तिपूर्वक अधिकाधिक उपभोग में एवं अपनी कामवासनाओं व इच्छाओं की पूर्ति में, अहंकार प्रदर्शन में, लड़ने-भिड़ने आदि में शक्ति का अपव्यय किया। हिंसा, झूठ, चोरी, बेईमानी, तस्करी, लूटपाट, डकैती, ठगी, धोखेबाजी, विश्वासघात, गिरहकटी, मद्य-माँसाहार, द्यूतकर्म, वेश्यागमन, पर-स्त्रीगमन, शिकार, आगजनी, बलात्कार, संग्रह-वृत्ति, परिग्रह, अब्रह्मचर्य-सेवन, ममता-अहंतावृद्धि, कलह, युद्ध, संघर्ष, अभ्याख्यान, पैशुन्य (चुगली), पर-परिवाद (पर-निन्दा), रति-अरति, मायामृषावाद (दम्भ), ईर्ष्या, वैर-विरोध, मिथ्यादर्शन, मद, मात्सर्य आदि पापकृत्यों में, अपनी प्रशंसा, प्रसिद्धि, नामना आदि में अपनी अमूल्य शक्तियों का दुर्व्यय किया। इसके फलस्वरूप पंचविध अन्तराय कर्म का आस्रव और बन्ध किया। इसके अतिरिक्त आत्मा के निजी अनन्त चतुष्टय गुणों में पुरुषार्थ करने के बदले कषायों और नोकषायों तथा विकारों-विभावों में पुरुषार्थ किया। इससे वीर्यान्तराय कर्म का आस्रव और बन्ध हुआ। परन्तु यदि आत्मा तप, त्याग, व्रत, नियम, संयम, प्रत्याख्यान, दशविध धर्म-पालन करे, समता, शान्ति, उपशम, संवेग, वैराग्य, अनुकम्पा, आस्तिक्य, तितिक्षा, सहिष्णुता, उदारता और परमार्थता की साधना करे, तितिक्षु, उपसर्ग-सहिष्णु एवं परमार्थी बने तो पूर्वबद्ध अन्तराय कर्म को उपर्युक्त संवर-निर्जरारूप धर्म के द्वारा तोड़ सकता है। अपनी आत्मिक अनन्त शक्तियों का प्रति क्षण ज्ञानादि रत्नत्रय में सदुपयोग करे, अपने मन-वचन-काय, इन्द्रिय और मन को भी पूर्वोक्त विकारों से दूर रखकर, जागरूकतापूर्वक अपनी आत्म-शक्ति का आत्म-चिन्तन, आत्म-हित, आत्म-शुद्धि और आत्म (स्व-भाव) रमणता में उपयोग करे तो पूर्वबद्ध अन्तराय कर्म का क्षय किया जा सकता है अथवा उसका मार्गान्तरीकरण, उदात्तीकरण, उपशमन तथा निरोध किया जा सकता है। कर्म बलवान् है, परन्तु आत्मा तो उससे भी कई गुना अधिक बलवान् है। कितना ही घना अँधेरा हो, सूर्य का प्रकाश आते ही उसका विलय हो जाता है, वैसे ही कितने ही अन्तराय कर्म बाँधे हुए हों, प्रबल हों, उदय में आए हों, परन्तु अगर मनुष्य तप, त्याग, संयम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र का पूर्ण बल लगाए, उसमें क्षणभर भी, जरा भी प्रमाद न करे तो वे कर्म टूट सकते हैं, उनके बन्धन शिथिल हो सकते हैं, उनका प्रभाव मन्द हो सकता है।

नामकर्म : कार्य और स्वरूप

चार घातिकर्मों तथा वेदनीय कर्म के अतिरिक्त तीन अघातिकर्म और हैं– नामकर्म, गोत्रकर्म और आयुष्यकर्म। वेदनीय कर्म सहित ये चारों अघातिकर्म शरीर से सम्बन्धित हैं। नामकर्म से हमारे शरीर की शुभाशुभ रचना होती है तथा शरीर

से सम्बन्धित शुभ-अशुभ भावों, परिणतियों, स्वभावों तथा आवश्यकताओं का निर्माण होता है। नामकर्म को एक अद्भुत चित्रकार की उपमा दी है। जैसे चित्रकार मनचाहे शुभ-अशुभ नाना चित्र बनाता है, चित्र में वह शरीर, इन्द्रियों, अंगोपांगों आदि को अच्छे-बुरे, बेडौल-सुडौल, काले-गोरे आदि रूप रंग में दिखाता है। उसी प्रकार नामकर्म जीवों के अपने-अपने शुभाशुभ नामकर्म के उदयानुसार शरीर और शरीर से सम्बद्ध उपर्युक्त बातों का निर्माण करता है। जो व्यक्ति कर्मचेतना से ग्रस्त होते हैं, वे शरीर की इन्हीं रचनाओं को देखकर अहंता, ममता, हीनता-दीनता, विषमता के भाव लाते हैं और प्राप्त शरीर को लेकर नाना सावद्य या विषम परिणामों से, उसकी रक्षा के लिए खान-पान, मकान, वस्त्रादि-प्रावरण तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करने में ही अहर्निश रचे-पचे रहते हैं, उन्हें प्राप्त शरीर से संवर-निर्जरारूप या ज्ञानादि रत्नत्रयरूप धर्म, तप-त्याग, प्रत्याख्यान, व्रत-नियम आदि करके उक्त कर्म को क्षय करने का, शरीर के प्रति ममत्व त्यागकर धर्म-पालन के लिए कायोत्सर्ग करने, बलिदान करने, अपनी आवश्यकताओं में कमी करने का विरति-संवररूप धर्म करने का विचार ही नहीं होता, न ही भेदविज्ञान की बुद्धि जागती है, सम्यक् बोधि भी प्राप्त नहीं होती, न ही अन्तिम समय में समाधिमरण द्वारा शरीर आदि का व्युत्सर्ग करने की भावना जागती है। फलतः नामकर्म को अधिकाधिक बाँधने के लिए वह शरीर और शरीर से सम्बद्ध सजीव-निर्जीव पदार्थों के लिए दूसरों से संघर्ष, कलह, ईर्ष्या, आक्रोश, द्वेष, वैर-विरोध, युद्ध आदि करता है। पुराने कर्म तो क्षीण किये नहीं जाते, नये और बाँध लेता है। अतः संवर और निर्जरा धर्म के द्वारा नामकर्म के आते हुए आस्रव को रोका जा सकता है और पूर्वबद्ध नामकर्म के उदय में आने पर समभाव से भोगकर क्षय किया जा सकता है। जैसे पूर्वबद्ध अशुभ नामकर्म के उदय से प्रज्ञाचक्षु पं. सुखलाल जी, पं. चैनसुख जी, अष्टावक्र आदि को अंगविकलता प्राप्त होने पर भी उन्होंने अपने ज्ञानादि गुणों का विकास करके जनता के हित में उनका सदुपयोग किया। मुनि हरिकेशबल का शरीर कालाकलूटा और बेडौल था, परन्तु उन्होंने दीनता-हीनता न लाकर अपने तप-संयम, कायोत्सर्ग एवं भेदविज्ञान व काया से विभिन्न त्याग करके नामकर्म का क्षय किया। अंगविकलता या अंगहीनता उनके धर्माचरण में बाधक न बन सकी। इसी प्रकार नामकर्म को धर्म के विविध अंगों द्वारा क्षीण और निरुद्ध किया जा सकता है, शिथिलबन्ध भी किया जा सकता है। कर्म से धर्म की शक्ति प्रबल है।

गोत्रकर्म के आस्रव और बन्ध से संवर-निर्जरा द्वारा मुक्ति संभव

एक अघातिकर्म है—गोत्रकर्म। वह कुम्भकार की तरह अच्छे-बुरे, घड़े के निर्माणवत् उच्च-नीच गोत्र का निर्माण करता है। जब नीच गोत्रकर्म का उदय भी

प्रबल होता है, तब व्यक्ति चाहे सच्चरित्र हो, उदार हो, नीति-न्यायपूर्वक श्रम करके जीविका करता हो, परन्तु आभिजात्य गोत्र (कुल) में जन्म नहीं होने से उसके किसी पूर्वज की भयंकर गलती के कारण बहुजन समाज में उसे अनभिजात्य कुल का घोषित कर देने के कारण उसे भी अनभिजात्य (नीच) गोत्र का माना जाता है। लोगों की दृष्टि में उसका आदर-सम्मान नहीं होता। इसके विपरीत व्यक्ति चाहे माँसाहारी हो, मद्यपायी हो, दुराचारी हो, किन्तु उसका जन्म राजपूत, क्षत्रिय, वैश्य या ब्राह्मण आदि किसी कुल में हुआ है तो आभिजात्य मानकर आदर दिया जाता है। उच्च गोत्रकर्म के उदय के कारण वह लोगों की दृष्टि में सम्माननीय माना जाता है अथवा अनभिजात्य गोत्र का होते हुए भी किसी उच्च पद, सत्ता या अधिकार के मिलने से उसे लोगों द्वारा आदर-सम्मान दिया जाता है। उच्च गोत्र और नीच गोत्र ये दोनों गोत्रकर्म के घटक हैं। यह इतना प्रबल नहीं है कि बदला न जा सके या इसका क्षय, क्षयोपशम या उपशम, नीति-न्याय संवर-निर्जरा आदि धर्म के द्वारा न किया जा सके। रैदास चमार जाति के थे। लोगों की दृष्टि में उनका गोत्र (कुल या जाति) सम्माननीय नहीं था। किन्तु रैदास न्याय-नीति एवं धर्मपूर्वक अपनी जीविका करते थे, किसी के प्रति द्वेष, आसक्ति, वैर-विरोध, ईर्ष्या, संघर्ष उनके मन में नहीं था। संतोषी भी इतने कि किसी ने उनकी स्वेच्छा से अपरिग्रही वृत्ति (गरीबी) देखकर लोहे से सोना बनाने को पारसमणि दिया, ताकि वे जूते आदि बनाने का चर्मकार का काम छोड़कर अपना जीवन सुख से यापन कर सकें, मगर उन्होंने उस पारसमणि का बिलकुल उपयोग न किया, उसे छुआ भी नहीं। लोगों के द्वारा की जाती हुई निन्दा-प्रशंसा में सम रहे। किन्तु अपनी इस महानता के कारण परम भक्त मीरांबाई ने उन्हें अपना गुरु माना। उनका स्थान समाज में उच्च और महान् बन गया। गोत्रकर्म का क्षय या सजातीय में परिवर्तन अथवा शिथिल बन्ध भी पूर्वोक्त शुद्ध धर्म द्वारा किया जा सकता है।

आयुष्यकर्म का कार्य और उसका क्षय आदि

प्रत्येक जीव का जन्म और मरण दोनों आयुष्यकर्म से बँधे हुए हैं। आयुष्यकर्म भी चार प्रकार का है—नरकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु। इसमें पूर्व के दो आयुष्यकर्म अशुभ और पिछले दो आयुष्यकर्म शुभ माने जाते हैं। आयुष्यकर्म जीव के लिए बेड़ी के समान, परतंत्र बना हुआ बंदी होता है। आयुष्यकर्म जीव के अपने शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार अल्प या दीर्घकाल तक जीव को उसी शरीर, गति, जाति और योनि में बाँधे रखता है। जिस जीव का जितने काल का आयुष्य होता है, उतने काल उसे अपना आयुष्य भोगना ही पड़ता है। उससे पहले वह प्रायः नहीं छूट सकता। परन्तु संवर-निर्जरारूप धर्म के द्वारा अथवा विभाव और पर-भाव से दूर रहकर स्व-भाव में रमण रूप आत्म-धर्म के द्वारा, समभाव द्वारा व्यक्ति पूर्वबद्ध

आयुष्यकर्म को भोगकर क्षय कर सकता है, नया आयुष्य नहीं बाँधकर सर्व कर्मों का क्षय कर सकता है अथवा पूर्व अशुभ आयु को समभाव से भोगकर नयी शुभायु का बन्ध कर सकता है। अल्पायु के बदले शुभ दीर्घायुष्य का बन्ध कर सकता है। यही इस कर्म पर शुद्ध धर्म की विजय है।

धर्म की शक्ति त्रिवेणी द्वारा आठों ही कर्मों से मुक्ति संभव

भगवान महावीर ने धर्म के मुख्यतया तीन लक्षण प्रतिपादित किये। पहला लक्षण है–अहिंसा। इसका फलितार्थ है–राग-द्वेष का न होना; दूसरा लक्षण है–संयम अर्थात् पाँचों इन्द्रियों और मन पर नियंत्रण, कषायों पर नियंत्रण तथा समताभाव में रहना और तीसरा लक्षण है–तप अर्थात् कष्टों को सहने की क्षमता, तितिक्षा एवं उपसर्ग तथा परीषह आने पर समता और शमता में रहना। संक्षेप में धर्म का लक्ष्य–समता है और उसकी मंजिल है–मोक्ष-कर्मों से मुक्ति। साधारण व्यक्ति कर्मों की शक्ति को प्रबल मानता है, क्योंकि कर्मों का लक्षण ही मोह में, विषमता में तथा राग-द्वेष में लिपटाना है; सुख-दुःख, अनुकूलता-प्रतिकूलता, प्रियता-अप्रियता, प्रशंसा-निन्दा आदि द्वन्द्वों में फँसाए रहना है। किन्तु यदि व्यक्ति में धर्मचेतना यानी समता की, तितिक्षा की या वीतरागता की चेतना जाग्रत हो जाए तो कर्मचेतना और कर्मफलचेतना को वह परास्त कर सकता है। सुख-दुःख, अनुकूलता-प्रतिकूलता, लाभ-अलाभ, निन्दा-प्रशंसा, सम्मान-अपमान, जीवन-मरण, प्रियता-अप्रियता आदि द्वन्द्वों के उपस्थित होने पर समता और तितिक्षा की चेतना जाग्रत न हो तो कर्मों के चक्र को नहीं तोड़ा जा सकता। धर्मचेतना को जाग्रत करने के लिए व्यक्ति में अ-राग–अद्वेष की शक्ति, समभाव से सहन करने की शक्ति (तितिक्षा शक्ति) तथा समता की शक्ति, ये तीनों शक्तियाँ जाग्रत होनी चाहिए। यदि ये तीनों शक्तियाँ साथ में नहीं हैं तो अनुकूलता में मोह, राग, आसक्ति, स्थायी रखने की आकांक्षा, अहंकार आदि विकार आ सकते हैं तथा प्रतिकूलता में या प्रतिकूल घटना से मन में द्वेष, अरुचि, घृणा, तनाव, वैर-विरोध, हिंसा, द्रोह आदि पैदा हो सकते हैं। अतः अनुकूलता और प्रतिकूलता, दोनों को सहन करने के लिए तितिक्षा शक्ति, वीतरागता की शक्ति तथा समता की शक्ति अनिवार्य है। अगर अनुकूलता को सहन करने और उसमें सम रहने की शक्ति नहीं है तो व्यक्ति या तो अहंकाराविष्ट हो सकता है अथवा मदोन्मत्त या हर्षावेश से उन्मत्त बनकर अकाल मृत्यु का शिकार हो सकता है। एक धोबी को किसी ने आकर खुशखबरी सुनाई कि "तुम्हारे नाम की लॉटरी खुली है, उसमें एक लाख रुपये उठे हैं।" "ओहो ! एक लाख !" बस, यों कहकर हर्षावेश में वह नाचने लगा और कुछ ही क्षणों में उसका हार्ट फेल हो गया। प्रतिकूलता को भी सहन

करने के लिए शक्ति त्रिवेणी अपेक्षित है। एक व्यक्ति सब तरह से सम्पन्न है, अकस्मात् पद, प्रतिष्ठा, सम्पत्ति आदि सब छिन जाते हैं, उस समय यदि धर्मचेतना की शक्ति त्रिवेणी न हो तो व्यक्ति उन्मत्त, दिग्भ्रान्त या हृदय बंद होने से मरण-शरण हो सकता है।

इस प्रकार अष्टविध कर्मों से मुक्त होने के लिए धर्म और कर्म का लक्षण, लक्ष्य, उद्देश्य, कार्य आदि भलीभाँति समझकर धर्म की अन्तिम मंजिल मोक्ष (कर्मों से मुक्ति) पाने के लिए उपर्युक्त शक्तित्रयरूप धर्मचेतना जाग्रत करनी चाहिए। तभी कर्मों का क्षय, क्षयोपशम या उपशम आसानी से किया जा सकता है।

● ●

४

संवर और निर्जरा : एक विश्लेषण

सिंह और कुत्ते की दो प्रकार की वृत्ति

पशुजगत् में सिंह और कुत्ता दो ऐसे विलक्षण प्रकृति के प्राणी हैं कि हम उनमें दो प्रकार की प्रवृत्ति देखते हैं। सिंह क्रूर प्राणी है। उस पर कोई पत्थर से प्रहार करता है, तो वह पत्थर को नहीं पकड़ता, किन्तु उस व्यक्ति को ही सीधा पकड़ता है, जिसने उस पर पत्थर फेंककर प्रहार किया था, इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति कुत्ते पर पत्थर फेंकता है तो वह पत्थर फेंकने वाले को नहीं पकड़ता, किन्तु उस पत्थर को मुँह में पकड़कर दबाने या चबाने का प्रयत्न करता है, जिसके द्वारा उस पर प्रहार हुआ है।

जीव भी दो प्रकार की वृत्ति वाले हैं

इसी प्रकार की वृत्ति-प्रवृत्ति वाले जीव इस कर्मबद्ध संसार में पाये जाते हैं, बल्कि यों कहना चाहिए कि अधिकांश जीव सिंह-सरीखी प्रकृति के न होकर कुत्ते की-सी प्रकृति वाले देखे जाते हैं। उपादान को पकड़ना सिंह की-सी प्रकृति है और निमित्त को पकड़ना कुत्ते की-सी प्रकृति है।

सिंहवृत्ति वाले उपादान को, श्वानवृत्ति वाले निमित्त को पकड़ते हैं

जैसे सिंह विचक्षण है, वह सोचता है कि इस पत्थर का क्या अपराध है? अपराध तो पत्थर फेंकने वाले का है? पत्थर बेचारा मुझे क्या पीड़ा दे सकता है? वह तो हत्था है, माध्यम है, बिचौलिया है। पीड़ा देने वाला तो दूसरा व्यक्ति है, उसी मूल कारण (उपादान) को पकड़ना चाहिए। परन्तु कुत्ते-जैसे जीव में वैसी विचक्षणता नहीं पाई जाती। वह मूल कारणरूप व्यक्ति को न पकड़कर तथाकथित हत्थे (माध्यम) को ही अपराधी मानकर उसे पकड़ता है। फलस्वरूप वह स्वयं हैरान होता है, कष्ट पाता है। उसकी मूर्खता पर हमें तरस आता है।

श्वानवृत्ति वालों की प्रवृत्ति कैसी होती है ?

इस जीवसृष्टि में भी दोनों प्रकार के जीव हैं। जो श्वानवृत्ति वाले हैं, वे अपने

को हैरान करने वाले मूल कारणरूप (उपादानरूप) कर्म को नहीं पकड़ते, वे पकड़ते हैं–निमित्तों को। अमुक ने मुझे कष्ट दिया। अमुक ने मुझे गाली दी, मेरा अपमान किया, मेरी तौहीन की, मुझे मारा-पीटा, मुझे धोखा दिया। इस प्रकार निमित्त को दोषी, अपराधी मानकर मन से उसे मजा चखाने की बात सोचते हैं, वचन से उसे कोसते हैं, उस पर दोषारोपण करते हैं, गाली या अपशब्द कहते हैं और काया से उसे कष्ट देते हैं, मारते-पीटते और उसकी हत्या तक कर डालते हैं। उससे युद्ध करते हैं और बदला लेने की ठानते हैं। भगवान महावीर ने ऐसे पामर लोगों को सावधान करते हुए कहा–"हे मानव ! (आत्मन् !) अपने आप का ही निग्रह कर। स्वयं के (कर्मबद्ध आत्मा के) निग्रह से ही तू दुःख से (कर्मों से) मुक्त हो सकता है।" इसी प्रकार पर (निमित्त) से लड़ने वालों को ललकारते हुए उन्होंने कहा–"अपने उपादान (विकारों से युक्त आत्मा) से युद्ध कर, बाहर के (निमित्तों के साथ) युद्ध से तुझे क्या मिलेगा?"[1]

ऐसी प्रतिक्रिया का दुष्परिणाम

इस प्रकार व्यक्ति अपना उपादान न सुधारकर निमित्तों से लड़ने-भिड़ने, कोसने और संघर्ष करने को मन-वचन-काय से उतारू हो जाता है, किन्तु उस प्रतिक्रिया का घोर परिणाम आता है। यह निश्चित है कि क्रिया की प्रतिक्रिया अवश्य होती है। आघात का प्रत्याघात और घोष का प्रतिघोष भी होता है। कोई व्यक्ति कुएँ में झाँककर आवाज करे–'तेरा बाप चोर' तो बदले में उसमें से वैसी ही आवाज आती है–'तेरा बाप चोर'। घोष का प्रतिघोष प्रायः होता है। अगर व्यक्ति किसी के प्रति दुर्भावपूर्ण दुर्वचन बोलता है, तो उसकी प्रतिक्रिया भी सामान्यतया वैसे ही दुर्भाव के रूप में होती है। यदि कोई व्यक्ति किसी को रौद्रध्यानपूर्वक किसी की हत्या करने या होने तथा उसे मारने-पीटने, ठगने-लूटने अथवा उसे हैरान करने का विचार-चिन्तन करता है, तो सामने वाले व्यक्ति के मन-तन में भी वैसी ही दुर्भावना, दुश्चिन्तन या दुश्चेष्टा होने लगती है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट कर दूँ–

एक राजा अपनी प्रजा के सुख-दुःख की जानकारी के लिए मंत्री के साथ नगरचर्या करने निकला। राजा अत्यन्त भला और प्रजाहित-तत्पर था। इस कारण प्रजा भी उसे बहुत चाहती थी। राजा और मंत्री दोनों बाजार में घूमते-घामते एक चन्दन के व्यापारी की दुकान के सामने से निकले। चन्दन के व्यापारी को देख

---

१. (क) पुरिसा ! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ, एवं दुक्खा पमुच्चसि।

–आचारांगसूत्र, श्रु. १, अ. ३, उ. ३

(ख) इमेण चेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ। *–वही, श्रु. १, अ. ५, उ. ३*

राजा के मन में विचार आया–"यह व्यापारी बड़ा दुष्ट है। इसकी सम्पत्ति जब्त करके इसे देशनिकाला दे देना चाहिए।" राजदरबार में पहुँचकर राजा ने अपने मन में उठे मनोभाव मंत्री के समक्ष प्रगट किये और पूछा–"मेरे मन में आज ऐसे दुर्भाव क्यों आए?" चतुर मंत्री ने कहा–"महाराज ! मैं इसका कारण ढूँढ़कर आपको बताऊँगा।" मंत्री वेश बदलकर उस चन्दन-व्यापारी के पास पहुँचा। उससे घनिष्टताभरी बातें कीं। व्यापार की बातों के दौरान मंत्री ने उससे पूछा–"आजकल कामकाज कैसा चल रहा है?" व्यापारी ने कहा–"भाई ! चन्दन का व्यवसाय बिलकुल मन्दा होने से ठप्प पड़ा है। इसकी बिक्री के दो अवसर आते हैं–(१) या तो किसी राजा-महाराजा या सेठ-साहूकार की मृत्यु हो तब उनकी दाहक्रिया में चंदनकाष्ठ की जरूरत पड़ती है। (२) या फिर राजा-महाराजा अथवा कोई श्रेष्ठी अपने भवनों में फर्नीचर आदि के लिए इसे खरीदे।" मंत्री के लिये इतना ही संकेत काफी था। वहाँ से लौटकर उसने राजमहलों में लकड़ी का सामान बनवाने के बहाने उस चंदन-व्यापारी से सारा चन्दन खरीदकर मँगवा लिया। अब वह चंदन-व्यापारी राजा के प्रति शुभ भावों से युक्त एवं सन्तुष्ट था।

कुछ दिनों बाद राजा और मंत्री दोनों उसी प्रकार नगरचर्या करने के लिए निकले, बाजार में अपनी दुकान पर बैठे चन्दन-व्यापारी को देख राजा के मन में आज अच्छी भावनाएँ जागीं। मंत्री से कारण पूछा तो उसने पिछली बात आद्योपान्त बताकर निवेदन किया–"महाराज ! अब यह व्यापारी भी आपके लिए शुभचिन्तन करता है, इसलिए आपके मन में भी शुभ भावनाएँ उद्भूत हुई हैं। यह था–अच्छी-बुरी भावना की सामने वाले व्यक्ति पर होने वाली प्रतिक्रिया का निदर्शन ![1]

निर्बल व्यक्ति भी निमित्त के प्रति दुष्प्रतिकार या दुर्भावना करता है

कई दफा अशक्त या कमजोर व्यक्ति अपने प्रति दुर्व्यवहार, दुर्भाव या दुर्वचन प्रगट करने वाले के प्रति तत्काल स्वयं दुष्प्रतिकार नहीं कर पाता, परन्तु उसके मन में तो प्रायः उससे बदला लेने की भावना उमड़-घुमड़कर आती रहती है। अन्तकृद्दशासूत्र में राजगृही में अर्जुनमाली के आतंक का आख्यान आता है। जिस समय अर्जुनमाली के यक्षाविष्ट होकर राजगृही नगरी के बाहर पुरजोर में आतंक मचा रहा था। सुदर्शन श्रेष्ठी के सिवाय राजगृही के प्रायः सभी लोग भयाक्रान्त थे। कोई भी उसका सामना करने और उसे शान्त करने को तैयार नहीं था। परन्तु सभी के अन्तर्मन में उसके प्रति भयंकर प्रतिक्रिया चल रही थी। वह तब प्रतिफलित हुई, जब अर्जुनमाली ने भगवान महावीर के पास मुनि-दीक्षा अंगीकार कर ली और अपने छट्ठ (बेले) के तप के पारणे के दिन राजगृही नगरी में भिक्षा

१. 'कुछ देखी, कुछ सुनी' (मुनि श्री लाभचंद जी) से संक्षिप्त

के लिए गये। उस समय राजगृही के नागरिकों में अर्जुन मुनि के प्रति घोर प्रतिक्रिया हुई। किसी ने थप्पण, मुक्के, लाठी, ढेले आदि से उन पर प्रहार किया, किसी ने गाली दी, अपशब्द कहे, किसी ने उन्हें आहार नहीं दिया, किसी ने पानी न दिया। विविध प्रकार से प्रतिक्रिया होने पर भी क्षमाशील अर्जुन मुनिवर ने मन से, वचन से और काया से जरा भी प्रतिक्रिया नहीं की। अतः भावसंवर उपार्जित किया। उन्होंने सोचा–मैंने इनके सम्बन्धियों को मारा है, उसका बदला ये केवल इतनी-सी प्रतिक्रिया करके करते हैं, मेरा पूर्वबद्ध अशुभ कर्म का कर्ज थोड़े में चूक रहा है। यों संवर किया, उसमें सुदृढ़ रहे। शरीर तो नाशवान है, इस पर मैं ममत्ववश होकर इसकी रक्षा के लिए क्यों प्रतिकार करूँ? इस प्रकार समभाव और क्षमाभाव से निष्प्रतिक्रियापूर्वक छह महीने तक उपसर्ग और परीषह सहने से समस्त कर्मों की निर्जरा करके वे सिद्ध-बुद्ध और सर्वकर्ममुक्त हो गए। यह है सिंहवृत्तिपूर्वक अपने कर्मबद्ध उपादान को शुद्ध करने का पुरुषार्थ ! इसके विपरीत श्वानवृत्ति वाला साधक ऐसे उपसर्ग (कष्ट) और परीषह आने पर अपने उपादान (पूर्वबद्ध कर्मोदय के कारण हुई अपनी आत्म-दशा) को नहीं देखता, अपितु निमित्त (उसके प्रति दुर्भाव या दुर्व्यवहार करने वाले) को पकड़ता है, उसे ही दण्ड देने को उतारू हो जाता है अथवा बदला लेने की भावना करता है। वह यह नहीं सोचता कि यह मेरे द्वारा ही स्वयं पूर्वकृत कर्मों का फल है। यह दण्ड मेरे कृतकर्मों का ही है। यह व्यक्ति तो निमित्तमात्र है। मेरे किये हुए कर्मों का फल तो मुझे ही देर-सबेर भोगना पड़ता। इस निमित्त की क्या ताकत है कि यह मुझे दण्ड दे। यह ताकत तो कर्मसत्ता की है और कर्मसत्ता तो अपनी ही अपनाई हुई है। किन्तु श्वानवृत्ति वाले में आवेश के समय यह सूझबूझ नहीं होती।

कष्ट के समय निमित्तों के प्रति प्रतिक्रिया करने वालों को चेतावनी

पूर्वबद्ध कर्म के कारण व्यक्ति पर कष्ट या संकट आ पड़ने पर जो व्यक्ति पूर्वोक्त प्रकार की श्वानवृत्ति अपनाता है और तदनुसार निमित्तों (प्रत्यक्ष दुःख देने वालों) को कोसता है, प्रहार करता है, निन्दा करता है तथा उनके साथ बदला लेने, वैर-विरोध करने या वैसा ही दुर्व्यवहार करने को तत्पर हो जाता है; उसे भगवान महावीर द्वारा दी गई इस चेतावनी पर ध्यान देना चाहिए–

"अरे आत्मन् ! तू वही है, जिसे तू मारना चाहता है; तू वही है, जिसे तू जबरन अपने वचनानुसार चलाना चाहता है; तू वही है, जिसे तू गुलाम बनाकर रखना चाहता है; तू वही है, जिसे तू परिताप देने योग्य मानता है; तू वही है, जिसे तू उपद्रवित करना चाहता है।"[१]

---

१. तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि, अज्जावेयव्वं, परितावेयव्वं, परिघेतव्वं, उद्दवेयव्वं ति मन्नसि। *–आचारांगसूत्र, श्रु. १, अ. ५, उ. ५*

तात्पर्य यह है कि जो निमित्त पर रोष या द्वेषवश बदला लेने के लिये तत्पर होता है, उसे उस समय सोचना चाहिए कि मैं जिसे मारने-पीटने, सताने आदि के रूप में दण्ड देने के लिए तत्पर हुआ हूँ, वह दूसरा कोई नहीं, मैं ही हूँ, अर्थात् मेरे ही पूर्वकृत अशुभ कर्म हैं, जो उदय में आए हैं। वह व्यक्ति तो कर्मसत्ता का चाकर है, माध्यम है। दण्ड देने वाला तो मूल में कर्म है, जो अपना ही किया हुआ है। अब अगर मैं श्वानवृत्ति धारण करके निमित्तों (जोकि असली अपराधी नहीं हैं) को दण्ड देना चाहता हूँ, उससे तो मेरे पूर्वकृत कर्म कटने के बदले और अधिक बँधेंगे, उनका फल (दण्ड के रूप में) फिर मुझे भोगना पड़ेगा।

श्वानवृत्ति का त्याग करने से संवर और निर्जरा का उपार्जन

अतः जैसे को तैसा या उपादान को दण्ड न भुगवाकर निमित्त को दण्डित करने की श्वानवृत्ति का त्याग करना ही कर्मों के आगमन का विरोध करना है, शुभ योग-संवर है, सम्यग्दृष्टिपूर्वक आस्रव-निरोध करना अविरति-संवर है और सम्यग्दर्शनपूर्वक धैर्य और समभाव के साथ कर्मों द्वारा कृत दण्ड को सहन करना–कष्ट सहना–निर्जरा (कर्मक्षय) का कारण है। ऐसे समय में सिंहवृत्ति धारण करने वाला सम्यग्दृष्टियुक्त साधक निमित्त को नहीं कोसता, निमित्त को भला-बुरा नहीं कहता, निमित्त से बदला लेने की वृत्ति नहीं रखता। वह अपने उपादान (अपनी कषायकलुषित, कर्मरज से मलिन आत्मा) को समभाव व प्रशमभाव में स्थिर कर लेता है। पूर्वकृत कर्मों के द्वारा प्रदत्त उस दण्डरूप फल को धैर्य, शान्ति और समभाव के साथ सहन कर लेता है।

सिंहवृत्ति वाला साधक दुःख के मूल कारणरूप कर्म को पकड़ता है

ऐसा सिंहवृत्ति वाला जीव विचक्षण है, जो अपनी परेशानी–हैरानी, कष्ट या विपत्ति के मूल कारणरूप कर्म को खोजता है। वह उस विपत्ति या संकट के मूल कारण को दूर करने का पुरुषार्थ करता है और कष्ट, दुःख या संकट उपस्थित करने वाले व्यक्ति को अपने कर्म काटने में, कर्म भोगने में सहायक मानता है। वह निमित्त को कोसकर या उससे बदला लेने का भाव न रखकर संक्लेश, परिताप, मानसिक पीड़ा आदि से सहज में बच जाता है। वह गाली देने वाले, अपमानित करने वाले या त्रास देने वाले को बदले में गाली नहीं देता, अपमान करने वाले या त्रास देने वाले को अपमानित या त्रस्त नहीं करता, बल्कि यह मानता है कि अपमानित या त्रस्त करने वाला यह व्यक्ति नहीं, यह तो माध्यम है कर्मसत्ता का। मूल अपमानकर्त्ता या त्रासदाता तो मेरे अपने ही कर्म हैं। जैसे–वृक्ष को काटने में मूल तो कुल्हाड़ी की तीखी धार होती है। उससे संलग्न लकड़ी का दण्ड तो सिर्फ हत्था है, पकड़ने के लिए आलम्बन है; वैसे ही जीव को त्रास या पीड़ा देने वाला

मूल तो कर्म (पूर्वबद्ध कर्म) है, मूल उत्पीड़क को न पकड़कर मैं निमित्तों को पकड़ूँगा, तो यह मेरी भयंकर भूल होगी। कर्मों के संवर और निर्जरा (आंशिक क्षय) के शुभ अवसर को मुझे नहीं चूकना है।

महासती सीता का सिंहवृत्तिमूलक चिन्तन

सम्यग्दृष्टि-सम्पन्न महासती सीता गर्भवती थी, पतिव्रता थी, निर्दोष थी। परन्तु ऐसी स्थिति में रामचन्द्र जी ने कृतान्तवदन नामक सेनापति को आज्ञा दी सीता जी को निर्जन वन में छोड़ आने की। तीर्थयात्रा के बहाने रथ में बिठाकर भीषण जंगल में सीता जी को अकेली छोड़ आने की आज्ञा थी। सेनापति को अपना कठोर कर्त्तव्य-पालन करना था। यद्यपि उसका मन नहीं चाहता था, हिंस्र पशुओं से भरे निर्जन वन में सीता जी को छोड़ने का। परन्तु उसके वश की बात नहीं थी स्वामी की आज्ञा को ठुकराने की। जिस समय वह सीता जी को रथ में बिठाकर जंगल में ले जा रहा था तथा जिस समय उन्हें रथ से नीचे उतार रहा था, उस समय उसकी आँखें सावन-भादों बरसा रही थीं। रुदन करते हुए जब उसने सीता जी से सारी बात खोलकर कही तो सीता जी ने सुनकर स्वस्थचित्त से उसे आश्वासन देते हुए कहा—"अरे भाई ! तुम क्यों दुःखी हो रहे हो? तुम थोड़े ही मुझे इस जंगल में छोड़ रहे हो? तुम तो अपने स्वामी की आज्ञा का पालन कर रहे हो ! तुम्हारा इसमें लेशमात्र भी दोष नहीं है और तुम्हारे स्वामी का भी इसमें क्या दोष? मेरे पूर्वकृत कोई कर्म उदय में आए हैं, जिनसे उन्हें कर्म भुगवाने में निमित्त बनना पड़ा है। मूल अपराधी और कोई नहीं, मैं ही हूँ; मेरे ही पूर्वबद्ध कर्म हैं !" मूल अपराधी को पकड़ने की कितनी उत्कृष्ट सिंहवृत्ति है महासती सीता जी की?

सीता जी ने संवर-निर्जरा की साधना का अवसर नहीं चूका

जीवन के ऊषाकाल में जो तत्त्वज्ञान सीता जी ने प्राप्त किया था, वही तत्त्वज्ञान इस विपदा को सामने पाकर भी विस्मृत नहीं हुआ। कर्मविज्ञान का वही तत्त्वज्ञान इस समय उनके जीवन में अपनी सोलह कलाओं से खिल उठा। उसी के बलबूते पर सीता जी ने अपनी दृष्टि उसकी तह तक दौड़ाई और मूल बात का पता लगा लिया। घोर विपत्ति के आने पर भी वह न तो स्वयं उद्विग्न हुई और न ही कृतान्तवदन सेनापति पर और न श्री रामचन्द्र जी पर मन में किसी प्रकार का अप्रीति, रोष या द्वेष का भाव आया। यही कारण है कि बिलकुल स्वस्थचित्त से वह सेनापति को भी आश्वासन दे रही थीं और श्री रामचन्द्र जी के प्रति भी कोई रोष—आक्रोशभरा तीखा व्यंग्य वचन न निकालकर शुभ सन्देश कहलाया—"स्वामिन् ! लोगों के कथनोपकथन पर उन्हें सन्तुष्ट करने हेतु भले ही आपने मेरा त्याग किया। इसमें मुझे जरा भी रंज नहीं है। मेरा त्याग करने से आपके

आत्म-हित में बाधा पहुँचेगी या आपकी आत्मोन्नति रुक जायेगी, ऐसा कोई नियम नहीं है। यह तो कर्मों की माया है। परन्तु मेरी आपसे एक विनम्र प्रार्थना है कि कल को लोग जैनधर्म की भी निन्दा करने लगेंगे। अतः जैसे लोगों के कहने से आपने मेरा त्याग किया, वैसे लोगों के कहने से जैनधर्म का त्याग मत कर देना। अन्यथा, ऐसा करने से आपकी महान् हानि होगी, क्योंकि सद्धर्म का त्याग करने से आपका आत्म-हित अवश्य रुक जायेगा। अतः दासी की इतनी विनती पर अवश्य ध्यान देना।''[1]

अगर सीता जी ऐसी सिंहवृत्ति न अपनाकर श्वानवृत्ति अपनातीं कि "यह कैसा न्याय है? आपने सिर्फ एक पक्ष की बात सुनकर सजा सुना दी। मुझे भी पूछते। मेरी भी बात सुन लेते। एक सामान्य मानव भी ऐसी गर्भवती स्त्री को जंगल में अकेली निःसहाय अवस्था में नहीं छोड़ता। छोड़े भी तो उसके पीहर में छोड़ता है; घोर जंगल में नहीं। परन्तु आप तो बड़े राजा रहे न, अतः जो भी मन में आया, तत्काल कर सकते हैं।'' ऐसा कोई उपालम्भ या तीखा व्यंग्य उन्होंने नहीं कसा। प्रत्युत पूर्वोक्त शुभ सन्देश ही दिया। इस हद तक का सौजन्य तथा उत्कृष्ट एवं उदार मनोभाव सीता जी किस बलबूते पर दिखा सकीं? कहना होगा कि अपराध के मूल को देखने वाले, कर्मविज्ञान की भाषा में कहें तो आस्रव (कर्मों के आगमन) के समय संवर (आते हुए कर्म का सहसा निरोध) करने के कौशलकर्त्ता के लिये यह सब-कुछ शक्य है। उसकी सिंहवृत्ति के अभ्यास ने उसे झटपट ऐसा सोचने को प्रेरित कर दिया कि "केवल सेनापति और श्री रामचन्द्र जी ही नहीं, ये सारे नगरजन भी मेरे पूर्वकृत कर्मराज के द्वारा दण्ड देने में निमित्त या माध्यम बने हैं। ये तो कर्मसत्ता के न्यायालय के आदेशों का पालन कराने वाले कर्मचारी भी हैं। मूल अपराधी तो मेरे पूर्व कर्म ही हैं या मेरी कर्मबद्ध आत्मा ही है। यही कारण है कि सीता जी अपने पूर्वकृत कर्मों को हँसते-हँसते समभाव से भोगने को तत्पर हो गईं और इसी विचारधारा के बल पर वह निमित्तों के प्रति द्वेष या मानसिक संक्लेश न करके नये अशुभ कर्म बाँधने से बच गईं। अर्थात् आस्रव के बदले संवर कर सकीं तथा इन पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करके निर्जरारूप धर्म का भी आचरण कर सकीं। अन्यथा, श्वानवृत्ति वाले तथा अन्यान्य की कल्पना से ही उत्तेजित होकर निमित्तों पर रोष-द्वेषवश बरस पड़ने के अभ्यासी संसारी जीव तो ऐसे विकट अवसर पर नये कर्म बाँध लेते हैं, पुराने कर्मों का भुगतान भी रो-रोकर करते हैं, जिससे अति दुःख और संक्लेश का संवेदन करने पर भी थोड़े-से कर्मों की अकाम निर्जरा कर पाते हैं।

---

१. 'जैन रामायण' से सीता-वनवास का प्रसंग

कितना बड़ा अन्तर है–निमित्तों को न कोसकर समभावपूर्वक शान्ति और धैर्य के साथ अत्यन्त कष्टकर कर्मफल को भोगने में तथा निमित्तों के प्रति रोष-द्वेष करके मन को संक्लिष्ट और दुर्भावपूर्ण बनाकर नये आते हुए कर्मों (आस्रवों) का स्वागत करने और पूर्वबद्ध कर्मों को बेमन से रोते-रोते भोगने में? दुःखों को हाय-हाय करते हुए भोगने (वेदन करने) से असातावेदनीय कर्म का बन्ध भी पड़ने की पूरी संभावना है इस प्रकार की श्वानवृत्ति में।

कैदी की मनोवृत्ति निमित्तों को दोष देने की नहीं होती

जैसे अपराध करने वाले व्यक्ति को कोर्ट में न्यायाधीश द्वारा जो भी सज़ा सुनाई जाती है। जेल के जेलर, सिपाही आदि सब कर्मचारी तो उसे अपना कर्त्तव्य मानकर दण्ड के उस आदेश का पालन कराते हैं। वे कैदी को कैद करते हैं, जेल में बन्द करते हैं, उसको दिये गए दण्ड के अनुसार सख्त मजदूरी भी करवाते हैं, कभी-कभी कैदी को कोड़े, डंडे आदि से मारते-पीटते भी हैं, यहाँ तक कि फाँसी के तख्ते पर भी चढ़ाते हैं; मौत का परवाना लाने वाले इलेक्ट्रिक चेयर पर भी बिठाते हैं। मगर उस समय कैदी यह नहीं सोचता कि मैंने इस जेलर या सिपाही का क्या बिगाड़ा है कि मुझे ये इतना घोर कष्ट दे रहे हैं? मैं तो इतनी मार नहीं खाऊँगा। यह मुझे मारेगा-पीटेगा तो मैं भी इसे मारूँगा-पीटूँगा।" क्योंकि कैदी जानता है कि यह जेलर या सिपाही मेरा शत्रु नहीं है, यह तो कोर्ट का कर्मचारी है। सरकार का एक नौकर है। सरकारी न्यायालय के आदेश के अनुसार अपना कर्त्तव्य अदा करता है। कोर्ट ने उसे आदेश दिया है कि इस कैदी से सख्त काम करवाओ, इस कैदी के ५० कोड़े लगाओ। तभी वह इस प्रकार का सख्त परिश्रम करवाता है या कोड़े मारता है। अतः मैं इसके प्रति रोष, द्वेष या हिंसक प्रतिकार करके क्यों शत्रुता मोल लूँ? प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह अपराधी हो या अपराधी का सहायक, पुलिस को या जेल कर्मचारी को सिर्फ दण्डवाहक मानता है।

संवर और निर्जरा की साधना तुम्हारी मुट्ठी में

उसी प्रकार कर्मविज्ञान कहता है कि ओ संवर-निर्जरा के साधक मानव ! तुम्हें कोई व्यक्ति हैरान–परेशान करे, कैसी भी पीड़ा पहुँचाये या तुम्हें कष्ट दे या तुम पर आफत ढहाए, उस समय तुम्हारे मन, वचन और काया की वृत्ति-प्रवृत्ति और अभ्यास इसी साँचे में ढला हुआ हो तो तुम मानसिक क्लेश से, द्वेष से और रोष से तथा नये कर्म को बुलाने एवं बाँधने से बच जाओगे, पुराने बँधे हुए अशुभ कर्मों का फल भी समभाव एवं सम्यग्दृष्टिपूर्वक भोग लेने से उन क्रमों का क्षय भी कर सकोगे। यानी संवर और निर्जरा दोनों तुम्हारी मुट्ठी में हो जायेंगे; बशर्ते कि

तुम स्वयं को दुःख में डालने वाले असली अपराधी को पकड़ लोगे। "You will catch the real one."[1]

और इस प्रकार सोचोगे कि इस संसार के खूँख्वार प्राणी–चाहे शेर, चीता, सर्प या अजगर हों या सबसे खतरनाक इन्सान भी हो, ये सब कर्मसत्ता का हुक्म बजाने वाले कर्मचारी हैं। कर्मसत्ता के न्यायालय ने मेरे लिये जिस-जिस प्रकार की सजा निश्चित की है, जितनी अवधि से जितनी अवधि तक, उतनी अवधि तक वैसी-वैसी सजा ये कर्मसत्ता के कर्मचारी जीव मुझे भुगवाते हैं। इनका कोई अपराध नहीं, अपराध है मेरी कर्मबद्ध आत्मा का !

निमित्त तो कर्मसत्ता के आदेश का पालन करने वाला है

किसी को यह कर्मसत्ता ने आदेश किया–इसे बदनाम कर दो या इस पर झूठा दोषारोपण कर दो, इस पर चोरी का इल्जाम लगा दो, तो वह (आदेशपालक) जीव उसे बदनाम करता है, कलंकित करता है, मिथ्या दोषारोपण करता है अथवा चोरी का अपराध लगाता है। उसने किसी से कहा–इस पर लाठी से प्रहार करो, तो वह लाठी से उस पर प्रहार करता है। इसी प्रकार धन की चोरी, काम का बिगड़ना, व्यापार में घाटा लगना, विश्वासघात, ईर्ष्या, वैर-विरोध आदि जो भी परेशानियाँ या विपदाएँ जीवन में आती हैं, वे सब सजाएँ कर्मसत्ता की अदालत की हैं। देने वाला तो सिर्फ माध्यम है। इस नियम को अपने मन-मस्तिष्क में = दिल-दिमाग में अंकित कर लेने वाला व्यक्ति कदापि आस्रव और बन्ध का स्वागत नहीं करेगा, वह संवर और निर्जरा को ही अपने दैनन्दिन अभ्यास में दोहरायेगा।[2]

संवर-निर्जरा-साधक के समक्ष तथ्य : सुख-दुःखकर्त्ता स्वयं आत्मा ही

ऐसी संवर-निर्जरा की साधना का सम्यग्दृष्टि-सम्पन्न अभ्यासी साधक अपने मन में 'समयसार' की इस गाथा को भी अंकित कर लेगा कि **"कोई भी जीव किसी दूसरे जीव को सुखी या दुःखी नहीं कर सकता।"** सुख और दुःख का कर्त्ता-भोक्ता स्वयं ही पूर्वबद्ध कर्मकर्त्ता जीव है। अपने सुख-दुःख के लिए वह स्वयं ही उत्तरदायी है।

कर्मसत्ता को चुनौती देने की क्षमता किसी में भी नहीं

इसी तथ्य के सन्दर्भ में एक बात का और ध्यान रखना चाहिए कि कर्मसत्ता

---

१. 'हंसा ! तू झील मैत्री-सरोवर में' से भावांश ग्रहण, पृ. ९७-९९

२. वही, पृ. १००

की अदालत को जिसे जो सजा नहीं देनी होती, उस जीव को दुनियाँ का कोई भी समर्थ से समर्थ व्यक्ति या चेम्पियन कहलाने वाला हेवीवेट बॉक्सर भी अथवा देवी-देव या चक्रवर्ती नरेन्द्र भी सजा नहीं दे सकता। कर्मसत्ता में ही दण्ड या पुरस्कार देने की सम्पूर्ण क्षमता निहित है। कर्मसत्ता के इशारे से ही कोई प्राणी किसी को दुःखी-सुखी करने में निमित्त बनता है। इतना ही नहीं, कर्मसत्ता ने जिसको जो सजा दे दी, उसे अन्यथा करने की शक्ति किसी में नहीं है। वह कर्मापराधी जीव भागने की लाख कोशिश करे, कर्मों के दुष्परिणाम से बचने का जी-तोड़ परिश्रम करे, सब व्यर्थ होगा, सफलता हाथ नहीं लगेगी।[१]

अनिकाचित कर्मों को उदय में आने से पहले बदला जा सकता है

किन्तु यदि ऐसे कर्मापराधी के वे कर्म निकाचित रूप से नहीं बँधे हों, तो उन कर्मों के उदय में आने से पहले ही वह बाह्य-आभ्यन्तर तप, संयम, त्याग, प्रत्याख्यान, व्रत, नियम, स्वाध्याय, ध्यान, प्रायश्चित्त आदि के द्वारा उस कर्म की स्थिति और अनुभाग (रस) में परिवर्तन करके उस सजा (कर्मफल) को न्यून या नाबूद भी कर सकता है, उदीरणा द्वारा उस कर्मफल को उदय में आने से पहले भोगकर कर्मक्षय भी कर सकता है। परन्तु यह सब होगा स्वयं के पुरुषार्थ से ही; क्योंकि कर्मों का निरोध या क्षय अथवा बद्ध कर्मों की स्थिति और अनुभाग को न्यून करना या पूर्णतया समाप्त करना जीव के अपने ही पुरुषार्थ पर निर्भर है।

निकाचित कर्मों को सम्यग्दृष्टि और समभावी बनकर भोगो

परन्तु यदि कोई कर्म निकाचित रूप से बँधा हुआ हो अथवा पूर्वबद्ध कर्म अबाधाकाल की अवधि पूरी होने पर उदय में आ गया हो तो उसे भोगे बिना छुटकारा नहीं है। किन्तु उस स्व-कृत कर्म का फल भोगते समय सम्यग्दृष्टि, समभाव की वृत्ति, शान्ति एवं धैर्य रखना अनिवार्य है, तभी निर्जरा की साधना हो सकती है।

हत्या करने का किसी का षड्यंत्र कर्मसत्ता विफल बना देती है

यह भी सत्य है कि किसी राजा को यह मालूम हो जाए कि अमुक लड़का मेरी हत्या करने वाला है या मेरे बाद वह मेरी राजगद्दी पर बैठेगा; इस कटु सत्य को जानते हुए भी वह राजा उस बालक की हत्या कराने के कई दाँवपेच खेलता है। मगर वह बालक बिलकुल आबाद और सुरक्षित बच जाता है। और तो और जिस व्यक्ति ने १००-२०० क्रूर हत्याएँ कर डाली हों, मनुष्य का मार डालना जिसके

१. जो अप्पणादु मण्णदि, दुक्खिद-सुहिदे करेमि सत्तेति।
सो मूढो अण्णाणी, णाणी एत्तोदु विवरीदो॥ —*समयसार, गा. २५३*

बायें हाथ का खेल हो, उस निर्दयी व्यक्ति को जल्लाद को सौंपकर उसे मारने का ऑर्डर भी दे दिया गया हो, परन्तु यदि कर्मसत्ता ने उस व्यक्ति के लिए मौत की सजा न दी हो तो किसकी मजाल है, उस व्यक्ति का बाल भी बाँका कर सके। फाँसी पर चढ़ाते समय जल्लाद के मन में दया का भाव आ जायेगा और वह मौत के बदले उसकी जिंदगी देने वाला बन जायेगा।

कर्मसत्ता के द्वारा दिये गए दण्डादेश को टालना अशक्य

ठीक इसके विपरीत यदि कर्मसत्ता ने मौत की सजा फरमा दी हो तो रक्षक भी भक्षक बन जाते हैं। श्रीमती इन्दिरा गांधी को उनके आवास-स्थान पर उनके ही अंगरक्षकों ने गोली से उड़ा दिया था। जबकि राजीव गांधी पर राजघाट जैसे सार्वजनिक स्थल पर सात दिन से लुक-छिपकर आतंकवादियों ने कई गोलियाँ चलाई थीं, फिर भी उस समय उनका बाल भी बाँका नहीं हुआ। निष्कर्ष यह है राजीव गांधी को वहाँ मारने की आतंकवादियों की इच्छा थी, मगर कर्मसत्ता की ऐसी इच्छा नहीं थी।[१]

कर्मसत्ता द्वारा दिये गए दण्डादेश को टालने वाले या उसके विरोधकर्त्ता को अधिक दण्ड

कोई कर्म जब तक नहीं बँधा है अथवा बँधा हुआ कर्म जब तक सत्ता में पड़ा है, उदय में नहीं आया है, तब तक जीव (संसारी आत्मा) कर्मसत्ता के अधीन नहीं है, स्वतंत्र है, किन्तु कर्म बाँधने पर उसके उदय में आने के बाद वह परतंत्र है। फिर तो कर्मसत्ता जैसे-जैसे ऑर्डर छोड़ती है, वैसा ही बर्ताव वे जीवरूपी अधिकारी उस कर्म के कैदी के साथ करते हैं। जैसे कोर्ट की सजा अपराधी को सुनाये जाने के बाद जेलर उस अपराधी कैदी पर कोड़े बरसाता है, उस समय कैदी जेलर के प्रति क्रुद्ध होकर उसका सामना करने लगे और कहे कि "तू मुझे मारता है तो मैं भी तुझे मारूँगा।" ऐसी स्थिति में वह कैदी और अधिक दण्डपात्र माना जाता है। उस कैदी के इस अनुचित बर्ताव को देखकर कोर्ट उसकी सजा की अवधि और अधिक बढ़ा देती है और सजा भी कठोर कर देती है। इसी प्रकार कर्मसत्ता की कोर्ट किसी अपराधी (पूर्वकृत अशुभ कर्मकर्त्ता) को जो सजा देती है और उस सजा को भुगवाने वाले अन्य जीवरूपी एजेंट (जेलर) को हुक्म करती है–"अमुक व्यक्ति को अपमानित करके दण्डित करो।" उस समय यदि वह कैदी उससे यह कहे कि "तू मुझे गाली या अपशब्द बोलता है, तो मैं भी तुझे गाली दूँगा

१. 'हंसा ! तू झील मैत्री-सरोवर में' से भावांश ग्रहण. पृ. १०१

या अपमानित करूँगा", यों कहकर वह कर्मापराधी यदि सजा भुगवाने वाले निमित्त का सामना करता है तो कर्मसत्ता की अदालत उसकी इस बेअदबी और धृष्टता से रुष्ट होकर उसके दण्ड की अवधि (स्थिति) और कठोरता (अनुभागवन्ध) को बढ़ा देती है।

तत्त्वज्ञ सम्यग्दृष्टि द्वारा समभाव से दण्ड भोगने पर सजा कम या माफ भी हो जाती है

इसके विपरीत यदि कोई समझदार अथवा आस्रव-संवर तथा बन्ध-निर्जरा के तत्त्वज्ञान का जानकार सम्यग्दृष्टि कर्मापराधी (कैदी) को कर्मरूपी न्यायालय द्वारा निर्धारित सजा किसी निमित्तभूत जीव द्वारा दी जा रही हो, उस समय सजा देने वाले (जेलर) का सामना (प्रतिकार) किये बिना यदि वह शान्ति से भोग लेता है, उस कष्ट को समभावपूर्वक सह लेता है, तो उसे अच्छा और समझदार (सम्यग्दृष्टि एवं तत्त्वज्ञ) कर्मापराधी माना जाता है। उसके उस प्रशंसनीय व्यवहार को देखकर कर्मरूपी न्यायालय कभी-कभी उसकी सजा की अवधि और मात्रा घटा भी देती है। उसके अनेक अपराधों के लिये नियत की गई कितनी ही सजाएँ उसके बिना भोगे ही कर्म-न्यायालय द्वारा रद्द कर दी जाती हैं, उसे उस सजा से बरी कर दिया जाता है। कर्मसत्ता की कोर्ट के आदेशानुसार जो जीव अपने लिये निर्धारित दण्ड को शान्ति और धैर्य के साथ समभावपूर्वक भोग लेता है, उसके उस व्यवहार को प्रशंसनीय मानकर उसके अन्य अपराधों की सजा वह माफ भी कर देती है। कर्म-न्यायालय उससे सन्तुष्ट होकर उस जीव के दूसरे अनेक कर्मों को भोगे बिना ही उसकी सजा रद्द (cut-off) कर देती है।[१]

कर्म का दण्ड भुगताने वाले निमित्त को वह शत्रु नहीं मानता

निष्कर्ष यह है कि जैसे समझदार और विवेकवान कैदी कोर्ट की सजा को बिना कुछ भी ननु नच किये भोग लेता है, वैसे ही जो पूर्वबद्ध कर्म का अपराधी उस कर्म द्वारा मिलने वाले दण्ड को सम्यग्दर्शनपूर्वक तत्त्वज्ञान के बल से हँसी-खुशी से भोग लेता है, किसी प्रकार का सामना या प्रतिकार कर्मसत्ता के द्वारा प्रदत्त दण्ड को भुगवाने वाले निमित्त से नहीं करता। वह उक्त निमित्त को अपना शत्रु नहीं मानता, वह उसे कर्मसत्ता के आदेश का पालक मानता है। इस प्रकार का साधक सहज में ही संवर और निर्जरा का लाभ प्राप्त कर लेता है। उसके मन में भी शान्ति, सुख, त्याग एवं सहनशीलता का आनन्द होता है।

---

१. 'हंसा ! तू झील मैत्री-सरोवर में' से भावांश ग्रहण, पृ. १०२

वह माध्यम (निमित्त) से लड़ता-भिड़ता नहीं

ऐसा संवर-निर्जरा-साधक सिंहवृत्ति का अनुसरण करता है। उसका सतत चिन्तन रहता है कि यदि पोस्टमैन किसी को उसके नाम का पत्र दे और उस पत्र में दुःखद समाचार आये तो पोस्टमैन का उसमें क्या दोष? पोस्टमैन को उस दुःखद समाचार के लिए गाली देने या भला-बुरा कहने से क्या मतलब? क्योंकि पोस्टमैन तो केवल पत्रवाहक है। वह हमारा शत्रु नहीं है।

टी. वी. के पर्दे पर दृश्य आए कि लक्ष्मण को रावण ने शक्ति प्रहार से मूर्च्छित कर दिया तो इसमें टी. वी. का क्या दोष? उसमें जैसा दृश्य-श्रव्य रिले किया जाता है, उसे ही वह बताता है। टी. वी. एक माध्यम है–पर्दा है, वह न तो अपनी इच्छानुसार अच्छा बताता है, न बुरा। अतः बुद्धिमान् व्यक्ति टी. वी. को न तो कोसता है और न ही फोड़ता है जबकि श्वानवृत्ति वाला पागलपन जैसे आवेश में आकर टी. वी. को तोड़ने-फोड़ने लगेगा। सिंहवृत्ति वाला साधक तथ्य और कथ्य दोनों का ज्ञाता-द्रष्टा बनकर समभाव से तत्त्वज्ञान की प्रेरणा ले लेता है। टी. वी. पर यदि भारतीय क्रिकेट टीम के हारने और रिलायन्स टीम के जीतने का दृश्य दिखाया जाये तो उसे देखकर टी. वी. के प्रति यानी उक्त दृश्य के प्रति द्वेष, ईर्ष्या या आवेश में आकर उस माध्यमरूप टी. वी. या उसके पर्दे को मात्र माध्यम न मानकर उसे तोड़ता-फोड़ता है, इसी प्रकार का कृत्य श्वानवृत्ति वाले का है। वह कर्मजनित दुःख को भुगवाने वाले माध्यम को पकड़ता है और उसके साथ संघर्ष, क्लेश करता है। वह अपमान करने, दुःख देने वाले निमित्त को अपना शत्रु मानकर उसके साथ लड़ता-भिड़ता है। इसका नतीजा यह होता है कि मूल कर्मशत्रु को परास्त करना तो दूर रहा, उलटे अशुभ कर्म की अन्तहीन परम्परा बढ़ाता है, वैरवृत्ति की परम्परा जन्म-जन्मान्तर तक बढ़ाता ही चला जाता है।

सहन करो, प्रतिकार या मुकाबला मत करो

मान लो, जैसे एक ऐसा कैदी है, जिसके लिए कोर्ट ने जेलर से कहा कि इस कैदी की नंगी पीठ पर प्रतिदिन ५० कोड़े मारो। अगर लहूलुहान हो जाए, अनेक घाव पड़ जाएँ तो उन पर नमक छिड़क देना, यह कितना ही चीखता-चिल्लाता रहे, इस पर रहम मत करना। इस पर जेलर कोर्ट के उसी आदेश का पालन करता है। कैदी को विवश होकर यह सब यातना प्रतिदिन सहनी पड़ती है। कैदी के लिए यह सजा अनुकूल है या नहीं? उसकी यह यातना सहने की इच्छा है या नहीं? ऐसा कुछ भी नहीं देखा जाता है। जेलर को कोर्ट के आदेश का पालन करना अनिवार्य होता है। इसी प्रकार कर्मसत्ता की कोर्ट का भी इसी प्रकार की सजा देने का किसी पूर्वकृत भयंकर पापकर्मी के लिए आदेश हो और कोई भी निमित्त उसे सजा दे

रहा हो, उस समय उसे पूर्वकृत पापकर्म के उदय से जो भी सजा मिल रही हो उसे किसी प्रकार का प्रतिकार या विरोध किये बिना सहन कर लेनी चाहिए। समभावपूर्वक शान्ति से सहन करने से ही कर्म के संवर और निर्जरा की साधना होती है।

इस विषय में पारमार्थिक दृष्टि से तो शंका को कोई अवकाश नहीं है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से एक शंका प्रायः अधिकांश सांसारिक जनों को होती है कि वर्तमान में अल्पज्ञ को प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता कि कर्मसत्ता द्वारा इतनी भयंकर सजा देने का निमित्त को आदेश दिया गया है। वर्तमान में हमारे समक्ष प्रत्यक्ष तो सजा देने वाला वह निमित्त ही होता है। क्या उस (निमित्त) के द्वारा दी गई जो भी यातना हो, उसे सहर्ष स्वीकार कर लेना या समभावपूर्वक सहन कर लेना चाहिए? इसका समाधान यह है कि जो सम्यग्दृष्टि या तत्त्वज्ञ होता है, उसके मन में कर्मसत्ता द्वारा दिये जाने वाले दण्डादेश पर तथा प्रत्यक्ष दण्ड (कर्मफल) भुगवाने वाले निमित्त पर कोई शंका नहीं होती। इसीलिए यदि वह समभावपूर्वक शान्ति से सहर्ष उस दण्ड को सहन कर लेता है, तभी वह संवर या निर्जरा का भागी होता है अथवा पुण्य का भागी होता है। परन्तु कतिपय तत्त्वज्ञ दार्शनिक ऐसी शंका प्रस्तुत करते हैं कि किस हद तक उक्त यातना को सहन करना? उसकी कोई सीमा निर्धारित नहीं है क्या? जितना दुःख आए, उतना सब-कुछ सहन करो, यह कहा जाता है, किन्तु हाय! कितना सहन करें? सहन करने की भी कोई हद होती है! अगर हमने उस असह्य वेदना (सजा) का प्रतिकार नहीं किया तो वह अधिकाधिक यातना देता चला जायेगा और हमें नेस्तनाबूद कर देगा। अब तक तो हमने बिना चूँचपड़ किये उसे सहन किया, Let it go कर दिया। पर अब तो हमसे सहन नहीं होता। न, न बाबा! अब हद हो गई है सहने की! अगर हम कुछ भी प्रतिकार नहीं करते हैं तो यह हमारे सिर पर चढ़ता जायेगा। यह समझता है–हम तो मिट्टी के माधो हैं, हममें कुछ भी दम नहीं है या प्रतिकार करने की हिम्मत नहीं है। मगर ऐसा कतई नहीं चलेगा। अब तो उस पर ऐसा प्रहार करेंगे कि उसे छठी का दूध याद आ जाये। तभी उसकी अक्ल ठिकाने आयेगी। ऐसा निरर्थक शंकाकुल विचार नहीं करना चाहिए। न ही ऐसी कोई प्रतिकारवृत्ति-प्रवृत्ति करनी चाहिए।[1]

प्रतिक्रिया-विरति के लिए इस प्रकार शीघ्र प्रतिक्रमण करो

संवर-निर्जरा-साधना के लिए ऐसी ही प्रतिक्रिया-विरति आवश्यक है। उसे ऐसा या इस प्रकार का कोई भी दुर्विचार आए तो तुरन्त उसका प्रतिक्रमण करके

---

१. 'हंसा ! तू झील मैत्री-सरोवर में' से भावांश ग्रहण

उस दुष्कृत्य या दुश्चिन्तन को निष्फल कर देना चाहिए। 'आवश्यकसूत्र' में इस प्रकार के दुर्विचारों का तुरन्त प्रतिक्रमण करने उक्त पापनिवारण द्वारा आत्म-शुद्धि करने का विधान है। वह इस प्रकार है–

"भगवन् ! मैं उस अतिचार (दोष) का प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ, जो मैंने मानसिक, वाचिक, कायिक अतिचार (दोष) किये हों। कैसे दोष? शास्त्र-विरुद्ध, मार्ग-विरुद्ध, आचार-मर्यादा-विरुद्ध, न करने योग्य, दुर्ध्यानरूप, दुश्चिन्तनरूप, दुश्चेष्टारूप, अनाचरणीय, अनिच्छनीय दोष, ज्ञान में, दर्शन में, चारित्र में, श्रुतज्ञान में सामायिक (समभाव की) साधना में, जो भी खण्डना, विराधना या स्खलना की, उसका पाप मेरे लिए मिथ्या (निष्फल) हो।"[१]

सवर-निर्जरा-साधक को याद रखना चाहिए कि अगर कोई भी यातना असह्य हो पड़े और उसके मुख से भगवान का नाम निकले बिना केवल हाय-हाय, मर गया रे!, अमुक दुष्ट ने मार डाला रे ! इस प्रकार की वृत्ति-प्रवृत्ति न हो, अधिक असह्य दुःख आ पड़े तो उस समय देव, भगवान या निमित्त को न कोसकर अपनी आत्म-निन्दा (पश्चात्ताप) करते हुए यह सोचना चाहिए, अपने आत्मापराध वृक्ष के ही ये फल हैं, इन्हें सहर्ष भोगने पर ही कर्मक्षय होगा, सुख-शान्ति होगी।

हिंसक प्रतिकार का विचार आए तो अग्निशर्मा और गुणसेन के चरित्र को याद करो

जब कभी पूर्व संस्कारवश ऐसा विचार आने लगे कि यह दुष्ट व्यक्ति या प्राणी हमें निर्बल जानकर बार-बार सताता है। हम कुछ भी प्रतिकार नहीं कर रहे हैं, इसलिए वह निर्भय और ढीठ बनकर अधिकाधिक उत्पीड़ित कर रहा है। अतः अब तो उस पर जोरदार प्रहार करके उसे शान्त करना ही पड़ेगा, ताकि वह हमें परेशान करने से बाज आए। ऐसी दुश्चिन्तना के समय अग्निशर्मा को याद करें। वह जब गुणसेन के जीव पर प्रत्येक भव में किसी न किसी रूप में मरणान्तक उपसर्ग (कष्ट) देता रहा, किन्तु गुणसेन का जीव प्रत्येक भव में अधिकाधिक जाग्रत होकर उस दुःख या कष्ट को समभावपूर्वक उस (निमित्त) पर द्वेष-रोष किये बिना सहता रहा। फलतः अग्निशर्मा के जीव द्वारा प्रत्येक भव में रोष, द्वेष, दुर्ध्यान एवं दुश्चिन्तन मूलक घोर उपसर्ग (कष्ट) गुणसेन के जीव को बेधड़क देने के कारण अग्निशर्मा के घोर पापकर्म का बन्ध होता गया, जबकि गुणसेन के जीव

१. इच्छामि ठामि पडिक्कमिउं ...... जो मे ...... अइयारो कओ काइओ वाइओ माणसिओ, उस्सुत्तो, उमग्गो, अकप्पो, अकरणिज्जो, दुज्झाओ दुव्विचिंतिओ दुचिट्ठिओ, अणायारो अणिच्छियव्वो ..... नाणे तह दंसणे चरित्ते सुए सामाइए जं विराहियं तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

–आवश्यकसूत्र

को शान्ति से समभावपूर्वक उक्त उपसर्गों को सहने से संवर और निर्जरा हुई और अन्त में समरादित्य के भव में केवलज्ञान-केवलदर्शन, वीतरागत्व एवं मोक्ष प्राप्त हुआ। अतः ऐसे समय में जबकि कष्ट असह्य होने लगे तब अग्निशर्मा और गुणसेन के चरित्र को याद करके हिंसक प्रहार, प्रतिकार और बदला लेने के निर्णय (निदान) को कैंसिल कर दो, उस दुर्विचार को वहीं दफना दो। तभी संवर-निर्जरा-साधना में प्रगति होगी अन्यथा अग्निशर्मा की तरह आत्मा की अधोगति और दुर्दशा होगी।

तीसरे मास के उपवास का पारणा टल जाने पर अग्निशर्मा का कोप और नियाणा

यद्यपि अग्निशर्मा ने तापस दीक्षा लेने के पश्चात् अपने पूर्वकृत पापकर्मों को क्षय करने (निर्जरा) के हेतु मासक्षपण (एक महीने तक उपवास) तप प्रारम्भ कर दिये थे और राजा गुणसेन की आग्रहभरी प्रार्थना पर मासखमण के पारणे के दिन उसके यहाँ आहार लेने पहुँचा था। एक बार नहीं, परन्तु दो-दो बार पहुँचा। परन्तु दोनों ही बार वह आहार लिये बिना ही अपना अन्तराय कर्म का उदय मानकर गुणसेन राजा पर किंचित् भी रोष या द्वेष किये बिना लौट गया। दोनों ही बार पारणे के दिन राजा गुणसेन के यहाँ कोई न कोई अपरिहार्य कारण बन गया था। प्रथम मासक्षपण के पारणे के दिन राजा के मस्तक में असह्य पीड़ा उठी। पूरा राजकुल शोकाकुल था। तापस अग्निशर्मा को आहार देने का किसी को ध्यान न रहा। दूसरे महीने के तप के पारणे के दिन राजकुमार के जन्म-महोत्सव की खुशी में डूबा हुआ राजपरिवार उसके पारणे की बात भूल गया। गुणसेन राजा को जब पारणे की बात याद आई तो घोर पश्चात्ताप और व्यथाभरे दिल से तापस अग्निशर्मा के पास आया। चरणों में पड़कर माफी माँगी। तापस के मन में भी समताभाव लबालब भरा था। उसने गुणसेन को आश्वासन दिया, क्षमा माँगी, क्षमा दी। उपकार माना। इस प्रकार दोनों ही पारणों के समय तापस अग्निशर्मा ने द्रव्य संवर और निर्जरा के अवसर को पूरी तरह से सफल बना लिया था।[1]

उसका यह कठोर नियम था कि मासक्षपण के पारणे के दिन जिस घर में सर्वप्रथम आहार के लिए जाए, उस घर से आहार न मिले तो खाली लौट आना और कहीं आहार के लिए न जाना, पारणा किये बिना ही दूसरा और तीसरा मासक्षपण तप चालू कर देना। इस अपेक्षा से तापस अग्निशर्मा के दो-दो मासक्षपण के पारणे नहीं हो सके, फिर भी तापस के मन में किसी प्रकार की अशान्ति की हलचल नहीं थी। परन्तु गुणसेन की विनती पर तीसरी बार भी अग्निशर्मा तापस

१. देखें–'समराइच्च कहा' में गुणसेन और अग्निशर्मा का चरित्र

मासक्षपण के पारणे के दिन उसके यहाँ पहुँचा, परन्तु उस दिन शत्रुसैन्य द्वारा राज्य पर अकस्मात् आक्रमण के कारण राजदरबार में सभासदों के साथ मंत्रणा करने में राजा गुणसेन अत्यन्त व्यस्त था। बाहर भयंकर कोलाहल हो रहा था। तापस अग्निशर्मा की ओर किसी का ध्यान नहीं था, न ही उसकी ओर देखने को कोई तैयार था। अतः तीसरी बार भी पारणा नहीं हो सका। अग्निशर्मा वापस लौटा। परन्तु पहले दोनों बार का शान्त, दान्त, क्षमाशील अग्निशर्मा अब बदल चुका था। उसके मन में गुणसेन के प्रति भयंकर क्रोध की ज्वाला उमड़ पड़ी, प्रतिशोध की दुर्भावना उसके मानस में उछलने लगी। आश्रम के कुलपति तापस गुरु के मना करने पर भी उसने गुणसेन को अपना अकारण शत्रु मानकर निदान (कठोर संकल्प) कर लिया कि मेरी तपश्चर्या का कुछ भी फल हो तो मैं जन्म-जन्म में गुणसेन का वैरी बनकर इसका वध करूँ।

अग्निशर्मा तापस की भयंकर भूल ने संवर-निर्जरा का अवसर खो दिया

यहीं आकर अग्निशर्मा तापस भयंकर भूल कर बैठा। वह कर्मसत्ता को चुनौती दे बैठा। यद्यपि कर्मसत्ता ने ही उसके पूर्वकृत कर्मोदयवश पारणा न होने देने के अन्तराय के रूप में सजा दी थी। उसमें गुणसेन को निमित्त बनाया कि वह मासक्षपण के पारणे के दिन आहार न दे सके, गुणसेन तो निमित्त था, कर्मसत्ता के द्वारा दिये गए दण्ड (अन्तराय कर्म) को भुगवाने के लिए माध्यम। मगर अग्निशर्मा निमित्त पर कर्म के द्वारा दिये गए कर्त्तव्य-भार को अदा करने वाले पर प्रतिकार करने और उस पर कहर बरसाने को तुल पड़ा। इसी कारण अग्निशर्मा को कर्मसत्ता ने न्याय और कानून को हाथ में लेने की मूर्खता पर अनन्तकाल तक संसार में–दुर्गतियों में–भटकते रहने का दण्ड दे दिया।

संवर और निर्जरा के साधक ने अन्त तक समभाव से कष्ट सहे

अतः संवर और निर्जरा के साधक को जिस समय उस पर एक के बाद एक दुःख और संकट के बादल उमड़-घुमड़कर आ रहे हों, उस समय अग्निशर्मा की पीड़ा का स्मरण अपने मस्तिष्कपट पर बार-बार अंकित करना चाहिए। जैसे अग्निशर्मा निदान करने से पूर्व गुणसेन की ओर से जितनी और जो-जो बार-बार अपार पीड़ा मिली, तब भी शान्त रहा। यह सत्य है कि पीड़ा की पराकाष्ठा थी, परन्तु तापस अग्निशर्मा की भी उस घोर कष्ट को सहने की पराकाष्ठा थी। अतः संवर-निर्जरा-साधक को भी चाहिए कि स्वयं पर किसी अन्य व्यक्ति की ओर से सकारण या अकारण पीड़ा मिले, जो भी, जैसी भी, जितनी भी; उस समय अग्निशर्मा की पीड़ा और उसकी सहिष्णुता को स्मृतिपट पर लाये। ऐसा करने से

उसको अपनी पीड़ा या यातना शूली के बदले शूल-सी लगेगी। वह पीड़ा भाले की नोंक के बदले सुई की नोंक-सी प्रतीत होगी। जैसे—अग्निशर्मा पर पहले-पहले इतने भयंकर कष्ट पर कष्ट आए, मगर उसने वे प्रसन्नतापूर्वक सहे। मुख पर द्वेष-रोष की एक भी रेखा नहीं उभरने दी।

कर्मसत्ता निमित्त पर प्रहार करने को सहन नहीं करती

परन्तु बाद में उसने निमित्त पर प्रहार करने का दृढ़-संकल्प (नियाणा) किया, तब कर्मसत्ता ने उसे पहले से अधिक सजा दे दी—उसके अपराध को देखते हुए। कर्मसत्ता ने इतने-इतने घोर तप किये जाने पर भी तथा अन्त में आमरण अनशन स्वीकार किये जाने पर भी निमित्त पर प्रहार करने के दुःसंकल्प के कारण उसकी सजा माफ नहीं की, बल्कि घोर अपराध के कारण सजा भीषण और दीर्घकाल की कर दी। अतः कष्ट-सहन करने की कैसी भी हद आ गई हो, अगर कोई संवर-निर्जरा-साधक या सामान्य व्यक्ति भी निमित्त पर प्रहार करने को उतारू हो जाता है, कानून की बागडोर अपने हाथ में ले लेता है तो कर्मसत्ता पहले के किये गए कष्ट-सहिष्णुता के पुण्य के बदले नये प्रहार करने के घोर संकल्परूप अपराध के कारण और अधिक दण्ड दे देती है। वह उसे माफ नहीं करती।

निमित्त को दण्ड देने का विचार तक न आने दो

अतः संवर एवं निर्जरा में सफलता चाहने वाला साधक अपने पर किसी व्यक्ति-विशेष की ओर से दी जाने वाली पीड़ा से ऊबकर उसे स्वयं दण्डित करने की भावना मन में उठने ही न दे। कदाचित् दुर्बलतावश उठने लगे तो तुरन्त सँभलकर अपने मानसपटल पर अग्निशर्मा की घटना व स्कन्दक आचार्य की घटना को लाएँ। ऐसा करने से संवर और निर्जरा की उसकी साधना बरकरार रह सकेगी, मानसपटल पर आया हुआ रोष-द्वेष का तूफान तुरन्त शान्त हो जायेगा।

आशय यह है कि अमुक पूर्वबद्ध कर्मों के उदय में आ जाने पर श्वानवृत्ति की तरह निमित्त के प्रति रोष, द्वेष या प्रहार न करके सिंहवृत्ति धारण कर उक्त कष्ट को अपने ही द्वारा पूर्वकृत कर्मापराध का फल मानकर शान्तभाव से सहन कर ले, तभी वह उक्त कर्म के आगमन का निरोध (संवर) और पूर्वकृत कर्म का क्षय (निर्जरा) करने में सफल हो सकता है।

● ●

५

समस्या के स्रोत : आस्रव, समाधान के स्रोत : संवर

समस्याओं का जाल क्यों और कौन बुनता है ?

आज मानव-जाति के समक्ष अगणित समस्याएँ हैं। परिवार, जाति, समाज, नगर, गाँव, राष्ट्र, प्रान्त, धर्म-सम्प्रदाय, अर्थ, संस्कृति, नीति आदि जीवन के सभी क्षेत्रों में, मानव-समाज के सभी घटकों में हजारों समस्याएँ हैं। इन सभी क्षेत्रों में कहीं विचारभेद है, कहीं मान्यताभेद है, कहीं स्वार्थ की टक्कर है, कहीं अहंकार का उफान है, कहीं क्रोध की ज्वाला है, कहीं पूर्वाग्रह एवं हठाग्रह की पकड़ है, कहीं धर्म और संस्कृति तथा नैतिकता और आध्यात्मिकता के विपरीत कदम उठ रहे हैं, कहीं मानवता के बदले दानवता पनप रही है। कहीं राष्ट्रान्धता, जात्यन्धता, धर्मान्धता आदि मूढ़ताएँ सिर उठा रही हैं। कहीं आतंकवाद, उग्रवाद, अलगाववाद, भाषावाद और प्रान्तवाद आदि के कारण संहारलीला चल रही है। कहीं इसके अतिरिक्त निरर्थक हिंसा, अनर्थदण्ड, उच्छृंखलता, बेईमानी, भ्रष्टाचार, अनाचार, बलात्कार, झूठ-फरेब, धोखाधड़ी, ठगी, जालसाजी, अराजकता, गैर-वफादारी आदि पनप रही हैं। प्रश्न होता है ये सब समस्याएँ मनुष्य-जाति में दुःख, दौर्भाग्य विपत्ति, संकट, पीड़ा, आधि, व्याधि, उपाधि, अशान्ति आदि नाना अनिष्टों को पैदा करती हैं, फिर क्यों मानव अपनी ही जाति को, साथ ही अन्य प्राणिवर्ग को दुःख आदि देने के लिए उद्यत होता है? क्यों जान-बूझकर इतनी अगणित समस्याएँ पैदा करता है? क्यों इन समस्याओं को पैदा करके वह स्वयं अपनी सुख-शान्ति और समाधि भंग करता है? आखिर उसे मिलता क्या है, ऐसे समस्याजनित अनिष्टरूपी भूतों को स्वयं बुलाने से? इन सबका उत्तर यही होगा– चाहता तो कोई नहीं है स्वयं संकटों को बुलाना, परन्तु पता नहीं इन समस्याओं का जाल कैसे बुन लेता है वह? उसे यह भी मालूम नहीं है अथवा वह गहराई में उतरकर विचार भी करता नहीं है कि इन सब समस्याओं का मूल स्रोत क्या है? क्यों वह इन समस्याओं को खड़ी करने को उद्यत हो जाता है और फिर बरबस इनके कटु फल भोगता है?

आस्रव और संवर : समस्याओं तथा उनके समाधान का मूल स्रोत

कर्मविज्ञान के वीतराग सर्वज्ञ आप्त पुरस्कर्त्ताओं ने समस्या के मूल स्रोत की ओर सबका ध्यान खींचते हुए कहा–"समस्याओं का मूल स्रोत आस्रव है और इनके समाधान का मूल स्रोत है–संवर।" संसार की सभी समस्याओं का मूल स्रोत आस्रव और उनके समाधान का मूल स्रोत संवर इसलिए है कि आस्रव जन्म-जरा-मृत्यु-व्याधि आदि दुःखरूप संसार का मूल हेतु है और वह पाँच संतानों वाला है, जिनसे ये सब समस्याएँ पैदा होती हैं। इसके विपरीत जन्म-मरणादि संसार का निरोध-संवर से होता है, जो इन पंचविध आस्रवों से पैदा हुई समस्याओं का पंचविध-संवर के रूप में समाधान का स्रोत है। समस्याएँ पैदा करने से या होने से कर्मों का आस्रव और बन्ध होता है, जो भवभ्रमण का कारण बनता है। इसीलिए आचार्य हेमचन्द्र ने कहा–

"आस्रवो भवहेतुः स्यात्, संवरो मोक्ष-कारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्याः प्रपञ्चनम्॥"

इसका भावार्थ यह है कि आस्रव जन्म-मरणादिरूप संसार का हेतु होने से वह संसार की समस्त समस्याओं का उत्पादक है। जबकि संवर इन सभी समस्याओं से छुटकारा पाने का अचूक साधन है। यही वीतराग प्ररूपित आर्हती दृष्टि है। शेष सब इसी का विस्तार है।

निष्कर्ष यह है कि समस्याओं का स्रोत भी तीन अक्षरों का (आस्रव) है और उनके समाधान का स्रोत (संवर) भी तीन अक्षरों का है। संक्षेप में समस्याओं का जनक आस्रव है और समाधान का जनक कर्मनिरोध का प्रेरक है–संवर।

आस्रव की पाँच पुत्रियाँ

आस्रव की पाँच पुत्रियाँ हैं–(१) मिथ्यादृष्टि, (२) अविरति, (३) प्रमादग्रस्तता, (४) कषायवशता, और (५) योगों की चंचलता। ये पाँचों ही विभिन्न समस्याओं को जन्म देती हैं। जिनसे मनुष्य संसार में विभिन्न दुःखों से ग्रस्त रहता है।[१]

प्रथम समस्या जननी : मिथ्यादृष्टि आस्रवसुता

समस्या की प्रथम जननी है–मिथ्यादृष्टि। संसार के अधिकांश जीवों का दृष्टिकोण मिथ्या होता है। मिथ्या दृष्टिकोण के कारण नाना समस्याएँ पैदा होती हैं। विपरीत मान्यताएँ, अज्ञान, अविद्या, देव-गुरु-धर्म-शास्त्रमूढ़ता तथा लोकमूढ़ता, हठाग्रह या पूर्वाग्रह आदि सब समस्याएँ मिथ्यादृष्टि के कारण होती हैं। दृष्टि मिथ्या

---

१. 'अपने घर में' से भावांश ग्रहण

होती है, तब आत्मा-अनात्मा का भान नहीं रहता। आत्मा को मानते हुए भी अपने तुच्छ स्वार्थ के हेतु दूसरी आत्माओं की उपेक्षा करके मनुष्य परस्पर संघर्ष, संकट, संहार, पीड़ा, विपत्ति आदि समस्याओं को पैदा करता है; यही कर्मों के आगमन (आस्रव) और बन्ध का कारण बनता है। मिथ्यात्व के कारण जीव को कभी-कभी अनन्तकाल तक सद्‌बोध, सम्यग्दृष्टि या सम्बोधि नहीं मिलती।

मिथ्यात्व का स्वरूप और तात्पर्यार्थ

विवेक-विरोधी विश्वास मिथ्यात्व है। अर्थात् जो वस्तु जैसी नहीं है, उसे वैसी मानना मिथ्यात्व है। 'पर' को 'स्व' मानना सबसे बड़ा मिथ्यात्व-आस्रव है। 'पर' वह है, जो आत्मा से भिन्न है, सदा साथ न रहे। इस दृष्टि से धन, कंचन, मकान, जमीन-जायदाद सम्पत्ति आदि तो पर-भाव हैं ही, शरीर, मन, प्राण, बुद्धि, इन्द्रिय आदि अथवा सजीव कुटुम्ब, परिवार, मित्र आदि भी पर-भाव हैं। इन्हें 'मैं' या 'मेरा' मानने से, इनके प्रति अहंत्व-ममत्व-स्वत्व बुद्धि रखने से स्वार्थान्धता, अहंकार, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, वैर-विरोध, असंयम, राग-द्वेष या कषाय अथवा आत्म-बुद्धि आदि पैदा होती है। पर-पदार्थों के प्रति राग-द्वेष, मोह, घृणा, आसक्ति आदि होने से मनुष्य अहंता-ममता, विषय-वासना, कषाय-कालुष्य, कामना-नामना आदि के जाल में फँसकर कर्मास्रव व कर्मबन्ध करता है, जो नाना दुःखरूप समस्याएँ पैदा करते हैं।

मिथ्यात्व के कारण अगणित समस्याएँ पैदा होती हैं

इसी मिथ्यात्व के कारण मनुष्य मोहान्ध, स्वार्थान्ध, जात्यन्ध, राष्ट्रान्ध, प्रान्तान्ध एवं आसक्ति-परायण होकर समभाव, शमभाव एवं आत्मौपम्यभाव, मैत्रीभाव आदि से विचलित हो जाता है। फिर वह अपने क्षणिक वैषयिक सुखों की प्राप्ति के लिए दूसरे प्राणियों की, यहाँ तक कि मनुष्यों तक की हिंसा, हत्या, पीड़ा, शोषण, शिकार कर बैठता है। वह उन्हें नाना प्रकार से त्रास देता है, गुलाम बनाता है, जला देता है, मारपीट करता है, प्रताड़ित करता है। समभाव से विचलित होकर ही वह असत्याचरण करता है, चोरी, ठगी, लूटपाट, डकैती आदि करता है, बलात्कार या व्यभिचार करता है, दूसरों के धन का अपहरण या अधिक धन-संग्रह के लिए दूसरों का शोषण, उत्पीड़न, जमाखोरी, मुनाफाखोरी, भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी आदि करता है। ये सब काले कारनामे उसी मिथ्यात्व की देन हैं। मिथ्यात्व के कारण ही वह जाति, कुल, बल, तप, श्रुत, वैभव, लाभ आदि का मद करके दूसरों का तिरस्कार करता है। मिथ्यात्व के कारण अहिंसा, संयम, तप आदि आत्म-धर्म को अधर्म समझता है। धनवृद्धि, प्रतिष्ठावृद्धि, यशकीर्ति-प्राप्ति आदि जो सांसारिक उपलब्धियाँ कर्मबन्ध की कारण हैं, मिथ्यात्व होने पर इनमें हिंसा, मद,

लोभ, क्रोध आदि कषायों में वृद्धि की कारण बन जाती हैं, उन्हें धर्म (कर्मक्षयरूप) के कारण समझता है। मिथ्यात्व के कारण ही मान्यताओं में टकराहट, संघर्ष, परमत-असहिष्णुता, वैर-विरोध अन्य धर्म-सम्प्रदायों के प्रति द्वेष, शत्रुता आदि समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। मिथ्यात्व के कारण ही सिर्फ आडम्बर, प्रपंच, प्रदर्शन, वाचालता, कोरी भाषण छटा आदि के कारण सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र न होने पर भी उक्त असाधुता के लक्षण वाले को साधु और साधुता के लक्षण वाले तथा सरल स्वभावी, समभावी, क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि दशविध श्रमणधर्म से युक्त साधक को असाधु समझा जाता है। अष्टविध कर्मों से लिप्त को मुक्त और अलिप्त को अमुक्त समझा जाता है मिथ्यात्व के नशे के कारण ही।

मिथ्यात्व के कारण समस्याएँ समझ में ही नहीं आतीं

मिथ्यात्व या मिथ्यादर्शन मोहनीय कर्म की प्रबल शक्ति है, जो मनुष्य को मूढ़ बना देती है, उसके ज्ञान, दर्शन, शक्ति, आनन्द आदि अन्य गुणों को आवृत, कुण्ठित एवं विकृत कर देती है। यह मिथ्यात्व ही है, जिसके कारण तीनों लोक के समस्त पदार्थों को, श्रेष्ठ वस्तुओं को अपना बना लेने, उन पर अपना आधिपत्य जमाने की धुन लगती है। उसकी तृष्णा अनन्त रूपों में फैल जाती है, उसकी प्यास कभी बुझती नहीं। मिथ्यात्व के प्रभाव से होने वाली अगणित अनिष्टकारी समस्याओं को जानते हुए भी वह नहीं जान पाता, देखते हुए भी नहीं देख पाता, सुनते हुए भी अनसुना कर देता है। जाति, कुल, बल, लाभ, तप, श्रुत (ज्ञान), ऐश्वर्य, सत्ता, धन आदि मद मिथ्यात्व के ही जनक हैं, जिनके कारण मनुष्य मदान्ध हो जाता है, सम्यक्त्व को तिलांजलि दे बैठता है। कितनी भयंकर समस्याएँ पैदा हो जाती हैं?

यह सब मिथ्यात्व के नशे का ही प्रभाव है

यह मिथ्यात्व-मद्य के नशे का ही प्रभाव है कि मनुष्य लोभान्ध, क्रोधान्ध, मायान्ध, मदान्ध एवं स्वार्थान्ध होकर अपने आत्म-स्वरूप को बिलकुल भूल जाता है। मिथ्यात्व के कारण ही उसे सुदेव, सुगुरु, सद्धर्म तथा सत्-शास्त्रों के प्रति श्रद्धा, रुचि, प्रतीति, स्पर्शना और पालना आदि होती ही नहीं। अपने जीवन में तप, संयम, अनासक्ति, सद्धर्माचरण आदि कर्मक्षयकारिणी बातें उसे सुहाती नहीं, इसके पीछे मिथ्यात्व-मद्य का नशा ही कारण है। तीव्रतम कषायों का भड़कना या अशुद्ध लेश्याओं का उत्तेजित होना आदि सब मिथ्यात्व-विषवृक्ष के ही फल हैं। गोशालक जब मिथ्यात्व के नशे में था, तब उसे कहाँ हिंसा-अहिंसा का, सत्य-असत्य का, सरलता और वक्रता का, सुश्रद्धा और कुश्रद्धा का, आशातना-अनाशातना का तथा विनय-अविनय का भान था?

स्वयं के सम्बन्ध में अज्ञानता ही मिथ्यादृष्टि है

वास्तव में जब मनुष्य स्वयं को नहीं देख पाता, तब ये और ऐसी सब समस्याएँ पैदा होती हैं। अर्थात् "मैं कौन हूँ? मैं मनुष्य-जीवन में कैसे आया? मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है? संसार के सजीव-निर्जीव पदार्थों के साथ मेरा क्या सम्बन्ध है? मेरी यह स्थिति क्यों और कैसे हुई? इन कर्मोपाधिक सम्बन्धों का अन्त कैसे हो? इत्यादि चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति अपने आप को नहीं देख पाता,[१] उसका कारण यही मिथ्यादृष्टि है। इसी का नाम अविद्या है।[२]

अविद्या का स्वरूप और मिथ्यादृष्टि से सदृशता

'योगदर्शन' में उसी को अविद्या कहा है। अविद्या का स्वरूप है—जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी न समझकर उससे विपरीत समझना। 'योगदर्शन' में अविद्या का विशद स्वरूप बताते हुए कहा गया है—"अनित्य (पदार्थों) में नित्य का ज्ञान होना अथवा अनित्य को नित्य समझना, अपवित्र को पवित्र समझना, दुःख (दुःखरूप) को सुख (सुखरूप) समझना तथा अनात्मा (देह आदि जड़ वस्तुओं) को आत्मा (सचेतन) समझना-जानना अविद्या है।"[३] जैन-कर्मविज्ञान में जो मिथ्यात्व का स्वरूप बताया गया है, वही लगभग 'अविद्या' का स्वरूप है। अविद्या से ही नाना दुःखमूलक समस्याएँ पैदा होती हैं। अविद्या के कारण ही जन्म-जरा-मृत्यु-व्याधियुक्त दुःखमय संसार में बार-बार परिभ्रमण करना पड़ता है। इसीलिए कहा गया है—जितने भी विविध अविद्याग्रस्त पुरुष हैं, वे सब अपने लिए दुःख उत्पन्न करते हैं और अनेक बार इस अनन्त संसार में मूढ़ बनकर जन्म को व्यर्थ नष्ट कर देते हैं।

बहुकर्मलिप्त मूढ़ व्यक्तियों को स्वरूप-बोध अतिदुर्लभ

मिथ्यात्व के कारण ही एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रियों को बिलकुल स्वरूप-बोध नहीं होता। पंचेन्द्रिय जीवों में भी असंज्ञी पंचेन्द्रियों को भी स्वरूप का बोध नहीं हो पाता। संज्ञी पंचेन्द्रिय में भी सभी देवों, नारकों, मनुष्यों और तिर्यंचों को यह आत्म-बोध नहीं होता है। किन्हीं विरले ही भाग्यशाली पंचेन्द्रिय जीवों को स्वरूप-बोध होता है।

---

१. तुलना करें—

(क) हुं कोण छुं, क्यांथी थयो, शुं स्वरूप छे मारूं खरूं?
कोना सम्बन्धे वलगणा छे, राखूं के ए परिहरूं?

(ख) के अहं आसी? के वा इओ-चुओ, इह पेच्चा भविस्सामि? ...... इहमेगेसिं णो सण्णा भवइ ...... । —*आचारांगसूत्र १/१/१*

२. तस्य हेतुरविद्या। —*पातंजल योगदर्शन, पाद २, सू. २४*

३. अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्य-शुचि-सुखात्म-ख्यातिरविद्या। —*वही २/५*

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की दृष्टि से मिथ्यात्व का दायरा

मिथ्यात्व की परिधि पाँचों आस्रवों में सबसे विस्तृत है, इसीलिए इसे १८ पापस्थानों में सर्वाधिक पापबन्ध का कारण और अन्तिम माना है। मिथ्यात्व के दायरे में द्रव्यता एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक सभी जीव आ जाते हैं। मिथ्यात्व का क्षेत्र भी बहुत विशाल है। इसका काल (स्थिति-सीमा) भी बहुत व्यापक है और इसके भाव (शुभाशुभ परिणाम) अथवा राग-द्वेष, कषायरूप अध्यवसाय-स्थान भी अनन्त हैं। यही कारण है कि मिथ्यात्व या मिथ्यादृष्टिरूप आस्रव से सबसे अधिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। कर्मों का सबसे अधिक आगमन या आकर्षण (आस्रव) मिथ्यादृष्टि से युक्त प्राणियों के जीवन में होता है।

मिथ्यात्व के कारण नाना दुःखोत्पादक समस्याएँ

यह सत्य है कि जब तक संसारी जीव के हृदयाकाश में मिथ्यात्व, मिथ्यादर्शन या मिथ्यादृष्टि के काले कजरारे बादल छाये रहते हैं, तब तक सचाई के सूर्य की रोशनी धूमिल रहती है। वह अपनी विपरीत समझ के अनुसार नई-नई समस्याएँ खड़ी करता रहता है; कर्मबन्धन में फँसता है और नाना प्रकार के दुःख प्राप्त करता है। भगवान महावीर ने भी इसी तथ्य की ओर इंगित किया है–

"जितने भी अविद्यावान् = मिथ्यात्वी पुरुष (आत्मा) हैं, वे सब अपने लिए दुःखों = समस्याजनित दुःखों को उत्पन्न करने वाले हैं। वे विविध प्रकार से मूढ़ बने हुए अनन्त संसार में बार-बार लुप्त होते = डूबते रहते हैं।[१] मिथ्यात्व अथवा अविद्या के कारण मूढ़ बना हुआ जीव संसार के मार्ग को धर्म और मोक्ष समझता है। वह जितनी भी शुभ या अशुभ क्रियाएँ करता है, वे सब संसारवर्द्धक होती हैं। वह पुण्य को धर्म अर्थात् शुभ कर्मबन्ध को कर्मक्षयकारक धर्म समझकर जो भी प्रवृत्ति करता है, वह संसारवृद्धि का कारण होने से अनेकानेक समस्याएँ खड़ी करता है। इसलिए जो संसारी जीव मिथ्यात्व में फँस जाते हैं, वे अपने लिए अनेक समस्याएँ, चिन्ताएँ, तनाव, उलझनें खड़ी कर लेते हैं।

वस्तुतः मिथ्यात्व मकड़ी के जाल के सदृश है

जैसे मकड़ी अपना जाल दूसरे जीवों को फँसाने के लिए बुनती है, किन्तु दूसरा जीव फँसे या न फँसे, स्वयं तो उसमें फँस ही जाती है, वैसे ही अविद्याग्रस्त जीव मिथ्यात्व का जाल बुनते हैं। वे इस जाल में मोहमूढ़ होकर अपने सुख के लिए परिवार, समाज, राष्ट्र आदि के जीवों को अपने मानकर फँसाते हैं। वे भ्रम

---

१. जावंतऽविज्जा-पुरिसा सव्वे ते दुक्खसंभवा।
लुंपंति बहुसो मूढा संसारम्मि अणंतए॥ *–उत्तराध्ययनसूत्र, अ. ६, गा. १*

में रहते हैं कि यह-प्रेम करता है, परन्तु वह मोहजाल में फँसाता है, धन, मकान, वाहन आदि विविध वस्तुओं का जाल बिछाकर अहंता-ममता बढ़ाता है, किन्तु वह मिथ्यात्वमोह के नशे में उन्हें सुखकारक समझकर स्वयं फँसता है और दूसरों को फँसाता है। अर्थात् सुखाभास को सुख समझकर अन्त में, उसी मिथ्यात्व जाल में, उन सजीव-निर्जीव वस्तुओं के नष्ट होने, वियोग होने या चुराये जाने पर आर्त्तध्यान करके दुःख पाता है, स्वयं जरा, मृत्यु एवं पुनः-पुनः जन्म आदि के दुःखों में डूबा रहता है। मिथ्यात्व का परिवार बुहत बड़ा है। यह हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं। संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय, भ्रान्ति, मूढ़ता, पूर्वाग्रह, हठाग्रह, मिथ्या मान्यता, एकान्त मान्यता, एकांगी विचार, विपरीत दृष्टि[1] आदि सब इसी मिथ्यादृष्टि के ही नाती-पोते हैं।

द्वितीय समस्याजननी : अविरतिरूप आस्रव

मिथ्यादृष्टि (मिथ्यात्व) के पश्चात् समस्याओं की जननी अविरति (असंयम) है। अविरति के कारण पाँचों इन्द्रियों के विषयसुखों की लालसा जागती है। विविध पदार्थों में वैषयिक सुख मानकर मनुष्य उन्हें अधिकाधिक पाने की इच्छा करता है, प्राप्त होने पर उन पर आसक्ति और ममता-मूर्च्छा रखता है और ऐसी आकांक्षा करता है कि ये वस्तुएँ या इन्द्रिय-विषय सदा-सदा के लिए मेरे पास रहें, मैं सदैव इन्हें भोगता रहूँ। अनुकूल पदार्थों या विषयों का वियोग होने और प्रतिकूल पदार्थों या विषयों का संयोग होने पर मनुष्य में विरति (त्याग, प्रत्याख्यान, यम, नियम, व्रत, तप आदि संकल्प की वृत्ति) न होने से अत्यन्त दुःखानुभव करता है। अविरति के कारण मनुष्य अपनी इच्छाओं, कामनाओं, वासनाओं, तृष्णाओं, लालसाओं पर संयम, नियंत्रण या विरति नहीं कर पाता। मनोज्ञ पदार्थों को पाने की प्यास, तृष्णा या लालसा इतनी अधिक बढ़ जाती है कि व्यक्ति अपने पर कंट्रोल नहीं कर पाता। इसी से परस्पर संघर्ष, वैमनस्य, वैर-विरोध, फूट, द्वेष, ईर्ष्या, कलह, क्लेश, अहंकार आदि समस्याएँ पैदा होती हैं, जो भयंकर अशुभ आस्रवों का कारण बनती हैं। अविरति के साथ मिथ्यादृष्टि के मिल जाने पर तो मनुष्य अपने आप को भूलकर अधिकाधिक समस्याओं को पैदा करके दुःख पाता रहता है। मिथ्यादृष्टि के साथ अविरति के मिल जाने के कारण अनुकूल विषयों या पदार्थों को पाने के लिए वह हिंसा-अहिंसा का, सत्य-असत्य का, ईमानदारी-बेईमानी का, नीति-अनीति का, काम्य-अकाम्य का और परिग्रह-अपरिग्रह का भान भूल जाता है और एक ही धुन रहती है मनोऽनुकूल पदार्थों को पाने की। उसकी यह पिपासा बुझती ही नहीं।[2]

---

१. 'जीवनयात्रा' (मुनि चन्द्रप्रभसागर) से भावांश ग्रहण, पृ. ४-५

२. 'अपने घर में' (युवाचार्य महाप्रज्ञ) से भावांश ग्रहण

अविरति आस्रव से ग्रस्त व्यक्ति में सत्तालिप्सा, पदलिप्सा, धनलिप्सा, राज्य-वृद्धिलिप्सा, तुच्छ-स्वार्थान्धता, पदार्थ-संग्रहलिप्सा आदि अधिकाधिक बढ़ती जाती है। इसके कारण जगह-जगह हिंसा, हत्या, दंगा, कलह, युद्ध, संघर्ष, बेईमानी, धोखेबाजी, आतंकवाद, उग्रवाद, भ्रष्टाचार, ठगी, लूट, बलात्कार, संग्रहखोरी, जमाखोरी आदि नाना प्रकार की समस्याएँ सिर उठाती हैं। व्यक्ति ईर्ष्या, द्वेष, वैर-विरोध आदि से अशान्त रहता है। उसमें तनाव का दौर बढ़ जाता है। चारित्रमोह का उदय होने पर व्यक्ति अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण नहीं कर पाता, न ही दूसरे के लिए-दुःखित-पीड़ित होता है। वह मैत्रीभाव की रट अवश्य लगाता है, किन्तु प्राणियों के प्रति मैत्री तो दूर की बात है, मनुष्यमात्र के प्रति भी मैत्रीभाव को ठुकराकर अवरति के प्रभाव से वह जातिभेद, प्रान्तभेद, राष्ट्रभेद, भाषाभेद, सम्प्रदायभेद, पंथभेद आदि नाना भेद-प्रभेद के बखेड़े खड़े करता है, परस्पर एक-दूसरे को लड़ाता है। 'धर्म खतरे में है' कहकर मनुष्यों के हृदयों में वैमनस्य पैदा कर देता है। समता की ओट में विषमता पैदा करता है, धर्मान्तर, सम्प्रदायान्तर आदि करके मानव-जाति में फूट के बीज बोता है। इसलिए अविरति आस्रव भी नाना समस्याओं, दुःखों, कर्मजनित कष्टों की खान है, समस्याओं का जनक है।

प्रमाद आस्रव : समस्याओं का विशिष्ट जनक

मिथ्यात्व और अविरति मिलकर जीव (आत्मा) के दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र की शक्ति को कुण्ठित और आवृत करते हैं। फिर प्रमाद आस्रव के मिल जाने से मद, उन्माद, विषयासक्ति, अजागृति, असावधानी, मूढ़ता, साधना में अविवेक, साधना के प्रति अनादर, शिथिलता, आचरण में ढीलापन आदि नाना समस्याएँ पैदा होती हैं। ये समस्याएँ आध्यात्मिक जीवन को अस्त-व्यस्त कर देती हैं। मनुष्य अहिंसा आदि सद्धर्म पर, समता और शमता के आत्म-धर्म पर, क्षमा आदि दशविध उत्तम धर्म पर अथवा सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रयरूप धर्म पर सुदृढ़, श्रद्धानिष्ठ, आचारनिष्ठ एवं मर्यादा-परायण नहीं रह पाता। इससे प्राणि-जीवन में, विशेषतः समग्र मानव-जाति के जीवन में संघर्ष, हिंसा, ईर्ष्या, द्वेष, वैर-विरोध आदि पनपते हैं।

कषाय आस्रव : समस्याओं का अचूक उत्पादक

प्रमाद आस्रव के मिल जाने से फिर चौथा कषाय आस्रव उत्पन्न होता है कषाय जब जीवन में आता है तो अहिंसादि की साधना-आराधना को ठप्प कर देता है, साधना की शक्ति को कुण्ठित कर देता है। फिर मनुष्य साधना करता हुआ भी दंभ, अहंकार, प्रवंचना, दूसरों से ईर्ष्या, पर-निन्दा, पैशुन्य, असंयम में रुचि,

संयम में अरुचि, साधनामार्ग में नाना आशंकाएँ, महत्त्वाकांक्षाएँ आदि विकारों से घिर जाता है। कभी-कभी तो वह इतने तीव्र क्रोध, अहंकार, माया या लोभ (आसक्ति) से घिर जाता है कि उस मोहान्धकार में मनुष्य व्रत-नियमों एवं मर्यादाओं को जानते हुए भी अनजान-सा बन जाता है, मूढ़तावश रूढ़िपूजक, स्थिति-स्थापक या गतानुगतिक बन जाता है। धर्म, जाति, परम्परा, शास्त्र या महापुरुषों के नाम पर अधर्म, हिंसा, पशुबलि, नरबलि, आगजनी, हत्याकाण्ड आदि का आचरण कर बैठता है। ये वे कषायजनित समस्याएँ हैं, जो मनुष्यों में क्रोध, द्वेष, अहंकार, घृणा, वैर-विरोध, ठगी, लोभवृत्ति, कामवासना की लिप्सा, भय, परस्पर अविश्वास, नाना प्रकार के संकट, शारीरिक-मानसिक दुःख, आधि, व्याधि, उपाधि आदि समस्याएँ पैदा करती हैं। कषाय के कारण घोर पापकर्म का बन्ध करके वह इस जन्म में और अगले जन्मों के लिए नाना दुःखोत्पादक समस्याएँ पैदा कर लेता है। तीव्र कषाय के कारण वह स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध में वृद्धि करके अपने लिए अनेक दुःखों का पहाड़ खड़ा कर लेता है, जन्म-जन्मान्तर तक वैर-परम्परा खड़ी कर लेता है।

समस्याओं की पंचम जननी : योगों की चंचलता

इन सब समस्याओं का प्रवाह तीव्र गति से बहता है मन, वचन और काया की चंचलता द्वारा। दूसरे शब्दों में कहें तो पूर्वोक्त कषायों से मन, वाणी और शरीर में चंचलता पैदा होती है, जिससे इन्द्रिय, मन, वाणी और शरीर के सभी अंगोपांग द्यूत, चोरी, डकैती, लूट, हत्या, माँसाहार, मद्यपान, वेश्यागमन, पर-स्त्री/पर-पुरुषगमन और शिकार, दंगा-फिसाद, पथराव, आगजनी आदि तमाम दुर्व्यसनोंरूपी अनिष्टों की ओर दौड़ लगाने लगते हैं। योगत्रय की चपलता से व्यक्ति में स्वयं को जानना-देखना तथा अपने अन्तर (आत्मा) में निहित अनन्त ज्ञानादि शक्तियों को भूल जाता है, स्व में, स्व-स्वरूप में रमण करने के बजाय पर-भावों और विभावों में ही प्रायः रमण करता है, आत्म-चिन्तन, आत्म-निरीक्षण, आत्म-शुद्धि, आत्म-भावना, आत्म-ध्यान आदि की ओर उसका ध्यान जाता ही नहीं। वह या तो बहिर्मुखी-बहिरात्मा होकर जीता है, अन्तरात्मा होने पर भी कषाय और योग आस्रवों पर तथा प्रमाद आस्रव पर पूर्णतया नियंत्रण नहीं कर पाता। इन्हीं कारणों से संसार में अगणित समस्याएँ पैदा होती हैं।

ये समस्याएँ पत्तों की समस्याएँ हैं, जड़ की नहीं

कुछ लोग कहते हैं, आज संसार में गरीबी की समस्या है, रोटी-रोजी, सलामती (सुरक्षा) और शान्ति की समस्या है, बेकारी और बेरोजगारी की

समस्याएँ हैं, जात-पाँत, छुआछूत आदि समस्याएँ हैं, क्या ये इन पंचविध आस्रवों की देन हैं? अथवा ये मुख्य समस्याएँ नहीं हैं? वास्तव में देखा जाए तो ये सारी समस्याएँ गौण हैं, मूल समस्याएँ नहीं हैं। ये समस्याएँ पत्तों की समस्याएँ हैं, जड़ की समस्याएँ नहीं हैं। वृक्ष का मूल सुरक्षित होता है तो पत्ते झड़ जाने के बावजूद भी पुनः पतझड़ के बाद वसन्त ऋतु आती है तो सारे पत्ते वापस आ जाते हैं। पत्तों की समस्या हल हो जाती है, वृक्ष हरा-भरा हो जाता है। ये मूल समस्याएँ नहीं हैं।

मूल समस्या क्या है ? उसको कैसे पहचानें ?

मूल समस्या यह है कि आज व्यक्ति अपने आप को जान-देख नहीं पाता है। अपने आप (आत्मा) को जब व्यक्ति सम्यक्रूप से जान-देख नहीं पाता, तभी ये सारी समस्याएँ पैदा होती हैं। अपने आप को नहीं जानने-देखने का तात्पर्य है–मैं कौन हूँ? दूसरा कौन है? मैं मनुष्य-जीवन में क्यों और कहाँ से आया? पूर्व-जन्म में मैं कौन था? मेरा शुद्ध वास्तविक स्वरूप क्या है? संसार के सजीव एवं निर्जीव पदार्थों के साथ मेरा क्या सम्बन्ध है? इनसे तथा मेरे शरीरादि से जो मेरा सम्बन्ध अभी है, वह त्याज्य है अथवा उपादेय है? मेरी यह स्थिति कैसे हुई? इसका अन्त कैसे करूँ? यह और इस प्रकार का आत्मा से सम्बन्धित चिन्तन ही वस्तुतः आत्मा को जानना-देखना है। व्यक्ति जब तक इस प्रकार से स्वयं को नहीं जानता-देखता या जानने-देखने का प्रयत्न नहीं करता, तब तक समस्याओं का अन्त आना असम्भव नहीं तो कठिनतर अवश्य है।[१]

अपनी आत्मा को अपने आप से देखो-परखो

भगवान महावीर ने यह नहीं कहा कि तुम्हारी समस्याएँ कोई दूसरी शक्ति, देवी-देव या ईश्वर आदि हल कर देंगे। उन्होंने कहा–तुम अपने आत्म-दर्पण में ही अपनी वृत्ति-प्रवृत्तियों का अवलोकन करो, आत्म-दर्पण में अवलोकन करने से तुम्हें अपना व्यक्तित्व स्पष्टतः प्रतिबिम्बित नजर आएगा। इसलिए श्रमण शिरोमणि भगवान महावीर ने कहा–"अपनी आत्मा को अपनी आत्मा से (आत्म-दर्पण में) देखो–सम्प्रेक्षण करो, भलीभाँति निरीक्षण-परीक्षण करो।"[२]

जो एक को जानता है, वह सर्व को जान लेता है

भगवान महावीर ने यह भी कहा कि "जो अकेले आत्मा को जानता है, वह संसार के समस्त जड़-चेतन पदार्थों को जान पाता है। अथवा जो समस्त पदार्थों को

---

१. 'अपने घर में' से भावांश ग्रहण

२. (क) संपिक्खए अप्पगमप्पएण। —*दशवैकालिकसूत्र, चूलिका* २, *गा.* १२

(ख) अप्पणा सच्चमेसेज्जा। —*उत्तराध्ययनसूत्र, अ.* ६, *गा.* २

जानता है, वह एक आत्मा को सम्यक् जान जाता है।" आत्मज्ञ ही वास्तव में संसार में उत्पन्न होने वाली समस्याओं को जान-देख पाता है और उनका हल भी आसानी से कर पाता है।[1]

मूल पाँच समस्याएँ आस्रव की पाँच पुत्रियाँ हैं

अतः मूल समस्या यह है कि आज व्यक्ति अपने आप (आत्मा) को सम्यक् जान-देख नहीं पा रहा है। उसके पीछे पूर्वोक्त पाँच कारण (आस्रव) या पाँच समस्याएँ काम कर रही हैं, जो आस्रव की पाँच पुत्रियाँ हैं—(१) मिथ्यादृष्टि, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय, और (५) योगत्रय की चंचलता। जैन-कर्मविज्ञान ने बताया है कि ये पंचास्रवरूप मूल समस्याएँ ही जन्म-जरा-मरण-रोगादिरूप दुःख हैं, दुःख की कारण हैं, दुःखों के विषचक्र को उत्तरोत्तर बढ़ाने वाली हैं। दुःखों के इस विषचक्र को रोका या तोड़ा नहीं जाएगा, तब तक न तो पारिवारिक समस्या हल होगी, न सामाजिक या राष्ट्रीय समस्याएँ ही हल होंगी और न आर्थिक, धर्म-सम्प्रदायिक या शारीरिक-मानसिक समस्याओं का निराकरण हो सकेगा।

क्या गरीबी, अभाव आदि के कारण ये समस्याएँ खड़ी होती हैं ?

कतिपय राजनैतिक मानस वाले लोगों का कहना है कि गरीबी, अशिक्षा, अभाव-पीड़ा एवं सामाजिक विषमता के कारण ही ये सब समस्याएँ खड़ी होती हैं; परन्तु गहराई से सोचा जाये तो यह कथन एकान्तिक है, एकांगी है, वास्तविक नहीं है। एक व्यक्ति करोड़पति है या अरबपति है, फिर भी वह अनैतिक धन्धे करता है, स्मगलिंग करता है, माल में या खाद्य पदार्थ में मिलावट करता है, बेईमानी करता है, संस्थाओं का या समाज के अमुक व्यक्तियों का धन हड़प जाता है, गरीबों का शोषण करता है, कर-चोरी, चुंगी-चोरी, आय-कर, सम्पत्ति-कर की चोरी करता है, दो नम्बर का धन्धा करता है, कई लोग तो चोरी-डकैती का धन्धा स्वयं करते-कराते हैं; क्या ये सब बुराइयाँ गरीबी, निर्धनता या अभाव-पीड़ा के कारण हैं? क्या ये लोग अभाव से पीड़ित होकर या रोजी, रोटी के अभाव में इन सब बुराइयों को अपनाते हैं? उत्तर होगा, नहीं। आज प्रायः धनिक एवं सम्पन्न व्यक्ति जितने अनैतिक और तुच्छ-स्वार्थी मिलते हैं, उतने गरीब आदमी बहुधा अनैतिक और तुच्छ-स्वार्थी नहीं मिलते। इसलिए मूल समस्या अभाव की, निर्धनता की या अन्य पीड़ा की नहीं है, किन्तु मूल समस्या है—लोभ की, अहंकार की, ईर्ष्या और क्रोध की, कामवासना की और विभिन्न प्रकार के भय की।

---

१. जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ।

—*आचारांगसूत्र, श्रु. १, अ. ३, उ. ४*

पूर्वोक्त समस्याओं का समाधान भी यथार्थ नहीं

वर्तमान शासनकर्त्ता या समाजशास्त्री अथवा समाजनेता इन मूल समस्याओं का समाधान न खोजकर या तो नारा लगाते हैं–गरीबी मिटाने का या अभाव-पीड़ितों को थोड़ी-सी राहत देकर उनका मुँह बंद कर देते हैं। समाजनेता भी समाज में पैदा हुई दहेज, प्रदर्शन, आडम्बर, खर्चीली प्रथाओं, विभिन्न कुरूढ़ियों एवं खोटे रीति-रिवाजों या अन्ध-विश्वासों जैसी समस्याओं का मूल न खोजकर उनको दबाने, उनकी भर्त्सना करने तथा उनके विरोध में समाचार-पत्रों में लेख लिखने या भाषण झाड़ने को ही उक्त समस्याओं का समाधान मान लेते हैं अथवा सरकार भी समाज में प्रदूषण फैलाने या दहेज, अभाव-पीड़ा, गरीबी आदि कुप्रथाओं के कारण हत्या, हिंसा, ठगी आदि अपराध करने वालों को थोड़ा-सा दण्ड देकर समस्या का समाधान समझ लेती है।

इस प्रकार ये विविध घटक समस्याओं के मूल का समाधान न खोजकर केवल पत्तों-पत्तों को सींचने जैसा काम करते हैं। ऐसा करने से न तो गरीबी एवं अनैतिकता की समस्या हल होती है, न ही विविध कुप्रथाएँ मिटती हैं। गलत रीति-रिवाज बाह्य समस्या बनकर बरकरार रहते हैं। निर्धनता की समस्या बनी रहती है। फलतः कुछ लोग अत्यधिक गरीब रह जाते हैं और कुछ लोग अत्यन्त धनाढ्य हो जाते हैं। अतः मूल समस्याओं का समाधान जब तक नहीं होगा, तब तक ये बाह्य समस्याएँ एक या दूसरे रूप में रहेंगी ही।

समाधान का स्रोत : संवर, उसके पाँच घटक

मूल समस्याएँ या समस्याओं के स्रोत पाँच हैं। उन आस्रवरूप समस्याओं के पाँच घटक हैं, वैसे ही संवररूप समाधान के भी पाँच घटक हैं। एक शब्द में दोनों को कहें तो–समस्या का स्रोत आस्रव है, तो समाधान का स्रोत है–संवर। समाधान के पाँच घटक ये हैं–(१) सम्यग्दृष्टि, (२) विरति, (३) अप्रमाद, (४) अकषाय, और (५) योगत्रय की चंचलता का अभाव।

मिथ्यादृष्टि से उत्पन्न समस्याओं का एकमात्र समाधान : सम्यग्दृष्टि

मिथ्यादृष्टिरूप आस्रव कितनी-कितनी दुःखद समस्याओं को उत्पन्न कर देता है, इस बात को हम पिछले पृष्ठों में समझा आए हैं। उन समस्याओं का समाधान है–सम्यग्दृष्टिरूप संवर। जब व्यक्ति का दृष्टिकोण सम्यक् हो जाता है, तब वह प्रत्येक मानसिक, वाचिक, कायिक प्रवृत्ति को आत्म-हित की, कर्मक्षय की या आगन्तुक कर्म-निरोध की दृष्टि से सोचेगा। उसमें स्वतः आत्मौपम्यभाव जागेगा, सर्वभूत-समता, सर्वपरिस्थिति-समभाव, सर्वपदार्थ-समभाव की दृष्टि से चिन्तन और जागरण स्वतः होगा।

अविरति से उत्पन्न समस्याओं का समाधान : विरतिरूप संवर

अविरतिरूप आस्रव से जो समस्याएँ होती हैं, उनको शान्त एवं समाहित करने के लिए विरतिरूप संवर को अपनाना उचित होगा। तप, त्याग, संयम, नियम, प्रत्याख्यान आदि के रूप में, एक शब्द में कहें तो विरतिरूप संवर के प्रकाश में उसके मन, बुद्धि, चित्त और हृदय में समभाव एवं शमभाव की ज्योति प्रस्फुटित होगी। उसके मन में सांसारिक पदार्थों एवं विषयों के प्रति निर्वेद (वैराग्यभाव) उत्पन्न होगा। संवेगभावना (कर्मों से सर्वथा मुक्तिरूप मोक्ष-प्राप्ति की तड़फन) जागेगी। जिससे पदार्थों को पाने की लालसा, ममता, मूर्च्छा, वासना, तृष्णा आदि कम होते जाएँगे। शरीर-निर्वाह के लिए वह जो भी लेगा, निःस्पृह; निर्लेपभाव से लेगा, यथा-लाभ सन्तोषवृत्ति धारण करेगा। उसके जीवन में शम, सम और आध्यात्मिक श्रम तीनों साकार होते जाएँगे। समता, शान्ति और सहिष्णुता जीवन में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होगी। आत्मौपम्य दृष्टि होने से हिंसादि पाँचों आस्रवों से स्वतः विरति होती जायेगी। उसमें संयम, यम, नियम, त्याग, तप, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग, व्युत्सर्ग या विसर्जन की स्वतः स्फूर्तभावना होगी।

अप्रमाद से अनेक समस्याओं का समाधान : कैसे और क्यों ?

जब दृष्टि सम्यक् होगी, विरति जीवन में आलोकित होगी, तो प्रमादरूप आस्रव से होने वाली समस्याएँ भी अप्रमादरूप संवर से घटती या बढ़ती जाएँगी। जागरूकता, सावधानी, आस्था, निष्ठा, प्रति क्षण जागृति, विवेक, यतना एवं अप्रमत्तता बढ़ेगी। वह प्रत्येक मानसिक, वाचिक, कायिक प्रवत्ति के समय कहीं भी कषायादिवश या राग-द्वेषवश पापकर्म का बन्ध न हो जाए, इसके लिए सतर्क रहेगा। अपनी दृष्टि, वृत्ति, निष्ठा, प्रवृत्ति, क्रिया आदि को प्रति क्षण टटोलता रहेगा कि कहीं वह विपरीत, असम्यक्, शिथिल या कर्मबन्धकारक अथवा पाप-कर्मबन्धक तो नहीं हो रही है? कहीं आर्त्त-रौद्रध्यान के प्रवाह में तो ध्यान नहीं बह रहा है? किसी दूसरे के प्रति ईर्ष्या, द्वेष, वैर-विरोध, छल-कपट, धोखाधड़ी, वंचना, मोह-ममता आदि की वृत्ति तो नहीं पनप रही है? अथवा स्व-भावों से हटकर पर-भाव अथवा कषायादि विभावों की ओर तो मनोवृत्ति नहीं दौड़ रही है? इस प्रकार अप्रमादरूप संवर की निष्ठा से व्यक्ति के जीवन में कषाय और नोकषाय से होने वाली तथा मिथ्यादृष्टि, प्रमत्तता और अविरति से होने वाली समस्त समस्याएँ शान्त व समाहित होते देर न लगेगी। कषायरूप आस्रव से होने वाली समस्याओं को रोकने और शान्त करने के लिए जब अकषाय-संवर उदित होगा तो स्वतः समाधान होने लगेगा। शक्ति का जागरण होने लगेगा। जब अप्रमाद अनुप्रेक्षा बढ़ेगी, तब जागरूकता भी बढ़ेगी। ऐसी स्थिति में अकषाय-संवर स्वतः

सम्पन्न होने लगेगा। फिर क्रोध, मान, माया, लोभ, अहंकार, ईर्ष्या, द्वेष, भय, काम, तृष्णा, चिन्ता, आसक्ति, घृणा, लालसा आदि कषाय-नोकषायजनित समस्याएँ कम हो जाएँगी, मिट भी सकती हैं। पदार्थ की लोलुपता मिट जाती है, तब ईर्ष्या, अहंकार, द्वेष आदि भाव स्वतः नहीं जागेगा।

योगत्रय की चंचलता कम होने पर ही आत्म-समाधि की सक्षमता

जब इन समस्याओं का समाधान हो जाता है, मन आत्म-तृप्ति और आत्म-संतुष्टि से भर जाता है, वृत्ति बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी हो जाती है, तब पंचम समाधान प्राप्त होता है–योगत्रय की चंचलता का अभाव। अर्थात् मन, वाणी और काया की जो उछलकूद है, बार-बार बाहर की ओर दौड़ है, वह कम हो जाती है। चंचलता कम हो जाने से व्यक्ति अपने आप को देखने-खोजने और आत्म-समाधि प्राप्त करने में सक्षम हो जाता है। संक्षेप में, पहली से लेकर पाँचवीं समस्या के जनकरूप आस्रवों का पंचविध संवर से समाधान हो जाता है।

सम्यग्दर्शन संवर से पंचविध उपलब्धियाँ

प्रथम आस्रव के समाधानरूप सम्यग्दर्शनरूप संवर से ही जब व्यक्ति का दृष्टिकोण सम्यक् हो जाएगा, तब उसमें प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पाभाव और आस्तिक्य (सत्यनिष्ठा) जाग्रत हो जाएगा। मानसिक, वाचिक, कायिक शान्ति होगी, मोक्ष (कर्ममुक्ति) के प्रति तीव्रता जागेगी, वैराग्य एवं अनासक्तिभाव दृढ़ होगा, पदार्थों के प्रति तृष्णा, लालसा कम होने लगेगी, समस्त जीवों के प्रति अनुकम्पा-भाव जागेगा और सत्यनिष्ठा प्रबल हो जाएगी।

संसारी जीवन में आस्रव रहेगा : संवर ही उसे रोकने का उपाय है

यद्यपि जब तक यह जीवन है, तब तक आस्रव है, उसके अस्तित्व को सर्वथा समाप्त नहीं किया जा सकता। वह अपाय है, समस्या है, आत्मा के लिए। प्रति क्षण शुभ-अशुभ कर्म-पुद्गल इस आस्रवद्वार से आत्मा में प्रविष्ट हो रहे हैं। भीतर जाकर चेतना पर अपना प्रभुत्व जमा रहे हैं। आत्मा के न चाहने पर भी वैसा सब कुछ घटित होता रहता है। यही अपने आप में एक बड़ी समस्या है। आध्यात्मिक क्षेत्र में इस समस्या के निवारण का उपाय खोजा गया। अध्यात्म के धुरन्धर महर्षियों ने कहा–संवर ही एकमात्र मार्ग है, आस्रवरूप समस्या के समाधान का, इस महान् अपाय को रोकने का। जो आस्रव सतत प्रवहमान है, उसे रोकना ही संवर है। जो कूड़ा-करकट जिस आस्रवरूप द्वार से भीतर (अन्तर) में आ रहा है, उस द्वार को बन्द कर देना ही संवर है।

आस्रव और संवर : अपने हाथ में

लोक-व्यवहार में देखा जाता है कि मकान में आने और जाने के दो द्वार नहीं होते। जिस द्वार से भीतर आया जा सकता है, उसी द्वार से बाहर जाया जा सकता है। चढ़ने और उतरने के दो सोपानमार्ग भी नहीं होते। जिन सीढ़ियों से ऊपर चढ़ा जा सकता है, उन्हीं सीढ़ियों से नीचे उतरा जा सकता है। ऊपर अच्छा भी चढ़ सकता है और बुरा भी। इसी प्रकार भीतर अच्छा भी आ सकता है और बुरा भी। जब तक मकान रहता है, तब तक द्वार और सोपान भी रहेंगे। उन्हें मिटाया या रोका नहीं जा सकता। इसी प्रकार जब तक जीवन है, तब तक आस्रवद्वार भी रहेंगे। यह तो आत्मा पर निर्भर है कि वह इस द्वार से आस्रवों का प्रवेश करने दे या उन्हें आते हुए रोके, प्रवेश करने न दे। जीवन के सोपान से संवर के द्वारा ऊर्ध्व-आरोहण करे, उस सोपान से अधः-अवरोहण न करे–आस्रव द्वारा अधःपतन न होने दे आत्मा का। इसी दृष्टि से श्रमण भगवान महावीर ने कहा–"**जे आसवा ते परिसवा, जे परिसवा ते आसवा।**"[1]–जो आस्रव हैं, वे परिस्रव हैं; जो परिस्रव हैं, वे आस्रव हैं। जिन द्वारों से कर्म आते हैं, कर्मबन्धन होते हैं, उन्हीं द्वारों से कर्मों का संवर होता है, निर्जरा (कर्म-निर्गमन) होता है। बन्धन और मुक्ति के द्वार दो नहीं हैं। जिन द्वारों से बन्धन आते हैं, उन्हीं द्वारों से मुक्ति प्राप्त होती है, बशर्ते कि आत्मा सावधान रहे, जाग्रत रहे, अपने आप को जाने, आत्म-भावों से बाहर न जाने दे, पर-भावों में जाने से आत्मा को रोके। इसीलिए निश्चयदृष्टि से कहा गया–"**आया सामाइए, आया संवरे, आया संयमे, आया पच्चक्खाणे।**"[2] अर्थात् आत्म-दर्शन ही सामायिक है, वही संवर है, वही संयम है, वही प्रत्याख्यान है।

इसी प्रकार के आत्म-दर्शन से मन-वचन-कायरूप संवर सध जाते हैं। समस्याओं का निवारण हो जाता है।

समस्याओं का एक और समाधान : रत्नत्रय-साधना

अतएव मुमुक्षु और आत्मार्थी जीवों को आस्रवों से उत्पन्न होने वाली समस्याओं का एक समाधान जैनाचार्यों ने सम्यग्ज्ञान-सम्यग्दर्शन-सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय को भी माना है। पहला है–सम्यग्ज्ञान, दूसरा है–सम्यग्दर्शन और तीसरा है–सम्यक्चारित्र। अर्थात् समस्याओं का समाधान करने के लिए पहले जानो, अर्थात् अपने आप को और पर-भावों–विभावों को जानो, उसके बाद जानी हुई वस्तु पर श्रद्धा करो, उस सम्यग्ज्ञान वस्तु पर आस्था-निष्ठा करो, उसके पश्चात्

---

१. आचारांगसूत्र, श्रु. १

२. भगवतीसूत्र

ज्ञात और दृष्ट = अनुभूत वस्तु में से उपादेय को आचरित = क्रियान्वित करो। जब इन तीनों का समन्वय होता है, तभी सर्व समस्याओं का समाधान हो जाता है, यह परमसमाधि का, सर्वकर्ममुक्ति का मार्ग है। पंचविध संवर में इन तीनों या सम्यक्तप सहित चारों का समावेश हो जाता है। 'उत्तराध्ययनसूत्र' में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप, इन चारों को मिलकर मोक्ष का मार्ग माना है। मोक्ष या मुक्ति का वास्तविक अर्थ है–मोहकर्म का सर्वथा नष्ट हो जाना, कषायों का समाप्त हो जाना, आस्रवों का पूर्णतया अभाव हो जाना।[1]

तात्पर्य यह है–समाधान का रत्नत्रय या सम्यक्-चतुष्टयरूप मार्ग है। यही समस्त आस्रवों से मुक्ति का मार्ग है। इसमें सर्वप्रथम सम्यग्ज्ञान करना होता है, यानी अपने आप को सम्यक् प्रकार से सभी पहलुओं से, भलीभाँति जानना होता है। जो अपने आप को नहीं जानता, वह आत्म-बाह्य बहुत-सी बातें जानकर भी नहीं जानता या अत्यन्त अल्प जानता है। जो अपने आप को सम्यक् प्रकार से जानता है, वह बहुत-सी अन्य बातों को न जानकर भी बहुत जान लेता है। यही अन्तर्दृष्टि को जगाने, अन्तर्मुखी बनने की आसान पद्धति है। जब अपना ज्ञान आत्मा के साथ ओतप्रोत हो जाता है, तब व्यक्ति आत्म-बाह्य ज्ञान को–पुस्तकीय ज्ञान को पढ़े बिना भी सब कुछ जान लेता है। उसकी अन्तर्दृष्टि खुल जाती है। केवल जान लेने मात्र से समस्या का समाधान नहीं होता, इसलिए जानने के साथ उस पर दृढ़ आस्था का होना जरूरी है। तात्पर्य यह है–ज्ञान का अनुभवयुक्त हो जाना अनिवार्य है। केवल जानने और अनुभव करने में बहुत अन्तर होता है। एक व्यक्ति शास्त्रों से, पुस्तकों से या ग्रन्थों से किसी तत्त्व या तथ्य को जान लेता है, परन्तु जब तक वह उस तथ्य का स्वयं अनुभव नहीं कर लेता, तब तक जानी हुई वस्तु अपूर्ण रह जाती है। इसलिए सम्यग्ज्ञान के साथ सम्यग्दर्शन का होना आवश्यक माना है। इन दोनों के होने पर भी जब तक उक्त ज्ञान या दृष्ट वस्तु आचरित नहीं की जाती, तब तक आस्रवों से मुक्ति नहीं होती, समस्याओं से पूर्ण समाधि (समाधान) नहीं प्राप्त होती।

समस्या को असली रूप में पकड़ने पर ही समाधान सही मिल जाता है

परन्तु समस्या तो तब उलझती जाती है, जब व्यक्ति किसी भी सजीव या निर्जीव पदार्थ को सम्यक् प्रकार से सभी पहलुओं से जानना नहीं चाहता। वह पुस्तकों को, ग्रन्थों को पढ़कर अथवा किसी से सुनकर जानकारी तो कर लेता है, परन्तु वह जानकारी आत्मा = शुद्ध आत्मा से सम्बन्धित, उसके साथ ध्येयानुकूल नहीं होती। जानना सम्यग्ज्ञान तभी बनता है, जब जानने के साथ उस वस्तु की

---

१. 'अपने घर में' से भावांश ग्रहण

हेयता, ज्ञेयता और उपादेयता, उसके साथ मेरा कितना, क्या और किस प्रकार का सम्बन्ध है? इस बात को जानना ही वास्तव में आचार-समन्वित विचार है। आद्य शंकराचार्य ने इसी तथ्य का समर्थन करते हुए कहा है–

"कोऽहं, कथमिदं जातं, को वै कर्त्ताऽस्य विद्यते ?

उपादानं किमस्तीह ? विचारः सोऽयमीदृशः॥"

–मैं कौन हूँ? यह शरीरादि कैसे हुए हैं? इनका कर्त्ता कौन है? यहाँ उपादान क्या है? इसके साथ मेरा (आत्मा का) क्या सम्बन्ध है? इस प्रकार का विचार ही वास्तविक विचार (आत्म-चिन्तन) है।

अध्यात्म-साधक श्रीमद् राजचन्द्र जी के शब्दों में देखिये–

"हुं कोण छुं ? क्यांथी थयो ? शुं स्वरूप छे मारूं खरूं ?

कोना सम्बन्धे वलगणा छे ? राखूं के ए परिहरूं ?"

–कौन, कहाँ से, क्या स्वरूप है मेरा? मेरा किसके साथ संयोग सम्बन्ध होने पर भी आसक्ति है? इस सम्बन्ध को रखूँ या छोड़ दूँ?

इस प्रकार जो अपने आप को भलीभाँति जान लेता है, उसका ज्ञान आत्मगत तथा अनुभूत हो जाता है, वह थोड़ा-सा जानकर भी बहुत जान लेता है। उसकी अन्तर्दृष्टि खुल जाती है। ज्ञान की असीम शक्ति का द्वार खुल जाता है। वह ज्ञाता-द्रष्टा बनकर सभी समस्याओं का समाधान सहज ही प्राप्त कर लेता है। ऐसे ज्ञान के साथ जब दर्शन होता है, आस्था दृढ़ हो जाती है, ज्ञात वस्तु अनुभव की कोटि में आ जाती है। वही अनुभव आचरण में आ जाने पर तमाम समस्याओं का समाधान हो जाता है। तब कषाय और राग-द्वेष के संस्कार समाप्त होने लगते हैं। वर्तमान में ही उसे आंशिक मुक्ति (कर्मों का अंशतः क्षय) मिल जाती है। संक्षेप में संवर और निर्जरा की साधना समस्या के समाधान का अन्तिम उपाय है। भगवान महावीर ने यही मूलग्राही दृष्टि दी है। मूल को पकड़ो, उसे तोड़ो, तब सभी समस्याएँ एक झटके में सुलझ जाएँगी। इस प्रक्रिया से समस्या का मूलस्तरीय समाधान मिल जाने पर सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, साम्प्रदायिक या मानवता की अन्यान्य समस्याएँ भी इन्हीं दो तत्त्वों (संवर और निर्जरा) से समाहित हो सकेंगी। समस्या के प्रति सही दृष्टिकोण को अपनाने पर इन्हीं दोनों के परिप्रेक्ष्य में शीघ्र समाधान मिल सकता है।

● ●

६

पहले कौन? संवर या निर्जरा

पहले क्या करें ?

किसी अनुभवी से पूछा जाए कि सनसनाती हुई सख्त ठंडी हवा सौ माइल की गति से चल रही हो, उस समय पहले क्या किया जाना चाहिए? क्या पहलवान बनकर सर्दी की तासीर बदल डालना चाहिए और कमरे के दरवाजे, खिड़कियाँ खुली रहने देनी चाहिए? अथवा पहले कमरे के दरवाजे, खिड़कियाँ बंद करके फिर दवा लेकर शरीर को सर्दी बर्दाश्त करने के काबिल मजबूत बनाने का अभ्यास करना चाहिए? ऐसी स्थिति में दूरदर्शी और समझदार व्यक्ति तो यही कहेगा कि सर्वप्रथम कमरे की खिड़कियाँ और दरवाजे बंद कर देना चाहिए, ताकि ठंडी हवा से शरीर की रक्षा हो सके, उसके पश्चात् शरीर को सर्दी-गर्मी सहन करने जैसा सुदृढ़ बनाने की साधना करनी हितावह रहेगी। क्योंकि ठंडी हवा भले ही मजबूत शरीर वाले की कुछ भी क्षति न कर सके, परन्तु जिसका शरीर अभी कमजोर है, सर्दी-गर्मी सहन करने में सक्षम नहीं है, उसे तो सख्त ठंडी हवा से बचना जरूरी है।

पहले आस्रवों का निरोध

इसी प्रकार आज जबकि चारों ओर से सनसनाती हुई मिथ्यात्व, हिंसादि अविरति, प्रमाद, कषाय एवं मन, वचन, काय के अशुभ योग की सख्त ठंडी हवाएँ चल रही हों, ऐसे समय में निश्चिन्त होकर सर्वसाधारण मानव को सीना तानकर आस्रवों के विरोध में पहले ही स्वयं की आत्मा को सुदृढ़ एवं सुरक्षित मानकर खड़े रहना चाहिए, यानी उन मिथ्यात्व, अविरति आदि-आदि को निश्चिन्त होकर प्रवेश करने देना चाहिए? अथवा पहले उन आस्रवों का तत्काल निरोध करना चाहिए; ताकि वे आस्रव बेधड़क होकर निर्बल मन वाले जीव पर हावी होकर उसके जीवन में प्रविष्ट न हो जाएँ? स्पष्ट है कि कर्ममुक्ति का बाहोश साधक पहले तीव्र वेग से आने वाले आस्रवों का निरोध करेगा, क्योंकि वह जानता है कि सर्वप्रथम आते हुए आस्रवों को रोके बिना उन्हें बाद में पछाड़ डालने

की पहलवानी का काम बहुत ही दुष्कर है। उसमें सफलता न मिलने से, केवल क्रियाकाण्डों के बल पर आने वाले कर्मास्रवों का सामना करना भी सम्भव नहीं होगा। अतः पहले आस्रवों का निरोधरूप संवर करना ही हितावह है।

पहले अशुभ कर्म-प्रवाह को रोकना होगा

शरीर में जब कोई रोग हो जाता है तो चिकित्सा के लिए पहले चिकित्सक बीमारी को बढ़ने से रोकने का उपाय करता है। दूसरी बीमारियाँ शरीर में घुसने न पायें, अन्य व्याधियों के जर्म्स (कीटाणु) शरीर में न बढ़ें, इसका उपाय सबसे पहले करके ही फिर चिकित्सक शरीर में पहले से प्रविष्ट रोग के कीटाणुओं को नष्ट करने या हटाने की चिकित्सा करता है। इसी प्रकार कर्ममुक्ति की अध्यात्म-साधना में अन्तर-शुद्धि की भी दो प्रक्रियाएँ हैं–एक है–प्रति क्षण आते हुए अशुभ कर्मों के प्रवाह को रोकना, जिसे संवर कहते हैं; दूसरी है–तत्पश्चात् भीतर में जो अशुभ कर्मजल भरा है, उसे निकालकर बाहर फेंकना, जिसे निर्जरा कहते हैं।

प्रथम संवर, फिर निर्जरा उपादेय है

इन आन्तरिक शुद्धि या आत्म-शुद्धि के अथवा कर्ममुक्ति के द्विविध उपायों में से विवेकी साधक सर्वप्रथम मन-वचन-काय-गुप्ति द्वारा सर्वप्रथम पाप-प्रवाह को रोकता है, उनका निरोध करता है। पापास्रव का संवरण करने के पश्चात् ही वह बाह्याभ्यन्तर तप द्वारा आत्मा में प्रविष्ट कर्ममल को निकालकर बाहर फेंकता है। पूर्वबद्ध कर्मों को समभाव से भोगकर नष्ट कर देता है। इसलिए आत्म-शुद्धि की ये दोनों प्रक्रियाएँ छद्मस्थ साधक के लिए क्रमशः उपादेय हैं।[१]

अतः विवेकी साधक को पहले नये आते हुए कर्मों के निरोधरूप संवर करने के साथ ही क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि दस धर्म, समिति, गुप्ति, परीषहजय, चारित्र-पालन एवं बाह्याभ्यन्तर तप आदि के सतत अभ्यास से पूर्वकृत संचित कर्मों की निर्जरा करके आत्मा को शुद्ध और पुष्ट करना चाहिए।

जैनागमों द्वारा संवर को प्राथमिकता देने का सयुक्तिक समाधान

जैन-कर्मविज्ञान में कर्मबन्ध के उच्छेद की दो विधियाँ प्रतिपादित की गई हैं। पहली विधि के द्वारा नये आते हुए कर्मों के बन्ध को रोका जाता है, इसे कर्मविज्ञान की भाषा में संवर कहा गया है। दूसरी विधि के द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों को आत्मा से अपने विपाक (कर्मफल भोग) से पूर्व ही बाह्याभ्यन्तर तप आदि के द्वारा पृथक् कर दिया जाता है। इसे कर्मविज्ञान की भाषा में 'निर्जरा' कहा जाता है।

---

१. 'आगममुक्ता' (उपाध्याय केवल मुनि) से भावांश ग्रहण, पृ. २१३

कर्मविज्ञान विशारद आचार्यों का कथन है कि कर्मबन्धोच्छेद के प्रसंग में संवर के पश्चात् निर्जरा करने से साधक कर्म से सर्वथा मुक्ति प्राप्त कर सकता है। संवरविहीन निर्जरा प्रायः निरर्थक हो जाती है। 'भगवती आराधना' में इसी तथ्य का समर्थन करते हुए कहा गया है कि "जो मुनि संवरविहीन है, उसके कर्मों का क्षय केवल तपश्चरण से नहीं हो सकता।" एक उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट समझा जा सकता है—किसी तालाब के पानी को खाली करना हो तो पहले उन नालों को बंद करना पड़ता है, जिनसे तालाब में पानी आता है। अगर वैसा न करके केवल तालाब के अन्दर का पानी ही बाहर निकाला जाए तो नालियाँ खुली होने से बाहर से जल-प्रवाह अन्दर आता ही रहेगा, वह रुकेगा नहीं। फलतः तालाब सूखेगा नहीं। अतः पहले नये आते हुए जल-प्रवाह को बन्द करना (रोकना) अनिवार्य है; तत्पश्चात् अन्दर का पानी किसी यंत्र-विशेष से बाहर निकाला जाता है। ऐसा करने से ही तालाब का सारा पानी खाली हो सकता है। इसी प्रकार आत्मा के साथ बँधे हुए कर्म के उदय में आने पर कर्मबन्ध का उच्छेद करने के लिए पहले बाहर से नये आते हुए कर्म को रोकना (आस्रव-निरोधरूप संवर करना) अनिवार्य है, तत्पश्चात् पूर्वबद्ध कर्मों की (जो सत्ता में आत्मा में पड़े हैं) निर्जरा करने से आत्मा कर्मों से रहित हो सकती है। इसलिए पहले संवर को छोड़कर निर्जरा की जाएगी तो उधर से पुराने बँधे हुए कर्म छूटेंगे नहीं और इधर से नये कर्मों का जत्था भर्ती होता जाएगा। आत्मा कर्मविहीन या कर्ममुक्त कभी न बन सकेगी; आत्मा कर्मों का सर्वथा उच्छेद नहीं कर सकेगी।[१]

'तत्त्वार्थ राजवार्तिक' में बताया गया है कि शत्रुसेना से नगर की सुरक्षा करने के लिए पहले नगर की भलीभाँति घेराबंदी कर दी जाती है, ताकि शत्रुसैन्य बाहर से नगर में प्रवेश न कर सके। तत्पश्चात् पहले से जो शत्रुसैनिक नगर में घुस चुके हैं, उनका सामना करके बाहर खदेड़ा जाता है। इसी प्रकार आत्मारूपी नगर में नये घुसने वाले कर्मशत्रुओं को गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, चारित्र, परीषह-विजयरूपी हथियारों से लड़कर उन्हें रोका जाता है। इस प्रकार मन-वचन-काया एवं इन्द्रियों को संवृत कर देने से आत्मा में आने वाले नये कर्मों का प्रवाह रुक जाता है। यही संवर है। तत्पश्चात् पहले से आत्मा में प्रविष्ट कर्मों को तप आदि से आत्मा से पृथक् करना (निर्जरा करना) उचित है।[२]

जैसे युद्ध के मोर्चे पर खड़ा हुआ सैनिक पहले विपक्ष—शत्रुपक्ष के योद्धाओं को अपने समरांगण की सीमा में आने से रोकता है, उसके पश्चात् पहले से घुसे हुए

---

१. (क) 'भगवती आराधना' (आचार्य शिवकोटि) से भावांश ग्रहण

(ख) आस्रवनिरोधः संवरः। —*तत्त्वार्थसूत्र, अ. ९, सू. १*

२. तत्त्वार्थ राजवार्तिक १/४/११ तथा ९/१

शत्रुपक्ष के सैनिकों का सामना करके उन्हें खदेड़ देता है अथवा उनसे लड़कर समाप्त कर देता है या पस्तहिम्मत करके उन पर विजय प्राप्त कर लेता है।

इसी प्रकार संवर और निर्जरा के द्वारा आत्मा को शुद्ध, सुदृढ़ और विजयी बनाने के लिए उद्यत साधक पहले नये आते हुए कर्मशत्रुओं (आस्रवों) को विविध तद्‌योग्य संवर द्वारा रोकता है। कर्म या कर्मबन्ध या कर्मास्रव के पंच मुख्य कारणों में से किसी आस्रव को आते हुए देखकर एकदम एलर्ट (सतर्क) हो जाता है। उस समय जरा-सी भी गफलत साधक के लिए नुकसानदेह हो जाती है।

गलत पटरी पर आती हुई ट्रेन सर्वप्रथम रोकी जाती है

जैसे धड़धड़ाकर गलत पटरियों पर आती हुई ट्रेन को पेटवान उसकी पटरी न बदले या उसे लाल झंडी बताकर रोकने का तुरन्त प्रयत्न न करे तो सामने से उसी पटरी पर आती हुई ट्रेन से भिड़ंत होकर भयंकर एक्सीडेंट हो सकता है। इसी प्रकार आस्रवों से लदी हुई तीव्र गति से आती हुई गंदगी की ट्रेन को सतर्क होकर बाहोश आत्मा रोके नहीं या उसे शुद्ध संवर या शुभ योग-संवर की पटरी पर लगाए नहीं तो आत्म-गुणों से टकराकर वह आस्रवयान बहुत खतरा पैदा कर सकता है।

निष्कर्ष यह है कि नये आते हुए अशुभ कर्मों को या शुभ कर्मों को भी रोकने की पहले पहल की जाए, उसके साथ ही पहले से संचित पूर्वबद्ध कर्मों को क्षय करने के लिए सतत पुरुषार्थ किया जाए, क्षमादि दस धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, उपसर्ग-सहन, चारित्र-पालन तथा बाह्याभ्यन्तर तप आदि के द्वारा आत्मा को सुदृढ़, परिष्कृत, शुद्ध, निर्मल एवं आत्म-गुणों से समृद्ध बनाकर आत्मा में पहले से घुसे हुए शुभाशुभ कर्मों को खदेड़ा जाए। तभी संवर और निर्जरा सच्चे माने में हो सकेंगे।

पहले नये आते हुए पानी को रोकना जरूरी है

एक इंजीनियर ने एक पुराने तालाब को सुखाकर शुद्ध करने का ठेका लिया। उसने देखा कि तालाब में पानी आने के नाले खुले हुए हैं, नया पानी दबादब तालाब में प्रविष्ट हो रहा है। अतः तालाब में पहले से प्रविष्ट कीचड़ से भरे गंदे पानी को वह पहले निकालेगा या नये आते हुए पानी को रोकने और बंद करने का काम पहले करेगा ? स्पष्ट है कि बुद्धिमान् इंजीनियर पहले नये आते हुए पानी को प्रविष्ट होने से रोकता है। तत्पश्चात् वह पहले से तालाब में घुसे हुए कीचड़ मिले गंदे पानी को मजदूरों द्वारा विविध औजारों से बाहर निकालने का कठोर श्रम करेगा। तभी तालाब साफ, सूखा और परिष्कृत हो सकेगा। यही वह इंजीनियर करता है।

इसी प्रकार कोई आत्म-शुद्धि-साधकरूपी इंजीनियर आत्मारूपी सरोवर में पहले से जमा कर्मरूपी कीचड़ को हटाकर, उसका पानी निकालकर उसे शुद्ध, स्वच्छ (कर्ममल से रहित), शुष्क करना चाहता है, तो उसे सर्वप्रथम उक्त आत्म-सरोवर में को प्रविष्ट करने देने वाले आस्रवरूपी नालों को बंद करना = रोकना होगा। उसके पश्चात् पहले से जमे हुए कर्मरूपी कीचड़ और (कषायों की) गंदगी को दूर करने के लिए साधना के इहलौकिक-पारलौकिक दोषों से दूर रहकर बाह्याभ्यन्तर तप, परीषह-विजय, समिति-गुप्ति, दशविध उत्तम धर्म या रत्नत्रयरूप धर्म, अनुप्रेक्षा आदि की साधना करनी होगी।

निष्कर्ष यह है कि जब तक पहले आस्रवरूपी नालों को बन्द (निरोध) करके बाहर से आने वाले कर्मजल के प्रवाह को रोका (संवर) नहीं (किया) जाएगा; तब तक आत्म-शुद्धि (आन्तरिक कर्मपंक आदि के निष्कासन द्वारा) रूप निर्जरा (कर्मक्षय) की साधना का कोई अर्थ नहीं रहेगा।

हरिकेशबल मुनि के पूर्वबद्ध अशुभ कर्मों का उदय चल रहा था, उसके कारण दीक्षा लेने से पूर्व और पश्चात् भी स्थूलदृष्टि-परायण आम जनता उनका तिरस्कार, अपमान, दोषारोपण, बहिष्कार, असहकार आदि करती थी; किन्तु हरिकेशबल मुनि दीक्षा लेते ही सर्वप्रथम एक ओर से इन सबकी कोई भी परवाह किये बिना मन, वचन, काया से किसी प्रकार की प्रतिक्रिया बिना संयमपथ पर चलते रहे, दूसरी ओर से उन्होंने पूर्वबद्ध अशुभ कर्मों के फल को उदय में आने पर समभाव से भोगा, उत्कृष्ट बाह्याभ्यन्तर तप:साधना करके उन कर्मों की उदीरणा करके उन्हें क्षय किया। अनेक लब्धियाँ, उपलब्धियाँ तप के प्रभाव से प्राप्त होनें पर भी उन्होंने न तो उनका प्रदर्शन किया और न अहंकार, क्रोध, लोभ, रोष, द्वेष, वैर-विरोध आदि किया। इस कारण कर्मनिर्जरा की गंगा अविरत अबाध गति से चलती रही और एक दिन वह महाभाग महान् आत्मा संसार के जन्म-मरणादि के चक्र में फँसाने वाले कर्मों से सर्वथा रहित सिद्ध-बुद्ध हो गए। यह था—संवरपूर्वक निर्जरा के द्वारा कर्मों से मुक्ति आत्मा की पूर्ण शुद्धि का क्रम। अतः किसी भी कर्ममुक्ति के साधक को संवरपूर्वक निर्जरा की साधना से ही सफलता मिल सकती है।

सहसा पहले संवर और फिर निर्जरा कैसे करें ? एक उदाहरण

एक उदाहरण द्वारा इसे और स्पष्ट कर दूँ—एक समभावी साधु था। उसकी परीक्षा करने के लिए एक अपरिचित व्यक्ति ने पहले उसे बहुत गालियाँ दीं—"तू नीच है, आचारहीन है, मूढ़ है, स्वार्थी है, धर्म-कर्म का विवेकी नहीं है, उदरम्भरी है।" दूसरा होता तो तुरन्त उसके मन में प्रतिक्रिया होती, वचन से वह आवेशवश होकर उसका प्रतिवाद करता, काया से भी सम्भव है, उसके साथ लड़ पड़ता या

गुत्थमगुत्था हो जाता अथवा अपने हाथ में पकड़ी हुई लाठी से उस पर दे मारता। किन्तु वह साधु संवर-निर्जरारूप शुद्ध धर्म को जीवन में पचाये हुए था। उसने कहा–"हाँ, भाई ! तुम कहते हो, वह सत्य है।" उसके पश्चात् गाँव में प्रवेश करते समय धर्म-प्रेमी भाई-बहन उनका स्वागत करने आये और "महात्मा पुरुषों की जय ! अमुक साधु की जय हो, आप क्षमाशील हैं, दया के अवतार हैं, छह काया के प्रतिपाल हैं, आपका तप, संयम उत्कृष्ट है।" इस प्रकार प्रशंसा करने लगे। तब उक्त संत ने कहा–"तुम लोग कहते हो, यह भी सत्य है।" निन्दा और प्रशंसा दोनों ही परिस्थितियों में उन्होंने मन-वचन-काया पर संयम रखा, संवर को ही सर्वप्रथम अपनाकर क्रोध और अहंकार से आते हुए कर्मास्रव को एकदम रोक दिया। यह देखकर उस निन्दक व्यक्ति को बड़ा आश्चर्य हुआ महात्मा जी के इस अनोखे व्यवहार पर। सबके चले जाने के बाद उसने एकान्त में उक्त महान् संत से पूछा– "मैंने आपको गालियाँ दीं, तब आपने कहा–तुम्हारा कहना सत्य है और आगन्तुक भक्तों ने आपकी प्रशंसा की, तब भी आपने कहा–तुम्हारा कथन भी सत्य है। दोनों बातें सत्य कैसे हो सकती हैं ? इसका रहस्य मुझे समझाइए।" सन्त ने कहा–"तुमने जो कहा, वह सत्य इसलिए है कि मैं अभी तक छद्मस्थ, अल्पज्ञ हूँ, वीतरागी सर्वज्ञ नहीं बना, तब तक मैं उनके गुणस्थान से बहुत नीचा हूँ, मेरे अन्दर अभी चारित्रमोह का उदय है, इसलिए यथाख्यातचारित्र से हीन हूँ, कषायाविष्ट हूँ, चारित्रमोह के कारण मूढ़ भी हूँ। अभी मैं तीर्थंकरों के समान परमार्थी नहीं बना, इसलिए स्वार्थी भी हूँ और मुझे अभी तक केवलज्ञान नहीं हुआ, इसलिए विवेकहीन–ज्ञानहीन भी हूँ और संयम-यात्रा के लिए पेट भरना पड़ता है, इसलिए उदरम्भरी भी हूँ। भक्तों ने मेरी प्रशंसा की, उसे मैं अपनी प्रशंसा नहीं मानता; क्षमा, दया, तप, संयम, करुणा आदि साधुता की एवं साधु जीवन के गुणों की प्रशंसा है। मैं अपने अन्दर उन गुणों को पूर्णतया लाने के लिए आत्म-भावरमणरूप निर्जरा की साधना कर रहा हूँ। अहंकारादि से ग्रस्त हो जाऊँ तो मेरे अन्दर पूर्वबद्ध कर्मों के कारण जो अहंकार, काम-क्रोधादि दुर्गुण हैं, उन्हें इन गुणों की साधना के बिना कैसे निकाल सकूँगा ?" निष्कर्ष यह है कि कर्ममुक्ति के यात्री को सर्वप्रथम संवर और उसके पश्चात् लगे हाथों निर्जरा का पद-पद पर अभ्यास करना आवश्यक है।

आँधी के समय पहले द्वार और खिड़कियाँ बंद की जाती हैं

बाहर जोर की आँधी चल रही है। किसी को अपना कमरा साफ करना है तो सबसे पहले उसे दरवाजे और खिड़कियाँ बंद करनी पड़ेंगी। इसके विपरीत यदि वह दरवाजे और खिड़कियाँ ऐसे समय में खुली रखकर सफाई करने लगेगा तो

इधर से सफाई करेगा, उधर से आँधी के सहारे धूल, कचरा अन्दर घुसता जाएगा। ऐसी सफाई का कोई अर्थ नहीं होगा। यह तो हस्ति-स्नान जैसी निरर्थक सफाई होगी। हाथी तालाब में घुसकर अपने शरीर पर खूब पानी डालता है, तब एक बार तो सारा मैल धुल जाता है। परन्तु स्नान करके तट पर आते ही वह अपनी सूँड़ से रेत, कीचड़ आदि लेकर पुनः शरीर पर उछालता है। इस स्नान का क्या अर्थ हुआ? यह तो पहले से भी अधिक गंदगी बटोरना हुआ। इसी प्रकार आत्म-शुद्धि-साधक निर्जरा (कर्मक्षय) के लिए व्रत, प्रत्याख्यान, तप आदि की साधना करता रहे, परन्तु उसके साथ ही मन-वचन-काया के नालों द्वारा कषाय-राग-द्वेषादि विकारों के कारण तेजी से आते हुए कर्म-प्रवाह को रोके नहीं–आस्रव-निरोध करे नहीं, तो उसकी स्थिति भी हास्यास्पद हुए बिना नहीं रहती।[1]

'ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया'[2] का रहस्य

आँधी, वर्षा और तूफान आ रहा हो, उस समय चादर पर लगे हुए मैल और धब्बे को साफ करने से पहले धोबी यह देखता है कि एक-दो दागों और मैल को साफ करने से पहले मैं आँधी-तूफान आने के द्वार को बन्द कर दूँ, ताकि आँधी-तूफान से इस चादर पर और अधिक धब्बे और मैल न लग जाए। ऐसा करने के बाद ही वह सफाई करना शुरू करता है।

संत कबीर ने कहा था–"ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया।" आत्मा पर देहरूपी चादर को उन्होंने जैसे ओढ़ी थी, वैसे ही रख दी। अतीत की चादर पर तो उन्होंने धब्बा नहीं लगने दिया। वर्तमान में जो काम-क्रोधादि विकार चादर को मलिन करने वाले थे, उनसे भी उन्होंने चादर को बचाया। निष्कर्ष यह है कि वर्तमान में आस्रव का निरोध किया और भूतकालीन चादर को भी संयम, तप आदि द्वारा शुद्ध रखा। तभी वह चादर जैसी की तैसी रही होगी।

इसी प्रकार आत्मा में एक ओर से नये-नये क्रोधादि कषाय, राग-द्वेष, मोह, काम आदि के कारण शुभ-अशुभ कर्म दबादब प्रविष्ट हो रहे हैं और दूसरी ओर, पहले से काम, क्रोधादि कषाय, मोह, राग-द्वेष आदि कर्मशत्रुओं के कारणभूत अशुभ कर्म भी आत्मा में घुसे हुए हैं। अतः प्राज्ञ सतर्क संवर-निर्जरा-साधक पहले नये कर्मों और कर्मों के स्रोतों को आने से रोकेगा, यानी पहले वह संवर-साधना अपनायेगा; जबकि दूसरी ओर से पहले से प्रविष्ट एवं आत्मा को मलिन व अशुद्ध करने वाले अशुभ कर्मों को क्षमादि धर्म, रत्नत्रय, परीषहजय, उपसर्ग-सहन, चारित्र-पालन बाह्याभ्यन्तर तप आदि के माध्यम से मिटाएगा, खदेड़ देगा और

---

१. 'अपने घर में' से भावांश ग्रहण, पृ. ९

२. संत कबीर का एक पद

आत्मारूपी सरोवर में पहले से प्रविष्ट मलिन व अशुद्ध पापपंकयुक्त कर्मजल को अपनी निर्जरा-साधना से निकालकर आत्म-सरोवर को शुद्ध, परिष्कृत एवं निर्मल तथा सुदृढ़, शान्त, निश्छिद्र एवं पुष्ट बनाएगा। यानी वह संवर को प्राथमिकता देकर तीव्र रूप से आते हुए नये कर्मों को रोक देगा, तत्पश्चात् लगे हाथों वह कर्मों का क्षय (निर्जरा) करने का अभ्यास भी करेगा।

चिकित्सा क्षेत्र में रोग को दबाने और मिटाने की उभय दृष्टि

चिकित्सा क्षेत्र में ये दोनों दृष्टियाँ मिलती हैं। एक दृष्टि है–रोग को दबाने की और दूसरी दृष्टि है–रोग को मिटाने की, उसे जड़मूल से समाप्त करके शरीर को शुद्ध और सुदृढ़ बनाने की। यद्यपि ऐलोपैथिक चिकित्सा पद्धति में रोग को दबा दिया जाता है। आयुर्वेदिक एवं यूनानी चिकित्सा पद्धति भी किसी हद तक रोग को दबाने, एक बार शान्त कर देने के पक्ष में हैं। होम्योपैथिक चिकित्सा प्रणाली शरीर में प्रविष्ट रोगोत्पादक विज़ातीय द्रव्य को एक बार उभारकर बाहर निकालती है। फिर उसके तन-मन को पुष्ट करती है।

अधिकांश आधुनिक शिक्षित और सभ्य लोगों की मान्यता है कि रोग को दबाने से एक बार तो रोगी को राहत मिल जाती है, रोग शान्त हो जाता है, परन्तु कोई भी निमित्त मिलने पर वह पुनः उभर आता है। ऐलोपैथिक चिकित्सा में एक रोग को दबाने के लिए दवा दी जाती है, वह रोग दब जाता है, किन्तु दूसरा रोग उत्पन्न हो जाता है। रोग को दबाने पर यह खतरा बना रहता है कि पता नहीं कब यह रोग पुनः उभर आए। इसलिए कतिपय प्राकृतिक चिकित्साविज्ञ रोग को सहसा दबाने के पक्ष में नहीं हैं।

कभी-कभी रोग को तत्काल दबाना आवश्यक होता है

पहली दृष्टि के अनुसार कभी-कभी रोग को तत्काल दबाना आवश्यक होता है। यदि हम दूसरी दृष्टि के अनुसार रोग को मिटाने तक प्रतीक्षा करें और रोगी को दवा काफी लम्बे अर्से तक देते रहें तो तब तक या तो रोगी का प्राणान्त हो सकता है अथवा वह बहुत ही कमजोर हो जाएगा, उसमें उठने-बैठने की शक्ति भी नहीं रहेगी। अतः उस समय ऐसा सोचना ठीक नहीं होगा कि रोगी का स्थायी इलाज ही कराया जाए; क्योंकि स्थायी इलाज होने तक यदि रोगी रहेगा ही नहीं तो, स्थायी इलाज किसका होगा? अतः किसी हद तक तीव्र वेग से आते हुए रोग को तत्काल दबाने का उपाय अनिवार्य होता है। अतः सर्वप्रथम रोग की तीव्रता को मिटाना या कम करना आवश्यक होता है। तत्पश्चात् दूसरी दृष्टि की भी आवश्यकता है, ताकि रोग को जड़मूल से उखाड़ने और रोगी के शरीर को रोगों

से लड़ने के लिए सुदृढ़–सक्षम बनाया जा सके। अर्थात् प्रथम दृष्टि के साथ दूसरी दृष्टि का होना आवश्यक है।

यही कारण है कि हितैषी चिकित्सक रोगी का ऑपरेशन करने से पहले उसे दवा देकर रोग को ठीक करने का प्रयास करता है। यदि दवा से रोग मिटता, रुकता या कम नहीं होता, तभी वह ऑपरेशन की सलाह रोगी को देता है। दवा देकर रोग को रोकना या ठीक कर देना संवर-तुल्य है और ऑपरेशन करके रोग को मिटाना निर्जरा-तुल्य है।

कामरोग-पीड़ित के लिए सर्वप्रथम संवर मार्ग श्रेयस्कर

एक व्यक्ति कामुकता के रोग से पीड़ित है। उसे किसी स्त्री को देखते ही तत्काल कामवासना भड़कती है। ऐसी स्थिति में सर्वप्रथम संवर का मार्ग उसकी स्वस्थता के लिए आवश्यक हो जाता है। अर्थात् सर्वप्रथम वह कामवासना के वेग को रोकने के लिए यह उपक्रम करे, मन ही मन अनुप्रेक्षा, अनित्यानुप्रेक्षा करे, तत्पश्चात् यह अनुप्रेक्षा करे कि "यह (स्त्री) मेरी नहीं है, मैं इसका नहीं हूँ।" कामवासना दुःख का कारण है, सुख का कारण नहीं। "**कामभोग अनर्थों की खान है।**"[1] मैं जान-बूझकर इन अनर्थों को क्यों पालूँ? इस प्रकार अन्तर्मन को बार-बार सुझाव देने पर कामवासना का उफान शान्त हो जाएगा। इसी तरह यह भी सोचे कि काम या कामवासना मेरा (आत्मा का) स्वभाव–स्वगुण नहीं है, यह पर-भाव या विभाव है, आत्मा का वैभाविक गुण है, नोकषाय मोहजनित भाव है। इससे मेरा अधःपतन, अशान्ति, दुःख बढ़ेगा। इसी दृष्टि से 'दशवैकालिकसूत्र' में कहा गया है–

"आयावयाहि चय सोगमल्लं, कामे कमाहि कमियं खु दुक्खं।"
"न सा महं, नो वि अहंपि तीसे, इच्चेव ताओ विणएज्ज रागं॥"[2]

–[कामना या कामवासना (काम) के तीव्र आवेग को रोकने के लिए] आतापना लो, सुकुमारता का त्याग करो, इसी प्रकार यह सोचकर कि कामना या वासना करना दुःख का कारण है, कामवासना को दबा दो, शान्त कर दो। साथ ही यह वह (कामवासना या कामवासना की निमित्त स्त्री) मेरी नहीं है, न ही मैं उसका हूँ; इस सूत्र से अज्ञात मन को बार-बार सजेशन देकर कामराग को हटा दो।

यह काम का तत्काल निरोधरूप संवर है। सम्यग्दृष्टि-सम्पन्न व्यक्ति इस प्रकार का प्रयोग करके काम का शमन या स्वैच्छिक दमन करता है।

---

१. खाणि अणत्थाण उ कामभोगा।

२. दशवैकालिकसूत्र, अ. २, गा. ५, ४

सर्वप्रथम काम का उपशमन आवश्यक है

यह हुई निमित्तों को—कामोत्तेजना पैदा करने वाले कारणों को दबाने या वैसा वातावरण बदलने की दृष्टि ! ब्रह्मचर्य की नौ बाड़े या नौ गुप्तियाँ बताई गई हैं, वे भी निमित्तों से बचकर काम के उफनते वेग को शान्त करने के लिए विहित की हैं। यद्यपि पूर्ण वीतरागता प्राप्त न हो जाए, तब तक कामराग का प्रादुर्भाव–तिरोभाव होता रहना सम्भव है। छद्मस्थ अवस्था में हर समय साधक में अप्रमत्त अवस्था नहीं रह पाती। वह अप्रमत्तता और प्रमत्तता दोनों के झूले में झूलता रहता है। इस अपेक्षा से मन में काम, क्रोध, लोभ आदि के उठते हुए तूफान को सर्वप्रथम सर्वथा नष्ट करना सम्भव नहीं होने से उसका उपशमन या स्वैच्छिक दमन करना ही यथोचित है। यदि सर्वप्रथम उसका दमन या उपशमन न करके केवल इसी भरोसे छोड़ दिया जाए कि आत्मा में अनन्त शक्ति है, अतः काम-क्रोधादि के वेग को सर्वथा मिटाना ही ठीक है। मेरी आत्मा पर उसका कोई असर नहीं हो सकता है अथवा मैं अपनी आत्मा को इतनी शुद्ध, निष्प्रकम्प, निश्चल, दृढ़ एवं पुष्ट बना लूँगा कि कामक्रोधादि मेरा कुछ नहीं कर सकेंगे या उनका आक्रमण विफल हो जाएगा। ऐसा सोचना किसी हिंस्र पशु का आक्रमण होने के अवसर पर आँखें मूँदकर स्वयं को सुरक्षित मान बैठने वाले खरगोश के समान ही भ्रान्तिमूलक या अज्ञानतासूचक हास्यास्पद होगा।

मान लो, उस समय मन में उठी हुई कामवासना पर तुरन्त ब्रेक नहीं लगाया जाता है, तो उस आस्रव का निरोध न होने और उसका सेवन करने की खुली छूट दे दी जाने पर संवर नहीं होगा, फलतः वह व्यक्ति असंयमपूर्वक बार-बार उस अपकृत्य को करेगा, जिससे वह कुसंस्कार अशुभ कर्म के रूप में बँध जायेगा, जिसका कटुफल देर-सबेर उसे भोगना पड़ेगा।[1]

कामवृत्ति के कुसंस्कारवश बार-बार आवृत्ति होने से उस पापकर्म का भय मन में से निकल जाने पर व्यक्ति निःशंक और बेधड़क खुलेआम उस पापकर्म को करने लगेगा। सर्वप्रथम संवर न करने और एकदम निर्जरा कर लेने के भरोसे भ्रान्तिवश बैठे रहकर मनुष्य अपना कितना अहित, कितना आध्यात्मिक नुकसान कर बैठता है ?

इन्द्रियों को खुली छूट दे देने का दुष्परिणाम

आजकल के कलियुगी भगवान कहते हैं—"इन्द्रियों को खुली छूट दे दो, तुम्हारा मन जो चाहता है, उसे वैसा करने दो, उस पर पाबंदियाँ मत लगाओ;

---

१. बंधइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं। —*दशवैकालिकसूत्र, अ. ४, गा. १-६*

अपने मन को जिधर चाहे, उधर दौड़ने दो"; क्या इस प्रकार काम-आस्रव को खुली छूट दे देने से मनुष्य निर्विकार बन जाएगा? कदापि नहीं। ऋषि-मुनियों का ठोस अनुभव है–आग में घी डालने से आग बुझेगी नहीं, वह उत्तरोत्तर अधिकाधिक भड़केगी।

कई लोगों का यह कहना है कि सिनेमा, उपन्यास, उद्भट वेश, हाव-भाव आदि कामोत्तेजक निमित्तों पर एकदम प्रतिबन्ध लगा दिया जाए तो कामोत्तेजना पैदा ही न होगी। परन्तु अमुक निभित्तों पर प्रतिबन्ध लगाने पर दूसरे निमित्त पैदा हो जायेंगे। अतः मनुष्य की मूल वृत्ति-प्रवृत्ति पर प्रतिबन्ध और वह भी किसी निमित्त के द्वारा कामवासना को उत्तेजित करने या कामवासना भड़कने का प्रसंग मिलने की संभावना होने पर तत्काल ब्रेक (नियंत्रण) लगाने से ही कामवृत्ति-निरोधरूप संवर हो सकेगा।

अन्यथा कलियुगी भगवानों के यहाँ खुली छूट मन और इन्द्रियों को दिये जाने का अथवा बौद्ध मठों में भिक्षु-भिक्षुणियों को खुली छूट दिये जाने का दुष्परिणाम सर्वविदित है।

यही कारण है कि परम महर्षि तीर्थंकरों ने दशविध ब्रह्मचर्य समाधि स्थान बताकर कामवृत्ति-निरोधात्मक संवर की दस गुप्तियाँ बताई हैं। ब्रह्मचर्य की नौ बाड़ इसी कामवृत्ति-निरोधरूप संवर के लिए हैं।

वृत्ति को सहसा दमित करने से क्या हानि, क्या लाभ ?

यह वस्तु अवश्य विचारणीय है कि किसी भी वृत्ति को दबाने या दमित करने पर एक बार तो वह दब जाएगी, परन्तु निमित्त मिलते ही पुनः उभर जाएगी, भड़क उठेगी। यह सच है कि किसी भी वासना, कामना या इच्छा का दमन करने पर वे दमित वासनाएँ–कामनाएँ अज्ञात मन में प्रविष्ट होकर दबी रह जाती हैं, किन्तु निमित्त मिलने पर दुगुने वेग से वे भड़कती हैं। परन्तु इसका समाधान यह है कि सोच-समझकर, अपनी भूमिका को देखकर, सम्यग्दृष्टि द्वारा अपने पर–अपनी वृत्ति-प्रवृत्तियों पर स्वेच्छा से किया हुआ नियंत्रण सहसा नहीं भड़कता, चाहे कितने ही उद्दीपक या उत्तेजक निमित्त मिलें। एक बार अपना हानि-लाभ, हिताहित, कल्याण-अकल्याण, पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म भलीभाँति समझकर किसी वृत्ति-प्रवृत्ति पर किया हुआ नियंत्रण सुखकर एवं हितकर ही होता है, यदि मोहकर्मवश निमित्त मिलने पर यदि वह दमित, निरुद्ध या शमित वृत्ति-प्रवृत्ति पुनः भड़क भी उठती है, तो भी सम्यग्दृष्टि जीव या तो तुरन्त सँभल जाता है, अपनी उस दुर्बलता के लिए प्रायश्चित्त–पश्चात्ताप करता है, जिससे उक्त दोष का प्रमार्जन सहज ही हो जाता है। इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव द्वारा किया हुआ स्वैच्छिक शमन, दमन या निरोधरूप

संवर अन्ततोगत्वा लाभदायक है ही, बशर्ते कि उसके साथ जागृति हो। इसीलिए भगवान महावीर ने कहा है–

''अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होई, अस्सिं लोए परत्थ य॥''[1]

–अपकृत्य में प्रवृत्त होती हुई अपनी आत्मा (मन-बुद्धि आदि) का दमन (उपशमन) करना चाहिए, अपने आपका स्वेच्छा से दमन बहुत ही दुष्कर है। स्वेच्छा से अपने आप पर किये हुए दमन से व्यक्ति इस लोक में भी सुखी होता है, परलोक में भी।

सामाजिक जीवन में भी यही देखा जाता है, मनुष्य कितनी ही पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं कर पाता है। कदाचित् वह उच्छृंखल बनकर मर्यादा-भंग करना चाहता है या मोहवश कर बैठता है, तो उसके हितैषी जनों, गुरुजनों आदि के दबाव से वह पुनः नियंत्रण करके पूर्ववत् मर्यादा-पालन की पटरी पर आ जाता है। सम्यग्दृष्टि-साधक समझ जाता है कि स्वेच्छा से संयम-नियम और तप के द्वारा आत्म-दमन कर लेना मेरे लिए श्रेयस्कर है। अन्यथा सामाजिक या राष्ट्रीय कानून का भंग होने पर, उसका स्वेच्छा से प्रायश्चित्त करके शुद्धि न करने पर वध (मारपीट) आदि से या बंधनों (गिरफ्तारी, जेल) आदि से पूरा दण्ड देकर बरबस मेरा दमन किया जाएगा। यह तो राजसत्ता द्वारा दिया गया दण्ड है, कर्मसत्ता द्वारा दिया गया दण्ड भी उसे देर-सबेर भोगना पड़ता है।[2]

सर्वसामान्य व्यक्तियों के लिए पहले संवर आवश्यक

इसलिए संवर का प्रयोग आस्रव (नये आते हुए कर्म) को रोकने हेतु सर्वसामान्य व्यक्तियों के लिए आवश्यक है। ऐसा न करने से कई बार व्यक्ति नये आते हुए कर्मों और पुराने बँधे हुए कर्मों से निवृत्त होने में सर्वथा अक्षय होकर कर्मसत्ता के आगे घुटने टेक देता है।

आध्यात्मिक जगत् में दो दृष्टियाँ

आध्यात्मिक जगत् में भी दो दृष्टियाँ प्रयुक्त होती हैं–(१) उपशमन की दृष्टि, और (२) क्षपण की दृष्टि। जिसे कर्मविज्ञान की भाषा में क्रमशः उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी कहा जाता है। उपशम श्रेणी में कषाय निर्मूल नहीं होते, वे शान्त,

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र, अ. १, गा. १५

२. वरं मे अप्पा दंतो, संजमेण तवेण य।
माऽहं परेहिं दमंतो बंधणेहिं वहेहिं य॥ *–वही १/१६*

सुषुप्त रहते हैं, वे अभिव्यक्त नहीं होते। उपशमन की प्रक्रिया में अभिव्यक्ति का स्थल निष्क्रिय हो जाता है। निमित्तों को बदल देना या मन्द या समाप्त कर देना, परिस्थिति और मनःस्थिति को बदल देना, अभिव्यक्ति के केन्द्र को निष्क्रिय कर देना उपशमन की प्रक्रिया का चिह्न है। परिस्थिति बदल जाने से, अभिव्यक्ति का स्थान निष्क्रिय हो जाने से कषाय उपशान्त हो जाता है। कषाय-नोकषाय की वृत्ति शान्त हो जाने से वह बाहर में प्रगट नहीं हो पाती। जैसे बिजली का करेंट चालू होता है, परन्तु बल्ब फ्यूज हो जाने से प्रकाश नहीं होता, क्योंकि प्रकाश को अभिव्यक्त करने वाला साधन व्यर्थ हो गया है। किन्तु दूसरा सही बल्ब लगाने पर या फ्यूज को ठीक करने पर वह पुनः प्रकाश को अभिव्यक्त करने लगता है।

साधक की दृष्टि उपादान तक पहुँचे

इसलिए यह बात संवर-निर्जरा-साधक को अवश्य ध्यान में रखनी है कि अभिव्यक्ति के केन्द्र को एक बार शान्त, निष्क्रिय और दमित कर देने मात्र से सम्यग्दृष्टि विचारशील-साधक को तत्काल संवर (पापास्रव-निरोध) का लाभ अवश्य मिलता है, किन्तु सदा के लिए उक्त पापास्रव तथा पापकर्मबन्ध का क्षय (निर्मूल) नहीं होने से निमित्त मिलते ही उसके पुनः अभिव्यक्त होने की संभावना है। मन में दुर्भावना आई। साधक ने तुरन्त जप, तप एवं स्वाध्याय प्रारम्भ किया। दुर्भावना पलायित हो गई। किन्तु जप या स्वाध्याय बन्द होने पर अज्ञात मन में पड़े हुए दुर्भावना के बीज निमित्त मिलते ही पुनः अंकुरित हो सकते हैं। अतः संवर-निर्जरा-साधक की दृष्टि उपशम पर ही न अटककर वह उपादान तक पहुँचनी चाहिए। जैसे रोग को एक बार दबा देने–शान्त कर देने के बाद परोपकारी वैद्य की दृष्टि रोग को जड़मूल से मिटा देने की रहती है। इसी प्रकार कर्म-रोग को केवल दबा देने या उपशान्त कर देने के बाद आत्मार्थी-साधक की दृष्टि अज्ञात मन में पड़े हुए कर्मसंस्कारों को–दोषों को क्षीण करने की प्रक्रिया अपनाने की दृष्टि रहनी चाहिए। कर्मों का निरोध करने की प्रक्रिया अपनाने मात्र से साधना की इतिश्री न समझकर, अज्ञात मन में सुषुप्त (सत्ता में) पड़े हुए कर्मों की उदीरणा करके अथवा बाह्याभ्यन्तर तप द्वारा, परीषह-उपसर्ग को समभाव से सहकर निर्जरा (कर्मक्षय) करनी चाहिए।

आजकल धार्मिक क्षेत्र में बहुधा जो प्रयोग चल रहे हैं, वे उपशम के या शुभ योग-संवर के प्रयोग होते हैं। कषायादि वृत्तियों को शान्त कर देने, दबा देने के या निमित्तों को बदलने के प्रयोग ही प्रायः होते हैं। किन्तु इसके साथ ही होना चाहिए–उक्त वृत्तियों को मिटाने या उपादान को परिष्कृत करने का प्रयोग।

क्षपक श्रेणी के प्रयोग में क्रमशः असंख्यगुणी निर्जरा

इसे जैन-कर्मविज्ञान की भाषा में क्षपक श्रेणी का प्रयोग कहते हैं। इसमें निमित्तों को नहीं देखा जाता, निमित्त रहे या न रहे, इसका कतई विचार नहीं किया जाता। परिस्थितियाँ अनुकूल हों या प्रतिकूल उनका कोई प्रभाव साधक पर नहीं पड़ता और एकमात्र आत्म-शुद्धि पर दृष्टि रहती है, निर्जरा और वीतरागता ही उसका एकमात्र लक्ष्य रहता है, किसी भी इहलौकिक या पारलौकिक स्वार्थसिद्धि या प्रसिद्धि, प्रशंसा, प्रतिष्ठा आदि की दृष्टि उसमें नहीं रहती, एकमात्र कषाय और राग-द्वेष का–मोहकर्म का क्षय करने की मुख्यता रहती है। एकमात्र उपादान को पकड़कर कर्म को आत्मा से पृथक् करने और आत्मा की शुद्धि करने का ही अभ्यास मुख्य होता है।

निष्कर्ष यह है कि मोहकर्म का क्षय करने के लिए छद्मस्थ (अपरिपक्व) या अपूर्ण ज्ञानी सम्यग्दृष्टि एवं व्रती साधक को संवर का ही पहले अवलम्बन लेना आवश्यक है। उसे लिये बिना–संवर का अभ्यास, समिति, गुप्ति, दशविध क्षमादि धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह-विजय, चारित्र एवं तप-संयम के माध्यम से किये बिना मन-वचन-काया की शान्ति एवं समाधि का मार्ग प्रशस्त नहीं हो सकता। स्वस्थ ही उसकी दृष्टि मोहकर्म का क्रमशः क्षय (निर्जरा) की ओर होनी चाहिए, ताकि वृत्तियों को सर्वथा क्षीण किया जा सके।

अपरिपक्व-साधक निर्जरा की भ्रान्ति में

कामविजेता स्थूलभद्र मुनिवर के गुरु-भ्राता मुनि पहले संवर-साधना का पक्का अभ्यास किये बिना ही मेरी वृत्तियाँ सर्वथा उपशान्त हो गई हैं, इस भ्रान्ति में पड़कर उनकी देखादेखी कोशावेश्या के यहाँ पहुँच गए, परिणामस्वरूप वे कोशावेश्या के यहाँ कामवासना का उत्तेजक वातावरण मिलते ही फिसल गए। अगर वे परिपक्व होते, उपादान शुद्धि की सुदृढ़ साधना तक पहुँच गए होते तो शायद वे न फिसलते। उनके सामने कैसा भी वातावरण होता, कैसे भी प्रबल प्रतिकूल निमित्त होते, कितने ही अनुकूल या प्रतिकूल परीषहों का सामना करना होता, वे नहीं डिगते।

परिपक्व-साधक की दृष्टि एवं लगन

यही कारण है कि कामविजेता स्थूलभद्र मुनि पहले संवर-साधना में पारंगत हो गए थे और निर्जरा-साधना की ही एकमात्र लगन थी। उसके पीछे किसी प्रकार की इह-पारलौकिक कामना, प्रसिद्धि या प्रशंसा की तमन्ना नहीं थी। इसी कारण कोशावेश्या के वहाँ के कामोत्तेजक वातावरण का, कोशावेश्या जैसे अनुकूल

परीषह के निमित्त का उन पर कोई प्रभाव न पड़ा। वे अपने उपादान परिष्कार के—आत्म-शुद्धि (कर्मक्षय) के भावों में दृढ़ रहे, आत्म-भावों में ही एकमात्र रमण करते रहे।

साधक की प्रज्ञा संवर-साधना के साथ-साथ निर्जरा पर भी टिके

अतः अपरिपक्व-साधक को पहले संवर-साधना में परिपक्व होने के साथ-साथ निर्जरा-साधना पर दृष्टि, प्रज्ञा या बुद्धि स्थिर करनी चाहिए। द्रव्यभाव-संवर-साधना भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। कषायादि वृत्तियों, राग-द्वेष-मोह की परिणतियों के निमित्तों से दूर रहने हेतु उनका अप्रमत्तभाव से निरोध करना सर्वप्रथम अनिवार्य है। एक बार किसी आस्रव का एक क्षण के लिए निरोध कर लिया, इतने मात्र से संतोष नहीं मानना चाहिए। जहाँ-जहाँ आस्रव के स्रोत हैं, जो-जो आस्रवों के कारण हैं या विभिन्न प्रकार के आस्रव हैं, प्रति क्षण सावधान रहकर उनका निरोध करना एक दिन का, एक क्षण का काम नहीं है। संवर के विभिन्न पहलुओं, प्रकारों और साधनों को ध्यान में रखकर पूर्वोक्त आस्रवों का द्रव्य और भाव से निरोध करने से संवर की साधना का दृढ़ अभ्यास होगा। फिर तो उसकी आत्मा भी इतनी अभ्यस्त, परिपक्व और सुदृढ़ हो जाएगी कि कितने ही प्रतिकूल निमित्त मिलें, अनुकूल-प्रतिकूल परीषहों का सामना करना पड़े, संवर के द्वारा पहले से शान्त-दान्त वृत्तियों को—कर्मों को क्षय करने की (निर्जरा) साधना उसके लिए सुगम हो जाएगी।

परिपक्व-साधक संवर एवं निर्जरा दोनों को अपनाता है

गजसुकुमाल मुनि के समक्ष कितना प्रतिकूल निमित्त था, परन्तु पूर्व-जन्म में की हुई संवर-साधना के कारण वे भावसंवर में दृढ़ रह सके, नये आने वाले *अशुभ कर्मों पर एकदम ब्रेक लगा दिया और पुराने* बँधे हुए कर्मों के उदय में आने पर घोर उपसर्ग को समभाव से सहन (तितिक्षा) करने के कारण अनन्त-अनन्त कर्म-निर्जरा करके कर्मों से सर्वथा मुक्त हो सके। इसी प्रकार अर्जुन मुनि भी अपने द्वारा पूर्वबद्ध अशुभ कर्मों के कारण आने वाले कष्टों (परीषह-उपसर्गों) में अपनी उपादानस्वरूप आत्मा को ही दोषयुक्त मानकर उसी का परिष्कार करने हेतु भावसंवर-साधना में दृढ़ रहे, समभाव से उक्त कष्टों को सहकर कर्मों का क्षय किया और सिर्फ छह महीने में समस्त कर्मों का क्षय करके सदा-सदा के लिए कर्मों से मुक्त, सिद्ध-बुद्ध हो गए।

अतः सम्यग्दृष्टि-साधक कभी संवर को और कभी निर्जरा को प्राथमिकता देता है, कभी दोनों की साधना साथ-साथ चलाता है।

सामान्य साधक की शुभ योग-संवररूप चर्या से उत्तरोत्तर विकास

सामान्य साधक के जीवन में इसी दृष्टि से शुभ योग-संवर की अपेक्षा से विधान किया गया है कि सावधान होकर आत्म-जागृतिपूर्वक यतना से विचरण करने, यतना से चलने-फिरने, खाने-पीने, सोने-जागने, उठने-बैठने या आहार-विहार करने आदि प्रत्येक चर्या यतनापूर्वक करने से पापकर्म का बंध नहीं करेगा यानी वह अशुभ योग के निरोधरूप शुभ योग-संवर प्राप्त कर सकेगा एवं भविष्य में भावसंवर और निर्जरा की दृढ़ साधना कर सकेगा।

● ●

७

संवर और निर्जरा का प्रथम साधन : गुप्तित्रय

आत्मारूपी गाड़ी के लिए सक्षमता आदि का विचार आवश्यक

किसी भी कार को खरीदते समय व्यक्ति यह देखता है कि इसके ब्रेक ठीक हैं या नहीं? इसकी कितनी स्पीड (रफ्तार) है? इसकी गति में कहीं रुकावट तो नहीं आती? इसके पहिये तथा इसकी लाइट ठीक है या नहीं? क्योंकि इन चीजों के ठीक होने पर ही वह कार मंजिल (गन्तव्य स्थान) तक यात्री को सही सलामत पहुँचा सकती है। इसी प्रकार कर्ममुक्ति के यात्री को भी यह देखना होता है कि कर्मों से सर्वथा मुक्ति की मंजिल तक पहुँचने के लिए आत्मारूपी गाड़ी गति करने योग्य है या नहीं? उसमें गुप्तित्रयरूपी ब्रेक है या नहीं तथा समितिरूपी सम्यक् गति-प्रगति (प्रवृत्ति) है या नहीं? परीषहरूपी पर्वतीय चढ़ाई को झेलने में वह सक्षम है या नहीं? उसके अनुप्रेक्षारूपी लाइट (चिन्तनज्योति) है या नहीं? आसानी से चलने (गति करने के लिए) उसके दशविध उत्तमधर्मरूपी दस पहिये हैं या नहीं? इतना होने पर ही आत्मारूपी गाड़ी संवर-निर्जरारूपी या ज्ञानादि रत्नत्रयरूपी मोक्षमार्ग (कर्ममुक्तिमार्ग) पर सरपट चलकर कर्ममुक्ति की मंजिल तक पहुँचा सकती है।

संवर और निर्जरा के उपार्जन के लिए सात प्रबल साधन

यही कारण है कि कर्मविज्ञान मर्मज्ञ तत्त्वार्थसूत्रकार नये कर्मों के आस्रव (आगमन) के निरोध (संवरण) और आत्मा में पूर्व-प्रविष्ट कर्मों के आंशिक क्षय (निर्जरण) द्वारा कर्मों के संवर और निर्जरा के लिये निम्नोक्त सात प्रबल साधनों का निरूपण करते हैं–"स गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा-परीषहजय-चारित्रैः; तपसा निर्जरा च।"[1] वह संवर और निर्जरा, गुप्ति, समिति, दशविध उत्तमधर्म (श्रमणधर्म), अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र के द्वारा तथा बाह्याभ्यन्तर तप के द्वारा सम्पन्न होती है। अर्थात् ये सात साधन या प्रबल उपाय संवर और निर्जरा द्वारा कर्ममुक्ति के यात्री के लिए कर्म से मुक्त होने में सहायक होते हैं।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, अ. ९, सू. २-३

वस्तुतः नये कर्मों के आने के कारणों को रोकना संवर है। जिस प्रकार नौका में छिद्र के रुक जाने पर उसमें जल का प्रवेश रुक जाता है, उसी प्रकार आत्मा के द्वारा गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय तथा चारित्र और तपश्चर्या के एवं सम्यग्दर्शनादि के परिणामों से विविध कर्मों के आस्रव और बंध के कारणभूत मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग तथा राग-द्वेष एवं नोकषाय आदि का रुक जाना या अंशतः क्षय हो जाना क्रमशः संवर और निर्जरा है। 'राजवार्तिक' के अनुसार तात्पर्य यह है कि जिस नगर के द्वार भलीभाँति बंद हों, उस नगर में शत्रुओं का प्रवेश नहीं हो सकता, उसी प्रकार गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र के द्वारा जिस आत्मा ने मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, प्रमाद, योग एवं इन्द्रियाँ आदि द्वार संवृत कर लिये हैं, उस आत्मा के नवीन[1] कर्मों का द्वार रुक जाना संवर है। अर्थात् वह जीव कर्मों के कारणभूत मिथ्यात्व आदि को गुप्ति आदि रक्षकों के बल से आत्मा में प्रविष्ट नहीं होने देता। 'भगवती आराधना' के अनुसार-"जिन सम्यग्दर्शनादि परिणामों से अथवा समिति-गुप्ति आदि परिणामों से मिथ्यादर्शनादि परिणामों का निरोध किया जाता है, वह संवर है।"[2]

संवर के मुख्य दो भेद : द्रव्य-संवर, भाव-संवर : लक्षण और कार्य

'आचार्य पूज्यपाद' ने संवर के दो भेद किये हैं-द्रव्य-संवर और भाव-संवर। संसार की निमित्तभूत क्रिया की निवृत्ति होना भाव-संवर है और इसका (उपर्युक्त क्रिया का) निरोध होने पर तत्पूर्वक होने वाले कर्म-पुद्गलों के ग्रहण का विच्छेद होना द्रव्य-संवर है। 'द्रव्यसंग्रह टीका' में इनका परिष्कृत लक्षण इस प्रकार है- "आस्रवरहित सहज स्वभाव होने से समस्त कर्मों को रोकने में कारण जो शुद्ध परम आत्म-तत्त्व है, उसके स्व-भाव से उत्पन्न शुद्ध चेतन-परिणाम भाव-संवर है और कारणभूत भाव-संवर से उत्पन्न हुआ कार्यरूप जो नवीन द्रव्यकर्मों के आगमन का अभाव, वह द्रव्य-संवर है। संक्षेप में कहें तो कर्मों के पुद्गलों का आगमन या प्रवेश रुक जाना द्रव्य-संवर है और उन कर्म-पुद्गलों को रोकने में जो आत्मा के भाव निमित्त बनते हैं, वे आत्म-परिणाम भाव-संवर हैं।

---

१. (क) रुंधिय छिद्दसहस्से जलजाणे जह जलं तु णासवदि, मिच्छत्ताइ-अभावे तह जीवे संवरो होइ। *-नयचक्र वृत्ति १५६*

(ख) यथा सुगुप्त-सुसंवृत द्वारकवाटं पुरं सुरक्षितं दुरासादमरातिभिर्भवति, तथा सुगुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा-परीषहजय-चारित्रात्मनः सुसंवृतेन्द्रियकषाययोगस्य अभिनवकर्मागम द्वारसंवरणात् संवरः। *-राजवार्तिक ९/४/११, १८*

२. संव्रियते संरुध्यते मिथ्यादर्शनादिः परिणामो येन परिणामान्तरेण सम्यग्दर्शनादिना गुप्त्यादिना वा स संवरः। *-भगवती आराधना (वि.) ३८/१३४/१६*

संवर निवृत्तिपरक है

वास्तव में संवर आत्मा का निग्रह करने से होता है। यह निवृत्तिपरक है, दूसरी दृष्टि से देखा जाय तो संवर अवस्था में आत्म-प्रदेशों की चंचलता रुक जाती है, उनकी स्थिरता आती है, तभी उसे संवर कहना चाहिए।[1]

संवर और सकाम निर्जरा की अर्हता कहाँ-कहाँ कैसी-कैसे ?

यह ध्यान रहे कि संवर और निर्जरा (सकाम निर्जरा) सम्यग्दृष्टि ही कर सकता है। इसलिए मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर तीसरे मिश्रगुणस्थान तक संवर और निर्जरा नहीं है। पहले से तीसरे गुणस्थान तक अशुद्धोपयोग है। चौथे से सातवें गुणस्थान तक शुद्धोपयोग-साधक शुभोपयोग-प्रधान है। इससे ऊपर-ऊपर के गुणस्थानों में शुद्धोपयोग-प्रधान है। इसलिए ऊपर के गुणस्थानों में अधिकता से संवर जानना चाहिए।[2]

संवर के सत्तावन भेद : मुख्यतया निवृत्तिपरक

संवर के ये ५७ भेद इस प्रकार हैं—तीन गुप्ति, पाँच समिति, दशविध धर्म, द्वादश अनुप्रेक्षा, बाईस परीषहों पर विजय तथा पाँच प्रकार का चारित्र; ये कुल मिलाकर सत्तावन भेद हैं। 'स्थानांगसूत्र वृत्ति' में भी इन सत्तावन भेदों का उल्लेख है।[3]

ये सत्तावन ही भेद निवृत्ति-प्रधान इसलिए हैं कि आस्रवों को रोकना एक प्रकार से निवृत्ति ही है। गुप्तियाँ तो निवृत्तिपरक हैं ही, पाँच समितियाँ सम्यक् प्रवृत्तिपरक होती हैं, इसलिए असम्यक् प्रवृत्तियों का निरोध करती हैं। इसी प्रकार परीषहों का सामना करके उन पर विजय प्राप्त करना भी सम्यक् प्रवृत्तिपरक है, किन्तु परीषहों के आगमन के समय स्वीकृत संयम-पथ से विचलित न होने, असंयम-पथ से निवृत्ति होने से यह आस्रव-निरोधरूप संवर है।

---

१. (क) स द्विविधो-भावसंवरो द्रव्यसंवरश्चेति। तत्र संसारनिमित्तक्रियानिवृत्तिर्भावसंवरः। तन्निरोधे तत्पूर्वकर्म-पुद्गलादान-विच्छेदो द्रव्यसंवरः। *—सर्वार्थसिद्धि ९/१/४०६/५*

(ख) निरास्रव-सहजस्वभावत्वात् सर्वकर्मसंवरहेतुरित्युक्तलक्षणः परमात्मा, तत्स्वभावेनोत्पन्नो योऽसौ शुद्धचेतनपरिणामः स भावसंवरो भवति, यस्तु भावसंवरात्कारणभूतादुत्पन्नः कार्यभूतो नवतरद्रव्यकर्मागमनाभावः स द्रव्यसंवरः। *—द्रव्यसंग्रह टीका ३४/९६/१*

(ग) 'मोक्षप्रकाश' (मुनि धनराज) से भाव ग्रहण, पृ. १८०

२. द्रव्यसंग्रह टीका ३४/९६/१०

३. समिई गुत्ती धम्मो अणुपेह परीसह चरित्तं च।
सत्तावनं भेया पणतिगभेयाइं संवरणे॥ *—स्थानांगसूत्र वृत्ति, स्था. १*

संवर के पूर्वोक्त सत्तावन भेदों से संवर के साथ निर्जरा भी होती है

संवर के पूर्वोक्त सत्तावन भेदों से संवर तो होता ही है, साथ ही निर्जरा भी हो जाती है, प्रायः निर्जरा का कारण भाव-संवर बनता है। 'पंचास्तिकाय' में कहा गया है–जो आत्मार्थ-प्रसाधक जीव संवर से युक्त होकर आत्मा का अनुभव करके ज्ञान को नियत रूप से ध्याता है, वह कर्मरज झाड़ देता है (निर्जरा कर लेता है)। 'भगवती आराधना' में भी कहा है–जो साधक संवररहित है, उसके केवल तपश्चरण से जिन प्रवचन में कर्ममुक्ति नहीं हो सकती। 'बारस अणुवेक्खा' में स्पष्ट कहा है–जिस परिणाम से संवर होता है, उसी परिणाम से निर्जरा भी होती है। तप का दशविध उत्तम धर्म में अन्तर्भाव हो जाता है फिर भी वह संवर और निर्जरा दोनों का, खासकर संवर का कारण है। यह बताने के लिए 'तत्त्वार्थसूत्र' में पृथक् सूत्र द्वारा प्रतिपादित किया है। 'परमात्म-प्रकाश' में कहा गया है कि (निश्चयदृष्टि से) "जब तक समस्त विकल्पों से रहित मुनिवर आत्म-स्वरूप में विलीन रहता है, तब तक तू उसके संवर और निर्जरा जान।" तात्पर्य यह है कि बारहवें गुणस्थान से नीचे की भूमिका वाले साधक जो विकल्प स्थिति में हैं, उनकी निर्विकल्पता जितने अंशों में रहती है, वह सकल विकल्परहित ही होती है और उसी से संवर और निर्जरा होती है। इस भूमिका वाले के साथ जो विकल्प रहते हैं, उनसे संवर-निर्जरा नहीं होती।[१]

संवर-निर्जरा-सेनानी कैसे कर्मशत्रुओं को प्रवेश से रोकते हैं ?

अब हमें समझना है कि नये आते हुए कर्मशत्रुओं (कर्मास्रवों) को संवर के पूर्वोक्त आध्यात्मिक शस्त्रसज्जित सैनिक आत्म-दुर्ग में प्रवेश करने से कैसे रोकते हैं और किस प्रकार पूर्वप्रविष्ट और आत्मा को विकृत करने वाले कर्मशत्रुओं को आत्म-दुर्ग से बाहर खदेड़ देते हैं, यानी आत्मा से उन कर्मों को पृथक् कर देते हैं।

---

१. (क) जो संवरेण जुत्तो अप्पट्ठ-पसाधगो हि अप्पाणं।
मुणिऊण झादि णियदं णाणं, सो संधुणोदि कम्मइयं॥ –*पंचास्तिकाय, गा. १४५*

(ख) तवसा चेव ण मोक्खो, संवरहीणस्स होइ जिणवयणे।
णहि सोत्ते पविसंते किसिणं परिसुस्सादि तलायं॥ –*भगवती आराधना १८५४*

(ग) जेण हवे संवरणं, तेण दु णिज्जरणमिदि जाणे। –*बारस अणुवेक्खा, गा. ६६*

(घ) तपसा निर्जरा च। –*तत्त्वार्थसूत्र ९/३*

(ङ) अच्छइ जित्तिउ कालु मुणि अप्प सरूवि णिलीणु।
संवर-णिज्जरजाणि तुहुं सयल-वियप्प-विहीणु॥ –*परमात्म-प्रकाश २/३८*

संवर का प्रथम साधन : गुप्तित्रय का प्रयोग

संवर[1] का सबसे पहला साधन या उपाय तीन गुप्तियाँ हैं–मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति। गुप्ति का अर्थ गोपन या रक्षण करना है। मनोगुप्ति मन की, वचनगुप्ति वचन की और कायगुप्ति काय की रक्षा है। गुप्ति प्रविचार-अप्रविचार उभयरूपा होने से उसका स्पष्ट अर्थ होता है–अशुभ योग से निवृत्त होकर शुभ योग में प्रवृत्ति करना। स्पष्टार्थ है–अपने विशुद्ध आत्म-तत्त्व की रक्षा के लिए अशुभ योगों को रोकना। यही तो संवर है। 'तत्त्वार्थसूत्र' में गुप्ति का लक्षण दिया है–"मन-वचन-काय के योगों का सम्यक् = प्रशस्त निग्रह करना गुप्ति है।" प्रशस्त निग्रह का अर्थ है–विवेक और श्रद्धापूर्वक मन, वचन और काया को उन्मार्ग से रोकना और सन्मार्ग में लगाना। हठयोग में प्रयुक्त होने वाला योग निग्रह सम्यक् (प्रशस्त) न होने से गुप्ति नहीं है। अर्थात् मन, वचन, कायकी स्वच्छन्द प्रवृत्ति को रोकना गुप्ति है। विषयसुख की अभिलाषा से की जाने वाली प्रवृत्ति को रोकने के लिए 'सम्यक्' विशेषण दिया है। 'उत्तराध्ययनसूत्र' में गुप्ति का अर्थ किया गया है–"अशुभ अर्थों (विषयों) से योगों को सर्वथा रोकने (निवृत्ति) को गुप्ति कहा गया है।" 'सर्वार्थसिद्धि' में गुप्ति का निश्चयदृष्टि से लक्षण किया गया है जिसके कारण संसार के कारणों से आत्मा को गोपन = रक्षण होता है, वह गुप्ति है। 'प्रवचनसार' के अनुसार–व्यवहार से स्व-रूप में गुप्त या परिणत होना ही त्रिगुप्तिगुप्त होना है। 'द्रव्यसंग्रह' के अनुसार–निश्चय से सहज शुद्ध आत्म-भावनारूप गूढ़ स्थान में, संसार के कारणभूत रागादि के भय से अपनी आत्मा को गोपन करना = रक्षण करना, छिपाना या प्रच्छादन करना अथवा झम्पन या प्रवेशन करना गुप्ति है। 'अनगार धर्मामृत' में गुप्ति का तात्पर्यार्थ दिया गया है–मिथ्यादर्शनादि। आत्मा के प्रतिपक्षियों से रत्नत्रयस्वरूप निजात्मा को सुरक्षित रखने हेतु ख्याति लाभ आदि[2] 'विषयों में स्पृहा न रखना गुप्ति है।' 'आवश्यक निर्युक्ति' में

---

१. तओगुत्तीओ पण्णत्ताओ तं मणगुत्ती वयगुत्ती कायगुत्ती। –*स्थानांगसूत्र ३/१/१३४*

२. (क) सम्यग् योग निग्रहो गुप्तिः। –*तत्त्वार्थसूत्र ९/४, 'गोपनंगुप्तिः'*

(ख) गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो। –*उत्तराध्ययनसूत्र २४/२६*

(ग) यतः संसारकारणादात्मनोगोपनं सा गुप्तिः। –*स. सि. ९/२/४०९/७*

(घ) व्यवहारेण मनोवचन-काय-योगत्रयेण गुप्तः त्रिगुप्तः।

–*प्रवचनसार ता. वृ. २४०/३३३/१२*

(ङ) निश्चयेन सहज-शुद्धात्मभावना-लक्षणे गूढ़स्थाने संसार-कारण-रागादिभयादात्मनो गोपनं प्रच्छादनं झम्पनप्रवेशणरक्षणं गुप्तिः। –*द्रव्यसंग्रह टीका ३५/१०१/५*

(च) गोप्तुं रत्नत्रयात्मानं स्वात्मानं प्रतिपक्षतः।
पापयोगान्निगृण्हीयाल्लोकपंक्त्यादि-निस्पृहः॥ –*अनगार धर्मामृत ४/१५४*

एक दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है–जिस प्रकार आँधी और हवा के साथ भवन में कचरा घुस जाता है, तब भवन के द्वार बन्द कर देने से कचरा नहीं आता, इसी प्रकार आत्म-भवन में कर्मरूप कचरे को आने से रोक देना गुप्ति है। अतएव गुप्ति संवर भी है, संयम भी।[१] 'स्थानांगसूत्र वृत्ति' में गुप्ति के दो रूप बताए गए हैं–"**गोपनं गुप्तिः–मनःप्रभृतीनां कुशलानां प्रवर्तनम्, अकुशलानां च निवर्तनम्।**" मन आदि की शुभ में प्रवृत्ति और अशुभ से निवृत्ति। यों गुप्ति प्रवर्तक भी है, निवर्तक भी।

तीनों गुप्तियों के लक्षण

मनोगुप्ति का लक्षण–'नियमसार' के अनुसार–"राग-द्वेषादि विकल्पों से मन का निवृत्त होना मनोगुप्ति है।" अथवा समस्त मोह, राग और द्वेष के अभाव के कारण अखण्ड अद्वैत परमचिद्रूप में सम्यक् रूप से मन का अवस्थित रहना ही निश्चय मनोगुप्ति है। "व्यवहारनय से–कलुषता, मोह, राग, द्वेष आदि अशुभ भावों के परिहार को मनोगुप्ति कहा है।" 'ज्ञानार्णव' में इसका परिष्कृत लक्षण इस प्रकार दिया गया है–राग-द्वेष से अवलम्बित समस्त संकल्पों को छोड़कर जो मुनि अपने मन को स्वाधीन करता है और समताभाव में स्थिर करता है तथा सिद्धान्त के सूत्र की रचना में निरन्तर प्रेरणारूप है, उस मनीषी मुनि के पूर्ण मनोगुप्ति होती है।[२]

वचनगुप्ति का लक्षण–असत्यभाषणादि से निवृत्त होना अथवा मौन धारण करना वचनगुप्ति है। 'धवला' में भी यही लक्षण दिया गया है। 'ज्ञानार्णव' के अनुसार–"जिस मुनि ने वाणी की प्रवृत्ति भलीभाँतिवश कर ली है तथा जो समस्त संज्ञाओं का परिहार कर मौनारूढ़ हो जाता है, उस महामुनि के वचनगुप्ति होती है।" 'नियमसार' के अनुसार–पाप की हेतुभूत स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा (देशकथा), भक्तकथा (भोजनादि की कथा) इत्यादिरूप वचनों (विकथाओं) का

---

१. आगन्तुक कर्मकचवर-निरोधः। –*आव. हरि. १०३*

२. (क) जो रायादिणियत्तो मणुस्स जाणाहि तं मणोगुत्ती।

(ख) सकल-मोह-राग-द्वेषाभावादखण्डाद्वैत-परमचिद्रूपे सम्यगवस्थितिरेव निश्चय मनोगुप्तिः।
–*नियमसार मू. ता. वृ. ६९*

(ग) कालुस्स-मोह-सण्णा-रागद्दोसाइ अ. असुह भावाणं।
परिहारो मणगुत्तो ववहारणएण परिकहियं॥ –*वही मू. ता. वृ. ६६*

(घ) विहाय सर्वसंकल्पान् राग-द्वेषावलम्बितान्।
स्वाधीनं कुरुते चेतः. समत्वे सुप्रतिष्ठितम्॥१५॥
सिद्धान्तसूत्रविन्यासे शश्वत् प्रेरयतोऽथवा।
भवत्यविकला नाम मनोगुप्तिर्मनीषिणः॥१६॥ –*ज्ञानार्णव १५-१६*

परिहार अथवा असत्यादि से निवृत्ति वाले वचन बोलना व्यवहार से वचनगुप्ति है। 'भगवती आराधना' के अनुसार–जिससे दूसरे प्राणियों को उपद्रव होता है, ऐसे भाषण से आत्मा का परावृत्त होना वाग्गुप्ति है अथवा जिस भाषण में प्रवृत्ति करने वाली आत्मा अशुभ कर्म को अपना लेती है, ऐसे भाषण से परावृत्त होना भी वाग्गुप्ति है या समस्त प्रकार के वचनों का त्याग या मौन धारण करना वाग्गुप्ति है।[1]

कायगुप्ति का लक्षण–'नियमसार' का कथन है–औदारिकादि शरीर की जो क्रिया होती रहती है, उससे निवृत्त होना अथवा हिंसा, चोरी आदि पापक्रियाओं से परावृत्त होना कायगुप्ति है। 'ज्ञानार्णव' में इसका लक्षण इस प्रकार है–"जिस साधक ने शरीर को इतना स्थिर कर लिया है कि परीषह आ जाने पर भी अपने पर्यंकासन से डिगे नहीं, हिले-डुले नहीं, स्थिर रहे, उस मुनि के कायगुप्ति मानी गई है।" 'नियमसार टीका' में कहा गया है–समस्तजनों के काया सम्बन्धी बहुत-सी क्रियाएँ होती हैं, उनका निवृत्तिरूप कायोत्सर्ग ही कायगुप्ति है अथवा काया से पाँच स्थावरों और समस्त त्रसजीवों की हिंसा से निवृत्ति कायगुप्ति है। अथवा "बन्धन, छेदन, मारण, आकुंचन, प्रसारण इत्यादि कायिक क्रियाओं से निवृत्ति कायगुप्ति कही है।"[2]

गुप्तित्रय : सच्चे अर्थों में गुप्ति कब ?

शरीर को भलीभाँति वश में करना, वचन का सम्यक् प्रकार से अवरोध करना एवं मन का सम्यकृतया विरोध करना ही क्रमशः सच्चे माने में त्रिगुप्ति है, संवरयोग्य है। तात्पर्य यह है–ख्यातिलाभ, पूजादि की वाञ्छा के

---

१. (क) अलीयादि-णियत्ती वा मोणं वा होइ वदिगुत्ती।
–*नियमसार ६९-७०, धवला १/१, १, २/११६/९*

(ख) साधुसंवृत्तवाग्वृत्तेर्मौनारूढ़स्य वा मुनेः।
संज्ञादि-परिहारेण वाग्गुप्तिः स्यान्महामुनेः॥ –*ज्ञानार्णव १८*

(ग) थी-राज-चोर-भत्त-कहादि-वयणस्स पावहेउस्स परिहारोवचगुत्ती, अलीयादि-णियत्ती वयणं वा। –*नि. सा. ६७*

२. (क) कायकिरिया-णियत्ती काउसग्गे सरीरेगुत्ती।
हिंसाइणियत्तो वा सरीरगुत्तीति णिद्दिट्ठा॥ –*नियमसार ६९/७०*

(ख) स्थिरीकृत शरीरस्य पर्यंकसंस्थितस्य वा।
परीषहप्रणपातेऽपि कायगुप्तिर्मता मुनेः॥ –*ज्ञानार्णव १८*

(ग) सर्वेषां जनानां कायेषु बह्वयः क्रियाविद्यन्ते, तासां निवृत्तिः कायोत्सर्गः, स एव कायगुप्तिर्भवति। पंचस्थावरणां त्रसानां हिंसानिवृत्तिः कायगुप्तिर्वा।
–*नियमसार ता. वृ. ७०*

बिना मन-वचन-काया की स्वच्छंदताओं को रोकना ही क्रमशः गुप्तित्रय कहलाती है।

गुप्तियों को क्रियान्वित करने के उपाय और लाभ

इसके अतिरिक्त हमें शास्त्रों की आँखों से तीनों गुप्तियों को क्रियान्वित करने के उपायों और *उनके आध्यात्मिक लाभ के विषय में अनुचिन्तन करना आवश्यक है।*

मनोगुप्ति के दो रूपों से साधना में सरलता

मनोगुप्ति के जैनाचार्यों ने दो रूप बताए हैं–एक है निषेधात्मक और दूसरा है विधेयात्मक। मन का स्वभाव गतिशील है, इसके विपरीत इसे एक विषय पर स्थिर एवं एकाग्र करना–स्थितिशीलता है। अतः मनोगुप्ति का पूर्ण अर्थ हुआ–अशुभ चिन्तन से मन को हटाकर शुभ चिन्तन में स्थिर करना, शुभ भावों में केन्द्रित एवं एकाग्र करना। इसे ही भगवान महावीर ने धर्मध्यान कहा है, जिसे गौतम स्वामी ने धर्मशिक्षा या धर्मज्ञान कहा है।[1]

धर्मध्यान के चार अवलम्बनों पर मन की एकाग्रता

धर्मध्यान के चार आलम्बन या पाये हैं–आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और लोकविचय। इनके तात्पर्यार्थ क्रमशः ये हैं–(१) जिनोपदिष्ट तत्त्व या धर्म पर चिन्तन, (२) मन के राग-द्वेष-मोह आदि अपायों (दोषों) से मुक्त होने का चिन्तन, (३) पूर्वकृत अशुभ कर्मों के उदय के कारण शारीरिक वेदना, अनिष्ट संयोग आदि हैं, इस प्रकार पूर्वकृत कर्म का विपाक (फल) मानकर उसे समभाव से सहने तथा दूर रहने के उपायों का चिन्तन, (४) लोकस्थिति = संसारस्वरूप का चिन्तन।[2]

मनोगुप्ति के लिए तीन स्वरूपों का चिन्तन

मनोगुप्ति के तीन स्वरूपों का उल्लेख योगशास्त्र में किया गया है–(१) आर्त्त-रौद्रध्यानमूलक विचारों के जाल से मुक्त होना, (२) शास्त्रानुसार धर्मध्यान माध्यस्थ्यभाव एवं समत्व में सुस्थिर रहना, (३) कुशल-अकुशल सभी प्रकार की मनोवृत्ति का निरोध करके आत्म-भावों में रमण करना।[3]

---

१. "आगममुक्ता" से भाव ग्रहण, पृ. १९४

२. आज्ञापाय-विपाक-संस्थान-विचयाय धर्म्यमप्रमत्तसंयतस्य। —*तत्त्वार्थसूत्र* ९/३७

३. विमुक्त-कल्पनाजालं, समत्वे सुप्रतिष्ठितम्।
आत्मारामं मनस्तज्जैर्मनोगुप्तिरुदाहृता॥ —*योगशास्त्र* १/४१

मनोगुप्ति की साधना में सफलता के लिए तीन चिन्तन बिन्दु

'ज्ञानार्णव' में मनोगुप्ति की साधना में सफलता के लिए तीन चिन्तन बिन्दु दिये हैं–(१) राग-द्वेष पर अवलम्बित सभी संकल्पों को छोड़कर जो मन स्व (आत्मा) के अधीन करता है, (२) मन को समताभाव में स्थिर करता है, (३) सिद्धान्त की सूत्र रचना (जिनवाणी) पर चिन्तन-मनन में मन को सदा प्रेरित करता है, वही वास्तव में मनोगुप्ति में सफल होता है।[१]

मनोगुप्ति की साधना के दो मुख्य सोपान

आगमों के मन्थन करने से मनोगुप्ति की साधना के दो मुख्य सोपान प्रतिफलित होते हैं–प्रथम सोपान है–मन को सतत शुभ विचारों में लीन रखना, पवित्र भावों में बाँधे रखना, राग-द्वेष से रंजित ज्ञान या चिन्तन से मन की रक्षा करना, स्वाध्याय, ध्यान, आत्म-चिन्तन, परमात्म नाम स्मरण, जप, स्तुतिपाठ आदि विषयों में मन को लगाये रखना, ताकि वह अशुभ चिन्तन-मनन से दूर रहे।[२]

दूसरा सोपान है–मन को एक ही विषय पर स्थिर करना, जैसे कि आत्मा पर, शास्त्रवचन पर, शरीर पर, कर्म-विपाक (कर्मफल) पर, संसार (लोक) स्वरूप पर तथा बारह प्रकार की अनुप्रेक्षा, मैत्री आदि चार भावनाओं में से किसी एक पर अथवा अन्य किसी भी अवलम्बन को लेकर उसे एकाग्र करना। इस प्रकार की एकाग्रता से चित्त को ध्यान में तन्मय करके स्थिर कर लेने से अद्भुत आत्म-शक्ति जाग्रत हो जाती है।[३]

मनोगुप्ति से दो लाभ : एकाग्रता और विशुद्ध संयमाराधना

मनोगुप्ति की पूर्वोक्त सावधानियों और लक्षणों को ध्यान में रखकर साधना करने से क्या आध्यात्मिक लाभ होता है? इसके उत्तर में भगवान कहते हैं–मनोगुप्ति का साक्षात् फल है–एकाग्रता। एकाग्रता सिद्ध कर लेने से साधक संयम की विशुद्ध निर्दोष आराधना कर सकता है। यह अनन्तर फल है।[४] बिखरा हुआ मन शक्तिहीन रहता है, केन्द्रित मन शक्ति-पुँज बन जाता है।

---

१. विहाय सर्व-संकल्पान् राग-द्वेषावलम्बितान्।
स्वाधीनं कुरुते चेतः, समत्वे सुप्रतिष्ठितम्॥
सिद्धान्त-सूत्र-विन्यासे शाश्वत् प्रेरयतोऽथवा।
भवत्यविकला नाम मनोगुप्तिः मनीषिणः॥ *–ज्ञानार्णव १८/१*

२. 'आगममुक्ता' से भाव ग्रहण, पृ. १९६

३. 'आगममुक्ता' से भाव ग्रहण

४. (प्र.) मणगुत्तयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ?
(उ.) मणगुत्तयाए णं जीवे एगग्गं जणयइ। एगग्गचित्ते णं जीवे मणगुत्ते संजमाराहए भवइ।
–उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २९, बोल ५५

मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति तीनों के साथ क्रमशः मन, वचन एवं काया की संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ के रूप में तीन अवस्थाएँ हैं। उस-उस योग की तीन अवस्थायुक्त प्रवृत्ति से तीनों को रोकना ही तीन गुप्ति होती है।

संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ का लक्षण

हिंसा आदि कार्यों के लिए प्रयत्न करने का संकल्प करना संरम्भ है, उसी संकल्प एवं कार्य की पूर्ति के लिए साधन जुटाना समारम्भ है और अन्त में उस संकल्प को कार्यरूप में परिणत कर देना आरम्भ है। हिंसा आदि कार्य की, संकल्पात्मक सूक्ष्म अवस्था से लेकर उसको प्रकट रूप में पूरा कर देने तक, जो तीन अवस्थाएँ हैं, वे क्रमशः संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ हैं।

मनोगुप्ति की सम्यक् साधना के लिए

इस दृष्टि से मनोगुप्ति की व्यवहार में सम्यक् साधना हेतु मन को तीन प्रकार की अवस्थाओं में प्रवृत्त होने से बचाना आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि आर्त्त-रौद्र-ध्यान विषयक मन से अशुभ संकल्प करना संरम्भ है, जैसे—मैं ऐसा ध्यान करूँ, जिससे वह मर जाए इत्यादि। फिर पर-पीड़ाकारक उच्चाटनादि मंत्र से सम्बद्ध ध्यान के लिए उद्यत हो जाना समारम्भ है तथा मन से दूसरे के प्राणों को पीड़ा पहुँचाने वाले अशुभ ध्यान (संकल्प) में प्रवृत्त हो जाना। मनःसंवर या मनोगुप्ति के साधक को ऐसे अशुभ संकल्पत्रय में प्रवृत्त होने के विवाद तत्परता और प्रवृत्त होने में उद्यत मन को अशुभ से रोककर शुभ या शुद्ध चिन्तन में प्रवृत्त करे अथवा मन को निर्विकल्पता और निर्विचारता से अभ्यस्त करे।[१]

मनोगुप्ति के चार प्रकार

इसके अतिरिक्त 'उत्तराध्ययनसूत्र' में मनोगुप्ति आदि का विश्लेषण करते हुए उनके प्रत्येक के तीन-तीन प्रकार बताकर उनकी साधना करने की पृथक्-पृथक् विधि भी प्रतिपादित की है। मनोगुप्ति चार प्रकार की है—सत्या मनोगुप्ति, असत्या मनोगुप्ति, सत्यामृषा मनोगुप्ति और असत्यामृषा मनोगुप्ति। **सत्या मनोगुप्ति** का अर्थ है—मन में सत्य (सत्) पदार्थ का मनोयोगपूर्वक चिन्तन करना। जैसे—जगत् में जीव-तत्त्व है, इस प्रकार सत्य पदार्थ का चिन्तन करना। असत्य चिन्तन से निवृत्त होने से यह प्रथम मनोगुप्ति संवररूप होती है। **असत्या मनोगुप्ति** का अर्थ है—असत् पदार्थ का मनोयोगपूर्वक चिन्तन करना। जैसे—पाप-पुण्य मोक्ष के मार्गरूप नहीं हैं। इसमें

---

१. (क) 'श्रमणसूत्र' (उपाध्याय अमर मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. २४१

(ख) संरंभ-समारम्भे, आरंभे य तहेव य।
मणं पवत्तमाणं तु नियत्तेज्ज जयं जई॥

—*उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २४, गा. २१, पृ. ४१६-४१७*

पुण्य-पाप का मोक्षमार्ग के रूप में चिन्तन करना, दोनों के सम्बन्ध में मोक्षमार्ग निवृत्तिरूप संवर है। **सत्यामृषा मनोगुप्ति** का अर्थ है–सत् और असत् दोनों का मनोयोगपूर्वक चिन्तन करना–किसी बगीचे में आम, दाड़िम, लीची, अमरूद आदि सभी फलों के वृक्ष हैं, किन्तु बहुतायत से आम होने से वह आम्रवन है, ऐसा चिन्तन करना। यह भी पूर्ण असत् से निवृत्त होने रूप संवर है। **असत्यामृषा मनोगुप्ति** का अर्थ है–जो चिन्तन सत्य भी न हो और असत्य भी न हो। जैसे–वह राजा अन्याय से हटकर न्याय में प्रवृत्त हो जाए, ऐसा आदेश-निर्देशात्मक निरवद्य चिन्तन मन में करना।[1]

वचनगुप्ति के दोनों रूपों की साधना संवर-निर्जरा की कारण

मनोगुप्ति के बाद वचनगुप्ति की साधना में सफलता और उसके लाभ के विषय में विचार करना आवश्यक है। वैसे 'उत्तराध्ययनसूत्र' में वचनगुप्ति का लक्षण निवृत्तिपरक बताया गया है–आरम्भ आदि में वचन-प्रवृत्ति से निवृत्त होना वचनगुप्ति है। किन्तु 'आचारांगसूत्र' में इसके दोनों रूप मिलते हैं–(१) भगवान ने सिद्धान्त में जैसा कहा है, तदनुसार प्ररूपणा (कथन) करना, अर्थात् शास्त्र-मर्यादा के अनुसार वचन बोलना, अथवा (२) वाणी-विषयक मौन साधना वचनगुप्ति है। संक्षेप में, "शास्त्रानुसार निर्दोष वचन प्रयोग भी वचनगुप्ति है और सर्वथा मौन धारण करना भी वचनगुप्ति है।" 'नियमसार' में भी–'असत्य भाषण नहीं करना' अथवा 'मौन धारण करना', ये दो रूप वचनगुप्ति के बताये हैं। 'योगशास्त्र' में आचार्य हेमचन्द्र ने वचनगुप्ति के दोनों स्वरूप मान्य किये हैं–(१) आँख, भ्रू आदि के संकेत से रहित सर्वथा मौन रखना, तथा (२) आगमानुकूल संयत, भाषा बोलना, इसे जैनदर्शन में वाग्गुप्ति कहा जाता है। 'आचारांगसूत्र' की टीका में शीलांकाचार्य ने मुनि के भाव को 'मौन' कहा है। उसका आशय यह है कि मुनि जहाँ आवश्यकता होती है, वहाँ विवेकपूर्वक संयत भाषा में बोलता है तथा आवश्यक न होने पर या दोषयुक्त वचन के विषय में सर्वथा मौन रखना है, यही मुनि का भाव वचनगुप्तियुक्त भाव है।[2] अतः वचनगुप्ति के दोनों रूपों की साधना संवर-निर्जरा की कारण है।

---

१. सच्चा तहेव मोसा य, सच्चामोसा तहेव य।
चउत्थी असच्चमोसा मणगुत्ति चउव्विहा॥ *–उत्तराध्ययनसूत्र २४/२०*

२. (क) संरम्भ-समारम्भे आरंभेय तहेव य।
मणं पवत्तमाणे तु नियंतेज्ज जयं जई॥ *–वही २४/२३*

(ख) से जहे तं भगवया पवेदितं आसुपण्णेण जाणया पासया, अदुवा गुत्ती वइगोयरस्स। *–आचारांगसूत्र १/७/१/२०*

(ग) अलियादि-णियत्ती वा मोणं वा होई वदगुत्ती। *–नियमसार ६९*

(घ) संज्ञादि-परिहारेण यन्मौनस्यावलम्बनम्।
वाग्वृत्तेः संवृत्तिर्वा या सा वाग्गुप्तिरिहोच्यते॥ *–योगशास्त्र १/४२*

(ङ) मुनेर्भावो मौनम्। *–आचारांगसूत्र टीका २/६*

कब वचनगुप्ति, कब वचनगुप्ति नहीं?

आचार्य भद्रबाहु ने 'दशवैकालिक निर्युक्ति' में[1] वचनगुप्त-वचन-अगुप्त की मीमांसा करते हुए कहा है—जिसे वचनमर्यादा का ज्ञान नहीं है या जो वचनकला में अकुशल है, वह कुछ भी न बोले, तब भी उसका न बोलना वचनगुप्ति नहीं है, किन्तु जो व्यक्ति वचनमर्यादा का जानकार है या वचनकला में कुशल है, वह दिनभर भाषण करता है, तव भी वचनगुप्ति का प्राप्त है।

वचनगुप्ति के चार प्रकार और उनसे संवर कब तथा कैसे?

मनोगुप्ति की तरह वचनगुप्ति के भी चार प्रकार बताए गये हैं—(१) सत्या वचनगुप्ति, (२) असत्या वचनगुप्ति, (३) सत्यामृषा वचनगुप्ति, और (४) असत्यामृषा वचनगुप्ति। इन चारों का स्वरूप मनोगुप्ति की ही तरह है, अन्तर इतना ही है कि मनोगुप्ति में मन में उक्त-उक्त प्रकार का चिन्तन-मनन होता है, जबकि वचनगुप्ति में वचन से उक्त-उक्त प्रकार से बोलना होता है। वचनगुप्ति से संवर तभी हो सकता है—जब साधक अशुभ वचन में प्रवर्तभान वाणी (जिह्वेन्द्रिय) को अशुभ से शीघ्र हटाकर या रोककर शुद्ध या शुभ में प्रवृत्त करे या मौन करे। वचन से कर्कश, कठोर, हिंसाकारक, छेदन-भेदनकारक, आघातकारी, निश्चय भाषा सावद्य (पापजनक) भाषा, न बोले। जहाँ विवाद हो, कलह हो, वितण्डावाद हो, वहाँ साधक को मौन धारण करना ही श्रेयस्कर है। किसी को कटु, कर्कश, मर्मस्पर्शी एवं आघातजनक वचन न कहना भी वचनगुप्ति है। वह निन्दा-चुगली, विकथा, असत्य, दम्भ, छल-कपट आदि से दूर रहे। असत्य एवं मिश्र भाषा (जिसके दो या अनेक अर्थ निकलते हों) या जिस भाषा को दूसरा समझ न सके, ऐसी कलहकारक या निन्दाकारक भाषा से निवृत्त होना भी वाग्गुप्ति है।[2]

वचनगुप्ति के लिए तीन प्रकार के वचनों से बचना, हटना

वचनगुप्ति की साधना करने वाले को निम्नोक्त तीन अनिष्टों में बचने को प्रवृत्त होने से रोकना आवश्यक है—संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ। संरम्भ वचनगुप्ति का अर्थ है—दूसरे का विनाश या अनिष्ट करने में समर्थ शब्दों को

---

१. वयण-विभत्ति-अकुसलो, वओगयं बहुविहं अयाणंतो।
जइ वि न भासइ किंचि, न चेव वयगुत्तयं पत्तो॥२९०॥
वयण-विभत्ति-कुसलो, वओगयं बहुविहं वियाणंतो।
दिवसं पि भासमाणो, तहा वि वयगुत्तयं पत्तो॥२९१॥ —*दशवैकालिक निर्युक्ति* २९०-२९१

२. सच्चा तहेव मोसा य, सच्चामोसा तहेव य।
चउत्थी असच्चमोसा य, वइगुत्ती चउव्विहा॥२२॥

बोलने या मारण-उच्चाटन आदि के साधक मंत्रादि उच्चारण करने का विचार करना, जैसे—अमुक व्यक्ति मेरा दुश्मन है या जाति-कुलद्रोही है, विरोधी है, दूसरे सम्प्रदाय, प्रान्त या राष्ट्र का है, उसे मारने या उसका अनिष्ट करने में समर्थ शब्दों का मन में संयोजन करना। समारम्भ वचनगुप्ति है। उक्त अनिष्टकारक एवं संयोजित शब्दों का या पर-पीड़ाकारक मंत्रादि का उच्चारण करने के लिये उद्यत होना, स्वयं वैसा बीड़ा उठाना। आरम्भ वचनगुप्ति का अर्थ है—दूसरों को विनष्ट करने के कारणरूप मंत्रादि का जाप करना या उस प्रकार के अनिष्ट शब्दों का प्रयोग करना। वचनगुप्ति-साधक इन तीनों प्रकार के वचनों से अपनी जिह्वा को रोके तथा समय आने पर किसी जिज्ञासु को शास्त्र-वचन के यथार्थ अर्थ समझाए, अशुद्ध या अशुभ वचनों से रोके। शुद्ध मोक्षमार्ग का रहस्य विविध युक्तियों से समझाए। अशुभ विचार आते ही तत्काल उसे शुभ या शुद्ध वचन में प्रवृत्त करे। यही वचनगुप्ति का अशुभ निवृत्तिरूप संवर है।[1]

वचनगुप्ति से आध्यात्मिक लाभ

वचनगुप्ति की पूर्वोक्त सावधानी और अप्रमादपूर्वक साधना से साधक को क्या लाभ है? इस सम्बन्ध में भगवान महावीर से पूछने पर उन्होंने कहा—वचनगुप्ति से जीव को निर्विकारता प्राप्त होती है। ऐसा निर्विकार जीव अध्यात्मयोग की साधना में जुटा रहता है, अध्यात्म-साधना में तल्लीन हो जाता है। निर्विकारता का अर्थ है—कषायों, राग-द्वेष-मोह-मद-मत्सर-काम-भय आदि विकारों पर वह विजय प्राप्त कर लेता है, उनके वश में नहीं होता, कषाय-नोकषायों के प्रवाह में नहीं बहता। विकारों से बुद्धि चंचल होती है। बुद्धि स्थिर रहती है तो मन भी शान्त रहता है। मन शान्त होता है तो आत्मा में प्रसन्नता और समाधि रहती है। समाधि होने पर तो आत्मा अध्यात्मध्यान में लगती है। इस प्रकार निर्विकारता के क्रमशः सभी फल वचनगुप्ति से प्राप्त होते हैं।[2]

कायगुप्ति क्या, क्यों और उसकी सफलता कैसे ?

मनगुप्ति और वचनगुप्ति की साधना और उससे संवर-निर्जरा अर्जित करने का उपाय जान लेने के बाद कायगुप्ति की साधना की सफलता के विषय में जानना

---

१. संरम्भ-समारम्भे आरम्भे य तहेव य।
वयं पवत्त माणे तु नियंतेज्ज जयं जई॥ *—उत्तराध्ययनसूत्र २४/२३*

२. (प्र.) वयगुत्तयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?
(उ.) वयगुत्तयाए णं जीवे निव्वियारं जणयइ। निव्वियारे णं जीवे वइगुत्ते अज्झप्प-जोग-साहणजुत्ते यावि विहरइ।
—उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २९, बोल ५४; 'आगममुक्ता' से भाव ग्रहण, पृ. २०४

स्वाभाविक है। 'काय' का अर्थ यहाँ शरीर है और गुप्ति का अर्थ है–रक्षा। शरीर की रक्षा के लिए तो मनुष्य धन, जन, मकान, आजीविका, सुख-सुविधा, इन्द्रिय-विषय सुखों का उपभोग, विविध रसायन, औषध आदि का सेवन करता ही है। फिर शरीर की इस प्रकार की रक्षा से राग-द्वेष, कषाय, मोह, आसक्ति आदि बढ़ जाने के कारण तो अशुभ आस्रव और अशुभ कर्मबन्ध अधिकाधिक होता जाएगा जिसका कटुफल भोगना पड़ेगा।

शरीर को महत्त्व इतना क्यों ? इसकी रक्षा क्यों ?

शरीर रक्षा का यहाँ क्या मतलब है? क्यों और किसलिए तथा किनसे शरीर की रक्षा की जाए? इसके उत्तर में भगवान तथा विविध आचार्यों का कहना है– **"जिस प्रकार पर्वत से शीतल, निर्मल जल का झरना प्रवाहित होता है, उसी प्रकार शरीर से भी धर्म प्रवाहित होता है। अतः धर्म के साधनरूप शरीर की रक्षा प्रयत्नपूर्वक करनी चाहिए।"** कहा भी है–

"शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनम्।"

–शरीर ही धर्म का प्रथम साधन है। शरीर नहीं होगा तो केवल आत्मा से धर्म-पालन या क्षमादि या तप-संयमादि धर्म का आचरण कैसे हो सकेगा? 'दशवैकालिकसूत्र' में भी कहा गया है–

"मोक्ख-साहणहेउस्स साहु देहस्स धारणा।"

–मोक्ष का साधन होने से साधु के लिए देह का धारण करना उचित है। 'ऋषिभाषित' में भी कहा गया है–"जिस प्रकार समुद्र पार करने के लिये नाविक नौका की देखभाल करता है, जंगल पार करने के लिए सवार घोड़े की रक्षा व सँभाल करता है, पेट भरने के लिये भूखा व्यक्ति भोजन की रखवाली करता है, उसी प्रकार संसार से पार उतरने (पहुँचने) के लिए साधक देह की रक्षा करता है।" 'उत्तराध्ययनसूत्र' में भी स्पष्ट कहा है–"शरीर को नौका कहा है और जीव उस नौका की देखभाल करके चलाने वाला नाविक है। यह जन्म-मरणादिरूप संसार-समुद्र है। महर्षि या मोक्षरूप महान् लक्ष्य को प्राप्त करने के अन्वेषक, इस शरीररूपी निश्छिद्र एवं सुदृढ़ शरीर-नौका द्वारा संसार-सागर को पार कर जाते हैं।"

इस दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि शरीर का महत्त्व इसलिए है कि इससे तप, संयम आदि की साधना द्वारा, मोक्ष (कर्ममुक्ति) की मंजिल प्राप्त की जा सकती है। फिर शरीर मन्दिर है, आत्म-देवता के निवास के लिए। भगवान महावीर

से भी जब शरीर के विषय में पूछा गया तो उन्होंने भी कहा–"गौतम ! आत्मा भी काय है और काय आत्मा से अन्य (भिन्न) भी है।"[१]

तात्पर्य यह है कि शरीर का महत्त्व इसलिए है कि इसमें चैतन्यस्वरूप ज्ञानघन आत्मा स्थित है, वह इसका स्वामी है। शरीर द्वारा किये गए प्रत्येक कार्य का वह जिम्मेदार है। 'काय' में 'कायी' (आत्मा) की उपस्थिति के कारण या चैतन्यदेव के निवास के कारण शरीर का महत्त्व है। शरीर द्वारा होने वाली प्रत्येक शुभाशुभ प्रवृत्ति का फल भोगने वाला भी आत्मा है, कर्मबन्ध करने वाला भी वह है और कर्मफल समभाव से भोगकर क्षय करने वाला तथा कर्मों से सर्वथा मुक्त होने वाला भी आत्मा है। अतः शरीर संयमीयात्रा का, जीवनयात्रा का साधन है, वह मंजिल नहीं, मार्ग है। इसलिए इस शरीर की रक्षा भी करनी है और इससे त्याग, तप, व्रत, प्रत्याख्यान, संवर, निर्जरा आदि की साधना भी करनी है और वह हो सकती है–कायगुप्ति के मार्ग द्वारा।

परन्तु दूसरी ओर शरीर पर मोह, आसक्ति, राग आदि न कर बैठे, क्योंकि फिर वह शरीर संवर-निर्जरा धर्म की साधना के बदले प्रचुर अशुभ कर्म ही अधिक करेगा, पापास्रव की ओर ही अधिक झुकेगा। इसलिए भौतिक दृष्टि से इस शरीर को महत्त्वहीन बताते हुए कहा गया है–

"इमं सरीरं अणिच्चं असुइ-असुइ-संभवं।"

–यह शरीर अनित्य है, नाशवान् है, यह स्वयं अशुचि (अपवित्र पदार्थों से युक्त) है और अशुचि से ही पैदा हुआ है।[२]

इस प्रकार के अनित्य, अपवित्र शरीर (मानव-शरीर) पर त्याग, तप, वैराग्य, संयम, नियंत्रण रखकर संवर-निर्जरारूप धर्म या रत्नत्रयरूप धर्म का पालन करने

---

१. (क) शरीरं धर्मसंयुक्तं रक्षणीयं प्रयत्नतः।
शरीरात् स्रवते धर्मः पर्वतात् सलिलं यथा॥ *–स्थानांगसूत्र*

(ख) दशवैकालिकसूत्र चूर्णि

(ग) सागरेण व णिज्जोको, आतुरो व तुरंगमे।
भोयणं भिज्जएहिं वा, जाणेज्जा देहरक्खणं॥ *–ऋषिभाषित ३५/५१*

(घ) सरीरमाहु नावत्तिं, जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो॥ *–उत्तराध्ययनसूत्र २३/७३*

(ङ) (प्र.) आया भंते काए? अण्णे काए?
(उ.) गोयमा ! आया वि काए, अण्णे वि काए। *–भगवतीसूत्र*

(च) देखें–'आगममुक्ता' में शरीर की महत्ता के विषय में, पृ. २०८-२०९

२. (क) 'आगममुक्ता' (उपाध्याय केवल मुनि जी) से भावांश ग्रहण, पृ. २०७-२०८

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र, अ. १९, गा. १३

हेतु 'कायगुप्ति' बताई है। कायगुप्ति का अर्थ कायरक्षा के बदले काया पर संयम या नियंत्रण अधिक संगत है।

कायगुप्ति कहाँ-कहाँ, कैसे-कैसे की जाए ?

'उत्तराध्ययनसूत्र' में कहा गया है–खड़े होने में, बैठने में, करवट लेने व लेटने में, चलने-फिरने व गर्त्त आदि के लाँघने में तथा इन्द्रियों के किसी भी प्रकार के प्रयोग में संरम्भ (हिंसा का संकल्प), समारम्भ (हिंसाजनक साधन जुटाने) तथा आरम्भ (हिंसा में प्रवृत्ति) में प्रवृत्त होती हुई काया को एकदम रोके–निवर्तन करे (यह कायगुप्ति है), यतनापूर्वक काय-प्रवृत्ति करनी चाहिए।

तात्पर्य यह है कि कायगुप्ति के साधक को काया से किसी को मारने-पीटने, सताने या पीड़ा देने का मन में प्लान नहीं बनाना चाहिए, न ही मारने आदि के लिए मुक्का तानने, लाठी आदि शस्त्र उठाने, लात मारने, प्रहार करने के लिए उद्यत होना चाहिए और न ही किसी प्राणी पर तलवार आदि शस्त्र चलाना चाहिए। इतना ही नहीं, शरीर की चेष्टाओं, चंचलताओं या प्रवृत्तियों को सर्वथा रोकने का अथवा यथाशक्य अनावश्यक, निरर्थक, निष्प्रयोजन, निरुद्देश्य कायचेष्टा या अशुभ व सावद्य कायचेष्टा नहीं करनी चाहिए, जिससे दूसरे जीवों की हिंसा, विराधना या पीड़ावृद्धि हो।[1]

कायगुप्ति के दो रूप : साधना की सफलता के लिए

योगशास्त्र में कायगुप्ति के दो रूप बताये गए हैं–(१) उपसर्ग आदि विकट प्रसंगों के उपस्थित होने पर सर्वथा स्थिर होकर शरीरचेष्टा का त्याग करके कायोत्सर्ग करना; यह प्रथम कोटि की कायगुप्ति है। गजसुकुमाल मुनि एवं मैतार्य मुनि ने इसी कोटि की कायोत्सर्गमूलक कायगुप्ति अपनाई थी। (२) सोना, बैठना, उठना, पैर फैलाना आदि कायिक क्रियाओं, चंचलता या अविवेकपूर्ण चेष्टाओं अथवा अनावश्यक प्रवृत्तियों पर रोक लगाना; अर्थात् नियम व मर्यादा अनुसार शरीरचेष्टा करना; यह दूसरे प्रकार की कायगुप्ति है।[2]

---

१. (क) ठाणे निसीयणे चेव तहेव य तुयट्टणे।
उल्लंघण-पल्लंघणे, इंदियाण य जुंजणे॥२३॥
(ख) संरम्भ-समारम्भे आरंभम्मि तहेव य।
कायं पवत्तमाणं तु नियंतेज्ज जयं जई॥२४॥ –उत्तराध्ययनसूत्र २४/२३-२४

२. (क) उपसर्ग-प्रसंगेऽपि कायोत्सर्गजुषो मुनेः।
स्थिरीभावः शरीरस्य कायगुप्तिर्निगद्यते॥४३॥
शयनाऽसन-निक्षेपादान-चंक्रमणेषु च।
स्थानेषु चेष्टानियमः कायगुप्तिस्तु साऽपरा॥४४॥ –योगशास्त्र १/४३-४४
(ख) 'आगममुक्ता' से भाव ग्रहण, पृ. २१०
(ग) ज्ञानार्णव १८/१८
(घ) सिद्धसेनीया वृत्ति ९/४

कायगुप्ति के दो रूप : दूसरी अपेक्षा से

'तत्त्वार्थसूत्र' की सिद्धसेनीया वृत्ति में भी कायगुप्ति के दो रूप बताये हैं–(१) कायिक क्रियाओं (शरीर की समस्त चेष्टाओं) की सम्पूर्ण निवृत्ति अर्थात् समस्त कायचेष्टाओं का निरोध करके शरीर को एक ही स्थान पर, एक ही आसन पर स्थिर कर लेना–कायोत्सर्ग मुद्रा धारण कर लेना, कायोत्सर्ग–कायगुप्ति या कायचेष्टानिरोधरूप कायगुप्ति है। (२) हिंसादि पाप-प्रवृत्तियों से विरत होना कायगुप्ति है।

आगमों में कायगुप्ति के प्रेरक कुछ रूपक

इसके लिए कुछ रूपक विभिन्न आगमों में दिये गए हैं, संक्षेप में इस प्रकार हैं–'सूत्रकृतांग' के अनुसार–"जिस प्रकार चतुर कछुआ बाहरी आक्रमण को भाँपते हुए अपने शरीर के समस्त अंगों को अन्दर समेट लेता है, वैसे ही बुद्धिमान् (कायसंवर-साधक) अपनी आत्मा को पापकर्मों से (पापकारी प्रवृत्तियों से) सदैव बचाता रहे।" 'उत्तराध्ययनसूत्र' के अनुसार–"जैसे गरुड़ को आता देखकर साँप बहुत सँभलकर, उससे बचकर चलता है, वैसे ही (संवर-साधक) पाप-प्रवृत्तियों से बहुत सावधान होकर चले।" एक रूपक है–**भारण्डपक्षी का**। जैसे भारण्डपक्षी हमेशा सावधान और जागरूक रहता है, वैसे ही साधक सतत जागरूक एवं अप्रमत्त रहकर चले।[1]

कायगुप्ति का लक्ष्य संवर और निर्जरा का अर्जन

वस्तुतः कायगुप्ति का यही लक्ष्य है कि साधक सतत अप्रमत्त, संयत एवं नियंत्रित रहकर पापास्रवों का निरोध करे तो संवर उपार्जित कर सकता है और काया को आत्मलक्षी रखे, आत्मरमण करे तो निर्जरा भी।

यह कायगुप्ति नकली या असली ?

कुछ अज्ञानी जीव और मानव भी बगुले की भाँति काया को निश्चेष्ट करके, आँखें मूँदकर या श्वास को रोककर निश्चेष्ट होकर बैठ जाते हैं या खड़े ही खड़े रहते हैं अथवा निश्चेष्ट होकर लेट जाते हैं, यौगिक क्रियाओं से शरीर को निश्चेष्ट बना लेते हैं, ये और ऐसी चेष्टाएँ कायोत्सर्गमूलक कायगुप्ति नहीं कही जा

---

१. (क) जहा कुम्मे स अंगाइं सए देहे समाहरे।
एवं पावाइं मेहावी अज्झप्पेण समाहरे॥ *–सूत्रकृतांगसूत्र १/८/१६*

(ख) उरगो सुवण्ण पासेव्व संकमाणो तणुं चरे। *–उत्तराध्ययनसूत्र १४/४७*

(ग) भारंड-पक्खीव चरेऽप्पमत्तो। *–वही ४/६*

सकतीं। कायगुप्ति के साथ सम्यग्दृष्टि, संवर-निर्जरा तत्त्वबोध तथा विषयासक्ति या कषायादि के वश या किसी लौकिक लाभ या प्रसिद्धि के वश न होने की शर्त है। बाह्य इन्द्रियों के निरोध के साथ अन्तरंग का निरोध करना भी जरूरी है, तभी सच्चे माने में कायोत्सर्गमूलक कायगुप्ति हो सकती है। ऐसे अज्ञानतिमिर में फँसे लोग तीर्थंकर की आज्ञा का लाभ भी नहीं प्राप्त कर सकते।[1]

कायगुप्ति यदि विधिपूर्वक की जाए तो उससे कई आध्यात्मिक लाभ प्राप्त हो सकते हैं। भगवान से पूछा गया–"भंते ! कायगुप्ति से जीव को क्या लाभ होता है?"

उत्तर में उन्होंने कहा–"कायगुप्ति से जीव संवर अर्जित कर लेता है। संवर से काय गुप्त होकर आने वाले पाणास्रव का निरोध कर लेता है।"[2]

कायगुप्ति की साधना का मार्ग सरल नहीं कठिन है, जब तक मन एवं वचनयोग पर नियंत्रण करने का अभ्यास नहीं हो जाता, तब तक पूर्ण रूप से कायगुप्ति नहीं होती। कायगुप्ति से पूर्व मनगुप्ति और वचनगुप्ति को साध लेना इसलिए आवश्यक है कि मन-वचन स्थिर होने पर काय की स्थिरता आसान हो जाती है। फिर तीनों योग समान रूप से स्थिर होकर आत्मा के भीतर कर्मों की निर्जरा प्रारम्भ कर सकते हैं।

वास्तव में गुप्ति सच्चे माने में तभी गुप्ति कहलाती है, जब वह इन्द्रिय-विषयों में, पदार्थों में अथवा किसी सजीव-निर्जीव पदार्थ के प्रति राग, द्वेष, मोह करने में, पर-भावों अथवा कषाय-नोकषाय आदि विभावों में भटकती हुई मन-वचन-काया की त्रिवेणी को, तत्काल वहाँ से हटाकर या रोककर आत्माभिमुखी अन्तर्मुखी बनाती है और इस प्रकार माता की तरह संयमी आत्मा की रक्षा करती है, असंयम में भटकने से बचाती है और गुप्ति से निर्जरा भी तभी होती है, जब वह आत्मा का, आत्म-हित का सर्वतोमुखी चिन्तन करती है।

गुप्ति-पालक के लिए संवर के तत्काल प्रयोग का निर्देश

गुप्ति-पालक धीर साधक 'दशवैकालिकसूत्र' की इन दो गाथाओं को सदैव दृष्टिगत रखता है–

---

१. (क) णेत्तेहिं पलिछिण्णेहिं आयाण सोतगठिते बाले, अव्वोछिण्ण-बंधणेअणभिक्कंते संजोए। तमंसि अविजाणओ आणाए लंभोणत्थि। *–आचारांगसूत्र १/४/४/१४४*

(ख) 'आगममुक्ता' से भाव ग्रहण, पृ. २१२

२. (प्र.) कायगुत्तयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ?

(उ.) कायगुत्तयाए णं संवरं जणयइ। संवरेणं कायगुत्तो पुणो पावासव-निरोहं करेइ। *–उत्तराध्ययनसूत्र २९/५६*

"धीर साधक जहाँ भी अपने आप को अपने मन से, वचन से अथवा काया से दुष्प्रयुक्त जाने-देखे, वहीं उसी क्षण, उसी प्रकार स्वयं को वापस खींच ले, जैसे उत्पथ पर जाते हुए अश्व को अश्वारोही लगाम खींचकर तुरन्त रोक लेता है।"[१]

"समस्त सुसमाहित इन्द्रियों से सदा सतत आत्मा की (पर-भावों और विभावों से) रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि (पर-भावों और विभावों से) अरक्षित आत्मा जन्म-मरणादि संसारयुक्त पथ पर पहुँच जाती है और सुरक्षित आत्मा सभी दुःखों से मुक्त हो जाती है।"[२]

गुप्ति-पालन में सावधानी न रखे तो शीघ्र पतन

गुप्ति को जीवन में कार्यान्वित करने के लिए साधक को एक क्षण का भी विलम्ब किये बिना अपने तन-मन-वचन में आने वाले विभाव या पर-भाव को रोकना चाहिए। एक उदाहरण लीजिए—सुप्रसिद्ध योगी आनन्दघन जी आत्म-साधना में लीन रहते थे। एक बार उनके पास एक संन्यासी आया और बोला—"मैं आपके लिए एक रस कुप्पी की शीशी लाया हूँ। इस रस की एक बूँद हजारों-लाखों मन लोहे को सोना बना सकती है। आप इसे स्वीकार कीजिए।" आत्म-रक्षाकारिणी भावगुप्ति में लीन आनन्दघन जी ने उनसे पूछा—"क्या इसमें आत्मा है?" संन्यासी—"आत्मा-वात्मा की क्या बात करते हैं आप? इसमें तो सिद्धरस है।" आनन्दघन जी ने गुप्तिमाता का तत्काल स्मरण करते हुए कहा—"जिसमें आत्मा नहीं, जिससे आत्मा की पर-भावों और विभावों से रक्षा नहीं, जिससे आत्म-हित नहीं, वह वस्तु मेरे किसी काम की नहीं है। मुझे वह नहीं चाहिए।" संन्यासी ने विनम्र स्वर में कहा—"मेरे गुरु बहुत बड़े सिद्धपुरुष हैं। उनके जैसा दूसरा कोई योगी आज मेरे देखने में नहीं आया। मैंने आपके लिए आपके प्रति मित्रता के नाते, उनकी सेवा करके यह बहुमूल्य वस्तु प्राप्त की है। इसे लौटाइये मत। किसी भक्त का उद्धार कर देना।" आनन्दघन जी—"बन्धु ! आत्मरस इससे भी अनन्तगुणा मूल्यवान है, जड़रस की कीमत उसके आगे कानी कौड़ी भी नहीं है।" यों कहते हुए उन्होंने रसकुप्पी का ढक्कन खोलकर रस बहा दिया। संन्यासी की आँखें यह देखकर क्रोध से लाल हो गईं। आनन्दघन जी ने उन्हें शान्त करते हुए कहा—"बन्धु, हम संन्यासी हुए हैं आत्मरस पाने के लिए। हमें तो सदैव यह विचार

---

१. जत्थेव पासे कइ दुप्पउत्तं, काएण, वाया अदुमाणसेण।
तत्थेव धीरो पडिसाहरिज्जा, आइन्नओ खिप्पमिव खलीणं॥१४॥

२. अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो, सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ, सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ॥१६॥

—दशवैकालिकसूत्र, द्वितीय चूलिका, गा. १४, १६

करना चाहिए कि अपना आत्मरस कहाँ ढुल रहा है?" इस पर संन्यासी ने पूछा–"परन्तु क्या स्वर्णसर्जक सिद्ध करने की शक्ति आपके पास है?" योगी आनन्दघन जी–"आपको चाहिये क्या?" यों कहकर उन्होंने पास में ही पड़े हुए शिलाखण्ड पर पेशाब किया, तो तुरन्त ही वह सोने का बन गया। यह देखते ही संन्यासी का क्रोध हवा हो गया। सोचा–इतनी महान् शक्ति, जो इतने बड़े प्रलोभन को एकदम रोक देती है, फिर भी इतनी सरलता, इतनी विनम्रता और प्रसिद्धि-कामना नहीं!" वह संन्यासी आनन्दघन जी के चरणों में गिर पड़ा। "जिनने आत्म-रमणता के लिए सिद्धियों और प्रसिद्धियों का लोभ संवरण कर लिया है, जिन्हें पद-पद पर आत्म-गुप्ति (आत्म-रक्षा) की चिन्ता है, धन्य है उन्हें!"[1]

यह है–गुप्तित्रय का ज्वलन्त उदाहरण !

समिति और गुप्ति दोनों प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप हैं

तात्पर्य यह है कि समिति में सत्क्रिया = सम्यक् प्रवृत्ति की मुख्यता है, जबकि गुप्ति में असत्क्रिया के निषेध की मुख्यता है। इसीलिए 'बृहद्वृत्ति' में कहा गया है–गुप्तियाँ प्रविचार और अप्रविचार दोनों रूप होती हैं। वैसे समिति और गुप्ति दोनों चारित्ररूप हैं तथा चारित्र-ज्ञान-दर्शन से अविनाभावी है। समिति में नियमतः गुप्ति होती है, क्योंकि उसमें शुभ में प्रवृत्ति के साथ अशुभ से निवृत्तिरूप अंश नियमतः गुप्ति का अंश है। गुप्ति में प्रवृत्ति-प्रधान समिति की भजना है अर्थात् गुप्तियाँ एकान्त निवृत्तिरूप ही नहीं, प्रवृत्तिरूप भी होती हैं। यही कारण है कि इन्हें प्रवृत्तिरूप अंश की अपेक्षा से इन आठों को 'समिति' भी कह दिया गया है।[2]

तीनों गुप्तियों का व्यवहारदृष्टि से संक्षिप्त लक्षण

वस्तुतः गुप्ति में मन-वचन-काया इन तीनों के अशुभ योगों का निरोध ही मुख्य है। योग तीन हैं, वैसे गुप्ति भी तीन हैं। मनोयोग को दुष्ट संकल्पों, दुर्विचारों से रहित रखना, मन में दुर्ध्यान और दुश्चिन्तन न होने देना मनोगुप्ति है। वचनयोग का दुष्प्रयोग न करना, विवेकपूर्वक वचनयोग को शान्त रखना अथवा मौन का अवलम्बन लेना वचनगुप्ति है तथा काययोग का निश्चलन एवं नियमन कायगुप्ति है। ये तीनों गुप्तियों के व्यावहारिकदृष्टि से लक्षण हैं। इनसे पूर्वोक्त प्रकार से

---

१. 'अमर भारती' (मासिक) जुलाई, १९६७ से संक्षिप्त

२. (क) उत्तराध्ययनसूत्र (आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर), अ. २४, पृ. ४११

(ख) उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति पत्र ५१४

(ग) समिओ नियमा गुत्तो, गुत्तो समियत्तणंमि भइयव्वो।

(घ) एयाओ अट्ठ समिईओ। —*उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २४, गा. ३*

संयमन, नियमन एवं निश्चलन होता है। इन तीनों गुप्तियों से संवर का प्रयोग तो सहज है। अशुभ योग से निवृत्त होना शुभ योग-संवर है। मगर त्रियोगगुप्ति द्वारा निर्जरा तभी होती है जब इन तीनों से आत्म-भावों में प्रवृत्त हों! दूसरी दृष्टि से कहें तो–मन को संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ, इन तीनों प्रकार से विषयों (इन्द्रियों और मन के मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषयों में) तथा कषायों में प्रवृत्त होने से रोकना अथवा कम से कम गलत रूप से मन को मनन-चिन्तन-मन्थन-निर्णय करने से रोकना मन को अशुभ रूप से प्रवृत्त होने से रोकना मनोगुप्ति है। इसी प्रकार वचन को संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ, इन तीनों प्रकार से तीव्र-मन्द-मध्यम रूप से सावद्य वचन-प्रयोग से, निरर्थक-प्रयोग से तथा चारों विकथाओं, गप्पों, वाक्कलह, व्यर्थ विवाद आदि अशुभ वचनयोग में प्रवृत्त होने से रोकना वचनगुप्ति है। इसी प्रकार काया को भी निरर्थक चेष्टा, सावद्य-प्रयोग, किसी पर रोष–आवेश में आकर थप्पड़े, मुक्के, लाठी, शस्त्र आदि से प्रहार करने से रोकना कायसंवर है। काया के विविध अंगोपांगों हाथ, पैर, वाणी, इन्द्रियाँ तथा अन्य अवयवों पर संयम रखना भी कायगुप्ति है, जैसा कि 'दशवैकालिकसूत्र' में कहा गया है।[1]

● ●

१. हत्थसंजए, पायसंजए, वायसंजए संजइंदिए।
अज्झप्परए सुसमाहिअप्पा ....॥ —*दशवैकालिकसूत्र १०/१५*

८

संवर और निर्जरा का द्वितीय साधन : पंच-समिति

प्रवृत्ति में उत्तरोत्तर शुद्धता ही कर्ममुक्ति की यात्रा में उपयोगी

संसार का प्रत्येक प्राणी कोई न कोई प्रवृत्ति करता रहता है। प्रवृत्ति किये बिना वह रह नहीं सकता, व्यवहार नहीं कर सकता। जब तक मन, वचन और काया के योग हैं, तब तक उसे प्रवृत्ति करनी पड़ती है; यह बात दूसरी है, ज्यों-ज्यों मनुष्य उच्च गुणस्थान की भूमिका पर आरूढ़ होता है, त्यों-त्यों उसकी प्रवृत्ति अल्प, अल्पतर और अल्पतम होती जाती है। साथ ही उस प्रवृत्ति के साथ कषायों की मन्दता, उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है और दशम गुणस्थान में जाकर समाप्त हो जाती है, फिर भी उससे आगे मोह का या तो उपशमन होता है या फिर सीधा ही मोह का क्षय हो जाता है। ऐसी स्थिति में बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में योगों की प्रवृत्ति सहज होती है, इन दोनों गुणस्थानों में विकल्पपूर्वक प्रवृत्ति नहीं होती और जब चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम क्षण में अयोगी और शैलेशी (निष्कम्प) अवस्था आ जाती है, तब उन्हें कोई भी प्रवृत्ति नहीं करनी पड़ती। उनकी कर्ममुक्ति की यात्रा समस्त कर्मों से सदा के लिए सर्वथा छुटकारा हो जाने से पूर्ण हो जाती है। अतः प्रवृत्ति में क्रमशः उत्तरोत्तर शुद्धता ही कर्ममुक्ति की यात्रा में सहायिका बनती है।

सम्यक् प्रवृत्ति मुक्तियात्रा में सहायक कैसे बनती है?

प्रश्न होता है, इस प्रकार उत्तरोत्तर गुणस्थानों पर पहुँचने के साथ ही प्रवृत्तियों में कषायों की मन्दता, शून्यता तथा न्यूनता किस कारण से आती-जाती है? क्या रहस्य है उसका? जैन-कर्मविज्ञान इसका समाधान यों करता है कि जिसे कर्मों के आस्रव और बन्ध से मुक्ति पानी है, कर्मों का क्षय, क्षयोपशम और उपशम करना है, उसे प्रत्येक प्रवृत्ति करते समय संयम, यतना, विवेक और नियंत्रण के साथ करनी चाहिए।

समिति क्या है? उससे संवर-निर्जरा कैसे हो सकती है?

प्रवृत्ति पर इस प्रकार के संयम, नियमन, विवेक और यतना को कर्मविज्ञानविदों ने समिति कहा है। आचार्य नमि ने 'समिति' का व्युत्पत्यर्थ किया है– सम् = एकीभावेन, इतिः प्रवृत्तिः समितिः, शोभनैकाग्र-परिणाम-चेष्टेत्यर्थः। अर्थात् प्राणातिपात आदि अठारह पापों से विरत रहने के लिये प्रशस्त एकाग्रतापूर्वक की जाने वाली आगमोक्त सम्यक् प्रवृत्ति समिति है। तात्पर्य यह है कि कर्ममुक्ति के लिए उद्यत साधक यदि किसी भी प्रवृत्ति को प्रारम्भ करने से पहले यतना, सम्यक् विवेक, अनावश्यक प्रवृत्ति से निवृत्ति तथा आवश्यक प्रवृत्ति की मात्रा एवं संयम का भान रखता है, साथ ही प्रत्येक प्रवृत्ति के साथ प्रियता-अप्रियता, आसक्ति-घृणा, राग-द्वेष आदि के प्रवाह में न बहने का विवेक रखता है, तो वह कर्ममुक्ति के लिए आवश्यक संवर और निर्जरा का, कम से कम शुभ योग-संवर का उपार्जन कर सकता है।

समिति का व्यवहार और निश्चयदृष्टि से अर्थ

इस अपेक्षा से आचार्यों ने 'समिति' का व्यवहार और निश्चय दोनों दृष्टियों से अर्थ किया है। (१) व्यवहारदृष्टि से–पूर्वोक्त अर्थ के सन्दर्भ में 'सर्वार्थसिद्धि' में कहा गया है–प्राणिपीड़ा के परिहार के लिए सम्यक् प्रकार से अयन = प्रवृत्ति करना समिति है। 'उत्तराध्ययनसूत्र' की टीका के अनुसार–सर्वज्ञवचनानुसार आत्मा की सम्यक् (यतना एवं विवेकपूर्वक) प्रवृत्ति समिति है।[1] (२) दूसरा अर्थ 'प्रवचनसार' में निश्चयदृष्टि से किया गया है–"निश्चय से, स्व-स्वरूप में सम्यक् प्रकार से (इत) गमन अर्थात् परिणमन समिति है।" 'नियमसार' वृत्ति के अनुसार–"अभेद-अनुपचार से रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग पर स्व-परमधर्मी आत्मा के प्रति सम्यक् इति यानी गति = परिणति समिति है।" अथवा "निज परम तत्त्व में लीन सहज परम ज्ञानादिक परम धर्मों की संहति (मिलन = संगठन) समिति है।" 'द्रव्यसंग्रह टीका' में इसका परिष्कृत स्वरूप इस प्रकार अंकित है–"निश्चयनय की अपेक्षा अनन्त-ज्ञानादि स्वभाव-धारक निज आत्मा में सम यानी सम्यक् प्रकार से, अर्थात् समस्त रागादि विभावों के त्याग द्वारा आत्मा में लीन होना, आत्मा का चिन्तन करना, तन्मय होना इत्यादि रूप से अयन (गमन) यानी परिणमन होना समिति है।"[2]

---

१. (क) 'श्रमणसूत्र' (उपाध्याय अमर मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. २६६
   (ख) सर्वार्थसिद्धि ९/२/४०९
   (ग) उत्तराध्ययनसूत्र प्रियदर्शिनी टीका, अ. २४

२. (क) निश्चयेन तु स्व-स्वरूपे सम्यगितो गतः परिणतः समितः।
   –प्रवचनसार ता. वृ. २४०/३३२/२१

समितियाँ पाँच ही क्यों?

समितियाँ पाँच हैं—(१) ईर्यासमिति, (२) भाषासमिति, (३) एषणासमिति, (४) आदान-निक्षेपसमिति, और (५) परिष्ठापना (उत्सर्ग) समिति। 'समवायांगसूत्र' में भी इनका उल्लेख है।[1] कर्ममुक्ति की साधना करने वाले साधक को विहार, आहार, भिक्षा, नीहार (मलादि-विसर्जन) तथा अन्यत्र किसी प्रयोजन से विविध प्रकार की चर्या करने के लिए गमन-आगमन आदि करना पड़ता है, सोना-जागना, उठना-बैठना, चलना-फिरना आदि चर्या भी करनी पड़ती है। आवश्यकता के अनुसार मंगल पाठ सुनाने, प्रवचन करने, भाषण-सम्भाषण करने, स्वाध्याय करने या वाचना देने, अन्य किसी प्रकार की आवश्यक बातचीत करने के लिए बोलना भी पड़ता है। शरीर टिकाने तथा संयमपूर्वक जीवन-निर्वाह करने के लिए उसे आहार, पानी, वस्त्र, पात्र, पाट, चौकी, पुस्तक-ग्रन्थ, लेखन-सामग्री आदि आवश्यक पदार्थ भी लेने पड़ते हैं, भोज्य-पेय पदार्थों का सेवन भी करना पड़ता है। दैनिकचर्या के लिए उसने जो भी वस्त्र, पात्र, रजोहरण, पट्टा आदि उपकरण रखे हैं, उन्हें उठाना, रखना या सँभालना भी पड़ता है एवं शरीर से निःसृत होने वाले मल, मूत्र, थूक, कफ, पसीना, लींट आदि तथा भुक्तशेष अन्नादि, फूटे-फटे पदार्थों को डालना भी पड़ता है। इन और ऐसी आवश्यक प्रवृत्तियों का सर्वथा निरोध या निषेध साधक अवस्था में हो नहीं सकता। 'पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय' में इसी तथ्य का समर्थन किया गया है—सम्यक् प्रकार से गमन-आगमन, सम्यक् भाषा (उत्तम हित-मितरूप वचन), योग्य (एषणीय व कल्पनीय) आहार का ग्रहण-सेवन, पदार्थों का यतनापूर्वक ग्रहण-निक्षेपण, भूमि का प्रतिलेखन-प्रमार्जन करके मल-मूत्रादि का विसर्जन करना (इन पाँच मुख्य प्रवृत्तियों को सम्यक् प्रकार से करने के लिए ही) वास्तविक पंच-समिति है। इन पाँच समितियों में साधक की सभी आवश्यक प्रवृत्तियों का समावेश हो जाता है।

पिछले पृष्ठ का शेष—

(ख) अभेदानुपचार-रत्नत्रयमार्गेण परमधर्मिणमात्मानं सम्यगिति परिणतिः समितिः। अथवा निज परमतत्त्व-निरत-सहज-परमबोधादि परमधर्माणां संहतिः समितिः।

—*नियमसार ता. वृ. ६१*

(ग) निश्चयेनानन्त-ज्ञानादि-स्वभावे निजात्मनि सम अयनं गमनं परिणमनं समितिः।

—*द्र. सं. टीका ३५/१०१/३*

१. (क) ईर्या-भाषैषणाऽऽदान-निक्षेपोत्सर्गाः समितयः।

(ख) पंच समिईओ पण्णत्ता, तं.—ईरियासमिई, भासासमिई, एसणासमिई आयाण-भण्ड-मत्त-निक्खेवणा-समिई, उच्चार-पासवण-खेल-सिंघाण-परिठावणियासमिई।

—*समवायांग, समवाय ५*

सम्यक् विशेषण जोड़ने से ही वास्तविक समिति

इन पाँचों मुख्य प्रवृत्तियों के साथ 'सम्यक्' विशेषण जोड़ने पर ही ये 'समिति' होंगी। 'तत्त्वार्थसूत्र' (९/४) में जो सम्यक् शब्द अंकित है, उसकी अनुवृत्ति ईर्यासमिति आदि प्रत्येक के पूर्व जोड़ी जाएगी, तभी वे सच्चे माने में 'समितियाँ' कहलायेंगी। सामान्यतया ईर्या का अर्थ चलना और भाषा का अर्थ बोलना है। अपने इसी रूप में वे संवर नहीं होतीं, वे संवर तभी होती हैं जब व्यक्ति विवेकपूर्वक (सम्यक्) गमनक्रिया तथा विवेकपूर्वक भाषणक्रिया आदि करेगा। क्योंकि ईर्या, भाषा आदि शब्द सामान्य हैं। जब पाँचों के नाम के आगे सम्यक् (विवेकपूर्वक) विशेषण लग जाएगा, तभी वे पाँचों समितियाँ संवर बन सकेंगी। जैसे—सम्यक् ईर्या, सम्यक् भाषा, सम्यक् एषणा, सम्यक् आदान-निक्षेपण और सम्यक् उत्सर्ग (परिष्ठापन)।

दूसरी दृष्टि से 'भगवती आराधना' में 'सम्यक्' विशेषण लगाने का रहस्यार्थ इस प्रकार बताया गया है—"भलीभाँति जीवों के भेद तथा उनके स्वरूप के ज्ञान के साथ श्रद्धान गुण-सहित पदार्थों का उठाना-रखना, गमन करना, बोलना आदि जो प्रवृत्तियाँ की जाती हैं, वे सम्यक् होती हैं, वही (यथार्थ में) समिति है।"[1]

गुप्ति और समिति में अन्तर

प्रश्न होता है—गुप्ति में भी अशुभ योग का निग्रह और शुभ योग का संग्रह, अर्थात् अशुभ योग से निवृत्ति और शुभ योग में प्रवृत्ति होती है, इसी प्रकार समिति में भी अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति होती है, फिर दोनों में अन्तर क्या रहा?

इसका समाधान यह है कि गुप्ति में असत्क्रिया का निषेध मुख्य है, जबकि समिति में सत्क्रिया की प्रवृत्ति मुख्य है। गुप्ति अन्ततोगत्वा प्रवृत्तिरहित भी हो सकती है, परन्तु समिति कभी प्रवृत्तिरहित नहीं हो सकती। यह प्रविचार-प्रधान ही होती है। आवश्यक की टीका में एक प्राचीन गाथा से भी यह स्पष्ट है—

"समिओ नियमा गुत्तो, गुत्तो समियतणंमि भइयव्वो।
कुसलवइ मुदीरिंतो जं य गुत्तो वि समिओ वि॥"

तात्पर्य यह है कि गुप्ति प्रवृत्ति एवं निवृत्ति उभयरूप है, जबकि समिति केवल प्रवृत्तिरूप है। अतएव समिति वाला नियमतः गुप्ति वाला होता है, क्योंकि समिति भी सत्प्रवृत्तिरूप अंशतः गुप्ति ही है। परन्तु जो गुप्ति वाला है, वह विकल्प से समिति वाला होता है, यानी वह समिति वाला हो भी, नहीं भी हो। क्योंकि

---

१. (क) 'तत्त्वार्थसूत्र' (हिन्दी विवेचन सहित) (उपाध्याय केवल मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. ४०४

(ख) समिओ नियमा गुत्तो, गुत्तो समियतणंमि भइयव्वो।

(ग) एयाओ अट्ठसमिईओ। —*उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २४, गा. ३*

सत्प्रवृत्तिरूप गुप्ति के समय समिति पाई जाती है, मगर केवल निवृत्तिरूप गुप्ति के समय समिति नहीं पाई जाती। इसी तथ्य का प्रतिपादन आचार्य हरिभद्र ने किया है–"प्रवीचाराऽप्रवीचाररूपा गुप्तयः, समितयः प्रवीचाररूपा एव।" इन अष्ट प्रवचन माताओं को उत्तराध्ययनसूत्र में 'आठ समितियाँ' कहा गया है।

समिति का सम्यक् प्रयोजन : प्रमादरहितता तथा प्राणिपीड़ापरिहार

'मोक्षमार्ग-प्रकाश' में इसका रहस्य बताया गया है कि केवल परजीवों की रक्षा के लिए यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करना ही समिति नहीं है, अपितु दो प्रयोजनों को लेकर सच्चे माने में 'समिति' होती है–एक तो गमन, भाषण आदि उन-उन प्रवृत्तियों को सम्यक् प्रकार से करने में भी राग, मोह, आसक्ति, घृणा, अरुचि आदि प्रमाद न हो; दूसरे, किसी या किन्हीं जीवों को दुःखित करना गमन-भाषणादि क्रिया का प्रयोजन न हो, इस अपेक्षा से दया का स्वतः पालन होगा। यही सच्चे माने में सर्वांगपूर्ण समिति होगी।[1]

पाँच समितियों का प्रयोजन, लाभ तथा संयमविशुद्धि

'सर्वार्थसिद्धि' में बताया गया है कि इस प्रकार इन पाँच समितियों का प्रयोजन जीव-स्थानादिविधि को जानने वाले साधक द्वारा उन-उन प्राणियों की पीड़ा को दूर करना (अपने निमित्त से उन्हें पीड़ा न होने देना) है। 'भगवती आराधना' में समिति-पालन से लाभ बताया गया है कि "इन पाँच समितियों के पालन से संसार में रहता हुआ भी साधक पापकर्मों से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता, जिस प्रकार जल के स्नेहगुण से युक्त होने पर भी कमलपत्र जल से लिप्त नहीं होता।" 'सर्वार्थसिद्धि' के अनुसार–"प्रवृत्ति करते समय असंयम रूप परिणामों के निमित्त से जो कर्मों का आस्रव होता है, समितिपूर्वक प्रवृत्ति करने वाले साधक के उक्त आस्रव (कर्मागमन) का निरोध रूप संवर हो जाता है।"

'चारित्रपाहुड' के अनुसार ईर्या, भाषा आदि पाँचों समितियाँ संयम की विशुद्धि की कारण कही गई हैं।[2]

---

१. 'मोक्षमार्ग-प्रकाश ७/३३५/१०' से भावांश ग्रहण

२. (क) ता एताः पंच-समितयो विदितजीवस्थानादि-विधेर्मुनेः प्राणिपीडा-परिहाराभ्युपाया-वेदितव्याः। *–सर्वार्थसिद्धि ९/५/४११/१०*

(ख) पउमणि-पत्तं व जहा उदयेण ण लिप्पदि सिणेह-गुणजुत्तं।
तह समीदीहिं ण लिप्पइ साधू काएसु इरियंतो॥ *–भगवती आराधना १२०१*

(ग) प्रवर्त्तमानस्यासंयम-परिणाम-निमित्त-कर्मास्रवात् संवरो भवति। *–स. सि. ९/५/४११/११*

(घ) इरिया भासा एसणं जा सा आदाणं चेव निक्खेवो।
संजमसोहिणिमित्ते खंति जिणा पंच समिदिओ॥ *–चा. पा. मा. ३७*

ईर्यासमिति का लक्षण एवं विशेषार्थ

ईर्यासमिति का लक्षण 'मूलाचार' में इस प्रकार किया गया है—प्रासुक (जीवजन्तुरहित) स्थान या मार्ग से सूर्य के प्रकाश में अथवा दिन के उजेले में, साढ़े तीन (चार) हाथ प्रमाण (युगप्रमाण) भूमि देखते हुए, अपने आवश्यक कार्य के लिए प्राणियों को पीड़ा न पहुँचाते हुए संयम (यतना) पूर्वक गमन करना ईर्यासमिति है। किसी भी प्राणी को क्लेश न हो, इस प्रकार से यतना, सावधानी, मर्यादा और विधिपूर्वक युगपरिमाण भूमि देखते हुए चर्या करना, उठना, बैठना, भिक्षाचर्या करना, विहार करना, स्थंडिल भूमि के लिए गमनागमन करना तथा अन्य आवश्यक कार्यों के लिए गमनागमन करना, सोना, जागना इत्यादि सभी चर्याएँ करना ईर्यासमिति के अन्तर्गत हैं।[1] 'आचार्य हरिभद्र' के अनुसार—ईर्या-गमन (के विषय) में सत्प्रवृत्ति = एकाग्रभाव से चेष्टा करना ईर्यासमिति है।[2]

'राजवार्तिक' में बताया गया है कि ईर्यासमिति के सम्यक्-पालन के लिए जीवस्थान आदि के ज्ञाता तथा ज्ञानादि रत्नत्रयरूप शुद्ध धर्मपालन के लिए प्रयत्नशील साधक को सूर्योदय होने पर चक्षुरिन्द्रिय आदि से दिखने योग्य, मनुष्यादि के चरणों द्वारा क्षुण्ण एवं कुहरा, क्षुद्रजन्तु आदि से रहित मार्ग में एकाग्रचित्त होकर शनैः-शनैः चार हाथ आगे की भूमि को देखकर कदम रखते हुए पृथ्वीकायादि जीवों की विराधना न हो, इस प्रकार से गमन करना चाहिए। साथ ही ईर्यासमिति (ईर्यापथ) की शुद्धि के लिए अनेक प्रकार के जीवस्थान, योनिस्थान, जीवाश्रय आदि के विशिष्ट ज्ञानपूर्वक यतना के द्वारा जीवजन्तु की रक्षा की जाए तथा ज्ञान (मार्ग, नेत्र), सूर्य-प्रकाश और इन्द्रिय-प्रकाश से भलीभाँति देखकर गमन (चर्या) किया जाए तथा वह गमन भी शीघ्र-शीघ्र, विलम्बित, संभ्रान्त, विस्मित, लीलाविकार तथा अन्यमनस्क होकर अन्य दिशाओं की ओर देखना आदि गमन दोषों से रहित हो, तभी ईर्यापथ (ईर्यासमिति) की शुद्धि होती है।[3]

---

१. फासुयमग्गेण दिवा जुव्वंतरप्पेहेणा सकज्जेण।
जंतण परिहरदि इरियासमिदी हवे गमणं॥
मग्गुज्जोवुपओगावलंबण-सुद्धीहिं इरियदो मुणिणो।
सुत्ताणुवीचि भणिया इरियासमिदी पवयणम्मि॥ —*मूलाचार*

२. ईर्यायां समितिः ईर्यासमितिस्तया ईर्याविषये एकीभावेन चेष्टनम् इत्यर्थः। —*आचार्य हरिभद्र*

३. (क) विदित-जीवस्थानादि विधेर्मुनेर्धर्मार्थं प्रयतमानस्य सवितर्युदिते चक्षुषो विषयग्रहण-सामर्थ्ये उपजाते मनुष्यादि-चरणपातोपहताऽवश्याय-प्रायमार्गे अनन्यमानसः शनैर्न्यस्त-पादस्य संकुचिताऽवयवस्ययुगमात्रपूर्व-निरीक्षणाविहितदृष्टेः पृथिव्याद्यारम्भाभावात् ईर्यासमितिरित्याख्यायते।

ईर्यासमिति की परिशुद्धि के चार कारण तथा विशेष यतना

'उत्तराध्ययनसूत्र' में ईर्यासमिति की परिशुद्धि के लिए चार कारण बताए हैं- (१) आलम्बन, (२) काल, (३) मार्ग, और (४) यतना। ईर्यासमिति का आलम्बन (गमनागमन करने का मूल उद्देश्य या आधार) है-ज्ञान, दर्शन और चारित्र (इस रत्नत्रयरूप शुद्ध धर्म का पालन)। काल से तात्पर्य है-गमनादि चर्या कब करनी चाहिए? उसके लिए दिवस ही उपयुक्त बताया है, क्योंकि दिवस में सूर्य के प्रकाश में गमनादि चर्या करने से जीव-जन्तुओं की दया = रक्षा हो सकती है, अपने संयम की भी सम्यक् आराधना हो सकती है। रात्रि में विचरण करना या कोई भी चर्या करना साधक के लिए निषिद्ध है। रात्रि में शारीरिक कारणवश बड़ीनीति, लघुनीति आदि का परिष्ठापन करना पड़े तो दिवस में देखी हुई (प्रतिलेखित) भूमि का प्रमार्जन करके गमन करे। मार्ग से उन्मार्ग को छोड़कर गमन करना उपयुक्त है; क्योंकि उन्मार्ग में चलने से काँटे, कंकर आदि चुभने, सर्प, बिच्छू, चींटी आदि क्षुद्र जन्तुओं पर पैर पड़ने से उनकी तथा अपनी एवं गड्ढे व उबड़-खाबड़ मार्ग में गमन से स्वयं की हानि = विराधना होनी सम्भव है। यतना का वहाँ बहुत गहरा अर्थ है। सामान्यतया द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से यतना यहाँ चार प्रकार की कही गई है। द्रव्य से-नेत्रों से सूर्यप्रकाश से गन्तव्य मार्ग को देखकर चले। क्षेत्र से-युगप्रमाण (लगभग साढ़े तीन हाथ) आगे की भूमि देखकर चले। काल से-दिन को देखे बिना और रात्रि को अनिवार्य कारणवश चलना पड़े तो पूँजे बिना न चले अथवा जब तक चलता रहे तब तक देखकर चले। और भाव से-उपयोगपूर्वक गमन करे, अव्यवस्थित व्यग्रचित्त से गमन न करे। साथ ही गमन करते समय पंच-इन्द्रिय-विषयों, मन के विषय एवं वाचनादि पंचविध स्वाध्याय (गपशप एवं अन्यान्य बातें करना) छोड़कर केवल गमन क्रिया में ही तन्मय होकर उसी को मुख्य रूप से आगे करके (दृष्टिगत रखकर या महत्त्व देकर) उपयोगपूर्वक ईर्या (गति) करे। क्योंकि इन्द्रिय और मन के विषयों एवं पंचविध स्वाध्याय आदि में उपयोग लगाने से मार्ग और गमन सम्बन्धी उपयोग नहीं रह सकेगा।[१]

पिछले पृष्ठ का शेष-

(ख) ईर्यापथशुद्धिः नानाविध-जीवस्थान-योन्याश्रयावबोधजनित-प्रयत्न-परिहृतजन्तु-पीडा-ज्ञानादित्य-स्वेन्द्रिय-प्रकाश-निरीक्षित-देशगामिनी द्रुत-विलम्बित-सम्भ्रान्त-विस्मितलीला-विकार-दिगन्तरावलोकनादि-दोषविरहितगमना, तस्यां सत्यां संयमः प्रतिष्ठितो भवति विभव इव सुनीतौ। *-राजवार्तिक* ९/५/३/५९४/१ *तथा* ९/६/१६/५९७/१३

१. आलम्बणेण कालेण मग्गेण जयणाइ य।
चउकारण परिसुद्धं, संजए इरियं रीए॥४॥
तत्थ आलंबणं नाणं दंसणं चरणं तहा।
काले य दिवसे वुत्ते मग्गे उप्पहवज्जिए॥५॥

ईर्यासमितिपूर्वक गमन में सावधानी

आशय यह है कि ईर्या (चर्या) की शुद्धि के लिए गमन करने से पूर्व यह सोचना चाहिए कि वहाँ क्यों गमन करना है अर्थात् उसके गमन करने का प्रयोजन क्या है? इस गमन से ज्ञानादि रत्नत्रयरूप शुद्ध धर्म में कहीं आँच तो नहीं आएगी? यह गमन निरुद्देश्य तो नहीं है? क्या गमन करना अनिवार्य है या क्या गमन किये बिना काम नहीं चल सकता? किस क्षेत्र के लिए गमन करना है? क्या इस समय वहाँ जाने का उपयुक्त समय है? कितने समय के लिए गमन करना है? ताकि साधक की अन्य आवश्यक क्रियाओं में बाधा न आए। किस विधि से, किस **प्रकार** से गमन करना है? इत्यादि प्रश्नों के प्रकाश में सम्यक् चर्या (ईर्या) का **विचार** करेगा तो वह अनायास ही संवर (कर्मों के आस्रव का निरोध) कर सकेगा। अन्यथा अविचारित और अव्यवस्थित ढंग से गमनादि चर्या करने से कर्म-संवर के बदले कर्मों का आस्रव ही उपार्जित कर बैठेगा।

साथ ही आत्मार्थी-साधक को गमनादि चर्या के समय यह भी सोचना आवश्यक है कि कहीं इस गमन से, गन्तव्य स्थल पर जाने से आत्मा में राग-द्वेष, कषाय-कालुष्य तो नहीं बढ़ जाएगी? या पंचेन्द्रिय विषयों के पोषण से आसक्तिवश कर्मबन्ध तो नहीं हो जाएगा? आध्यात्मिक विकास में या आत्म-गुणों में क्षति पहुँचती हो तो उक्त गन्तव्य स्थल या क्षेत्र का गमन वर्जनीय समझना चाहिए।

चर्या करते समय साधक को दशवैकालिकसूत्र की चेतावनी

'दशवैकालिकसूत्र' में साधु-साध्वी को गमन-सम्बन्धी कुछ आवश्यक निर्देश दिये गए हैं। वे इस प्रकार हैं—साधक भिक्षाकाल या अन्य चर्या सम्बन्धी काल उपस्थित होने पर असम्भ्रान्त और अमूर्च्छित होकर गमन करे और क्रमशः आहार-पानी की गवेषणा करे। वह ग्राम या नगर में ...... चर्या करते समय मन्द-मन्द, अनुद्विग्न एवं अविक्षिप्त चित्त से युक्त होकर चले। अपने गन्तव्य पथ

पिछले पृष्ठ का शेष–

दव्वओ खेत्तओ चेव कालओ भावओ तहा।
जयणा चउव्विहा वुत्ता तं मे कित्तअओ सुण॥६॥
दव्वओ चक्खुसा पेहे, जुगमित्तं च खेत्तओ।
कालओ जाव रोएज्जा, उवउत्ते य भावओ॥७॥
इदियत्थं विवज्जित्ता सज्झायं चेव पंचहा।
तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे उवउत्ते रियं रिए॥८॥ —*उत्तराध्ययनसूत्र विवेचन, अ. २४, गा. ४-८*
(आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर), पृ. ४१२

पर आगे की युगप्रमाण भूमि को देखता हुआ बीज, हरितवनस्पति, प्राणी, कच्चा पानी, सचित्त मिट्टी आदि को वर्जित करता हुआ चले। वह फिसलन वाले, विषम (ऊबड़-खाबड़), स्थाणु (पर्वतीय या ठूँठ वाले) या कीचड़ वाले मार्ग पर गमन न करे, अन्य मार्ग हो तो उक्त मार्ग से संक्रमण करके न जाए। ऐसे संकीर्ण या स्खलित होने वाले मार्ग से जाने वाला साधक गहरे गड्ढे या खाई में गिर सकता है, पैर फिसलने पर भारी चोट या मोच आ सकती है। त्रस अथवा स्थावर प्राणियों की हिंसा हो सकती है। अतः दूसरा सही मार्ग हो तो सुसमाहित संयमी मुनि को उस गलत मार्ग से नहीं जाना चाहिए, जाना ही पड़े तो यतनापूर्वक जाए। जहाँ रास्ते में जलते हुए या बुझे हुए कोयले हों, राख का ढेर हो, तुस का ढेर हो, गोबर पड़ा हो, तो संयमी-साधक को रजयुक्त पैरों से उस पर नहीं चलना चाहिए। न ही साधक वर्षा बरस रही हो, ओस या कोहरा पड़ रहा हो, महावायु (अंधड़) चल रही हो, उड़ने वाले पतंगे आदि जीव उड़ रहे हों, उस समय गमन नहीं करना चाहिए और न ही ब्रह्मचारी दान्त साधक को जहाँ ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट होने की आशंका हो, ऐसे वेश्याओं या कुलटा स्त्रियों के निवासगृहों (बस्ती) से होकर नहीं जाना चाहिए। अन्यथा ऐसा करने से लोगों को ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य के विषय[1] में शंका हो सकती है अथवा उसकी भी ब्रह्मचर्य से स्खलना हो सकती है। इसी प्रकार जहाँ खूँख्वार शिकारी कुत्ते हों, प्रसूति गाय हो, मतवाला साँड, हाथी या घोड़ा उपद्रव कर रहा हो, बालकों का कलह हो रहा हो या परस्पर दो पक्षों में जमकर लड़ाई (युद्ध) हो रही हो, ऐसे मार्ग को दूर से ही छोड़ दे। साधक न तो ऊँचा मुख करके और न बिलकुल नीचे झुककर चले, किन्तु वह अनाकुल, प्रसन्नचित्त होकर तथा इन्द्रियों को यथायोग्य दमन करके चले। दवादव (जल्दी-जल्दी), रास्ते में बातें करता-बोलता हुआ या हँसी-मजाक करता हुआ या ठहाके मारकर हँसता हुआ उच्च-नीच कुलों में न जाए तथा रास्ते में चलता हुआ साधक प्रकाश को, बंद किये हुए द्वार को, दो मकानों की संधि को, परींडा आदि को, मलमूत्र के स्थानों को, स्नानगृह आदि को न देखे, ऐसे शंका स्थानों को टकटकी लगाकर न देखे। राजाओं के, सद्गृहस्थों के मंत्रणा स्थान को, कोटवालों अथवा पुलिसदल के संक्लेशकर स्थान को या गुप्तचरों के कक्ष को दूर से ही त्याग दे। आशय यह है कि साधक अशुभ स्थानों या बातों से दूर रहे, सम्यक् प्रकार से गमनागमन करे तभी ईर्यासमिति का पालन और उससे संवर का उपार्जन हो सकता है।[2] अतः

---

१. देखें–दशवैकालिकसूत्र, अ. ५, उ. १, गा. १-१६ की मूल गाथाएँ तथा उनके विवेचन (आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर)

२. वही, अ. ५, उ. १, गा. १२-१५

षट्कायिक जीवों की रक्षा तथा उनकी दया के विचार से भूमि को भलीभाँति देखकर आगे दृष्टि रखकर शान्तिपूर्वक धीरे-धीरे गमन करना–चलना ईर्यासमिति है।[1]

ईर्यासमिति-पालन में कुछ सावधानी रखनी चाहिए

'भगवती आराधना' में भी गमनागमन करते समय कुछ सावधानियों का निर्देश किया गया है–"मार्ग में गधा, ऊँट, बैल, हाथी, घोड़ा, भैंसा, कुत्ता और कलह करने वाले लोगों का दूर से ही त्याग करे, अर्थात् उनसे बचकर दूसरे निरापद मार्ग से जाए।.... इसी प्रकार रास्ते में भूमि के समानान्तर फलक, पत्थर वगैरह चीजें पड़ी हों, वहाँ उनसे बचकर चले अथवा दूसरे मार्ग से प्रवेश करना पड़े या भिन्न वर्ण की भूमि (मिट्टी) हो, तो वहीं से ही प्रमार्जनी से अपने हाथ-पैर आदि अंगों का प्रमार्जन करके फिर आगे बढ़े।"

ईर्यासमिति के कतिपय अतिचार : दोष

इसी ग्रन्थ में ईर्यासमिति के अतिचार इस प्रकार के बताये गए हैं–सूर्य के मन्द प्रकाश में गमन करना, जहाँ पैर रखना हो वह जगह नेत्रों से अच्छी तरह न देखना, चलते समय मन को अन्यान्य कार्यों में लगाना इत्यादि।[2]

आशय यह है कि इधर-उधर व्यर्थ भटकना, अपने मनोरंजन के लिए मनोरंजन-गृहों अथवा अन्य ऐसे समारोहों में जाना, महफिलों या कर्मबन्धजनक स्थानों में जाना अथवा बिना ही किसी अपवाद के जलयान, व्योमयान अथवा स्थलयान आदि द्वारा सैरसपाटे करना अथवा पैदल भी बिना किसी प्रयोजन के सैर करना ईर्यासमिति नहीं है, न ही उससे किसी प्रकार का संवर होता है; क्योंकि ऐसी गमनादि चर्याओं में अशुभ योगों से निवृत्ति भी प्रायः नहीं होती। मार्गानुसारी सद्गृहस्थ के लिए भी आवारा भटकना वर्जित है।

---

१. 'तत्त्वार्थसूत्र वि.' (उपाध्याय केवल मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. ४०५

२. (क) खरान् करभान् वलिवर्द्दान् गजां स्तुरगान् महिषान् सारमेयान् कलहकारिणो वा मनुष्यान् दूरतः परिहरेत्।...... मृदुना प्रतिलेखनेन कृतप्रमार्जनो गच्छेद्यदि निरन्तर-सुसमाहित-फलादिकं वाग्रतो भवेत् मार्गान्तरमस्ति। भिन्नवर्णां वा भूमिं प्रविशंस्तद्वर्णभूभाग एव अंगप्रमार्जनं कुर्यात्।

–भगवती आराधना (वि.) १२०६, १२०४/४

(ख) ईर्यासमितेरतिचारः–मन्दालोकगमनं, पद-विन्यास-देशस्य सम्यगनालोकनम्, अन्यगत चित्तादिकं। *वही १६/६२/४*

भाषासमिति : संवर और निर्जरा दोनों की कारण

ईर्यासमिति के पश्चात् भाषासमिति को संवर और निर्जरा का कारण बताया गया है। यह संवर की कारण है, यह तो स्पष्ट है कि इसमें सावद्य भाषा से निवृत्ति यानी अशुभ वचनयोग का निरोध और शुभ योग में प्रवृत्ति होती है। परन्तु निर्जरा यह तभी हो सकती है, जब मन ही मन आत्म-स्वरूप में रमणता, आत्म-स्वभाव में तल्लीनता की भावयुक्त भाषा प्रयुक्त की जाए, सावद्य (राग-द्वेष या कषाययुक्त) भाषा के प्रयोग के कारण पूर्वबद्ध अशुभ कर्मों के उदय में आने से पहले उनके अबाधाकालीन स्थिति के काल में राग-द्वेष-कषाययुक्त भाषा के प्रयोग का त्याग करने की आत्म-परिणति की जाए, आत्मा की निर्दोष, निरवद्य आवाज को सुनकर तदनुसार अनुप्रेक्षाभावना की जाए। बाह्याभ्यन्तर तप किया जाए अथवा सावद्यभाषाजनित पूर्वबद्ध कर्मों के उदय में आने पर उसके कटु-कठोर विपाक (फल) को समभाव से भोगा जाए, कोई व्यक्ति अपनी निन्दा, चुगली, बदनामी, दोषारोपण, द्वेषभाव, ईर्ष्याभावना रखता है, उस समय अपने ही द्वारा पूर्व में किये गए अशुभ कर्मों का फल जानकर उसे समभाव से सहन करके धैर्य और शान्ति से उसे भोगकर उस कर्म को क्षय (निर्जरा) किया जाए। हमने 'वचन-संवर' सम्बन्धी लेख में विस्तार से इसकी चर्चा की है।[1] 'आचार्य हरिभद्र' के अनुसार-आवश्यकता होने पर यतनापूर्वक हित, मित, सत्य, असंदिग्ध (स्पष्ट) वचन कहना भाषासमिति है।[2]

भाषासमिति : मौनरूप या व्यक्तभाषारूप?

शब्द अपने आप में पुद्गल है। अमनोज्ञ या निन्दायुक्त शब्द सुनकर जैसे मनुष्य द्वेषवश उसकी एक प्रकार की प्रतिक्रिया व्यक्त करता है, इसी प्रकार मनोज्ञ शब्द सुनकर भी राग (आसक्ति) वश दूसरे प्रकार की प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। ये दोनों ही प्रकार की भाषा निरवद्य नहीं है, समितियुक्त सम्यक् भाषा नहीं है। शब्द प्रयोग से दूसरों को अपना भी बनाया जा सकता है और शब्द प्रयोग से शत्रु भी बनाया जा सकता है। शब्द भले ही स्वयं कोई प्रतिक्रिया नहीं करता है, किन्तु शब्द प्रयोग करने वाला या शब्द सुनकर अशुभ वचन का प्रयोग करता है। कुछ लोगों का मत है, शब्द इतने बखेड़े पैदा करता है तो उसका प्रयोग ही न किया जाए, मौन रखा जाए, वही भाषासमिति हो जाएगी और उससे संवर भी प्रतिफलित होगा। परन्तु भाषासमिति की साधना इतनी सस्ती नहीं है। मौन रखने पर विकारात्मक चिन्तन के रूप में आन्तरिक भाषा का प्रयोग होने से वह भाषासमिति न होकर सावद्य भाषा प्रवृत्ति हो

---

१. देखें-'कर्मविज्ञान, भा. ३, खण्ड ६' में 'वचन-संवर की महावीथी' शीर्षक लेख, पृ. ७४९

२. भाषासमितिर्नाम हित-मितासंदिग्धार्थ भाषणम्। —*आचार्य हरिभद्र*

जाएगी। इसलिए भाषासमिति की साधना से संवर-उपार्जन हेतु निरवद्य चिन्तनरूप भाषा-प्रयोग अथवा निरवद्य मौन का प्रयोग करना श्रेयस्कर होता है। भगवान महावीर व्यक्त भाषा और अव्यक्त भाषा (मौन) दोनों को स्वीकार करते हैं। उनका दृष्टिकोण यह है कि राग-द्वेषयुक्त या कषाययुक्त शब्द कर्मविमोचक अथवा कर्मनिरोधक नहीं होता, वह कर्मबन्धक होता है, इसके विपरीत राग-द्वेष या कषाय से रहित शब्द प्रयोग कर्मबन्धक नहीं होता। वह या तो कर्मनिरोधक होगा या कर्मक्षयकारक होगा।[१] इसलिए भाषा का प्रयोग हो या मौन हो, दोनों ही भाषासमिति बन सकते हैं, बशर्ते कि वह भाषा या मौन भाषा राग, द्वेष, कषाय या नोकषाय से युक्त न हो। दूसरे शब्दों में–"जो भाषा आदमी को राग-द्वेष या कषाय से जोड़ती है, जो आदमी को परस्पर लड़ाती है, वह वितण्डावाद या बकवास है, इसके विपरीत जो भाषा आदमी को जोड़ती है, वह भाषासमिति है।"

भाषासमिति का दोहरा कार्य

इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्टतः समझ लेना ठीक होगा–एक बार महाराजा रणजीतसिंह हिन्दूधर्म के अनुसार माला फेर रहे थे मनकों को भीतर की ओर लेकर; पास ही बैठे फकीर अजीजुद्दीन इस्लामधर्म के अनुसार भी माला फेर रहे थे मनकों को बाहर की ओर लाकर। सहसा महाराजा रणजीतसिंह का ध्यान इस ओर गया। उन्होंने फकीर से पूछा–"शाह साहब ! यह बताइए कि तस्बीह के मनके अंदर की ओर फेरने चाहिए या बाहर की ओर?" फ़कीर क्षणभर रुककर बोले–विद्वानों ने माला फेरने के दो प्रयोजन बताये हैं–दूसरे की अच्छाइयों को भीतर ग्रहण करने का और अपनी बुराइयाँ बाहर निकालने का। आप सदैव अच्छी बातें ग्रहण करते हैं, इसलिए माला भीतर की ओर फेरते हैं। मैं अपनी बुराइयाँ बाहर निकालने के लिए प्रयत्नशील हूँ, इसलिए तस्बीह के मनके बाहर की ओर फिराता रहता हूँ। यही भाषासमिति के पूर्वोक्त दोनों उद्देश्य हैं। एक ओर से निरवद्य मौन भाषा का प्रयोग किया जाता है, तब वह (भाषासमिति) अंदर की ओर प्रवृत्त होती है, दूसरी ओर जब निरवद्य व्यक्त भाषा के रूप में उसका प्रयोग किया जाता है, तब वह बाहर की ओर प्रवृत्त होती है। अतएव भाषासमिति गुणग्रहण के रूप में अन्तर्मुखी भी है और दोष-निष्कासन के रूप में बहिर्मुखी भी है अथवा भाषासमिति अन्तर में अपनी आत्मा को अन्तर्मुखी बनाने की प्रेरणा देने वाली भी है और बाहर में स्व-पर के दुर्गुणों को बाहर निकालने की प्रेरणा देने वाली भी है।[२]

---

१. 'साधना का सोना : विज्ञान की कसौटी' (मुनि सुखलाल) के 'भाषासमिति : एक अध्ययन लेख से भावांश ग्रहण, पृ. १०३

२. वही, पृ. १०४

भाषा उत्थान की भी कारण, पतन की भी

वस्तुतः भाषा (वाणी) मनुष्य का पतन भी कर सकती है, अशुभ कर्मों के बन्धन में भी जकड़ सकती है और उत्थान भी कर सकती है, अशुभ कर्मों से निवृत्त भी कर सकती है, कर्मों के बन्धन से मुक्त भी कर सकती है। जो व्यक्ति भाषा की साधना करता है, उसे वह उत्थान के सोपान पर पहुँचा देती है। अतः भाषा को सम्यक् साधना के साथ जोड़ देने पर वह भाषासमिति बन जाती है। इसी कारण वह संवर और निर्जरा की कारण बनती है।

भाषासमिति और असमिति में अन्तर

वैयाकरण पाणिनि ने अपने महाभाष्य में कहा है–

"एकः शब्दः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गेलोके च कामधुक् भवति।"

–एक शब्द का सुन्दर ढंग से प्रयोग करने पर वह स्वर्ग और इस लोक में कामपूरक हो जाता है। 'कादम्बरी' के रचयिता वाणभट्ट मरणशय्या पर पड़े थे। उनकी यह रचना अधूरी थी, उसे पूरा करने की उन्हें चिन्ता थी। उन्होंने अपने दोनों पुत्रों को परीक्षा की दृष्टि से बुलाकर कहा–"देखो, 'सामने यह वृक्ष खड़ा है' इस पर अपनी-अपनी वाक्य रचना करके सुनाओ।" दोनों में एक पुत्र ने वाक्य रचना की–"**शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे।**" (यह सूखा वृक्ष सामने खड़ा है)। दूसरे ने वाक्य रचना में लालित्य और सरसता लाते हुए कहा–"**नीरस तरुरयं विलसति पुरतः।**" (यह नीरस तरु सामने सुशोभित हो रहा है)। इस वाक्य को सुनकर वाणभट्ट ने अपनी अधूरी रचना (कादम्बरी) को पूर्ण करने की जिम्मेदारी दूसरे पुत्र को सौंपी। बात एक ही कहनी है, किन्तु एक सरस, सम्यक् भाषा में कहता है और दूसरा कर्कश और कठोर भाषा में। यहाँ भाषासमिति और असमिति का अन्तर है।

एक राजा ने स्वप्न में देखा कि "मेरे सारे दाँत गिर गए हैं।" प्रातःकाल एक स्वप्न-पाठक को बुलाकर उक्त स्वप्न का फल पूछा तो उसने सीधा ही कह दिया– "आपकी मृत्यु शीघ्र ही होने वाली है।" यह अशुभ बात सुनकर राजा उस पर अत्यन्त कोपायमान हो गया और उसे जेल के सींखचों में बंद कर दिया। थोड़े ही दिन बाद एक दूसरा ज्योतिषी कहीं से घूमता-घामता आ पहुँचा। राजा ने उसकी आवभगत की और उसी स्वप्न का फल पूछा तो उस चतुर विद्वान् ने सरस शब्दों में कहा–"महाराज ! आप अपने सामने अपने जीते जी सारे परिवार को देख सकेंगे।" इस वाक्य का आशय तो वही था कि "राजा की मृत्यु शीघ्र ही होगी और अपने परिवार को देखते-देखते मर जाएगा।" परन्तु राजा को दूसरे पण्डित की बात बहुत रुचिकर लगी। उसने उक्त पण्डित को पारितोषिक भी दिया। आशय एक होते हुए भाषा के अरुचिकर और रुचिकर प्रयोग का अन्तर है।

'अन्धे को अन्धा कहना' सत्य होते हुए भी पर-पीड़ाकारक भाषा है और सूरदास कहने में शिष्ट भाषा है। यही अन्तर भाषासमिति और असमिति का है।

भाषासमिति : विभिन्न अर्थों में

अतः मूलाचार में असत्य का दोष लगे, इस प्रकार के पैशुन्य, व्यर्थ हँसी-मजाक, कर्कश-कठोर वचन, पर-निन्दा, आत्म-प्रशंसा और चार प्रकार की विकथा इत्यादि वचनों को छोड़कर स्व-पर-हितकारक वचन बोलने को भाषासमिति कहा गया है। 'राजवार्तिक' के अनुसार–मोक्ष-पद-प्राप्त कराने के प्रधान फल वाले स्व-पर-हितकारी (हित), मित, निरर्थक-प्रलापरहित, स्पष्टार्थक, व्यक्ताक्षर वाले एवं असंदिग्ध वचन बोलना भाषासमिति है। (भाषासमिति की शुद्धि के लिए) "मिथ्याभिधान, असूयाकारी, प्रियभेदक, अल्पसारयुक्त, शंकित, भ्रान्त, कषाययुक्त, परिहासयुक्त, अयुक्त, असभ्य, निष्ठुर, अधर्म-विधायक, देशकाल-विरोधी और चापलूसी आदि वाग्दोषों से रहित भाषण करना चाहिए।[1]

भाषासमिति की शुद्धि के लिए सुझाव

'उत्तराध्ययनसूत्र' में भाषासमिति की शुद्धि के लिए कुछ निर्देश दिये गए हैं–(भाषासमिति-साधक) क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, मौखर्य और विकथाओं के प्रति सतत उपयोगयुक्त होकर रहे। प्रज्ञावान् संयमी साधु इन (पूर्वोक्त) आठ स्थानों को त्यागकर उपयुक्त समय पर निरवद्य (पाप = दोषरहित) और परिमित भाषा बोले।[2]

---

१. (क) पेसुण्ण-हास-कक्कस-परणिंदाऽप्पप्पसंस-विकहादो।
वज्जित्ता सपरहिदं भासासमिदी हवे कहणं॥१२॥
सच्चं असच्च-मोसं अलियादी-दोसवज्जमणवज्जं।
वदमाणस्सणुवीची भासासमिदी हवे सुद्धा॥३०७॥ —*मूलाचार* १२, ३०७

(ख) मोक्ष-पद-प्रापण-प्रधानफले हितम्। तद् द्विविधम्-स्वहितं परहितं चेति। मित्तमनर्थक-प्रलपन-रहितम्। स्फुटार्थं व्यक्ताक्षरं चासंदिग्धम्। एवं विधमनिधानं भाषासमितिः। तत्प्रपंचः-मिथ्याभिधानासूया-प्रियसंभेदल्प्रसार-शंकित-सम्भ्रात-कषाय-परिहासायुक्तासभ्य-निष्ठुर-धर्मविरोध्यदेशकालालक्षणाति-संम्तवादि-वाग्दोष-विरहिताभिधानम्। —*राजवार्तिक* ९/५/५/५९४/१७

२. कोहे माणे य मायाए लोभे य उवउत्तया।
हासे भए मोहरिए विगहासु तहेव य॥९॥
एयाई अट्ठाणाइं परिवज्जित्तु संजए।
असावज्जं मियं काले भासं भासेज्ज पन्नवं॥१०॥ —*उत्तराध्ययनसूत्र* २४/९-१०

वाक्यशुद्धि कैसे-कैसे हो?

'राजवार्तिक' में भाषासमिति के सन्दर्भ में वाक्यशुद्धि का चिन्तन प्रस्तुत किया गया है, जिसमें पृथ्वीकायिक आदि षट्कायिक जीवों के आरम्भ (बन्ध) आदि की प्रेरणा न हो तथा जो भाषा कठोर, निष्ठुर आदि पर-पीड़ाकारी प्रयोगों से रहित हो, जो भाषा व्रतशीलादि का उपदेश देने वाली हो, वही भाषासमिति के योग्य वाक्यशुद्धि है, जोकि सर्वथा योग्य, हित, मित, मधुर, कोमल और मनोहर वाक्यशुद्धि है। वस्तुतः वाक्यशुद्धि सभी सम्पदाओं का आश्रय है।[1]

भाषासमिति की अनन्यभाव से आराधना, साधना करता है, वह व्यक्ति 'भगवती आराधना' में बताए गए भाषासमिति के निम्नोक्त अतिचारों से बचता है और व्यक्त अशुभ भाषा योग से बचकर इस समिति की साधना को सार्थक और पूर्ण करता है।

भाषासमिति के अतिचार

यह वचन कहना उचित (योग्य) है, इसका विचार न करके बोलना; वस्तु-स्वरूप का ज्ञान न होने पर भी बोलना अथवा दो व्यक्ति बात कर रहे हैं, उस समय कौन-सा प्रकरण या विषय चल रहा है? इसका पता न होने पर भी बीच में बोलना अयोग्य है। जिस साधक ने शुद्ध धर्म का स्वरूप जाना-सुना नहीं, उसे अपुष्ट कहा गया है, ऐसे अपुष्ट साधक को यदि भाषासमिति का क्रम ज्ञात नहीं है तो मौन करे। ये और इस प्रकार के भाषासमिति के अतिचारों को जानकर वाक्यशुद्धि करे।[2] इसके अतिरिक्त कर्कश, कठोर, निश्चयकारी, हिंसाकारी, छेदन-भेदनकारी (विघटनकारी = संघ में फूट डालने वाली), सावद्य-पापयुक्त, असत्य और मिश्र भाषा बोलना भी भाषासमिति के अतिचार हैं। साधक के लिए द्रव्य से पूर्वोक्त ८ प्रकार की भाषा न बोलना, क्षेत्र से–रास्ते में चलते हुए बोलना, काल से–प्रहर रात्रि बीतने के बाद उच्च स्वर से न बोलना और भाव से–उपयोगरहित न बोलना, इस सन्दर्भ में ये भी भाषासमिति की शुद्धि के अंग हैं,

---

१. वाक्यशुद्धिः पृथ्वीकायिकारम्भादि-प्रेरणरहिताः (ता) परुष-निष्ठुरादि-परपीड़ाकर-प्रयोग-निरुत्सुका व्रत-शील-देशनादि-प्रधानफला हित-मित-मधुर-मनोहरा संयतस्य योग्या, तदधिष्टाना हि सर्वसम्पदः। *–राजवार्तिक* ९/६/१६/५९८/१

२. इदं वचनं मम गदितुं युक्तं न वेति अनालोच्य भाषणं अज्ञात्वा वा। अतएवोक्तं 'अपुट्ठो दु ण भासेज्ज भासमाणस्स अंतरे' इति अपृष्टश्रुत धर्मतयामुनिः अपृष्ट इत्युच्यते। भाषासमिति-क्रमानभिज्ञो मौनं गृण्हीयात् इत्यर्थः। एवमादिको भाषासमित्यतिचारः।

–भगवती आराधना (वि.) १६/६२/४

इनसे संवर गुणों को अर्जित किया जा सकता है।[1] 'दशवैकालिकसूत्र' के ७वें अध्ययन में सुवाक्यशुद्धि का विस्तार से निरूपण किया गया है।

एषणासमिति : स्वरूप, उद्देश्य और तात्पर्य

आवश्यक साधनों या उपकरणों, जो जीवन-यात्रा के लिए अनिवार्य हों, की निर्दोष गवेषणा करके उन्हें प्राप्त करने का प्रयास करना एषणासमिति है। अर्थात् संयम-यात्रा में आवश्यक निर्दोष आहार, पानी, वस्त्रादि साधनों का ग्रहण एवं उपभोग (सेवन) करने में सावधानीपूर्वक प्रवृत्ति करना एषणासमिति है।

एषणासमिति का उद्देश्य बताते हुए 'राजवार्तिक' में कहा गया है–गुणरत्नों को वहन करने वाली शरीररूपी गाड़ी को समाधि-नगरी की ओर ले जाने के इच्छुक साधुवर्ग का जठराग्नि के दाह का शमन करने के लिए औषध की तरह अथवा गाड़ी की धुरी में औंगन देने की तरह अन्नादि आहार को स्वाद न लेते हुए ग्रहण और सेवन करना एषणासमिति है।

'मूलाचार' के अनुसार–एषणासमिति तभी शुद्ध होती है, जब साधक द्वारा उद्‌गम, उत्पाद, एषणा (तथा पाँच मण्डल के) इन ४२ या ४७ अशन आदि दोषों से रहित आहार, पुस्तक, उपधि या वसति आदि का शोधन किया जाता है।

इसका विशेष तात्पर्यार्थ बताते हुए कहा गया है–"उद्‌गमादि (४७ या ४६) दोषों से रहित आहार से क्षुधानिवृत्ति करना तथा धर्मसाधनादि से युक्त, कृतकारित-अनुमोदित आदि नौ विकल्पों से विशुद्ध (रहित), ठण्डे-गर्म आदि आहार में राग-द्वेषरहित होकर समभावपूर्वक भोजन करना, इस प्रकार का आचरण करना एषणासमिति का प्रयोजन है।"[2]

---

१. (क) आवश्यकसूत्र में प्रतिक्रमण आवश्यक

(ख) दशवैकालिकसूत्र, अ. ७, सुवाक्यशुद्धि

२. (क) अनगाररूप गुणरत्न-संचय-संवाहि-शरीर-शकटि-समाधिपत्तनं निनीषतोऽक्ष-भ्रक्षणमिव शरीर-धारणमौषधमिव जाठराग्नि-दाहोपशम-निमित्तमशाद्यनास्वादयो देश-काल-सामर्थ्यादि-विशिष्टमगर्हितमभ्यवहरतः उद्‌गमोत्पादनैषणा-संयोजन-प्रमाण-कारणांगार-धूम-प्रत्यय-नवकोटि-परिवर्जनमेषणासमितिरिति समाख्यायते।

–*राजवार्तिक* ९/५/६/५९४/२१

(ख) छादाल-दोस-सुद्धं कारणजुत्तं विसुद्ध-नवकोडी।
सीदादी-समभुत्ती-परिसुद्धा एसणा समिदी॥१३॥
उग्गम-उप्पादण-एसणेहिं पिंडं च उवधिं सिज्जं च।
सोधंतस्स य मुणिणो परिसुज्झइ एसणासमिदी॥३१८॥ –*मूलाचार* १३, ३१८

एषणासमिति का तीन एषणाओं द्वारा परिशोधन

'उत्तराध्ययनसूत्र' में इसका विशेष स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है- "एषणाशुद्धि के लिए साधक गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा से आहार, उपधि और शय्या इन तीनों का परिशोधन करे। यतनापूर्वक प्रवृत्ति करने वाला साधक (संयत) प्रथम एषणा (गवेषणा-गाय की तरह एषणा = शुद्ध निर्दोष आहार की खोज = तलाश) करने में उद्गम और उत्पादना सम्बन्धी (१६ + १६ = ३२) दोषों का शोधन करे, दूसरी एषणा (ग्रहणैषणा) विशुद्ध आहार आदि ग्रहण करने के सम्बन्ध में एषणा = विचारणा करे, अर्थात् दोषों की शोधना करे तथा तीसरी परिभोगैषणा (आहार के मण्डल में बैठकर आहार का उपभोग = सेवन करते समय की जाने वाली एषणा) में अंगार, धूप, संयोजना, प्रमाण और कारण इन पाँच दोषों का परिशोधन करे।[1] तात्पर्य यह है कि एषणासमिति में गवेषणा में आधाकर्म, औद्देशिक आदि १६ उद्गम के तथा धात्री, दूती आदि १६ उत्पादना के, यों ३२ दोषों का तथा ग्रहणैषणा में शंकित, भ्रक्षित, निक्षिप्त आदि एषणा के दस दोषों का शोधन करना एवं परिभोगैषणा में संयोजना, प्रमाण, अंगार, धूम तथा कारण, इन ५ मण्डल-दोषों (आहार-सेवन करते समय लगने वाले दोषों) का शोधन करना है। ये तीनों एषणाएँ केवल आहार के विषय में ही नहीं, अपितु उपधि (धर्मोपकरण), शय्या (उपाश्रय-संस्तारक आदि) के विषय में भी शोधन करनी हैं। अर्थात् आहार, शय्या, उपधि इन तीनों के विषय में पूर्वोक्त एषणात्रय द्वारा शोधन करना है। 'आवश्यकसूत्र' में इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है-द्रव्य से-उद्गमादि ४२ दोष वर्जित करके आहारादि ग्रहण करे, क्षेत्र से-दो कोस उपरान्त ले जाकर न भोगे, काल से-पहले प्रहर का लाया हुआ अन्तिम प्रहर में न भोगे, भाव से-पाँच मांडला के दोष वर्जित करे। इस प्रकार द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा द्वारा अन्वेषण करके आहारादि का सेवन करने से एषणासमिति का शोधन हो जाता है।[2]

एषणासमिति के विवेकपूर्वक पालन से संवर और निर्जरा

साधक के जीवन में उपयोगी, धर्मपालन करने में सहायक आहार, उपकरण एवं शय्या आदि वस्तुएँ कितनी मात्रा में, किस विधि से, कैसी, कब, किससे और

---

१. गवेसणाए गहणे य परिभोगेसणा य जा।
आहारोवहिसेज्जाए एए तिन्नि विसोहए॥१२॥
उग्गमुप्पायणं पढमे बीए सोहेज्ज एसणं।
परिभोयंमि चउक्कं विसोहेज्ज जयं जई॥१३॥
- *उत्तराध्ययनसूत्र २४/१२-१३; विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ४१४*

२. देखें-आवश्यकसूत्र में श्रमण प्रतिक्रमण में पाँच समिति पाठ

कैसे लेनी चाहिए? इन्हें लेने और इनका उपभोग (सेवन) करते समय किन-किन बातों का विवेक करना चाहिए? इत्यादि विचार करने से प्रमाद (असावधानी) से *अनावश्यक एवं निरर्थक लगने वाले दोषों से तथा* अमर्यादित प्रमाण में सेवन से होने वाले कर्मास्रव का निरोध होने से एषणासमिति द्वारा संवर का उपार्जन हो जाता है। इसके अतिरिक्त आहार उपधि आदि का त्याग-प्रत्याख्यान करने अथवा न मिलने पर भी समभाव रखने से असंक्लिष्ट एवं निराकांक्ष हो जाता है, कर्मनिर्जरा कर सकता है।[1]

साधुवर्ग को आहार लेने और छोड़ने का विधान

'उत्तराध्ययनसूत्र' के २६वें अध्ययन में कहा गया है कि साधुवर्ग को छह कारणों से परिमित और एषणीय आहार करना चाहिए और छह कारणों से आहार का त्याग करना चाहिए। वहाँ बताया गया है कि धृतियान् निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी वर्ग छह कारणों में से किसी एक कारण के उपस्थित होने पर आहार-पानी की गवेषणा करे, यथा—(१) वेदना (क्षुधा) की शान्ति के लिए, (२) वैयावृत्य (सेवा) के लिए, (३) ईर्या (समिति) के पालन के लिए, (४) संयम के लिए, (५) प्राण-धारण करने के लिए, और (६) धर्म-चिन्तन (धर्मपालन) करने के लिए।

इसके विपरीत संयम (ज्ञानादिरत्नत्रय) का अतिक्रमण न हो, इसके लिए निम्नोक्त छह कारणों से आहार-पानी की गवेषणा (ग्रहण और परिभोग की एषणा) न करे। यथा—आतंक (रोगादि) होने पर, उपसर्ग आने पर, तितिक्षा के लिए, ब्रह्मचर्य—गुप्तियों की रक्षा के लिए, प्राणियों की दया के लिए और कायोत्सर्ग या संलेखना-संथारा द्वारा शरीर के व्युत्सर्ग (विच्छेद) के लिए।

मूल पाठ में अंकित 'भत्त-पाणं गवेसए' शब्द का अर्थ यों तो भक्त-पान की गवेषणा करे, होता है, परन्तु उसका फलितार्थ है—आहार-पानी करे। 'मूलाचार' में भी इसी आशय की एक गाथा है, उसमें भी छह कारणों से आहार लेने का विधान है। वहाँ 'इरियट्ठाए' के बदले 'किरियाठाणे' (षड्आवश्यक आदि क्रियाओं का पालन के लिए) पाठ है।[2]

---

१. देखें—उत्तराध्ययनसूत्र के २९वें अध्ययन में आहार प्रत्याख्यान और उपधि प्रत्याख्यान का बोल ३५, ३४

२. (क) तइयाए पोरिसीए भत्तं पाणं गवेसए।
छण्हं अन्नतराए कारणंमि समुट्ठए॥३२॥
वेयण वेयावच्चे, इरियट्ठाए य संजमट्ठाए।
तह पाणवत्तियाए, छट्ठं पुण धम्मचिंताए॥३३॥

एषणासमिति के अतिचार

'भगवती आराधना' में एषणासमिति के निम्नोक्त अतिचार बताये गए हैं—मन से उद्‌गमादि-दोषों से युक्त आहार लेने का विचार करना, वचन से ऐसे (दोषयुक्त) आहार के लिए सम्मति देना, उसकी प्रशंसा करना और काया से ऐसे आहार की प्रशंसा करने वालों के साथ रहना, प्रशंसादि कार्य में दूसरों को प्रवृत्त करना एषणासमिति के अतिचार (दोष) हैं।[1]

आदान-निक्षेप-समिति : स्वरूप और विधि

इसके बाद आदान-निक्षेप-समिति से भी संवर और निर्जरा का विधान किया गया है। आदान-भण्डमात्र-निक्षेपणा-समिति का ही संक्षिप्त रूप आदान-निक्षेप या आदान-निक्षेपण-समिति है। इसका अर्थ है—प्रत्येक उपकरण या संयम-यात्रा में उपयोगी वस्तुओं को भलीभाँति देखकर, प्रमार्जित करके उठाना या रखना। 'मूलाचार' के अनुसार—ज्ञानोपधि, संयमोपधि और शौचोपधि तथा अन्य संथारे (संस्तारक, शय्या) आदि के निमित्त जो उपकरण हों, उनको यतनापूर्वक उठाना-रखना आदान-निक्षेपण-समिति है। 'भगवती आराधना' शीघ्रता के अनुसार शीघ्रता से, बिना देखे-भाले, अनादर से, बहुत काल से रखे हुए उपकरणों को उठाना-रखना रूप दोषों का जो त्याग करता है, उसके आदान-निक्षेपण-समिति होती है। 'राजवार्तिक' के अनुसार—धर्माविरोधी और परानुपरोधी ज्ञान और संयम के साधक उपकरणों को देखकर और शोधकर रखना और उठाना आदान-निक्षेपण-समिति है। वास्तव में रजोहरण, वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों को उठाते और रखते समय उस स्थान को, जीव-जन्तुओं को अच्छी तरह देखभाल कर मार्जन करके यतनापूर्वक उठाना—रखना आदान-निक्षेप-समिति है।

पिछले पृष्ठ का शेष—

निग्गंथो धिइमंतो, निग्गंथी वि न करेज्ज छहिं चेव।
ठाणेहिं उ इमेहिं, अणइक्कमणाइ से होइ॥३४॥
आयंके उवसग्गे तितिक्खया बंभचेरगुत्तीसु।
पाणिदया-तवहेउं सरीर-वोच्छेयणट्ठाए॥३५॥ *—उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २६, गा. ३२-३५*

(ख) वेयण-वेयावच्चे किरियाठाणे य संजमट्ठाए।
तव-पाण-धम्मचिंता कुज्जा एवेहिं आहारं॥ *—मूलाचार ६/६० वृत्ति*

१. उद्‌गमादि-दोषे गृहीतं भोजनमनुयननं वचसा कायेन वा प्रशंसा।
तैः सह वासठ, क्रियासु प्रवर्तनं वा एषणासमितेरतीचारः॥
—भगवती आराधना (वि.) १६/६२/७

'उत्तराध्ययनसूत्र' में इस समिति की विधि बताते हुए कहा गया है–मुनि औघिक (रजोहरणादि नित्य ग्राह्य) उपधि (उपकरण और औपग्रहिक उपधि–चौकी, पट्टा, उपाश्रय आदि कारणवश ग्राह्य) उपकरणों (भाण्डकों) को लेने (उठाने) और रखने (आगे कही हुई) विधि का प्रयोग करे। उपयोगयुक्त (समितिवान्) एवं यतनापूर्वक प्रवृत्ति करने वाला मुनि पूर्वोक्त दोनों प्रकार के उपकरणों का सदा आँखों से पहले प्रतिलेखन (देखभाल) करके और प्रमार्जन करके ग्रहण करे या रखे। आशय यह है कि जिस उपकरण को उठाना या रखना हो, उसे पहले आँखों से भलीभाँति देखभाल (प्रतिलेखन) कर लें, ताकि उस पर कोई जीव-जन्तु न हो, फिर रजोहरण आदि से प्रमार्जन कर ले, ताकि कोई जीव-जन्तु हो तो उसे धीरे से एक ओर कर दिया जाय, उसकी विराधना न हो।[1]

आदान-निक्षेप-समिति के अतिचार

'भगवती आराधना' में आदान-निक्षेप-समिति के अतिचार इस प्रकार बताये हैं–जो वस्तु लेनी है अथवा रखनी है, उसे लेते या रखते समय इसमें कोई जीव-जन्तु है या नहीं? इसका ध्यान न करना तथा अच्छी तरह से भूमि अथवा वस्तु का प्रमार्जन (स्वच्छ) न करना आदान-निक्षेपण-समिति के अतिचार हैं। इनसे साधक को बचना चाहिए।[2]

आदान-निक्षेप-समिति द्वारा मन-वचन-काया के अशुभ योगों का निरोध होना, शुभ योग-संवर है तथा किसी वस्तु को उठाने–रखने में होने वाली हिंसा, पराई दूसरे के हक की वस्तु को चोरी से उठाने–रखने से होने वाली चोरी तथा दूसरे के अधिकार की वस्तु को उठाकर अपने कब्जे में कर लेने पर उस विषय में पूछने

---

१. (क) वाणुवहिं संजमुवहिं सोचुवहिं अण्णमप्पमुवहिं वा।
पयदं गहण-निक्खेवो समिदी आदाण-निक्खे वा॥१४॥
आदाणे निक्खेवे पडिलेहिय चक्खुणा पमज्जेज्जो।
दव्वं च दव्वट्ठाणं संजम लद्धीए सो भिक्खू॥३१९॥ —*मूलाराधना १४, ३१९*

(ख) धर्माविरोधिनां परानुपरोधिनां द्रव्याणां ज्ञानादि-साधनानां ग्रहणे विसर्जने च निरीक्ष्य प्रभृत्य प्रवर्तनमादानं–निक्षेपणासमितिः।

(ग) ओहोवहोवग्गहियं भंडगं दुविहं मुणी।
गिण्हंतो निक्खिवंतो य पउंजेज्ज इमं विहिं॥१३॥
चक्खुसा पडिलेहित्ता पमज्जेज्ज जयं जई।
आइए निक्खिवेज्जा वा दुहओ वि समिए सया॥१४॥
—*उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २४/१३-१४; विवेचन (आ. प्र. स.), पृ. ४१५*

२. आदातव्यस्य स्थाप्यस्य वा अनालोचनं, किमत्र जन्तवः सन्ति, न सन्ति वेति दुष्प्रमार्जनं च आदान-निक्षेपण-समित्यतिचारः। —*भगवती आराधना (वि.) १६/६२/८*

पर अपने अधिकार की बताने से लगने वाला असत्य अथवा दूसरे के निश्राय के शिष्य, विरक्त अथवा शिष्या या विरक्ता को बहकाकर, अपहरण कर या प्रलोभनादि देकर ले जाना या दूसरी जगह रखना-रखाना असत्य और चौर्य दोनों पाप हैं, इन सब पापों से निवृत्त होना या इन पापों का निरोध करना संवर है। निर्जरा तभी हो सकती है जब साधक उठाने-रखने का लोभ रोककर समभाव स्थिर हो अथवा आत्मा को शुद्ध भावों में उठाया या रखा जाये।

पंचम परिष्ठापना समिति : स्वरूप, विधि और शुद्धि

इसके पश्चात् पंचम समिति परिष्ठापन समिति है। इसे उत्सर्ग समिति भी कहते हैं। इसका पूरा नाम है-उच्चार-प्रस्रवण-खेल-सिंघाण-जल्ल परिष्ठापनिका समिति। इसका सामान्यतया अर्थ होता है-उच्चार यानी मल, प्रस्रवण यानी मूत्र, खेल यानी थूक या खँखार = कफ, सिंघाण यानी नाक का मैल, जल्ल यानी पसीना, इन या ऐसे ही मृत शरीर या शरीर से सम्बन्धित (फटे वस्त्र, मुक्त शेष अन्न, कीचड़ मिला पानी, फूटे पात्र या अन्य किसी उपकरण) वस्तु का सम्यक् प्रकार से विधिवत् परिष्ठापन करना = डालना परिष्ठापना समिति है। संक्षेप में अनुपयोगी वस्तु, यथा शरीर के मल-मूत्रादि तथा अन्य अनुपयोगी वस्तु को भलीभाँति देखभालकर जीवरहित ऐसे प्रासुक स्थान में डालना, जिससे किसी भी प्राणी को कष्ट न हो, परिष्ठापना समिति है। 'आवश्यकसूत्र वृत्ति' के अनुसार-सब प्रकार से वस्तुओं को (परठने योग्य जीवरहित एकान्त स्थण्डिल भूमि में, जहाँ जीवादि उत्पन्न न हों, वहाँ परठना) डालना, डाल देने के बाद पुनः उस वस्तु को ग्रहण न करना परिष्ठापनिकी समिति है।[1] 'मूलाचार' के अनुसार-एकान्त व अचित्त (निर्जीव) स्थान, जो दूर हो, गुप्त (छिपा हुआ) हो, बिल या छेदरहित हो, विशाल हो, जहाँ किसी का विरोध न हो या निन्दा न हो, ऐसे स्थान में विष्ठा, मूत्र आदि क्षेपण करना (डालना) परिष्ठापना समिति है। साधक दावाग्नि से दग्ध प्रदेश, हल से जुता हुआ प्रदेश, श्मशान भूमि प्रदेश, क्षारसहित भूमि या लोग जहाँ रोकें नहीं, ऐसे स्थान में तथा विशाल, त्रसजीवों से रहित एवं जनरहित तथा हरित तृणादिरहित स्थान में भलीभाँति देखकर मल-मूत्रादि का निक्षेपण या विसर्जन करे। 'राजवार्तिक'[2] के

---

१. परितः सर्वप्रकारैः स्थापनम्-अपुनर्ग्रहणतया न्यासः, तेन निर्वृता परिष्ठापनिकी।

—आवश्यक शिष्यहिता वत्ति

२. (क) 'तत्त्वार्थसूत्र' (हिन्दी विवेचन सहित) (उपाध्याय केवल मुनि), पृ. ४०४-४०५

(ख) एगंते अच्चित्ते दूरे गूढे विशालमविरोहे।

उच्चारादिच्चाओ पदिठावणिया हवे समिदी॥१५॥

अवगदजंतु विवित्ते उच्चारादी विसज्जेज्जो॥३२१॥

अनुसार–जहाँ स्थावर या जंगम जीवों का विराधना न हो, ऐसे जन्तुरहित स्थान में मल-मूत्र आदि का विसर्जन करना और मृत शरीर का रखना उत्सर्ग समिति है।

'उत्तराध्ययनसूत्र' में इस समिति का विशेष स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है–उच्चार, प्रस्रवण, खेल, सिंघाण, जल्ल, भुक्त-शेष आहार, उपधि या मृतदेह अथवा अन्य तथाविध वस्तु का सम्यक्रूप से परिष्ठापन करना चाहिए। परिष्ठापन के सम्बन्ध में चार विकल्प हैं–(१) जहाँ कोई व्यक्ति आए नहीं और देखे नहीं; (२) जहाँ व्यक्तियों का आवागमन न हो, परन्तु देखते हों; (३) जहाँ आते-जाते हों, परन्तु देखते न हों; और (४) जहाँ व्यक्ति आते भी हों, अवलोकन भी करते हों। इन चारों में से सम्यक् परिष्ठापन के लिए प्रथम विकल्प (अनापात-असंल्लोक) ही उपादेय है। साथ ही इस समिति के शुद्ध पालन के लिए–जहाँ किसी भी प्राणिवर्ग का घात न हो अथवा किसी दूसरे को वहाँ परठने से उपघात (चोट) न पहुँचे, परिष्ठापनीय भूमि सम हो, बिल या छिद्र वाली न हो, थोड़े काल पहले ही वह दग्ध हो, विस्तीर्ण हो (सँकरी न हो), (नगर या गाँव से) दूर हो, प्रच्छन्न हो (झाड़ियों आदि से छिपी हो), एकदम निकट न हो, बिल आदि से रहित हो; त्रस, स्थावर तथा हरित तृण, बीज आदि से रहित हो, ऐसी भूमि पर उच्चार आदि का व्युत्सर्ग करे।[1]

परिष्ठापन-शुद्धि–विवेक तथा अतिचार

'राजवार्तिक' में कहा गया है–परिष्ठापन-शुद्धि में तत्पर संयत देश और काल को सम्यक् जानकर नख, रोम, नाक का मैल, शुक्र, थूक, मल-मूत्र या (मृत) देह के परित्याग के समय किसी जीव की विराधना या कष्ट न हो, यह देखकर प्रवृत्ति

पिछले पृष्ठ का शेष–

उच्चारं पस्सवणं खेलं सिंघाणमादियं दव्वं।
अच्चित्त भूमिदेसे पडिलेहित्ता विसज्जेज्जो॥३२२॥ *–मूलाचार १५, ३२१-३२२*

(ग) ज्ञानसारं १८/१४

(घ) स्थावराणां जंगमानां च जीवादीनं अविरोधेनांगमलनिर्हरणं शरीरस्य च स्थापनम् उत्सर्गसमितिरवगन्तव्या। *–राजवार्तिक ९/५/८/५९४/२८*

१. उच्चारं पासवणं खेलं सिंघाण-जल्लियं।
आहारं उवहिं देहं, अन्नं वावि तहाविहं॥१५॥
अणावायमसंलोए अणावाए चेव होइ संलोए।
आवायमसंलोए आवाए चेव संलोए॥१६॥
अणावायमसंलोए परस्सणुवघाइए।
समे अज्झुसिरे यावि, अचिरकाल कयंमि य॥१७॥
विच्छिण्णे दूरमोगाढे, नासन्ने बिलवर्जिते।
तस-पाण-बीयरहिए, उच्चाराईणि वोसिरे॥१८॥ *–उत्तराध्ययनसूत्र २४/१५-१८*

करता है। 'भगवती आराधना' के अनुसार–शरीर तथा भूमि रजोहरण या पिच्छिका से प्रमार्जन न करके, मल-मूत्र जहाँ-तहाँ अविवेकपूर्ण डालना तथा उस स्थान का सम्यक् अवलोकन न करना इत्यादि परिष्ठापना-समिति के अतिचार (दोष) हैं।[1]

इन अष्टप्रवचन माताओं से संवर और निर्जरा कैसे?

वस्तुतः तीन गुप्तियों और पाँच समितियों से भाव-संवर तभी हो सकता है, जब जो आस्रव (मिथ्यात्वादि पंचविध कर्मागमन द्वार) चल रहा है या चला है उसका प्रतिक्रमण करें। उक्त आस्रव से साधक अपने स्वभाव में लौट आए। जो व्यक्ति अपने चैतन्य के अनुभव को छोड़कर राग-द्वेष के अनुभव में चला गया है, वह अब राग-द्वेष के अनुभव को छोड़कर पुनः चैतन्य के अनुभव में आ जाएँ। इसके अतिरिक्त कर्ममुक्ति की साधना के क्षेत्र में चार तथ्य प्रचलित हैं–संयम, चारित्र, प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान; ये चारों संवर की प्रक्रिया से सम्बन्धित हैं। इन्द्रिय-संयम, मनःसंयम तथा चारित्र ये संवर तो हैं ही। आत्म-संयम तथा स्वरूपरमणरूप चारित्र से निर्जरा भी सम्बन्धित हैं। पाँचों समितियाँ और तीनों गुप्तियाँ इन चारों से सम्बन्धित हैं ही।

महाव्रती और अणुव्रती दोनों के लिए उपादेय, पालनीय

विविध कर्मों से मुक्ति के इच्छुक महाव्रती साधक के लिए ये अष्टप्रवचन माताएँ उपादेय हैं, वैसे ही अणुव्रती सद्गृहस्थ के लिए तथा मार्गानुसारी व सम्यग्दृष्टि के लिए भी ये सभी उपादेय हैं, उन्हें भी विवेकपूर्वक इनका सम्यक् पालन करना आवश्यक है।

●●

1. प्रतिष्ठापन-शुद्धिपरः संयतः नख-रोम-सिंघाणक-निष्ठीवन-शुक्रोच्चार-प्रस्रवण-शोधने देह परित्यागे च विदित देशकालो जन्तूपरोधमन्तरेण प्रयतते। –*रा. वा.* ९/६/१६/५९७/३२

९

संवर और निर्जरा का स्रोत : श्रमणधर्म

शुद्ध धर्म ही इस सब दुःखों से मुक्ति का एकमात्र उपाय

धर्म जीवन का अमृत है। वह मनुष्य-जीवन में न हो तो कर्मों का निरोध या क्षय नहीं किया जा सकता। कर्मों के निरोध या क्षय के बिना सुख-शान्ति नहीं हो सकती। मनुष्य चाहता तो सुख-शान्ति है, वह क्लेश, अशान्ति, दुःख और पीड़ा या संताप कतई नहीं चाहता। परन्तु न चाहने मात्र से बाँधे हुए या आते हुए शुभाशुभ कर्मों को नष्ट नहीं किया जा सकता। कर्मों का क्षय या नये कर्मों के आस्रव का निरोध किये बिना दुःख, अशान्ति, क्लेश, संताप आदि अनिष्ट मिट नहीं सकते। आज विश्व में कहीं आतंकवाद का स्वर बुलन्द है तो कहीं उग्रवाद, कहीं प्रान्तवाद, कहीं राजनैतिकवाद, कहीं जातिवाद, कहीं सम्प्रदायवाद तो कहीं भाषावाद, कौमवाद या वर्गवाद का बोलबाला है। ये और इन जैसी अनेक समस्याएँ मनुष्य के समक्ष सिरदर्द बनकर खड़ी हैं। ये समस्याएँ चालू रहने पर अथवा इन समस्याओं को इन विभिन्न वादों वाले लोगों द्वारा चालू रखने पर क्या मनुष्य क्षणभर भी सुख-शान्ति, निश्चिन्तता, निर्भयता और सन्तुष्टि या तृप्ति की साँस ले सकता है? इन समस्याओं को रखकर या रहने देकर न तो इन समस्याओं का खड़ा करने वाले अमनचैन पा सकते हैं और न ही इन समस्याओं से भयभीत और आतंकित लोग भी चैन की वंशी बजा सकते हैं। तब फिर मनुष्य मात्र की सुख-शान्ति की इच्छा कैसे पूर्ण हो सकेगी? क्या दूसरों की हिंसा करके, भ्रष्टाचार करके, अन्याय–अनीति का दुराचरण करके या असत्य या झूठफरेब से, ठगी और वेईमानी से बलात्कार और यौनाचार से, सुख-सुविधाओं के अत्यधिक सेवन से या विषयभोगों के अधिकाधिक उपभोग से अथवा विलासिता में प्रचुर रमण से अथवा दूसरों को लूटकर या शोषण करके प्रचुर धन बटोरने से सुख-शान्ति प्राप्त हो जाएगी? अनुभव कहता है–न तो उपर्युक्त विभिन्न वादों के रहने या रखने से *सुख-शान्ति प्राप्त हो सकेगी और न ही हिंसादि* पापाचरण करने से कोई व्यक्ति आज तक सुख-शान्ति प्राप्त कर सका है, न ही कर सकेगा। तब फिर कौन-सी

ऐसी वस्तु है अथवा कौन-सा ऐसा जादू, मंत्र-तंत्र है, जिसके अपनाने से या जिसकी साधना–आराधना करने से अथवा किसी स्वार्थ, राग-द्वेष, कषाय आदि के कालुष्य से रहित एकमात्र शुद्ध रूप में जिसके पालन–आचरण करने से अथवा किसी भी प्रकार की सांसारिक, इहलौकिक-पारलौकिक कामना, नामना, प्रसिद्धि या प्रशंसा के बिना उसकी साधना–आराधना करने से वास्तविक सुख-शान्ति, आनन्द, मस्ती और निश्चिन्तता प्राप्त हो सकती है? इन सब का भगवान महावीर ने एक शब्द में उत्तर दिया–'धर्म'।[1] धर्म ही वह वस्तु है, जो जीवन के लिए सर्वोत्कृष्ट मंगल है। वही पदार्थों तथा इन्द्रियों और विषयों से अप्रतिबद्ध, अक्षय एवं अव्याबाध सुख-शान्ति और आनन्द प्राप्त कराने वाला है। 'चाणक्यनीतिसूत्र' में स्पष्ट कहा है–सुख का मूल धर्म है। 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में भी क्षमादि दशविध धर्म को 'सौख्यसार' कहा है।[2] धर्म की विशेषता बताते हुए आगमों में कहा है–"वह धर्म इहलोक-परलोक में आत्म-हित के लिए है, सुख के लिए है, निःश्रेयस (कर्ममुक्तिरूप कल्याण) के लिए है, (आत्मा में) क्षमता (सहिष्णुता) पैदा करने के लिए है, परलोक में या जहाँ भी जाए, वहाँ अनुगामी (पीछे-पीछे चलने वाला) होता है।" आचार्य समन्तभद्र ने भी इसी तथ्य का समर्थन किया है–

"देशयामि समीचीनं धर्मं कर्म-निवर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे॥"

–धर्म वह है, जो प्राणियों को (पूर्वोक्त) संसार के (या सांसारिक) दुःख से उठाकर उत्तम सुख (वीतराग-सुख, आनन्द या आत्मिक एवं अव्याबाध) को धारण कराता है। वही धर्म कर्मों का विनाशक (कर्मनिरोधक तथा कर्मक्षयकारक) एवं समीचीन (सम्यक्) है।[3]

जो लोग कहते हैं कि धर्म की–शुद्ध धर्म की जगत् को क्या आवश्यकता है? उनके समक्ष उपर्युक्त प्रतिप्रश्न प्रस्तुत है–क्या दुनियाँ में फैली हुई अराजकता, अंधाधुंधी, आपाधापी या पूर्वोक्त एकान्तवादों की शरण-ग्रहणता या भ्रष्टाचार, अनाचार, अन्याय–अनीति का दुराचरण, बलात्कार आदि की समस्या विशुद्ध धर्म

---

१. "धम्मो मंगलमुक्किट्ठं।"–धर्म उत्कृष्ट मंगल है। "मगं–सुखं लातीति मंगलम्।"

२. (क) सुखस्य मूलं धर्मः। –*चाणक्यनीतिसूत्र, सू. २*

(ख) सो चिय दहप्पयारो खमादिभावेहिं सुक्खसारेहिं।
ते पुणभणिज्जमाणा मुणियव्वा परम भत्तीए॥ –*कार्तिकेयानुप्रेक्षा ३९३*

३. (क) से इह-परलोगहियाए सुहाए निस्सेसाए खमाए अणुगामियत्ताए भवइ।

(ख) रत्नकरण्डक श्रावकाचार, श्लो. २

के बिना कदापि हल हो सकती है? 'उत्तराध्ययनसूत्र' में धर्म का माहात्म्य बताया गया है–"बुढ़ापा और मृत्यु के तेज प्रवाह में बहते हुए जीव के लिए धर्म ही एकमात्र द्वीप है, प्रतिष्ठा (आधार) है, गति और उत्तम शरण है।" कमलावती रानी ने राजा से कहा–"राजन् ! एकमात्र धर्म ही जगत् में रक्षक (त्राता) है, दूसरा कोई भी रक्षा करने वाला नहीं है।" धर्म ही अबन्धुओं का बन्धु है। वही सच्चा आत्म-धन है, वही शाश्वत और अविनाशी है। धर्म कल्पवृक्ष है, कामधेनु है, चिंतामणि है। धर्म ही सच्चा मित्र है, परलोक में भी साथ जाने वाला है।" 'वैदिक उपनिषद्' में कहा है–"**धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा।**"–धर्म समग्र विश्व का आधार है। इसी से अभ्युदय होता है। निःश्रेयस भी। धर्म ने ही सारे जगत् को–संसार के प्राणियों को टिकाये रखा है।[१]

धर्म न होता तो जगत् में सर्वत्र हिंसा, मारकाट या दूसरों को मारकर, सताकर जीने की वृत्ति–प्रवृत्ति होती। आज संसार की अधिकांश जनता स्वाभाविक आत्म-धर्म का त्याग करने के कारण ही दुःख और संकट में है। धन और साधनों की प्रचुरता होने पर भी व्यक्ति बेचैन है, अशान्त है, त्रस्त है। धर्म का आचरण छोड़ देने के करण ही संसार में आधि-भौतिक, आधि-दैविक तथा आध्यात्मिक दुःख बढ़ गए हैं। इसीलिए भारतीय ऋषि-मुनियों को कहना पड़ा–"धर्म से नष्ट-भ्रष्ट हो जाने पर (आहत करने पर) वह उस व्यक्ति का पतन = नाश कर देता है और धर्म की रक्षा करने पर वह व्यक्ति की रक्षा करता है।"[२] धर्म जीवन का प्राण है, संजीवनी बूटी है, मनुष्य को अपने अन्तिम लक्ष्य (कर्मों से तथा सर्वदुःखों से मुक्तिरूप मोक्ष) तक पहुँचाने वाला एकमात्र सम्यक् धर्म है। 'प्रवचनसार' में धर्म का लक्षण बताया है–"वस्तु का स्वभाव धर्म है। इसका अर्थ है–शुद्ध चैतन्य का प्रकाश करना। इसलिए धर्म से परिणत आत्मा ही धर्म है।"[३]

---

१. (क) जरामरणवेगेणं बुज्झमाणाण पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं॥ —*उत्तराध्ययन, अ. २३, गा. ६८*

(ख) एक्को हु धम्मो नरदेव ! ताणं, न विज्जइ अन्नमिहेह किंचि। —*वही, अ. १४, गा. ४०*

(ग) 'मोक्षशास्त्र' (गुजराती टीका) (रामजीभाई दोशी), *अ. ९, सू. ७ विवेचन, पृ. १९५*

(घ) यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। —*वैशेषिकदर्शनम्*

२. धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः।

३. (क) वस्तु-स्वभावत्वाद् धर्मः–शुद्ध-चैतन्य-प्रकाशनमित्यर्थः॥७॥
...... ततोऽयमात्मा धर्मेण परिणतो धर्म एव भवति॥८॥ —*प्रवचनसार ता. वृ. ७-८*

(ख) अप्पा अप्पम्मि रओ, रायादिसु सयलदोस परिचत्तो।
संसारतरणहेदु धम्मो त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठो॥८५॥
मोहक्खोह-विहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो॥८३॥ —*भावपाहुड मू. ८५, ८३*

'भावपाहुड' में कहा है–रागादि समस्त दोषों से रहित होकर आत्मा का आत्मा में रत होना धर्म है। इसी ग्रन्थ में आगे कहा गया है–"मोह और क्षोभ (राग-द्वेष एवं अशुभ योगों) से रहित आत्मा के परिणाम ही धर्म हैं।" 'प्रवचनसार' के अनुसार–चारित्र ही (आत्म) धर्म है। वह धर्म समता (साम्य) रूप में निर्दिष्ट है। वही आत्मा को मोह-क्षोभ से दूर रख सकती है। दस ही उत्तम धर्म कर्मों के नाशक (संवर-निर्जरारूप) हैं।[1] इसलिए आगे कहे जाने वाले दसों ही धर्म चारित्र के अन्तर्गत आ जाते हैं तथा संवर-निर्जरारूप हैं। वस्तुतः चारित्र ही साक्षाद्धर्म है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान चारित्रगुण की निर्मल पर्याय हैं। चारित्ररूप वृक्ष की जड़ें हैं। जड़ के बिना वृक्ष पनप ही नहीं सकता, वृक्ष का अस्तित्व भी संभव नहीं। वैसे ही सम्यग्दर्शन-ज्ञानरूपी जड़ के बिना सम्यक्चारित्ररूपी वृक्ष खड़ा ही नहीं रह सकता, पनप नहीं रकता। अतः चारित्रगुण की ये दस निर्मल दशाएँ सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी आत्मा को ही प्रगट होती हैं। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी को नहीं।[2]

धर्म क्या है, क्या नहीं ?

धर्म की परिभाषा करने में हमारे सामने अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं।

इस उत्तम धर्म[3] की उपेक्षा करके तप करने वाले, शास्त्र-पाठक, बाह्य त्याग-प्रत्याख्यान करने वाले, व्रत-पालक, भले ही आत्म-संतोष मान लें, परन्तु वे आन्तरिक शान्ति और समता का सुख नहीं प्राप्त कर सकते, जो उत्तम धर्म के पालन से ही मिल सकता है। मगर इस नास्तिकता के युग में बहुत-से लोग धर्म को बेकार की वस्तु समझते हैं, परन्तु जो लोग धर्म को अफीम की गोली कहते हैं, वे लोग भी परिवार, समाज और राष्ट्र में धर्म को नैतिकता, कर्त्तव्य-पालन, दायित्व-निर्वाह तथा मर्यादा-पालन के रूप में एक या दूसरे प्रकार से मानते हैं। उन्हीं के समर्थन में 'सत्येश्वरगीता' में धर्म की परिभाषा दी गई है–"**जो धारण-पोषण करे, सुखमय करे समाज।**" व्यावहारिक दृष्टि से धर्म का सरल लक्षण किया गया–"**आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।**"–जो अपने (आत्मा के) प्रतिकूल बातें हों, उन्हें दूसरों के लिए न करे, यही धर्म है। हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, संग्रहखोरी, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, क्रोध, निन्दा आदि बातें कोई अपने प्रति करता है तो हमें अच्छी नहीं लगतीं, प्रतिकूल लगती हैं, तो दूसरों को भी प्रतिकूल लगेंगी, अतः उनका आचरण नहीं करना धर्म है। इस दृष्टि से धर्म जगत् में

---

१. चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो। —*प्रवचनसार मू. ७*

२. 'धर्म के दस लक्षण' (डॉ. हुकमचंद भारिल्ल) से भाव ग्रहण, पृ. १४-१५

३. 'संयम कब ही मिले ?' से भाव ग्रहण, पृ. ३

शान्ति, सुव्यवस्था, समता, सन्तोष आदि स्थापित करता है। अतएव दार्शनिकों ने धर्म की परिभाषा की—"आत्म-शुद्धि का अचूक साधन धर्म है।"

आध्यात्मिकों ने धर्म की परिभाषा की—"जिससे आत्मा के सुषुप्त गुण—ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति का विकास हो।" धार्मिकों और मनोवैज्ञानिकों तथा योगविज्ञों ने "समता को धर्म कहा।"[१] भय, प्रलोभन, स्वार्थ और लोभ तथा आवेश के वश धर्म का पालन धर्म नहीं है। यद्यपि धर्म आचरण की वस्तु है, इसीलिए सम्यक्चारित्र को धर्म कहा गया है। क्योंकि सम्यक्चारित्र तभी जीवन में आ सकता है, जब उससे पूर्व उसमें सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हो। तप भी तभी सम्यक् हो सकता है। सम्यग्दर्शन के बिना क्षमादि दशविध धर्म उत्तम नहीं माने जा सकते, न ही उसका ज्ञान या चारित्र सम्यक् हो सकता है।

पूर्वोक्त दृष्टि से ये सब धर्म के मनमाने रूप खण्डित हो जाते हैं, जो यह कहते हैं—"पीपल के चार चक्कर लगाना धर्म है, दीवाली पर जुआ खेलना, महिलाओं के लिए घूँघट निकालना धर्म है। जिसे कुछ सदाचरण करना नहीं है, उनका कहना है—देवी-देवों के आगे बकरे की बलि देना धर्म है, भगवान को भोग लगाना धर्म है, मन्दिर में जाकर मूर्ति के आगे मत्था टेक देना धर्म है, भगवान के चढ़ावा चढ़ाकर कुछ माँग लेना धर्म है। जिसके मन में दूसरे धर्म, सम्प्रदाय के प्रति द्वेष, ईर्ष्या या घृणा की आग लग रही है, वे कहते हैं—हिन्दुओं द्वारा मुसलमानों की और मुस्लिमों द्वारा तथाकथित काफर की हत्या करना धर्म है, रक्तपात करना धर्म है या उनसे शास्त्रार्थ करना या वितण्डावाद करना धर्म है। जिन्हें धनिकों से द्वेष है, उनका कहना है—अमुक का धन छीन लेना धर्म है अथवा तथाकथित शूद्र को अस्पृश्य मानना धर्म है। इस प्रकार स्वार्थी लोगों ने धर्म को अन्ध-विश्वास और हिंसा, क्रूरता, साम्प्रदायिकता और अमानवीयता की परिधि में बंद करके उसके असली प्रयोजन को नजरअंदाज कर दिया। अतः ये सब परिभाषाएँ वीतरागता और सम्यग्दर्शन से रहित होने से धर्म नहीं हैं। "ये और इस प्रकार के अनेक हिंसादि समर्थक ऊटपटांग विधान धर्म के नाम पर किये गए हैं।"[२]

---

१. (क) 'अमूर्त्त चिन्तन' से भावांश ग्रहण, पृ. ८२

(ख) 'सत्येश्वरगीता' (स्वामी सत्यभक्त) से भाव ग्रहण

(ग) 'महाभारत' (वेदव्यास) शान्तिपर्व

(घ) चारित्तं खलु धम्मो। —*प्रवचनसार मू. ७*

२. इसके विशेष स्पष्टीकरण के लिये देखें—चतुरसेन शास्त्री द्वारा लिखित 'धर्म के नाम पर' पुस्तक

क्षमादि दशविध धर्म कौन-कौन से ?

ये दशविध उत्तम धर्म इस प्रकार हैं–(१) क्षमा, (२) मार्दव, (३) आर्जव, (४) शौच, (५) सत्य, (६) संयम, (७) तप, (८) त्याग, (९) आकिंचन्य, और (१०) ब्रह्मचर्य। कुछ नामों में किंचित् अन्तर के साथ ये ही दशविध श्रमणधर्म स्थानांगसूत्र में प्ररूपित हैं। आशय समान ही है।[1]

क्षमादि दशविध धर्म को उत्तम क्यों कहा गया ?

ये दस प्रकार के धर्म उत्तम धर्म कहलाने योग्य तभी होते हैं, जब ये आत्म-शुद्धिकारक, पापनिवारक और राग-द्वेषादि कषाय-नोकषायों से रहित हों। कतिपय आचार्यों ने दस ही धर्मों के नाम के पूर्व उत्तम विशेषण लगाने का तात्पर्य यह बताया है कि स्वरूप के भान-सहित क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भयादि कषाय-नोकषायों से रहित क्षमादि ही उत्तम क्षमादि हैं, रागादिरूप नहीं, क्योंकि उत्तम क्षमा आदि धर्मों के प्रकट होने पर क्रोधादि कषाय नहीं रहते। इस कारण क्षमा आदि धर्मों के आचरण से आस्रवों की निवृत्ति हो जाती है। अर्थात् अनायास ही संवर हो जाता है, साथ ही शुद्धात्मभाव में रमण होने से सकाम-निर्जरा भी हो जाती है। इसीलिए इन दसों ही धर्मों को द्रव्यभाव-संवर और सकाम-निर्जरा के स्रोत कहा गया है।[2]

क्षमादि उत्तम धर्म श्रावकवर्ग और सम्यग्दृष्टिवर्ग के लिए भी हैं

यद्यपि पूर्वोक्त दस धर्मों का विधान श्रमणों के लिए आगमों में यत्र-तत्र किया गया है, किन्तु व्रती और सम्यग्दृष्टि श्रावकों (श्रमणोपासकवर्ग) को भी अपनी-अपनी भूमिकानुसार नये कर्मों का निरोध (संवर) और पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय (निर्जरा) के लिए क्षमा का पालन करना आवश्यक है। सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी गृहस्थों के जीवन में भी अपनी-अपनी भूमिकानुसार इनका पालन अनायास होता ही है, करना भी चाहिए। वस्तुतः ये दशविध धर्म मिथ्यात्व और अमुक-अमुक कषायों के अभाव में ही प्रकट होते हैं, अमुक-अमुक कषायों की

---

१. (क) उत्तमः क्षमा-मार्दवार्जव-शौच-सत्य-संयम-तपस्त्यागाऽऽकिंचन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः।

–तत्त्वार्थसूत्र, अ. ९, सू. ६

(ख) खंति-मद्दव-अज्जव-मुत्ती-तव-संजमे य बोधव्वं।
सच्चं सोअं अकिंचणं च, बंभं च जइधम्मो॥

–समवायांग, समवायी, नवतत्त्व, शान्तसुधारस, भा. १, गा. २९

२. (क) 'मोक्षशास्त्र' (गुजराती टीका), अ. ९, सू. ६ से भाव ग्रहण, पृ. ६८८

(ख) 'शान्तिपथदर्शन' (श्री जिनेन्द्रवर्णी) से भावांश ग्रहण

मन्दता से नहीं। जैसे श्रमणवर्ग के उत्तम क्षमादि धर्म होंगे तो अनन्तानुबन्धी आदि त्रिविध कषायों के अभावरूप होंगे तथा यदि ये उत्तम क्षमादि धर्म पंचम गुणस्थानवर्ती विरताविरत सम्यग्ज्ञानी श्रावकवर्ग के होंगे तो अनन्तानुबन्धी आदि दो कषायों के अभावरूप होंगे और यदि ये ही दस उत्तम धर्म चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि के प्रकट होंगे तो एकमात्र अनन्तानुबन्धी कषाय के अभावरूप होंगे। मिथ्यादृष्टि के ये उत्तम क्षमादि धर्म नहीं होते।

निष्कर्ष–अविरत सम्यग्दृष्टि, व्रती श्रावक, महाव्रती साधु और वीतराग में उत्तम क्षमा का परिमाणात्मक (quantity) भेद है, गुणात्मक (quality) भेद नहीं। उत्तम क्षमा एक ही प्रकार की है, उसे जीवन में उतारने के स्तर तो दो से अधिक हो सकते हैं।[1]

(१) उत्तम क्षमा : क्या, क्यों और कैसे ?

निन्दा, गाली, हास्य, अनादर, मारपीट, प्रहार, शरीर का घात, वैर, विरोध, विवाद, कलह आदि क्रोध, रोष, द्वेष, आवेश आदि के निमित्त उपस्थित होने पर अथवा इनके अवसर निकट भविष्य में आते देख अथवा पूर्व वैर-विरोध आदि का स्मरण करके या अकारण ही क्रोधादि के प्रसंग उपस्थित होने पर भी तथा प्रतिकार करने का सामर्थ्य होने पर भी प्रतिक्रिया न करना, भावों में मलिनता न आने देना, अपने स्व-भाव में स्थित रहना **उत्तम क्षमा** है।

निश्चय से–क्षमा स्वभावी आत्मा के आश्रय से पर्याय में क्रोधरूप विकार की उत्पत्ति न होना ही **उत्तम क्षमा** है। परन्तु व्यवहार से–क्रोधादि के निमित्त मिलने पर भी उत्तेजित न होना, वचन-काया से ही नहीं, मन से भी प्रतिक्रिया-प्रवृत्ति न होने देना **उत्तम क्षमा** है।[2]

क्षमा क्या है, कैसे और कब हो सकती है ?

"खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणई।।"

–मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ, वे सब जीव मुझे क्षमा करें। मेरा सब प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव है, किसी के साथ भी मेरा वैर नहीं है; इस प्रकार के

१. (क) 'शान्तिपथदर्शन' (श्री जिनेन्द्रवर्णी) से भावांश ग्रहण, पृ. ४०२
(ख) 'धर्म के दस लक्षण' (डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल) से भाव ग्रहण, पृ. १५-१६, २९
२. (क) 'मोक्षशास्त्र' (गुजराती टीका), अ. ९, सू. ६ से भाव ग्रहण, पृ. ६८७
(ख) 'धर्म के दस लक्षण' से भाव ग्रहण, पृ. २४
(ग) सत्यपि सामर्थ्येऽपकारसहनं क्षमा।

प्रशम सुख, शान्ति और समता के आत्म-परिणाम का नाम है–**क्षमा**। क्रोध, रोष, आवेश, झल्लाहट, क्षोभ, चिड़चिड़ापन, द्वेष, वैर, ईर्ष्या आदि ऐसी आग है, जिससे साधक आत्म-स्वभाव को भूलकर, उपादान को विस्मृत कर निमित्त पर बरस पड़ता है, क्षमा के उत्तम अवसर को चूक जाता है। पं. टोडरमल जी का कथन है–अज्ञान के कारण जब तक हमें पर-पदार्थ इष्ट-अनिष्ट प्रतिभासित होते रहेंगे, तब तक क्रोध आदि की उत्पत्ति एक या दूसरे रूप में होती रहेगी। किन्तु जब तत्त्वाभ्यास के बल से पर-पदार्थों में से इष्ट-अनिष्ट बुद्धि समाप्त होगी, तब स्वभावतः क्रोधादि की उत्पत्ति नहीं होगी। क्रोध का कारण उपस्थित होने पर भी शान्ति रखे, तभी उत्तम क्षमा प्रकट हुई समझो।[१]

मिथ्यादृष्टि में अनन्तानुबन्धी क्रोध, सम्यग्दृष्टि आदि में क्यों नहीं ?

मिथ्यादृष्टि के अनन्तानुबन्धी क्रोध 'पर' में कर्तृत्व बुद्धि के कारण माना गया है। जब कोई पर-पदार्थ उसकी इच्छा के अनुकूल परिणमित नहीं होता, तब वह उस पर क्रोधित हो उठता है। पर-पदार्थ अनन्त हैं। 'पर' के प्रति पूर्वोक्त अभिप्राय के कारण अनन्त पर-पदार्थ उसके क्रोध के पात्र बन जाते हैं, इसी का नाम है–अनन्तानुबन्धी क्रोध, क्योंकि मिथ्यादृष्टि ने अनन्त पर-पदार्थों से अनुबन्ध किया है। निष्कर्ष यह है कि सम्यग्दृष्टि, अणुव्रती या महाव्रती को चारित्रमोह के उदयवश कदाचित् क्रोधादि आ जाए, फिर भी वह पर में कर्तृत्व बुद्धि नहीं रखता, निमित्त को नहीं कोसता; अनुकूल-प्रतिकूल, अभीष्ट-अनिष्ट, अच्छे-बुरे, सुख-दुःख का कर्त्ता दूसरों को नहीं मानता, अपने सुख-दुःख या अन्य सभी परिस्थितियों के लिए उत्तरदायी या उपादान स्वयं को मानता है, इस कारण पूर्व संस्कारवश कभी क्रोध आ भी जाए, तो वह अशुभ कर्मबन्ध का कारण नहीं होगा।[२]

उत्तम क्षमा की सात कसौटियाँ

उत्तम क्षमा कब और कैसे होती है, कब और कैसे नहीं? इस सम्बन्ध में कविवर द्यानतराय जी ने एक पद्य के द्वारा ७ कसौटियाँ बताई हैं। प्रस्तुत है वह पद्य–

---

१. (क) 'आवश्यकसूत्र, प्रतिक्रमण आवश्यक' में क्षमापना पाठ

(ख) 'शान्तिपथदर्शन' (जिनेद्रवर्णी) से भाव ग्रहण, अ. ३१, पृ. ४०१

(ग) 'मोक्षमार्ग-प्रकाशक' (पं. टोडरमल जी) से भाव ग्रहण

(घ) 'जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भा. ३' से भाव ग्रहण, बोल ६६१, पृ. २३३

२. कविवर द्यानतराय जी का यह पद्य 'धर्म के दस लक्षण' (डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल) से उद्धृत, पृ. २४-२५

"गाली सुन मन खेद न आनौ, गुन को औगुन कहै बखानौ।
करे हैं बखानो, वस्तु छीने, बाँध मार बहुविधि करै।
घर तें निकारै, तन विदारै, वैर जो न तहाँ धरै॥"

पहली कसौटी–गाली (अपशब्द, निन्दा, बदनामी आदि) सुनकर भी तन-वचन को विकृत न करे इतना ही नहीं, मन में जरा भी खेद (क्षोभ, रोष, मलिनता) न लावे। यहाँ यह बात ध्यान में रखना है कि अधिकारी या मालिक की डाँट-फटकार सुनकर नौकरी चले जाने के भय से चुप रहना, क्रोध न करना पर मन में खेद खिन्न होना क्षमा नहीं है। उसके मन में तो गुस्सा भरा है अथवा बदला लेने की शक्ति का अभाव होने से चुप्पी साध लेना, पर मन ही मन इस प्रकार बड़बड़ाना–'शक्ति होती तो मजा चखा देता, अच्छा, अब न सही, फिर देख लूँगा इसे', यह भी क्षमा नहीं है। अन्तर में कटु द्वेष की ज्वाला जल रही है, बाहर से मीठा बोलते हुए कहना–'जा, तुझे माफ करता हूँ', यह भी क्षमा नहीं है अथवा प्रतिद्वन्द्वी को पहले खूब मार-पीटकर या डाँट-फटकारकर अपना गुस्सा उतार लेने के बाद कहना–'जा, तुझे माफ किया, फिर ऐसा न करना', यह भी कहने भर की क्षमा है, द्वेष से भरा क्षमा का नाटक है। जहाँ अन्तरंग में अपकार करने वाले के प्रति मन में भी द्वेष न हो, वहाँ सम्यग्दृष्टि व्यक्ति के क्षमा हो सकती है। कई व्यक्ति कहा करते हैं–वैसे तो मेरा स्वभाव शान्त है, पर मुझे कोई छेड़े तो फिर रहा नहीं जाता, यह क्षमा नहीं है।[१]

दूसरी कसौटी–कई लोग कहते हैं–देने दो इसे गालियाँ, हमारा क्या बिगड़ता है, सहन कर लेंगे, पर जब हमारे में कोई अवगुण नहीं है, सब काम ठीक से ईमानदारीपूर्वक करते हैं, फिर भी यह हमारे गुण को अवगुण के रूप में प्रकट करता है, वह भी भरी सभा में या चार आदमियों के बीच में, तब कैसे सहन कर लें? परन्तु यह तो क्रोध का क्रोध ही है, क्षमा नहीं है।

तीसरी कसौटी–मान लो, किसी को तब भी क्रोध न आए, परन्तु जब उसकी कोई वस्तु छीनने लगे, अधिकार हड़पने लगे, तब यदि मन में भी ताव आ जाता है, तो समझ लो, क्षमा में कमी है।

चौथी कसौटी–मान लो, कोई वस्तु या अधिकार छीनने पर भी क्रोध न आए, परन्तु कोई उसे बाँधकर मारपीट करे या रस्सों से जकड़कर उसके सामने उसके किसी प्रिय व्यक्ति को पीटने लगे या अनेक प्रकार से उसे सताए, पीड़ा दे तो वह झल्लाए बिना नहीं रहता, बाहर से नहीं तो मन ही मन बड़बड़ाता है। वह भी क्षमा नहीं है।

---

१. 'शान्तिपथदर्शन' में उत्तम क्षमा के विश्लेषण से भाव ग्रहण, पृ. ३१

पाँचवीं कसौटी—मान लो, इतने पर भी मन में गुस्सा न करे, किन्तु जब उसे अमानुषिक यातनाएँ देने लगे, विविध प्रकार से पीड़ा देने लगे, तब भी क्रोध न आए और मन से कहे कि आपमें जितनी सामर्थ्य हो, कसर निकाल लो, यह उत्तम क्षमा का एक प्रकार समझा जा सकता है।

छठवीं कसौटी—कोई दुष्ट किसी को उसके घर में आकर नाना प्रकार से सताकर, पीड़ा देकर चला जाए, उस समय तो चुपचाप सह लिया और घर में रहकर उपचार कर लिया, मरहम-पट्टी कर ली, परन्तु कोई उसे घर से ही निकाल दे, तब भी आँखों में जरा-सी रोष की क्षीण रेखा भी न आए, तो समझा जा सकता है, यह क्षमा है।

सातवीं कसौटी—घर से निकाल देने पर भी वह सोचता है, शरीर सशक्त और स्वस्थ है तो कहीं पर भी मेहनत-मजदूरी करके जीवन-निर्वाह कर लेंगे। परन्तु शरीर पर भी प्रहार करके उसके काट दे, नष्ट कर दे या नष्ट करने लगे, तब भी क्रोध न आए, तो समझा जा सकता है, उत्तम क्षमा है। परन्तु उस समय मन में गाँठ बाँध ली, उसके प्रति वैर बाँध लिया तो समझ लो, वह उत्तम क्षमा नहीं है। सुदर्शन सेठ पर अभया रानी द्वारा झूठा दोषारोपण लगाया गया, उसकी लोगों में भर्त्सना की गई, आक्रोश बढ़ा, उसे राजा द्वारा शूली की सजा दी गई, तब भी उसके मन में अभया रानी, जनता या राजा के प्रति मन में भी रोष, द्वेष का भाव पैदा नहीं हुआ, यह उत्तम क्षमा की परीक्षा में सफलता है।[1]

क्षमा से अपार आत्मिक लाभ और क्रोध से अपार क्षति

वस्तुतः देखा जाए तो क्षमा अंदर से उत्पन्न होती है, वह आत्मा का स्व-भाव है। क्रोध बाहर से आता है, वह कर्म का स्व-भाव है। सम्यग्दृष्टिपूर्वक क्षमा के आचरण से आत्मा की, आत्म-गुणों की, आत्म-स्वभाव की कोई हानि या क्षति नहीं होती, बल्कि संवर और सकाम-निर्जरा होती है—पूर्वबद्ध अशुभ कर्म के उदय में आने पर समभाव से, शान्ति से, निराकुलता से भोग लेने पर और होती है आत्म-शुद्धि। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जिन कर्मों को करोड़ों भवों में नष्ट नहीं कर पाता, ज्ञानी और सम्यग्दृष्टि क्षमा धुरंधर आत्मा उन्हें समभावपूर्वक सहन करके एक श्वासोच्छ्वास मात्र समय में क्षय कर डालते हैं। इसके विपरीत क्रोध से अपार क्षति होती है, आत्मा की अशुभ कर्मबन्ध, वैर परम्परा, परस्पर संक्लेश, कलह, भय, मानसिक तनाव और दुःसाध्य मानसिक रोग आदि से महान् क्षति का कारण क्रोध ही है। क्षमाशील व्यक्ति निर्भय, निश्चिन्त होता है। उसे शरीर तक के नष्ट

---

१. 'धर्म के दस लक्षण' (डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल) से भाव ग्रहण, पृ. २४-२६

होने की कोई चिन्ता नहीं होती। इसके विपरीत क्रोधी का हृदय सदैव भय से काँपता रहता है, उसे सदैव दूसरे के द्वारा प्रहार होने का डर रहता है। क्षमाशील व्यक्ति के सभी मित्र बन सकते हैं, उसे सभी अपना मानकर चाहते हैं, परन्तु क्रोधी व्यक्ति को कोई नहीं चाहता, उसके पुराने मित्र भी उससे किनाराकसी कर जाते हैं। क्षमारूप कवच जिसने हृदय में धारण कर लिया, उस पर क्रोध के या क्रोधी व्यक्तियों के सभी प्रहार निरर्थक हो जाते हैं। उत्तम क्षमाशील में बाह्य निमित्तों की प्रतिकूलता आने पर भी आत्मा के आश्रय से उत्पन्न शान्ति बनी रहती है।[1]

कायरता और क्षमा में बहुत अन्तर है

कायरता, बुजदिली और क्षमा में आकाश-पाताल का अन्तर है। क्षमावान् को कोई भी संकट हिला नहीं सकता, वह संकट के समय धीर, गम्भीर और शान्त होकर आत्म-स्वभाव का चिन्तन करता है, जबकि कायर और बुजदिल संकट आते ही घबरा जाता है, उसके चित्त में चंचलता, उद्विग्नता और भीति पैदा हो जाती है, हृदय की धड़कन बढ़ जाती है और कभी-कभी बुजदिल की हृदयगति भी अवरुद्ध हो जाती है। क्षमावान् में संकट, विपत्ति और मृत्यु भय उपस्थित होने पर भी धैर्य, गाम्भीर्य और निश्चलता बनी रहती है। क्षमा का तत्त्वज्ञ राजगृह निवासी सुदर्शन श्रमणोपासक अर्जुनमाली के भंयकर मृत्यु भय के आतंक होने पर भी निर्भय, निश्चल, अनुद्विग्न होकर भगवान महावीर के दर्शनार्थ जा रहा था। अर्जुनमाली की भयावनी सूरत और मुद्‌गर के प्रहार से सुदर्शन को चूर-चूर कर देने की मुद्रा देखकर भी वह शान्त और क्षमानिष्ठ रहा। फलतः अर्जुनमाली भी प्रहार न कर सका, यक्ष भी उसके शरीर से निकलकर पलायन कर गया। उत्तम क्षमा में महान् शक्ति है, जो कायरता में नहीं होती।[2]

उत्तम क्षमा किसमें प्रगट हो सकती है, किसमें नहीं ?

उत्तम क्षमा का निर्णय हम व्यक्ति की बाह्य प्रवृत्तियों के आधार पर नहीं दे सकते। यद्यपि उत्तम क्षमा एक ही प्रकार की है, उसे जीवन में उतारने के स्तर में अन्तर हो सकता है। अनन्तानुबन्धी क्रोध के अभाव से अविरत सम्यग्दृष्टि में उत्तम क्षमा प्रकट होती है तथा अणुव्रती और महाव्रती में क्रमशः अप्रत्याख्यानी एवं प्रत्याख्यानी क्रोध का अभाव होने से उत्तम क्षमा पल्लवित–पुष्पित होती है एवं आठवें गुणस्थान से ऊपर के सभी गुणस्थानों में संज्वलन क्रोध का अभाव

---

१. 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' (आचार्य देवेन्द्र मुनि शास्त्री) से भाव ग्रहण, पृ. ६२४

२. (क) वही, पृ. ६२४

(ख) देखें–अन्तकृद्दशांगसूत्र में 'मोग्गरपाणि प्रकरण' में सुदर्शन श्रमणोपासक का वृत्तान्त

उत्तम क्षमा को पूर्णता प्रदान करता है। निष्कर्ष यह है कि जिसे आत्म-गुणों के, आत्म-स्वभाव के, आत्मानन्द के, आत्म-शक्ति के एवं आत्म-शुद्धि के श्रवण-मनन-निदिध्यासन में रुचि है, जिज्ञासा है, निष्ठा है, उन्हीं आत्मानुभवी सम्यग्दृष्टि आत्मार्थी ज्ञानी व्यक्ति में उत्तम क्षमा प्रगट होती है। जिनमें उपर्युक्त रुचि बिलकुल नहीं, आत्मचर्चा करना-कहना-सुनना पसंद ही नहीं, वे अनन्तानुबन्धी क्रोध (आत्मा के प्रति अनन्त क्रोध) से ग्रस्त हैं। उनमें उत्तम क्षमा कैसे प्रगट हो सकती है ?[1]

श्रमणवर्ग को उत्तम क्षमा के लिए कैसे उद्‌बोधन करना चाहिए ?

श्रमण-श्रमणी की उत्तम क्षमा उच्च स्तरीय होती है। उसको कोई गाली देता है, अपशब्द कहता है, असभ्य, लुच्चा या गुंडा कहता है, उसे कोई तेजोद्वेष से प्रेरित होकर बदनाम, कलंकित और अपमानित करता है, कठोर शब्दों से उस पर आक्रोश प्रगट करता है, उसे धमकाता है, अकारण ही साम्प्रदायिक द्वेषवश उसकी निन्दा करता है, उस समय उत्तम क्षमाशील साधु अपनी अन्तरात्मा में डुबकी लगाकर आत्म-सम्बोधन करता है—अरे आत्मन ! क्या तू इन शब्दों को सुनने मात्र से घबरा गया ? अपने क्षमा स्वभाव को क्यों भूल गया ? तेरे अन्दर व्याकुलता, अहंत्व सर्प की फुफकार, उद्विग्नता, विह्वलता और मन में विचलता क्यों होने लगी ? इन दो-चार शब्दों के सुनने मात्र से तू अपनी शान्ति को अपने हाथ से क्यों लुटा रहा है ? क्या इसी बूते पर तू कर्म शत्रुओं से युद्ध करने निकला है ? इन शब्दों ने तेरे शरीर पर तो कोई घाव नहीं किया, पीड़ा भी नहीं दी, न कोई आघात (प्रहार) किया है, तेरे तन पर। यह आत्मा तो अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य, अशोष्य है, इसे घायल करने की ताकत शब्दों में कहाँ है ? तू यदि अपनी विवेक बुद्धि, अपने हित और कल्याण की मानसिकता को खण्डित-विचलित न होने दे, तो कोई भी शब्द, वचन या वाक्य तेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। निन्दा-प्रशंसा, मान-अपमान में सम रहने के लिए ही तो तूने सामायिक चारित्र लिया है, फिर तू कुछ शब्दों को सुनकर समभाव से विचलित होकर क्यों अपना सामायिक चारित्र भंग करने पर तुला है ? यदि सचमुच तेरे में कोई दोष है या कमी है तब तो यह झूठ न बोलकर तुम्हें सावधान कर रहा है, निष्कारण बन्धु बनकर तेरा दोषरूप रोग मिटाने की भावना कर रहा है अथवा दोष नहीं है तो भविष्य में तेरे अन्दर अमुक-अमुक दोष न पैदा हो जाएँ, इस भावना को लेकर तुम्हें पानी आने से पहले पाल बाँधने को कह रहा है, यह अच्छा ही है। ऐसा समझकर स्वयं को शान्त रखना उत्तम क्षमा है श्रमणवर्ग की।

---

१. 'धर्म के दस लक्षण' से भाव ग्रहण, पृ. २८-२९

यदि कोई व्यक्ति तेरे शरीर को पीटने लगे, थप्पड़-मुक्के मारने लगे या लाठी आदि से प्रहार करने लगे, तो भी तू चिन्तन कर—अरे चेतन ! तू अपनी सर्वशक्तियों को पूर्णतया गुप्त अपने ज्ञानदुर्ग में बैठा है, क्या तुझे (आत्मा को) कोई थप्पड़-मुक्के लगे हैं ? उस पर कोई प्रहार हुआ है ? क्या कहीं तेरी ज्ञानमयी आत्मा को चोट या बाधा, पीड़ा पहुँची है इनसे ? आत्मा ज्ञानमय है, ज्ञान को पीड़ा, चोट होने का क्या काम ? फिर तू विवेक खोकर शरीर की चोट या पीड़ा को अपनी चोट या पीड़ा क्यों समझ बैठा है ? यह शरीर जड़ है, यह तो क्रोध करता नहीं कि मुझे चोट लगी है। क्रोध उत्पन्न करने वाला तू स्वयं (आत्मा) ही है। ये बेचारे प्राणी तुझे क्रोध कैसे उत्पन्न करा सकते हैं, तू स्वयं क्रोध न करे तो ? फिर यदि शरीर को कुछ बाधा पहुँची है तो तेरे ही पूर्वबद्ध कर्मोदय से पहुँची है, इस चोट से शरीर का विनाश तो नहीं हुआ। तेरे द्वारा किये हुए कर्म का फल किसी भी निमित्त से मिले, उसे शान्ति से सहकर निर्जरा (कर्मों का क्षय) कर ! तेरा संयम तो इस चोट से बाधित नहीं हुआ, तू अपने ज्ञानादि मार्ग पर चल ! इस प्रकार के मनन-चिन्तन से क्रोध पर, उसके उठने से पहले ही ब्रेक लगा देता है, वह श्रमण उत्तम क्षमा अर्जित कर लेता है।

कदाचित् कोई प्राण ही लेने को उद्यत हो जाये, बंदूक ताने सामने खड़ा हो, अन्धकूप में धकेलने को तैयार हो, गर्मागर्म तेल के कड़ाह में डालने को, कोल्हू में पीलने को, कुत्तों से नुचवाने या करवत से चीरने को उद्यत हो, उस समय उत्तम क्षमाशील श्रमणवर्ग आत्मा को इस प्रकार उद्बोधन करे—अरे आत्मन् ! क्या मृत्यु आने की सम्भावना से तू भयभीत और उद्विग्न हो गया ? मृत्यु तो एक दिन आयेगी ही, जब तक कर्म हैं, तब तक जन्म-मरण का चक्र चलता रहेगा। परन्तु जन्म-मृत्यु तो शरीर का स्वभाव है, आत्मा का स्वभाव तो अमरत्व, अविनाशी, नित्य है। फिर मृत्यु के समय बिना घबराये यदि तू परमात्म-स्मरण, आत्म-चिन्तन, भेदविज्ञान, कायोत्सर्ग आदि करता हुआ समाधिपूर्वक शान्ति से मृत्यु का वरण करता है तो तेरे पूर्वबद्ध असंख्य-असंख्य कर्मों की निर्जरा अनायास ही हो जायेगी। फिर मृत्यु तो तेरी उपकारिणी है, यदि शुभ या शुद्ध परिणाम धारावश तेरी मृत्यु होगी तो तुझे नया अच्छा शरीर, अच्छे संयोग मिलेंगे। अतः मृत्यु का डर क्या होगा ? फिर शरीर की मृत्यु तेरी (आत्मा की) मृत्यु कैसे हो सकती है ? यदि मृत्यु से ही डरता है तो क्षण-क्षण में पर-भावों में रमण करने से, राग-द्वेष या कषाय करने से तेरा भावमरण हो रहा है, तेरे स्व-भावों की हत्या हो रही है, आत्म-हनन से क्यों नहीं डरता ? ये बेचारे शस्त्रास्त्रों से तेरे शरीर को नष्ट करने वाले तेरे घातक कैसे हो सकते हैं ?[1]

---

१. 'शान्तिपथदर्शन' के अध्याय ३१ 'उत्तम क्षमा के प्रकरण' से भाव ग्रहण, पृ. ४१२-४१३

तू तो स्वयं अविनश्वर ज्ञान-दर्शन-आनन्द-शक्ति का पुँज है। ये तेरे घातक नहीं, तू ही इनके प्रति रोष, द्वेष, घृणा, वैरभाव करके अपने इन आत्म-गुणों का घात स्वयं ही कर रहा है। ये बेचारे तुझे रोष-द्वेषादि उत्पन्न नहीं कराते, न करा सकते हैं, रोष-द्वेषादि करने वाला तो तू स्वयं ही है। ये बेचारे अज्ञानी स्वयं नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं? इन पर रोष-द्वेष कैसा? ये बालजीव हैं, इनकी अज्ञानजनित चेष्टाओं पर रोष-द्वेष कैसा? यदि इन्हें ऐसा कार्य करने से प्रसन्नता होती है, तो इसमें तेरी क्या हानि है? लोग तो अत्यन्त कष्ट सहकर दूसरों की सेवा करके, परोपकारी बनकर दूसरों को स्वस्थ एवं प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हैं, ये तो बिना कुछ किये सहज ही इस शरीर के साथ खेल खेलकर प्रसन्न हो रहे हैं तो इससे अच्छी बात क्या है? तेरा सर्वस्व तो क्षमा है। तुझे क्षमा की परीक्षा में उत्तीर्ण होना है। उस क्षमा का अपहरण करने में ये समर्थ नहीं, फिर भी ये प्रसन्न होते हैं तो होने दें।

क्या तू इन्हें अपना शत्रु मानता है? इस दुनियाँ में अब क्या कोई तेरा शत्रु रह गया है, जबकि तू **'मित्ती मे सव्व भूएसु, वेरं मज्झ न केणइ'** का पाठ रोज दैवसिक-रात्रिक प्रतिक्रमण के समय दोहराता है? मान लो, तुम्हें कोई दुःसाध्य रोग हो जाय और कोई अपरिचित व्यक्ति तुम्हें ह्वील चेयर में बिठाकर हॉस्पिटल ले जाये और डॉक्टर से कहे कि मेरा सर्वस्व ले लीजिये, पर इन्हें स्वस्थ कर दीजिये, तो बता उस व्यक्ति से तुम्हें द्वेष होगा या उसके प्रति तुम्हें कृतज्ञता होगी? द्वेष तो हर्गिज नहीं होगा। इसी प्रकार तू कषायों से पीड़ित एक रोगी है। यह दयालु जीव निःस्वार्थसेवी डॉक्टर के समान, अपने समस्त पुण्य लुटाकर, तुम्हें उत्पीड़ित करके कषायरूपी मवाद को ऑपरेशन करके निकालना चाहता है, तुम्हें उस समय क्षमाभावरूपी एनिस्थिया सुँघाकर, इस प्रकार यह तुम्हें कषायजनित कर्मरूपी रोग से मुक्ति दिलाने आया है, तेरा सब भार अपने सिर पर लेकर। भला, ऐसा उपकारी जीव तुम्हारे द्वेष-रोष का पात्र होगा या करुणा अथवा कृतज्ञता का? क्षमामूर्ति गजसुकुमाल मुनि ने सोमल ब्राह्मण के द्वारा अपने मस्तक पर धधकते अंगारे रखकर प्राणान्त कष्ट दिये जाने पर भी क्या उसे शत्रु माना था? नहीं, उन्होंने उसे पूर्वबद्ध समस्त कर्मों से शीघ्र छुटकारा दिलाने में परम सहायक माना था। शरीर के प्रति उन्हें जरा भी मोह नहीं था।

कदाचित् किसी श्रमण या तपस्वी मुनि के पास कोई लब्धि है, जिससे प्रतिकूल चलने वाले को हानि पहुँचाई जा सकती है? परन्तु क्षमाश्रमण महर्षि ऐसा कदापि नहीं करते। हरिकेशबल मुनि को याज्ञिक ब्राह्मणों ने कितना कष्ट दिया था, कितना गालीगलौज और तिरस्कार किया था, फिर भी उन्होंने अपनी लब्धि या कषायों का प्रयोग नहीं किया, मन से भी कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। इसी प्रकार है

क्षमाश्रमण ! तुम्हारी बात भी कोई प्रियजन न मानें, तुम्हारे अनुकूल न बनें तो उससे तुम्हें उनके प्रति किसी प्रकार का संताप, रोष या द्वेष नहीं होना चाहिए? तूने कई बार पढ़ा है कि लोक में सभी सजीव-निर्जीव पदार्थ स्वतन्त्र हैं। तू भी स्वतन्त्र है, वे भी स्वतन्त्र हैं। दूसरों को उसकी इच्छा के प्रतिकूल अधीन करना तेरी सामर्थ्य से बाहर है। तेरा उन पर क्या अधिकार है? यदि कोई सुनना चाहे तो उनके कल्याणार्थ कोई हित की बात बता दे। उसके बाद वे मानें, न मानें उनकी इच्छा है। तेरा कर्त्तव्य पूर्ण हुआ। लोक में अनन्त जीवराशि भरी पड़ी हैं, किस-किसको अपनी आज्ञा में चलायेगा? अपने पर तेरा पूर्ण अधिकार है, अनुकूल परिणमाना है तो तू स्वयं को अपने अनुकूल परिणमा। दूसरों के प्रति तेरे क्रोधादि के परिणामों को रोक। यही उत्तम क्षमा की सुरक्षा होगी। यही अपने (आत्मा के) क्षमा-स्वभाव में प्रज्ञा को स्थित करना है।[१]

'बृहत्कल्प' एवं 'कल्पसूत्र' में बताया है कि "यदि किसी श्रमण या श्रमणी का किसी दूसरे श्रमण या श्रावक के साथ कलह हो जाये तो जब तक परस्पर क्षमा न माँग ले, तब तक आहार-पानी लेने गृहस्थ के घरों में न जाये। शौच के लिए जाना या स्वाध्याय करना कल्पनीय नहीं है।"[२] कितनी कठोर आज्ञा है ! प्रथम क्षमापना बाद में अन्य दैनिक कार्य ! इसी प्रकार प्रत्येक श्रमण एवं श्रमणोपासकवर्ग के लिए भी ऐसा विधान है कि अपराध या दोष चाहे छोटे का हो, परन्तु अगर किसी बात पर कटु वचन, चुभते वचन कहे, लिखे गये हैं, कलह-क्लेश हुआ है तो छोटा क्षमा माँगने आये या न आये, जो उत्तम क्षमा की आराधना करना चाहता है, उसे स्वयं चलकर छोटे के पास जाकर अन्तःकरण से क्षमायाचना कर लेनी चाहिए। वह उसकी क्षमा को स्वीकारे या न स्वीकारे, उसे आदर दे या न दे, उसकी बात सुने या न सुने, जिसने क्षमायाचना कर ली वह आराधक है, नहीं की वह विराधक है।[३] क्षमा के बिना जप, तप, क्रियाकाण्ड, त्याग-व्रत सब देहदण्ड हैं। यहाँ तक कि क्षमापना के बिना यावज्जीव अनशनपूर्वक संलेखना संथारा भी आराधना का कारण नहीं, विराधना का कारण है। अभीचिकुमार ने श्रावकव्रत ग्रहण कर लिये, अपने पिता उदयन राजर्षि के प्रति मन में जिन्दगीभर वैरभाव रखा, अन्तिम समय तक उनसे क्षमायाचना नहीं की, बल्कि उन्हें मुनि-अवस्था में भी कष्ट दिये। फलतः वह विराधक हुआ। किल्विषीदेव बना।[४]

---

१. 'शान्तिपथदर्शन' से भाव ग्रहण, पृ. ४०८-४१०

२. 'बृहत्कल्पसूत्र', उ. ४

३. 'कल्पसूत्र, चतुर्थ खण्ड' पर्युषणाकल्प में क्षमापनाकल्प, सू. २८६

४. (क) 'जैन आचार': सिद्धान्त और स्वरूप' से भाव ग्रहण, पृ. ६२५

(ख) 'भगवतीसूत्र' में उदायी राजर्षि का जीवनवृत्त

वृद्ध पिता द्वारा युवक पुत्र से क्षमायाचना

इसके विपरीत अहमदाबाद के एक व्रतधारी जैन श्रावक की घटना है। उसकी अपने बेटे से १७ वर्षों से अनबन थी, बेटे से बोलना भी बन्द था। बेटा अलग रहता था। पर्युषण के दिनों में श्रावक पिता ने एक दिन एक सहकारी सोसाइटी में मुनि जिनचन्द्रविजय जी का क्षमापना पर प्रवचन सुना। उससे प्रभावित होकर विचार किया कि मैं व्रतधारी श्रावक हूँ। रोज प्रतिक्रमण में 'खामेमि सव्वे जीवे' बोलता हूँ, किन्तु मैं अपने पुत्र से अभी तक वैर-विरोध रखता हूँ, यह आराधकता का लक्षण नहीं। उपाश्रय में विराजमान गुरुदेव से मंगल पाठ सुनकर वह ७० वर्ष का बूढ़ा श्रावक एक बजे सीधा बेटे के यहाँ पहुँचा। वह हिंचके पर झूल रहा था। पिता को आते देखकर भी उठा नहीं। पिता ने आते ही पुत्र के चरणों में पड़कर कहा–"बेटा ! मुझे क्षमा कर। मैं तुमसे क्षमा माँगने आया हूँ। क्या तू मुझे क्षमा नहीं देगा?" यह कहते ही पुत्र एकदम उठा और आँखों में आँसू लाकर बोला–"पिताजी, मुझ पर यह पाप मत चढ़ाइये। मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ। अपराध मेरा है। आप क्षमा दीजिए।" दोनों में परस्पर क्षमा का आदान-प्रदान होने से मन का सारा मैल धुल गया। यह था पिता की उत्तम क्षमा का प्रभाव ! वह आराधक हो गया।[1]

व्रतबद्ध क्षत्रिय गणाधिप चेटक की क्षमा

उत्तम क्षमाधारी सम्यग्दृष्टि हो, व्रतधारी श्रावक दोनों को अपनी-अपनी भूमिका में उत्तम क्षमा का पालन करना चाहिए। किसी के साथ वैर-विरोध हो जाये, कोई उसको क्षति पहुँचाये, उसका प्रतिकार करते समय भी वह उस प्रतिद्वन्द्वी के प्रति वैरभाव, द्वेषभाव तो न रखे, इतना कम से कम अवश्य करे। चेडा महाराजा व्रतधारी श्रावक थे। उन्हें शरणागत की रक्षा के लिए अत्याचारी, अन्यायी और युद्ध करने आये अपने दौहित्र कोणिक के खिलाफ लड़ना पड़ा। न्याय-नीति की रक्षा के लिए यह युद्ध था। फिर भी उन्होंने प्रतिपक्षी के प्रति रोष, द्वेष नहीं रखा। युद्ध से पूर्व उसे अनेक प्रकार से समझाने का भी उन्होंने प्रयास किया। जब कोणिक किसी भी मूल्य पर नहीं माना, तब उन्हें युद्ध छेड़ना पड़ा। यह थी व्रतबद्ध श्रावक की क्षमा की सीमा।[2]

---

१. 'क्षमापना' (प्रवक्ता जिनचन्द्रविजय जी) से भाव ग्रहण

२. देखें–भगवतीसूत्र में रथमूसलसंग्राम का वर्णन

(२) उत्तम मार्दव : क्या, क्यों और कैसे ?

धर्म की जन्म-भूमि : कोमल और मृदु मन

मार्दव का स्वरूप

मार्दव भी क्षमा के तुल्य आत्मा का स्वभाव है। मार्दव-स्वभाव वाले आत्मा के आश्रय से आत्मा में मानकषाय के अभाव के रूप में कोमलता-मृदुलता की पर्याय प्रगट होती है, उसे मार्दव कहा जाता है। मृदुता का सीधा अर्थ कोमलता है, परन्तु मार्दव शब्द अपने में कई अर्थ समेटे हुए है—नम्रता, मदरहितता, अहंकारविहीनता, विनयभावना, अनुद्धतता मृदु-परिणाम, कोमल-परिणाम, अभिमान विरोधी परिणाम आदि। मार्दव जीवन में तभी आता है, जब जातिमद आदि आठ प्रकार का मद या मान (अहंकार) न हो। इसलिए 'बारस अणुवेक्खा' में कहा है—"जो मनस्वी पुरुष कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, श्रुत, शीलादि के विषय में जरा-सा भी गर्व (मद) नहीं करता, उसके मार्दव धर्म होता है।" शास्त्रकारों ने मानकषाय की उत्पत्ति के आठ निमित्त बताये हैं—जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ और ऐश्वर्य। इन्हीं आठ मदों के कारण जीव में मान उत्पन्न होता है। इसलिए 'भगवती आराधना' की टीका में कहा गया है—जाति आदि (अष्टविध मद के आवेश से होने वाले) अभिमान का अभाव मार्दव है। निश्चयदृष्टि से पर-पदार्थों का मैं करता हूँ, कर सकता हूँ ऐसी मान्यतारूप अहंकारभाव का उन्मूलन करना मार्दव है।[1]

मार्दव धर्म का अधिकारी कौन ?

मार्दव धर्म जिसके जीवन में नहीं होता, वह जाति, कुल आदि पर-पदार्थों का गुलाम बनकर, उनके कारण अपने आप को महान्, गुणी, स्वस्थ, प्रसन्न, सुखी मानने लगता है, परन्तु ये पर-पदार्थ उसके अपने कैसे हुए? वह (आत्मा) तो नित्य, अविनाशी और सचेतन है, जबकि पुद्गलादि या कषायादि पर-पदार्थ अनित्य, विनाशी और जड़ हैं। आज तक पर-पदार्थों को अपना मानकर कुल, जाति, बल, रूप, तप, श्रुत, धन (ऐश्वर्य) और लाभ आदि की महिमा के कारण अहंकार में छका हुआ मनुष्य, इनके कारण स्वयं को महान् मानता हुआ मानव

---

१. (क) कुल-रुव-जादि-बुद्धिसु तव-सुद-सीलेसु गारवं किंचि।
जो णवि कुव्वदि समणो मद्दव धम्मं हवे तस्स॥ —*बारस अणुवेक्खा ७२*

(ख) जात्याद्यभिमानाभावोमानदोसानपेक्षश्च दृष्टकार्यानपाश्रयो मार्दवम्।
—*भ. आ. वि. टीका ४६/१५४/१३*

(ग) 'मोक्षशास्त्र' (गुजराती टीका), अ. ९, सू. ६ से भाव ग्रहण, पृ. ६८७

गर्व करता है। इस झूठे गर्व के कारण वह अपने आप को, अपने आत्म-गुणों का मूल्यांकन करना भूल गया है। इन झूठी कल्पनाओं के अन्धकार में अपनी (आत्मा की) वास्तविक महत्ता, विभूति को भूलकर इन पर-पदार्थों का भिखारी वन बैठा है। पर-पदार्थों के आश्रय से अपने बड़प्पन की भिक्षा माँगने में गर्व करता है। इस प्रकार का अष्टविध मद सम्यक्त्व का घातक तो माना ही गया है, परन्तु कषाय के कारण चारित्रगुण और ज्ञानगुण का भी यह घात करता है। मानकषाय से रागवश होने से अशुभ कर्म का बन्ध होता है।[१]

जातिमद के कारण हरिकेशबल चाण्डाल कुल में उत्पन्न हुए

हरिकेशबल मुनि ने पूर्व-जन्म में साधु जीवन जैसा उच्च जीवन पाकर भी समता की आराधना नहीं की और ब्राह्मण जाति का अभिमान किया, जिसके कारण अशुभ कर्म (पापकर्म) बँध गया और अगले भव में उनका चाण्डाल कुल में जन्म हुआ, जहाँ सुसंस्कार, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्बोधि आदि नहीं मिल सके। कालाकलूटा, बेडौल, कमजोर शरीर मिला। फिर भी पूर्व-जन्मकृत पुण्य के फलस्वरूप उनको एक ज्ञानी साधु का समागम मिला, ज्ञान मिला, संयम मिला। अतः इस जन्म में उन्होंने जाति आदि का अभिमान नहीं किया। उत्तम मार्दव धर्म से ओतप्रोत होकर व सिद्ध-बुद्ध सर्वकर्ममुक्त हो गए।[२]

मार्दव धर्म से अनुपम लाभ

मार्दव धर्म का अनुपम लाभ बताते हुए भगवान ने कहा है–"मार्दव से जीव अनुद्धतभाव का प्राप्त होता है। अनुद्धतता से जीव मृदु–मार्दवभाव से सम्पन्न होकर आठ मदस्थानों को नष्ट कर देता है।[३] मार्दवगुण के कारण मानव में द्रव्य से कोमलता और भाव से नम्रता आ जाती है, आत्मा में प्रसन्नतता और निजगुणलीनता आ जाती है।

मार्दव धर्म और मानकषाय : दोनों ही विरोधी

मानकषाय के कारण व्यक्ति में कोमलता का अभाव हो जाता है, जिसके कारण वह सर्वत्र स्वयं को बड़ा और दूसरे को छोटा, स्वयं के जाति, कुल आदि को उच्च और दूसरे को हीन, नीच समझने लगता है। भगवान महावीर ने कहा–

---

१. 'शान्तिपथदर्शन' से भावांश ग्रहण, पृ. ४११-४१२

२. देखें–उत्तराध्ययनसूत्र का १२वाँ हरिकेशीय अध्ययन, प्राथमिक

३. मद्दवयाए अणुस्सियत्तं जणयइ। अणुस्सियत्तेण जीवे मिउ-मद्दव संपन्ने अट्ठ मयट्ठाणाई निट्ठावेइ।
–उत्तरा. २९/४९

"**नो हीणे, नो अइरित्ते।**"-कोई भी व्यक्ति न तो हीन है और न ही अतिरिक्त (उत्कृष्ट)। हीनता-दीनता भी मार्दव नहीं है और अहंता-ममता भी मार्दव नहीं।[१] परन्तु मार्दव धर्म-पालन के लिए व्यवहार में कर्कशता, कठोरता, रूक्षता या किसी की अवमानना नहीं हो, प्रत्येक व्यक्ति के साथ सहानुभूति और नम्रता होनी आवश्यक है।

क्रोध और मान दोनों ही पापजनक

क्रोध और मान, ये दोनों कषाय द्वेष और राग के अन्तर्गत हैं। यदि कोई निन्दा करता है तो क्रोध आता है और कोई प्रशंसा करता है तो मान। शत्रु निन्दा करता है और मित्र प्रशंसा। शत्रु राई जितने दुर्गुण को पर्वत के सदृश प्रस्तुत करता है, जबकि मित्र अवगुण को ढाँककर सामान्य गुण को भी बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत करता है, वह चापलूसी करता है। निन्दा पीठ पीछे की जाती है, प्रशंसा मुँह के सामने। निन्दा की अपेक्षा प्रशंसा अधिक भयावह एवं मीठा विष है। क्रोध जिस निमित्त से आता है, व्यक्ति उस निमित्त को नष्ट करना चाहता है, जबकि मान जिस निमित्त से आता है, उसे व्यक्ति सदैव अपने पास रखना चाहता है, ताकि अहंकार का पोषण हो। अतः क्रोध वियोग को और मान संयोग को पसंद करता है। मिथ्यादृष्टि दोनों ही प्रसंगों पर क्रोध और मान के प्रवाह में बहकर अशुभ कर्म बाँधता है, जबकि सम्यग्दृष्टि दोनों ही प्रसंगों पर सम रहता है, क्षमा और मृदुता धारण करता है। इसीलिए 'आचारांगसूत्र' में इंगित किया गया है-"**तम्हा पंडिए णो हरिसे, णो कुज्झे।**"-इसलिए पण्डित साधक (प्रशंसा पाकर) हर्षित (गर्वित) न हो और न ही (निन्दा सुनकर) क्रुद्ध हो। सम्मान और असम्मान दोनों ही परिस्थितियों में सम रहे, मृदुता रखे। व्यक्ति धन या स्वजन-परिजन आदि का सहज ही परित्याग कर सकता है, किन्तु मान, बड़ाई, ईर्ष्या, प्रतिष्ठा आदि का छोड़ना बहुत ही कठिन होता है। व्यक्ति जब 'पर' को 'स्व' मानकर चलता है, तब मान (अहंकार) होता है, किन्तु जब वह 'पर' को 'पर' और 'स्व' को 'स्व' मान लेता है, तब अपने स्वभाव में, स्व (आत्म) गुणों में स्थित हो जाता है। 'पर' से उसकी आसक्ति, ममता, अहंता और मेरापन छूट जाता है। निष्कर्ष यह है कि मान का आधार 'पर' नहीं, 'पर' को अपना मानना है।[२]

---

१. आचारांग, श्रु. १, अ. २, उ. ३, सू. ३२६

२. (क) 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' से भाव ग्रहण, पृ. ६२६

(ख) आचारांग, श्रु. १, अ. २, उ. ३, सू. २२८

(ग) 'धर्म के दस लक्षण' (डॉ. हुकमचंद भारिल्ल) से भाव ग्रहण, पृ. ३०-३१

पर-पदार्थों के संयोग होने मात्र से अहंकार नहीं होता

जाति, कुल, वल, रूप, धन, वैभव, तप, लाभ आदि पर-पदार्थों के केवल संयोग होने मात्र से मान (अहंकार) नहीं हो जाता। जाति, कुल आदि का संयोग तो किसी सम्यग्दृष्टि श्रावक-श्राविका या साधु-साध्वी को भी होता है, हो सकता है, परन्तु यदि उनके मन-वचन-काया के योग में अहंत्व–ममत्व आ जाता है, स्वयं को उच्च या वड़ा और दूसरों को उस-उस वात को लेकर नीचा या छोटा माना जाता है, तव मानकषाय आकर धर दबोचता है। हम 'मान' का नाप पर-पदार्थों (के संयोग मात्र) से करते हैं, यह ठीक नहीं। उसका नाप अपनी (आत्मा) से होना चाहिए, क्योंकि मार्दव धर्म और मानकषाय, ये दोनों ही आत्मा की क्रमशः स्वाभाविक और वैभाविक पर्याय हैं। कभी-कभी तो इन पर-पदार्थों का संयोग नहीं भी होता, तप और श्रुतज्ञान आत्मा की स्व-पर्याय हैं, फिर भी इनको लेकर मद हो तो वह मानकषाय से जुड़ जाता है, मार्दव धर्म को खण्डित कर देता है। अतः संयोग को संयोग रूप मानने-जानने से मान नहीं होता, क्योंकि सम्यग्दृष्टि-सम्यग्ज्ञानी, चक्रवर्ती अपने आप को चक्रवर्ती और सम्यग्ज्ञानी, आचार्यादि पदाधिष्ठित साधु अपने आप को आचार्य-उपाध्याय आदि जानता-मानता है, किन्तु साथ में यह भी जानता है कि "यह सब संयोग है, मैं तो इन सबसे भिन्न चिदानन्दघन चैतन्य हूँ।"[१]

मार्दव धर्म किस-किस भूमिका वाले में ?

केलज्ञानी भी स्वयं को केवलज्ञानी मानते-जानते हैं, क्या वे भी मानी कहे जाएँगे? कदापि नहीं। क्षायोपशमिक ज्ञान वाले सम्यग्दृष्टि के यद्यपि अनन्तानुबन्धी मान चला गया है, तथापि अप्रत्याख्यानादि तीन प्रकार के मान तो विद्यमान हैं। इसी प्रकार अणुव्रती के प्रत्याख्यानी और संज्वलन सम्बद्ध मान तथा महाव्रती के संज्वलन सम्बद्ध मान की उपस्थिति रहेगी ही। कमजोरी के कारण अपनी-अपनी भूमिकानुसार ये मान रहेंगे, परन्तु ये स्थायी नहीं हैं, उच्च भूमिका पर आरूढ़ होने के बाद ये भी छूट जाते हैं। किन्तु इन अमुक-अमुक मानों के होते हुए भी इनके साथ एकत्व बुद्धि नहीं होती। अतः इनमें मार्दव धर्म आंशिक रूप से तो मौजूद ही है।[२]

मार्दव धर्म-प्राप्ति के लिए विविध उपाय

मार्दव धर्म की प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम शर्त है–देहादि पर-पदार्थों, अपने विकारों (वैभाविकभावों) एवं अल्प-विकसित अवस्थाओं में एकत्व बुद्धि तोड़ना।

---

१. 'धर्म के दस लक्षण' (डॉ. हुकमचंद भारिल्ल) से भाव ग्रहण, पृ. ३५-३६

२. वही, पृ. ४१-४२

शरीर के साथ एकत्व बुद्धि होने पर ही जाति, कुल, बल, रूप आदि का मद होता है। ऐश्वर्यमद और लाभमद बाह्य पदार्थों से सम्बन्धित है तथा तपमद और ज्ञानमद आत्मा की अल्प-विकसित अवस्था के आश्रय से होते हैं। मार्दव धर्म के प्रकटीकरण के लिये मन, वाणी और शरीर तीनों में मृदुता (नम्रता) होना आवश्यक है। मन मृदु होगा तो वैचारिक कठोरता नष्ट होगी। अध्यवसायों में पवित्रता आने लगेगी। अनेक संकल्प-विकल्पों और बहमों से बचाव हो सकेगा। मन कठोर होगा तो कार्यों में भी क्रूरता प्रगट होगी। मानसिक मृदुता के लिए भगवान महावीर ने सूत्र दिया- "**तुमंसि नाम सच्चेव, जं हंतव्वं ति मन्नसि।**"-तू वही है, जिसे तू मन में मारने का विचार करता है आदि। मन में किसी के प्रति बुरे भाव न लाना, किसी की अवनति में प्रसन्न न होना, किसी को लूटने, पीटने, गुलाम बनाने का न सोचना। वाणी की मृदुता का अर्थ है-वाणी में स्पष्टता, कोमलता, मिष्टता। वाणी की मृदुता के लिए भगवान महावीर ने कहा-"**जहा पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ।**" -जैसे पुण्यशाली को कहो, वैसे भगवान को भी कहो। वाणी की मृदुता कभी घाव नहीं पैदा करती, वह घाव पर मरहम-पट्टी का काम करती है। कायिक कठोरता तनाव, अकड़न और प्रतिक्रिया व क्रूरता पैदा करती है। कायिक मृदुता का प्रेरक सूत्र दिया-"**णो अत्ताणं आसाएज्जा, णो परं आसाएज्जा।**"-स्वयं की आशातना (पीड़ा-अवज्ञा) न करो, न ही दूसरों की आशातना, पीड़ा करो। कठोरता कठोरता से नहीं, सरलता और मृदुता से मिलती है।[1]

अनन्तानुबन्धी कषाय वाले में मार्दव धर्म नहीं

अनन्तानुबन्धी मान का मूल कारण देहादि पर-पदार्थों, अपने वैकारिकभावों और अल्प-विकसित अवस्थाओं के प्रति एकत्व बुद्धि है। एकत्व बुद्धि मिथ्यात्व के कारण होती है और मिथ्यात्व को छुटकारा होता है-आत्मा के स्वभाव, निजी गुणों के दर्शन से।

यद्यपि कोई मिथ्यात्वी या अज्ञानी भी शास्त्र के आधार पर कह सकता है, देहादि के प्रति मेरी एकत्व बुद्धि नहीं, पर-बुद्धि है, साथ-साथ यह भी कहता जाता है कि क्रोध, मान आदि बुरे हैं, हेय हैं, इन्हें छोड़ देना चाहिए, परन्तु उसके अन्तर में क्रोध, मान आदि के प्रति उपादेय बुद्धि बनी रहती है, वह अन्तर्मन से मान, प्रतिष्ठा, सम्मान, पद आदि चाहता है, इन्हें पाने के लिए लालायित भी रहता है, इन्हें पाने हेतु अनेक प्रकार से तिकड़म भी करता है।[2]

---

१. 'शब्दों की वेदी अनुभव के दीप' (मुनि दुलहराज) से भाव ग्रहण, पृ. ८३-८४

२. 'धर्म के दस लक्षण' से भाव ग्रहण, पृ. ३९-४०

मार्दव धर्म-प्राप्ति के लिए देहादि के प्रति पर-बुद्धि मानकषायादि के प्रति हेय बुद्धि आवश्यक

अतः मार्दव धर्म की प्राप्ति के लिये देहादि के प्रति पर-बुद्धि के साथ-साथ आत्मा में उत्पन्न होने वाली क्रोध, मानादि कषाय वृत्ति के प्रति अन्तःकरण से हेय बुद्धि एवं उदासीनता भी होनी चाहिए। जाति, कुलादि संयोगों के प्रति अहंत्व-ममत्व का त्याग होना चाहिए और यह भी सोचना चाहिए कि अनन्त-अनन्त बार ये संयोग मिले, पर इनसे आत्मा का क्या हित हुआ? सभी संयोग क्षणभंगुर हैं, इनका वियोग अवश्य होता है।[१]

मानकषाय के प्रति उपादेय बुद्धि के कारण रावण आदि नरकगामी बने

रावण मानकषाय के प्रति उपादेय बुद्धि के कारण ही तो नरक में गया। उसके मन में सीता जी को ससम्मान वापस करने का विचार भी आ गया था, परन्तु सवाल था मान का-मूँछ का। अतः मान को तानकर कहा-बिना युद्ध किये सीता वापस नहीं करूँगा। मनुष्यगति में अधिकांश कलह, युद्ध, झगड़े मानकषाय के प्रति उपादेय बुद्धि के कारण होते हैं। सम्यग्दृष्टि, अणुव्रती, महाव्रती साधुवर्ग में चारित्रमोह के दोष के कारण मानकषाय की आंशिक उपस्थिति होने पर उनकी मानादि कषायों के प्रति उपादेय बुद्धि नहीं होती। गोशालक, जामालि आदि साधकों में मानादि कषायों के प्रति उपादेय बुद्धि ही उनके सर्वविरतिचारित्र को ले डूबी। उनमें अपनी अल्प-विकसित अवस्थाओं को पूर्ण विकसित मानने की अहंत्व बुद्धि आ गई। जाति आदि के अभिमान के प्रसंग पर नम्रता-मृदुता धारण करना, तुरंत ही अपने आप के विषय में सोचना कि मैं एक दिन निगोद में था, धीरे-धीरे विकास करते-करते मनुष्य-जन्म प्राप्त किया है, अब प्राप्त संयोगों का अहंकार करने से तो मैं और नीच गति में चला जाऊँगा। इस प्रकार अहंकार पर ब्रेक लगाने से संवर लाभ होगा और आत्म-गुणों का दर्शन करने से निर्जरा का लाभ होगा।[२]

(३) उत्तम आर्जव : धर्म-स्वरूप और उपाय
सरलता है सिद्धि का मार्ग

आर्जव क्या है, क्या नहीं ?

क्षमा और मार्दव के समान आर्जव भी आत्मा का स्वभाव है-"ऋजोर्भावः आर्जवम् ऋजु।" अर्थात् सरल का भाव ऋजुता = सरलता का नाम आर्जव है।

---

१. 'धर्म के दस लक्षण' से भाव ग्रहण, पृ. ४३

२. (क) वही, पृ. ४१

(ख) देखें-भगवतीसूत्र में गोशालक और जामालि का वृत्तान्त

सरलभाव या मन-वचन-काय के योगों का वक्र = कुटिल न होना अथवा मायाचार-रहित परिणति आर्जव है। 'बारस अणुक्खा' के अनुसार–"कुटिलभाव या मायाचारी परिणामों को छोड़कर जो शुद्ध हृदय से चारित्र का पालन करता है, उसके नियम से आर्जव नामक धर्म होता है।"

जहाँ मायाकषाय नहीं, वहीं आर्जव धर्म है

आर्जव धर्म का विरोधी मायाकषाय है। मायाकषाय के कारण आत्मा में स्वभावगत ऋजुता–सरलता या सीधापन न रहकर कुटिलता, वक्रता, जटिलता, छल, झूठ-फरेब, दम्भ, कपट, दिखावा, धोखेबाजी, ठगी आदि उत्पन्न हो जाते हैं। मायाचारी सोचता कुछ और है, बोलता कुछ है और करता है कुछ और। उसका व्यवहार सहज, सरल और शुद्ध नहीं होता। उसके मन-वचन-काया में एकरूपता ही नहीं होती।[1]

मायाचार से दुर्गति एवं जन्म-मरण की वृद्धि

वर्तमान युग में सभ्यता के नाम पर भी बहुत मायाचारी और धूर्तता चलती है। आजकल ऊपर से चिकनी-चुपड़ी बातें की जाती हैं और अंदर से उसका विनाश करने, क्षति पहुँचाने या बर्बाद करने की साजिश चलाई जाती है। मायाचारी करने वाला यह नहीं समझता है कि यह मायाचारी दूसरों के लिए दुःखजनक नहीं, अपितु अपने लिए भी घोर कर्मबन्धक और बार-बार तिर्यंचगति का कारण बनती है, इसीलिए 'आचारांगसूत्र' में कहा गया है–"**माई पमाई पुणरेइ गब्भं।**"–मायावी और प्रमादी बार-बार गर्भ में अवतरित होता है। यानी जन्म-मरण करता रहता है। 'ज्ञानार्णव' में मायाकषाय का परिणामात्मक स्वरूप बताते हुए कहा गया है–"यह माया क्या है? इसे इस प्रकार जानिये–माया अविद्या की जन्म-भूमि है, अपकीर्ति का घर है, पापरूपी पंक का बड़ा भारी गड्ढा है, मुक्ति-द्वार की अर्गला है, नरकगृह की पगडंडी है और शीलरूपी शालवृक्ष के जंगल को जलाने वाली अग्नि है। इसे ज्ञानी पुरुषों ने निकृति (शठता या कुटिलता) कहा है। भगवान ने कहा है–सरलता होती है, वहीं आत्म-शुद्धि होती है और शुद्ध आत्मा में ही धर्म टिकता है। जीवन की पवित्रता का नाम ही सरलता है।[2]

---

१. (क) 'धर्म के दस लक्षण' से भाव ग्रहण, पृ. ४५
(ख) 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' से भाव ग्रहण, पृ. ६२८-६२९
(ग) योगस्यावक्रता आर्जवम्। —*सर्वार्थसिद्धि ९/६/४१२*
(घ) मोत्तूण कुडिलभावं निम्मलहिदएण चरति जो समणो।
अज्जव धम्मं तइयो, तस्स दु संभवदि णियमेण॥ —*बा. अ. ७३*

२. (क) आचारांग १/३/१
(ख) ज्ञानार्णव, सर्ग १९, श्लो. ५८-५९
(ग) सोही उज्जूय भूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ। —*उत्तरा., अ. ३, गा. १२*

सरलता और वक्रता की चौभंगी

'स्थानांगसूत्र' में सरलता और वक्रता को एक चौभंगी द्वारा समझाया गया है--कितने ही व्यक्ति अंदर और बाहर दोनों ओर से सरल होते हैं। कई व्यक्ति अंदर से तो सरल होते हैं, किन्तु बाहर से वक्र होते हैं। कितने ही व्यक्ति अंदर से वक्र किन्तु बाहर से सरल होते हैं। कई व्यक्ति अन्दर और बाहर दोनों रूपों में वक्र होते हैं। इनमें प्रथम भंग के व्यक्ति उत्तम, दूसरे भंग वाले भी अंदर में दूसरे की हित बुद्धि से प्रेरित होकर बाहर से कठोरता दिखाते हैं, वहाँ उनकी कुटिलता या वक्रता नहीं, हितैषिता छिपी होती है। तीसरे और चौथे प्रकार के व्यक्ति क्रमशः वक्र और वक्रतम होते हैं। उनसे स्व-पर दोनों को कोई लाभ नहीं होता।[1]

उत्तम आर्जव-प्राप्ति के लिए चार बातें अनिवार्य बताई हैं--काया की ऋजुता, भाषा की ऋजुता, भावों की ऋजुता और त्रिविध योगों की अविसंवादिता (एकरूपता)। भगवान ने आर्जव (सरलता) से उपलब्धि के विषय में कहा है कि आर्जव से जीव काया की सरलता, भावों की सरलता, भाषा की सरलता और (योगों की) अविसंवादिता प्राप्त कर लेता है और अविसंवादिता-सम्पन्न जीव ही (शुद्ध) धर्म का आराधक होता है। दूसरे शब्दों में वह संवर-निर्जरारूप कर्मक्षयकारक धर्म की आराधना कर पाता है। 'पद्मनंदि पंचविंशतिका' में कहा है-- जो विचार हृदय में स्थित है, वही वचन में रहता है तथा वही बाहर फलता है, अर्थात् शरीर से भी तदनुसार कार्य किया जाता है, वह आर्जव धर्म है। इसके विपरीत दूसरों को धोखा देना अधर्म है। ये दोनों क्रमशः देवगति और नरकगति के कारण हैं। 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' के अनुसार--"जो मुनि कुटिल विचार नहीं करता, कुटिल कार्य नहीं करता और कुटिल बात नहीं करता तथा अपना दोष नहीं छिपाता, वही आर्जव धर्म का धारक होता है। क्योंकि मन-वचन-काया की सरलता का नाम आर्जव धर्म है।"[2]

---

१. स्थानांगसूत्र, स्था. ४, उ. १, सू. १२

२. (क) स्थानांग, ठा. ४

(ख) अज्जवयाए णं काउज्जुययं भावुज्जुययं भासुज्जुययं अविसंवायणं जणयइ। अविसंवायणसंपन्नयाए णं जीवे धम्मस्स आराहए भवइ। *--उत्तरा., अ. २९, बोल ४८*

(ग) हृदि यत्तद्वाचि बहिः फलति तदेवार्जवं भवत्येतत्।
धर्मो, निकृतिरधर्मो, द्वाविह सुरसद्म-नरकपथौ॥ *--पं. विं. १/८९*

(घ) जो चिंतेइ ण वंकं, ण कुणदि वंकं, ण जंपदे वंकं।
ण य गोवदि णियदोसं अज्जवधम्मो हवे तस्स॥ *--कार्तिकेयानुप्रेक्षा ३९६*

सिद्धों में तथा एकेन्द्रियादि में मन-वचन-काया की एकरूपता क्या है ?

एक प्रश्न है—आर्जव धर्म की जो परिभाषा की गई है—मन-वचन-काया की एकरूपता। परन्तु जिनके मन-वचन-काया तीनों नहीं हैं, उन सिद्ध भगवन्तों में यह परिभाषा कैसे घटित होगी? फिर जिनके मन और वाणी नहीं है, सिर्फ काया है उन पृथ्वीकायादि एकेन्द्रिय आदि जीवों में भी यह परिभाषा कैसे घटित होगी? क्या उनमें मायाकषाय के न होने से आर्जव धर्म मानना पड़ेगा? सैद्धान्तिक दृष्टि से ऐसा मानना गलत होगा। क्योंकि शास्त्रों में एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के सभी जीवों में चारों कषायें मानी गई हैं, भले ही वे व्यक्तरूप से दृष्टिगोचर न हों। मन-वचन-काया की एकरूपता तो मात्र व्यवहार में समझाने के लिये है।

विपरीत रूप में मन-वचन-काया की एकरूपता से आर्जव धर्म नहीं होता

दूसरी बात है—मन-वचन-काया की एकरूपता विपरीत रूप में भी हो सकती है। जैसे किसी के मन में हिंसा करने का अशुभ भाव आया, उसने उसे वाणी से भी व्यक्त कर दिया और काया से भी हिंसाकृत्य कर डाला। क्या यह योगत्रय की एकरूपता उनमें आर्जव धर्म का प्रकटीकरण कहलाएगा? ऐसे खोटे कार्यों में त्रियोग की एकरूपता से आर्जव धर्म कथमपि अभीष्ट एवं शास्त्रसम्मत नहीं है। यदि ऐसी एकरूपता को आर्जव धर्म कहा जायेगा तो विकृत मन-वचन वाला अर्ध-विक्षिप्त व्यक्ति भी आर्जव धर्म का धनी हो जाएगा। यह भी असंभव है। इसलिए इसकी परिष्कृत परिभाषा समझनी चाहिए—मन-वचन-काया की एकरूपता जहाँ अच्छाई में हो, बुराई में कतई न हो, वहीं सम्यग्दृष्टि-सम्पन्न का आर्जव धर्म समझना चाहिए। इस एकरूपता के लिये मन को इतना पवित्र बनाए कि उसमें कुटिल खोटे भाव आएँ ही नहीं।[1]

वास्तव में, आर्जव धर्म और मायाकषाय ये दोनों आत्म-भाव हैं। आर्जव आत्मा का स्वभाव-भाव है, जबकि मायाकषाय आत्मा का विभाव-भाव है। इसलिए इन दोनों का उत्पत्ति स्थान आत्मा ही है। मन-वचन-काया के माध्यम से तो मायाचार एवं आर्जव धर्म प्रकट भर होते हैं। उत्पन्न तो आत्मा में होते हैं। वास्तव में मायाकषाय मन-वचन-काया की विरूपता, वक्रता या कुटिलता का नाम नहीं है, अपितु आत्मा की विरूपता, वक्रता या कुटिलता का नाम है। बोलने और कार्य करने में जो आर्जव धर्म विद्यमान है, वह बोलने, करने की क्रिया के कारण नहीं, उस समय आत्मा की सरलता के कारण है।[2]

---

१. 'धर्म के दस लक्षण' से भावांश ग्रहण, पृ. ५०-५१

२. वही, पृ. ५४

निश्चयदृष्टि से उत्तम

निश्चयदृष्टि से–आत्मा का जैसा स्व-भाव है, उसे वैसा ही जानना-मानना और उसी में तन्मय होकर परिणत हो जाना, अर्थात् आत्मा को वर्णादि या रागादि से भिन्न जानकर उसी (शुद्ध आत्मा) में समा जाना उत्तम आर्जव है। दूसरे शब्दों में, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सम्यक् एवं एकरूप परिणमन होना आत्मा की एकरूपता है, वहीं वीतरागी सरलता है, उत्तम आर्जव है।[1]

वस्तुस्वरूप को अन्यथा मानना अनन्त कुटिलता है

निश्चयदृष्टि से आत्मा का जैसा स्व-भाव है, वैसा न मानकर अन्यथा मानना, जानना और अन्यथा ही परिणमन करना तथा चाहना ही अनन्त वक्रता है। इसी प्रकार जो जिसका कर्त्ता-हर्त्ता-धर्त्ता नहीं है, उसे उसका कर्त्ता-हर्त्ता-धर्त्ता मानना-जानना, चाहना भी अनन्त कुटिलता है। दुःखरूप हैं–रागादि आस्रव। वे दुःखों के कारण हैं, परन्तु उन्हें सुखस्वरूप एवं सुख के कारण मानना, तदनुरूप परिणमन कर सुख चाहना भी वस्तुतः वक्रता या कुटिलता है। वस्तु का स्वरूप जैसा है, वैसा न मानकर उससे विरुद्ध मानना विरूपता है। यह सब आत्मा की कुटिलता, वक्रता, विरूपता है, अनन्तानुबन्धी मायाकषाय है।[2]

चार प्रकार की माया में किसमें कितनी ?

मिथ्यात्वी में अनन्तानुबन्धी माया का अभाव नहीं होता। आत्मानुभवी सम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबन्धी माया का अभाव होता है, परन्तु आगे की अप्रत्याख्यानी आदि तीन प्रकार के मायाकषाय तो हैं। अणुव्रती में अप्रत्याख्यानी माया का अभाव और आगे की द्विविध माया का सद्भाव होता है, महाव्रती में प्रत्याख्यानी माया का अभाव, किन्तु संज्वलन कषाय का सद्भाव होता है। यथाख्यात चारित्री के तो संज्वलन कषाय का भी अभाव होता है। परन्तु अपनी-अपनी भूमिकानुसार जिन-जिन में, जितने अंशों में जिस-जिस माया का अभाव होता है, उतने अंशों में आर्जव धर्म होता है। चारित्रमोह के उदय के कारण जितने अंशों में मायाकषाय का सद्भाव भी होता है। परन्तु उस-उस मायाकषाय के प्रति उसकी हेय बुद्धि होती है, उपादेय बुद्धि नहीं। अपने दोषों की सरल भाव से आलोचना करने से वह आराधक हो सकती है।[3]

---

१. 'धर्म के दस लक्षण' से भाव ग्रहण, पृ. ५५

२. वही, पृ. ५४-५५

३. वही, पृ. ५६

आर्जव धर्म की उपलब्धि के लिये क्या होना चाहिए, क्या नहीं ?

आर्जव धर्म की उपलब्धि के लिये व्यक्ति की आन्तर-बाह्य क्रिया में अन्तर नहीं होना चाहिए, अन्तरंग में कुछ और बाहर में कुछ अन्य ढंग से बोलना या करना वक्रता है, अनेकविध लोक-दिखावी प्रवृत्तियों के द्वारा अपने आप को क्षमता-योग्यता विरुद्ध दूसरे से अधिक दिखाने का प्रयत्न करना दम्भाचरण है, ऐसा न होना ही आर्जव है। जिसे दूसरों को प्रभावित करने की दृष्टि रहती है, वह बड़े से बड़ा दीर्घ तप करता है, सभी धार्मिक क्रियाएँ भी करता है, सम्भवतः सत्य साधक की अपेक्षा भी अधिक करता है, परन्तु ये सब लोक-दिखावा मात्र होने के कारण इनका कुछ भी मूल्य आध्यात्मिक दृष्टि से नहीं है। लौकिक और लोकोत्तर दोनों क्षेत्रों में से दम्भ दिखावा, मायामृषावाद आदि निकल जाएँ, सरलता और सम्यग्दृष्टिपूर्वक तीनों योगों की एकरूपतानुरूप सत्प्रवृत्ति की जाए तो आर्जव धर्म आ सकता है और उससे संवर एवं निर्जरा का अनायास लाभ प्राप्त हो सकता है।[1]

(४) उत्तम शौच : धर्म

तन-मन की पवित्रता का साधक

शौच धर्म का दूसरा नाम मिलता है—मुक्ति यानी निर्लोभता। मुक्ति का अर्थ किया गया है—लोभ पर विजय प्राप्त करना; पौद्गलित वस्तुओं की प्राप्ति की लालसा न रखना। शौच का अर्थ होता है—पवित्रता। सम्यग्दर्शन के सहित होने वाली उत्कृष्ट पवित्रता शौच धर्म है। किन्तु इसका फलितार्थ किया गया है-लोभकषाय से उत्कृष्ट रूप से उपरत होना—निवृत्त होना शौच = पवित्रता है। 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' के अनुसार—"जो साधक समभाव और सन्तोषरूपी जल से तृष्णा (ममता-मूर्च्छा) और लोभरूपी मल के समूह को धोता है तथा भोजन (भोज्य पदार्थों के सेवन) की गृद्धि (आसक्ति) से रहित है, उसके निर्मल शौच धर्म होता है।" 'भगवती आराधना' के अनुसार—"धनादि वस्तुओं में ये मेरे हैं, ऐसी अभिलाषा बुद्धि ही सर्व संकटों में मनुष्य को गिराती है। इस ममत्व को हृदय से दूर करना ही लाघव अर्थात् शौच धर्म है।" 'बारस अणुवेक्खा' में बताया गया है-"शौच धर्म उस परम मुनि के होता है, जो इच्छाओं का निरोध करके वैराग्यभावना से युक्त होकर आचरण करता है।[2]

---

१. (क) 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' से भाव ग्रहण, पृ. ६३०

(ख) 'शान्तिपथदर्शन' से भाव ग्रहण, पृ. ४१८

२. (क) 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' से भाव ग्रहण, पृ. ६३१

(ख) प्रकर्षप्राप्ताल्लोभान्निवृत्तिः शौचम्। —*सर्वार्थसिद्धि ९/६/४१२*

लोभकषायवश सब प्रकार के पाप करने में तत्पर हो जाता है

शौच धर्म का विरोधी है–लोभकषाय। लोभ के अन्तर्गत आशा, तृष्णा, अभिलाषा, स्वार्थ, इच्छा, लालसा, आकांक्षा, स्पृहा, लालच, वासना, कामना, प्रसिद्धि, चाह, आकांक्षा, राग, मोह, आसक्ति, ममता, मूर्च्छा, शुद्धि, महत्त्वाकांक्षा आदि सब लोभ के ही परिवार के हैं। लोभकषाय से प्रेरित होकर मानव दुनियाभर के तमाम पाप करने को प्रवृत्त हो जाता है। लोभ के वशीभूत होकर व्यक्ति शरीर की अनेक चेष्टाएँ करता है, दूसरों की चापलूसी, गुलामी, अधीनता स्वीकार करने को तैयार हो जाता है। नाना प्रकार के कष्ट, दुःख, आफतों और संकटों को सहन करने के लिये तैयार हो जाता है। लोभ एवं स्वार्थ की पूर्ति के लिये वह साम्प्रदायिकता, जातीयता, राष्ट्रीयता आदि के नाम पर लोगों की हत्या करने, दंगा करने-कराने, मारपीट करने, दूसरों को ठगने, बेईमानी और ठगी करने को तत्पर हो जाता है। इतना ही नहीं, लोभ के लिये वह अपने अंगों को तोड़ने-फोड़ने तथा विष आदि से मर जाने का भी उपक्रम कर लेता है। इसीलिये लोभ को पाप का बाप कहा है।

शौच धर्म कब प्रकट होता है ?

जैन-सिद्धान्त के अनुसार सूक्ष्म लोभ दसवें गुणस्थान तक रहता है। लोभकषाय का अन्त समस्त कषायों के अन्त में होता है। १६ + ९ = २५ कषायों में सबसे अन्त तक रहने वाला कषाय (संज्वलन का) लोभकषाय ही है। इसी कारण लोभकषाय का छूटना महादुष्कर है, इसलिए सबसे बड़ा शौच धर्म है। लोभ के पूर्णतः अभाव को शौच धर्म कहा है और लोभ के पूरी तरह से नष्ट होने से पहले अन्य सभी कषायों का अभाव अवश्य हो जाता है। अतः यह स्वतः सिद्ध हो गया कि लोभ से पहले के कषायों के अभाव होने मात्र से नहीं, किन्तु लोभ तक सभी कषायों के अन्त होने पर ही शौच धर्म प्रकट होता है। मुक्ति (मुत्ती) धर्म का पालन भी हो जाता है।[1]

पिछले पृष्ठ का शेष–

(ग) सम-संतोसजलेणं जो धोवदि तिव्व-लोहमलपुंजं।
भोयणगिद्धि-विहीणो तस्स सउच्चं हवे विमलं॥ –*कार्तिकेयानुप्रेक्षा मू. ३९६*

(घ) द्रव्येसु ममेदं भावमूलो व्यसनोपनिपातः सकल इति, ततः परित्यागो लाघवं।
–*भगवती आराधना वि. ४६/१५४/१४*

(ङ) कंखाभाव–णिवित्तिं किच्चा वेरग्गभावणाजुत्तो।
जो वट्टदि परमगुणी तस्स दु धम्मो हवे सौचं॥ –*वारस अणुवेक्खा ७५*

१. (क) 'मोक्षमार्ग प्रकाशक', पृ. ५३ से भावांश ग्रहण
(ख) ज्ञानार्णव, सर्ग १९
(ग) 'धर्म के दस लक्षण' से भावांश ग्रहण, पृ. ५८-५९

सामान्य पवित्रता शौच धर्म नहीं

यदि पवित्रता को ही शौच धर्म कहें तो आत्मा को अपवित्र करने वाले क्रोध, मान और मायाकषायों के पूर्णतः चले जाने पर भी लोभ का सर्वथा अन्त न हो, वहाँ तक पूर्णतः पवित्रता (शुचिता) आत्मा में प्रकट नहीं होती। आंशिक रूप से जितना कषायभाव कम होता है, उतनी पवित्रता आत्मा में प्रकट होती ही है। मगर पूर्ण पवित्रता तो लोभ के सर्वथा चले जाने पर ही समस्त कषायों-नोकषायों के पूर्णतया अन्त हो जाने पर ही होती है और उसी पूर्ण पवित्रता को लक्ष्य में रखकर ही लोभ के पूर्णतया अभाव को शौच धर्म कहा गया है।

यह पूर्ण शौच धर्म की बात है। अंश रूप में जिस भूमिका में जितना-जितना लोभान्तकषायों का अभाव होगा, उतना-उतना शौच धर्म प्रकट होता जाएगा।[1]

अन्य कई प्रकार के लोभ : एक चिन्तन

लोभ जो चार प्रकार का बताया गया है, उसमें भी लोभ के कई प्रकार हो सकते हैं। 'राजवार्तिक' में लोभ के चार प्रकार बताये हैं–जीवनलोभ, इन्द्रियलोभ, आरोग्यलोभ, उपभोगलोभ। आचार्य अमृतचन्द्र ने 'तत्त्वार्थसूत्र' में इन चारों प्रकार के लोभों के त्याग को शौच धर्म कहा है। यों गहराई से देखें तो पूर्वोक्त चारों प्रकार के लोभ पंचेन्द्रिय विषयों के लोभ में समाविष्ट हो जाते हैं। उपभोग और परिभोग तो इन्द्रियों के माध्यम से ही होता है, इसलिए इन्द्रियों का विषय है ही। शारीरिक-मानसिक आरोग्य भी इन्द्रिय-नोइन्द्रिय (मन) की विषम ग्रहण-शक्ति से सम्बद्ध है। क्योंकि इन्द्रिय और मन के समुदाय के अलावा और शरीर है ही क्या? जीवन का लोभ भी शरीर के साथ संयोग बने रहने की, शरीर के सुरक्षित रहने की मानसिक (नोइन्द्रिय की) आसक्ति = लालसा के सिवाय और कुछ नहीं है। विषयों के साथ जब कषाय मिल जाते हैं–राग-द्वेष जुड़ जाते हैं। वे विषयों की लोलुपता (लोभ) के कारण ही जुड़ते हैं। पंचेन्द्रियों के विषयों की लोलुपता के कारण जीवों की कितनी दुर्दशा होती है, इसका चित्रण एक आचार्य ने किया है–हिरण कर्णप्रिय शब्द के लोभ में फँसकर, हाथी स्पर्शेन्द्रिय (काम) के लोभ में फँसकर, पतंगा रूप के लोभ में फँसकर, भौंरा गन्ध के लोभ में फँसकर और मत्स्य रस (स्वाद) के लोभ में फँसकर अपने प्राण को गँवा देता है। पाँचों इन्द्रियों के विषय चेतन और अचेतन दोनों हो सकते हैं। अतः इन सभी लोभों का परित्याग करने पर ही शौच धर्म प्रकट होता है। इनके अतिरिक्त स्वर्ग का लोभ, नामना, कामना, प्रशंसा, प्रसिद्धि, कीर्ति आदि का लोभ, सम्मान का लोभ, एक-दूसरे के साथ स्नेह-सम्बन्ध, प्रेम या वात्सल्य, रागादि

---

१. 'धर्म के दस लक्षण' से भाव ग्रहण, पृ. ६६-६७

सम्बन्ध जोड़ने का लोभ, अमुक इच्छा की पूर्ति होने का लोभ, इज्जत बरकरार रखने का लोभ, अमुक वस्तु या व्यक्ति की प्राप्ति या जीविताकांक्षा का लोभ, मन में अमुक कामना या वासना उत्पन्न होना, वस्तु का त्याग होने पर भी मन में उसे पाने की इच्छा या स्वप्न सँजोना तथा पुण्य उपार्जन करने का लोभ, नामवरी का लोभ, ये और इस प्रकार के लोभ तो धन के लोभ से कई गुना बढ़कर खतरनाक हैं। ये जीर्ण ज्वर के समान बड़े-बड़े प्रसिद्ध मुनिराजों और आचार्यों आदि के रग-रग में घुसे हुए होते हैं। धर्म, संघ, धर्मात्माओं, धर्म-गुरुओं, वीतराग परमात्मा के प्रति राग, भले ही वह प्रशस्त हो, है तो लोभ का रूप ही। धर्म अकषायभाव–वीतरागभाव, पूर्ण समभाव में है। जब तक रागभाव या कषायभाव रहेगा, चाहे वह मन्द हो या तीव्र, शुभ हो या अशुभ, अशुभ के प्रति हो चाहे शुभ के प्रति, वह कर्मक्षयात्मक धर्म नहीं हो सकता, जब तक रागात्मक लोभ है, तब तक शुद्ध धर्म (शौच आदि धर्म) नहीं माना जाएगा। लोभ केवल रुपये-पैसे तक ही सीमित नहीं है, देवलोक में रुपये-पैसे का प्रचलन नहीं है, फिर भी वहाँ भोगोपभोग सम्बन्धी लोभ उत्कृष्ट रूप में होता है।[1] एक बात निश्चित है कि इन लोभों के करने पर भी पुण्यरहित मनुष्य को मनोवांछित द्रव्य नहीं मिलता और न करने पर पुण्यवान् को अनायास धनादि द्रव्यों की प्राप्ति हो जाती है।[2]

शौच धर्म के साधक के लिए विचारणीय

शौच धर्म के साधक को सोचना चाहिए कि सांसारिक पर-पदार्थों को तो अनन्त-अनन्त बार ग्रहण किया है और छोड़ा है अथवा छूट गया है, इसलिए लोभजनित महादोषों का विचार करके इस पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। तभी संवर-निर्जरा धर्म उपार्जित हो सकता है।[3]

---

१. (क) परिभोगोपभोगत्वं जीवितेन्द्रिय भेदतः।
चतुर्विधस्य लोभस्य निवृत्तिः शौचमिष्यते॥ —*तत्त्वार्थसार १७*

(ख) 'तत्त्वार्थ राजवार्तिक' में प्ररूपित चार प्रकार के लोभ

(ग) 'धर्म के दस लक्षण' से भावांश ग्रहण, पृ. ६१, ६५

(घ) कुरंग-मातंग-पतंग-भृङ्गाः मीना हताः पंचभिरेव पंच।
एकः प्रमादी स कथं न हन्यते ...... ॥

२. लोभे कए वि अत्थो ण होइ पुरिसस्स अपडिभोगस्स।
अकए वि हवदि लोभे, अत्थो पडिभोगवंतस्स॥ —*भगवती आराधना १४३६*

३. सव्वे वि जगे अत्था परिग्गहिदा ते अणंतखुत्तो मे।
अत्थेखु इत्थ को मज्झ विम्मओ गहिद वि जडेसु॥
इह य परत्तए लोए दोसे बहुए य आवहइ लोभो।
इदि अप्पणो गणित्ता णिज्जेदव्वो हवदि लोभो॥ —*वही ४३७-१४३८*

निष्कर्ष यह है कि कषाय-नोकषायों के मैल को ही आन्तरिक मैल समझक सभी प्रकार के लोभों का अन्त कर देना ही वास्तविक शुचिता–पवित्रता है। यह आत्मा की पवित्रता है। शरीर की पवित्रता आत्मा की पवित्रता नहीं होती औ शरीर को मल-मलकर बार-बार धोने पर भी वह गंदा हो जाता है, अंदर से गंद है, मल-मूत्र आदि से भरा हुआ है। अतः बाह्य स्नान से शुचिता नहीं आ सकती वह अन्तःस्नान से ही आ सकती है।[1]

शौच धर्म की प्राप्ति के लिए उपाय

इसलिए शौच धर्म की प्राप्ति के लिये साधक को सूक्ष्म से सूक्ष्म राग के बन्धन का त्याग करना आवश्यक है। साधक गृहस्थ धर्म को छोड़कर मकान, दुकान व्यापार, धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद, पारिवारिक या सामाजिक स्नेही जनों क परित्याग कर देता है, सांसारिक भोग-सुखों का भी त्याग करता है, यदि वह श्रमण-जीवन अंगीकार करने के बाद भी पूर्व स्नेहियों, अनुयायियों या धर्मसंघ के साथी साधुवर्ग या श्रावकवर्ग के प्रति अथवा धर्म-स्थान, उपाश्रय, मन्दिर, विचरण क्षेत्र, निवास-क्षेत्र, संस्था, प्रसिद्धि, संख्यावृद्धि, प्रशंसा, पद, प्रतिष्ठा, सम्मान आदि के प्रति ममत्वबन्धन हो जाए तो वह भी लोभ है। बड़े-बड़े साधक अपनी प्रशंसा करने वाले, सेवाभक्ति करने वालों के स्नेहबन्धन से बँध जाते हैं, अमुक प्रकार के आहार–पुस्तक, ग्रन्थ आदि के प्रति आसक्ति भी बन्धन है। इन सब लोभात्मक बन्धनों में पड़ जाने के कारण आत्मा की शुचिता–पवित्रता मलिन–दूषित होती जाती है। फिर ज्ञान, ध्यान, स्वाध्याय तथा महाव्रत की साधना, समिति-गुप्ति की आराधना में उसका मन नहीं लगता। कई गृहस्थ भक्त-भक्ता भी उसे ऐसे लोभात्मक बंधनों में फँसा लेते हैं, फिर वह लोकैषणा के चक्कर में पड़कर यंत्र, मंत्र, तंत्र, ज्योतिष, देवी-देव आदि के सहारे अपनी दुकानदारी फैलाकर लोगों को आकर्षित–प्रभावित करता है, कोई साधक बड़े-बड़े राजनेताओं को बुलाकर अपनी प्रसिद्धि की भूख को सन्तुष्ट करता है, कोई बाह्य चमत्कार बताकर लोगों को आकर्षित करता है। इसलिए शौच धर्म के पालन के लिये किसी भी भौतिक पदार्थ पर, किसी भी स्त्री या पुरुष पर तथा वस्त्र, पात्र, पुस्तक या किसी भी ग्राम, नगर, धर्म-स्थान आदि पर आसक्ति, लालसा या मोह के बन्धन से छूटना जरूरी है। वह छूटेगा शुद्ध आत्मा के गुणों से स्वयं को भावित करने पर, तप-संयम से आत्मा को भावित करने पर।[2]

---

१. 'शान्तिपथदर्शन' (जिनेन्द्रवर्णी) से भाव ग्रहण, पृ. ४२४

२. 'संयम कब ही मिले ?' (आचार्य भद्रगुप्तविजय जी) से भाव ग्रहण, पृ. १५-१८

स्वभाव से पवित्र आत्मा को आश्रय लेने पर ही शुचिता प्रगट होगी

इस प्रकार के सभी लोभों का संवरण करने से शौच धर्म के द्वारा संवर होगा तथा वीतरागता में, ज्ञाता-द्रष्टाभाव में, आत्म-गुणों में रमणता से निर्जरा (कर्मक्षय) होगी। स्वभाव से तो सभी आत्माएँ पवित्र हैं, परन्तु जव 'पर' पर्यायों का आश्रय लिया जाता है, तो वह अपवित्र हो जाती हैं, अतः पर्याय को पवित्र रखने का एक मात्र उपाय है—परम पवित्र 'स्व' का, आत्म-स्वभाव का आश्रय लेना। 'स्व' के आश्रय से ही शुचिता प्रगट होती है। अतः 'पर' का आश्रय छोड़कर 'स्व' का आश्रय लेना ही निश्चयदृष्टि से शौच धर्म है।[1]

● ●

१. 'धर्म के दस लक्षण' से भाव ग्रहण, पृ. ७१

१०

दशविध उत्तम धर्म

उत्तम आत्म-धर्म सीमाओं में बँधा हुआ नहीं

मानव-जीवन में धर्म ही ऐसा तत्त्व है, जो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र की समस्याओं को सुलझा सकता है। परिवार में ही नहीं, विश्व के सभी घटकों में, प्राणीमात्र में शान्ति, सुरक्षा और सौहार्द स्थापित कर सकता है, बशर्ते कि उसके शुद्ध और त्रिकालाबाधित सत्य को यथार्थ रूप में समझा जाय और तदनुसार श्रद्धापूर्वक उसका आचरण किया जाए। इस आत्म-धर्म को किसी सम्प्रदाय, मत, पन्थ, जाति, देश, काल एवं क्षेत्र की संकीर्ण सीमाओं में आबद्ध-प्रतिबद्ध नहीं किया जा सकता। धर्म सार्वभौम है, वह प्राणीमात्र के लिए मंगलमय है, विश्वकल्याणकारक है और प्राणीमात्र के योगक्षेम का निर्वाहक है।[१]

इसी आत्म-धर्म के सन्दर्भ में उत्तम धर्म के क्षमा से लेकर शौच तक चार रूपों का विशद रूप से विवेचन कर आए हैं। अब उसके सत्य आदि शेष छह रूपों के विषय में प्रकाश डालेंगे।

(५) उत्तम सत्य : स्वरूप तथा साधना मार्ग

सत्य ही भगवान है

जैनाचार्यों ने सत्य के सम्बन्ध में बहुत ही गहराई से चिन्तन किया है। 'प्रश्नव्याकरणसूत्र' में सत्य का माहात्म्य बताते हुए कहा है–''तं सच्चं खु भगवं।'' –वह सत्य ही भगवान है। महात्मा गांधी ने सत्य को वचन की सीमा में ही आबद्ध न करके मन और कार्य के रूप में सत्याचरण को महत्त्व दिया था और कहा था– ''**सत्य ही ईश्वर है।**'' महाव्रतों में और अणुओं में उसे द्वितीय स्थान दिया गया है।[२]

---

१. 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' से भाव ग्रहण, पृ. ६३२

२. प्रश्नव्याकरण, दूसरा संवरद्वार

सत्य केवल वाणी का विषय नहीं

जहाँ सत्य की आराधना–साधना की बात चलती है, वहाँ आचार्यों ने सत्य को केवल वाणी से नहीं, मनश्चिन्तन और कार्य-व्यवहार से भी जोड़ा है। इसलिए उत्तम सत्य धर्म केवल वाणी का ही विषय नहीं, अपितु वह मन से सत्य सोचने, भावों में सत्यता होने तथा आचरण और व्यवहार में, चेष्टा और कार्य में सत्यता का व्यापक विषय है।[1]

सत्य : संवर-निर्जरा की साधना के लिए अनुपम

सत्य धर्म मुमुक्ष-साधक के लिए जीवन व्रत है। आकाश के कण-कण में व्याप्त कार्यों को आते हुए रोकना और पूर्वबद्ध कर्मों को समभाव से भोगकर निर्जरा (कर्मक्षय) करना, सत्य धर्म के माध्यम से बखूबी हो सकता है।

सत्य को प्रायः जैनाचार्यों ने वाणी तक ही सीमित रखा है

प्रायः जैनाचार्यों ने सत्य धर्म को वाणी की सत्यता और संयम तक ही सीमित रखा है। 'पद्मनन्दि पंचविंशतिका' में कहा है–"मुनियों को सदैव स्व-पर-हितकारक, परिमित और अमृत सदृश वचन बोलना चाहिए। कदाचित् सत्य वचन बोलने में बाधा प्रतीत हो तो मौन रहना चाहिए।" 'सर्वार्थसिद्धि' और 'भगवती आराधना' के अनुसार–श्रावकों, सज्जनों और प्रशस्त जनों द्वारा आत्म-हितकर एवं अच्छे वचन बोलना सत्य धर्म है। 'मूलाचार' में कहा है–राग, द्वेष और मोह के कारण असत्य वचन तथा दूसरों को संतोष देने वाले ऐसे सत्य वचन को (अहिंसादृष्टि से) छोड़ना और शास्त्रों का अर्थ करने में भी अपेक्षारहित वचन को छोड़ना सत्य महाव्रत है। हास्य, भय, क्रोध या लोभ से मन-वचन-काय से विश्वासघात तक तथा पीड़ाकारक वचन कदाचित् बोलना सत्यव्रत है।[2]

---

१. सत्यं यथार्थं वाङ्मनसी यथादृष्टं यथाश्रुतं यथानुमितं तथैव प्रकटीकरणम्।

–योगदर्शन व्यासभाष्य

२. (क) स्वपरहितमेव मुनिभिर्मितममृतसमं सदैव सत्यं च वक्तव्यम्।
वचनपथ प्रविधेयं धीधनैर्मौनम्॥ *–पं. वि. १/९१*

(ख) सतां साधूनां हितभाषणं सत्यम्। *–भ. आराधना वि. ४६/१५४/१६*

(ग) सत्सु प्रशस्तेषु जनेषु साधुवचनं सत्यमित्युच्यते। *–सर्वार्थसिद्धि ९/६/४१२/७*

(घ) रागादीहिं असच्चं चत्ता, परताव-सच्चवयणो त्तिं।
सुत्तत्थाणं वि कहणे अयधावयणुज्झयणं सच्चं॥
हस्स-भय-कोह-लोहा मणि-वचि-कायेण सव्वकालम्मि।
मोसं ण भासिज्जो पच्चमघादी हवदि एसो॥ *–मूलाचार ६/२९०*

सत्याणुव्रत के लक्षण

इसी प्रकार अणुव्रती की अपेक्षा से स्थूलवचन की अपेक्षा से 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' में कहा गया है–"स्थूल असत्य न तो स्वयं बोले और न दूसरों से बुलवावे तथा जिन-वचन से विपरीत वचन यथार्थ भी हो (किन्तु अहिंसा विरुद्ध हो तो), उसे न तो स्वयं बोले, न दूसरों से बुलवावे। इसे सत्पुरुष स्थूल सत्याणुव्रत कहते हैं।" 'वसुनन्दि श्रावकाचार' के अनुसार–राग या द्वेष से झूठ वचन नहीं बोलना चाहिए तथा प्राणियों का घात करने वाला सत्य वचन भी नहीं बोलना चाहिए, इसे दूसरा स्थूलव्रत जानना चाहिए। 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में इसे अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है–"जो हिंसाकारक, कठोर, निष्ठुर वचन नहीं बोलता, न ही दूसरों की गुप्त बात को प्रगट करता है तथा हित-मित वचन बोलता है, सब जीवों को सन्तोषकारक एवं धर्मप्रकाशक वचन बोलता है, वह सत्याणुव्रत का धारक है।"[१]

सत्य को जीवन में उतारने के लिए चार स्थानों से बाँधा गया है

इसके साथ ही वाणी पर नियंत्रण करने के लिए विधेयात्मक रूप में भाषासमिति का तथा निषेधात्मक रूप में वचनगुप्ति का विधान किया है। इस प्रकार सत्य को जीवन में उतारने के लिए आचार्यों ने वाणी के माध्यम से उसे चार स्थानों पर बाँधा है–(१) सत्य महाव्रत, (२) सत्य अणुव्रत, (३) भाषासमिति, और (४) वचनगुप्ति के रूप में।[२]

निश्चयदृष्टि से सत्य धर्म का लक्षण

आध्यात्मिक दृष्टि से यह एकांगी तथ्य है, सत्य केवल वाणी तक ही सीमित नहीं है। वाणी तो सिर्फ पुद्गल का पर्याय है, जबकि सत्य आत्मा का धर्म है।

---

१. (क) स्थूलमलीकं न वदति, न परान् वादयति सत्यमपि विपदे।
यत्तद्वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावाद-वेरमणम्॥ *–र. क. श्रावकाचार* ५५

(ख) अलियं ण जंपणीमं पाणिवहकरं तु सच्चवयणंपि।
रायेण य दोसेण य, णेयं बिरियं वदं थूलं॥ *–वसु. श्राव.* २१०

(ग) हिंसावयणं ण वयदि, कक्कसवयणं पि जो ण भासेदि।
निट्ठुरं वयणं पि तहा ण भासदे, गुज्झवयणंपि॥३३३॥
हिद-मिदवयणं भासादि संतोसकरं तु सव्वजीवाणं।
धम्मपमासणवयणं अणुव्वदी होदि सो बिरियो॥३३४॥ *–कार्तिकेयानुप्रेक्षा ३३३-३३४*

२. (क) 'धर्म के दस लक्षण' से भावांश ग्रहण, पृ. ७४
(ख) 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' से भाव ग्रहण, पृ. ६३२

उसका स्थान शरीर और वाणी में नहीं है, अपितु आत्मा में है। वचन से तो उसकी अभिव्यक्ति होती है। सम्पूर्ण आत्म-धर्मों के धनी सिद्धों में न वाणी है, न शरीर है, न मन है। किन्तु क्षमादि दस धर्म, जिनमें सत्य धर्म भी है, सिद्धों में विद्यमान है, फिर उनमें सत्य धर्म के उपर्युक्त लक्षण कैसे घटित होंगे? परन्तु संसारी जनों के लिए व्यावहारिक दृष्टि से सत्य धर्म वाणी, मन और शरीर के द्वारा ही अभिव्यक्त हो सकता है, इसलिए सत्य धर्म इस दृष्टि से धर्म कहा गया है। अतः सत्य धर्म के साथ 'उत्तम' विशेषण मिथ्यात्व के अभाव और सम्यग्दर्शन का अस्तित्व होने का सूचक है। मिथ्यात्व के अभाव के बिना तो सत्य धर्म की प्राप्ति ही संभव नहीं है। निश्चयदृष्टि से आत्म-स्वरूप का सत्य ज्ञान और सम्यग्दर्शन सहित वीतरागभाव में रमण होना सत्य धर्म है। क्योंकि उत्तम क्षमादि दस धर्म चारित्ररूप हैं। सत्य धर्म भी चारित्र गुण की पर्याय है, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन क्रमशः ज्ञान और श्रद्धानगुण की पर्याय हैं। अतः जो जैसा है, उसे वैसा ही मानना, जानना और उसी रूप में राग-द्वेषरहित होकर वीतरागभाव में परिणत होना सत्य धर्म है। ऐसा आत्म-सत्य सत्य धर्म की रुचि वाले को प्राप्त होता ही है। यदि वस्तु सत्य की जानकारी न हो तो बोलने के बजाय मौन रहना ही अधिक श्रेयस्कर है।[१]

(६) उत्तम संयम : धर्म–स्वरूप, प्रकार और उपाय

सम्यक् यम करना, नियंत्रण करना संयम है। संयम के साथ 'उत्तम' शब्द लगा है, वह सम्यग्दर्शन के अस्तित्व का सूचक है। क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना संयम की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि या फल-प्राप्ति सम्भव नहीं है। 'धवला' में इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है–"संयम वही है, जो सम्यक्त्व का अविनाभावी है। मिथ्यादृष्टि जीवों में जो संयम देखा जाता है, सम्यग्दर्शनरहित आत्माश्रयहीन संयम है, अतः उत्तम संयम नहीं है। सर्वदुःखों से मुक्ति का एकमात्र उपाय उत्तम संयम ही है, जो सम्यग्दर्शनसहित है। तीर्थंकरों को भी मोक्ष-प्राप्ति के लिए संयम ग्रहण करना होता है। इसलिए संयम-साधक जीवन में पद-पद पर अनिवार्य है और उसकी रत्नवत् सुरक्षा करना भी आवश्यक है; क्योंकि पाँच इन्द्रियों के विषय और कषायरूपी चोर उसे सदैव लूटने के लिए तत्पर रहते हैं। उस उत्तम संयमरत्न को पाने के लिए देवगण भी तरसते हैं, वे मानव को भाग्यशाली समझते हैं कि वही संयम ग्रहण कर सकता है, न हम संयम ग्रहण कर सकते हैं और न ही नारक और तिर्यंच ही। परन्तु केवल घरबार छोड़कर सिर मुँड़ा लेने या साधुवेष पहन लेने तथा कुछ

---

१. (क) 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' से भाव ग्रहण, पृ. ६३३

(ख) 'धर्म के दस लक्षण' से भाव ग्रहण, पृ. ७५

क्रियाकाण्ड या बाह्य तप कर लेने मात्र से संयम नहीं आ जाता। साधु संयम से युक्त तभी होता है, जब उसके जीवन में इन्द्रियों के विषय-विकारों और कषायों-राग-द्वेषों का मुण्डन होता है।[१]

संयम का लक्षण

'पंचसंग्रह (प्रा.)' में संयम का लक्षण इस प्रकार किया गया है-"पाँच महाव्रतों का धारण करना, पाँच समितियों का पालन करना, चार कषायों का निग्रह करना, मन-वचन-काय रूप तीन दण्डों का त्याग करना और पाँच इन्द्रियों को जीतना संयम कहा गया है।" इसी प्रकार का लक्षण प्रकारान्तर से 'समवायांगसूत्र' में दिया गया है-हिंसा, असत्य, अस्तेय, अब्रह्मचर्य और परिग्रह इन पाँच आस्रवद्वारों पर नियंत्रण, क्रोधादि चार कषायों का निरुन्धन, स्पर्शन-रसन आदि पाँच इन्द्रियों के विषयों पर विजय और मन-वचन-काया के तीन योगों का शुभ प्रवर्त्तन, यों १७ बातों पर नियंत्रण करना संयम है।

'समवायांगसूत्र' में दूसरे प्रकार से भी १७ प्रकार के संयम का उल्लेख है-(१ से ९) नौ प्रकार से **जीवसंयम**-पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा न करना, न कराना और न अनुमोदन करना। (१०) **अजीवसंयम**-अजीव होने पर भी वस्त्र, पात्र आदि से किसी प्रकार का असंयम न हो, इसको सावधानी रखना। (११) **प्रेक्षासंयम**-सजीव स्थान में उठना, बैठना, शयनादि न करना, देखभालकर वस्तु का उपयोग करना। (१२) **उपेक्षासंयम**-सावद्य कार्यों के प्रति उपेक्षा रखना, उनमें भाग न लेना, न ही अनुमोदन करना। (१३) **अपहृत्यसंयम**-विधिपूर्वक मल, मूत्र, कचरा, गंदगी आदि परठना इसे परिष्ठापनासंयम भी कहते हैं। (१४) **प्रमार्जनासंयम**-मकान, वस्त्र, उपकरण, पट्ट आदि का प्रमार्जन करना, यतनापूर्वक साफ-सफाई करना। (१५) **मनःसंयम**-मन में दुर्भाव न रखना, सोचते समय विचार करना। (१६) **वचनसंयम**-दुर्वचन न बोलना, बोलते समय सावद्य वचन न बोलना, खूब विचारपूर्वक बोलना, मौन रखना। (१७) **कायसंयम**-शरीर से होने वाली प्रवृत्ति या चेष्टाएँ यतनापूर्वक करना। 'स्थानांगसूत्र' में मन, वचन, काय और उपकरण, इन चारों पर संयम का उल्लेख है। कहीं-कहीं प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयम इन दो का ही उल्लेख है।[२]

---

१. (क) सम्यक् यमो वा संयमः। —*धवला १/३/७/३*

(ख) सो संजमो जो सम्मा विणाभावी, ण अण्णो। —*वही १/१/१/४/१४४*

(ग) 'धर्म के दस लक्षण' से भाव ग्रहण, पृ. ८५

(घ) 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' से भाव ग्रहण, पृ. ६३३-६३४

२. (क) वद-समिदि कसायाणं दंडाणं इंदियाणं पंचण्हं।
धारण-पालण-णिग्गह-चाय-जओ संजमो भणिओ॥ —*पंचसंग्रह (प्रा.), गा. १२७*

षट्कायिक जीवों के घात तथा घात के भावों का त्याग करने को प्राणीसंयम और पंचेन्द्रियों तथा मन के विषयों के त्याग को इन्द्रियसंयम कहते हैं।

इस सम्बन्ध में सहज ही एक प्रश्न उठता है कि षट्कायिक जीवों की रक्षा का ध्यान पर-जीवों की रक्षा की ओर जाता है, जबकि सिद्धान्त यह है कि अपनी ओर से चलाकर किसी प्राणी का प्राण (दशविध) लेना नहीं, न निमित्त बनना, किन्तु सिद्धान्त की दृष्टि से परजीवों की रक्षा, उस जीव का उपादान ठीक हो, शुभ कार्य का उदय हो, तभी हो सकती है, अन्यथा कितना ही प्रबल निमित्त हो, नहीं हो सकती। फिर पर-जीवों की रक्षा का विकल्प करके पुण्यबन्ध तो अनेक बार किया, किन्तु अपनी आत्मा की रक्षा की ओर प्रायः आम आदमी का ध्यान ही नहीं जाता कि मेरी आत्मा का पर लक्ष्य से प्रति क्षण अपने शुद्धोपयोगरूप भावप्राणों का घात हो रहा है। मिथ्यात्व अथवा कषायभावों से यह जीव सतत अपघात कर रहा है। इस भयंकर भाव-हिंसा की ओर ध्यान कम है।[१]

आज इन्द्रियसंयम का अर्थ यही लगाया जाता है, इन्द्रियों को विषयों से मोड़ देना। इस दृष्टि से जगत् इन्द्रियों का दास बना हुआ। आत्मा स्वयं ज्ञान और आनन्द स्वभाव वाली है, मगर आज हमारा ज्ञान और आनन्द दोनों इन्द्रियाधीन हो रहे हैं। जानेंगे तो इन्द्रियों के माध्यम से; देखेंगे, सूँघेंगे या स्पर्श करेंगे तो इन्द्रियों के माध्यम से। आनन्द भी महसूस करेंगे तो इन्द्रियों के माध्यम से। इतनी हमारी इन्द्रियाधीनता, इन्द्रियदासता बढ़ गई है। ज्ञान और आनन्द तो आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव में 'पर' की उपेक्षा नहीं होती। न ही अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द में पर (इन्द्रियों) की आवश्यकता है। परन्तु इन इन्द्रियों और मन (नोइन्द्रिय) ने हमारे (आत्मा के) ज्ञानानन्द के अधिकार पर अपना कब्जा कर रखा है। इन्द्रियाँ रूप-रसादि की ग्राहक होने मात्र जड़ को जानने में निमित्त होती हैं, आत्मा को जानने में साक्षात् निमित्त नहीं हैं तथा इन्द्रिय सुख तो हमारे मन की कल्पना है। इन्द्रियों द्वारा अमुक विषय में सुख या दुःख कुछ भी नहीं होता, वह कल्पना मन ही करता है। सुखाभास को सुख मानकर आत्मा को भटकाता है।[२]

–पिछले पृष्ठ का शेष

(ख) समवायांग, समवाय १७

(ग) वही, समवाय १७

(घ) मणसंजमे, वइसंजमे, कायसंजमे, उवगरणसंजमे। *–स्थानांग, स्था. ४३/४*

१. (क) 'धर्म के दस लक्षण' से भाव ग्रहण, पृ. ८७

(ख) 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' से भाव ग्रहण, पृ. ६३५

२. 'धर्म के दस लक्षण' से भाव ग्रहण, पृ. ९०

इसीलिए निश्चयदृष्टि से संयम का अर्थ है–उपयोग को पर-पदार्थों से समेटकर आत्म-सम्मुख करना, अन्तर्मुखी करना, अपने में सीमित करना, अपने में लगाना। उपयोग की स्वसम्मुखता, स्वलीनता ही निश्चयसंयम है। व्यवहारसंयम के लक्षण पहले बता चुके हैं।[१]

पंच अनुत्तरवासी देवों के संयम क्यों नहीं ?

एक शंका और है–यदि बाह्य हिंसा का परित्याग और पंचेन्द्रिय विषयों में प्रवृत्ति न होने या बहुत कम प्रवृत्ति होने पर तो पाँच अनुत्तरविमानवासी देवों में भी संयम मानना चाहिए। स्पर्शेन्द्रिय विषयक (मैथुन) प्रवृत्ति से तो वे बिलकुल दूर हैं। बारहवें देवलोक से ऊपर के देव शान्त और कामलालसा से दूर होते हैं। नीचे के देवलोकों के देवों से वे अधिक सन्तुष्ट और सुखी होते हैं। सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र देवों को ३३ हजार वर्ष तक कुछ खाने-पीने का भाव ही नहीं होता। रसनेन्द्रिय बहुत अधिक तृप्त है। दूसरी इन्द्रियों के विषयों का भी उनमें अभाव-सा है। जीव-हिंसा का प्रसंग वहाँ आता ही नहीं। उनके कषाय मन्द-मन्दतर रहते हैं, पंच पापों की प्रवृत्ति भी नहीं देखी जाती। एकान्त शुक्ललेश्या होती है। फिर भी जैन-सिद्धान्तानुसार उन देवों को असंयमी कहा है। वहाँ उत्तम संयम या संयम धर्म नहीं माना गया है। दूसरी ओर श्रावक जो पूर्ण महाव्रती नहीं होता, उसके पाँच अणुव्रत ही होते हैं। फिर भी उसे असंयमी न कहकर संयमासंयमी कहा गया है, श्रमणवर्ग को पूर्ण संयमी कहा है। संयम देवों में नहीं, मानवों में ही बताया है, इसका क्या कारण है?

इसका समाधान यह है कि केवल बाह्य प्रवृत्ति का त्याग ही संयम होता तो देवों में वह अवश्य माना जाता तथा एकेन्द्रिय आदि तिर्यंचों में भी उसकी सम्भावना मानी जाती, क्योंकि वे तो एकमात्र शरीर से या दो, तीन या चार इन्द्रियों से मनुष्य की अपेक्षा कम प्रवृत्ति करते हैं। किन्तु संयम मात्र बाह्य प्रवृत्ति कम करने का नाम ही नहीं है, अपितु उस पावन आन्तरिक वृत्ति का नाम है, जो मनुष्यों में पाई जा सकती है, देवों या तिर्यंचों में नहीं।

आन्तरिक वृत्ति की पवित्रता ही संयम, बाह्य प्रवृत्ति कम करना मात्र नहीं

वास्तव में, आन्तरिक वृत्ति की पवित्रता ही संयम है, जो सम्यग्दर्शन से उत्पन्न होती है और संयम की प्राप्ति होती है–अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय के अभाव से। अनुत्तरविमानवासी देवों के सिर्फ

१. 'धर्म के दस लक्षण' से भाव ग्रहण, पृ. ८५

अनन्तानुबन्धी चतुष्क का अभाव होता है, शेष कषायों की प्रकृतियाँ उनमें मौजूद रहती हैं। इसलिए उनकी बाह्य प्रवृत्ति संयम-सी प्रतीत होने पर भी वहाँ संयम नहीं होता। बाहर में संयम प्रतीत होने पर भी अन्तरंग में संयम नहीं है, तो बाहर में संयम दृष्टिगोचर होने पर भी संयम हो ही यह निश्चित नहीं है।[1]

इन्द्रियज्ञान या इन्द्रियाँ देखने-सुनने आदि का ज्ञान करती हैं, परन्तु जानना मात्र बंध का कारण नहीं है, बंध का कारण वह तब बनता है, जब इन्द्रियज्ञान विषयों के प्रति प्रियता-अप्रियता, राग-द्वेष का भाव किया जाए।

अतः आत्म-संयम, इन्द्रियसंयम (अन्तर्मुखी) और प्राणिसंयम करने से अवश्य ही संवर-निर्जरा का लाभ मिल सकता है, इसमें कोई संदेह नहीं।

(७) उत्तम तप : स्वरूप, प्रकार और उपाय

तप का सामान्य लक्षण किया गया है–"**अष्टकर्मतपनात् तपः।**"–आठों कर्मों को तपाकर जिससे आत्म-शुद्धि की जाए, शरीर और मन को उपसर्गों और परीषहों को समभावपूर्वक सहने में तथा धर्म-पालन करने में सक्षम बनाया जाए। 'प्रवचनसार तात्पर्य वृत्ति' में कहा गया है–समस्त रागादि पर-भावों की इच्छा के त्याग द्वारा स्व-स्वरूप में प्रतपन करना, आत्मा को शुद्ध निष्कलंक–निर्दोष बनाना, आत्मलीनता द्वारा विकारों पर विजय पाना तप है। 'धवला' में इच्छा निरोध को तप कहा गया है। तप के पूर्व 'उत्तम' शब्द सम्यग्दर्शन के अस्तित्व का सूचक है। 'अष्टपाहुड' में भी कहा है–कोई जीव सम्यग्दर्शन के बिना करोड़ों वर्षों तक उग्र तप करे तो भी वह बोधिलाभ प्राप्त नहीं कर पाता। देह और आत्मा का भेदविज्ञान जानना ही सम्यक् तप का महान् उद्देश्य है। इसीलिए जैनशास्त्र में कहा है–इस लोक, पर-लोक, प्रशंसा, कीर्ति, प्रसिद्धि आदि कामनाओं से, नियमों से तप न करें। सम्यक् तपरूपी अग्नि कर्मरूपी तृण को जला डालती है, आत्मा को शुद्ध बना देती है। बाह्य तप ६ प्रकार के हैं, वे ६ प्रकार के आभ्यन्तर तप में सहायक हैं। इच्छाओं के निरोधरूप शुद्धोपयोगी वीतरागभाव में लीनता ही सच्चा तप है। फिर वह बाह्य तप हो या आभ्यन्तर, दोनों में शुद्धोपयोगरूप वीतरागभाव की प्रधानता है। तप के विषय में हम स्वतंत्र रूप से निर्जरा के प्रकरण के प्रकाश डालेंगे।[2]

---

१. (क) 'धर्म के दस लक्षण' से भाव ग्रहण, पृ. ८८-८९

(ख) 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' से भाव ग्रहण, पृ. ६३५

२. (क) दशवैकालिक हारि. वृत्ति. अ. १. गा. १

(ख) समस्तरागादिपरभावेच्छात्यागेन स्व-स्वरूपे प्रतपनं विजयनं तपः।

–प्रवचनसार ता. वृ., गा. ७९

(ग) इच्छा निरोधस्तपः। *–धवला प्र. १३/५/४/२६, पृ. ५४*

(घ) 'धर्म के दस लक्षण' से भाव ग्रहण, पृ. ९९, १०१

(८) उत्तम त्याग : एक अनुचिन्तन

त्याग धर्म की महिमा और परिभाषा

त्याग आध्यात्मिक जीवन के लिए ही नहीं, पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन में सुख-शान्ति प्राप्त कराता है। त्याग से तुरंत शान्ति मिलती है। भोग और राग में दुःख है, त्याग में सुख है। किन्तु किसी को कुछ वस्तु दे देना, बिना प्रयोजन ही अपने सम्प्रदाय, पन्थ और मत के प्रचार के लिए कुछ दे देना, त्याग नहीं होता, वह दान भी तभी होता है, जब निःस्वार्थभाव से, केवल अपने अनुग्रह के लिए योग्य पात्र को विधिपूर्वक तदनुकूल द्रव्य दिया जाए। त्याग और दान में काफी अन्तर है, त्याग तो अनुपयोगी, अहितकारी वस्तु का किया जाता है, मगर दान जो उपकारी या हितकारी है, उस वस्तु का दिया जाता है। त्याग पूर्ण स्वाधीन है, जबकि दान में कम से कम देने वाला और लेने वाला, दो व्यक्ति चाहिए।

दान से त्याग बढ़कर है। त्याग की परिभाषा 'प्रवचनसार तात्पर्य वृत्ति' में इस प्रकार की गई है–निज शुद्धात्मा के ग्रहणपूर्वक बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से निवृत्ति त्याग है। 'समयसार' के अनुसार–प्रत्याख्यान त्याग तब होता है, जब अपने से भिन्न सभी पर-पदार्थों को 'ये पर हैं', इस प्रकार जानकर जब त्याग किया जाता है, तब वह प्रत्याख्यान त्याग होता है। 'राजवार्तिक' में त्याग का लक्षण किया है–सचेतन और अचेतन परिग्रह से निवृत्ति त्याग है।[1]

त्याग क्या है, क्या नहीं ? दान और त्याग में अन्तर

एक बात और स्पष्टतया समझ लें–त्याग पर-द्रव्यों का नहीं, अपितु पर-द्रव्यों के प्रति आत्मा में होने वाले राग, द्वेष, मोह का होता है। पर-द्रव्य अपने हैं ही कहाँ, जो उनका त्याग किया जाए? उन्हें दर्शनमोहवश जीव ने अपने जाने-माने हैं और चारित्रमोहवश उनके प्रति राग-द्वेष किया है, दरअसल इन्हीं विकृतियों (मोह, राग और द्वेष) को छोड़ना है, वही त्याग है। अतः त्याग 'पर' को 'पर' जानकर किया जाता है, दान में यह बात नहीं है। परानुग्रह बुद्धि से अपनी वस्तु का अर्पण करना–व्युत्सर्जन करना दान है। दान में मुख्यतया परोपकार का भाव रहता है

---

१. (क) निजशुद्धात्म-परिग्रहं कृत्वा बाह्याभ्यन्तरपरिग्रह-निवृत्तिस्त्यागः।

–प्रवचनसार ता. वृ., गा. २३९

(ख) सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाई परे त्ति णाइणं।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं॥ *–समयसार ३४*

(ग) परिग्रहस्य चेतनाचेतनलक्षणस्य निवृत्तिस्त्यागः इति निश्चीयते। *–राजवार्तिक ९/६*

त्याग में आत्म-हित का। त्याग ऐसा धर्म है, जिसे धारण करके आत्मा परम आनन्द को प्राप्त करती है।[1]

त्याग धर्म के अन्तर्गत विविध प्रत्याख्यान

दानियों की अपेक्षा त्यागियों का अधिक आदर जगत् में होता है। 'उत्तराध्ययनसूत्र' में इसी त्याग धर्म के सम्बन्ध में संभोग-प्रत्याख्यान, उपधि-प्रत्याख्यान, आहार-प्रत्याख्यान, कषाय-प्रत्याख्यान, योग-प्रत्याख्यान, शरीर-प्रत्याख्यान, सहाय-प्रत्याख्यान, भक्त-प्रत्याख्यान एवं सद्भाव-प्रत्याख्यान आदि के सम्बन्ध में जिज्ञासाओं का समाधान किया गया है और इन प्रत्याख्यानों का आध्यात्मिक लाभ भी बताया गया है।[2]

(९) उत्तम आकिंचन्य : धर्म—एक अनुचिन्तन

आकिंचन्य धर्म का अर्थ और तात्पर्य

आभ्यन्तर और बाह्य परिग्रह[3] का त्याग करके आत्म-भाव में रमण करना आकिंचन्य धर्म है। जैन-सिद्धान्त की दृष्टि से बाह्य परिग्रह का त्याग महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण है आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग। एक दरिद्री के पास बाह्य परिग्रह बहुत कम होगा, फिर भी उसे अकिंचन नहीं कह सकते, क्योंकि उसकी आसक्ति, ममता बाह्य परिग्रह से छूटती नहीं है, काम, क्रोध, लोभ आदि आभ्यन्तर परिग्रह भी उसका छूटा नहीं है। शरीर, कर्म तथा उपधि, ये मुख्य बाह्य परिग्रह हैं। इसलिए 'कार्तिकियानुप्रेक्षा' में कहा है—बाह्य परिग्रह से रहित दरिद्री मनुष्य तो स्वभाव से ही होते हैं। किन्तु अन्तरंग परिग्रह को छोड़ने में कोई समर्थ नहीं होता।

'अष्टपाहुड' में बाह्य परिग्रह और आभ्यन्तर परिग्रह के त्याग समन्वय करते

---

१. (क) 'धर्म के दस लक्षण' से भाव ग्रहण, पृ. ११६
(ख) 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' से भाव ग्रहण
(ग) परानुग्रहबुद्ध्या स्वस्यातिसर्जनं दानम्। —*सर्वार्थसिद्धि* ६/१२

२. देखें—उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २९, बोल ३३-४१

३. आभ्यन्तर परिग्रह के १४ प्रकार—(१) मिथ्यात्व, (२) क्रोध, (३) मान, (४) माया, (५) लोभ, (६) हास्य, (७) रति, (८) अरति, (९) शोक, (१०) भय, (११) जुगुप्सा, (१२) स्त्रीवेद, (१३) पुरुषवेद, (१४) नपुंसकवेद।
बाह्य परिग्रह के १० प्रकार—(१) क्षेत्र (खेत), (२) मकान, (३) चाँदी, (४) सोना, (५) धन, (६) धान्य, (७) दासी, (८) दास, (९) वस्त्र, और (१०) बर्तन आदि सामग्री।

हुए कहा गया है–बाह्य परिग्रह का त्याग भावों की शुद्धि के लिए किया जाता है। परन्तु रागादि भावरूप आभ्यन्तर परिग्रह के त्याग बिना निष्फल है।[1]

वस्तु परिग्रह नहीं, वस्तु के प्रति मूर्च्छा परिग्रह है

वस्तुतः वस्तु अपने आप में परिग्रह नहीं होती, उसके ग्रहण को भाव, संग्रह की इच्छा, उस पर ममत्व-मूर्च्छा आदि परिग्रह है। यदि पर-पदार्थ के ग्रहण या संग्रह की भावना या उस पर ममता-मूर्च्छा नहीं है तो पर-पदार्थ की उपस्थिति परिग्रह नहीं है। इसीलिए भगवान महावीर ने "साधुओं के धर्म-उपकरणों को परिग्रह नहीं बताया, उन्होंने उन पर मूर्च्छा-आसक्ति को परिग्रह कहा है।" 'तत्त्वार्थसूत्र' में भी मूर्च्छा को परिग्रह कहा है। ऐसा नहीं माना जाएगा तो तीर्थंकरों के तेरहवें गुणस्थान में (वीतराग) होने पर भी अष्टमहाप्रातिहार्य, देह तथा समवसरणादि विभूतियों को भी परिग्रह मानना होगा, जबकि अन्तरंग परिग्रहों का अस्तित्व भी दसवें गुणस्थान तक ही होता है। 'आवश्यकचूर्णि' में अकिंचनता का अर्थ अपने देह आदि में भी निःसंगता रखना किया है। आचार्य पूज्यपाद ने परिग्रह का अर्थ किया है–"**ममेदं बुद्धिलक्षणः परिग्रहः।**"–यह वस्तु मेरी है, इस प्रकार की बुद्धि रखना परिग्रह है। भरत चक्रवर्ती के पास अपार वैभव होते हुए भी वे उसके प्रति अलिप्त एवं उदासीन थे, उसमें उपादेय बुद्धि नहीं थी, इसीलिए वे शीशमहल में अपने शरीर एवं वैभव आदि के प्रति ममत्व को एक झटके में त्याग सके। अन्तरंग में आकिंचन्यवृत्ति थी।[2]

वस्तुतः अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह मिथ्यात्वरूपी जड़ से पनपते हैं। मिथ्यात्वरूपी जड़ को काट देने से बाकी के परिग्रह समय पर स्वतः छूट जाएँगे। पर-पदार्थों को अपना मानना ही मिथ्यात्व है। यदि उन्हें अपना मानना छोड़ दें तो स्वतः ही उनका परिग्रह समय पाकर छूट जाएगा। शरीर को अपना मानना छोड़ दो, उस पर से ममत्व त्याग दो, उसके प्रति राग, मोह छोड़ दो, तो भी शरीर भले ही तत्काल न

---

१. (क) बाहिरगंथ विहीणा दलिद्द-मणुवा सहावदो होंति।
अब्भंतरगंथं पुण ण सक्कदेको विछंडेदुं॥ *–कार्तिकेयानुप्रेक्षा ३८७*

(ख) भावविशुद्धिणिमित्तं बाहिरगंथस्स कीरए चाओ।
बाहिरचाओविहलो अब्भंतरगंथजुत्तस्स॥ *–अष्टपाहुड (भावपाहुड) से*

२. (क) न सो परिग्गहो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो इह वुत्तं महेसिणा॥ *–दशवैकालिक, अ. ६, गा. २०*

(ख) मूर्च्छा परिग्रहः। *–तत्त्वार्थसूत्र*

(ग) नत्थि जस्स किंचणं से; अकिंचणो, तस्स भावो अकिंचणियं।
–आवश्यकचूर्णि सर्वार्थसिद्धि, अ. ७, सू. १७

छूटे, शरीर का परिग्रह छूट जाएगा। देह के प्रति एकत्व का और रागादि का त्याग करने पर दुबारा देह धारण नहीं करनी पड़ती। परन्तु शरीर के प्रति अनादिकाल के रागादि और एकत्व के संस्कार छोड़ने अत्यन्त कठिनतर हैं।[1]

अतः आकिंचन्य धर्म के धारक को, स्वयं को पर-पदार्थों से भिन्न, अकेला मानना होगा, उपाश्रय, धर्म-स्थान, पुस्तक, शास्त्र, संघ, भक्त-भक्ता आदि के प्रति भी भिन्नता, अन्तर से निर्लेपता धारण करनी होगी। समस्त पर-पदार्थों से भिन्न निज आत्मा का अनुभव करना होगा। तत्पश्चात् अन्तरंग परिग्रहरूप राग, द्वेष, मोह एवं कषायों के अभावपूर्वक तदनुसार बाह्य परिग्रह का भी बुद्धिपूर्वक भूमिकानुरूप त्याग करना होगा।[2]

परिग्रह को समस्त पापों की जड़ समझकर सर्व कषायों और मिथ्यात्व से रहित होने से आकिंचन्य धर्म सबसे महान् और कठिनतम माना गया है।

(१०) उत्तम ब्रह्मचर्य : एक अनुचिन्तन

ब्रह्मचर्य आध्यात्मिक जीवन के विकास का मेरुदण्ड है;
इसके बिना दूसरे व्रत निःसार हैं, फीके हैं।

ब्रह्मचर्य का आध्यात्मिक दृष्टि से 'अनगार धर्मामृत' में अर्थ किया गया है–पर-द्रव्यों से रहित शुद्ध, बुद्ध, ज्ञानस्वरूप निर्मल आत्मा में चर्या अर्थात् लीनता होती है, उसे ब्रह्मचर्य कहते हैं। व्रतों में सर्वश्रेष्ठ सार्वभौम इस ब्रह्मचर्य व्रत का जो पालन करते हैं, वे अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त करते हैं।

'भगवती आराधना' में इसी आशय से ब्रह्मचर्य की परिभाषा की गई है–जीव ब्रह्म है, देह की सेवा से विरक्त होकर जीव में ही जो चर्या होती है, उसे ब्रह्मचर्य जानो। ब्रह्मचर्य के साथ लगे उत्तम शब्द से यह ज्ञात होता है कि सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानसहित आत्मलीनता ही उत्तम ब्रह्मचर्य है।[3]

---

१. 'धर्म के दस लक्षण' से भावांश ग्रहण, पृ. १४४-१४५

२. वही, पृ. १४५

३. (क) यः ब्रह्मणि स्वात्मनि शुद्ध-बुद्धे चर्या परद्रव्यमुचप्रवृत्तिः।
तद् ब्रह्मचर्यं व्रतसार्वभौमं ये पान्ति ते यान्ति परं प्रमोदम्।। *–अनगार धर्मामृत ४/६०*

(ख) जीवो बंभा जीवम्मि चेव चरिया हविज्ज जा जणिदो।
तं जाण बंभचेरं, विमुक्का परदेहतित्तिस्स।। *–भगवती आराधना ८७८*

(ग) आत्मा ब्रह्म विविक्त-बोध-निलयो यत्तत्र चर्यं परं।
स्वांगासंग-विवर्जितैकमनसस्तद् ब्रह्मचर्यं मुनेः।। *–पद्मनंदि पंचविंशतिका १२/२*

अनन्तज्ञान-दर्शन-सुख-शान्तिमय आत्मा को जानना, मानना और उसी में रमण करना सच्चे माने में ब्रह्मचर्य है।

व्यवहारदृष्टि से ब्रह्मचर्य का लक्षण

व्यावहारिक दृष्टि से आज ब्रह्मचर्य का अर्थ–मैथुन त्याग या स्पर्शनेन्द्रिय विषय का सर्वथा त्याग किया जाता है, वह अधूरा लक्षण है, क्योंकि स्पर्शनेन्द्रिय के आठ विषय हैं। वे कैसे छोड़े जा सकेंगे देह के रहते? किन्तु अब्रह्मचर्यवृत्ति के त्याग के लिए शास्त्रकारों ने ब्रह्मचर्य रक्षा की। नौ गुप्तियाँ (बाड़े) बताई हैं, उनका विवेकपूर्वक पालन करने से पाँचों इन्द्रियों के संयमरूप ब्रह्मचर्य की साधना व्यावहारिक दृष्टि से भलीभाँति हो सकती है। अतएव आत्म-लीनतापूर्वक पंचेन्द्रिय विषयों के प्रति राग-द्वेष का त्याग वास्तविक ब्रह्मचर्य है।

निश्चय ब्रह्मचर्य सापेक्ष व्यवहार ब्रह्मचर्य साधना से संवर-निर्जरा

यदि स्पर्शनेन्द्रिय-संयम को ब्रह्मचर्य कहें या पंचेन्द्रिय विषय संयम को ब्रह्मचर्य कहें, तो अनिन्द्रिय अशरीरी सिद्ध भगवान में यह लक्षण घटित नहीं होगा, जबकि वे पूर्ण ब्रह्मचारी हैं। मैथुन त्याग को ब्रह्मचर्य कहें तो पृथ्वीजलकायिकादि जीवों को ब्रह्मचारी मानना पड़ेगा, क्योंकि उनमें मैथुन क्रिया होती ही नहीं। अतः आत्म-रमणता या आत्म-लीनता ही ब्रह्मचर्य है। इसके बिना केवल पंचेन्द्रिय विषयों के त्याग का कोई महत्त्व नहीं है। आत्म-रमणतारूप निश्चय ब्रह्मचर्य सापेक्ष व्यवहार ब्रह्मचर्य धर्म की साधना हो तो उससे संवर, निर्जरा और मोक्ष भी प्राप्त हो सकता है। इन्द्रियों का प्रवाह जो बहिर्मुखी है, वह जब अन्तर्मुखी बनता है, तभी ब्रह्मचर्य की वास्तविक साधना होती है, उससे मन, इन्द्रियाँ आदि सभी आत्म-ज्ञान और आत्मानन्द को तथा आत्म-शक्ति को सहज ही प्राप्त कर लेते हैं।[1]

● ●

---

१. 'धर्म के दस लक्षण' से भाव ग्रहण, पृ. १६१, १५४

११

संवर और निर्जरा की जननी : भावनाएँ और अनुप्रेक्षाएँ

सुविचारों और कुविचारों की क्षमता एवं महत्ता

अनगढ़ मनुष्य को सुगढ़ और नर-पशु को नर-नारायण बना देने की क्षमता अगर किसी में है तो सुविचारों में है। उत्थान और पतन इसी पर निर्भर है। महामानवों का यदि किसी ने जीवन-निर्माण किया है तो इन विचारों ने ही और नर-पिशाचों को गढ़ने की भी सामर्थ्य इन विचारों में है। इन्हीं सुविचारों ने भगवान महावीर, बुद्ध, राम एवं कृष्ण जैसे नर-पुंगवों को महापुरुष बनाये और इन्हीं कुविचारों ने कंस, गोशालक, हिटलर, रावण, मुसोलिनी आदि अधोगामी मनुष्यों को बनाये।

वैसे देखा जाये तो सामान्य विचारों का भी अपना महत्त्व है और तदनुसार कार्यों का भी अपना महत्त्व है। परन्तु ये दोनों सामयिक और अस्थिर होते हैं। वे बादलों की तरह मानस-आकाश में मँडराते हैं और गरज-बरसकर समाप्त हो जाते हैं अथवा कुछ मेघ केवल गर्जना करके या आकाश में कुछ देर ठहरकर बिखर जाते हैं। किन्तु जो बादल बार-बार आते हैं, गरजते हैं और जमकर बरसते हैं, वे वृष्टि का समय पूर्ण हो जाने पर भी खेत की जमीन को नरम बना जाते हैं और उस समय कृषक द्वारा बीजारोपण करने पर एक दिन वे बीज लहलहाती फसल के रूप में खेत को खुशहाली से भर देते हैं। ऐसे बादल अपने प्रभाव को देर तक बनाये रखते हैं।

सुविचारों का पुनः-पुनः आवर्तन, भावन एवं अनुप्रेक्षण

जो आवाज अन्तरिक्ष में देर तक गूँजती रहती है, वह भी अपने प्रभाव को वहाँ छोड़ जाती है। उसके कम्पन काफी समय तक वातावरण में बने रहते हैं। ठीक इसी प्रकार जिन सुविचारों को अपने ध्येय के अनुरूप अथवा आप्तपुरुषों द्वारा अनुभूत सिद्धान्तों के अनुकूल समझा जाता है, उनका बार-बार आवर्तन, अनुप्रेक्षण एवं भावन करने से वे सुविचार कर्त्ता के अवचेतन मानस पर चिरस्थायी एवं गहरी छाप छोड़ जाते हैं।

जैन-कर्मविज्ञान में भावना, अनुप्रेक्षा आदि शब्द एकार्थक हैं

जैन-कर्मविज्ञान की भाषा में उन्हें भावना, अनुप्रेक्षा, जप, धारणा, संस्कार अथवा अर्थचिन्ता भी कहा जाता है। वर्तमान युग में भावना और अनुप्रेक्षा, ये दो शब्द जैनजगत् में विशेष प्रसिद्ध हैं। वैसे देखा जाये तो इनके तात्पर्यार्थ में कोई अन्तर नहीं है। भावना का एक अर्थ होता है–एक विषय पर एकाग्रतापूर्वक चिन्तन या ध्यान। किसी साधक ने कोई ध्येय, अध्यात्मलक्षी विषय या कोई आत्म-विकासक भाव मन में निश्चित किया है, उसका तदनुसार पुनः-पुनः चिन्तन-मनन एवं तन्मयतापूर्वक निदिध्यासन करता है, यही तो भावना है। किन्तु वह शुद्ध अध्यात्मलक्षी हो तथा सम्यग्ज्ञान और अभ्यास से युक्त हो, तभी सच्चे माने में वह भावना कहलाती है। भावना का निर्वचन यह भी है–भाव्य व्यक्ति या पदार्थ के प्रति एकाग्र एवं तन्मय हो जाना। यही धारणा का अर्थ है–जिस वस्तु की धारणा करनी है या की गई है, उसके प्रति[१] तल्लीन एवं दत्तचित्त हो जाना। जप या ध्यान का अर्थ भी यह है कि जप्य या ध्येय वस्तु के प्रति एकतान, एकनिष्ठ हो जाना। साधक जिस विषय या व्यक्ति के लिए भावना करता है, जिसका पुनः-पुनः अभ्यास करता है, उसी रूप में उसका 'संस्कार' बन जाती है। इसलिए इसे 'संस्कार' भी कहा जाता है। इसे 'अर्थचिन्ता' इसलिए कहा गया है कि आगमों या धार्मिक ग्रन्थों का पारायण (स्वाध्याय) करने के बाद उनमें प्रतिपादित अर्थों = विषयों पर एकाग्रतापूर्वक चिन्तन करना अनिवार्य होता है।[२] अर्थचिन्ता किये बिना वस्तुतत्त्व सम्यक् प्रकार से हृदय और बुद्धि में जमता नहीं है।

अनुप्रेक्षा के विविध अर्थ और लक्षण

इसका आगमप्रसिद्ध शब्द है–अनुप्रेक्षा। प्रेक्षा का अर्थ होता है–प्रकर्ष रूप से देखना। अर्थात् एकाग्र और स्थिर होकर किसी शास्त्रोक्त तत्त्व या तथ्य को बारीकी से देखना। 'अनु' उपसर्ग प्रेक्षा के पूर्व लगने से इसका अर्थ होता है–आगमों, धर्मग्रन्थों या अध्यात्मलक्षी पुस्तकों में पढ़ी हुई, सुनी हुई या समझी हुई किसी बात को, पढ़ने-सुनने-समझने के पश्चात् देखना–अनुचिन्तन करना अनुप्रेक्षा है।[३] 'धवला' में इसका इसी से मिलता-जुलता लक्षण किया गया है–सुने हुए अर्थ का श्रुत (शास्त्र) के अनुसार चिन्तन करना अनुप्रेक्षण है। 'सर्वार्थसिद्धि' में अनुप्रेक्षा का लक्षण इस प्रकार है–जाने हुए अर्थ (तथ्य या विषय) का मन में पुनः-पुनः

---

१. 'अमूर्त्त चिन्तन' (युवाचार्य महाप्रज्ञ) से भावांश ग्रहण, पृ. ५

२. जैसे कि अनुयोगद्वारसूत्र हारिवृत्ति में कहा गया है–

"ग्रन्थार्थानुचिन्तनं अनुप्रेक्षा।" –*वृत्ति, पृ. ६०*

३. 'आगममुक्ता' (उपाध्याय केवल मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. १३९

अभ्यास करना अनुप्रेक्षा है। शरीर आदि के स्वभाव का पुनः-पुनः चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है।[1] उपयोगिता के आधार पर भिन्न-भिन्न नामों का चुनाव हुआ है।

'अमूर्त्त चिन्तन' में अनुप्रेक्षा का एक और विलक्षण अर्थ दिया गया है–"(प्रेक्षा) ध्यान में जो कुछ हमने देखा, देखने के बाद उसकी प्रेक्षा करना–उसके परिणामों पर विचार करना, यह है अनुप्रेक्षा। जैसे–(अनित्यानुप्रेक्षा के सन्दर्भ में) हमने देखा कि शरीर के अमुक भाग में स्पन्दन हो रहा है। परमाणु आ रहे हैं, जा रहे हैं, परमाणुओं का चय-उपचय हो रहा है, परमाणु घट रहे हैं, बढ़ रहे हैं। यह सारा देखा। अब सोचना है–उसका परिणाम क्या होगा? हम अनित्यानुप्रेक्षा करेंगे कि जहाँ परमाणुओं का स्पन्दन है, आना-जाना है, वह नित्य नहीं हो सकता, अनित्य होगा। इस प्रकार हम समझ लेंगे कि शरीर अनित्य है, ... अनित्य धर्मा है .... इस अनित्यता का अनुभव करना, विचार करना, चिन्तना–यह है (हुई) अनित्यानुप्रेक्षा।" इस प्रकार अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व आदि के विषय में भी आत्मानुलक्षी बार-बार चिन्तन-मनन, अनुभव करने से भी अन्य अनुप्रेक्षाएँ हो सकती हैं।[2]

'कार्तिकियानुप्रेक्षा' में इसी तथ्य को स्पष्ट किया गया है–अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व आदि स्वरूपों का अनुचिन्तन अर्थात् बार-बार चिन्तन करना, स्मरण करना और देखना अनुप्रेक्षा है।[3] अनुप्रेक्षा को स्वाध्याय का चतुर्थ अंग माना गया है।

अनुप्रेक्षा का तात्पर्यार्थ समझाते हुए 'राजवार्तिक' में कहा गया है–"जैसे तप्त लोहपिण्ड के भीतर अग्नि प्रविष्ट होकर उसमें समा जाती है, उसी प्रकार पढ़े, सुने या ग्रहण किये हुए पदार्थ को हृदय और बुद्धि में समा देना, आत्मसात् कर लेना अथवा मन से अभ्यास करके उस विषय को मन में रमा देना, इसका नाम है–अनुप्रेक्षा।"[4] आशय यह है कि जैसे दूध में शक्कर मिल जाती है, रम जाती है, उसी प्रकार पढ़ा, सुना या ग्रहण किया हुआ ज्ञान हृदय में रम जाना ही वास्तव में अनुप्रेक्षा है। 'धवला' में अनुप्रेक्षा का वास्तविक प्रयोजन बताते हुए लक्षण किया

---

१. (क) सुदत्थस्स सुदाणुसारेण चिंतणमणुपेहणं णाम। *–धवला १४/९/५*

(ख) अधिगतार्थस्य मनसाऽभ्यासोऽनुप्रेक्षा। *–सर्वार्थसिद्धि ९/२५/४४३*

(ग) शरीरादीनां स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा। *–वही ९/२/४०९*

२. देखें–'अमूर्त्त चिन्तन' (युवाचार्य महाप्रज्ञ) में अनुप्रेक्षा का विश्लेषण, पृ. २

३. (क) अनु पुनः-पुनः प्रेक्षणं = चिन्तनं, स्मरणं अनित्यादि-स्वरूपाणामित्यनुप्रेक्षा। *–कार्तिकेयानुप्रेक्षा, टीका १*

(ख) शरीरादीनां स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा। *–तत्त्वार्थसूत्र भाष्य ९/२/४०*

४. अधिगत-पदार्थ-प्रक्रियस्य तप्ताऽयस्-पिण्डवदर्पितमनसाऽभ्यासोऽनुप्रेक्षा। *–राजवा. ९/२५*

गया है–कर्मों की निर्जरा के लिए अस्थि-मज्जानुगत–अर्थात् हाड़-हाड़ और रग-रग में रमें हुए = पूर्णतया हृदयंगम हुए श्रुतज्ञान (शास्त्र-सिद्धान्तज्ञान) के परिशीलन करने का नाम 'अनुप्रेक्षणा' है।[1]

अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन और अभ्यास का फल और माहात्म्य

'तत्त्वार्थसार' में स्पष्ट कहा गया है कि इस प्रकार (अन्तरंग सापेक्ष) (आगे कही जाने वाली) बारह अनुप्रेक्षाओं का (बार-बार) भावन = चिन्तवन करने से साधु-जीवन में धर्म (संवर-निर्जरारूप या रत्नत्रयरूप धर्म) का महान् उद्यम होता है। उससे निष्प्रमाद साधक के महान् संवर का लाभ भी होता है। 'सर्वाथसिद्धि' में अनुप्रेक्षा से विशिष्ट लाभ बताते हुए कहा गया है–इससे (अर्थात् शरीर और आत्मा की भिन्नता के समाधान से) तत्त्वज्ञान की भावनापूर्वक आत्यन्तिक (सर्वकर्मक्षयरूप) मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है। 'पद्मनन्दि पंचविंशतिका' में कहा गया है–"महात्मा पुरुषों को बारह ही अनुप्रेक्षाओं का सदैव चिन्तन करना चाहिए, क्योंकि उनकी (बारह तथ्यों से युक्त अनुप्रेक्षाओं की) भावना (चिन्तन) कर्मों के क्षय की कारण होती है।" 'भगवती आराधना' के अनुसार–"जो व्यक्ति धर्मध्यान में प्रवृत्त होता है, उसके लिए ये बारह अनुप्रेक्षाएँ आलम्बनरूप होती हैं।" अनुप्रेक्षाओं के बल पर ही ध्याता धर्मध्यान में स्थिर होता है। 'स्थानांगसूत्र' में धर्मध्यान में स्थिरता के लिए चार अनुप्रेक्षाएँ बताई गई हैं–एकत्वानुप्रेक्षा, अनित्यानुप्रेक्षा, अशरणानुप्रेक्षा और संसारानुप्रेक्षा)। 'बारस अणुवेक्खा' के अनुसार–तात्पर्य यह है कि शरीर आदि पर-पदार्थों से सम्बन्धित अनित्यत्व आदि अनुप्रेक्षाओं का बार-बार चिन्तन करने से मन-वचन-काय शुभ प्रवृत्तियों में प्रवृत्त रहते हैं, इससे अशुभ योग का संवर होता है तथा केवल आत्मा के ध्यानरूप शुद्धोपयोग से शुभ योग का संवर (भावसंवर) हो जाता है। अनुप्रेक्षा का विशिष्ट फल बताते हुए 'ज्ञानार्णव' में कहा गया है–इन द्वादश भावनाओं (अनुप्रेक्षाओं) का निरन्तर अभ्यास करने से पुरुषों के हृदय में कषायरूप अग्नि बुझ जाती है तथा पर-भावों के प्रति रागभाव गल जाता है और अज्ञानरूपी अन्धकार का विलय होकर ज्ञानरूप दीपक (बोधदीप) का प्रकाश हो जाता है।[2] 'सर्वार्थसिद्धि' में कहा

---

१. कम्म-णिज्जरणट्ठेमट्ठि-मज्जाणुगयस्स सुदणाणस्स परिणमणमणुवेक्खणा णाम।

–*धवला* ९/४, १, ५५/२६३

२. (क) एवं भावयतः साधोर्भवेद्धर्म-महोद्यमः।
ततो हि निष्प्रमादस्य महान् भवति संवरः।। –*तत्त्वार्थसार* ६/४३/३५१

(ख) ततस्तत्त्वज्ञानभावनापर्वकि वैराग्य-प्रकर्षे सति आत्यन्तिकस्य मोक्षसुखस्यावाप्तिर्भवति।

–*स. सि.* ९/७/४१६

गया है—अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करता हुआ साधक उत्तम क्षमादि धर्मों का अच्छी तरह से पालन कर पाता है तथा परीषहों को जीतने के लिए उत्साहित होता है।[1]

अनुप्रेक्षा से विशिष्ट आध्यात्मिक लाभ

जैनागम 'उत्तराध्ययनसूत्र' में प्रतिपादित अनुप्रेक्षा से विशिष्ट आध्यात्मिक लाभ का चिन्तन–प्रश्न पूछा गया है—"भन्ते ! अनुप्रेक्षा से जीव क्या (आध्यात्मिक लाभ) प्राप्त करता है ?" उत्तर में कहा गया है—"अनुप्रेक्षा से जीव आयुष्य कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की गाढ़ बन्धन से बँधी हुई प्रकृतियों को शिथिल बन्ध वाली कर लेता है। उन (कर्मों) की दीर्घकालीन स्थिति को अल्पकाल वाली कर लेता है, उनके तीव्र अनुभाव (प्रगाढ़ रस) को मन्द कर लेता है तथा उनके बहु-प्रदेशों को अल्प-प्रदेशों में बदल देता है। आयुष्य कर्म का बन्ध कदाचित् करता है, कदाचित् नहीं भी करता।"

"असातावेदनीय कर्म का बार-बार उपचय नहीं करता तथा अनादि एवं अनन्त दीर्घ मार्ग वाले तथा जिसके चतुर्गति रूप चार किनारे हैं, ऐसे चातुरन्त संसाररूपी अरण्य को शीघ्रता से पार कर जाता है।"[2]

पिछले पृष्ठ का शेष—

(ग) द्वादशाऽपि सदा चिन्त्या अनुप्रेक्षा महात्मभिः।
तद्भावना भवत्येव कर्मणः क्षयकारणम्।। —*प. पं. ६/४२*

(घ) इय आलंबणमणुपेहाओ धम्मस्स होंति झाणस्स।

(ङ) धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—एगाणुप्पेहा, अणिच्चाणुप्पेहा, असरणाणुप्पेहा, संसाराणुप्पेहा। —*स्थानांगसूत्र, स्था. ४, उ. १, सू. ६८*

(च) सुहजोगेसु पवित्ती संवरणं कुणदि असुहजोगस्स।
सुहजोगस्स णिरोहो सुद्धुव जोगेण संभवति।। —*बारस अणुवेक्खा ६३*

(छ) विध्याति कषायाग्निर्विगलिति रागो, विलीयते ध्वान्तम्।
उन्मिषति बोधदीपो हृदि पुंसां भावनाऽभ्यासात्।। —*ज्ञानार्णव १३/२/५९*

[1] अनुप्रेक्षा हि भावयन् उत्तमक्षमादींश्च प्रतिपालयति, परीषहांश्च जेतुमुत्सहते।
—*सर्वार्थसिद्धि ९/७/४१९*

[2] (प्र.) अणुप्पेहाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ.) अणुप्पेहाए णं आउयवज्जाओ सत्त-कम्म-पयडीओ घणिय-बंधण-बद्धाओ सिढिल-बंधाओ पकरेइ। दीहकालट्ठिइयाओ हस्स-कालट्ठिइयाओ पकरेइ। तिव्वाणुभावाओ मंदाणुभावाओ पकरेइ। बहुपएसग्गाओ अप्पपएसग्गाओ पकरेइ। आउयं च णं कम्मं सिय बंधइ, सिय णो बंधइ। असायावेयणिज्जं णं कम्मं नो भुज्जो भुज्जो उवचिणाइ। अणाइयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंत-संसार-कंतारं खिप्पामेव वीईवयइ। —*उत्तराध्ययन*

निष्कर्ष यह है कि अनुप्रेक्षा से सभी कर्मों के चारों प्रकार के बन्धों पर अचूक प्रभाव पड़ता है। अर्थात् कर्मों के स्वभाव (प्रकृति), स्थिति, रस (अनुभाव) एवं प्रदेश चारों में परिवर्तन घटित हो जाता है। अनुप्रेक्षाओं या भावनाओं की धारा जितनी तीव्र, स्थिर, एकाग्रता से युक्त, तन्मयता से ओतप्रोत होगी, कर्मों के रस-अनुभाव पर उतना ही तीव्रतर प्रभाव पड़ेगा। रासायनिक परिवर्तन उतनी ही तेजी से होगा, जब काषायिक (राग-द्वेषादि) रस की प्रगाढ़ता-मन्दता में परिणत हो जायेगी तो कर्मों की स्थिति भी दीर्घकालिक के बदले अल्पकालिक उनकी प्रकृति भी अशुभ से शुभ-शुभतर होती जायेगी और साथ ही संवर एवं निर्जरा की प्रक्रिया चालू होने से कर्मों के जत्थे के जत्थे (प्रदेश) भी आत्मा से पृथक् होते जायेंगे।[1]

कर्मबन्ध के चार प्रकार और उनकी अनुप्रेक्षा से परिवर्तन

कर्मविज्ञान के चतुर्थ भाग में हम बता आये हैं कि कर्मबन्ध के चार प्रकार होते हैं—प्रकृतिबन्ध (कर्मों के स्वभाव के अनुसार अलग-अलग वर्ग में निर्माण होना) स्थितिबन्ध (कर्मों की स्थिति—कालावधि का निर्धारण कि कौन-सा कर्म कितने काल के बाद उदय में आकर, कितने काल तक फल भुगताता रहेगा), अनुभावाबन्ध (कषायों की तीव्रता-मन्दता के अनुसार रस का निर्धारण होकर फल देने की शक्ति = रसविपाक का निश्चय) और प्रदेशबन्ध (कर्मदलिकों का संचय कर्मपुद्गलों का परिमाण के अनुसार आत्मा के साथ बँध जाना)। अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन से इन चारों प्रकार के बन्धों में तबदीली आ जायेगी।

गाढ़बन्धन कैसे शिथिलबन्धन हो जाता है ?

अनुप्रेक्षा से सात कर्मों का पूर्वकाल में बद्ध गाढ़बन्धन शिथिलबन्धन कैसे हो जाता है? इसे कर्मशास्त्र में एक उदाहरण द्वारा समझाया गया है—"रुई धुनने वाला रुई का एक गोला लेकर उसकी धुनाई शुरू करता है। धुनते-धुनते वह रुई के एक-एक तार व तन्तु को अलग-अलग कर देता है। इस प्रक्रिया से जो रुई के तन्तु पहले परस्पर गाढ़रूप में बँधे हुए थे, वे शिथिल हो जाते हैं; इतने शिथिल कि उन्हें चाहे जैसे मोड़ा, तोड़ा या दबाया जा सकता है।"

इसी प्रक्रिया को 'आचारांगसूत्र' में एक वाक्य में निर्दिष्ट किया गया है-"**धुणे कम्मसरीरगं।**" अर्थात् आत्मा (कषायात्मा) को कृश करो, जीर्ण करो और कर्म-शरीर को धुन डालो।

उपर्युक्त प्रकार से रुई की धुनाई की तरह कर्मों की धुनाई भी जब अनुप्रेक्षारूप तीव्रभावना से की जाती है, तब कार्मणशरीर के रूप में पूर्वबद्ध कर्मों

---

१. 'आगममुक्ता' से भाव ग्रहण, पृ. १४३

पर चोट पड़ती है। यानी अनुप्रेक्षा उसे एक बार, दो बार, अनेक बार लगातार धुनती है तो भावना की ताँत का प्रहार बार-बार होने से वे बन्धन शिथिल हो जाते हैं। अर्थात् गाँठरूप में बँधे हुए कठिन कर्मबन्ध इस प्रकार धुनने पर शिथिलबन्ध वाले हो जाते हैं।

अनुप्रेक्षा से स्थितिघात और रसघात कैसे हो जाता है ?

अनुप्रेक्षा से दीर्घकालीन स्थिति अल्पकालीन और तीव्र रस मन्द रस कैसे-कैसे हो जाता है? इसे व्यावहारिक उदाहरणों से समझिए-(१) लोहे की एक मोटी चादर है। वह यदि सौ वर्ष तक पड़ी रहे तो भी गलती नहीं, किन्तु वही चादर मिट्टी और पानी के सम्पर्क में लगातार रहे तो बहुत शीघ्र जंग लगकर गल-सड़ जाती है और मिट्टी की तरह बिखर जाती है। (२) लोहे की बहुत मोटी चादर को घन पर रखकर बड़े-बड़े हथौड़ों से पीटने पर भी वह टूटती नहीं, किन्तु उस पर बिजली के करेंट वाला तार छोड़ा जाता है, तो उससे वह शीघ्र ही कट जाती है। इसी प्रकार अनुप्रेक्षा और भावना के तीव्र एवं लगातार सम्पर्क से, उनके तीव्र प्रवाह से कार्मणशरीर पर चोट पड़ती है और उन-उन कर्मों की शीघ्र निर्जरा होने से शीघ्र ही वे आत्मा से पृथक् हो जाते हैं। अनुप्रेक्षाओं का जबर्दस्त प्रभाव पड़ने से रसघात भी शीघ्र हो जाता है। इसी प्रकार अनुप्रेक्षा की तीव्र विद्युत् तरंगें जब कार्मणशरीर के संचित कर्मपुद्गलों पर पड़ती हैं, तब कर्मों की स्थिति, रस एवं दल में भी परिवर्तन आ जाता है। इस प्रक्रिया को कर्मग्रन्थ में स्थितिघात, रसघात तथा अपकर्षण[1] कहा गया है। आशय यह है कि अनुप्रेक्षा से आत्मा के साथ पहले बँधे हुए अशुभ कर्मों-तीव्र रस मन्द रस में परिणत हो जाता है, तब अशुभ प्रकृतियाँ शुभ रूप में परिणत हो जाती हैं। इस प्रकार सजातीय अशुभ कर्म-प्रकृतियों का शुभ प्रकृतियों में संक्रमण हो जाने से असातावेदनीय की प्रकृति सातावेदनीय के रूप में संक्रमित हो जाती है, तथैव अशुभ नाम, गोत्र कर्म-प्रकृति शुभ नाम, गोत्र के रूप में परिवर्तित हो जाती है।[2]

अतः कर्मविज्ञान के व्याख्याकारों के अनुसार-आगमसम्मत सात कर्म-प्रकृतियों में स्थितिघात, रसघात, प्रकृति-परिवर्तन आदि अनुप्रेक्षा के प्रयोग से हो सकते हैं, अपकर्षण (अपवर्तन) या संक्रमण भी हो सकता है। किन्तु आयुष्य कर्म में परिवर्तन नहीं हो सकता। इतना अवश्य किन्हीं आचार्यों का मत है कि यद्यपि

---

१. देखें-'कर्मविज्ञान, भा. ६' में कर्मबन्ध की विविध परिवर्तनीय दशाएँ-१-२ में दस मुख्य दशाओं का वर्णन। वे १० मुख्य दशाएँ ये हैं-(१) बन्ध (बन्धनकरण), (२) उद्वर्तना (उत्कर्षण), (३) अपवर्तना (अपकर्षण), (४) सत्ता, (५) उदय, (६) उदीरणा, (७) संक्रमण, (८) उपशमन, (९) निधत्ति या निधत्त, और (१०) निकाचना।

२. 'आगममुक्ता' से भावांश ग्रहण, पृ. १४२, १४६

अशुभ आयु को शुभ आयु में परिवर्तित नहीं किया जा सकता, किन्तु अनुप्रेक्षा की निर्मल तीव्रभाव धारा के कारण आयुष्य कर्म की प्रकृति अशुभ तत्त्व में कमी अवश्य हो सकती है। इसी प्रकार निकाचित-कर्मबन्ध की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होता, उसे तो जैसा बाँधा है, वैसा ही भोगना पड़ता है, किन्तु भोगते समय समभाव, कषाय-मन्दता आदि रहे तो शीघ्र उस कर्म का क्षय हो जाता है।[१]

सभी भावना से रासायनिक परिवर्तन

वर्तमान मनोविज्ञान (साइकोलोजी) एवं शरीरविज्ञान (फिजियोलोजी) भी अनुप्रेक्षा पद्धति से रासायनिक परिवर्तन के पक्ष में हैं। शरीरविज्ञान के अनुसार मानव-शरीर में अनेक ग्रन्थियाँ हैं, जो अन्तःस्रावी हैं। इन ग्रन्थियों से अधिक रसस्राव होने से काम, क्रोध, अहंकार, भय आदि आवेग उत्तेजित हो जाते हैं। इसके विपरीत इन ग्रन्थियों का रस-स्राव रोक देने से पूर्वोक्त आवेगों की उत्तेजनात्मक स्थिति कम हो जाती है। शरीर-वैज्ञानिकों ने प्रयोग किया है कि जो उग्र क्रोध में तमतमा रहा है, उसकी क्रोधग्रन्थि को अवरुद्ध कर दिया जाये और स्नेहग्रन्थि को सक्रिय कर दिया जाये तो वह दूसरे ही क्षण मुस्कराने लगता है।

भारत के अध्यात्म वैज्ञानिकों ने इसके स्थान पर अनुप्रेक्षा प्रयोग की पद्धति बताई है, जिसके द्वारा अनित्यत्व, अशरणत्व, एकत्व, अन्यत्व आदि भावों का लगातार चिन्तन करने से तथा मन को बार-बार उन भावों में केन्द्रित करने से शरीरगत ग्रन्थियों का स्राव स्वतः ही कम होने लगता है। अतः कामग्रन्थि, क्रोधग्रन्थि आदि के अन्तःस्राव रुक जाने से क्रोधादि कषायों का आवेग कम हो जाता है। कर्मबन्ध का मुख्य कारण तो कषाय ही है। कषायों की मन्दता होने से पुराने बन्धन या तो शिथिल हो जाते हैं या निर्जरा होने से टूटने लगते हैं।[२]

मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि बार-बार अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करने से अवचेतन मन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। जिससे जैसी अनुप्रेक्षा या भावना की जाती है, वैसा घटित होने लगता है। कार्मणशरीर पर इसी प्रकार की रासायनिक प्रक्रिया बार-बार भावनात्मक अनुप्रेक्षा करने से होती है।

अनुप्रेक्षा मानसिक चिन्तन-सापेक्ष होती है

'दशवैकालिक चूर्णि' में कहा गया है कि जिसमें काया से नहीं, मन से ही बार-बार चिन्तन करने से परिवर्तन हो जाता है, उसी का नाम अनुप्रेक्षा है। वाक्शक्ति से मनःशक्ति विशेष प्रबल होती है। मानसिक स्मरण में अधिक तीव्र शक्ति

---

१. 'आगममुक्ता' से भाव ग्रहण, पृ. १४७

२. वही, पृ. १४५

होती है। निगृहीत मन की ही शक्ति प्रचण्ड अनुप्रेक्षात्मक संकल्प के रूप में प्रकट होती है। जिससे एक ही स्थान पर बैठे-बैठे ही दूरवर्ती व्यक्तियों को प्रभावित करना तथा जड़ वस्तुओं में परिवर्तन करना, हलचल पैदा कर सकना सम्भव है। जैन-कथाओं में ऐसी शीलवती सती नारियों के उदाहरण आते हैं कि वे आपद्ग्रस्त होकर ज्यों ही किसी वैमानिक देवी या देव का स्मरणात्मक अनुप्रेक्षण करतीं, त्यों ही वे सहायता के लिए शीघ्र ही पहुँच जाते। 'अजपा जाप' से यानी मानसिक मंत्र-जाप से बहुत बड़ी शक्ति पैदा हो जाती है। अनुप्रेक्षा में और क्या है—मानसिक शक्ति का ही चमत्कार है कि इससे मनुष्य की गलत आदतें, स्वभाव में परिवर्तन कषायादि के आवेग से उत्पन्न भावनात्मक रोग की चिकित्सा, शारीरिक-मानसिक रोग की चिकित्सा अनुप्रेक्षा की प्रबल भावधारा द्वारा की जा सकती है।[1]

ब्रिटिश शासनकाल में 'सर जोन वुडरफ' कलकत्ता हाईकोर्ट के चीफ मजिस्ट्रेट थे। उन्होंने एक संस्मरण में लिखा है कि एक बार वे एक भारतीय मित्र के साथ ताजमहल के संगमरमर के फर्श पर बैठे थे। बातचीत के सिलसिले में संकल्प-शक्ति की चर्चा चल पड़ी। वुडरफ को इस पर विश्वास नहीं था। उनके भारतीय मित्र ने कहा—मानसिक संकल्प-शक्ति का एक छोटा-सा प्रमाण तो मैं भी दे सकता हूँ। "सामने जो लोग बैठे हैं, उनमें से आप जिसे कहें मैं उठा दूँ और उसे जहाँ कहें वहाँ बिठा दूँ।" वुडरफ ने उनमें से एक व्यक्ति को चुना और उसे अमुक स्थान पर बिठा देने को भी कहा। मित्र ने अपनी मानसिक संकल्प-शक्ति का प्रयोग किया। फलस्वरूप वह व्यक्ति एकदम उठा और वुडरफ द्वारा बताये गये स्थान पर जा बैठा। यह था मानसिक संकल्प-शक्ति का चमत्कार ![2]

डॉ. वेन्शनोई भी मानसिक संकल्प के द्वारा बिना स्पर्श किये वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर खिसका देते थे। ऐसा विलक्षण मानसिक सामर्थ्य उनमें था। रूसी महिला **'रोजा मिखाइलोवा'** जड़ वस्तुओं में हलचल पैदा कर देती थी अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा। एक बार उन्होंने पत्रकारों को इच्छा-शक्ति का चमत्कार बताया। उन्होंने दूर मेज पर रखी हुई डबलरोटी को अनिमेष दृष्टि से देखा और जैसे ही उसने मुख खोला, दूर पड़ी हुई डबलरोटी अपने आप मेज पर से उठकर मिखाइलोवा के मुँह में जा पहुँची। अमेरिकन युरी गैलर अपनी प्रबल इच्छा-शक्ति से ज्यों ही कुछ भावना करता, दूर रखे चम्मच तथा लोहे की छड़ों को तोड़ देता था।[3] मन को एकाग्रतापूर्वक एक विषय में केन्द्रित करना ही तो अनुप्रेक्षण है।

---

१. 'आगममुक्ता' से भावांश ग्रहण, पृ. १४२

२. 'अखण्ड ज्योति, दिसम्बर १९८१' के अंक से भाव ग्रहण, पृ. ३४-३५

३. (क) वही, पृ. ३४

अनुप्रेक्षा की भावना-शक्ति

एक उन्नीस वर्ष की फ्रेंच युवती का एक अमेरिकन युवक के साथ विवाह होना निश्चित हुआ। परन्तु युवक निर्धन था। इसलिए उसने तय किया वह अमेरिका जाकर धनोपार्जन करने के बाद यहाँ लौटकर शादी करेगा। तीन वर्ष में उसने पर्याप्त धन एकत्रित कर लिया। किन्तु दुर्भाग्य से उसे एक मुकदमे में १५ वर्ष की सजा हो गई। पन्द्रह वर्ष बाद जब वह फ्रांस वापस लौटा तो अपनी मंगेतर का स्वास्थ्य और सौन्दर्य पूर्ववत् देखकर आश्चर्यचकित हो गया। यानी ३४ वर्ष की उम्र में भी वह १९ वर्ष की युवती प्रतीत होती थी। विवाहोपरान्त युवक ने एक दिन अपनी पत्नी से उसके चिरयौवन और सौन्दर्य का रहस्य पूछा तो उस युवती ने बताया कि मैं प्रतिदिन एक आदमकद शीशे के सामने खड़ी होकर अपने चेहरे को देखकर मन ही मन संकल्प की भावधारा बहाती थी कि मैं बिलकुल कल जैसी ही हूँ। इस प्रचण्ड भावना-शक्ति के बल पर ३४ वर्ष की आयु में भी मैं अपने यौवन को पूर्ववत् अक्षुण्ण बनाये रखने में सफल हुई। यह चमत्कार अनुप्रेक्षा के जैसा ही था।[1]

प्रबलभावना की धारा से दुःसाध्य रोगी को स्वस्थ कर दिया

ब्राजील का एक विलक्षण मानसिक-शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति 'जोस एरीगो' बिना किसी उपकरण के किसी भी तरह के दुःसाध्य रोग से ग्रस्त व्यक्ति को इच्छा-शक्ति से रोगमुक्त कर देता था। एक बूढ़ी औरत पेट के ट्यूमर की पीड़ा के कारण मरणशय्या पर पड़ी छटपटा रही थी। उसने कुछ ही मिनटों में उसका पेट चीरकर जरा भी तकलीफ दिये बिना नारंगी के आकार के ट्यूमर को बाहर निकाल दिया। काटे हुए भाग को भी आपस में जोड़कर दबा दिया। न ही रक्तस्राव और न किसी प्रकार की पीड़ा। शीघ्र ही रोगी स्वस्थ हो गया। यह भी भावना का ही चमत्कार है।[2]

अनुप्रेक्षा : आध्यात्मिक सजेस्टोलोजी है

लेकिन अनुप्रेक्षा में और ऐसी प्रक्रियाओं में समानता होते हुए भी उद्देश्य में अन्तर है। अनुप्रेक्षा कर्मक्षय या कर्मनिरोध की दृष्टि से, आध्यात्मिक नैतिक प्रयोजन से की जाती है। अनुप्रेक्षा एक प्रकार से आध्यात्मिक सजेस्टोलोजी है।

पिछले पृष्ठ का शेष—

(ख) 'अखण्ड ज्योति, दिसम्बर १९८१' के अंक से भाव ग्रहण, पृ. ३४

(ग) वही, पृ. ३४

१. अखण्ड ज्योति में प्रकाशित 'ओल्ड एज, इट्स कॉज एण्ड प्रिवेन्शन' से उद्धृत घटना, दिसम्बर १९८१

२. 'अखण्ड ज्योति, सितम्बर १९८१' से संक्षिप्त सार, पृ. २६

अनेक वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक भी इस पद्धति का अनुसरण करते हैं। इसमें सजेशन आत्मलक्षी-दृष्टि से दिया जाता है। वह भी दो प्रकार से दिया जाता है- "या तो व्यक्ति स्वयं को सजेशन (सुझाव) देता है या फिर अन्य व्यक्ति के सजेशन को सुनता है।" अनुप्रेक्षा-प्रयोग मुख्यतया स्वयं को स्वयं के द्वारा सजेशन (सुझाव) देने की पद्धति है। किसी मनुष्य की आदत चाहे लड़ने-झगड़ने की हो, चाहे चोरी, जारी या झूठफरेब करने की हो अथवा बुरे आचरण और व्यवहार की हो; अनुप्रेक्षा की इस पद्धति से जटिल से जटिल आदत को बदला जा सकता है, स्वभाव-परिवर्तन भी बिना किसी पुस्तक या उपकरण के किया जा सकता है।[1]

अनुप्रेक्षा ब्रेन वाशिंग का काम कैसे करती है ?

आजकल विदेशों में प्रायः राजनैतिक क्षेत्र में विचार-परिवर्तन या भावना बदलने के ब्रेन वाशिंग का प्रयोग भी सफलतापूर्वक किया जा रहा है। अनुप्रेक्षा का ही पूर्वरूप भावना है। भावनापूर्वक अनुप्रेक्षा के द्वारा मस्तिष्क की धुलाई का काम बहुत आसानी से हो जाता है। एक ही शुभ भावना को पुनः-पुनः दोहराते जायें, उसका मन ही मन रटन या जप करते रहें तो एक क्षण ऐसा आता है, जब पुराने अशुभ विचार छूट जाते हैं और उनकी जगह नये शुभ विचार चित्त में जड़ जमा लेते हैं। अर्थात् ज्ञात मन में जो अशुभ विचार एवं संस्कार (कषायादि विभाव) भरे पड़े हैं, उन्हें शुभ विचारों का शुभ भावनापूर्वक बार-बार अनुप्रेक्षण करने से वे पुराने अशुभ विचार और कुसंस्कार विदा हो जाते हैं, उनकी जगह अज्ञात मन में शुभ विचार और सुसंस्कार स्थापित हो जाते हैं।

शुभ भावनात्मक प्रार्थना या जाप से हृदय-परिवर्तन

अमेरिका के एक शहर में प्रभु-भक्त गेस्टर रोज चर्च में जाकर शुभ भावनात्मक प्रार्थना किया करता था-"O God, save me from sins." (हे प्रभु ! मुझे पापों से बचाइये।) घर में भी वह नियमित रूप से प्रतिदिन आधा घण्टे तक यही प्रार्थना करता था। उसका पुत्र रोजर पिता की इस भक्ति को पागलपन समझता था। परन्तु पिता को यह विश्वास था कि इस पुनः-पुनः भावनात्मक जाप से मेरा पुत्र एक दिन अवश्य ही आस्तिक बन जायेगा। जैसे सूर्य के ताप से गीली जमीन सूख जाती है, वैसे भावनात्मक जाप के ताप से पाप सूख जाते हैं, जीवन में पवित्रता का प्रकाश फैलने लगता है। पाप से मुक्त होने की इस भावना से प्रतिदिन जाप करने से गेस्टर के जीवन में पवित्रता विकसित होने लगी। उसके हृदय में भी दृढ़ विश्वास हो गया कि शुभ भावनात्मक जाप में चाहे जैसे पापी को पवित्र करने की शक्ति है। अतः पूर्ण श्रद्धापूर्वक तीन वर्ष जाप करने के पश्चात् उसने अपने पुत्र को उक्त जाप में शामिल

१. 'अमूर्त चिन्तन' से भावांश ग्रहण, पृ. ८

होने को कहा। परन्तु उसके पुत्र ने कहा—"जब तक मैं इस जाप का परिणाम साक्षात् न देख लूँ, तब तक इसमें शामिल नहीं हो सकता।" पुत्र के जीवन में शुभ भावनात्मक जाप से परमात्मा के प्रति आस्था स्थापित करने को उत्सुक उसका पिता तत्काल नगर के मेयर के पास गया और उससे कहा—आप मेरे साथ जेल के सुपरिण्टेंडेंट के पास चलें और उनसे कहें कि "मुझे एक घण्टे के लिए ऐसे आजन्म कैदी को दें, जिसे फाँसी की सजा फरमाई गई हो। मुझे उस पर शुभ भावनात्मक प्रार्थना (जाप) की शक्ति का प्रभाव डालना है।" मेयर गेस्टर के जीवन से वाकिफ था। फाँसी के सजायाफ्ता कैदी को अपनी जिम्मेदारी पर सुपरिण्टेंडेंट के पास से अपने प्रार्थना-कक्ष में ले आया। वहाँ रोजर, मेयर और सुपरिण्टेंडेंट तीनों ही उपस्थित रहे। जहाँ बैठकर गेस्टर रोजाना जाप करता था, वहीं उस कैदी को बिठाया और स्वयं वहीं शुभ भावनात्मक जाप करने लगा। तुरन्त ही उस कैदी के आसपास एक तेजोवलय घूमने लगा। एक झटके के साथ वह कैदी बोल उठा—"O God, save me from sins." एक हत्यारे (कैदी) के मुँह से ऐसे शब्द सुनकर रोजर, मेयर और सुपरिण्टेंडेंट तीनों आश्चर्य में पड़ गये। वह हत्यारा फफक-फफककर रोने लगा। उसके दिल में अपने कुकृत्य पर घोर पश्चात्ताप हुआ। उसका हृदय-परिवर्तन हो चुका। मेयर की सिफारिश से उस फाँसी के कैदी को सजा से मुक्ति मिल गई। प्रभु-भक्त गेस्टर का पुत्र रोजर भी पूर्ण श्रद्धा से पिता के साथ बैठकर प्रतिदिन शुभ भावनात्मक जाप करने लगा।[1] यह था भावना का प्रभाव !

ऐसी भावनात्मक अनुप्रेक्षा के द्वारा दुःख और संकट में पड़ा हुआ व्यक्ति सम्यग्दृष्टि-सम्पन्न यानी बोधिलाभयुक्त हो जाता है कि सुख और दुःख देने वाला स्वयं के अतिरिक्त और दूसरा कोई नहीं है। मैंने ही पहले कोई ऐसा दुष्कृत्य या गलत आचरण किया है, जिसका परिणाम अब सामने आ रहा है। इस प्रकार भावनात्मक अनुप्रेक्षा बार-बार करने से पुराने विचार धुल जाते हैं और नये शुभ विचार = समभाव से उस दुःख को भोगने के भाव अन्तर्मन में जम जाते हैं। इस प्रकार के भावनायोग से दृष्टि सम्यक् हो जाती है, व्यक्ति के विचारों में परिवर्तन हो जाता है, उसका पहले वाला कठोर और क्रूर स्वभाव भी बदल जाता है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि आत्मा संवर और निर्जरा दोनों का लाभ भावनायोग = अनुप्रेक्षायोग से प्राप्त कर लेता है।[1] यथार्थता की ज्योति, जो मूर्च्छा और मूढ़ता की राख से आच्छादित थी, वह प्रगट हो जाती है।

भावनात्मक अनुप्रेक्षा का माहात्म्य

भावनात्मक अनुप्रेक्षा का माहात्म्य 'बारस अणुवेक्खा' में बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है—"जो पुरुष इन बारह भावनाओं (अनुप्रेक्षाओं) का चिन्तन

---

१. 'सुमरो मंत्र भलो नवकार' पुस्तक से भाव ग्रहण

करके अनादिकाल से आज तक मोक्ष में गए हैं, उनको मैं मन-वचन-काय से बार-बार नमस्कार करता हूँ। इस विषय में अधिक क्या कहें, इतना ही कहना पर्याप्त है कि अतीत में जितने भी श्रेष्ठ पुरुष सिद्ध (सर्वकर्ममुक्त) हुए हैं और जो आगे होंगे, वे सब इन्हीं अनुप्रेक्षाओं (भावनाओं) के पुनः-पुनः चिन्तन से हुए हैं। इसे अनुप्रेक्षाओं का ही माहात्म्य समझना चाहिए।" अतीत में चिलातीपुत्र, दृढ़ प्रहारी, अर्जुन मुनि, भरत चक्रवर्ती, एलापुत्र (इलायचीकुमार) आदि अनेकों साधक अनुप्रेक्षा के प्रभाव से केवलज्ञानी और सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए हैं। इसीलिए 'उत्तराध्ययनसूत्र' में अनुप्रेक्षा की अन्तिम परिणति के रूप में कहा गया है- "अनुप्रेक्षा से चातुरन्त एवं अनादि-अनन्त दीर्घ पथ वाले संसाररूप महारण्य को जीव सुखपूर्वक पार कर जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि जब अनुप्रेक्षा से भावधारा उज्ज्वल और प्रखर हो जाती है, तब कर्मों की स्थिति, अनुभाग, प्रकृति और प्रदेश चारों में परिवर्तन हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह जीव अधिक काल तक संसार में भ्रमण नहीं कर सकता। वह शीघ्र ही संसाररूपी महारण्य को पार करके मुक्ति के महालय में पहुँच जाता है।[२]

अनुप्रेक्षा का अपर नाम सखी भावना

अनुप्रेक्षा का ही दूसरा नाम भावना है। भावना अनुप्रेक्षा का ही पूर्वरूप है। कहावत है-"**यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।**"-जिसकी जैसी भावना होती है, उसके अनुसार ही उसके जीवन की सिद्धि (निर्मिति) होती है। जीवन की सभी अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों पर मनुष्य की अच्छी-बुरी भावना की प्रतिछाया पड़ती है। अतः जैन-कर्मवैज्ञानिकों ने कर्मों से मुक्ति के अभिलाषियों के लिए संवर-निर्जरारूप या ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप धर्म की वृद्धि और मुमुक्षु की आत्म-शुद्धि के लिए १२ आध्यात्मिक भावनाओं से भावित होने का निर्देश किया है। इससे स्पष्ट है कि भावना से यहाँ सामान्य भावना इष्ट नहीं है, किन्तु धर्मभाव, वैराग्य, संवेग और भावशुद्धि एवं भेदविज्ञान जगाने वाली विशिष्ट शुभ भावना ही अभिप्रेत है।[३]

---

१. 'अमूर्त चिन्तन' से भाव ग्रहण, पृ. ९

२. (क) मोक्खगया जे पुरिसा अणाइकालेण बार-अणुवेक्खं।
परिभविऊण सम्मं पणमामि पुणो-पुणो तेसिं।।८९।।
किं पल्लवियेण बहुणा, जे सिद्धा णरवरा गये काले।
सेज्झंति य जे भविया तज्जाणह तस्स माहप्पं।।९०।। *-बारस अणुवेक्खा ८९-९०*

(ख) 'आगममुक्ता' से भावांश ग्रहण, पृ. १४८

३. 'जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भा. ४' में बोल ८१२ में बारह भावना का प्रारम्भिक परिचय, पृ. ३५५

सामान्य भावना का भी जादुई असर

फिर भी सामान्य भावनाओं से भी कितना अद्‌भुत प्रभाव और चमत्कार घटित हो जाता है? इसे बताना भी हम आवश्यक समझते हैं, ताकि इन आध्यात्मिक रसायनों से ओतप्रोत भावनाओं की ओर साधक शीघ्र अभिमुख हो सके।

भावना के प्रभाव से विष भी अमृत हो गया

प्रसिद्ध भक्त शिरोमणि मीरां को राणा ने विष मिश्रित दूध का प्याला पीने के लिए भेजा। मीरांबाई अमृतभावना से भावित होकर उसे अमृत समझकर पी गई। फलतः वह विष विष नहीं रहा, मीरां की प्रबलभावना से अमृत में परिवर्तित हो गया।

भावना से सर्दी गर्मी में तथा गर्मी सर्दी में परिवर्तित

कोई व्यक्ति हिमालय की ठंडी बर्फ पर निर्वस्त्र होकर कितनी देर तक बैठ सकता है? परन्तु योगिक प्रक्रिया के द्वारा जब वह उष्णता (गर्मी) की भावना करता है, तो देखते ही देखते शरीर में गर्मी छा जाती है। पसीने से उसका शरीर तरबतर हो जाता है। यह प्राकृतिक परिवर्तन नहीं है, किन्तु भावनात्मक परिवर्तन है। यदि प्रकृतिजन्य परिवर्तन होता तो वहाँ बैठे हुए सभी व्यक्तियों के शरीर में गर्मी पैदा हो जाती, पसीना टपकने लगता; ऐसा तो हुआ नहीं। जिस व्यक्ति ने उष्णता की भावना की थी, उसी के शरीर में गर्मी पैदा हुई। इसी प्रकार ग्रीष्म ऋतु में, जहाँ धरती तवे-सी तप रही हो, चारों ओर लूएँ चल रही हों, वहाँ साधक ठण्डक की भावना करता है, पूरे प्रबल मनोयोगयुक्त संकल्प के साथ। इसका भी आश्चर्यजनक परिणाम आया कि उसके शरीर में सर्दी व्याप्त हो गई। कंबल ओढ़ने पर भी उसे ठंड लगने लगी। यह भावनाजन्य परिवर्तन नहीं तो क्या है?

साधक की प्रबल भावना से आक्रामक बैल भी शान्त हो जाता है

जापान में 'झेन' नामक एक ध्यान-सम्प्रदाय है। उसके सदस्य भावना के अनेक प्रयोग करते हैं। वे एक नियत मैदान में जाते हैं और भयंकर खूँख्वार बैल के साथ निहत्थे होकर लड़ते हैं। उनके पास कोई भी लाठी, ढेला या डंडा नहीं होता। एक खूँख्वार बैल को लाल कपड़ा दिखाकर भड़काया जाता है और कुश्ती के लिए ललकारा जाता है। बैल पूरे वेग से उस व्यक्ति पर टूट पड़ता है। परन्तु आश्चर्य यह है कि वह दुबला-पतला साधक प्रबलभावना और दृढ़ संकल्प के साथ वहाँ अविचलित होकर खड़ा रहता है। उसको देखते ही बैल परास्त होकर भाग जाता है अथवा उस आक्रामक बैल को बिलकुल शान्त कर देता है। वर्तमान में भी वहाँ यह प्रयोग होता है।[1]

---

१. 'अमूर्त चिन्तन' से भावांश ग्रहण, पृ. ५, १३

संत तुकाराम की 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना

महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध संत तुकाराम करुणाशील हृदय के लिए विख्यात हैं। एक बार वे विठोबा की यात्रा पर जा रहे थे। रास्ते में कबूतरों का एक बड़ा दल जुआर चुग रहा था। तुकाराम ज्यों ही वहाँ से गुजरे कि सभी कबूतर उड़ गए। यह दृश्य देखकर संत तुकाराम वहीं रुक गए। सोचने लेगे–ये कबूतर मेरे से भयभीत होकर ही तो उड़ गए। सचमुच मैं अभी तक संत कहलाने लायक नहीं। संत के पास तो छोटे-बड़े, बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष सभी निःसंकोच आ सकते हैं। पशु-पक्षीगण भी संत को देखकर निर्भयता से विचरण कर सकते हैं। इतना ही नहीं, हिंसक पशु भी अपना हिंसक-स्वभाव भूलकर सिंह और गाय, साँप और नेवला, कुत्ता और बिल्ली भी संत के सान्निध्य में निर्भय होकर बैठ सकते हैं। परन्तु ये कबूतर मुझे देखकर उड़ गए, इसका कारण है–मेरे में अभी अशुद्धि है, पाशविकता है। अतः उन्होंने विठोबा की यात्रा में आगे बढ़ना स्थगित कर दिया और ऐसा भावनायुक्त संकल्प लेकर वहीं बैठ गए कि "जब तक ये कबूतर निर्भय होकर मेरे कन्धे पर आकर नहीं बैठेंगे, तब तक मैं यहीं रुकूँगा। भोजन भी नहीं करूँगा।" संत तुकाराम वहीं रुक गये और अपने हृदय में 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना की रट लगाते रहे। उनके इस निरन्तर आत्मौपम्य भावना के अभ्यास से उनके ज्ञात मन में जो भेदभाव की अशुद्धि थी, वह दूर हो गई। उनके हृदय में समस्त प्राणियों के प्रति मैत्री, प्रेम और करुणा का झरना बहने लगा। तीन दिन और रात तक इस उच्च भावना से उनका अवचेतन मन इतना भावित हो गया कि कबूतरों का दल बिलकुल निर्भय होकर दाना चुगने लगा और संत तुकाराम के कंधे पर निश्चिंत होकर वे बैठने लगे। संत की इस अनुप्रेक्षात्मक भावना की साधना सफल हुई। वे अब विठोबा की यात्रा के लिए आगे बढ़े। यह था अनुप्रेक्षात्मक भावना का चमत्कार ![1]

भावना, भावितात्मा और भावनायोग की साधना

तप और संयम की साधना को हृदयंगम करने, आत्मसात् करने और उनमें तन्मयतापूर्वक रमण करने हेतु आगमों में यत्र-तत्र 'संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरई' शुद्ध संयम और तप की भावना से आत्मा को भावित करते हुए (वह साधक) विहरण करता है, ऐसे भावनायोग के प्रयोग का उल्लेख आता है। भावना से मन आत्मा से, सत्य से अथवा अपने ध्येय (कर्ममुक्तिरूप मोक्ष) से जुड़ जाता है। इसलिए यह योग है जिसके फलस्वरूप साधक संवर (कर्मनिरोधरूप) और निर्जरा (कर्म के आंशिक क्षयरूप) को सहज ही अर्जित कर लेता है। भगवान महावीर ने कहा–"जिसकी आत्मा भावनायोग से विशुद्ध हो गई है, उसके लिए

---

१. 'जैन प्रकाश, २० अगस्त १९८७' से भाव ग्रहण

वह जल में नौका की तरह है। अर्थात् वह संसार-सागर (भवजलधि) को पार कर जाता है, उसमें डूबता नहीं।" इसीलिए भावना को भवनाशिनी (संसार के जन्म-मरणादि को नष्ट करने वाली) कहा गया है। चित्तशुद्धि एवं आध्यात्मिक विकास के लिए ये १२ भावनाएँ परम सहायक सिद्ध हुई हैं।[1]

भावना की सफल साधना के लिए सावधानी और अर्हताएँ

परन्तु प्रश्न यह है कि भावना कब और कैसे भवतारिणी नौका बन सकती है? इस भावनायोगरूप नौका का उपयोग कैसे हो? इसमें क्या-क्या सावधानियाँ रखनी जरूरी हैं? इसका विवेक सर्वप्रथम साधक को होना चाहिए।

सर्वप्रथम साधक को चाहिए कि भावना का उद्देश्य शुद्ध हो, आत्मावलोकन हो, क्योंकि ये सभी भावनाएँ संवेग, वैराग्य, निर्वेद, भावशुद्धि के लिए आत्मा और पर-पदार्थों के संयोग पर गहराई से मनन-मन्थन करने के लिए हैं। इसलिए कर्ममुक्ति की दृष्टि से ही इनका बार-बार चिन्तन किया जाए। भावना करते समय उस भावना से साधक को भावित (तन्मयतापूर्वक ओतप्रोत) हो जाना चाहिए। भावित होने पर ही उस भावना का वास्तविक प्रतिफल प्राप्त होता है। आगमों में 'भावितात्मा' शब्द का प्रयोग और उसकी भौतिक-आध्यात्मिक शक्तियों और अर्हताओं का वर्णन आता है। धैर्य, एकाग्रता, तन्मयता एवं तीव्र अध्यात्मलक्षी भावधारा प्रवाहित होने पर ही भावितात्मा बनकर साधक अभीष्ट सिद्धि प्राप्त कर सकता है। अर्थात् भावना से भावित होने पर व्यक्ति जो भी होना चाहता है, हो जाता है, जो भी घटित करना चाहता है, वह घटित हो जाता है। मन को, स्वभाव को जिस रूप में ढालना चाहता है, ढाल सकता है। मन के तथा स्वभाव के बदलने पर शरीर और उसकी क्षमताएँ, इन्द्रियों की क्षमता की उपलब्धियाँ भी प्राप्त होती हैं। बशर्ते कि व्यक्ति की भावनाएँ अवचेतन मन तक सघनता से पहुँच जाएँ। कई कच्चे और फलाकांक्षी साधक क्रोधादि न करने का भावनात्मक संकल्प तो ले लेते हैं, किन्तु भावना को अन्तर्मन तक नहीं पहुँचा पाते, इसलिए वे बार-बार अपने संकल्प से भ्रष्ट हो जाते हैं, यह अनेकाग्रता का ही परिणाम है। वे अपनी भावना में तन्मय, एकाग्र एवं तीव्रतायुक्त नहीं हो पाते। वह भावना फिर अनुप्रेक्षा का रूप नहीं ले पाती।[2]

●●

---

१. (क) देखें–भगवतीसूत्र
   (ख) भावणाजोग-सुद्धप्पा जले णावा व आहिया।
   नावा य तीरसम्पन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्टइ॥
   (ग) भावना भवनाशिनी। *–सूत्रकृतांग, श्रु. १, अ. १५, गा. ५*

२. (क) 'जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भा. ४' में बोल ८९२, पृ. ३५५-३५६
   (ख) 'अमूर्त्त चिन्तन' से भावांश ग्रहण, पृ. ६-७

१२

कर्ममुक्ति में सहायिका : अनुप्रेक्षाएँ

अनुप्रेक्षा के द्वारा ज्ञान आत्मसात् हो जाता है

भावना और अनुप्रेक्षा दोनों का यथायोग्य स्वरूप और उनसे संवर, निर्जरा और मोक्षरूप लाभ कैसे हो सकता है? इसे भलीभाँति निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से समझना आवश्यक है। इन दोनों में से अनुप्रेक्षा का निरूपण करना सर्वप्रथम उचित है, क्योंकि अनुप्रेक्षा के द्वारा बार-बार सत्य-तथ्य का अनुचिन्तन करने से मन पर जमे हुए भ्रान्तियों, विपर्ययों और पूर्वाग्रहों, दुराग्रहों के मैल को काटा जा सकता है, तोड़ा जा सकता है। अनुप्रेक्षा के माध्यम या अनुप्रेक्षा की साधना से व्यक्ति मानने की भूमिका से ऊपर उठकर जानने की भूमिका तक पहुँच सकता है। फिर अनुप्रेक्षक व्यक्ति अपनी पूर्व धारणा, मान्यता, संस्कार, परम्परा या पूर्वाग्रह की दृष्टि से या काल्पनिक दृष्टि से नहीं देखेगा, अपितु यथार्थ को, सत्य-तथ्य को, सचाई को या वास्तविकता को देखता है। मनुष्य के सामने सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि मनुष्य जो वस्तुतत्त्व है या सत्य-तथ्य है, उस दृष्टि से न देखकर अपनी धारणा, रूढ़ि, संस्कार या मान्यताओं का रंगीन चश्मा लगाकर उसी दृष्टि से देखता–सोचता है। इसीलिए भगवान महावीर ने कहा–"**संपिक्खए अप्पगमप्पएणं।**" -अपनी आत्मा से अपनी आत्मा का सम्प्रेक्षण करो। "**अप्पणा सच्चमेसेज्जा।**" -अपनी आत्मा से सत्य को ढूँढ़ो, खोजो।[1] इसका तात्पर्य यह है कि अनुप्रेक्षा के माध्यम से सत्य को देखने–सोचने के लिए सत्य के प्रति पूर्णरूपेण समर्पित हो जाओ, जो सत्य-तथ्य है, उसे स्वीकार करो। तभी मानने की भूमिका से ऊपर उठकर अनुप्रेक्षक साधक जानने लगेगा। जब तक मन पर मोह या मूर्च्छा का मैल जमा रहता है, तब तक व्यक्ति पूर्वाग्रहवश सब कुछ मानता चला जाता है, जान नहीं पाता। अर्थात् पदार्थ का मूल स्वरूप उसके मन-मस्तिष्क में जमकर नहीं बैठता।[2]

---

१. (क) दशवैकालिक चूलिका २
   (ख) उत्तराध्ययनसूत्र, अ. ६, गा. २

२. 'अमूर्त चिन्तन' से भाव ग्रहण

बारह अनुप्रेक्षाएँ : भवभ्रमण से मुक्ति प्रदायिनी

अनुप्रेक्षा के बारह प्रकार हैं, जो शुभ भावपूर्वक पुनः-पुनः चिन्तन करके वस्तुतत्त्व को अज्ञात मन में बद्धमूल करने के लिए आलम्बन हैं, जिनसे कर्मों का संवर, निर्जरण और मोक्ष हो जाता है। वे बारह अनुप्रेक्षाएँ इस प्रकार हैं– (१) अनित्यानुप्रेक्षा, (२) अशरणानुप्रेक्षा, (३) संसारानुप्रेक्षा, (४) एकत्वानुप्रेक्षा, (५) अन्यत्वानुप्रेक्षा, (६) अशुचित्वानुप्रेक्षा, (७) आस्रवानुप्रेक्षा, (८) संवरानुप्रेक्षा, (९) निर्जरानुप्रेक्षा, (१०) लोकानुप्रेक्षा, (११) बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा, और (१२) धर्मानुप्रेक्षा। इन बारह अनुप्रेक्षाओं का अनुचिन्तन करता हुआ व्यक्ति भवमुक्त हो जाता है।"[१]

(१) अनित्यानुप्रेक्षा : स्वरूप, प्रयोजन और लाभ

अनुप्रेक्षा का प्रथम सूत्र है–अनित्यानुप्रेक्षा। संसार के सभी पौद्गलिक पदार्थ अनित्य हैं। संसार की कोई भी वस्तु शाश्वत नहीं है। यहाँ की सभी वस्तुएँ नश्वर हैं, परिवर्तनशील हैं। यह शरीर, इन्द्रियाँ, विषयसुख, आरोग्य, यौवन, धन-सम्पत्ति, ऋद्धि-समृद्धि, वैभव, पद, प्रतिष्ठा, आयु, जीवन, ये सभी अनित्य हैं, अध्रुव हैं। कोई भी सम्बन्ध या संयोग, प्रिय जनों का संयोग आदि सब वियोग वाले हैं। "**संयोगा विप्रयोगाताः।**" यह सूक्ति अक्षरशः सत्य है। 'सर्वार्थसिद्धि' में कहा गया है–"ये समुदायरूप शरीर, इन्द्रिय-विषय, उपभोग्य-परिभोग्य द्रव्य जल के बुदबुद के समान अनवस्थित (अस्थिर) स्वभाव वाले हैं। .... मोहवश अज्ञ प्राणी इनमें नित्यता का अनुभव करता है। किन्तु वस्तुतः आत्मा के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के सिवाय इस संसार में कोई भी पदार्थ ध्रुव नहीं है। इस प्रकार का बार-बार चिन्तन करना अनित्यानुप्रेक्षा है।"[२] श्रीमद् राजचन्द्र जी ने भी इसी तथ्य का समर्थन करते हुए कहा है–"लक्ष्मी बिजली की चमक के समान चंचल है। अधिकार (प्रभुत्व) भी पतंग के रंग के समान थोड़े दिन रहकर हाथ से चला जाता

---

१. (क) अनित्याशरण-संसारैकत्वाऽन्यत्वाऽशुचित्वास्रव-संवर-निर्जरा-लोक-बोधिदुर्लभ-धर्म-स्वाख्यात-तत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा। –*तत्त्वार्थसूत्र, अ. ९, सू. ७*

(ख) अनित्यताशरणते, भवमेकत्वमन्यता।
अशौचमाश्रवं चात्मन् ! संवरं परिभावय॥
कर्मणो निर्जरां धर्मं सुकृतां लोकपद्धतिम्।
बोधिदुर्लभतामेताः भावयन् मुच्यसे भवात्॥ –*शान्तसुधारस (अनित्यभावना), श्लो. १*

२. इमानि शरीरेन्द्रिय-विषयोपभोग-द्रव्याणि जल-बुद्बुदवदनवस्थित-स्वभावानि। .... न किंचित् संसारे समुदितं ध्रुवमस्ति आत्मनो ज्ञान-दर्शनोपयोग-स्वभावादन्यदिति चिन्तनमनुप्रेक्षा। –*सर्वार्थसिद्धि ९/७/४१३*

है। आयुष्य पानी की तंरग के समान अस्थिर है। कामभोग आकाश में होने वाले इन्द्रधनुष के समान उत्पन्न होने के साथ ही थोड़ी देर में नष्ट हो जाते हैं अर्थात् जवानी में काम-विकार फलीभूत होकर जरावस्था में चले जाते हैं।" सारांश यह है कि संसार की सभी वस्तुएँ चंचल और विनाशी हैं, आत्मा-परमात्मा ही एकमात्र अखण्ड और अविनाशी हैं। अतः आत्मा जैसी नित्य वस्तुओं को प्राप्त कर। कहा है-"**इमं सरीरं अणिच्चं।**"-यह शरीर अनित्य है।[1]

भगवान महावीर ने शरीर को केन्द्रबिन्दु बनाकर अनित्यानुप्रेक्षा का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया-"तुम इस शरीर को देखो। यह पहले या पीछे, एक दिन अवश्य छूट जाएगा। विनाश और विध्वंस इसका स्वभाव है। यह अध्रुव, अनित्य और अशाश्वत है। इसका उपचय-अपचय (बुद्धि-हानि) होता है। इसकी विविध अवस्थाएँ होती हैं।"[2]

शरीर की आसक्ति सभी आसक्तियों का मूल है

वस्तुतः शरीर की आसक्ति ही सब आसक्तियों का मूल है। मन और इन्द्रियों की, इन्द्रिय-विषयों की, अंगोपांगों की तथा शरीर से सम्बद्ध समस्त सजीव-निर्जीव पदार्थों की आसक्ति अथवा यौवन, सौन्दर्य, सम्पत्ति, वाणी, बुद्धि, आयु, वैषयिक सुख, पदार्थजन्य सुख-सुविधा, वाहन, भोजन, मकान आदि सब पदार्थ शरीर से ही सम्बन्धित हैं। इसलिए शरीर की आसक्ति के छूट जाने पर इससे सम्बन्धित अन्य सब पदार्थों के प्रति होने वाली आसक्ति, मोह-ममता, अहंता आदि सब स्वतः छूटने लग जाती हैं। इस प्रकार शरीरादि के प्रति अनित्यता के पुनः-पुनः चिन्तन से इनके प्रति होने वाली गाढ़ आसक्ति, अहंता-ममता आदि से या क्रोधादि से छुटकारा मिल जाता है।

अमूढ़दृष्टि दुःख को जानता है, भोगता नहीं; मूढ़दृष्टि जानता भी है, भोगता भी है

जिसके अन्तस्तल में यह बात जम जाती है कि धन, धान, परिवार, बाल्य, यौवन, सौन्दर्य, इष्ट जन या इष्ट पदार्थ का संयोग, सुख-सम्पदा आदि सब अनित्य

---

१. (क) विद्युत् लक्ष्मी, प्रभुता पतंग, आयुष्य ते तो जलना तरंग।
पुरंदरी चाप अनंग रंग, शुं राचीए त्यां क्षणनो प्रसंग॥ *-मोक्षमाला, पृ. ८*

(ख) उत्तराध्ययन, अ. १९, गा. १२

२. से पुव्वं पेयं पच्छा पेयं भेउरधम्मं, विद्धंसण-धम्मं अधुवं।
अणितियं असासयं, चयावचइयं, विपरिणायधम्मं पासह एयं रूवं॥

-आचारांगसूत्र, श्रु. १, अ. ५, उ. २, सू. ५०९

हैं, नित्य कुछ है ही नहीं; वह व्यक्ति अमूढ़ है, वह इनके नष्ट हो जाने, वियोग हो जाने, इनके अनिष्टरूप में परिवर्तन हो जाने या इनके क्षीण हो जाने पर वह दुःखी नहीं होता, वह दुःखों को जानता है, किन्तु दुःख को भोगता नहीं, जबकि इन पदार्थों के वियोगादि होने पर इन पदार्थों को नित्य, स्थायी या शाश्वत मानने वाला मूढ़ अज्ञानी दुःखी होता है, वह दुःख को जानता भी है और भोगता भी है। उसके दुःखी होने का मूल कारण इन अनित्य पदार्थों को नित्य मानने का मिथ्या दृष्टिकोण है, जिसके कारण वह व्यक्ति अज्ञान, मूर्च्छा, मूढ़ता और मिथ्यादृष्टि का शिकार होता है।[1]

अनित्यता को जानने से लाभ

वह यह नहीं जानता अथवा इसे जानने की चेष्टा नहीं करता या फिर मूढ़तावश अनजान बन जाता है कि सांसारिक पदार्थजन्य या विषयजन्य सुख तो क्या, अनुत्तरविमानवासी देवों के सुख भी कालावधि पूर्ण होते ही छूट जाते हैं, प्रियजन बिछुड़ जाते हैं, धन-सम्पत्ति भी नष्ट हो जाती है, संयोग का वियोग अवश्य होता है, ऐसी स्थिति में शाश्वत और नित्य है ही क्या, जिसका अवलम्बन लिया जाए? संसार में ऐसी कौन-सी स्थायी और नित्य वस्तु है, जो सज्जनों के आनन्द का आधार हो, जिसे प्राप्त करके चिर शान्ति प्राप्त हो सके? यह जीवन (आयु), यौवन, सौन्दर्य, इष्ट-संयोग, सम्पत्ति, वैभव, ऐश्वर्य आदि सब अनित्य हैं, इस प्रकार की अनित्यता का चिन्तन जब बार-बार उसके अन्तर्मन में प्रविष्ट हो जाता है, पुनः-पुनः चेतना में उभरता है, तब अहंकार भी और क्रोध, मोह भी समाप्तप्रायः हो जाते या मन्द हो जाते हैं, जिसके मन-मस्तिष्क में संयोग अनित्य हैं, पदार्थ नश्वर हैं, यह बात जड़ जमा लेती है, उसे उनके वियोग का, क्षीण होने या नष्ट होने का कोई दुःख या भय नहीं होता। जिस अनुप्रेक्षक के चित्त में ये संस्कार प्रगाढ़ हो जाते हैं कि सभी पदार्थ अनित्य हैं, उसके दिल में कलह, विवाद, वैर-विरोध बढ़ाने वाली बातें समाप्त हो जाती हैं।[2] बुद्ध ने कहा– "**सर्वं क्षणिकम्।**"–जो कुछ भी दृश्यमान है, वह क्षणिक है, अशाश्वत है, परिवर्तनशील है।

---

१. (क) 'अमूर्त्त चिन्तन' से भावांश ग्रहण

(ख) 'शान्तसुधारस' (हिन्दी अनुवाद) (अ.–मुनि राजेन्द्रकुमार) से भाव ग्रहण, पृ. १९

२. (क) 'अमूर्त्त चिन्तन' से भाव ग्रहण, पृ. १९

(ख) सुखमनुत्तरसुरावधि यदतिमेदुरं।
कालतस्तदपि कलयति विरामम्।। *–शान्तसुधारस, अनित्यभावना, श्लो. ५*

(ग) तत्किं वस्तु भवे भवेदिह मुदामालम्बनं यत्सताम्? *–वही, श्लो. १०*

अनित्यता को मानने की अपेक्षा जानना महत्त्वपूर्ण है

जो विचारक अनुप्रेक्षक अनित्यता को मानने की अवस्था से ऊपर उठकर जानने की भूमिका पर पहुँच जाता है, तब शरीर के छूट जाने तथा शरीर की निन्दा, वार्धक्य, उपेक्षा, अपमान, गाली, क्षीणता, बीमारी, अशक्ति आदि के प्रसंग उपस्थित होने पर भी दुःखी नहीं होता, कष्टानुभूति नहीं होती उसे। शरीर के प्रति जो अहंता-ममता की ग्रन्थि थी, उसके टूट जाने पर भी वह आर्त्तध्यान नहीं करता। वह सभी कष्टों को समभाव से भोगता है और संवर-निर्जरा धर्म का उपार्जन करता है। शरीर में बुढ़ापा आने पर भी वह उससे मैत्री करेगा, दुःखित और चिन्तित नहीं होगा। यहाँ तक कि अनित्यता का साक्षात्कार करने वाला वह अनुप्रेक्षक जीते जी मरना सीख लेगा। मृत्यु की उसे जरा भी भीति नहीं होगी, बल्कि वह मृत्यु को महोत्सवरूप मानेगा।[1] शरीर की अन्तिम परिणति = मृत्यु का भी प्रसन्नतापूर्वक वरण करने में उस अनित्यतादर्शी को कोई हिचकिचाहट नहीं होगी। पूर्व-पूर्वकृत कर्मोदयवश उसे वध, बन्धन, दमन, कष्ट आदि का अनिष्ट संयोग प्राप्त होने पर भी वह उसे कर्मक्षय का अचूक अवसर जानकर समभावपूर्वक भोग लेगा, कर्मनिर्जरा कर लेगा।[2]

भरत चक्रवर्ती द्वारा अनित्यानुप्रेक्षा से केवलज्ञान और सर्वकर्ममुक्ति

ऐसी अनित्यानुप्रेक्षा भगवान ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्ती ने की थी। भरत चक्रवर्ती इतनी ऋद्धि-सिद्धि के स्वामी होते हुए भी सबको अनित्य समझकर इनसे निर्लिप्त रहते थे। उनके स्मृतिपटल पर हर क्षण मृत्यु नाचती रहती थी। प्रत्येक कार्य वे सावधानी और जागृतिपूर्वक करते थे। एक दिन भरत स्नान के पश्चात् वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर अपने आप को देखने के लिए शीशमहल में गए। शीशमहल में चारों ओर उनका रूप प्रतिबिम्बित हो रहा है।[3] सिंहासन पर बैठे-बैठे वे दर्पण में अपने प्रतिबिम्ब को देखने में तल्लीन हो गए। सहसा उनके हाथ की अँगुली में से अँगूठी नीचे गिर पड़ी। दूसरी अँगुलियों की अपेक्षा वह असुन्दर मालूम होने लगी। उन्होंने सोचा—क्या मेरी शोभा इन बाह्य आभूषणों से है? उन्होंने पहले दूसरी अँगुलियों तथा अन्य अंगों के आभूषण भी उतार डाले। यहाँ तक कि मस्तक का मुकुट भी उतार दिया। अतः जैसे पत्तों से रहित वृक्ष शोभाहीन हो जाता है, वैसी ही अपने शरीर की शोभाहीन स्थिति देखकर वे सोचने लगे—अहो ! यह शरीर ही स्वयं असुन्दर है। जिस प्रकार चित्रादि क्रिया से भींत को

---

१. देखें—'मृत्यु-महोत्सव' पुस्तक के श्लोक

२. 'अमूर्त्त चिन्तन' से भावांश ग्रहण, पृ. २३

३. देखें—'शान्तसुधारस' (उपाध्याय विनयविजय जी) में सांकेतिक कथाओं से, पृ. १५१

सुशोभित किया जाता है, उसी प्रकार आभूषणों से ही हमारे द्वारा इस शरीर को सुशोभित किया जाता है। इसका असली स्वरूप कुछ और ही है। वह मल-मूत्रादि अशुचि पदार्थों का भण्डार है। अनित्य है, विनश्वर है। जिस प्रकार ऊसर भूमि अपने पर पड़ी हुई जल-बिन्दुओं को क्षार बना देती है, उसी प्रकार विलेपन किये हुए कपूर, केसर, कस्तूरी, चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों को यह शरीर दूषित कर देता है। इस शरीर की कितनी ही रक्षा की जाए, यह एक दिन अवश्य ही नष्ट हो जाएगा। वे तपोधनी मुनीश्वर धन्य हैं, जो इस शरीर की अनित्यता को जानकर सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष फलदायक तप द्वारा स्वयमेव इसे कृश और जीर्ण कर डालते हैं। ऐसा करके वे आत्मा को अनन्त चतुष्टयरूपी आभूषणों से सुसज्जित कर लेते हैं। इस प्रकार तीव्र संवेगपूर्वक अनित्यभावना की अनुप्रेक्षा करते-करते भरत सम्राट् क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हो गए। चढ़ते परिणामों (आत्म-भावों) की प्रबलता से चार घातिकर्मों का क्षय करके उन्होंने केवलज्ञान-केवलदर्शन उपार्जित कर लिये और अन्त में समस्त कर्मों से रहित होकर वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा बन गए।[1]

निश्चयनय की दृष्टि से अनित्यानुप्रेक्षा का चिन्तन

'बारस अणुवेक्खा' में भरत चक्री की इसी अनित्यानुप्रेक्षा का समर्थन करते हुए कहा गया है—"शुद्ध निश्चयनय से (शुद्ध) आत्मा के स्वरूप का सदैव इस प्रकार चिन्तन (अनुप्रेक्षण) करना चाहिए कि यह देव, असुर, मनुष्य और राजा आदि के विकल्पों से रहित है, अर्थात् इसमें (अनित्य) देवादिक भेद नहीं हैं, यह ज्ञानस्वरूप मात्र है और शाश्वत (सदा स्थिर) है।" 'बृहद्द्रव्यसंग्रह टीका' के अनुसार—"..... धन, स्त्री आदि सब अनित्य हैं, इस प्रकार की अनित्यभावनायुक्त पुरुष के उक्त पदार्थों का वियोग होने पर भी झूठे भोजन की तरह उन पर ममत्व नहीं होता और उनमें ममत्व न होने से अविनाशी निज परमात्मा (शुद्ध आत्मा) को ही भेद और अभेद रत्नत्रय की भावना से भाता (अनुप्रेक्षण करता) है। वह जैसे अविनश्वर आत्मा को भाता है, वैसे ही अक्षय, अनन्त सुख स्वभाव वाली मुक्त आत्मा को प्राप्त कर लेता है। निश्चयदृष्टि से यही अध्रुवानुप्रेक्षा मानी गई है।"[2]

---

१. त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र, प्रथम पर्व, सर्ग ६

२. (क) परमट्ठेण दु आदा देवासुर-मणुवराय-विविहेहिं।
वदिरित्तो सो अप्पा सस्सदमिदि चिंतये णिज्जं॥ —*बारस अणुवेक्खा, श्लो. ७*

(ख) ..... तद्भावनासहित-पुरुषस्य तेषां वियोगेऽपि सत्युच्छिष्टेष्विव ममत्वं न भवति। तत्र ममत्वाभावादविनश्वर-निज-परमात्मानमेव भेदाभेद-रत्नत्रय-भावनाया भावयति। यादृशयविनश्वरमात्मानं भावयति तादृशमेवाक्षमानन्त-सुख-स्वभावं मुक्तात्मानं प्राप्नोति। इत्यध्रुवानुप्रेक्षामता। —*बृहद्द्रव्यसंग्रह टीका ३५/१०२*

कार्लाइल को अनित्यानुप्रेक्षा से शरीर और आत्मा के भेद का ज्ञान

'कार्लाइल' को अनित्यानुप्रेक्षण करते-करते अनित्य के साथ नित्य की झाँकी हो गई थी। अस्सी वर्ष की वय वाला कार्लाइल बाथरूम में तो अनेक बार गया था। किन्तु उस दिन स्नान करने के बाद जो घटना घटित हुई, वह पहले कदापि घटित नहीं हुई थी। स्नान करके ज्यों ही वह शरीर को तौलिये से पोंछने लगा, उसके अन्तर्मन में तीव्र चिन्तन (अनुप्रेक्षण) स्फुरित हुआ–"यह शरीर कितना बदल गया? जीर्ण हो गया ! किन्तु इसके भीतर जो जानने-देखने वाला है, वह जीर्ण नहीं हुआ। यह वैसा ही नित्य है।"[1] मन पर जमा हुआ भ्रम का मैल छूट गया।

(२) अशरणानुप्रेक्षा : क्यों, क्या और कैसे ?

सामान्यतया मनुष्य के जीवन में अनेक खतरे हैं। जन्म से लेकर मृत्यु तक उसके सामने अनेक उतार-चढ़ाव आते हैं, जिनमें हर मोड़ पर उसे दुःख, अशान्ति, वैमनस्य, संघर्ष, स्वार्थ, न्याय, सुरक्षा, अशिक्षा, रोग, बुढ़ापा आदि का सामना करना पड़ता है। इन तमाम संघर्षों का मुकाबला करके विजयी, सुखी और समृद्ध होने में अकेला सक्षम नहीं होता। अतः वह परिवार, समाज, राज्य, धर्मसंघ, सत्ताधीश या पदाधिकारी आदि अपने से अधिक समर्थ एवं सबल का सहारा ढूँढ़ता है। परिवार, समाज आदि में उसे व्यवहार में त्राण और शरण मिलती भी है, किन्तु कब तक? जब तक दोनों पक्षों का स्वार्थ जुड़ा रहता है। जहाँ स्वार्थ को धक्का लगा या व्यक्ति किसी दुःसाध्य रोग, कर्जदारी, विपदा या मरणासन्न संकट से पीड़ित हुआ कि प्रायः उसके लिए शरण या त्राण के द्वार बन्द हो जाते हैं।[2] वह अपने परिवार या समाज के किसी घटक या व्यक्ति के लिए इस प्रकार के पश्चात्ताप, खेद और क्षोभ से युक्त उद्गार निकालता है कि "मैंने इसको पालने-पोसने, इसकी प्रतिष्ठा बढ़ाने, सुरक्षा करने आदि में अपना खून-पसीना बहाया, कर्ज लेकर, अपने खर्च में कतरब्योंत करके इसको अपने पैरों पर खड़ा किया, आज जब मैं वृद्ध, अशक्त, रुग्ण, संकटग्रस्त, पीड़ित एवं अभावग्रस्त हो गया तो मुझे सहारा देने के बदले मेरे साथ परायेपन का व्यवहार कर रहा है, मुझे धक्का देकर बाहर निकाल दिया या संस्था से निष्कासित कर दिया !" वास्तव में देखा जाए तो मनुष्य बाहर से तो दूसरे के ऐसे व्यवहार के कारण दुःखी दिखाई

---

१. 'अमूर्त चिन्तन' से भावांश ग्रहण, पृ. २१

२. देखें–आचारांग-उक्ति–"जेहिं वा सद्धिं संवसति, ते वा णं एगया णियगा, तं पुव्विं परिहरति। सो वा ते णियगे पच्छा परिहरेज्जा।.... जेहिं वा.... पुव्विं परिवयंति, ... ते णियगे पृच्छा परिवएज्जा।.... पुव्विं पोसेंति.... पच्छा पोसेज्जा।"

–आचारांगसूत्र, श्रु. १, अ. २, उ. १, सू. १८४, १९७, १९४

देता है; किन्तु गहराई में उतरकर देखा जाए तो वह इस नियम को भूल जाने के कारण दुःखी होता है। जब व्यक्ति क्षणस्थायी शरण और त्राण को ही त्रैकालिक शरण और त्राण मान लेता है। यह व्यक्ति की मूढ़ता है कि जो स्वयं अन्त तक शरण और त्राण देने में समर्थ नहीं है, उन्हीं परिवार, समाज, राज्य, सत्ताधीश, धनिक आदि को त्रैकालिक शरणदाता और त्राणदाता मान लेता है; जो स्वयं सहायता और सुरक्षा के लिए दूसरों का मुँह ताकते हैं।[1] इसीलिए भगवान महावीर ने ऐसे व्यक्तियों को चेतावनी देते हुए अनुभव के स्वर में कहा–"हे पुरुष ! जिन्हें तुम अपना मानकर उनसे त्राण और शरण की अपेक्षा रखते हो, वे अपने माने हुए जन, तुम्हें त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं हैं और न तुम भी उन्हें त्राण और शरण देने में समर्थ हो।"[2] वास्तव में सचाई यह है जो 'बारस अणुवेक्खा' में स्पष्ट की गई है कि "जन्म, जरा, मृत्यु, रोग और भय आदि से आत्मा ही अपनी रक्षा कर सकता है, इसलिए कि (संवर-निर्जरारूप या रत्नत्रयरूप धर्म से युक्त) जो आत्मा कर्मों के बन्ध, उदय और सत्ता से पृथक् होती है, वह आत्मा ही इस संसार में शरण है।"[3] आशय यह है कि आत्मा ही अपना रक्षक और शरणदाता इसलिए है कि वह स्वयं ही कर्मों का निरोध और क्षय, क्षयोपशम करके जन्म-मरणादि के दुःखों से स्वयं को बचा सकता है।

अशरणानुप्रेक्षा से संवर और निर्जरा का लाभ

इसलिए दूसरों से त्राण और शरण की अपेक्षा बिलकुल न रखकर, अपने (आत्मा के) भीतर ही त्राण और शरण खोजना हितावह है। वस्तुतः त्राण या शरण अपने द्वारा सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप या संवर-निर्जरारूप धर्माचरण के पुरुषार्थ में ही निहित है, अन्यत्र नहीं। इस अशरणानुप्रेक्षा से भावित मनुष्य का आत्म-धर्म = स्व-धर्म में पुरुषार्थ प्रबल हो जाता है, उसके जीवन में अनेक बातों में परतंत्रता, परमुखापेक्षिता, पराश्रितता और पर-पदार्थासक्ति छूट जाती है; दूसरे के द्वारा प्रत्युपकार न करने पर, समय पर सहायता न देने पर या विश्वासघात अथवा कृतघ्नता का व्यवहार होने पर उसके मन में क्रोध, क्षोभ, अशान्ति,

---

१. (क) 'अमूर्त्त चिन्तन' से भावांश ग्रहण, पृ. २६

(ख) 'शान्तसुधारस' (सं. मुनि राजेन्द्रकुमार) से भाव ग्रहण, पृ. ८

२. नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा।
तुमं पि तेसिं नालं ताणाए वा सरणाए वा॥

–आचारांगसूत्र, श्रु. १, अ. २, उ. १; ४, सू. १८५, १९४, २५४

३. जाइ-जरा-मरण-रोग-भयदो रक्खेदि अप्पणो अप्पा।
जम्हा आदा सरणं बंधोदय सत्त कम्म वदिरित्तो॥ *–बारस अणुवेक्खा ११*

प्रतिक्रिया, अधैर्य, द्वेष या वैर-विरोध, जोकि अशुभ कर्मास्रव व कर्मबन्ध के कारण हैं, उत्पन्न नहीं होते, इन आस्रवों का निरोध हो जाने से सहज ही संवर का और स्व-कृत कर्मोदयवश दुःख, कष्ट आदि आने पर समभाव एवं धैर्य से सहन करने के करण सकाम निर्जरा का भी लाभ प्राप्त हो जाता है। अशरणानुप्रेक्षा से इतना बड़ा आध्यात्मिक लाभ कब और कैसे प्राप्त हो सकता है?

आत्मा के गुण ही जीव के लिए त्रैकालिक शरण हैं

इस विषय में 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में कहा गया है–"हे भव्य ! अपने (आत्मा के) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही शरण हैं। (वास्तविक या अन्तिम त्राण या शरण अपना ज्ञान, दर्शन, आचरण एवं व्यवहार ही होता है।) अतः परम श्रद्धा के साथ उन्हीं का सेवन = आराधन कर। संसार में (कर्मवश) परिभ्रमण करते हुए जीवों के लिए इनके (रत्नत्रयरूप धर्म के) सिवाय अन्य कोई भी शरण नहीं है।" इसीलिए 'मोक्षपाहुड' में कहा गया है–"मेरी आत्मा ही शरण है।"[१]

इसी तथ्य के समर्थन में 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में कहा गया है–"जो (स्वकीय) आत्मा क्षमा आदि दशविध धर्म से परिणत होती है, वही आत्मा शरणरूप बनती है। इसके विपरीत जो आत्मा (दूसरों से शरण की अपेक्षा रखने से, न मिलने पर) तीव्र कषायाविष्ट हो जाती है, वह आत्मा (शरणरूप नहीं) स्वयं का ही हनन करती है।" इसीलिए भगवान महावीर ने कहा–अशरण को शरण और शरण को अशरण मानने वाला व्यक्ति भटक जाता है। अतः स्वयं की शरण में आना ही अशरणानुप्रेक्षा का मुख्य उद्देश्य है।[२]

जन्म-जरा-मृत्यु-व्याधि आदि दुःखों से कौन बचा सकता है ?

इस जगत् में कोई सबसे बड़ा भय है तो वह है–मृत्यु का भय। इसी प्रकार के अन्य दुःख भी हैं–बुढ़ापा, जन्म, व्याधि, विपत्ति आदि। इस सब संकटों से रक्षा के लिए मनुष्य अपने शरीर को समर्थ और बलवान बनाता है। माता, पिता, पुत्र,

---

१. (क) दंसण-णाण-चरित्तं, सरणं सेवेहि परमसद्धाए।
अण्णं किं पि ण सरणं, संसारे संसरंताणं।। *–कार्तिकेयानुप्रेक्षा ३०*
(ख) आदा हु मे सरणं। *–मोक्खपाहुड १०५*

२. (क) अप्पाणं पि य सरणं खमादिभावेहिं परिणदं होदि।
तिव्वकसायाविट्ठो अप्पाणं हणदि अप्पेण।। *–कार्तिकेयानुप्रेक्षा ३१*
(ख) असरणं सरणं मन्नमाणे बाले लुंपइ। *–आचारांग, श्रु. १, अ. २*
(ग) एत्थ वि बाले परिपच्चमाणे रमति पावेहिं कम्मेहिं, असरणे सरणंति मन्नमाणे।
–वही, श्रु. १, अ. ५, उ. १, सू. ४९६

भाई, स्त्री आदि स्वजनों तथा मित्रों से इन सब आफतों के समय सहायता की अपेक्षा करता है। सुखपूर्वक अपना और अपने माने हुए परिवार का जीवन व्यतीत हो, इसलिए दुःख सहकर भी धन, मकान, जमीन-जायदाद तथा अन्यान्य सुख के साधन जुटाता है। परन्तु क्या वह धन और साधन बीमारी, आतंक या मृत्यु की घड़ी आ पहुँचने पर उसकी सुरक्षा कर सकते हैं? उसे शरण और त्राण दे सकते हैं? पारिवारिक जन या स्नेही जन व्याधि के समय उसे डॉक्टर, वैद्य चिकित्सा या उपचार के साधन सुलभ कराने में निमित्त बन सकते हैं। उसे आश्वासन दे सकते हैं। यदि उसके अशुभ कर्म का उदय हो तो कितने ही डॉक्टर, दवाइयाँ या धन-सम्पत्ति, स्वजन रहें, उसकी सुरक्षा नहीं कर सकते, उसकी बीमारी नहीं मिटा सकते।

आत्मा के सिवाय कोई भी शरण या त्राण नहीं दे सकता

संसार में लोग हरि, हर और ब्रह्मा आदि को शरण रूप मानते हैं, किन्तु उनकी शरण लेने से क्या अपनी रक्षा हो सकती है? 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में कहा गया है—सुरेन्द्र, हरि, हर, ब्रह्मा आदि को जिस संसार में आयुष्य-क्षय होने पर काल-कवलित होते देखा गया है देवेन्द्र यदि अपनी रक्षा करने में, स्वयं को च्युत (मृत) होने से रोकने में समर्थ होता तो सर्वोत्तम भोगों से युक्त स्वर्ग निवास क्यों छोड़ता? अतः इस संसार में कौन शरणदाता हो सकता है? जंगल में सिंह के पैरों से दबोचे हुए हिरण की कौन रक्षा कर सकता है? इसी प्रकार इस संसार में काल के द्वारा गृहीत जीव की कौन रक्षा कर सकता है? मृत्यु जब आती है, तब कोई भी देवी-देव, मंत्र, तंत्र, यंत्र, क्षेत्रपाल या कोई भी शक्तिमान बलिष्ठ व्यक्ति या औषध-उपचार, जिन्हें व्यक्ति रक्षक मानता है, रक्षा नहीं कर सकते। यदि इस प्रकार से ये सब रक्षाकर्त्ता हो जाएँ तो संसार में सभी मनुष्य अजर-अमर-अक्षय हो जाएँ, कोई मरे ही नहीं ! इस संसार में जिन्हें अतिबलिष्ठ और अतिरौद्र समझा जाता है, जो कोट, किला, शस्त्र-अस्त्र, सैन्य, अंगरक्षक आदि अनेक रक्षणोपाय करते हैं, वे भी मृत्यु से बच नहीं पाते। मृत्यु के आगे सभी उपाय विफल हो जाते हैं। वे स्वयं अशरण हैं तो किसको शरण दे सकते हैं? जब मृत्यु सिर पर मँडराती है, तब छह-छह खण्ड पर शासन करने वाले राजा, महाराजा, चक्रवर्ती तथा बड़े से बड़े सत्ताधीश या अधिकारी शरण-परित्राण पाने हेतु कातरदृष्टि से चारों ओर झाँकते हैं, दूसरों से सहायता की अपेक्षा रखते हैं। पर उस समय उन्हें शरण और परित्राण देने वाला या उनके पूर्वोक्त दुःखों को बँटाने वाला कोई नहीं होता। इस प्रकार प्रत्यक्षरूप से अशरणता को जानते-देखते हुए भी मूढ़ मानव तीव्र मिथ्यात्वभाव के वशीभूत होकर ग्रह, भूत, पिशाच, योगिनी, यक्ष आदि की शरण

लेता है, उनसे रक्षा की कल्पना करता है। रोग या आतंक आ घेरता है, तब वह धन, साधन और परिवार को अपना त्राण और शरणदाता मानता है, परन्तु सिवाय आत्मा के या आत्म-धर्म (ज्ञानादि रत्नत्रयरूप) के कोई भी किसी को शरण और त्राण देने में समर्थ नहीं होते।[1] अगर कोई भी किसी को शरण एवं त्राण देने में समर्थ होता तो अनाथी मुनि को चक्षु की परम वेदना से कोई भी क्यों नहीं मुक्त कर सका? कौशाम्बी नगरी के निवासी उनके पिता अपार धन-सम्पत्ति से समृद्ध थे, किन्तु दारुण चक्षुपीड़ा से उनके पिता, माता, बहन, पत्नी आदि कोई भी रक्षण न कर सके। अंग-अंग में भयंकर पीड़ा थी। जड़ी-बूटी, मूल, मंत्र, तंत्र, विद्या, विविध चिकित्सा आदि एक से एक बढ़कर उपाय किये गए। किन्तु कोई भी उन्हें उस दुःख से मुक्त न कर सके।[2]

अतः आँखों में उत्पन्न हुई बाह्य उपायों, साधनों या व्यक्तियों द्वारा शान्त होनी अशक्य, असह्य वेदना के समय अनाथी अशरणभावना का अनुप्रेक्षण (चिन्तन) करने लगे—माता-पिता, भाई-बहन, पत्नी आदि तथा धन-सम्पत्ति आदि समस्त सांसारिक साधन जब मेरी बाह्य (शारीरिक) वेदना को शान्त करने में समर्थ नहीं, तब मेरी आत्मिक वेदना को शान्त करने में कैसे समर्थ हो सकते हैं? इस दृष्टि से मेरी अनाथ (अशरण्य) बनी हुई आत्मा की अनाथता (अशरणता) दूर करने और उसे सनाथ बनाने के लिए मेरी ज्ञानादिस्वरूप शुद्ध आत्मा ही समर्थ है। इस प्रकार अशरणभावना की सघन अनुप्रेक्षा से संसारविरक्त होकर उन्होंने शान्त, दान्त,

---

१. (क) 'जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भा. ४' से भावांश ग्रहण, बोल ८१२, पृ. ३५८

(ख) तत्थ भवे किं सरणं, जत्थ सुरिंदाण दीसए विलओ।
हरि-हर-बंभादीया कालेण कवलिया जत्थ॥२३॥
अप्पाणं किं चवंतं जइ सक्कदि रक्खिदुं सुरिंदो वि।
तो किं छंडदि सग्गं, सव्वुत्तम-भोय-संजुत्तं॥२९॥
सिंहस्य कमे पडिदं सारंगं, जहण रक्खदे को वि।
तह मिच्चुणा य गहियं, जीवं पि ण रक्खदे को वि॥२४॥
जइ देवो विय रक्खइ, मंतो तंतोय खेत्तपालोय।
मियमाणं पि मणुस्सं, तो मणुया अक्खया होंति॥२५॥
अइबलियो वि रउद्दो मरणविहीणो ण दीसए को वि।
रक्खिज्जंतो विसया रक्खपयारेहिं विविहेहिं॥२६॥
एवं पेच्छंतो विहु गह-भूय-पिसाय-जोइणी-जक्खं।
सरणं मण्णइ मूढो सुगाढ-मिच्छत्त भावादो॥२७॥ —*कार्तिकेयानुप्रेक्षा* २३, २९, २४-२७

(ग) 'शान्तसुधारस, अशरणभावना, संकेतिका नं. २' से भाव ग्रहण, पृ. ८

२. 'जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भा. ४' से भावांश ग्रहण, पृ. ३५८-३५९

निरारम्भ, ज्ञानादिभय शुद्ध आत्मा की शरण में जाने का संकल्प किया। वे समस्त भोगों तथा सांसारिक वासनाओं, कामनाओं की अपेक्षा को त्यागकर संयमी बन गए।

अनाथी मुनि ने आत्मा की शरण कैसे स्वीकार की ?

मण्डिकुक्ष उद्यान में शान्त बैठे हुए मुनि (अनाथी) के तेजस्वी रूप एवं कान्ति को देखकर प्रभावित हुए मगध नरेश श्रेणिक ने उनसे तरुण वय में दीक्षा ग्रहण करने का कारण पूछा तो उन्होंने दो टूक उत्तर दिया–"राजन् ! मैं अनाथ था !" आश्चर्यान्वित होकर राजा श्रेणिक ने उनका नाथ बनने और उन्हें सब प्रकार की सुख-सुविधा देने की भावना प्रकट की। इस पर अनाथी मुनि ने कहा–"राजन ! आप स्वयं अनाथ हो ! आप स्वयं अनाथ होकर मेरे नाथ (शरणदाता) कैसे हो सकेंगे?" अन्त में निश्चय करके उन्होंने बताया कि जगत् का कोई भी आत्म-बाह्य पदार्थ शरण देने में समर्थ नहीं है। इसलिए मैंने आत्म-धर्म की शरण ली।"

आगे अनाथी मुनि ने अनाथता और सनाथता का विस्तार से रहस्य समझाया और स्पष्ट रूप से बताया कि संसार के अधिकांश जीव भ्रमवश किस-किस प्रकार से अनाथता (अशरणता) को जान-बूझकर ओढ़े हुए हैं?[१] इसीलिए 'धम्मपद' में कहा गया–"**अत्ता हि अत्तनो नाथो, कोहि नाथो परो सिया।**"–आत्मा ही आत्मा का नाथ है, स्वामी है, शरण्य है, दूसरा कौन नाथ हो सकता है? अनाथी मुनि ने जिस दिन मालिक (नाथ) को खोजा, उस दिन उन्होंने जाना कि नाथ तो भीतर विराजमान है। उस दिन से पर-पदार्थों और दूसरे व्यक्तियों से त्राण और शरण की अपेक्षा छोड़ दी। उन्होंने भगवान महावीर का यह शरणसूत्र भलीभाँति अपना लिया–"**धम्मं सरणं पवज्जामि।**" अर्थात् मैं आत्मा के शुद्ध धर्म = स्वभाव की शरण स्वीकार करता हूँ, ग्रहण करता हूँ। साथ ही उन्होंने आगम-निर्दिष्ट चार शरणों को आत्मा की स्व-रूप-रमणता के सन्दर्भ में इस प्रकार ग्रहण किया–आत्मा का शुद्ध स्वरूप है–अर्हत्, आत्मा का सिद्ध (सर्वकर्ममुक्त) स्वरूप है–सिद्ध, आत्मा का साधकस्वरूप है–साधु और आत्मा का चैतन्यमय–ज्ञानमय शुद्ध स्वभाव है–धर्म। ये चारों ही मेरे लिए शरणरूप हैं।[२]

---

१. (क) 'जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भा. ४' से भाव ग्रहण

(ख) देखें–उत्तराध्ययनसूत्र का २०वाँ महानिर्ग्रन्थीय अध्ययन

२. (क) धम्मपद

(ख) केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि। —*आवश्यकसूत्र*

धम्मं सरणं गच्छामि। —*बौद्धधर्मसूत्र*

(ग) चत्तारि सरणं पवज्जामि–अरिहंतं सरणं पवज्जामि, सिद्धं सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि। —*आवश्यकसूत्र में चतुःशरणसूत्र*

हम आत्मा की ही शरण ग्रहण कर रहे हैं, दूसरे की नहीं

इस प्रकार ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप अपनी आत्मा ही शरण है, अर्हत् या अरिहन्त, सिद्ध, साधु और धर्म; ये चारों आत्मा से भिन्न नहीं हैं। अतः अपने इस भ्रम को दिल-दिमाग से निकाल देना चाहिए कि हम किसी दूसरे की शरण ग्रहण कर रहे हैं। हम अपनी ही शरण में, अर्थात् अपने ही स्व-गुण, स्व-भाव, स्व-अस्तित्व और स्व-रूप की शरण में जा रहे हैं। ज्ञान, दर्शन, आनन्द (अव्याबाध आत्मिक सुख) और शक्ति (आत्मबल-वीर्य) इन चारों आत्मा के निजी गुणों की शरण ही आत्म-शरण है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र (वीतरागता) रूप धर्ममय ही अर्हत् हैं, इन तीनों की त्रिपुटी रूप ही सिद्ध हैं। इनकी साधना करने वाला आत्म-स्वरूप-रमणकर्त्ता साधु है और ज्ञान-दर्शन-चारित्र और तपरूप साधन पूर्वोक्त अनन्त-चतुष्टय की प्राप्ति के लिए साधन = आचरणरूप धर्म है, जो आत्म-शुद्धिसाधक संवर-निर्जरा का कारण है। यही तथ्य 'बृहद्द्रव्यसंग्रह' में व्यक्त किया गया है कि निश्चय रत्नत्रय से परिणत जो शुद्ध आत्म-द्रव्य (अर्हत्, सिद्ध-साधु की शुद्ध आत्मा) और उसके बहिरंग सहकारी कारणभूत पंच परमेष्ठियों की आराधना, ये दोनों ही शरण हैं। इनसे भिन्न देव आदि तथा मणि, मंत्र, तंत्र, औषध आदि सचेतन, अचेतन तथा चेतन-अचेतन मिश्रित कोई भी पदार्थ मरणादि (जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, आतंक आदि) के समय शरणभूत नहीं होते। 'सर्वार्थसिद्धि' के अनुसार—"भलीभाँति आचरित धर्म विपदाओं के समुद्र में तरने का उपाय होता है, संसाररूपी संकट में धर्म ही शरण है, मित्र है, धन है, अविनाशी है। अन्य कुछ भी शरण नहीं है। इस प्रकार बार-बार चिन्तन करना अशरणानुप्रेक्षा है।[1]

पिछले पृष्ठ का शेष—

(घ) 'अमूर्त चिन्तन' से भाव ग्रहण, पृ. २८

(ङ) संसारेऽस्मिन् जनि-मृति-जरा-तापतप्ता मनुष्याः।
सम्प्रेक्षन्ते शरणमनघं दुःखतो रक्षणार्थम्॥
नो तद्द्रव्यं न च नरपतिर्नापिचक्री सुरेन्द्रो।
किन्त्वेकोऽयं सकलसुखदो धर्म एवास्मि नान्यः॥

—भावनाशतक (शतावधानी पं. मुनि श्री रत्नचन्द्र जी म.)

१. (क) 'अमूर्त चिन्तन' से भावांश ग्रहण, पृ. २८

(ख) निश्चय-रत्नत्रय-परिणतं स्व-शुद्धात्म-द्रव्यं तद् बहिरंग-सहकारि-कारणभूतं पंच-परमेष्ठ्याराधनं च शरणम्। तद् बहिरंगभूता ये देवेन्द्र-चक्रवर्ति-सुभट-कोटिभट-पुत्रादिचेतनाः, गिरि-दुर्ग-भूविवर-मणि-मंत्राज्ञा-प्रासादौषधादयः पुनरचेतनास्तदुभयात्मका मिश्राश्च मरणकालादौ .... शरणं न भवतीति विज्ञेयम्। तद् विज्ञाय भोगाकांक्षारूप-निदान-बन्धादि-निरालम्बने, स्व-संवित्ति-समुत्पन्न-सुखामृतस्यालम्बने स्वशुद्धात्मन्येवाव-

अशरणानुप्रेक्षा के चिन्तन से आध्यात्मिक लाभ

इस प्रकार अशरणानुप्रेक्षा के चिन्तन से मनुष्य विपत्ति आने पर दूसरों की शरण नहीं ताकता, न ही दूसरों से सहायता, सुरक्षा की अपेक्षा रखता है, दूसरों से त्राण, शरण और सहायता न मिलने पर भी उसे दुःख नहीं होता। 'सर्वार्थसिद्धि' के अनुसार-"मैं (बाह्य सजीव-निर्जीव पदार्थों की शरण से निरपेक्ष) सदैव अशरण हूँ, इस प्रकार की अशरणता का विचार करने से पर-पदार्थों से विरक्ति हो जाती है, संसार के कारणभूत पदार्थों पर ममता नहीं रहती तथा वह वीतरागप्ररूपित धर्ममार्ग में ही प्रयत्नशील होता है। "आत्मा को ही उत्तम क्षमादि भावों से युक्त करके उसी की शरण ग्रहण करता है।" इस प्रकार कषायों के मन्द करने से, विपदाओं को समभाव से सहन करने से निर्जरा का लाभ प्राप्त कर लेता है। पूर्वोक्त चतुष्टयी (अरहन्त, सिद्ध, साधु और धर्म) की शरण में जाने वाला व्यक्ति भविष्य में समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है तथा वर्तमान में वह अपनी (आत्मिक) अर्हताओं का विकास कर लेता है, परमार्थ का अनुचिन्तन करके स्व-रूप में स्थित हो पाता है, पर-पदार्थों और विभावों से निर्लिप्तता और जागरूकता का पक्का अभ्यास कर लेता है तथा आत्म-स्वभावरूप धर्म को जीवन में आचरित कर लेता है। यह है अशरणानुप्रेक्षा की उपलब्धि।[१]

(३) संसारानुप्रेक्षा : स्वरूप और उपाय

संसार क्या है, कैसा है, क्यों है ?

अध्यात्म तत्त्ववेत्ताओं ने इस संसार को स्थूलदृष्टि से न देखकर अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से देखा और जिस प्रकार स्थूलदृष्टि-प्रधान व्यक्ति संसार को सुखमय,

---

पिछले पृष्ठ का शेष-

लम्बनं कृत्वा भावनां करोति। यादृशं शरणभूतमात्मानं भावयति तादृशमेव सर्वकाल-शरणभूतं शरणगत-वज्रपंजरसदृशं निज-शुद्धात्मानं प्राप्नोति। इत्यशरणानुप्रेक्षा।

-द्र. सं. टीका ३५/१०२

(ग) अस्ति चेत् सुचरितो व्यसन-महार्णवेतरणोपायो भवति। मृत्युना नीयमानस्य सहस्रनयनादयोऽपि न शरणम्। तस्माद्भव-व्यसन-संकटे धर्म एव शरणं सुहृदर्थोऽप्यनपायी, नान्यत् किंचिच्छरणमितिभावना अशरणानुप्रेक्षा।

-सर्वार्थसिद्धि ९/७/४१२

१. (क) एवंह्यध्यवसतो नित्यमशरणोऽस्मि, इतिभृशमुद्विग्नस्य (विरक्तस्य) सांसारिकेषु भावेषु ममत्व-विगमो भवति। भगवदर्हत्सर्वज्ञप्रणीत एव (धर्म.) मार्गे प्रयत्नो भवति।

-वही ९/७/४१४

(ख) अप्पाणं पि य सरणं खमादि-भावेहिं परिणदो होदि। *-कार्तिकेयानुप्रेक्षा ३१*

(ग) 'शान्तसुधारस, संकेतिका नं. २' से भाव ग्रहण, पृ. ९

आनन्दमय, आमोद-प्रमोद का कारण तथा परिवार आदि बन्धनों में आसक्तिरूप मानते हैं, उस प्रकार उन्होंने नहीं माना। संसार का लक्षण उन्होंने संक्षेप में यही किया है–"मिथ्यात्व और कषायों से युक्त जीव का जो अनेक शरीरों में संसरण = परिभ्रमण होता है, उसे संसार कहते हैं।" आशय यह है–कर्मविपाकवश आत्मा को एक भव से दूसरे भव की प्राप्ति होते रहना संसार है। मिथ्यात्व और कषाय से कर्मबन्धन होता है और जब तक कर्म हैं, तब तक संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है। 'बारस अणुवेक्खा' के अनुसार–यह जीव जिन-मार्ग (वीतरागता के सुपथ) की ओर ध्यान नहीं देता है, इस कारण जन्म, जरा, मृत्यु, रोग और भय से भरे हुए पाँच प्रकार के संसार में अनादिकाल से भटक रहा है। इस जीव को कर्मवशात् एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर की, दूसरे को छोड़कर तीसरे की प्राप्ति होती है, यों जब तक कर्म है, तब तक यों चिरकाल तक एक के बाद दूसरे शरीर की प्राप्ति होते रहना संसार है। शरीर की प्राप्ति शुभाशुभ कर्मों के अनुसार होती है, उन्हीं कर्मों के यंत्र से प्रेरित होकर नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव, इन चार गतियों, विविध योनियों तथा कुलकोटियों से व्याप्त इस संसार में जीव परिभ्रमण करता हुआ नाना प्रकार के दुःखों तथा वैषयिक क्षणिक सुखों को भोगता है। कर्मोदयवश कभी पिता, कभी भ्राता, कभी पुत्र, कभी पुत्री, कभी पत्नी, कभी दास, कभी वही स्वामी, इस प्रकार इस संसाररूपी नाट्यशाला में आकर जीव अपना-अपना पार्ट अदा करके चला जाता है।[1]

संसार की विचित्रता के स्वभाव का चिन्तन : संसारानुप्रेक्षा

इस संसाररूपी नाट्यशाला के गतिरूपी रंगमंचस्थली पर आकर जीव भाँति-भाँति के अभिनय करता है। जीवों की स्थिति, गति, मति, क्षमता आदि एक-सी नहीं रहती। इसलिए जितने अभिनय करने वाले होते हैं, उतने ही

---

१. (क) एक्कं चयदि सरीरं, अण्णं गिण्हेदि णवणवं जीवो।
पुणु पुणु अण्णं अण्णं गिण्हादे मुंचेदि बहुवारं॥३२॥
एवं जं संसरणं, णाणादेहेसु हवदि जीवस्स।
सो संसारो भण्णदि, मिच्छ-कसायेहिं जुत्तस्स॥३३॥ —*कार्तिकियानुप्रेक्षा ३२-३३*

(ख) पंचविहे संसारे, जाइ-जरा-मरण-रोग-भयपउरे।
जिणमग्गमपेच्छंतो जीवो परिभमदि चिरकालं॥ —*बारस अणुवेक्खा २४*

(ग) कर्मविपाकवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः। स पुरस्तात् पंचविधपरिवर्तनरूपेण व्याख्यातः। तस्मिन्ननेक-योनि-कुलकोटि-बहुशत-सहस्र-संकटे, संसारे परिभ्रमन् जीवः कर्मयंत्र-प्रेरितः पिताभूत्वा भ्राता, पुत्रः पौत्रश्चभवति।.... नट इव रंगे। अथवा किं बहुना, स्वयमात्मनः पुत्रो भवतीत्येवमादि संसार-स्वभाव-चिन्तनमनुप्रेक्षा। —*सर्वार्थसिद्धि ९/७/४१५*

अभिनेता होते हैं। अभिनयों और अभिनेताओं में समानता नहीं होती। सभी अपने-अपने कर्मसूत्रों से प्रेरित होकर अपना-अपना अभिनय प्रस्तुत करते हैं और आयुष्य क्षय होते ही दूसरी गति, योनि, शरीर आदि को प्राप्त करते हैं, वहाँ भी वे अपने-अपने कर्मानुसार अभिनय अदा करते हैं। इन सबको संचालित करने वाला बहुत ही विचित्र और विलक्षण सूत्रधार है—कर्म। वही संसारवर्ती सभी प्राणियों को अपने-अपने कर्मानुसार संसार के इस रंगमंच पर कठपुतली की तरह नचाता है। उसी के वशीभूत होकर मनुष्य कभी शुभ कर्मवश शुभ गति, मति, क्षमता, स्थिति आदि पाकर गौरवग्रन्थि से ग्रस्त एवं मंदोन्मत्त हो जाता है और कभी अशुभ कर्मवश अशुभ गति, शरीर, मति आदि पाकर हीनभावना से ग्रस्त हो जाता है। इस प्रकार मोहमद्य के नशे में मनुष्य एक ही जन्म में अनेक प्रकार की स्थितियों का अनुभव करता है, अनेक प्रकार के दुःखों में पड़ा हुआ भी मोहमूढ़ होकर सुखानुभव करता है।[1] रौद्र, भयानक, वीभत्स, शान्त आदि अनेक रसों में डूबता-उतराता रहता है। कभी स्वार्थ और अहंकार की टकराहट होती है तो कभी धन और सत्ता की लालसा होती है, कभी भय तो कभी प्रलोभन, कभी पीड़ा तो कभी वैषयिक सुखमग्नता, इस प्रकार की आँखमिचौनी का खेल संसार में होता रहता है। इस संसाररूपी नाटक का अभिनेता और अभिनय करने वाला तथा दर्शक स्वयं जीव ही है।

संसारानुप्रेक्षा का साधक अनुप्रेक्षा किस प्रकार करता है ?

इतनी विविधताओं, विचित्रताओं एवं उपाधियों से भरे इस आश्चर्यजनक संसार को अनुप्रेक्षक साधक परिवर्तनशील मानकर इस संसार में न तो मूढ़ व आसक्त होता है, न ही इससे घृणा-द्वेष करता है। इस प्रकार संसारानुप्रेक्षा करने वाले व्यक्ति के मन में मदान्धता (अहंकारिता) या हीनता की व्याधि नहीं पैदा होती। संसारानुप्रेक्षक यही सोचता है कि इस संसार में किसी भी व्यक्ति की सदा एक-सी स्थिति नहीं रहती। अनेक जन्मों की बात क्या, एक जन्म में भी व्यक्ति के सामने अनेक परिस्थितियाँ आती हैं, परन्तु उनमें वह सुख या दुःख का अनुभव (भोग) नहीं करता, वह उन्हें सिर्फ जानता है, देखता है और उनमें समभाव रखता है। मोहवश वह आत्म-भाव की स्थिति से विचलित नहीं होता।[2]

---

१. (क) 'शान्तसुधारस, संकेतिका नं. ३' से भाव ग्रहण, पृ. १३
(ख) 'अमूर्त चिन्तन' से भाव ग्रहण, पृ. ३०

२. (क) 'शान्तसुधारस, संकेतिका नं. ३' से भाव ग्रहण, पृ. १३
(ख) 'अमूर्त चिन्तन' से भाव ग्रहण, पृ. ३०-३१

पाँच प्रकार का संसार : संसारानुप्रेक्षा के लिए

संसारानुप्रेक्षा करने वाला व्यक्ति पाँच प्रकार से संसार के स्वरूप का तटस्थ रहकर बार-बार प्रेक्षण करता है। 'कार्तिकियानुप्रेक्षा' के अनुसार-संसार का संसरण (भ्रमण) पाँच प्रकार से होता है-(१) द्रव्य से, (२) क्षेत्र से, (३) काल से, (४) भव से, और (५) भाव से। द्रव्य से संसार है-शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शरूप पौद्गलिक द्रव्यों के (अनुकूल पर आसक्तिरूप) ग्रहण और (प्रतिकूल पर अरुचि या घृणारूप) त्याग के रूप में संसरण = परिभ्रमण। अथवा ज्ञानावरणीयादि कर्मवश समय-समय में अमुक कर्म-पुद्गलों का ग्रहण करना और अमुक का छोड़ना। क्षेत्र से संसार है-(मनोज्ञ क्षेत्र के) ग्रहण और (अमनोज्ञ क्षेत्र के) त्यागरूप संसरण अथवा अमुक आकाश प्रदेश के स्पर्शनरूप ग्रहण-अग्रहणरूप परिभ्रमण। लोकाकाश प्रदेशों में ऐसा कोई प्रदेश बाक़ी नहीं रहता, जहाँ संसार के सभी जीव अनेक बार या अनन्त बार जन्मे या मरे न हों। यह भी क्षेत्ररूप संसार है। काल से संसार है-अमुक काल में अच्छी और अमुक बुरी परिस्थिति, चित्रवृत्ति, संज्ञा, लेश्या आदि में संसरण करना अथवा संसार की प्रत्येक वस्तु तीनों काल से सम्बद्ध-उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप है अथवा प्रत्येक स्थिति में उत्पन्न-विनष्टरूप क्रम का नाम संसार है, जो परिभ्रमणशील है अथवा उत्सर्पिणी और अपसर्पिणी काल के प्रथम समय से लेकर अन्त तक संसारी जीव कर्मानुसार जन्मता-मरता है। यह क़ाल परिवर्तनरूप संसार है। वर्तमान भौतिकविज्ञानवेत्ता भी मानते हैं कि जगत् का कोई भी पदार्थ सर्वथा नष्ट नहीं होता। केवल उसमें परिवर्तन होता रहता है। प्रत्येक काल में जड़ और चेतनरूप इस संसार में परिवर्तन होता रहता है। संसारी आत्मा कर्मवश विजातीय (अजीव) तत्त्व से सर्वथा मुक्त नहीं हो पाता। वह चतुर्गतिक संसार में कर्मवश भ्रमण करता रहता है। भव से संसार का एक परिभ्रमणरूप लक्षण यही है। दूसरा रूप है-नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव। इन भवों में कर्मानुसार भविष्य में अमुक भव का ग्रहण और अमुक (पिछले) भव का त्यागरूप संसरण = परिभ्रमण। जीवों का भव भी बदलता रहता है, कभी वे मनुष्य होते हैं, कभी पशु, कभी देव और कभी नारक। जीव भी बदलते रहते हैं, कभी जन्म लेते हैं, कभी मरते हैं। कहीं पुत्र का जन्म होता है; कहीं पुत्र का या पिता का मरण होता है। इस प्रकार के जन्म-मरण का या परिवर्तन का नाम भवसंसार है। इसी प्रकार संसारी जीव नरकादि चार गतियों की जघन्य स्थिति से लेकर उत्कृष्ट स्थिति तक सर्व स्थितियों में ग्रैवेयक देवलोक पर्यन्त जन्मता-मरता है। यह भी भवसंसार है। भावसंसार है-कषायों तथा राग-द्वेषादि भावों के मन्द-मध्यम-उत्कृष्टतारूप परिवर्तन-परिभ्रमण होना। अथवा औदायिक भावों के कारण संसार में स्थित संज्ञी जीव के अनेक प्रकार के कर्मों के स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध के

कारणरूप नानाविध कषायभावों का परिवर्तन भी भावसंसार है। इस प्रकार पंचपरावर्तनरूप संसार में यह जीव अनादिकाल से मिथ्यात्व दोष के कारण नाना दुःख विधान संसार में परिभ्रमण करता है।[1]

संसारानुप्रेक्षा का फल : संवर, निर्जरा और मोक्ष

'द्रव्यसंग्रह टीका' के अनुसार–पूर्वोक्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पंचविध संसार का अनुप्रेक्षण = बार-बार चिन्तन करते हुए इस जीव के संसाररहित निजशुद्धात्मज्ञान का नाश करने वाले तथा संसारवृद्धि के कारणभूत मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग में परिणाम नहीं जाता। अपितु वह संसारातीत (आत्मिक) सुख के अनुभव में लीन होकर निजशुद्धात्मज्ञान के बल से संसार को नष्ट करने वाले निजनिरंजन परमात्मभाव से भावित होता है। फिर तदनुसार परमात्मपद (वीतरागभाव) को प्राप्त करके संसार से विलक्षण मोक्ष (कर्मों से सर्वथा मुक्तिरूप) में अनन्तकाल तक रहता है।

'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में कहा है–"संसारानुप्रेक्षक इस प्रकार संसार को जानकर और सम्यक् व्रताचरण, ध्यान आदि समस्त उपायों से मोह का त्यागकर अपने शुद्ध ज्ञानमय स्वरूप का ध्यान करे। जिससे पाँच प्रकार के संसार परिभ्रमण का नाश होता है।" 'सर्वार्थसिद्धि' में संसारानुप्रेक्षा का फल बताते हुए कहा गया है–"इस (पूर्वोक्त) प्रकार से चिन्तन करने वाला अनुप्रेक्षक संसार के (नाना गतियों और

---

१. (क) संसारो पंचविहो दव्वे खेत्ते तहेव काले य।
भवभमणो य चउत्थो, पंचमओ भावसंसारो॥६६॥
बंधदि मुंचदि जीवो पडिसमयं कम्मपुग्गला विविहा।
णोकम्मपुग्गला विय, मिच्छत्त-कसाय-संजुत्तो॥६७॥
सो को विधात्थि देसो लोयायासस्स णिरवसेसस्स।
जत्थ ण सव्वो जीवो जादो मरिदो य बहुवारं॥६८॥
उपसप्पिणि-अवसप्पिणि-पढमसमयादि-चरमसमयं तं।
जीवो कम्मेण जम्मदि मरदिय सव्वेसु कालेसु॥६९॥
णरइयादि-गदीणं अवरट्ठिदिदो वरट्ठिदि जाव।
सव्वट्ठिदिसु वि जम्मदि जीवो गेवेज्ज-पज्जंतं॥७०॥
परिणमदि सण्णिजीवो विविहकसाएहिं दिट्ठि-णिमित्तेहिं।
अणुभाग-णिमित्ते हिंय वड्ढंतो भावसंसारे॥७१॥
एवं अणाइकालं पंचपयारे भमेइ संसारे।
णाणादुक्ख-णिहाणे जीवो मिच्छत्त-दोसेण॥७२॥ —कार्तिकेयानुप्रेक्षा ६६-७२

(ख) 'अमूर्त्त चिन्तन' से भाव ग्रहण, पृ. ३०

योनियों में होने वाले) दुःख के भय से उद्विग्न होता है और फिर उसे संसार से निर्वेद (वैराग्य) होता है और निर्विण्ण (विरक्त) होकर संसार को नष्ट करने का पुरुषार्थ करता है।''[1]

संसार को दुःखनिधान भयंकर अरण्य मानकर चिन्तन

अध्यात्ममनीषियों ने संसार को अतीव भयंकर, सघन एवं भटकाने वाला महारण्य बताया है। कर्मोदयवश संसारी प्राणी जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, शोक एवं भय से संतप्त होकर इस भवारण्य में भटकता है। मन-वचन-काया सम्बन्धी अनेक चिन्ताओं से तथा क्रोधाधि कषायों से ग्रस्त होकर पद-पद पर विपत्तियों को झेलता है। इस संसार की मृगतृष्णा में लुभाकर जीव दुःखी होता है। यहाँ सुख भी दुःखमूलक है, फिर भी वह सुख को खोजता है। संसारानुप्रेक्षक साधक इस प्रकार का अनुप्रेक्षण करता हुआ, अनुभवात्मक संसारविरक्तिरूप चिन्तन करता है कि न मालूम कब से और किन कारणों से इस संसार में परिभ्रमण कर रहा हूँ? मैं अपने अज्ञानवश प्रत्येक गति और योनि में परिभ्रमण कर चुका हूँ। क्या मैं आगे भी इसी प्रकार जन्म-मरणरूप संसार में परिभ्रमण करता रहूँगा? वह उन-उन गतियों में जीव को प्राप्त होने वाले दुःखों का चिन्तन करके भवभ्रमण के बन्धन के कारणभूत राग-द्वेष को छोड़ना चाहता है। दुर्लभ मनुष्य-जन्म में ही वह इस संसार-भ्रमण के कारणरूप कर्मबन्ध को तथा कर्मास्रव को क्षीण और निरुद्ध करने का पुरुषार्थ करता है। इस प्रकार संसारानुप्रेक्षा से संवर और निर्जरा का उपार्जन कर लेता है।[2]

संसारानुप्रेक्षा से थावच्चापुत्र ने महाश्रमण बनकर मोक्ष प्राप्त किया

थावच्चापुत्र अभी अबोध बालक था। एक दिन पड़ौस में सुरीले कंठों से मनभावन मधुर गीत गाये जा रहे थे। थावच्चापुत्र ने माँ से पूछा-''माँ ! आज ये

---

१. (क) एवं पूर्वोक्तप्रकारेण द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भावरूपं पंचप्रकारं संसारं भावयतोऽस्य जीवस्य संसारातीत-स्व-शुद्धात्मसंवित्ति-नाशकेषु संसार-वृद्धि-कारणेषु मिथ्यात्वाविरति-प्रमाद-कषाय-योगेषु परिणामो न जायते। किन्तु संसारातीत-सुखास्वादे रतो भूत्वा स्व-शुद्धात्म-संवित्ति-बलेन संसार-विनाशक-निज-निरंजन-परमात्मन्येव भावनां करोति। ततश्च यादृशमेव परमात्मानं भावयति तादृशमेव लब्ध्वा संसार-विलक्षणं मोक्षेऽनन्तकालं तिष्ठतीति। *-बृहद्द्रव्यसंग्रह, गा. ३५, पृ. ८४*

(ख) इय संसारं जाणिय मोहं सव्वायरेण चइऊण।
तं झायह ससहावं, संसरणं जेण णासेइ॥ *-का. अ. ७३*

(ग) एवं ह्यस्य भावयतः संसारदुःख-भयादुद्विग्नस्य ततो निर्वेदो भवति। निर्विण्णश्च संसारप्रहाणाय प्रयतते। *-स. सि. ९/७/४१५*

२. (क) 'शान्तसुधारस, संकेतिका नं. ३' से भाव ग्रहण, पृ. 93

(ख) 'अमूर्त्त चिन्तन' से भाव ग्रहण, पृ. 30

सुरीले गीत किसके यहाँ और क्यों गाये जा रहे हैं?" माँ ने उसे सहलाते हुए कहा–"बेटे ! आज पड़ौसी के यहाँ पुत्र-जन्म हुआ है। उसकी खुशी में ये मंगल गीत गाये जा रहे हैं।" कुछ समय बीता। मंगल मधुर गीतों के बदले कर्णकटु, करुण विलाप, हृदयद्रावक रुदन के स्वर गूँज उठे। कुमार के मन में इन कर्णकटु शब्दों से हलचल मच गई। दौड़ा-दौड़ा माँ के पास आकर पूछने लगा–"माँ, अब ये असुहावने गीत क्यों गाये जा रहे हैं? ये तो कानों को प्रिय नहीं लगते, जैसे पहले के गीत लगते थे।" पुत्र को वात्सल्यवश चूमते हुए माँ ने कहा–"वत्स ! ये गीत नहीं, रुदन के स्वर हैं। जिस पुत्र के जन्म की खुशी में सुरीले गीत गाये जा रहे थे, उसी पुत्र के वियोग के शोक में ये विलाप के गीत गाये जा रहे हैं।" थावच्चापुत्र बोला–"अभी जन्मा और अभी मर गया ! क्या माँ ! मैं भी एक दिन इसी तरह मरूँगा?" माँ ने कहा–"पुत्र ! यह तो अनिवार्य है। इसमें किसी का वश नहीं चलता। जिसका जन्म होता है, उसकी एक दिन देर-सबेर से मृत्यु भी होती है। जन्म और मरण, ये दो जीवननदी के शाश्वत तट हैं।"

पुत्र का मन मृत्यु के भय से उद्विग्न हो गया। उसने माँ से पूछा–"क्या यह जीवन जन्म, जरा, रोग और मरण से परिक्लान्त होकर यों ही चलता रहेगा? क्या इस संसार परम्परा का कोई अन्त नहीं है? कोई भी उससे वंचित नहीं हो सकता?" माँ ने कहा–"वत्स ! यों तो सर्वसाधारण के लिए एक ही नियम है और एक ही परम्परा है। इसमें अपवाद हैं तो भगवान अरिष्टनेमि अथवा उनकी शरण में जाकर जन्ममरणादिरूप संसार परम्परा का उच्छेद करने के लिए सत्पुरुषार्थ करने वाले साधक ! भगवान अरिष्टनेमि ने जन्म-मरण की परम्परा को विच्छिन्न कर दिया है, वे वीतराग, सर्वज्ञ महाश्रमण हैं। उनकी शरण ग्रहण कर कर्ममुक्ति के पथ में पुरुषार्थ करने वाला संसार परम्परा के चक्रव्यूह का भेदन कर सकता है और सिद्ध-बुद्ध-मुक्त अजर-अमर हो सकता है।"

माता के मुख से अमरत्व-प्राप्ति के अर्थात् संसार से मुक्ति के अमोघ उपाय को जानकर थावच्चापुत्र प्रबुद्ध और पुलकित हो उठा। वह परम महर्षि अरिष्टनेमि की शरण पाने को उत्कण्ठित हो गया। एक दिन वह स्वर्णिम अवसर आया, जब कुमार थावच्चापुत्र अर्हत् अरिष्टनेमि का प्रवचन सुनकर विरक्त हो गया। वह उनसे दीक्षित होकर तप, संयम, त्यागबल से अपनी आत्मा को भावित कर साधना के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गया, जहाँ जाने पर जन्म-जरा-रोग-मरणरूप संसार का सदा-सदा के लिए अन्त हो जाता है। यह थी–संसारानुप्रेक्षा से सिद्ध-बुद्ध और मुक्त होने की उपलब्धि।[1]

१. (क) 'शान्तसुधारस, परिशिष्ट ३' (हिन्दी अनुवादक–मुनि राजेन्द्रकुमार) से भाव ग्रहण, पृ. १०५
(ख) 'ज्ञाताधर्मकथासूत्र' से संक्षिप्त

(४) एकत्वानुप्रेक्षा : स्वरूप, उपाय और परिणाम

यह एकांगी सत्य है कि सामाजिक या सामूहिक जीवन जीने वाले व्यक्ति को अकेले रहने में आनन्द और रसानुभव नहीं होता। यह भी उतना ही सच है कि अनेक होने में प्रायः संघर्ष, टकराहट, वैर-विरोध, मनोमालिन्य, मतभेद या भय की वृत्ति होती है। किन्तु व्यक्ति इस तथ्य को न समझकर मोह और राग के पूर्व-संस्कारवश सर्वप्रथम शरीर से तथा अन्यान्य पर-पदार्थों से सम्बन्ध स्थापित करता है, फिर क्रमशः परिवार, समाज, राष्ट्र आदि के लोगों से सम्बन्ध जोड़ता है। ऐसे सम्बन्ध जोड़ने का अर्थ है–अहंकार और ममकार की सृष्टि की वृद्धि। फलतः राग-द्वेष, घृणा-आसक्ति आदि के कारण कर्मबन्ध होते रहते हैं, जिनके कटुफल भोगने पड़ते हैं।[1]

सहायक के परित्याग से एकत्वानुभूति का परिणाम

भगवान महावीर ने एकत्व की अनुभूति के लिए सहाय-प्रत्याख्यान और उसके सुखद परिणाम बताते हुए कहा है–"सहाय-प्रत्याख्यान से जीव एकीभाव को प्राप्त होता है। एकीभावभूत जीव एकत्वभावना से भावित जीव के कलह, कषाय, झंझट एवं तू-तू मैं-मैं बहुत ही अल्प हो जाते हैं। उसके जीवन में संवर और संयम की वृद्धि हो जाती है, वह साधक आत्म-समाधि को प्राप्त कर लेता है।"[2]

निश्चयदृष्टि से : एकत्वानुप्रेक्षा का चिन्तन कैसे करें ?

इसीलिए आत्म-हितैषी मनीषियों ने कहा–"मेरी आत्मा अकेली है, शाश्वत है, पवित्र (शुद्ध) है, ज्ञानस्वरूप है, इसके सिवाय सभी बाह्य पदार्थ उपाधिमात्र, कर्मोपाधिक हैं, वे आत्मा के अपने नहीं हैं।" 'बारस अणुवेक्खा' में कहा गया है–मैं अकेला हूँ, ममत्वरहित हूँ, शुद्ध हूँ और ज्ञान-दर्शन-स्वरूप हूँ। अतः शुद्ध एकत्व ही उपादेय है, इस प्रकार (एकत्वानुप्रेक्षा में) सदैव चिन्तन करना चाहिए।[3]

---

१. 'शान्तसुधारस, संकेतिका नं. ४' से भावांश ग्रहण, पृ. १८

२. (प्र.) सहाय-पच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?
(उ.) सहाय-पच्चक्खाणेणं एगीभावं जणयइ। एगीभावभूए वि य णं जीवे एगत्तं भावेमाणे अप्पसद्दे अप्पझंझे अप्पकलहे अप्पकसाए अप्पतुमंतुमे संजमबहुले संवरबहुले समाहिए यावि भवइ। *–उत्तराध्ययन, अ. २९, बोल ३९*

३. (क) एकः सदा शाश्वतिको ममाऽत्मा, विनिर्मलः साधिगम-स्वभावः।
बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ता, न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः॥
–परमात्म-द्वात्रिंशिका, श्लो. २६

(ख) एक्कोऽहं णिम्ममो सुद्धो, णाण-दंसण-लक्खणो।
सुद्धेयत्तमुपादेयमेव मेवं चिंतेइ सव्वदा॥ *–बारस अणुवेक्खा, गा. २०*

(ग) एगो मे सासओ अप्पा, णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा॥

'बृहद्द्रव्यसंग्रह टीका' के अनुसार--निश्चयदृष्टि से केवलज्ञान ही (आत्मा का एकमात्र) सहज या स्वाभाविक शरीर है, ... औदारिकादि शरीर नहीं। निजात्म-तत्त्व ही अकेला सदा शाश्वत एवं परम हितकारी है, पुत्रकलत्रादि नहीं! अपना शुद्ध आत्म-पदार्थ ही एकमात्र अविनश्वर व परम हितकर धन है, स्वर्णादिरूप धन नहीं। स्व-आत्मसुख ही यथार्थ में अकेला सुख है, आकुलता-व्याकुलता-उत्पादक इन्द्रिय-सुख नहीं। स्व-शुद्धात्मा ही (कर्ममुक्ति आदि की साधना में) मोक्ष-प्राप्ति में सहायक है। इस प्रकार एकत्वभावना का फल जानकर निरन्तर शुद्ध आत्मा में एकत्वानुप्रेक्षा करनी चाहिए।[1] 'आचारांगसूत्र' में भी इसी तथ्य का निर्देश करते हुए कहा गया है-"मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है, मैं भी किसी का नहीं हूँ। इस प्रकार प्राणी अपने आप में अकेलेपन का अनुभव करे।"[2] 'शान्तसुधारस' में कहा गया है-ज्ञान-दर्शन की तरंगों से तरंगित यह भगवान आत्मा अकेला है। शेष सब पदार्थ उपकल्पित हैं, अर्थात् उपाधिरूप में सम्बन्ध स्थापित किये हुए हैं। उनके प्रति होने वाला ममत्वभाव ही व्याकुलता पैदा करता है। जिस प्रकार मद्य से उन्मत्त मानव अपने स्वभाव को भूल जाता है और नाना प्रकार की चेष्टाएँ करता है, उसी प्रकार पर-पदार्थों के संयोग से मनुष्य इस संसार में गिरता है, लोटता है और जंभाई लेता है, यह तू देख। इस संसार में कौन-सी वस्तु अपनी है, इस वास्तविक सत्य का तू चिन्तन कर। जिस व्यक्ति के अन्तःकरण में ऐसी बुद्धि उत्पन्न हो जाती है, क्या उसके हृदय में पाप उत्पन्न हो सकता है?[3]

---

१. निश्चयेन ...... केवलज्ञानमेवैकं सहजशरीरम्। ...... न च सप्रधातुमयौदारिकशरीरम्। निजात्मतत्त्वमेवैकं सदा शाश्वतं परमहितकारी, न च पुत्रकलत्रादि। स्वशुद्धात्म-पदार्थ एकएवाविनश्वर-हितकारो परमोऽर्थः, न च सुवर्णाद्यर्थाः। .... स्वभावात्मसुखमेवैकं सुखं, न च कुलत्वोत्पादेन्द्रिय-सुखम्। ...... स्व-शुद्धात्मैक-सहायो भवति। ..... एवं एकत्वभावना-फलं ज्ञात्वा निरन्तरं निज-शुद्धात्मैकत्वभावनाकर्तव्या। इत्येकत्वानुप्रेक्षा।

-बृहद्द्रव्यसंग्रह टीका ४३/१०७

२. एगो अहमंसि, न मे अत्थि कोइ, नयाऽहमवि कस्सह। एवं से एगागिणमेव अप्पाणं समभिजाणिज्जा। *-आचारांगसूत्र, श्रु. १, अ. ८, उ. ६, सू. ७५६*

३. एक एव भगवानयमात्मा, ज्ञान-दर्शनतरंगसंगः।
सर्वमन्यदुपकल्पितमेतद्, व्याकुलीकरणमेव ममत्त्वम्॥१॥
स्व-स्वभावं मद्यमदितो, भुवि विलुप्य विचेष्टते।
दृश्यतां परभाव-घटनात् पतति लुण्ठति विजृम्भते॥४॥
विनयः चिन्तय वस्तुतत्त्वं, जगति निजम्हि कस्य किम्?
भवति मतिरिति यस्य हृदये, दुरितमुदयति तस्य किम्?

-शान्तसुधारस, एकत्वभावना १, ४, टी. ४/१

इसीलिए 'उपनिषद्' में कहा गया है–"तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनु पश्यतः ?"–जो एकत्व की दृष्टि से देखता है, उसे क्या मोह और क्या शोक होगा? आसक्ति द्वैत में पैदा होती है, अद्वैत में आसक्ति का विलय हो जाता है।

व्यवहार के धरातल पर सोचने वाले लोगों का कहना है–अकेलेपन की बात सर्वथा अव्यावहारिक और असामाजिक है। स्थूलदृष्टि से ऐसा सोचना कथंचित् ठीक है। परन्तु जिसको एकत्व की अनुभूति हृदयंगम नहीं होती, वह युवावस्था में परिवार के पालन-पोषण में संलग्न रहता है। परिवार से उसे प्यार, स्नेह, सहानुभूति और सहयोग मिलता है, सम्मान भी मिलता है। तब वह अनुभव ही नहीं करता कि मैं अकेला हूँ। किन्तु जब बुढ़ापा आता है, किसी दुःसाध्य व्याधि से वह घिर जाता है, तब उसे प्राप्त होने वाले सहयोग, आकर्षण, सम्मान और स्नेह के धागे टूट जाते हैं, तब उसे भान होता है कि मेरा कोई सहायक नहीं, मेरी उपेक्षा हो रही है, मैं निपट अकेला पड़ गया हूँ। यदि वह पहले ही परिवारादि से कर्त्तव्य-सम्बन्ध रखता हुआ अन्तर से स्वयं को अकेला समझता तो उसे किसी भी दुरवस्था में दुःख न होता, मोह के कारण कर्मबन्ध न होता।[1] इसे स्पष्टतः समझाने के लिए मनीषी कहते हैं–तू अकेला है। यह शरीर भी तेरा नहीं है, फिर ये स्वजन तेरे कैसे होंगे? 'कार्तिकियानुप्रेक्षा' में स्पष्ट कहा है–"जीव अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही गर्भ में देह धारण करता है,[2] वही बालक, युवक और वृद्ध होता है। एक ही जीव स्वकर्मों के कारण विभिन्न अवस्थाओं को धारण करता है। अकेला ही जीव रोगग्रस्त और शोकग्रस्त होता है। वही जीव स्वयं मानसिक दुःखों से संतप्त होता है, जीव अकेला ही मरता है और अकेला ही स्वकृत पापकर्मों के कारण नरक-तिर्यंच आदि के दुःखों को दीन बनकर सहता है। जीव अकेला ही पुण्य का संचय करता है, वही जीव अकेला ही सर्वकर्म क्षय करके मोक्ष प्राप्त करता है। इस जीव को अपने द्वारा किये हुए कर्मों का दुःखद फल भोगना पड़ता है। कुटुम्बी जन या अन्य जन उसके दुःख को देखकर लेशमात्र भी ग्रहण नहीं कर सकते।"[3] फिर यह सोचना कितना भ्रान्तिपूर्ण है कि मेरे बिना मेरे सम्बन्धियों का जीवन कैसे चलेगा?

---

१. 'अमूर्त चिन्तन' से भावांश ग्रहण

२. राजस्थानी दोहे से तुलना करें–
आप अकेलो अवतरे, मरैं अकेलो होय।
यों कबहूं इण जीवरा, साथी सगा न कोय॥

३. इक्को जीवो जायदि, इक्को गब्भम्मि गिण्हदे देहं।
इक्को बालजुवाणो, बुड्ढो जरागहिओ॥७४॥
इक्को रोइ सोइ इक्को, तप्पेइ माणसे दुक्खे।
इक्को मरदि वराओ, णरयदुहं सहदि इक्को वि॥७५॥

दो का संयोग दुःखकारक, एकाकी में कोई दुःख नहीं

'उपनिषदों' में एक सूक्त है-"**द्वितीयाद् वै भयं भवति।**"-जब दूसरा होता है तो भय उत्पन्न होता है। कार्य में बाधा आती है, स्वतंत्रता खण्डित हो जाती है, स्वार्थों की टकराहट, अहंत्व का संघर्ष होता है। इसीलिए नमिराजर्षि ने एकत्व की अनुप्रेक्षा की। उनको यह तथ्य हृदयंगम हो गया कि 'संयोग ही दुःख है।' क्योंकि संयोग आत्मा के स्वभाव नहीं, विभाव हैं। शरीर, वस्त्र, मकान, परिवार, रोग, शोक, क्रोधादि कषाय आदि सब संयोग हैं। दो में शब्द का संयोग होता है, अकेले (एक) में नहीं। नमिराजर्षि की रानियाँ उनके शरीर में उत्पन्न दाहज्वर के निवारणार्थ चंदन घिस रही थीं। चूड़ियों के शब्द कानों में चुभ रहे थे। नमिराजर्षि को यह शोर असह्य हो रहा था। इसलिए रानियाँ अपने हाथ में एक-एक चूड़ी रखकर चन्दन घिसने लगीं। अब शब्द बंद हो गया। नमिराजर्षि ने पूछा-"क्या चंदन घिसना बंद हो गया?" उत्तर मिला-"नहीं, घिसा जा रहा है।" "तब शब्द क्यों नहीं हो रहा है?" इस पर रानियों ने कहा-"अब हमारे हाथ में एक-एक चूड़ी है। एक चूड़ी कभी शब्द नहीं करती।" यह सुनते ही तत्काल वे प्रतिबुद्ध हो गए और अकेले ही साधना पथ पर चल पड़े।[१] अतः जब जन्म, मरण, संसार-परिभ्रमण, सुख-दुःख-भोग अकेले का होता है, तब आत्म-हित भी तो अकेले ही साधना है, इसमें भी दूसरों की ओर नहीं ताकना चाहिए।

क्या अकेला रहना व्यवहार्य होगा ?

प्रश्न होता है, साधना करने वाला या सामाजिक व्यक्ति अकेला रहता है, यह चिन्तन व्यवहार में कैसे उपयोगी हो सकता है? यदि सभी अकेले-अकेले रहने की सोच लें तो न तो परिवार चलेगा, न कोई समाज और न ही राष्ट्र। संगठन होने पर ही शक्ति पैदा होती है। अकेला चना भाड़ को नहीं फोड़ सकता। अनेक तन्तु मिलते हैं, तब वस्त्र बनता है। परिवार, समाज, धर्मसंघ या राष्ट्र की सारी शक्ति सामूहिक संगठन पर निर्भर है। ऐसी स्थिति में क्या अकेला रहना व्यवहार्य होगा?

पिछले पृष्ठ का शेष-

इक्को संचदि पुण्णं, इक्को भुंजेदि विविहसुरसोक्खं।
इक्को खवेदि कम्मं, इक्को विय पावए मोक्खं॥७६॥
सुयणो पिच्छंतो विहु, ण दुक्खलेसंपि सक्कदे गहिदुं।
एवं जाणंतो विहु, तो वि मयत्तं ण छंडेइ॥७७॥ ***-कार्तिकेयानुप्रेक्षा, एकत्वानुप्रेक्षा ७४-७७***

१. उत्तराध्ययनसूत्र, अ. १२ का प्राथमिक (आ. प्र. समिति, ब्यावर) से भाव ग्रहण

समूह में रहता हुआ भी अकेला रहे तो कैसे रहे ?

इस प्रश्न को भगवान महावीर ने दो दृष्टियों से समाहित किया है–निश्चयदृष्टि से और व्यवहारदृष्टि से। यदि एक ही दृष्टिकोण से देखें तो बात नहीं बनती। जीवनयात्रा, संयमयात्रा एवं जीवन-निर्वाह, पारस्परिक विकास में निमित्त-सापेक्षता, पारस्परिक मार्गदर्शन आदि की दृष्टि से व्यवहारमार्ग को छोड़कर आदमी जी नहीं सकता।[1] इसलिए वह संघ, समाज, परिवार, गण या राष्ट्र आदि घटकों के साथ जुड़कर रहे, किन्तु रहे आध्यात्मिक-नैतिक-धार्मिक विकास-सापेक्ष दृष्टि से। जहाँ भी समूह के साथ जुड़ने पर उसके सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र, आध्यात्मिक विकास एवं आत्म-धर्म में बाधा आती है, उसके व्रतों, नियमों को क्षति पहुँचती हो, वहाँ वह अप्रमत्त एवं सावधान होकर तुरंत एकत्व की अनुभूति का अवलम्बन ले। समूह के प्रति कर्त्तव्य-पालन में किसी प्रकार की शिथिलता न आने दे। अहंकार-ममकार, राग-द्वेष, मोह, आसक्ति-घृणा आदि द्वन्द्वों के समय वह एकत्वानुप्रेक्षानुसार चले। अतः निश्चयनय भी एक सचाई है। जहाँ कर्म-आस्रव और कर्मबन्ध का कारण उपस्थित हो, वहाँ वह अकेलेपन का अनुभव करे। अतः समुदाय में रहना भी अच्छा है और अकेले में रहना भी। संघ या समूह में रहता हुआ भी व्यक्ति द्रव्य और भाव से अकेलेपन का अनुभव कर सकता है। समूह में रहते हुए भी वह अपने अस्तित्व को नहीं खोता।

एकत्वानुप्रेक्षक कर्त्तव्य और दायित्व से भागे नहीं

परन्तु एकान्त एकत्व पल्ला पकड़कर चलने वाला व्यक्ति यह न सोचे कि समाज, राष्ट्र, धर्मसंघ या अमुक घटक के प्रति कोई कर्त्तव्य या दायित्व नहीं है। उसका चिन्तन ध्येयानुकूल यह होगा कि ऐसी परिस्थिति में मेरा क्या दायित्व है ? क्या कर्त्तव्य है ? मेरा धर्म क्या है ? यद्यपि भीड़ जिधर जा रही है, उधर वह आँखें मूँदकर नहीं चलेगा, अनुसरण की वृत्ति नहीं रखकर कभी-कभी प्रतिस्रोतगामी भी होगा। वह यह नहीं कहेगा–अमुक व्यक्ति या समाज क्या करता है, क्या नहीं ? इस दृष्टि से वह न तो भीड़ के प्रवाह में बहेगा, न ही गतानुगति होगा और न स्थिति-स्थापक। वह आत्म-स्वभावगत ध्येय के अनुरूप स्व-कर्त्तव्य का पालन करेगा। परन्तु रहेगा दोनों स्थितियों में अप्रमत्त।

---

१. (क) 'संयम कब ही मिले ?' (आ. भद्रगुप्तविजय जी) से भाव ग्रहण, पृ. ४८-४९

(ख) 'अमूर्त्त चिन्तन' से भाव ग्रहण, पृ. ३७, ३९

एकत्वानुप्रेक्षा का ठोस परिणाम

ऐसी एकत्वानुप्रेक्षा से उसमें भीड़ के साथ रहते हुए भी निर्भयता, वीरता और स्पष्ट दृष्टिपूर्वक एकाकी चलने की सुदृढ़ता होगी। वह व्यक्तिगत और समूहगत दोनों ही स्थितियों में आत्म-निर्भर, आत्मबली, स्व-सन्तुष्ट एवं समत्वयोगयुक्त होगा।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की यह उक्ति–"जोदि तोर डाक सुने, केउ ना आसे, तोवे तुमि एकला चलो रे।" उसके जीवन में चरितार्थ हो जाएगी। अतः बाहर से अनेक के बीच में रहता हुआ भी व्यक्ति को अन्तर से अकेले रहने का अभ्यास करना चाहिए। किसी भी व्यक्ति या वस्तु के साथ आसक्तिपूर्वक बँधना नहीं चाहिए। अन्तर से स्वयं पृथक् है, ऐसा मानकर प्रतिदिन एकत्वानुप्रेक्षा करके अपने आप से एकान्त में मिलना चाहिए। अनेक में रहते हुए एकत्व का चिन्तन सुदृढ़ करने पर मन की प्रसन्नता टिक सकती है। मैं अकेला हूँ (एगोऽहं) यह विचार भी, संसार में मेरा कोई नहीं है, ऐसी दीनतापूर्वक नहीं, अपितु वीरतापूर्वक करना है। अर्थात् अकेलेपन का विचार दुःख के संवेदन के साथ नहीं करना है, किन्तु ऐसा विचार करते हुए अन्तर में आनन्द का स्रोत उभरना चाहिए। ऐसा करने से शुद्ध आत्मा में रमण करने का अभ्यास सुदृढ़ होगा।

● ●

१३

आत्म-रमण में सहायिका : अनुप्रेक्षाएँ

(५) अन्यत्वानुप्रेक्षा : स्वरूप, उपाय और परिणाम

मैं कौन हूँ? क्या यह शरीर, इन्द्रियाँ, मन, अंगोपांग, माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री आदि मेरे हैं? इसी प्रकार क्या हाथी, घोड़े, महल, मकान, उद्यान तथा अन्य सुखभोग की सामग्री मेरी है? कर्मविज्ञान के महामनीषियों ने एक स्वर से प्रतिपादन किया कि अपनी ज्ञान-दर्शन-सुख-शक्तिमयी आत्मा के अतिरिक्त समस्त बाह्य (पर) पदार्थ हैं। ये सभी अपनी आत्मा से भिन्न हैं। इसी दृष्टि से उन्होंने कहा–"आत्माऽन्यः पुद्गलश्चान्यः।"–आत्मा अन्य है, शरीरादि पुद्गल अन्य है, पर-पदार्थ हैं, मैं इनसे भिन्न हूँ, क्योंकि इनके स्वरूप पर विचार करने से स्पष्टतः भिन्न प्रतीत होते हैं।[1]

शरीर और आत्मा दोनों भिन्न-भिन्न हैं

सर्वप्रथम शरीर और आत्मा को ही ले लीजिए। शरीर और आत्मा बिलकुल भिन्न हैं। शरीर विनश्वर है, आत्मा शाश्वत है। शरीर पौद्गलिक है, अचेतन, ज्ञानरहित है, जबकि आत्मा ज्ञानमय है, चेतन है। शरीर इन्द्रियों से दृष्टिगोचर होता है, आत्मा इन्द्रियग्राह्य नहीं, इन्द्रियातीत है। शरीर अनित्य है, मैं नित्य हूँ। शरीर सादि (आदि-अन्त वाला) है, आत्मा अनादि-अनन्त है। आत्मा के साथ शरीर का संयोग सम्बन्ध कर्मों के कारण हुआ है। 'परमात्म-द्वात्रिंशिका' के रचयिता आचार्य अमितगति ने कहा है–"जिसका अपने शरीर के साथ भी एकत्व नहीं है, भला उस आत्मा का अपने पुत्र, स्त्री, मित्र आदि के साथ एकत्व सम्बन्ध हो ही कैसे सकता है? यदि शरीर पर से चमड़ी उधेड़कर अलग कर दी जाए तो उसमें रोमकूप ठहर ही कैसे सकते हैं? बिना आधार के आधेय कैसे टिक सकता है?"

---

१. (क) 'जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भा. ४' में बारह भावना से भावांश ग्रहण, पृ. २६४

(ख) अण्णं देहं गिण्हदि जणणी अण्णा य होदि कम्मा दो।
अण्णं होति कलत्तं, अण्णो वि य जायदे पुत्तो॥ —कार्तिकेयानुप्रेक्षा ८०

(ग) सर्वार्थसिद्धि ९/७/४१५

इसलिए शरीर को और शरीर से ममत्ववश या कर्मोपाधिवश संयोग सम्बन्ध से सम्बन्धित सभी निर्जीव-सजीव पर-पदार्थों को अपना समझना भ्रान्ति है। अतः देह, बन्धुजन, सुवर्ण आदि पदार्थ और इन्द्रिय-सुख आदि कर्माधीन होने से विनश्वर हैं। निश्चयनय से निज शुद्ध आत्मा = परमात्मपद से अन्य है।[1]

शरीरादि का अभिमान समझने से हानि

मनुष्य का अपने शरीर के प्रति गाढ़ ममत्व होता है। उसका अधिकांश उसकी सुरक्षा करने, उसे पुष्ट करने, उसे सजाने-सँवारने में, उसे खिलाने-पिलाने आदि में लग जाता है। उसकी मूर्च्छा इतनी सघन है कि वह शरीर और आत्मा को एक समझकर मैं और मेरा मान बैठता है। शरीर से भिन्न तथा शरीर सम्बद्ध सजीव-निर्जीव पर-पदार्थों से भिन्न उसका अस्तित्व है, यह सोच ही नहीं पाता। जबकि 'बारस अणुवेक्खा' में कहा गया है–शरीरादि जो बाह्य द्रव्य हैं, वे सब आत्मा से पृथक् हैं। मेरी आत्मा ज्ञान-दर्शन-स्वरूप है, इस प्रकार अन्यत्वानुप्रेक्षा का चिन्तन करना चाहिए।[2]

शरीरादि को आत्म-बाह्य कैसे समझें ?

इसी तथ्य को उजागर करते हुए 'सर्वार्थसिद्धि' में कहा गया है–"संसार में परिभ्रमण करते हुए मेरे लाखों शरीर अतीत में हो गए हैं, उनसे भिन्न, वही मैं हूँ। इस प्रकार जब मैं शरीर से भी अन्य हूँ, तब मैं बाह्य पदार्थों से भी भिन्न होऊँ, इसमें क्या आश्चर्य है? इसलिए बन्ध की अपेक्षा शरीर के साथ एकत्व होने पर भी दोनों के लक्षण में अन्तर होने से मैं (आत्मा) अन्य हूँ।" फिर 'राजवार्तिक' के अनुसार–नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चारों की अपेक्षा से भी शरीर और आत्मा का अन्यत्व चार प्रकार से सिद्ध होता है। इसलिए शरीर से भिन्न जो है, वह मैं (आत्मा) हूँ। यह अन्यत्वानुप्रेक्षा का प्रधान सूत्र है।[3] इस प्रकार मन को

---

१. (क) 'जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भा. ४' से भावांश ग्रहण, पृ. ३६४

(ख) शरीरतः कर्तुमनन्तशक्तिं विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम्।
जिनेन्द्र ! कोषादिव खड्गयष्टिं, तव प्रसादेन ममाऽस्तु शक्तिः॥
यस्यास्ति नैक्यं वपुषाऽपि सार्धं, तस्याऽस्ति किं पुत्र-कलत्र-मित्रैः।
पृथक्कृते चर्माणि रोमकूपाः कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये॥ –परमात्म-द्वात्रिंशिका

(ग) बृहद्द्रव्यसंग्रह टीका ३५/१०८

२. (क) 'जीवन की पोथी' से भाव ग्रहण, पृ. १५३

(ख) अण्णं इमं सरीरादिगं पि जं होइ बाहिरं दव्वं।
णाणं दंसणमादा एवं चिंतेहि अण्णत्तं॥ –बारस अणुवेक्खा १३

३. (क) सर्वार्थसिद्धि ९/७/४१५

(ख) राजवार्तिक ९/७/५/६०१/२९ से भाव ग्रहण

समाधानयुक्त करने वाले के शरीरादि के प्रति स्पृहा उत्पन्न नहीं होती और इससे तत्त्वज्ञान की भावनापूर्वक वैराग्य की वृद्धि होने पर आत्यन्तिक मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है।

आत्मा को शरीरादि से भिन्न मानने पर भी शरीरादि के प्रति उपेक्षा नहीं

"मैं शरीर आदि पर-पदार्थ नहीं हूँ, ये शरीरादि भी मेरे नहीं हैं, इस प्रकार अहंत्व-ममत्व की ग्रन्थि जब खुल जाती है, तब अनादिकालीन भ्रम, मोह टूट जाता है। इस स्पष्ट बोध के साथ-साथ सारी विचारधाराओं में परिवर्तन आ जाता है। फिर शरीरादि के प्रति आसक्ति, स्पृहा एवं ममता तथा शरीर के लिए किये जाने वाले हिंसादि पापास्रव भी छूट जाते हैं।"

प्रश्न होता है—क्या शरीरादि मेरे नहीं हैं, इस प्रकार मानने वाला शरीर के प्रति उपेक्षक या उदासीन अथवा विरक्त नहीं हो जाएगा? फिर वह अपने परिवार, समाज, धर्मसंघ और राष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्यों और दायित्वों को कैसे निभा पाएगा?

नौका और नाविक है—शरीर और आत्मा : एक चिन्तन

इसका समाधान भगवान महावीर की दृष्टि में यह है कि शरीर नौका है, आत्मा (जीव) नाविक है। 'उपनिषद्' में भी इसी तथ्य को समझाया गया है—शरीर रथ है, आत्मा रथिक है। शरीर अश्व है, आत्मा अश्वारोही है। नाविक नौका की, अश्वारोही अश्व की अथवा रथिक रथ की उपेक्षा कैसे कर सकता है? नाविक के लिये अथाह जलधि को पार करने का एकमात्र साधन नौका है जो है ! शरीर और आत्मा को एक अभिन्न मानने वाले के द्वारा शरीर का संरक्षण-सँभाल रखने की अपेक्षा ज़ो शरीर और आत्मा को भिन्न मानता है, उसके द्वारा शरीर के संरक्षण और सँभाल करने के उद्देश्य, दृष्टि और धारणा में बहुत अन्तर है। जैसे—नाविक नौका को सुरक्षित रखता है, उसमें छिद्र होकर पानी न घुस जाए, इसकी चौकसी रखता है, किन्तु किनारे पहुँच जाने पर नौका को त्याग देता है, उससे मोहवश चिपटता नहीं, इसी प्रकार शरीर को नौका मानकर चलने वाला साधक आत्मा में शरीर और शरीर सम्बन्धित वस्तुओं को लेकर राग-द्वेष, कषायादि कर्मास्रवों का प्रवेश न हो जाए, इसकी बराबर चौकसी रखता है, शरीर को रत्नत्रयरूप धर्म-पालन का साधन मानता है, ज्यों ही शरीर पापकर्मों की ओर प्रवृत्त होने लगता है, त्यों ही वह उसे रोकता है, आत्मा की ओर उसकी बागडोर मोड़ देता है। इसके

विपरीत जो शरीर और आत्मा को अभिन्न मानता है, वह शरीर के प्रति मोह रखकर उसके पालन-पोषण के लिए नाना पापकर्म करता है। वह अपने स्वार्थ, तृष्णा और अहंकार-ममकार में डूबा रहता है। वह शरीर को वचन से नौका भले ही मानता हो, किन्तु उस नौका में आस्रवों के छिद्र हो जाने पर भी वह गाफिल रहता है और जलधि पार हो जाने के उपाय जानता हुआ भी नौका के तट के निकट लग जाने पर भी उससे मोहवश चिपटा रहता है, छोड़ता नहीं।[1]

शरीर और आत्मा को भिन्न और अभिन्न मानने की दृष्टि

शरीर और आत्मा के भिन्न मानने वाला साधक शरीररूपी नौका को केवल साधन मानता है, प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर उसे छोड़ देता है। इस प्रकार अन्यत्वानुप्रेक्षक साधक भेदविज्ञान को जीवन में आचरित कर लेता है, तब शरीर और शरीरसम्बद्ध वस्तुओं के प्रति रोग, दुःख, विपत्ति, परीषह, उपसर्ग आदि के समय अनित्यानुप्रेक्षा के द्वारा यह चिन्तन करता है–"वह दुःख, कष्ट या पीड़ा किसको हो रही है?" शरीर को या आत्मा को? आत्मा को कोई दुःख, कष्ट या पीड़ा नहीं होती। अगर व्यक्ति इस प्रकार का चिन्तन करे, जहाँ दर्द है, उसी पर अपना शुभ ध्यान केन्द्रित करे तो अभ्यास करते-करते उस दर्द या कष्ट का भान ही नष्ट हो जाता है। यह सत्य है कि जब मनुष्य दर्द या कष्ट को शरीर के साथ अभिन्नता की मान्यता के आधार पर जोड़ देता है कि यह दर्द मुझे हो रहा है, तभी दर्द या कष्ट अधिकाधिक बढ़ता जाता है। परन्तु जब भेदविज्ञान या अन्यत्व का ज्ञान स्पष्ट हो जाता है, वह द्रष्टा की भाँति केवल देखता है कि शरीर में कुछ हो रहा है, साथ ही वह यह भी भेदविज्ञान कर लेता है–यह रहा कष्ट और यह रहा मैं। वह सिर्फ द्रष्टा रहता, संवेदक नहीं बनता।[2] श्वे. खरतरगच्छीय साध्वी प्रमुखा श्री विचक्षणाश्री कैंसर रोग की भयंकर पीड़ा से ग्रस्त थी, परन्तु उनके चेहरे पर आनन्द की ऊर्मियाँ लहराती रही थीं। वे यह भेदविज्ञान की दृष्टि से उत्तर देतीं–पीड़ा शरीर को है, मुझे नहीं। मैं तो परम आनन्द में हूँ कि यह पीड़ा न आती तो मैं अपने पूर्वबद्ध अशुभ कर्मों को समभाव से भोगकर कैसे काट पाती? मेरे लिये कर्मक्षय (निर्जरा) का यह शुभ अवसर है।"[3]

---

१. (क) 'अमूर्त चिन्तन' से भाव ग्रहण, पृ. ४९

(ख) सरीरमाहु नावत्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो॥ –उत्तराध्ययन २३/७३

२. 'अमूर्त चिन्तन' से भावांश ग्रहण, पृ. ४५

३. तीर्थंकर (मासिक) विचक्षणश्री–विशेषांक से संक्षिप्त

अन्यत्वानुप्रेक्षा से संवर और निर्जरा का लाभ

इस प्रकार की अन्यत्वानुप्रेक्षा से नये आने वाले कर्मों को निरोधरूप संवर हो जाता है और कष्ट को समभाव से भोग लेने पर कर्म-निर्जरा भी होती है।

अन्यत्वानुप्रेक्षा के लिये जागृति और सावधानी की प्रेरणा

अन्यत्वानुप्रेक्षा का जागरण एक प्रकार से चैतन्य (आत्मा) का जागरण है। आत्मा जब जाग्रत हो जाती है तो अपने अहंकार विजातीय (परभावीय-विभावीय) तत्त्वों को घुसने नहीं देती। 'शान्तसुधारस' में इस अनुप्रेक्षा के साधक को सावधान करते हुए कहा गया है—अपने घर में (अपनी लापरवाही से) घुसा हुआ दूसरा व्यक्ति विनाश करता है, यह लोकोक्ति मिथ्या नहीं है, इसी प्रकार, ज्ञानमय आत्मा में (पर-पदार्थों = विभावों के कारण) घुसे हुए कर्म-परमाणुओं के पुद्गल क्या-क्या कष्ट देकर विनष्ट नहीं करते? इन पर-पदार्थों को अपना मान लेने पर इस संसार चक्र में क्या तूने भयंकर कष्टों की प्रताड़नाएँ नहीं सहीं? नरक और तिर्यञ्चयोनि में तू (इन्हीं कर्मों के कारण) बार-बार मारा-पीटा गया, छिन्न-भिन्न किया गया है। खेद है कि पर-पदार्थों के प्रति ममत्व के कारण तेरे अन्तर में घुसकर उन्होंने (धन, परिवार आदि ने) जो दुश्चेष्टाएँ करके तुझे हैरान किया है, उन्हें भूलकर तू उन्हीं में पुनः अनुरक्त हो रहा है, भ्रष्ट बन रहा है।[1]

स्वजन भी स्व-जन नहीं, ममत्व के कारण दुःखभाजन

इसलिए जिनको तू स्वजन समझता है, वे भी तेरे स्वजन नहीं हैं। स्वजन मानकर उनसे संयोग करने से तुझे कितना दुःख उठाना पड़ता है। उनके लिए तू आरम्भ-परिग्रह में आसक्त होकर उनको सुखी करने का प्रयत्न करता है, परन्तु अगर उनके पापकर्म का उदय हो तो तू उन्हें कब सुखी कर सकता है? वे भी स्वार्थी और विश्वासघाती होकर तुझे दुःख के गर्त्त में डाल सकते हैं। अतः जितने भी पर-पदार्थ हैं, उन्हें अपनी आत्मा से भिन्न चिन्तन करना ही कर्मों का आस्रव और बन्ध से छूटना है। जो जीव अपने स्वरूप से शरीर को परमार्थतः भिन्न

---

१. परः प्रविष्टः कुरुते विनाशं, लोकोक्तिरेषा, न मृषेति मन्ये।
निर्विश्य कर्माणुभिरस्य, किं किं ज्ञानात्मनो नो समपादि कष्टम्॥१॥
दुष्टाः कष्ट-कदर्थनाः कति न ताः सोढास्त्वया संसृतौ,
तिर्यग्नारक-योनिषु प्रतिहतश्छिन्नो विभिन्नो मुहुः।
सर्वं तत्परकीय-दुर्विलसितं, विस्मृत्य तेष्वेव हा !
रज्यन् मुह्यसि मूढ ! तानुपचरन्नात्मन् न किं लज्जसे ?॥४॥

—शान्तसुधारस, अन्यत्वभावना १, ४

जानकर आत्म-स्वरूप का ध्यान (सेवन) करता है, उसी की अन्यत्वानुप्रेक्षा कृतकार्य होती है।[1]

आत्म-बाह्य कोई भी पर-पदार्थ मेरा नहीं; अन्यत्वचिन्तन है

'मोक्षमाला' में भी इस भावना का सक्रिय रूप बताते हुए कहा है–"यह शरीर मेरा नहीं; यह रूप, यह कान्ति, यह स्त्री मेरी नहीं; ये पुत्र, भाई, दास, स्नेही और सम्बन्धी मेरे नहीं हैं। यह गोत्र, जाति, लक्ष्मी, महालय, यौवन, भूमि मेरी नहीं है। यह मोह सिर्फ अज्ञानता का है। इसलिए हे जीव ! सिद्धगति प्राप्त करने हेतु अन्यत्व की बोधदात्री अन्यत्वभावना का विचार कर।"[2]

मृगापुत्र ने अन्यत्वभावना से आत्मा को भावित कर लिया था

पूर्व-जन्म के संस्कारों के कारण मृगापुत्र जब साधु जीवन अंगीकार करने को तत्पर हुआ तो उसके माता-पिता ने उससे मोह और ममत्व भरी बातें कहकर साधुत्व अंगीकार करने से रोकना चाहा, तब मृगापुत्र उन्हें अन्यत्वानुप्रेक्षा से अनुप्राणित होकर कहता है–"कौन किसका सगा-सम्बन्धी और रिश्तेदार है? ये सभी संयोग निश्चित ही वियोगरूप और क्षणभंगुर हैं। ये सब क्षेत्र, घर, सुवर्ण, पुत्र, स्त्री, माता-पिता, भाई-बांधव, यहाँ तक कि शरीर भी अपना नहीं है। आगे या पीछे कभी न कभी इन सबको छोड़कर अवश्य जाना ही पड़ेगा। कामभोग किंपाकफल के सदृश त्याज्य हैं। यदि जीव इन्हें नहीं छोड़ता है तो ये कामभोग स्वयं इन्हें छोड़ देंगे। जब छोड़ना ही है तो इन्हें स्वेच्छापूर्वक क्यों न छोड़ दिया जाए।"

इस प्रकार माता-पिता के प्रश्नों का उत्तर मृगापुत्र ने अन्यत्वानुप्रेक्षा की दृष्टि से दिया। अन्त में वे स्वयं माता-पिता की आज्ञा प्राप्त कर प्रव्रजित हो गए और संयम-साधना करके मोक्ष गए।[3]

---

१. (क) 'संयम कंब ही मिले?' (आ. भद्रगुप्तविजय जी) में अन्यत्वभावना से भाव ग्रहण

(ख) जो जाणिऊण देहं जीवसरूपादु तच्चदो भिण्णं।
अप्पाणं पि य सेवादि, कज्जकरं तस्स अण्णत्तं॥ *–कार्तिकेयानुप्रेक्षा ८२*

२. ना मारां तन रूप कांति युवती, ना पुत्र के भ्रात ना।
ना मारां भृत्य स्नेहीओ स्वजन के, ना गोत्र के ज्ञातना॥
ना मारां धन-धाम यौवन धरा, ए मोह अज्ञानना।
रे रे ! जीव विचार एमज सदा, अन्यत्वभावना॥ *–मोक्षमाला, पृ. २५*

३. देखें–उत्तराध्ययनसूत्र का १९वाँ मृगापुत्रीय अध्ययन

अन्यत्वानुप्रेक्षक के आध्यात्मिक व्यक्तित्व में भौतिक व्यक्तित्व से अन्तर

अतः अन्यत्वानुप्रेक्षक साधक आवश्यकतानुसार पदार्थों का उपभोग करता है, खाएगा, पीएगा, मकान में रहेगा, वस्त्र पहनेगा, परन्तु वह उपभोग्य वस्तुओं के साथ मैं और मेरेपन (ममत्व-अहंत्व) को नहीं जोड़ेगा। जबकि भौतिक चेतना वाला व्यक्ति भोजन, वस्त्र, मकान आदि पर आसक्ति व ममता करता हुआ उपभोग करेगा। यही आध्यात्मिक और भौतिक व्यक्तित्व में अन्तर है। इस प्रकार अन्यत्वानुप्रेक्षा के द्वारा सहज ही अशुभ योग-संवर हो जाता है।

शरीर को अन्य समझने पर निर्जरा लाभ

इसी प्रकार अन्यत्वानुप्रेक्षा से जब मैं अन्य हूँ, शरीर अन्य है, इस प्रकार मैं रोगी हूँ या मेरा रोग इत्यादि प्रकार की अभिन्नता से दूर हो जाता है, तब मैं रोगी नहीं, मेरा रोग नहीं; इस प्रकार केवल ज्ञाता-द्रष्टा हूँ, रोग से अलग हूँ, दूर हूँ, ऐसी स्थिति में रोगादि दुःख आ पड़ने पर भी समभाव से सहने से साधक कर्म-निर्जरा कर लेता है।[१]

(६) अशुचित्वानुप्रेक्षा : एक चिन्तन

अशुचित्वानुप्रेक्षा का प्रयोजन

जिस शरीर से धर्म-पालन करके कर्मों से मुक्ति प्राप्त करनी थी, उस पर आसक्ति करके उसके अशुचित्व की उपेक्षा करके सौन्दर्य की कल्पना करके अहंकार करना कर्मों का आस्रव और बन्ध करना है। अतः "संवेग और वैराग्य के लिये जगत् और शरीर के स्वभाव का चिन्तन करने से अर्थात् शरीर के अशुचि-स्वभाव का चिन्तन-मनन करने से शरीर के प्रति निर्वेद (वैराग्य) होता है, जिससे साधक निर्विण्ण होने पर जन्मोदधि को तरने के लिये चित्त को उस ओर लगाता है।" यही अशुचित्वानुप्रेक्षा का प्रयोजन है।[२]

अशुचिमय यह शरीर प्रीति योग्य कैसे हो सकता है ?

अशुचित्वानुप्रेक्षा से शरीर के प्रति मोह घटाने हेतु 'ज्ञानार्णव' में कहा गया है-"अरे मूढ़ ! यह मानव-शरीर चर्मपटल से आच्छादित हड्डियों का पिंजर है।

---

१. 'अमूर्त्त चिन्तन' से भावांश ग्रहण, पृ. ४६-४७

२. (क) जगत्काय-स्वभावौ च संवेग-वैराग्यार्थम्। —*तत्त्वार्थसूत्र* ७/७

(ख) एवं ह्यस्य संस्मरतः शरीरनिर्वेदो भवति।
निर्विण्णश्च जन्मोदधितरणाय चित्तं समाधत्ते। —*सर्वार्थसिद्धि* ९/७/४१६

सड़ी हुई लाश की-सी दुर्गन्ध से भरा हुआ है। यह मृत्यु के मुख में ही बैठा हुआ है और रोगरूपी सर्पों का घर है। ऐसा शरीर मनुष्यों के लिये प्रीति (आसक्ति) योग्य कैसे हो सकता है?"[1] मृगापुत्र ने शरीर के अशुचित्व का निरूपण करते हुए कहा था–"यह शरीर अनित्य (नाशवान्) है, अशुचि (अपवित्र) है और अपवित्र वस्तुओं से उत्पन्न हुआ है। इस अशाश्वत शरीर में आवास दुःखों और क्लेशों का भाजन है। क्योंकि यह शरीर पानी के बुलबुले के समान क्षणभंगुर है, इसे पहले या पीछे कभी न कभी छोड़ना ही पड़ेगा। इसलिए इस अशाश्वत और अशुचि शरीर में मैं आनन्द नहीं पा रहा हूँ।"[2]

शरीर की अशुचिमयता

यह शरीर अशुचि इसलिए है कि यह शरीर रज और वीर्य जैसे घृणित पदार्थों से बना है। माता के गर्भ में अशुचि-पदार्थों के आहार द्वारा इसकी वृद्धि हुई है। 'बारस अणुवेक्खा' के अनुसार–यह देह दुर्गन्धमय है, वीभत्स (घिनौनी) है, डरावनी है, मलमूत्र से भरी है, जड़ है, मूर्तिक है, क्षीण एवं विनश्वर स्वभाव वाला है, इस प्रकार सतत चिन्तन करना ही अशुचित्वानुप्रेक्षा है। 'द्रव्यसंग्रह टीका' के अनुसार–यह शरीर बाहर और अंदर से अशुचि है, स्वरूप से भी अशुचि है। अशुचिमय मतों की उत्पत्ति का स्थान = उत्पादक होने से द्रव्य से अशुचि है और काम-क्रोधादि में लीन होने से भाव से भी अशुचि है। उत्तम स्वादिष्ट और सरस पदार्थों का आहार भी इस शरीर में जाकर खराब और बेस्वाद होकर अशुचिरूप में परिणत हो जाता है। जैसे–नमक की खान में जो पदार्थ गिरता है, वह नमक बन जाता है, इसी तरह शरीर के संसर्ग में जो भी पदार्थ आते हैं, वे सब अशुचि हो जाते हैं। आँख, नाक, कान आदि नौ द्वारों से सदैव शरीर से मल झरता रहता है। साबुन से धोने पर भी कोयला जैसे अपना रंग नहीं छोड़ता, कपूर आदि सुगन्धित पदार्थों से वासित भी लहसुन अपनी दुर्गन्ध नहीं छोड़ता, इसी तरह शरीर को पवित्र बनाने के लिए स्नान, अनुलेपन, धूप, सुगन्धित पदार्थ आदि कितने ही साधनों का प्रयोग क्यों न किया जाए, इसके अशुचि स्वभाव को दूर करना शक्य नहीं है। ऐसे अशुचिमय देह पर राग, अहंकार, दर्प, आसक्ति क्यों की जाए? इस शरीर पर किया हुआ शृंगार, साज-सज्जा आदि स्व-पर मोह जगाकर आत्मा को

---

१. अजित-पटल-गूढं, पंजरं कीकसानाम्।
कुथित-कुणप-गन्धैः, पूरितं मूढ ! गाढम्॥
यम-वदन-निषण्णं, रोग-भोगीन्द्र-गेहम्।
कथमिह मनुजानां प्रीतये स्याच्छरीरम्॥ –ज्ञानार्णव

२. देखें–उत्तराध्ययन का १९वाँ मृगापुत्रीय अध्ययन, गा. १२-१३

अशुद्ध बनाते हैं, अपवित्र शरीर पर शृंगार करना विष्टा पर सुगन्धित पदार्थ लगाने के समान है।[1]

अशुचित्वानुप्रेक्षा का विधायकरूप

आशय यह है कि शरीर को कितना ही स्वच्छ करो, वह शुद्ध नहीं होता; मूढ़ मानव प्रतिदिन इस अशुद्ध-अपवित्र शरीर को प्रत्यक्ष देखता हुआ भी विरक्ति का कारण होने पर भी, इस पर आसक्ति, अनुरक्ति करता है; इस शरीर में शुद्धि का भाव आरोपित करता है। वह शरीर को भ्रान्तिवश सुन्दर, बलवान् और निर्मल समझकर उस पर मोह, अहंकार और मद करता है, जिससे अशुभ कर्मों का बन्ध होता है। अतः आत्म-भाव के प्रति उपेक्षा करके अशुचि एवं असुन्दर शरीर के पोषण, रक्षण में अपनी सर्वशक्तियों को लगा देना मनुष्य की सबसे बड़ी अज्ञानता है। अतः चाहे अपना शरीर हो या दूसरे का, जब भी शरीर के प्रति आकर्षण (राग) जागे, तुरन्त अशुचित्वानुप्रेक्षा से उसे रोकना, संवर का कारण हो जायेगा और इस शरीर से धर्म-पालन करने में आते हुए या आने वाले कष्टों, परीषहों या उपसर्गों को समभाव से सहना, सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप सद्धर्म में पुरुषार्थ करना ही अशुचित्वानुप्रेक्षा का विधायकरूप है। इसीलिए 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में कहा गया है-जो अशुचित्वानुप्रेक्षक भव्य स्त्री आदि के देह (पर-देह) से विरक्त होता हुआ, अपने देह पर भी अनुराग नहीं करता; अर्थात् इस शरीर के अशुचित्व का दर्शन करके ममत्व से मुक्त होकर परम शुद्ध आत्मा (परमात्मा) सनातन, शिव आत्मा का दर्शन करता है, शरीर के प्रति आसक्ति का उन्मूलन करके अपने स्वरूप में अवस्थित होता है, आत्मारूपी शुद्ध नदी में स्नान-अवगाहन करता है, उसी की अशुचित्वानुप्रेक्षा सफल होती है।[2]

---

१. (क) जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भा. ४, बोल ८१२, पृ. ३६५-३६६

(ख) दुग्गंधं वीभत्थं कलिमल-भरिदं अचेयणा मुत्तं।
सडण-पडण-सहावं देहं इदि चिंतये णिच्चं॥ —*बा. अ. ४४*

(ग) द्रव्यसंग्रह टीका ३५/१०९

(घ) सर्वार्थसिद्धि ९/७/४१६

२. (क) जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भा. ४, बोल ८१२, पृ. ३६६

(ख) 'संयम कब ही मिले?' (आ. भद्रगुप्तविजय जी) से भाव ग्रहण, पृ. ५४

(ग) जो परदेहविरत्तो णियदेहे ण य करेदि अणुरायं।
अप्पसरूवि सुरत्तो असुइत्ते भावणा तस्स॥ —*कार्तिकेयानुप्रेक्षा ८७*

(घ) सम्यग्दर्शनादि पुनर्भाव्यमानं जीवस्यात्यन्तिकीं शुद्धिमाविर्भावयतीति तत्वतो भावनमशुचित्वानुप्रेक्षा। —*सर्वार्थसिद्धि ९/७/४१६*

शरीर के ऊपरी भाग को न देखकर आन्तरिक भाग को देखो

तात्पर्य यह है कि अशुचित्वानुप्रेक्षा से एक ओर साधक शरीर के प्रति ममता-मूर्च्छा से विरक्ति, क्षीणता और अनासक्ति हो जाती है, तो दूसरी ओर से वह आत्म-गुणों के प्रति अभिमुख होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपरूप सद्धर्म ही सत्य है, शुद्ध है, सुखदायक है, यह जानकर शरीर के माध्यम से आत्मा में निहित, किन्तु सुषुप्त अनन्तज्ञान-दर्शन-आनन्द-शक्तिमय अनन्तचतुष्टयरूप स्वभाव को प्रकट कर पाता है। इस शरीर में अगणित सारभूत तत्त्व विद्यमान हैं। कितने ही चैतन्य केन्द्र हैं, कितनी ग्रन्थियाँ, कितने ही रसायन एवं शक्तियाँ हैं, उन सबकी अभिव्यक्ति शरीर के माध्यम से हो सकती है। शक्तियों का स्रोत फूटने पर, आवरण के हटने पर, आन्तरिक आत्म-सम्पदाएँ प्रगट हो सकती हैं। यदि वे जाग्रत हो जाएँ तो अतीन्द्रिय ज्ञान भी हो सकता है। उन सबका माध्यम एकमात्र मानव-शरीर है, जो आत्मा से परमात्मा तक, इन्द्रिय ज्ञान से अतीन्द्रिय ज्ञान तक पहुँचा सकता है। अतः अशुचित्वानुप्रेक्षा के द्वारा साधक अज्ञान और मूर्च्छा को दूर करके आत्मदेव या परमात्मदेव के मन्दिर इस शरीर में निहित शक्तियों का मूल्यांकन करे और अपने भीतर उस सामर्थ्य को खोजने का पुरुषार्थ करे। जो ध्यान अब तक शरीर की साज-सज्जा आदि में लगा रहा, यानी शरीर के ऊपरी भाग तक लगा रहा, उसे अब आन्तरिक् भाग में लगाए। ऐसा करने से सहज ही कर्मों का निरोध और क्षय हो सकेगा।[1]

सूक्ष्म शरीर के दुरुपयोग और सदुपयोग से हानि-लाभ

जैनदर्शन के अनुसार शरीर के स्थूल भाग के साथ-साथ दो सूक्ष्म शरीर भी हैं—एक का नाम है तैजस् शरीर और दूसरा है कार्मणशरीर। तैजस् शरीर के द्वारा पूरे शरीर में प्राण की, ऊर्जा की या जैविक विद्युत् की धारा प्रवाहित होती है। इससे पूरे शरीर को शक्ति प्राप्त होती है। हमारे सारे क्रियाकलाप या प्रवृत्तिचक्र इसी के आधार पर चलते हैं। तैजस् शरीर द्वारा समुत्पन्न प्राण-शक्ति ही शरीर की सारी शक्तियों को टिकाये रखती है। अतः उस प्राण-शक्ति की वृद्धि का अहंकार, मोह या दुरुपयोग हो तो वह अशुभ आस्रव और अशुभ कर्मबन्ध का कारण बन जाता है और यदि उसका सदुपयोग हो तो अनुप्रेक्षक साधक स्मृति एवं संकल्प-

---

१. (क) वपुषि विचिन्तय परमिह सारं, शिव-साधन-सामर्थ्यमुदारम्।

—शान्तसुधारस, अशौचानुप्रेक्षा ७

(ख) 'अमूर्त्त चिन्तन' से भावांश ग्रहण, पृ. ५३

(ग) 'शान्तसुधारस' हिन्दी अनुवाद, चिन्तनिका नं. ६ (मुनि राजेन्द्रकुमार) से भावांश ग्रहण

शक्ति का विकास कर सकता है, अनन्त आत्मज्ञान-दर्शन, आत्मिक आनन्द और आत्मिक बलवीर्य का विकास कर सकता है।

कार्मणशरीर का रहस्य जान लेने पर बन्ध भी कर सकता है, संवर भी

दूसरे सूक्ष्म शरीर का नाम है–कार्मणशरीर। इस शरीर के रहस्यों को जान लेने पर व्यक्ति कर्मबन्धन से मुक्त हो सकता है और रहस्यों से अनभिज्ञ व्यक्ति राग-द्वेष, कषाय आदि के कारण कर्मों को अधिकाधिक आकर्षित कर बन्ध कर सकता है। कारण यह है कि हमारे शरीर में दो भाग हैं–एक भाग है लौकिकता का तथा दूसरा है लोकोत्तरता का। लौकिकता के भाग का विकास अधिक हुआ है, लोकोत्तरता का कम। हमारे शरीर में ऐसे केन्द्र हैं, जिनके जाग्रत कर देने पर कामवासना, राग-द्वेष, मोह, कषाय आदि की वृद्धि हो जाती है। इसके विपरीत हमारे शरीर में ऐसे भी केन्द्र हैं, जिनके विकसित करने पर कामना, वासना, राग-द्वेषादि कम होते जाते हैं। इसी अनुप्रेक्षा के अभ्यास करते रहने से एक दिन चेतना का ऊर्ध्वारोहण हो जाता है, राग-द्वेष विलय हो जाता है। किन्तु लोकोत्तरता का वह भाग सुषुप्त है, उसे जाग्रत करने पर ही व्यक्ति वीतराग, सर्वज्ञ या राग-द्वेषमुक्त त्रिकालदर्शी हो सकता है।[1]

सनत्कुमार चक्रवर्ती की अशुचित्वानुप्रेक्षा

सनत्कुमार चक्रवर्ती बहुत ही रूपवान थे। उन्हें अपने शरीर-सौन्दर्य पर गर्व था। ब्राह्मण वेषधारी देव के मुख से अपनी प्रशंसा सुनकर तो वे और भी अहंकारग्रस्त हो गए। किन्तु अब वह देव राजसभा में सिंहासनासीन सनत्कुमार चक्रवर्ती के पास आए तो उनका माथा ठनका। देव ने कहा कि अब पहले जैसा रूप नहीं रहा, शरीर रोगग्रस्त हो गया। पीकदानी में थूककर देखा तो रोग के कीटाणु कुलबुला रहे थे, उनसे महान् दुर्गन्ध उठ रही थी। चक्रवर्ती ने यह देखकर अशुचित्वानुप्रेक्षा से अपने को भावित किया। संसार-विरक्त होकर तपस्याराधना की। शरीर के प्रति मोह छूट जाने तथा तैजस् कार्मणशरीर से कर्मबन्धन के कारणों से सावधान रहने से उनका शरीर और शरीर से सम्बद्ध पदार्थों के प्रति मोह छूट गया। समभावपूर्वक शरीर में हुए रोगों की पीड़ा को सहने से वे अशुचित्वभावना के प्रभाव से सदा-सदा के लिए शरीर और जन्म-मरणादि को छोड़कर वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए।[2]

---

१. 'अमूर्त चिन्तन' से भावांश ग्रहण

२. त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र, द्वितीय भाग से संक्षिप्त

(७) आस्रवानुप्रेक्षा : क्यों, क्या और कैसे ?

आस्रव का स्वरूप, प्रकार और अनिष्टकारकता

नीतिकारों का कथन है–"उपायं चिन्तयन् प्राज्ञः, अपायमपि चिन्तयेत्।" अर्थात् बुद्धिमान् व्यक्ति को उपाय के साथ अपाय यानी साधक के साथ बाधक तत्त्व का भी चिन्तन करना चाहिए। आस्रव कर्ममुक्ति (मोक्ष) की यात्रा में बाधक तत्त्व है, अपाय है, अनिष्ट है। वह जीव को जन्म-मरणरूप संसार के चक्र में भटकाता है। आस्रव कर्मों को आकर्षित करके आत्मा के साथ संयोग सम्बन्ध से श्लिष्ट कराने वाला है और कर्मों का ज्यों-ज्यों जत्था बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों संसार वृद्धि होती जाती है। आस्रव की परिभाषा की गई है–मन-वचन-काया के शुभ-अशुभ योग (प्रवृत्ति या व्यापार) द्वारा जीव जो शुभ-अशुभ कर्मों को ग्रहण = आकर्षित करते हैं, वह आस्रव है। वस्तुतः जीव के द्वारा कर्मों का आकर्षण तो त्रिविध योगों द्वारा हो जाता है। इसीलिए 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में कहा गया है–मन-वचन-कायरूप योग अर्थात् जीव प्रदेशों का परिस्पन्दन (प्रकम्पन या हलचल) विशेष ही आस्रव है, जो मोहकर्म के उदय से युक्त (मिथ्यात्व-कषायादि सहित) भी हैं और मोहोदय से रहित भी हैं। गुणस्थान क्रम के अनुसार सूक्ष्म सम्पराय नामक दसवें गुणस्थान तक यथासम्भव मोहोदयरूप–मिथ्यात्व-कषायों से युक्त आस्रव रहता है, जो साम्परायिक आस्रव कहलाता है, उससे ऊपर तेरहवें गुणस्थान तक मोहोदयरहित (योग) है, उस आस्रव को ईर्यापथ आस्रव कहते हैं। आत्म-प्रदेश जब मोहोदय (राग-द्वेषादि) से चंचल होते हैं, उन्हें भावास्रव कहा जाता है और जो पुद्गल वर्गणाएँ कर्मरूप में परिणत होती हैं, उन्हें द्रव्यास्रव कहा जाता है। जीव के लिये सबसे अधिक खतरनाक अनिष्टकारक मोहोदययुक्त आस्रव साम्परायिक आस्रव है।[१]

साम्परायिक आस्रव से होने वाली आत्म-गुणों की भंयकर क्षति

पूर्वोक्त त्रिविध योगों की जहाँ चंचलता होती है, वहाँ सम्यग्ज्ञान भी छिप जाता है। निराकुलतारूप वास्तविक आत्मिक-सुख भी पलायित हो जाता है, अपने अस्तित्व (आत्मा) का बोध भी लुप्त हो जाता है, अपनी आत्म-शक्ति को यथार्थ दिशा में प्रकट करने का भान भी नहीं रहता। कभी-कभी मन-वचन-काया से चंचलता की तरंगें इतनी उठती हैं कि व्यक्ति त्रैकालिक सत्य को भूलकर आस्रवों के प्रवाह में वह जाता है।[२] 'शान्तसुधारस' में कहा गया है–"जिस प्रकार चारों

---

१. (क) जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भा. ४, बोल २१२, पृ. ३६०

(ख) मण-वयण-कायजोया जीव-पयेसाण फंदण-विसेसा।
मोहोदएण जुत्ता, विजुदा वि य आसवा होंति॥ *–कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा. ८८ विवेचन*

२. 'शान्तसुधारस, संकेतिका नं. ७' (मुनि राजेन्द्रकुमार) से भाव ग्रहण, पृ. ३३

ओर से गिरते हुए-झरनों के पानी से तालाब शीघ्र ही भर जाता है, उसी प्रकार आत्मा (जीव) आस्रवरूपी नालों से आने वाले कर्मरूपी जल से भर जाता है और उन कर्मों के परिपूर्ण आत्मा व्याकुल, चंचल और मलिन (पंकिल) हो जाती है।''[१]

'आचारांगसूत्र' में कहा गया है-''ऊपर स्रोत हैं, नीचे स्रोत हैं, मध्य में कर्मों के आस्रव के स्रोत कहे गए हैं। इन स्रोतों को अनुप्रेक्षा द्वारा देखो, इन स्रोतों द्वारा मनुष्य आसक्त होता है।''[२]

पूर्वोक्त त्रिविध योगों की चंचलता का प्रमुख कारण मोहनीयकर्म है, जो मिथ्यात्व, कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ) और नोकषाय (हास्य, रति-अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, कामत्रय) से अनुप्राणित होता है। अविरति और प्रमाद भी मोहकर्म के अंग हैं। इस प्रकार मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग ये पाँच आस्रव के मूलभूत कारण हैं।[३] यही पंचविध आस्रव कर्मबन्ध का कारण बनता है। यद्यपि मिथ्यात्वादि चार कारणों से ही स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध होता है, केवल योग से स्थिति-अनुभागबन्ध नहीं होता, वह तो केवल दो-तीन समय मात्र का प्रकृति-प्रदेशबन्ध है, नाममात्र का बन्ध है। प्रथम मिथ्यात्वादि चार के कारण ही त्रिविध योगों की चंचलता बढ़ती है और मनुष्य के प्रवाह में बहकर बात की बात में तीव्र अशुभ कर्मबन्ध कर लेता है, जिसके उदय में आने पर उसे भयंकर दण्ड भोगना पड़ता है।[४]

त्रियोगों की तीव्र चंचलता के कारण कर्मबन्ध : एक उदाहरण

एक सामान्य उदाहरण के द्वारा इसे समझें-''एक कुम्हार का गधा चरता-चरता बहुत दूर जंगल में निकल गया। कुम्हार को गधे की जरूरत पड़ी। वह उसे ढूँढ़ने निकला। बहुत देर तक ढूँढ़ता-ढूँढ़ता हैरान हो गया, तब गधे के प्रति मन ही मन रोष और द्वेष उमड़ा, वह उसे भद्दी-भद्दी गालियाँ बकने लगा। एक

---

१. यथा सर्वतो निर्झरैरापतद्भिः, प्रपूर्येत सद्यः पयोभिस्तराकः।
तथैवाश्रवैः कर्मभिः संभृतोऽङ्गी, भवेद् व्याकुलश्चंचलः पंकिलश्च॥
-शान्तसुधारस (आस्रवभावना), श्लो. १

२. उड्ढं सोता अहे सोता, तिरियं सोता वियाहिया।
ऐते सोता वियक्खाया, जेहिं संगंति पासहा॥ *-आचारांग १/५/६/५८७*

३. (क) मिथ्यात्वाविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्ध हेतवः।
(ख) मिथ्यात्वाऽविरति-कषाय-योगसंज्ञाश्चत्वारः सुकृतिभिराश्रवाः प्रदिष्टाः।
कर्माणि प्रतिसमयं स्फुटैरमीभिर्बध्नन्तो भ्रमवशतो भ्रमन्ति जीवाः॥
-शान्तसुधारस (आस्रवभावना), श्लो. ३

४. कार्तिकेयानुप्रेक्षा (आस्रवानुप्रेक्षा) की गाथा ८९ का विशेषार्थ, पृ. ४७

ऊँची टेकरी पर चढ़कर देखा तो गधा काफी दूर पर मजे से घास चर रहा था। अब तो कुम्हार के मन में तीव्र क्रोध उमड़ा, अहंकारवश गधे को वह शैतान, नीच, पाजी, दुष्ट कहता हुआ उसे पकड़ने दौड़ा। गधा भी समझ गया कि मालिक मुझे पकड़ेगा, पीटेगा और फिर खूँटे से बाँध देगा। इसलिए वह बेतहाशा दौड़ा। आखिर सामने से आने वाले मनुष्य ने उसे रोका। अब गधा पकड़ में आ गया तो कुम्हार ने उसे भरपेट गालियाँ देकर खूब बेरहमी से पीटा और घर ले जाकर उसे खूँटे से बाँध दिया।" इस घटना में कुम्हार के मन-वचन-काया की उत्कट चंचलता स्पष्ट है, साथ ही मिथ्यात्व और प्रमाद के वश उसे भान ही नहीं रहा कि वह क्या और क्यों ऐसा कर रहा है? उसके जीवन में राग और द्वेष का क्षण ही हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का क्षण है, जोकि समस्त कर्मवर्गणाओं के आकर्षण का = आस्रव का क्षण है।[1]

आस्रव के ४२ भेद और अशुभास्रवों से विविध दुःख-प्राप्ति

आस्रव के ४२ भेद शास्त्रकारों ने बतलाए हैं—पाँच अव्रत, पाँच इन्द्रियाँ, चार कषाय, तीन योग और पच्चीस क्रियाएँ। प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह, इन पाँच प्रकार के अव्रतों से जीव यहाँ और परलोक में अनेक प्रकार के वध, बन्धन, रोग, शोक, कष्ट, ताड़न, तर्जन आदि दुःख पाते हैं। एक-एक इन्द्रिय के विषयों में आसक्त हुआ प्राणी भी प्राणान्त कष्ट पाते देखे जाते हैं। स्पर्शेन्द्रिय के वश में होकर महान् शक्तिशाली दुर्दान्त हाथी अपनी स्वतंत्रता खोकर मनुष्य के अधीन हो जाता है और अंकुशादि की वेदना को सहता है।[2] रसनेन्द्रिय के विषयों के वश में होकर मत्स्य काँटे में फँसकर अपने प्राण गँवा बैठता है। सुगन्ध में आसक्त भौंरा सन्ध्या समय कमल में बंद हो जाता है, प्रातःकाल कोई हाथी आदि जानवर आकर उसे पैरों से रौंद डालता है। रूपलोलुप पतंगा दीपक के प्रकाश पर टूट पड़ता है और अपने प्राण खो देता है। शब्द-विषय में आसक्त मृग शिकारी का निशाना बनकर अकाल में मरण-शरण हो जाता है। इसी प्रकार क्रोधादि कषायों और हास्यादि नौ नोकषायों से दूषित प्राणी यहाँ भी

---

१. (क) 'आस्रवभावना पर प्रेक्षाध्यान, मार्च १९८७' के मुनि सुखलाल जी के लेख से संक्षिप्त, पृ. १४

(ख) 'अमूर्त्त चिन्तन' से भावांश ग्रहण, पृ. ५६

२. (क) इन्द्रियाव्रतकषाययोगजाः, पंच-पंच-चतुरन्वितास्त्रयः।
पंचविंशतिरसत्क्रिया इति, नेत्र-वेद-परिसंख्ययाऽप्यमी॥

—शान्तसुधारस (आस्रवभावना), श्लो.

(ख) जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भा. ४, बोल २१२, पृ. ३६७

अपनी और दूसरों की शान्ति का नाश करता है; न वह सुख-शान्तिपूर्वक जीता है और न ही दूसरों को जीने देता है।[1] अतः 'सर्वार्थसिद्धि' के अनुसार–कषायादि भी इस लोक में वध, बन्ध, अपयश और क्लेश आदि दुःखों को पैदा करते हैं और परलोक में भी नाना प्रकार के दुःखों से प्रज्वलित कर नाना गतियों में भ्रमण कराते हैं। इस प्रकार आस्रव के दोषों का चिन्तन करके (अप्रमत्त होकर) आस्रव का निरोध करने की भावना करना आस्रवानुप्रेक्षा है।[2]

आस्रवों से संचालित कितना परवश ?

जो व्यक्ति आस्रवों से संचालित होते हैं, वे न अपने मन पर काबू पा सकते हैं, न ही अपनी वाणी पर नियंत्रण कर सकते हैं और न अपने आचरण पर काबू कर सकते हैं। वे तीव्रतम कषायों और राग-द्वेष-मोह के थपेड़ों से आहत होकर पापकर्मों को आकर्षित करते रहते हैं। आस्रवानुप्रेक्षा से जीव अव्रत आदि का कुपरिणाम समझ लेता है और इनका त्याग कर व्रतों को स्वीकार करता है। इन्द्रियों और कषायों पर विजय पाने का पुरुषार्थ करता है। योगों का निरोध करने का अभ्यास करता है। साम्परायिक क्रियाओं से निवृत्त होने का प्रयत्न करता है।[3]

आस्रवानुप्रेक्षा के अनन्तचतुष्टयी का प्रकटीकरण

अध्यात्म की भाषा में कहें तो आस्रव सांसारिक सुख या दुःख का हेतु है। कर्म के उदय से होने वाली अनुभूति या तो सुखरूप होती है या दुःखरूप। परन्तु आस्रव का निरोध होने पर सुख और दुःख दोनों के द्वार बंद हो जाते हैं। उस स्थिति में आत्मिक सुख की अनुभूति होती है। जो आत्म-गुणों की अनन्तचतुष्टयी आस्रव के कारण प्रगट नहीं हो रही थी, वह आस्रवानुप्रेक्षा के द्वारा प्रकट हो जाती है। जब तक आस्रवजनित वृत्तियाँ और कर्मप्रकृतियाँ रहती हैं, तब तक आत्मा के मौलिक स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण नहीं होता। आस्रव के कारण ज्ञान-दर्शन आवृत, सुख विकृत और शक्ति सुषुप्त रहती है। आस्रवानुप्रेक्षा के द्वारा समता, एकाग्रता,

---

१. जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भा. ४, बोल २१२, पृ. ३६७

२. आस्रवा इहामुत्राऽपाययुक्ता महानदीस्रोतोवेगतीक्ष्णा इन्द्रियकषायाव्रतादयः। तत्रेन्द्रियाणि स्पर्शादीनि वनगज-वायस-पन्नग-पतंग-हरिणादीन् व्यसनार्णवमवगाहयन्ति। तथा कषायादयोऽपीह वध-बन्धापयशः परिक्लेशादीन् जनयन्ति। अमुत्र च नानागतिषु बहुविध-दुःख-प्रज्वलितासु परिभ्रमयन्तीत्येवमास्रवदोषानुचिन्तनमास्रवानुप्रेक्षा। –*सर्वार्थसिद्धि* ९/७/४१६

३. (क) 'प्रेक्षाध्यान, मार्च १९८७' में प्रकाशित आस्रवानुप्रेक्षा लेख से, पृ. १५

(ख) जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भा. ४, बोल २१२, पृ. ३६७-३६८

तपस्या, प्रतिपक्षभावना या चित्त की निर्मलता में पुरुषार्थ करने से आस्रव की शक्ति क्षीण हो जाती है, आत्म-स्वरूप की अनुभूति हो सकती है।[1]

समुद्रपाल मुनि द्वारा आस्रवानुप्रेक्षा से कर्ममुक्ति

चम्पानगरी के पालित श्रावक का पुत्र समुद्रपाल एक दिन अपने महल के झरोखे में बैठा नगरचर्या देख रहा था। तभी उसकी दृष्टि मृत्युदण्ड के चिह्नों से युक्त वध्यभूमि की ओर ले जाते हुए एक चोर पर पड़ी। उस चोर को देखकर समुद्रपाल के मन में विचित्र ऊहापोह होने लगा। वह वैराग्यभाव से युक्त होकर स्वयं मन ही मन कहने लगा–"अहो ! अशुभ कर्मों (अशुभ आस्रवों) के कैसे कटु फल होते हैं? यह मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ।" इस प्रकार आस्रवों के परिणामों पर गहन चिन्तन में डूबते-उतराते समुद्रपाल को जाति-स्मरण ज्ञान हो गया। अतः उसने विरक्त होकर जैन मुनि दीक्षा अंगीकार कर ली। फिर तप-संयम से आत्मा को भावित करते हुए पुण्य-पाप (शुभ-अशुभरूप) कर्मास्रवों को नष्ट करके सदा-सदा के लिए कर्मों से मुक्ति प्राप्त कर ली। यह था आस्रवानुप्रेक्षा का सुपरिणाम ![2]

(८) संवरानुप्रेक्षा : स्वरूप, लाभ और उपाय

कर्मों से आत्मा की रक्षा करना संवर है

आगमों का कथन है कि "समस्त इन्द्रियों (और नोइन्द्रिय = मन) को सुसमाहित करके आत्मा की सतत रक्षा करनी चाहिए। अरक्षित आत्मा जातिपथ (जन्म-मरणादिरूप संसारमार्ग) को प्राप्त करती है, जबकि सुरक्षित आत्मा समस्त दुःखों से मुक्त हो जाती है।[3] आत्मा की रक्षा कर्मों को आते हुए रोकने से हो सकती है। कर्म जिन द्वारों से आत्मा में प्रविष्ट होते हैं, उन द्वारों को बंद कर देने से आत्मा की रक्षा होती है। इसी का नाम संवर है। आत्मा में पहले के अनन्त-अनन्त कर्म भरे हुए हैं, अब नये कर्मों को भरना बंद कर देने से आत्मा की एक ओर से रक्षा हो जाती है।

---

१. 'अमूर्त चिन्तन' से भावांश ग्रहण, पृ. ६१

२. देखें–उत्तराध्ययनसूत्र का २१वाँ समुद्रपालीया अध्ययन, गा. ९-१०, २४

३. अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो, सव्विंदिएहिं सुसमाइएहिं।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ, सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ॥
–दशवैकालिक, विवित्तचरिया बीआचूलिआ १६

भेदविज्ञान सिद्ध होने पर शुद्ध चैतन्यानुभूति

इसके लिए आत्मा (चेतन) से अनात्मा (अचेतन) का भेदविज्ञान सिद्ध होना आवश्यक है। चेतन और अचेतन (कर्मपुद्गलों या शरीरादि) को जब व्यक्ति एक समझने लगता है, दोनों में एकरस हो जाता है, तब कर्मबन्धन तीव्र-तीव्रतर होता जाता है। कषाययुक्त आत्मा ही कर्मास्रव के कारण दोनों को एकरस करती है। परन्तु जब भेदविज्ञान सिद्ध हो जाता है, तब कर्मपुद्गलों के (या कर्मशरीर के) साथ आत्मा एकरस नहीं होती, तब उसे शुद्ध चैतन्य की अनुभूति होती है। यही निश्चयदृष्टि से संवर है। इसी दृष्टि से भगवान महावीर ने कहा–"**आया संवरे।**" (शुद्ध आत्मा ही संवर है।) 'बारस अणुवेक्खा' में भी कहा है–"परमार्थनय से जीव (आत्मा) के शुद्ध भाव (में रमणता) ही संवर है। इसलिए संवर का विकल्प न करके आत्मा का ही नित्य चिन्तन करना चाहिए।"[1] 'द्रव्यसंग्रह टीका' में भी इसी का समर्थन करते हुए कहा गया है–"जैसे समुद्र पर चलता हुआ जहाज छिद्रों के बन्द हो जाने के कारण अपने भीतर पानी के न घुसने से निर्विघ्नतया वेलापत्तन (बंदरगाह) तक पहुँच जाता है, इसी प्रकार जीवरूपी जहाज भी अपने शुद्ध आत्मज्ञान के बल से इन्द्रिय आदि आस्रव छिद्रों के मुँह बंद हो जाने पर कर्मरूपी जल के न घुसने से केवलज्ञानादि अनन्तगुणरत्नों से परिपूर्ण मुक्तिरूपी वेलापत्तन को निर्विघ्नतापूर्वक प्राप्त कर लेता है। अतः संवरानुप्रेक्षा के लिये शुद्ध आत्मज्ञानरूप संवर के गुणों का चिन्तन करना चाहिए।"[2]

आत्मज्ञानरमणता ही संवर का विधेयात्मक मार्ग

निष्कर्ष यह है कि "**ज्ञानसिद्धो न लिप्यते।**"–ज्ञानसिद्ध (भेदज्ञानसिद्ध अथवा आत्मज्ञानसिद्ध) आत्मा कर्मों से लिप्त नहीं होती। अतः 'ज्ञानरमणता' ही संवर का विधेयात्मक मार्ग है। इसके विपरीत पुद्गलरमणता कर्मों के आस्रव का मार्ग है।

---

१. (क) 'संयम कब ही मिले?' (आ. भद्रगुप्तविजय जी) से भाव ग्रहण. पृ. ५९

(ख) 'अमूर्त्त चिन्तन' से भाव ग्रहण. पृ. ६५

(ग) भगवतीसूत्र

(घ) जीवस्स संवरणं परमट्ठणएण सुद्धभावादो।
संवरभावविमुक्कं अप्पाणं चिंतये णिच्चं॥ *–बारस अणुवेक्खा ६५*

२. यदा तदेव जलपात्रं छिद्रस्य झम्पने सति जलप्रवेशाभावे निर्विघ्नेन वेलापत्तनं प्राप्नोति, तथैव जीवजलपात्रं निज-शुद्धात्म-संवित्ति-बलेन इन्द्रियाद्यास्रवच्छिद्राणां झम्पने सति कर्मजलप्रवेशाभावे निर्विघ्नेन केवलज्ञानाद्यनन्त-गुण-रत्नपूर्ण-मुक्तिवेलापत्तनं प्राप्नोति। एवं संवरगत-गुणानुचिन्तनं संवरानुप्रेक्षा ज्ञातव्या। *–द्र. सं. टीका ३५/१११*

ज्ञानरमणता के लिये मन-वचन-काय की प्रत्येक प्रवृत्ति के साथ मन को न जोड़ना, किसी भी प्रवृत्ति पर अच्छाई-बुराई, प्रियता-अप्रियता, मनोज्ञता-अमनोज्ञता, अनुकूलता-प्रतिकूलता, राग-द्वेष, आसक्ति-घृणा आदि कर्मास्रवभावों का संवेदन करना, केवल ज्ञाता-द्रष्टा बने रहना। तात्पर्य यह है कि संवरानुप्रेक्षा के लिए अधिकाधिक शुद्ध चैतन्य, शुद्ध आत्मज्ञान के क्षणों में रहने का अभ्यास करना चाहिए, जहाँ सिर्फ ज्ञान हो, संवेदन न हो।[1]

शुद्ध उपयोग में रहने से संवर की स्थिति सुदृढ़

जैनाचार्यों ने इसे शुद्ध उपयोग में रहना कहा है। जब साधक चैतन्य के शुद्ध उपयोग में–शुद्ध अनुभव में होता है, तभी संवर की स्थिति होती है। यही संवर की साधना है। शुद्ध चैतन्य के अनुभव की सतत स्थिति बनी रहने से संवरानुप्रेक्षा पुष्ट होती है। इस प्रकार संवर के आते ही = चैतन्य के शुद्ध उपयोग में रहते ही–कोई भी आस्रवद्वार खुला नहीं रहेगा, सभी आस्रवद्वार बंद हो जाएँगे। संवरानुप्रेक्षक यह तथ्य हृदयंगम कर लेता है कि कर्मों के जितने सम्बन्ध–बन्ध हमने स्थापित किये हैं, वे सब के सब शुद्ध चैतन्य की विस्मृति = अजागृति के कारण हुए हैं। जब-जब चैतन्य की विस्मृति हुई कि कोई न कोई कर्मपुद्गल हमारी आत्मा के साथ आ जुड़ता है और आत्मा के लिये अनेक समस्याएँ खड़ी कर देता है।[2]

व्यवहारदृष्टि से आस्रवों का निरोध संवर

व्यवहारदृष्टि से आस्रवों के निरोध को संवर कहा गया है। मिथ्यात्व आदि पाँच आस्रवद्वार हैं, ये जब-जब आत्मा की अजागृति–असावधानी या शुद्ध चैतन्य की विस्मृति से मौका पाकर घुसने लगें, तब तुरन्त ही उनको प्रवेश करने से रोकना व्यवहार से संवर है। 'शान्तसुधारस' में संवरभावना के परिप्रेक्ष्य में कहा गया है–जिस-जिस उपाय से आस्रव का निरोध होना अवश्य सम्भव है, उस-उस उपाय को तू अन्तर्दृष्टि से जान, अपना चित्त उसके लिए तैयार करके आदर के साथ स्वीकार कर। इन्द्रिय-विषयों और हिंसादि-अविरति का निग्रह संयम के द्वारा, मिथ्या-अभिनिवेश का निरोध सम्यग्दर्शन के द्वारा तथा आर्त्त-रौद्रध्यान का निवारण चित्त की सतत स्थिरता से कर। क्रोध को क्षमा से, मान को मृदुता से, माया को उज्ज्वल सरलता से समुद्र की भाँति विशाल और रौद्र लोभ का सन्तोष जैसे समुन्नत सेतु द्वारा निरोध कर। जिन्हें जीतना अशक्य लगता है, उन त्रिविध अशुभ योगों को तू तीन गुप्तियों के द्वारा शीघ्रता से जीतकर संवर मार्ग पर चलने

---

१. (क) 'संयम कब ही मिले ?' में संवरभावना से भाव ग्रहण, पृ. ५९
(ख) 'अमूर्त्त चिन्तन' से भावांश ग्रहण, पृ. ६५

२. 'अमूर्त्त चिन्तन' में संवरभावना से भावांश ग्रहण, पृ. ६५, ७३

का सम्यक् प्रयत्न कर। ऐसा करने से तू अकल्पित (आशातीत) और अबाधसिद्ध हित को प्राप्त होगा।" 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में भी सम्यग्दर्शन, देशव्रत, महाव्रत, कषायजय तथा योग का अभाव, ये सभी संवर के नाम हैं। त्रिगुप्ति, पंचसमिति, दशविध उत्तम धर्म, द्वादशानुप्रेक्षा, परीषहजय तथा उत्कृष्ट पंचविध चारित्र, ये भी संवर के विशेष हेतु हैं।[1]

संवर-साधना का चरम शिखर : अयोग-संवर

भगवान महावीर ने संवर-साधना का चरम शिखर 'अयोग' को बतलाया है। जहाँ योग (मन-वचन-काया का व्यापार) समाप्त हो जाता है, वहाँ पूर्ण और सर्वांगीण संवर हो जाता है। सभी प्रकार के संयोगों–सम्बन्धों से वास्ता छूट जाता है। इस अयोग-संवर में बाहर से कुछ भी लेना या पाना नहीं है, सब कुछ अपने अंदर है, आत्मा अपने आप में परिपूर्ण है। सारे सम्बन्ध काट डालने के बाद ही अयोग-संवर की शैलेशी (निष्कम्प) अवस्था आती है, जिसमें आत्मा के पूर्ण विकास, पूर्ण शुद्ध परमात्मपद की उपलब्धि हो जाती है। अयोग-संवर प्राप्त होते ही आत्मा के साथ पर-भावों और विभावों का या पुद्गलों का जो सम्बन्ध था, वह बिलकुल विच्छिन्न हो जाता है। इसके पश्चात् वह सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है। अकर्म की स्थिति आ जाती है।

अयोग-संवर घटित होते ही उससे पहले के मनःसंवर, इन्द्रिय-संवर, प्राण-संवर, वचन-संवर सम्यक्त्व-संवर, व्रत-संवर, अप्रमाद-संवर, अकषाय-संवर आदि सब संवर हो जाते हैं।[2]

---

१. (क) येन येन य इहाश्रव-रोधः सम्भवेन्नियतमौपयिकेन।
आद्रियस्व विनयोद्यतचेतास्तत्तदान्तरदृशाः परिभाव्य॥१॥
संयमेन विषयाऽविरतत्वे, दर्शनेन वितयाभिनिवेशम्।
ध्यानमार्त्तमथरौद्रमजस्रं, चेतसः स्थिरतया च निरुन्ध्याः॥२॥
क्रोधं क्षान्त्या मार्दवेनाऽभिमानं, हन्या मायामार्जवेनोज्ज्वलेन।
लोभं वारांराशि-रौद्रं निरुन्ध्याः, सन्तोषेण प्रांशुना सेतुनेव॥३॥
गुप्तिभिस्तिसृभिरेवमजय्यान्, त्रीन् विजित्य तरसाऽधमयोगान्।
साधु-संवरपथे प्रयतेथा, लप्यसे हितमनाहतसिद्धम्॥४॥ *–शान्तसुधारस, संवरभावना १-४*

(ख) सम्मत्तं देसवयं महव्वयं तह जओ कसायाणं।
एदे संवरणामा जोगाभावो तह च्चेव॥९५॥
गुत्ती समिदी धम्मो अणुवेक्खा, तह परिसहजओ वि।
उक्किट्ठं चारित्तं, संवरहेदू विसेसेण॥९६॥ *–कार्तिकेयानुप्रेक्षा* ९५-९६

(क) जया जोगे निरुंभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ।
तया कम्मं खवित्ताणं सिद्धिं गच्छइ नीरओ॥ *–दशवैकालिक, अ. ४, गा. २३*

अयोग-संवर आदि के लिए सुगम उपाय

प्रश्न होता है—अयोग-संवर आदि के लिए कौन-कौन-से उपाय साथक हैं? भगवान महावीर से कायगुप्ति के बारे में जब पूछा गया तो उन्होंने कहा—कायगुप्ति से संवर होता है। संवर से काय (साथ ही मन-वचन) गुप्त होकर जीव फिर से होने वाले पापास्रव का निरोध करता है। शरीर को अशुभ चेष्टाओं—प्रवृत्तियों को हटाकर शुभ प्रवृत्तियों में लगाना कायगुप्ति है। इसके दो परिणाम हैं—कायिक प्रवृत्ति से होने वाले आस्रव का निरोधरूप संवर तथा हिंसादि आस्रवों का निरोध। वैसे देखा जाए तो मन और वचन ये दोनों काया के ही अंग हैं। कायगुप्ति का विशेषार्थ भी यही है—काया की सुरक्षा। काया से साधक इतना सुरक्षित हो जाता है कि काया से (मन-इन्द्रियाँ और वाणी तथा शरीर से) भीतर आने वाले के लिए प्रविष्ट होने की कोई गुंजाइश नहीं रहती। भीतर केवल आत्मा रहती है, आत्मा के सिवाय फिर कुछ भी नहीं रहता। यदि मन को शरीर से पृथक् समझें तो मनोगुप्ति का अभ्यास किया जाए। इन्द्रियाँ तो मन के अधीन हैं, वाणी भी मन के अधीन है। इन्द्रियों और वचन के साथ संघर्ष करने की अपेक्षा मन के साथ युद्ध करना आवश्यक है। जिनसे कर्मों का आगमन (आस्रव) होता है, वे हैं राग-द्वेष, प्रियता-अप्रियता, मूर्च्छा-घृणा आदि द्वन्द्व, इन्हें मन में प्रवेश न करने दें। मन को शान्त, स्थिर रखने पर या आत्म-चिन्तन में संलग्न रखने पर चित्त, बुद्धि और हृदय भी शान्त होंगे। फिर उसके समक्ष कोई भी रूप, रस आदि इन्द्रिय-विषय आएगा तो वह सिर्फ ज्ञेय होगा, राग-द्वेषादि से विकृत नहीं होगा। मनोगुप्ति से मन एकाग्र (एक शुभ या शुद्धोपयोग में स्थिर) होकर साधक मनोगुप्त (मन का सुरक्षक) होने से संयम का आराधक हो जाता है।[1]

पिछले पृष्ठ का शेष—

(ख) 'अमूर्त्त चिन्तन' से भाव ग्रहण, पृ. ७३

(ग) आस्रव और संवर के विशेष स्पष्टीकरण के लिये देखें—कर्मविज्ञान, भा. ३ 'आस्रव और संवर'

१. (क) (प्र.) कायगुत्तयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ.) कायगुत्तयाए णं संवरं जणयइ। संवरेणं कायगुत्ते पुणो पावासवनिरोहं करेइ।

—उत्तराध्ययन, अ. २९, बोल ५६ का विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ५१३

(ख) 'अमूर्त्त चिन्तन' में 'संवरभावना' से भावांश ग्रहण, पृ. ६८-६९

(ग) (प्र.) मणगुत्तयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ.) मणगुत्तयाए णं जीवे एगग्गं जणयइ। एगग्गचित्ते णं जीवे मणगुत्ते संजमाराहए भवइ।

मनोगुप्ति से सर्वांगीण संवर की प्राप्ति

योगशास्त्र में मनोगुप्ति का लक्षण भी इसी प्रकार का दिया गया है—"समस्त कल्पनाओं से मुक्त होना और समभाव में प्रतिष्ठित होकर आत्म-स्वरूप में रमण करना मनोगुप्ति है। मनोगुप्ति में अकुशल मन का निरोध और कुशल मन की प्रवृत्ति होती है, यही एकाग्रता है, यही अशुभ योग-संवर है। अशुभ अध्यवसायों से मन की रक्षा भी संवर का रूप है। साथ ही समता = आत्म-स्वरूपरमणता भी भाव-संवर है।"[1]

संयम से संवर की उत्कृष्ट आराधना

मनोगुप्ति का एक परिणाम, जो संयम की आराधना बताया है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि भगवान महावीर से जब पूछा गया कि संयम से जीव क्या प्राप्त करता है? तो उन्होंने कहा—संयम से जीव आस्रव-निरोध करता है। अर्थात् संयम का फल अनास्रव है। जिसमें संयम की साधना परिपक्व हो गई, उस व्यक्ति में पर-भाव का सहसा प्रवेश नहीं हो सकता। १७ प्रकार के संयम से युक्त मानव बाहरी प्रभावों से, भय और प्रलोभन से विचलित नहीं होता है। संयम की शक्ति जब बढ़ जाती है तो षट्कायिक जीवों के प्रति संयम के अतिरिक्त अजीवकाय, प्रेक्षा, उपेक्षा आदि पर भी संयम सध जाता है। इच्छाओं का निरोध हो जाता है। शीत-उष्ण, निन्दा-प्रशंसा, मान-अपमान, ताड़ना-तर्जना आदि प्रसंगों पर भी वह समभावपूर्वक सहन कर लेता है। फिर उसे मन, वचन और काया की माँग विचलित नहीं कर पाती। पंचेन्द्रिय विषयों का यथावश्यक उपभोग करते हुए भी वह राग-द्वेष नहीं करता, समभावी ज्ञाता-द्रष्टा रहता है। इस प्रकार संयम की साधना परिपक्व होते ही सर्वांगीण (द्रव्य-भाव उभय) संवर प्राप्त हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि संयम उसकी साधना है, संवर है उसकी निष्पत्ति। संयम-साधना से आत्म-शक्ति का जागरण हो जाता है, फिर वह साधक मन की माँगों को पूरा करने में अपनी शक्ति स्खलित नहीं करता। शक्ति जाग्रत हो जाने पर अन्तर के आस्रव, आन्तरिक वृत्तियाँ, भीतर के आवेग, प्रमाद, विषय, कषाय, राग-द्वेष, मूर्च्छा आदि विकार संघर्षरत हो जाते हैं। उनके साथ साधक की संवरनिष्ठ आत्मा को सुदृढ़ बनकर जूझना पड़ता है। संयमी एवं संवरनिष्ठ साधक अनुप्रेक्षा

---

१. (क) विमुक्तकल्पनाजालं, समत्वे सुप्रतिष्ठितम्।
आत्मारामं मनस्तज्जैर्मनोगुप्तिरुदाहृता॥ *—योगशास्त्र*

(ख) उत्तराध्ययन, विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर) से, पृ. ५१३

के मोर्चे पर डटा रहकर पूर्वोक्त आस्रवों तथा राग-द्वेषादि के आक्रमणों को विफल कर देता है।[1]

संवरानुप्रेक्षा का सुफल हरिकेशबल मुनि ने प्राप्त किया

संयमी साधक अपनी संवरानुप्रेक्षा-साधना पर डटा रहकर दृढ़ निश्चय के साथ आगे बढ़ता है, उन सभी आस्रवों और वृत्तियों पर प्रहार करता है, उन्हें भीतर प्रविष्ट नहीं होने देता। पूर्व-जन्म में किये हुए जाति-कुल मद के कारण चाण्डालकुलोत्पन्न कुरूप बेडौल हरिकेशबल मुनि का जगह-जगह अपमान, तिरस्कार, बहिष्कार होता था। किन्तु संवरानुप्रेक्षा की दृष्टि से भावना की कि पूर्व-जन्म के अशुभ कर्मों (आस्रवों) के कारण ही मुझे यह कटु फल भोगना पड़ रहा है। अतः अब ऐसा पुरुषार्थ करूँ, ताकि इन सभी आस्रवों का आना सदा के लिये रुक जाए। ऐसी प्रबल संवर-भावना के कारण वे मुनि धर्म में प्रव्रजित हो गए। पंचमहाव्रत, पंचसमिति, तीन गुप्ति, परीषह-सहन, दशविध श्रमणधर्म आदि की साधना से आते हुए कर्मों का निरोध (संवर) करने लगे और उत्कट तपश्चर्या से सर्वकर्मों का क्षय करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए। यह है—संवरानुप्रेक्षा का सुफल![2]

● ●

---

१. (क) संजमेणं अणण्हयत्तं जणयइ।

—उत्तराध्ययन, विवेचन (आ. प्र. सं., ब्यावर), अ. २९, बोल २६, पृ. ५०१-५०२

(ख) 'अमूर्त्त चिन्तन' से भाव ग्रहण, पृ. ७०-७१

२. देखें—उत्तराध्ययनसूत्र का १२वाँ हरिकेशीय अध्ययन

१४

भाव-विशुद्धि में सहायिका : अनुप्रेक्षाएँ

(९) निर्जरानुप्रेक्षा : क्यों, क्या और कैसे ?

संवरानुप्रेक्षा के बाद निर्जरानुप्रेक्षा क्यों, कैसे ?

आज हम देखते हैं कि मनुष्य शारीरिक दृष्टि से ही नहीं, मानसिक और भावनात्मक दृष्टि से भी अस्वस्थ है। उसके मन में काम, क्रोध, लोभ, मोह की तरंगें उछल रही हैं। मन तनाव, चिन्ता, व्यग्रता, भय, प्रतिशोधभावना आदि के कारण अशान्त है। उसके मन-वचन-काया में वक्रता है, प्रवंचना है, ठगी और धोखेबाजी है। उसके सभी व्यवहारों में विषमता झलक रही है। अन्तःकरण में प्रत्येक प्रवृत्ति के साथ राग या द्वेष, प्रियता या अप्रियता, मनोज्ञता या अमनोज्ञता की छाप लगी हुई है। विविध शुभाशुभ कर्मों के संचय के कारण आत्मा कर्ममल संचय से मलिन हो रही है। जिसके कारण वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप में सम्यक्रूप से प्रवृत्त हो नहीं पाती। होती है तो भी भय, प्रलोभन, स्वार्थ या लौकिक कामनाओं की पूर्ति के उद्देश्य से प्रवृत्त होती है। इस प्रकार के रुग्ण मन, वचन, शरीर और आत्मा की बाह्य और आभ्यन्तर चिकित्सा के लिए अध्यात्म-चिकित्साविज्ञों ने कर्मों की निर्जरा के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। 'तपसा निर्जरा च' बाह्य-आभ्यन्तर निष्काम रूप तप से निर्जरा होती है। इस सिद्धान्त के द्वारा कर्मनिर्जरा करके आध्यात्मिक चिकित्सा का मार्ग प्रशस्त किया।

जिस प्रकार प्राकृतिक चिकित्सा में शरीर में संचित विजातीय द्रव्यों–मलों के कारण हुए रोग को मिट्टी, जल, सूर्य-किरण, भाप, उपवास, रेचन आदि प्रणाली द्वारा बाहर निकालकर रोगी को स्वस्थ किया जाता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक चिकित्सा में राग-द्वेषादि द्वारा जन्म-जन्मान्तर से संचित कर्ममलों तथा विजातीय तत्त्वों–पूर्वबद्ध कर्मों को बाह्य-आभ्यन्तर तप द्वारा बाहर निकालने की प्रणाली है। जिसके द्वारा अस्वस्थ आत्मा तन, मन और आत्मा से स्वस्थ और सशक्त हो जाती है।[1]

---

१. (क) 'शान्तसुधारस, चिन्तनिका नं. ९' से भावांश ग्रहण, पृ. ४३.

(ख) 'अमूर्त चिन्तन' से भावांश ग्रहण, पृ. ७५

निर्जरानुप्रेक्षा से सर्वतोमुखी शुद्धि

संवरानुप्रेक्षा द्वारा बाहर से आने वाले आस्रवों (कर्मागमनों) का निरोध कर दिया जाता है, किन्तु जो कर्म आत्मा के साथ इस जन्म के तथा पूर्व-जन्मों के लगे हुए हैं, वे कैसे नष्ट किये जाएँ? कैसे उन संचित कर्मों को उखाड़कर बाहर किया जाए? इसके लिये निर्जरानुप्रेक्षा बताई गई है। नये कर्म न बाँधे जाएँ, इतने मात्र से आत्मा की शुद्धि नहीं होती, पहले से बँधे हुए जो शुभाशुभ कर्म संचित पड़े हैं, उनको नष्ट करने पर ही आत्मा की सर्वतोमुखी शुद्धि हो सकती है, इसी भावना से प्रेरित होकर कर्ममलों की विशुद्धि की–रागद्वेषादिजनित कर्ममलों के प्रक्षालन की विद्या निर्जरानुप्रेक्षा है। क्योंकि निर्जरा आत्म-शुद्धि की सर्वांगीण प्रक्रिया है।[1]

अवचेतन मन में संचित रागादि संस्कारों का रेचन निर्जरा द्वारा ही संभव

संवर के द्वारा शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि पर रागादि के निमित्त से बाहर से आने वाले आस्रवों के द्वार तो बन्द कर लिये, परन्तु मन-मस्तिष्क में लाखों-करोड़ों शब्दादि के संस्कारों के जत्थे के जत्थे बंद पड़े हैं, ये भीतर में संचित शब्दादि निमित्त मिलते ही उभर आते हैं। ध्यान, मौन, जप आदि के द्वारा उस ज्ञान मन को स्थिर करने–एकाग्र करने का प्रयत्न करने पर भी वह अधिकाधिक चंचल, व्यग्र एवं उत्तेजित हो उठता है, इसका क्या कारण है? और इस कारण के निवारण का क्या उपाय है? असल में, जब बाह्य मन से आस्रवों का प्रवेश होता था, तब भीतर का मन सोया पड़ा था। किन्तु जब बाहर से द्वार बंद हो जाते हैं, तो भीतर वाले मन को जागने का मौका मिलता है। मनोविज्ञान की भाषा में कहें तो, जब चेतन मन जागता है तो अवचेतन मन सोया रहता है और चेतन मन सो जाता है तो अवचेतन मन जागता है। बाह्य (चेतन) मन जागता है, तब भीतर के (अवचेतन) मन का भण्डार कर्मसंस्कारों से, विविध वृत्तियों से भरता रहता है। एक दिन निमित्त मिलते ही भयंकर विस्फोट होता है। अज्ञात मन में दबी पड़ी हुई वे संस्कारों की पर्तें उखड़कर बाहर आती हैं। जो व्यक्ति आज तक सज्जन और शरीफ दिखाई देता था, उसमें अचानक हिंसा, हत्या, बेईमानी, चोरी आदि बुराइयाँ एकदम उभर आती हैं। ये दुर्वृत्तियाँ इसलिए उभरती हैं कि उसके मूल संस्कार अवचेतन मन की गहराई में छिपे हुए थे। केवल प्रतिसंलीनता या ध्यान के अभ्यास करने से भी वे दबी हुई वासनाएँ रिक्त नहीं होतीं। वे शब्दादि की संचित एवं प्रसुप्त वासनाएँ निर्जरा के द्वारा ही रिक्त होती हैं। निर्जरा की प्रक्रिया से ही उन

१. 'अमूर्त चिन्तन' से भावांश ग्रहण, पृ. ७५

रागादि या कषायादि की संचित वृत्तियों को बाहर निकाला जा सकता है, उनका रेचन किया जा सकता है। रेचन का मतलब केवल भीतर के संचित विजातीय तत्त्वों को बाहर निकालना ही नहीं है, अपितु उन्हें संचित करने वाले तंत्र को भी समाप्त कर देना है।

निर्जरा का विशद स्वरूप, कार्य और प्रकार

जिस प्रकार पक्षी रज से भरी हुई पांखों को फड़फड़ाकर प्रकम्पित करके रजकणों को झाड़ देता है, उसी प्रकार बाह्याभ्यन्तर तपोमूलक निर्जरा के द्वारा कर्मरज को प्रकम्पित करके साधक झाड़ देता है। इस दृष्टि से पूर्वबद्ध कर्मों को उदय में आने से पूर्व या उदय में आने के पश्चात् स्वेच्छा से, निष्कामभाव से झाड़ देना भी निर्जरा है।[1] 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' के अनुसार-"निर्जरा का स्वरूप है-ज्ञानावरणीयादि समस्त कर्मों की शक्ति अर्थात् फलदान सामर्थ्य का विपाक होकर उदय होना, जिसे अनुभाग कहते हैं। अतः कर्मों का उदय में आकर (फल भुगवाकर) तुरन्त खिर जाने-झड़ जाने को कर्मनिर्जरा समझो।" संक्षेप में संसार की हेतुभूत कर्मसंतति का अंशतः क्षय होना निर्जरा है।[2] 'शान्तसुधारस' के अनुसार-वास्तव में कर्मनिर्जरणस्वरूप वाली निर्जरा एकरूप वाली है, किन्तु कारण भेद (द्वादश प्रकारीय तप) होने से, कार्यभेद (निर्जरारूप कार्य) के भी बारह प्रकार बताए गए हैं।[3]

उसी की निर्जरा सार्थक होती है

निर्जरानुप्रेक्षा उसी की सार्थक होती है, जो निदान (इन्द्रिय-विषयभोगों की वांछा) रहित एवं अहंकाररहित होकर, वैराग्यभावना = संसार तथा देह के भोगों से विरक्त परिणामों से सम्यग्ज्ञानपूर्वक बारह प्रकार का तप यथाशक्ति-यथारुचि करता है, करने की तीव्र इच्छा रखता है।[4] इस प्रकार चिन्तन करने वाले अनुप्रेक्षक की कर्मनिर्जरा के लिए प्रायः सभी प्रवृत्ति होती हैं।

---

१. 'अमूर्त चिन्तन' से भाव ग्रहण, पृ. ७६

२. (क) वही, पृ. ७६

(ख) सव्वेसिं कम्माणं सत्ति विवाओ हवेइ अणुभाओ।
तदणंतरं तु सडणं कम्माणं णिज्जरा जाण॥ —*कार्तिकेयानुप्रेक्षा १०३*

३. निर्जराऽपि द्वादशधा, तपोभेदैस्तथोदिता।
कर्मनिर्जरणात्मा तु सैकरूपैव वस्तुतः॥ —*शा. सु. र. ३*

४. (क) बारसविहेण तवसा णियाणरहिअस्स णिज्जरा होदि।
वेरग्ग-भावणादो णिरहंकारस्स णाणिस्स॥ —*का. अ. १०२*

(ख) एवं ह्यस्यानुसारतः कर्मनिर्जरायै प्रवृत्तिर्भवति। —*सर्वार्थसिद्धि ९/७/४१७*

'समयसार' में कहा है–निर्जरानुप्रेक्षक बार-बार अनुचिन्तन करता है कि "कर्मों के उदय का विपाक (रसानुरूप फलदान-सामर्थ्य) जिनेश्वर देव ने अनेक प्रकार का कहा है। कर्मविपाक से हुए वे भाव मेरे नहीं हैं। मैं तो एकमात्र ज्ञायकभाव (ज्ञाता) स्वरूप हूँ।" 'द्रव्यसंग्रह टीका' में कहा गया है–"निज-परमात्मानुभूति (स्वशुद्धात्मानुभव) बल से निर्जरा करने के लिए साधक दृष्ट, श्रुत, अनुभूत विषयभोगों की आकांक्षादिरूप विभाव-परिणाम के त्यागरूप संवेग और वैराग्यरूप परिणामों (अध्यवसायों) सहित रहता है। इस प्रकार निर्जरानुप्रेक्षा की सार्थकता है।"[1]

निर्जरा के प्रकार, स्वरूप और निर्जरानुप्रेक्षा

यह निर्जरा सकाम और अकाम के भेद से दो प्रकार की है। केवल कर्मक्षय के प्रयोजन से, स्वेच्छापूर्वक ज्ञान और विधिपूर्वक तप द्वारा कर्मों का क्षय करना सकामनिर्जरा है। बिना इच्छा और उद्देश्य के पूर्वबद्ध कर्म के उदय में आने पर (हाय-हाय करते, विलाप करते, दूसरे को कोसते हुए) फल भुगताकर स्वभावतः जीव से अलग हो जाना अकामनिर्जरा है। निर्जरानुप्रेक्षा में सकामनिर्जरा ही ग्राह्य है। इसी को प्रकारान्तर से स्पष्ट करने के लिए 'बारस अणुवेक्खा' में कहा गया है–वह (पूर्वोक्त) निर्जरा दो प्रकार की है–स्वकालपक्वा (स्वकालप्राप्ता) और तप द्वारा की जाने वाली। इनमें से पहली निर्जरा तो चारों गतियों के जीवों के होती है और दूसरी केवल व्रतधारी साधु-श्रावकों के होती है। 'सर्वार्थसिद्धि' में "वेदना-विपाक को निर्जरा कहा है। वह दो प्रकार की है–अबुद्धिपूर्वा और कुशलमूला। नरकादि गतियों कर्मकाल के विपाक (उदय में आकर कर्मफलोन्मुख होने) से जायमान जो अबुद्धिपूर्वा निर्जरा होती है, जो अकुशलानुबन्धा होती है तथा परीषहादि के जीतने पर जो निर्जरा होती है, वह कुशलमूला निर्जरा होती है। वह दो प्रकार की होती है–शुभानुबन्धा और निरनुबन्धा। इस प्रकार निर्जरा के गुण-दोषों का चिन्तन करना निर्जरानुप्रेक्षा है।" जिस प्रकार कुछ आम्रफल डाल पर स्वतः पक जाते हैं और कुछ को पलाल आदि में रखकर प्रयत्नपूर्वक पकाया जाता है, इसी प्रकार कर्म का विपाक भी स्वभावतः और उपायतः दोनों प्रकार से होता है।[2]

---

१. (क) उदय-विवागो विविहो कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहिं।
ण दु ते मज्झ सहावा, जाणगभावो दु अहमिक्को॥ *–समयसार मू. १९८*

(ख) निज-परमात्मानुभूति-बलेन निर्जरार्थ दृष्ट-श्रुतानुभूत-भोगाकांक्षादि-विभाव-परिणाम-परित्यागरूपैः संवेग-वैराग्य-परिणामैर्वर्तते। इति निर्जरानुप्रेक्षागता।
–द्रव्यसंग्रह टीका ३५/११२

२. (क) जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भा. ४, बोल ८१२, पृ. ३६९

(ख) सा पुण दुविहा णेया सकालपक्का (पत्ता), तवेण कयमाणा।
चादुगतीणं पढमा, वयजुत्ताणं हवे बिदिया॥ *–बा. अ. ६७ तथा कार्तिकेयानुप्रेक्षा १०४*

निर्जरा के मूल कारण : द्वादशविध तप

तप के बारह प्रकार कहे हैं, जोकि निर्जरा के मूल कारण हैं। तप के बारह प्रकारों में छह बाह्य तप हैं–अनशन, ऊनोदरी, वृत्ति-संक्षेप, रस-परित्याग, कायक्लेश और प्रतिसंलीनता। कोई-कोई प्रतिसंलीनता के बदले 'विविक्तशय्यासना' कहते हैं। परन्तु दोनों का तात्पर्य एक ही है। वृत्ति-संक्षेप के बदले कहीं-कहीं भिक्षाचारी तप है। आभ्यन्तर तप छह प्रकार का है–प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग)। इनके विषय में विस्तार से विश्लेषण हम आगे के प्रकरण में करेंगे।[1]

उत्कृष्ट निर्जरा : कैसे-कैसे और किस क्रम से ?

निर्जरा की वृद्धि उपशमभाव और तप की क्रमशः वृद्धि होने से होती है तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान से तो निर्जरा की विशेष वृद्धि होती है। 'तत्त्वार्थसूत्र' के अनुसार–प्रथम उपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय त्रिकरणवर्त्ती विशुद्ध परिणाम सहित मिथ्यादृष्टि को जो निर्जरा होती है, उससे असंयत (अविरति सम्यग्दृष्टि (चतुर्थ गुणस्थान में) के असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। उससे देशविरति श्रावक (पंचम गुणस्थान) के असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। उससे महाव्रती मुनिजनों के असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। उनसे अनन्तानुबन्धी कषाय के वियोजक अर्थात् उसे अप्रत्याख्यानादिरूप में परिणत करने वाले के असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। उनसे दर्शनमोह का क्षय करने वाले के असंख्यातगुणी और उनसे असंख्यातगुणी निर्जरा उपशम श्रेणी वाले तीन गुणस्थानवर्ती जीवों के होती है। उनसे उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों के असंख्यातगुणी और उनसे असंख्यातगुणी निर्जरा होती है–क्षपक श्रेणी वाले तीन गुणस्थानवर्ती जीवों के तथा उनसे सयोगीकेवली के असंख्यातगुणी और उनसे भी असंख्यातगुणी निर्जरा अयोगीकेवली के होती है। इस प्रकार चतुर्थ गुणस्थान और उससे ऊपर-ऊपर के गुणस्थानों में क्रमशः असंख्यात-असंख्यातगुणी

पिछले पृष्ठ का शेष–

(ग) निर्जरा वेदनाविपाक इत्युक्तम्। सा द्वेधा-अबुद्धिपूर्वा कुशलमूला चेति। तत्र नरकादिषु गतिषु कर्मफल-विपाकजा अबुद्धिपूर्वा सा अकुशलानुबन्धा। परीषह-जये कृते कुशलमूला सा शुभानुबन्धा निरनुबन्धा चेति। इत्येवं निर्जराया गुणदोष-भावनं निर्जरानुप्रेक्षा।

–सर्वार्थसिद्धि ९/७/४१७

१. (क) उत्तराध्ययनसूत्र, अ. ३०, गा. ७-८, ३१

(ख) शान्तसुधारस, निर्जराभावना, श्लो. ४-५

(ग) तत्त्वार्थसूत्र, अ. ९, सू. १९-२०

निर्जरा होती है। निर्जरानुप्रेक्षक को इस पर चिन्तन करके कर्मनिर्जरा करने का यथाशक्ति पुरुषार्थ करना चाहिए।[1]

अधिकाधिक निर्जरा के अवसर

'कार्तिकियानुप्रेक्षा' में बताया गया है कि "जो साधक दुर्वचनों को तथा अन्य साधर्मिकों द्वारा किये गए अवमान–अनादर को और देव आदि द्वारा किये गए उपसर्ग को समभावपूर्वक शान्ति और धैर्य के साथ सहन करता हैं और इस प्रकार कषायरूप शत्रुओं को जीत लेता है, उसे विपुल कर्मनिर्जरा होतीं है। जो साधक उपसर्ग और तीव्र परीषह आने पर यों मानता है कि मैंने पूर्व-जन्म में जो पापकर्म संचित किया था, उसका यह फल है, इसलिए व्याकुल न होकर इसे शान्तिपूर्वक भोग लूँ। जैसे किसी ने किसी साहूकार से कर्ज लिया हो तो साहूकार के द्वारा माँगने पर उसे दे देना चाहिए, उसमें व्याकुलता क्यों की जाए? इसी प्रकार कर्मों का कर्ज मानकर समभावपूर्वक चुकता कर देना चाहिए। ऐसा चिन्तन करने से बहुत ही कर्मनिर्जरा होती है।"[2]

पापिष्ट अर्जुनमाली ने निर्जरानुप्रेक्षा से मोक्ष प्राप्त किया

राजगृहनिवासी यक्षाविष्ट अर्जुनमाली ने लगभग ११४१ व्यक्तियों की हत्या कर डाली थी। परन्तु भगवान महावीर को वन्दना करने हेतु जाते हुए सुदर्शन श्रमणोपासक के निमित्त से उसका यक्षावेश दूर हो गया। वह भी सुदर्शन के साथ भगवान को वन्दन करने गया। उनका धर्मोपदेश सुना और पूर्वबद्ध पापकर्मों का क्षय करने के लिये कमर कस ली। मुनि-दीक्षा लेकर उसने यावज्जीवन बेले-बेले तप करने की प्रतिज्ञा ली। पारणे के दिन नगरी में भिक्षा के लिये जाता, तब उसे देखकर लोग अर्जुन मुनि की भर्त्सना, ताड़ना, तर्जना, आक्रोश, निन्दा एवं अवमानना करते थे। परन्तु अर्जुन अनगार इन सब को समभाव से, शान्ति और धैर्य के साथ सहन करते हुए इस प्रकार की निर्जरानुप्रेक्षा करते थे–"मैंने तो इनके सम्बन्धियों की हत्या कर दी थी, परन्तु ये तो थोड़े-से में ही छुटकारा देकर भरपाई कर रहे हैं। ये मेरा

---

१. (क) कार्तिकियानुप्रेक्षा (निर्जरानुप्रेक्षा), गा. १०५-१०८

(ख) सम्यग्दृष्टि-श्रावक-विरतानन्त-वियोजक-दर्शनमोह-क्षपकोपशमकोपशान्तमोह-क्षपक-क्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुण-निर्जराः। —*तत्त्वार्थसूत्र, अ. ९, सू. ४५*

२. जो वि सहति दुव्वयणं, साहमिय-हीलणं च उवसग्गं।
जिणिऊण कसायरिउं, तस्स हवे णिज्जरा विउला॥१०९॥
रिणमोयणुव्व मण्णइ जो उवसग्गं परीसहं निव्वं।
पावफलं मे एदे मया वि संचिदं पुव्वं॥११०॥ —*कार्तिकियानुप्रेक्षा १०९-११०*

(आत्मा का) कुछ भी नहीं बिगाड़ते। बल्कि ये तो मुझे कर्मनिर्जरा का सुन्दर अवसर देकर मेरी सहायता करते हैं।" इस अनुप्रेक्षा से उन्होंने छह महीनों में ही समस्त कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त करके सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष प्राप्त कर लिया। यह है—निर्जरानुप्रेक्षा की परम उपलब्धि ![1]

आलोचना-निन्दना-गर्हणा एवं आत्म-चिन्तन से महानिर्जरा

'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' के अनुसार—जो साधक शरीर को मोह-ममत्वजनक, विनश्वर और अपवित्र मानकर, शरीर के प्रति मूर्च्छा का त्याग करके दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप, निर्मल, नित्य और सुखजनक आत्म-स्वरूप में लीन होता है, उसके बहुत ही निर्जरा होती है। जो साधक अपने आत्म-स्वरूप में तत्पर होकर अपने द्वारा पूर्वकृत दुष्कृतों की आलोचना, निन्दना (पश्चात्ताप) और गर्हणा करता है। गुणवान व्यक्तियों का प्रत्यक्ष और परोक्ष बहुमान करता है तथा अपने मन और इन्द्रियों को वश में कर लेता है, उसके भी प्रभूत निर्जरा होती है। जो साधक वीतरागभावरूप (सुख-दुःख में समभावरूप) सुख में लीन होकर बार-बार (शुद्ध) आत्मा का स्मरण-चिन्तन करता है एवं इन्द्रिय-विषयों और कषायों पर विजय पा लेता है, उसके उत्कृष्ट निर्जरा होती है। जो साधक पूर्वोक्त प्रकार से निर्जरानुप्रेक्षी बनकर निर्जरा के अवसरों को नहीं चूकता, उसका जन्म सफल है। उसके ही पापकर्मों की निर्जरा (क्षय) होने से पुण्यकर्म का अनुभाग बढ़ जाता है। फलतः वह स्वर्गादि-सुखों का उपभोग करके क्रमशः मोक्ष (सर्वकर्ममुक्तिरूप) प्राप्त कर लेता है।[2]

निष्कामभाव से की हुई सकामनिर्जरा से मुख्यतः तीन उपलब्धियाँ होती हैं—(१) आत्म-शुद्धिकरण, (२) चेतना की मूलस्वरूप में अवस्थिति, और (३) व्याधि, आधि और उपाधि से हटकर समाधि में अवस्थिति।

---

१. देखें—'अन्तकृद्दशांगसूत्र' के वर्ग ६, अ. ३ में अर्जुन-अनगार का वर्णन

२. जो चिंतेइ सरीरं ममत्तजणयं विणस्सरं असुइं।
दंसण-णाण-चरित्तं सुहजणयं णिम्मलं णिच्चं॥१११॥
अप्पाणं जो णिंदइ गुणवंताणं करेदि बहुमाणं।
मण-इंदियाण वि जई, स सरूव-परायणो होदि॥११२॥
तस्स य सहलो जम्मो, तस्स वि पावस्स णिज्जरा होदि।
तस्स वि पुण्णं वड्ढइ, तस्स य सोक्खं परो होदि॥११३॥
जो सम-सुक्ख-णिलीणो, वारं वारं सरेइ अप्पाणं।
इंदिय-कसाय-वि जइ, तस्स हवे णिज्जरा परमा॥११४॥ —कार्तिकेयानुप्रेक्षा १११-११४

(१०) लोकानुप्रेक्षा : एक अनुचिन्तन

लोकानुप्रेक्षा : क्यों, क्या और कैसे ?

मानव-मन में सहज ही एक जिज्ञासा होती है कि जहाँ अनन्त-अनन्त जीव रह रहे हैं, वह क्या है? उसका नाम क्या है? वह कितना बड़ा है? उसका आकार कैसा है? उसमें कौन-कौन-से कैसे-कैसे प्राणी रहते हैं? उसकी लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई, गहराई कितनी है? इसमें जीवों के सिवाय और कोई द्रव्य है या नहीं? इस लोक में रहने वाले सभी जीवों में एकरूपता, एकाकारता, एकस्वभावना, एकात्मता क्यों नहीं है? विविधताएँ और विचित्रताएँ क्यों हैं? क्या इन विविधताओं और विचित्रताओं का अन्त किया जा सकता है? लोक में निहित अन्य द्रव्यों के साथ जीवद्रव्य का परस्पर सहयोग, सहकार या सम्बन्ध है या नहीं? इन और ऐसे ही विविध प्रश्नों पर कर्मों के निरोध और क्षय के सन्दर्भ में शुद्ध आत्मा के परिप्रेक्ष्य में चिन्तन-मनन करना लोकानुप्रेक्षा है। भगवान महावीर ने लोकानुप्रेक्षा के सन्दर्भ में कहा–"लोकविपश्यी (लोकदर्शी) पुरुष दीर्घद्रष्टा होता है। वह लोक के अधोभाग को जानता है, ऊर्ध्वभाग को जानता है और तिरछे (मध्य) भाग को जानता है।" जो साधक लोक के तीनों भागों को एकाग्रचित्त होकर जानता है, वह सभी प्राणियों को जानकर उनकी आकृति, प्रकृति, क्षेत्रवसति, पर्याप्ति, गति, जाति, शरीरादि को जान लेता है। जो साधक लोक की विविधता और विचित्रता के दर्शन करता है तथा उसके कारणों पर विचार करता है, फिर वह बाहर से दिखने वाले लोक की परिणतियों पर विचार करके अपने अन्तःस्थित आत्मा में उस पर अनुप्रेक्षण करता है। 'आचारांगसूत्र' में बताया गया है–"जिस साधक को लोक में (विविधता और विचित्रता के हेतुभूत राग-द्वेषादिजन्य) कर्म-समारम्भों का परिज्ञान हो जाता है, वह मुनि (ज्ञपरिज्ञा से उन्हें जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से त्याग देता है इसलिए) 'परिज्ञातकर्मा' हो जाता है।[१]

लोकानुप्रेक्षा का उद्देश्य

लोकानुप्रेक्षक साधक यह सोचता है कि मनुष्यों, पशु-पक्षियों, कीट-पतंगों, पंच स्थावरों, विकलेन्द्रियों, देवों, नारकों और मुक्त (सिद्ध) आत्माओं आदि सबके

---

१. (क) 'शान्तसुधारस, लोकभावना, संकेतिका नं. ११' से भावांश ग्रहण, पृ. ५५-५६

(ख) आयतचक्खू लोग-विपस्सी, लोगस्स अहोभागं जाणइ, उड्ढं भागं जाणइ, तिरियं भागं जाणइय। —*आचारांगसूत्र, श्रु. १, अ. २, उ. ५, सू. ३०२*

(ग) 'अमूर्त्त चिन्तन' से भावांश ग्रहण, पृ. ८५

(घ) जस्सेते लोगंसि कम्म-समारंभा परिण्णाया भवंति, से हु मुणी परिण्णाय-कम्मे। —*आचारांग १/१/१/१२*

निवास-स्थान लोक की सीमा में हैं। यह वैविध्य और वैचित्र्य राग-द्वेषादि से बद्ध कर्मों के उदयजनित परिणाम हैं। इस प्रकार से लोकानुप्रेक्षण करके साधक स्वयं को इससे सतत तटस्थ–समत्वस्थित–बनाये रखे। न ही इस पर राग करे, न ही द्वेष। सभी प्राणियों तथा पौद्गलिक वस्तुओं, प्राकृतिक अवस्थाओं पर समत्व की अनुभूति करे।[1]

लोकानुप्रेक्षा से लाभ

'शान्तसुधारस' के अनुसार यह लोक विविधताओं का रंगमंच है। इसमें पुद्गल और जीवरूपी नट नानारूप बनाकर नृत्य कर रहे हैं। (अपने-अपने कर्मानुसार जीव अपना-अपना पार्ट अदा कर रहे हैं।) काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ, ये सब अपने-अपने वाद्यों (वादों) के निनाद द्वारा उन्हें नचा रहे हैं। स्पष्ट है–इस लोक में अनेक संस्थान हैं, उनके विभिन्न रूप में परिणमन होते रहते हैं, पर्याय बदलते रहते हैं। लोकानुप्रेक्षा से उन सबमें समत्व की अनुभूति करके आसक्ति और घृणा, अरुचि-रुचि, अहंकार और हीन दैन्यभावों पर विजय प्राप्त की जा सकती है। साथ ही–"इस प्रकार भिन्न-भिन्न रूप से अनुचिन्तित = अनुप्रेक्षित लोकविज्ञ जनों के लिए मन की स्थिरता = एकाग्रता (प्रज्ञा की स्थिरता) का हेतु बनता है। मानसिक स्थिरता होने पर अथवा प्रज्ञा की स्थिरता होने पर अर्थात् मन और प्रजा के अन्य बाह्य विषयों से हटकर स्थिर हो जाने पर अनायास ही आत्म-हितकर अध्यात्म सुखों की प्राप्ति सुलभ हो जाती है।" 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में कहा गया है–जो साधक एकमात्र उपशमस्वभाव (साम्यभाव) से युक्त होकर लोकस्वभाव का ध्यान = अनुप्रेक्षण या चिन्तन करता है, वह (लोक के वैविध्य के मूल कारणभूत) कर्मपुँज का क्षय करके उसी लोक का चूड़ामणि (लोक के अग्र भाग पर स्थित मुक्तात्मा) हो जाता है। वहाँ अक्षय, अनन्त, अचल, अनुपम, अव्याबाध, स्वाधीन ज्ञानानन्दरूप सुख का अनुभव करता है। लोक के स्वरूप का चिन्तन करने से तत्त्वज्ञान की भी विशुद्धि होती है।[2]

---

१. (क) 'अमूर्त्त चिन्तन' से भावांश ग्रहण, पृ. ८५

(ख) 'शान्तसुधारस, लोकभावना, संकेतिका नं. ११' से भाव ग्रहण

२. (क) रंगस्थानं पुद्गलानां नटानां, नानारूपैर्नृत्यतामात्मनां च।
कालोद्योग-स्वभावादि भावैः, कर्मातोद्यैर्नर्तितानां निजात्मा॥६॥
एवं लोको भाव्यमानो विविक्त्या, विज्ञानां स्यान्मानस-स्थैर्य-हेतुः।
स्थैर्ये प्राप्ते मानसे चात्मनीना, सुप्राप्यैवाध्यात्म-सौख्य-प्रसूतिः॥७॥

–शान्तसुधारस, लोकभावना ६-७

(ख) एवं लोयसहावं जो झायदि उवसमेक्कसब्भावो।
सो खविय कम्मपुंजं तस्सेव सिहामणी होदि॥ *–कार्तिकेयानुप्रेक्षा २८३*

जैन-सिद्धान्त के अनुसार–धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल, इस प्रकार लोक षड्द्रव्यात्मक हैं। जीवों और पुद्गलों को गति प्रदान करने में और उन्हें स्थिति (स्थिरता) प्रदान करने में सहायक क्रमशः धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय हैं। आकाशास्तिकाय अवकाश प्रदान करता है।[1]

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल, ये पाँच द्रव्य अजीव हैं और जीवास्तिकाय जीव है। इस प्रकार लोक जीव-अजीवरूप (जड़चेतनमय) है। यानी जीव और अजीव से व्याप्त हैं। ये छह द्रव्य हैं, वह लोक और जहाँ केवल आकाश ही हो, वह अलोक कहलाता है। लोक ससीम है, अलोक असीम। जिस आकाशखण्ड में धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय, ये दो द्रव्य व्याप्त हैं, वह लोक है; तथैव जीव और पुद्गल की गति और स्थिति लोक तक ही होती हैं। अलोक में गति-स्थिति के माध्यम न होने से वहाँ पूर्वोक्त पाँचों द्रव्य नहीं होते। यही लोक की प्राकृतिक सीमा है। लोक अलोकाकाश से घिरा हुआ है। लोक (लोकाकाश) तीन भागों में विभक्त है–ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक। लोक की लम्बाई १४ रज्जू-प्रमाण है। ऊर्ध्वलोक सात रज्जू से कुछ कम है, अधोलोक सात रज्जू से कुछ अधिक लम्बा है तथा मध्यलोक १८०० योजन ऊँचा (लगभग १ रज्जू) एवं असंख्य द्वीप-समुद्र-परिमाण विस्तृत है। ऊर्ध्वलोक २६ प्रकार के वैमानिक देवों का निवास है, मध्यलोक में मुख्यतया मनुष्य, तिर्यंच तथा व्यन्तरदेव, ऊपर में ज्योतिष्कदेव रहते हैं और अधोलोक में सातों नरक के नारकों का तथा भवनपतिदेवों का निवास-स्थान है। चारों गति के जीव इस लोक में समाविष्ट हैं। लोक के अग्रभाग (अन्त) में सिद्धशिला है, जहाँ मुक्त (सिद्ध) आत्मा रहते हैं। लोक का संस्थान सुप्रतिष्ठक आकार वाला है अथवा तीन सकोरों में एक सकोरा उल्टा, उस पर एक सकोरा सीधा तथा उस पर फिर एक सकोरा उल्टा रखने से जो आकृति बनती है, तदाकाररूप है। लोक को पुरुष की संज्ञा दी गई है जामा पहनकर तथा पैर फैलाकर कोई पुरुष खड़ा हो, उसके दोनों हाथ कमर पर रखे हों, ऐसे पुरुष से लोक की उपमा दी गई है। अलोक का आकार बीच में पोल वाले गोले के समान है, वह एकाकार है। उसका कोई विभाग नहीं होता। लोक में पृथ्वी घनोदधि पर स्थित है, घनोदधि घनवायु पर और घनवायु तनुवायु पर प्रतिष्ठित है, यह तनुवायु आकाश पर स्थित है। लोक में नीचे से ज्यों-ज्यों ऊपर

---

१. (क) षड्द्रव्यात्मको लोकः।

(ख) धर्माधर्माऽकाश-पुद्गलाः। द्रव्याणि जीवाश्च। गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारः आकाशस्याऽवगाहः। *–तत्त्वार्थसूत्र, अ. ५, सू. १-२, १७-१८*

जाते हैं, त्यों-त्यों अधिकाधिक सुख बढ़ता जाता है और ज्यों-ज्यों ऊपर से नीचे की ओर जाते हैं, त्यों-त्यों अधिकाधिक दुःख बढ़ता जाता है।[1]

कई लोग कहते है—लोक की रचना ब्रह्मा करते हैं, कोई विष्णु को लोकरक्षक मानते हैं और महेश को लोकसंहारक। कई मतवादी कहते हैं—कछुए की पीठ पर या शेषनाग के फनों पर लोक (सृष्टि) टिका हुआ है। लोक (सृष्टि) का प्रलय होता है, तब सर्वशून्य हो जाता है। परन्तु जैन-सिद्धान्त तथा गीताकार का सिद्धान्त कहता है, इस लोक को किसी ने बनाया नहीं है, न ही किसी ने अपने पर धारण किया है और न किसी के द्वारा इसका नाश (प्रलय) होता है। छही द्रव्य नित्य हैं, इसलिए लोक भी नित्य है। अनादि और शाश्वत है। पर्याय की अपेक्षा इसमें ह्रास और वृद्धि के रूप में परिवर्तन (परिणमन = एक अवस्था से दूसरी अवस्था के रूप में रूपान्तर) होता है। मूल वस्तु उसी रूप में (ध्रुव) रहती है।[2]

'सर्वार्थसिद्धि' के अनुसार—चारों ओर से अनन्त अलोकाकाश के बहुमध्यदेश में स्थित लोक के आकार और प्रकृति आदि की विधि कह दी गई है, उसके स्वभाव का अनुचिन्तन करना लोकानुप्रेक्षा है।[3]

'बारस अणुवेक्खा' में लोकानुप्रेक्षा के लिए चिन्तन का रूप बताया है—"यह जीव अशुभ विचारों से नरक और तिर्यंच गति पाता है। शुभ विचारों से देवों और मनुष्यों के सुख भोगता है और शुद्ध विचारों से मोक्ष पाता है। इस प्रकार लोकभावना का चिन्तन करना चाहिए।[4]

'संयम कब ही मिले?' में लोकस्वरूपभावना के परिप्रेक्ष्य में संवर, निर्जरा तथा त्याग-संवेग और वैराग्य के उद्दीपन के लिए कहा गया है—"ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक का इस दृष्टिबिन्दु से चिन्तन करना चाहिए कि मेरे जीव ने तीनों

---

१. (क) शान्तसुधारस, लोकभावना १-५
(ख) "शान्तसुधारस, संकेतिका नं. ११' से भाव ग्रहण, पृ. ५५
(ग) जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भा. ४, बोल ८१२ से भाव ग्रहण, पृ. ३७०

२. (क) कार्तिकियानुप्रेक्षा, गा. ११५-११७ का गुजराती भावार्थ
(ख) जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भा. ४, बोल ८१२ से भाव ग्रहण, पृ. ३७
(ग) न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं, स्वभावस्तु प्रवर्तते॥ —*भगवद्गीता*

३. समन्तादनन्तस्यालोकाकाशस्य बहुमध्यदेशभाविनो लोकस्य संस्थानादिविधिर्व्याख्यातः; ततूस्वभावानुचिन्तनं लोकानुप्रेक्षा। —*सर्वार्थसिद्धि ९/७/४१८*

४. असुहेण णिरय-तिरियं, सुह-उपजोगेण दिव्वि-णर-सोक्खं।
सुद्धेण लहइ सिद्धिं, एवं लोयं विचिंतिज्जो॥ —*बारस अणुवेक्खा ४२*

लोकों में एक बार नहीं, असंख्य बार जन्म-मरण पाया है। इसलिए मुझे ऐसा प्रयत्न करना चाहिए, जिससे इन तीनों लोकों में जन्म-मरण से छुटकारा पाकर लोक के अग्रभाग में पहुँचकर मुक्तात्मा के रूप में रह सकूँ। जब हमारा जीव देवलोक के भौतिक सुखों की ओर आकर्षित हो, ललचाए, तब ऊर्ध्वलोक का इस दृष्टि से विचार करना–अरे जीव ! तूने देवलोक में क्या-क्या नहीं देखा ? कौन-सा सुख नहीं भोगा ? उन क्षणिक दिव्यसुखों को भोगकर भी तृप्ति नहीं हुई ! इस मर्त्यलोक के सुख तो तुच्छ हैं, असार हैं, घृणित हैं। इन सुखों की ओर क्यों ललचा रहा है ? इस प्रकार चिन्तन करने से वैषयिक भौतिक सुखों का आकर्षण समाप्त हो जाएगा।"

आगमों से यह तथ्य स्पष्ट है कि "ऊपर-ऊपर के देवलोकों में वैषयिक सुख तो एक से एक बढ़कर मिलते हैं, किन्तु उन देवों की विषयासक्ति घटती जाती है, भोगोपभोग का समय भी उनका अल्प-स्वल्प है। हमें उन उच्च देवलोकों से प्रेरणा लेनी चाहिए कि ज्यों-ज्यों हमारी वृत्तियाँ ऊर्ध्वमुखी बनती जाएँ, त्यों-त्यों हमारी विषयासक्ति, शारीरिक सुखों की स्पृहा घटती जानी चाहिए। हमें ऊर्ध्वारोहण करना है।"

"देव अविरत होते हैं। किन्तु नौ ग्रैवेयक और पंच अनुत्तरदेव अविरत होने के बावजूद कितने उपशान्त कषाय और निर्विकार होते हैं। 'तत्त्वार्थसूत्र' के अनुसार वे गति, शरीर, परिग्रह एवं अभिमान से न्यून होते हैं। उनकी लेश्या विशुद्ध होती है। ऐसी स्थिति सर्वविरतिधर साधुवर्ग और देशविरतिधर श्रावकवर्ग को क्या यह नहीं सोचना चाहिए कि हमें कितना निर्विकार और विशुद्ध होना चाहिए ? अविरत अनुत्तरदेव भी तत्त्वचिन्तन में ही अपना जीवनकाल व्यतीत करते हैं, जबकि विरत साधु-श्रावकवर्ग का जीवन कैसे चिन्तन में व्यतीत होता है ?"

"जब यह विचार हमें व्याकुल करे कि 'ऐसे दुःख तो अब असह्य हो उठे हैं' तब अधोलोकवर्ती नारकों के दुःखों का चिन्तन करना। नरक के जीव परवश होकर कितने घोर दुःखों को सहन करते हैं। हमारा जीव भी इन वेदनाओं को सह आया है। इस मानव-जीवन में तो उन भयंकरतम दुःखों का एक अंश भी नहीं है, फिर भी हम अपने दुःखों की शिकायत जहाँ-तहाँ करते रहते हैं।"[१] गाँवों में, नगरों में या जंगल में पशुओं को हम देखते हैं। इन पशुओं को देखकर क्या तुम्हें कोई तात्त्विक विचार आता है ? क्या यह याद आता है कि मेरा जीव भी इन सब पशुयोनियों में जन्म-मरण कर आया है ? पशुओं के दीन-हीन, पराधीन जीवन भी हमें एक बार नहीं, अनन्त बार मिले हैं ! अगर फिर से पशुसृष्टि में नहीं जाना हो तो तुम्हारे लिए पशुवृत्ति का त्याग कर देना अनिवार्य है।

---

१. 'संयम कब ही मिले ?' में लोकस्वरूपभावना के सन्दर्भ में उद्बोधन, पृ. ६३-६४

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के जीव के रूप में अपने आप को रखकर विचार करों, इन पंच स्थावरकायिक जीवों के जीवन की कल्पना करो कि वहाँ कौन-सा सुख मिलता है इन्हें, बेचारे मूक और परवश होकर पड़े रहते हैं; एक हम हैं कि वैषयिक भौतिक सुखों के भिखारी बनकर अपने अतीत के जीवन को नजरअंदाज कर रहे हैं। उसे दृष्टिसमक्ष रखकर सोचो--बिना मन का मूढ़ जीवन ! केवल स्पर्शेन्द्रिय पर आधारित जीवन भी अनन्त बार हमने पाया है; वहाँ भी जन्म-मरण किया है और अव्यवहार-राशि में भी हमने मूर्च्छित रूप से अनन्तकाल बिताया है, वहाँ से भवितव्यता के योग से व्यवहार-राशि में आए, तो भी निगोदरूप में। वहाँ भी मूर्च्छित अवस्था बनी रही। एक श्वासोच्छ्वास में साढ़े सत्रह बार जन्म-मरण ! अहो, कितना दुःखपूर्ण जीवन था अतीतकाल में हमारा ! अब मनुष्य-जीवन मिला तो भी हम जरा-से दुःख से कतराते हैं ! तप और परीषह-सहन द्वारा संवर-निर्जरा करने से भी घबराते हैं ! इस प्रकार लोकानुप्रेक्षण–लोकानुचिन्तन करने से जीवन में संवेग, वैराग्य, तप, संयम की वृद्धि की प्रेरणा मिलने से सहज ही निर्जरा का उपार्जन किया जा सकता है।[१]

शिवराजर्षि को लोकस्वरूपभावना से मोक्ष की उपलब्धि

गंगानदी के तट पर बालतप करते हुए शिवराज ऋषि को विभंगज्ञान उत्पन्न हो गया था, जिससे वे ७ द्वीप और ७ समुद्र पर्यन्त देख सकते थे। अपने ज्ञान को परिपूर्ण समझकर वे प्ररूपणा करने लगे–लोक में ७ द्वीप और ७ ही समुद्र हैं। इसके आगे कुछ नहीं है। एक दिन भगवान महावीर स्वामी की प्ररूपणा– 'स्वयंभूरमण समुद्र तक असंख्य द्वीप और समुद्र हैं'; को सुनकर शिवराज ऋषि के मन में शंका, कांक्षा आदि कलुषित भाव उत्पन्न हुए, जिससे उनका विभंगज्ञान नष्ट हो गया। तदनन्तर वह श्रमण भगवान महावीर के पास आया। उनका धर्मोपदेश सुनकर उसने तापसोचित भण्डोपकरणों का त्याग कर भगवान के पास आर्हती दीक्षा अंगीकार की। 'लोक में द्वीप और समुद्र असंख्यात हैं', भगवान की इस प्ररूपणा पर उनको दृढ़ श्रद्धा और विश्वास हो गया। फिर लोकानुप्रेक्षा के परिप्रेक्ष्य में सतत ध्यान एवं अनुचिन्तन करने से एवं उत्कृष्ट तप का आराधन करने से चार घातिकर्मों का क्षय होने पर उन्हें केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त हो गए। अन्त में, शेष चार अघातिकर्मों का क्षय करके सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष प्राप्त हो गया। यह है–लोकानुप्रेक्षा की सर्वोत्तम उपलब्धि।[२]

---

१. 'संयम कब ही मिले ?' (आ. भद्रगुप्तविजय जी) से भाव ग्रहण, पृ. ६३-६५

२. भगवतीसूत्र, श. ११, उ. ९ से संक्षिप्त

निश्चयदृष्टि से 'द्रव्यसंग्रह टीका' के अनुसार–आदि, मध्य और अन्तरहित (शाश्वत), एकमात्र शुद्ध, बुद्ध स्वभाव वाला निज आत्मा ही लोक (निश्चयतः लोक) है; आत्मा की अपेक्षा से पर-वस्तु उसके लिए अलोक है। अतः निश्चय लोकरूप शुद्ध आत्मा या परमात्मा में जो अनन्तचतुष्टयादि गुणों या स्वरूप का अवलोकन है, वही निश्चय लोक है। अलोक की ओर लक्ष्य देने की जरूरत नहीं। जैसे दर्पण में सभी वस्तुएँ यथावत् दिखाई देती हैं, किन्तु दर्पण उसमें लेपायमान नहीं होता, दर्पण पर उनका कुछ भी प्रभाव नहीं होता, वैसे ही अपने आत्म-स्वरूप लोक में स्थिर होते ही केवलज्ञान (अथवा सम्यग्ज्ञान) रूपी दर्पण में सभी पर-वस्तुएँ अनायास ही दिखाई देती हैं, परन्तु वह उसमें लिप्त या प्रभावित नहीं होता। ऐसा चिन्तन करना निश्चय से लोकानुप्रेक्षा है।[१] इस प्रकार की निश्चय लोकानुप्रेक्षा से कर्मों की निर्जरा होकर, अन्त में जीव सर्वकर्ममुक्त हो जाता है।

(११) बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा : एक चिन्तन

इस जगत् में दुर्लभतम वस्तु बोधि है

इस संसार में सदा से यह जिज्ञासा रही है कि दुर्लभतम क्या है? स्थूलदृष्टि लोगों ने धन-सम्पत्ति, ऐश्वर्य, जमीन-जायदाद, भोग्यसुख-सामग्री, प्रतिष्ठा आदि पदार्थों को ही दुर्लभ माना और उसके लिए उन्होंने अनेक लड़ाइयाँ लड़ीं, रक्तपात किया, वैर परम्परा चलाई, इन तथाकथित दुर्लभ वस्तुओं में से किसी वस्तु के प्राप्त हो जाने पर भी वह उसके पास स्थायी न रही। ये सारी दुर्लभ मानी जाने वाली वस्तुएँ या तो चोरी, डकैती आदि द्वारा जबरन छीन ली गईं या युद्ध में विजित के द्वारा हस्तगत कर ली गईं अथवा व्यापार आदि में घाटा लगने के कारण समाप्त हो गईं या किसी असाध्य बीमारी आदि के कारण स्वयं की मृत्यु हो जाने पर यहीं पड़ी रहीं, साथ में नहीं गईं। परन्तु जिन वीतराग सर्वज्ञ महर्षियों ने अन्तर की गहराइयों में उतरकर इस प्रश्न पर सूक्ष्मतम दृष्टि से अनुभव करके उक्त जिज्ञासा का समाधान किया। उन्होंने कहा–"इस जगत् में बोधि परम दुर्लभ है।"

---

१. (क) आदि-मध्यान्तमुक्ते शुद्ध-बुद्धैकस्वभावे परमात्मनि सकल-विमल-केवलज्ञान-लोचनादर्शे बिम्बानीव शुद्धात्मादिपदार्था लोक्यन्ते, दृश्यन्ते, ज्ञायन्ते, परिच्छिद्यन्ते यतस्तेन कारणेन स एवं निश्चयलोकः। तस्मिन्निश्चयलोकाख्ये स्वकीयशुद्धपरमात्मनि अवलोकनं वा स निश्चयलोकः। —*द्रव्यसंग्रह टीका ३५/१४३*

(ख) 'मोक्षशास्त्र' अथवा 'तत्त्वार्थसूत्र' (गुजराती टीका) (रामजी माणेकचंद दोशी), अ. ९, सू. ७ में लोकानुप्रेक्षा पर विवेचन, पृ. ६९४

बोधिदुर्लभतम क्यों और कैसे ?

उनसे पूछा गया बोधि क्यों दुर्लभतम वस्तु है? 'शान्तसुधारस' में इसका समाधान दिया गया है-"अनादिकालिक निगोदरूपी अन्धकूप में पड़े हुए तथा निरन्तर जन्म-मरण के दुःख से पीड़ित जीवों के वे शुद्ध (बोध) परिणाम कैसे हो सकते हैं कि वे उस अन्धकूप से बाहर निकल सकें? (घुणाक्षरन्यायेन) वहाँ से किसी प्रकार से निकल जाने पर भी वे जीव स्थावरयोनि में जन्म लेते हैं, वहाँ भी मूर्च्छित अवस्था में एकमात्र स्पर्शेन्द्रिय के सहारे वे कदापि बोधिलाभ नहीं प्राप्त कर सकते। उन पृथ्वीकायिकादि स्थावर जीवों के लिए त्रसपर्याय का प्राप्त होना दुर्लभ है। कदाचित् त्रसपर्याय प्राप्त कर ले तो भी जीव विकलेन्द्रिय अवस्था में उत्कृष्ट करोड़ पूर्व तक रहता है। इस अवधि में भी उसे बोधि नहीं मिल पाती। उनके लिए विकलेन्द्रिय से निकलकर पंचेन्द्रियता पानी कठिन है। कदाचित् पंचेन्द्रियता प्राप्त कर लें तो भी वे असंज्ञी होते हैं। वहाँ मन न होने से बोधि तो दूर रही, स्व-पर का भेद भी नहीं जानता। कदाचित् संज्ञी पंचेन्द्रियता प्राप्त हो जाए, तो भी तिर्यंच होता है।[1] उसमें क्रूर तिर्यंच हो, तो उसके परिणाम नित्य क्रूर रहते हैं, उसे सम्यक्बोधि प्राप्त होना अति कठिन है। क्योंकि क्रूर परिणामी जीवों को अपनी अशुभ लेश्या और अशुभ परिणामों के कारण भयंकर त्रासदायक, शारीरिक-मानसिक तीव्र दुःखों से प्रचुर नरक में वास मिलता है, जहाँ उत्कृष्ट तैंतीस सागरोपम तक अति तीव्र दुःखाक्रान्त नारक जीव को बोधि मिलनी दुष्कर है। नरक से निकलकर फिर तिर्यंच गति प्राप्त होने पर उसे विवशतापूर्वक पराधीन होकर अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं, बोधि तो उसके पास भी नहीं फटकती। मनुष्य-जन्म पाना उसके लिए बहुत दुर्लभ होता है, जिसमें बोधि प्राप्त होने के चांस हैं। दुर्लभ मनुष्य-देह प्राप्त होने पर भी मिथ्यादृष्टि बनता है या मिथ्यात्वियों का कुसंग पाता है तो अनेक पापकर्मों से लिप्त हो जाता है।[2] इसीलिए भगवान महावीर ने कहा-"अनेक कर्मों के लेप से लिप्त उन जीवों को बोधि अति दुर्लभ होती है।" मनुष्यपर्याय प्राप्त करके भी आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल में जन्म, धन-सम्पन्नता, इन्द्रियों की पूर्णता, निरोग शरीर, दीर्घायुष्कता तथा

---

१. अनादौ निगोदान्धकूपे स्थितानामजस्रं जनुर्मृत्यु-दुःखार्दितानाम्।
परिणामशुद्धिः कुतस्तादृशी स्याद्, यया हन्त ! तस्माद् विनिर्यान्ति जीवाः॥२॥
ततो निर्गतानामपि स्थावरत्वं-त्रसत्वं पुनर्दुलभं देहभाजाम्।
त्रसत्वेऽपि पंचाक्ष-पर्याप्तसंज्ञि-स्थिरायुष्यवद् दुर्लभं मानुषत्वम्॥३॥

-शान्तसुधारस, बोधिदुर्लभभावना २-३

२. (क) तदेतन्मनुष्यत्वमाप्यापि मूढो, महामोह-मिथ्यात्व-मायोपगूढः।
भ्रमन्दूरमग्नो, भवागाधगर्ते, पुनः क्व प्रपद्येत तद् बोधिरत्नम्॥४॥ *-वही, श्लो. ४*

(ख) देखें-कार्तिकेयानुप्रेक्षा में बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा के सन्दर्भ में, गा. २८४-२९१

प्रकृति-भद्रता, मनुष्यता आदि प्राप्त करना उत्तरोत्तर दुर्लभ है, ये प्राप्त हुए बिना बोधि मनुष्य से दूरातिदूर होती जाती है।[१] इसीलिए भगवान महावीर ने पावापुरी के अपने अन्तिम प्रवचन में कहा था–इस जगत् में प्राणियों को चार अंग मिलने अति दुर्लभ हैं–(१) मनुष्यत्व, (२) धर्मश्रवण, (३) श्रद्धा, और (४) संयम में पराक्रम। बहुत से व्यक्ति मनुष्य-जन्म और मनुष्यता प्राप्त कर लेने पर भी सम्यक्त्व से वंचित रह जाते हैं। वे जीवनभर मिथ्यात्व, मद और मोहमाया में फँसे रहते हैं। इसलिए मिथ्यात्व को नष्ट करने वाला धर्मश्रवण–शास्त्रश्रवण अथवा महान् चारित्रात्माओं का सत्संग न मिलने से वे बोधिरत्न नहीं पाते। कदाचित् धर्मश्रवण भी कर लें तो उस पर उनकी श्रद्धा, प्रतीति और रुचि नहीं होती। कदाचित् श्रद्धा आदि भी हो जाए, फिर भी शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्धश्रद्धा, पूर्वाग्रह, हठाग्रह आदि के कारण सम्यक्त्व-प्राप्ति (बोधि-प्राप्ति) के लिए पराक्रम करना उनके लिए दुर्लभ होता है। कदाचित् कोई मनुष्य रत्नत्रययुक्त संयम भी अंगीकार कर ले तो भी तीव्र कषाय करे, निर्दोष-निरतिचाररूप से पालन न करे, विराधक हो जाए तो किया कराया, काता पींजा सब कपास हो जाता है, यानी फिर से दुर्गति में पड़कर बोधिलाभ से वंचित हो जाता है। मनुष्य-जन्म में भी शुभ परिणामों से मरकर देव बन जाए, कदाचित् वहाँ सम्यक्त्व भी प्राप्त कर ले तो भी मनुष्य-जन्म (मनुष्यगति) के बिना उसे उत्तम बोधि का पूर्ण लाभ या फल नहीं मिल पाता, क्योंकि मनुष्यगति में ही सम्यक् तपश्चरण, महाव्रत, धर्म-शुक्लध्यान तथा कर्ममुक्ति में साधक संवर, निर्जरा और मोक्ष का उपार्जन हो सकता है, अन्य गतियों में नहीं।[२] इन सब कारणों से बोधिलाभ को सर्वदुर्लभों से दुर्लभ कहा गया है। इसलिए ऐसी दुर्लभतम बोधि को प्राप्त करने और उसकी प्राणप्रण से रक्षा करने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए।

बोधि : जीवन का परम ध्येय : किसको सुलभ, किसको दुर्लभ ?

इसलिए मानव-जीवन का परम ध्येय है–बोधि प्राप्त करना। जिसने बोधि को पा लिया, उसने उससे पहले की सब चीजें पा लीं, किन्तु जिसने बोधि नहीं प्राप्त की, उसने अन्य सब कुछ पाकर भी कुछ नहीं पाया। 'उत्तराध्ययनसूत्र' में बताया

---

१. (क) बहुकम्मलेवलित्ताणं बोही होइ सुदुल्लहा तेसिं। –*उत्तराध्ययन ८/१५*

(ख) .... तेसिं पुण दुल्लहा बोही। –*वही ३६/२५५, २५७*

२. (क) चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमम्मि य वीरियं॥ –*वही ३/१*

(ख) उत्तराध्ययन, अ. ३, गा. ८-११

(ग) देखें–कार्तिकेयानुप्रेक्षा में बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा के सन्दर्भ में, गा. २९०-२९९

गया है कि "जो जीव (अन्तिम समय में) मिथ्यादर्शन में अनुरक्त है, निदान (नियाणा) से युक्त है और कृष्णलेश्या में अवगाढ़ (प्रविष्ट) होकर या हिंसक होकर जो मरते हैं, उन्हें बोधि बहुत ही दुर्लभ होती है।" अतः इस महान् उपलब्धि में समस्त उपलब्धियाँ समाविष्ट हो जाती हैं। निष्कर्ष यह है कि मनुष्य-जन्म तो दुर्लभ है ही। मनुष्य-जन्म प्राप्त होने पर आरोग्यादि दस तथा सम्यग्दर्शन, अनिदान, अहिंसा, शुभलेश्या, कषाय-मन्दता आदि कई अटपटी घाटियाँ पार होनी बहुत मुश्किल हैं। इन घाटियों को पार कर लेने के बाद दुर्लभतम बोधि के दर्शन होते हैं। अधिकांश लोगों को तो मृत्यु की घड़ी तक बोधि प्राप्त नहीं होती, इसलिए वे मिथ्यादृष्टि या विराधक होकर समाधिमरण नहीं प्राप्त कर पाते। संसार में दूसरी सब उपलब्धियाँ यहीं धरी रह जाती हैं, मरने के बाद सब कुछ यहीं छूट जाती हैं, क्योंकि वे अपनी सम्पत्ति नहीं हैं। बोधि ही अपनी (आत्मिक) सम्पदा है, आत्मज्ञान है और आत्मरमणता है। चूँकि आत्मा ज्ञानमय है, इसलिए ज्ञान का अस्तित्व आत्मा के साथ निरन्तर अखण्ड रहने से बोधि का अस्तित्व भी अखण्ड है। इस अपेक्षा से बोधि का फलितार्थ सम्यग्ज्ञान होता है। आत्मा का अस्तित्व ही बोधि का अस्तित्व है। अतएव वह मरने के बाद भी पर-भव में साथ रहती है।

बोधि के विविध अर्थ और विशेषार्थ, परमार्थ

किन्तु बोधि का अर्थ सिर्फ ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है, किन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना की यथार्थ दृष्टि ही बोधि का पर्याप्त अर्थ है। इसीलिए 'द्रव्यसंग्रह टीका' में कहा गया है—पहले नहीं प्राप्त हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होना बोधि कहलाती है। कई आचार्य सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व को बोधि कहते हैं। किन्तु सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति बोधि का प्रथम सोपान है। सम्यग्दृष्टि की अभिव्यक्ति के पाँच चिह्न शास्त्रों में बताये हैं—(१) शम (कषायों का उपशमन), (२) संवेग (मोक्ष के प्रति तीव्र रुचि), (३) निर्वेद (संसार, शरीर और भोगों के प्रति वैराग्य), (४) अनुकम्पा (दुःखित जीवों के प्रति दयाभाव), (५) आस्तिक्य (देव-गुरु-धर्म, आत्मा, परमात्मा, कर्म आदि के प्रति दृढ़ श्रद्धा)। बोधि का एक अर्थ—जागरण, प्रबुद्ध होना भी है। परन्तु निश्चयनय की दृष्टि से सम्यक् आत्मबोध होना बोधि है। इस दृष्टि से आत्मा को सम्यक् रूप से जानना, देखना और उसके स्वरूप में रमण करना बोधि का परमार्थ है अथवा जो साधन (रत्नत्रयरूप धर्म या धर्म के साधन) या पथ आत्मोपलब्धि का अथवा जो (समस्त कर्मक्षयरूप) मोक्ष की प्राप्ति का हेतु बने वह भी बोधि है। अतः बोधिलाभ की सफलता इसी में है कि विषयसुख से विरक्त होकर साधक में अति दुर्लभ ज्ञान, सम्यक् तप, सद्धर्म और सुखपूर्वक समाधिमरण की प्राप्ति की भावना हो। ऐसा

चिन्तन करना ही बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा है। शुद्ध आत्मा के ज्ञानस्वरूप निर्मल धर्म-शुक्लध्यानरूप परम समाधि प्राप्त हो, ऐसी भावना निरन्तर करना ही बोधिदुर्लभभावना है।[1] बोधि का व्यवहारदृष्टि से यह अर्थ भी किया जाता है–परमात्मतत्त्व के प्रति दृष्टि का सम्यक् खुलना, गुरुतत्त्व की सच्ची पहचान और धर्मतत्त्व का हृदयंगम होना। इन सब वस्तुओं का प्राप्तकर हो जाना हमारा परम सौभाग्य है, यह अपूर्व लाभ है। बोधि कोई द्रव्य नहीं है, पदार्थ नहीं है, यह तो मूल्यवान् अनुपम और अति दुर्लभ भाव है, इसे अनन्त-अनन्त जीवों में से थोड़े-से जीव प्राप्त कर पाते हैं। जो इस परम भाव को प्राप्त कर पाते हैं, उनमें से बहुत थोड़े जीव इसे सुरक्षित रख पाते हैं। बहुत-से लोग तो इसे व्यर्थ समझकर खो देते हैं। परन्तु यह दिव्यरत्न है, यह जिसके पास होता है, उसे किसी भी गति में जाना पड़े, चिन्ता नहीं होती। बोधि सरल नहीं है, सस्ती नहीं है, माँगने से नहीं मिलती। बहुत ही श्रद्धा-भक्ति-निष्ठापूर्वक परमात्मा के चरणों में तीव्र भावपूर्वक याचना करने से मिलती है।[2]

इसलिए हम प्रति दिन परमात्मा से प्रार्थना करते हैं–

"आरुग्ग-बोहिलाभं समाहिवरमुत्तमं दिंतु।"

–प्रभो ! मुझे शारीरिक-मानसिक-आध्यात्मिक आरोग्य, बोधिलाभ और उत्तम समाधि प्रदान करें।[3]

भगवान ऋषभदेव के ९८ पुत्रों द्वारा की गई बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा

भरत चक्रवर्ती कुछ प्रदेश के सिवाय छह खण्ड भूमि पर विजय प्राप्त करके जब अयोध्या में वापस लौटे, तब अपनी आज्ञा मनवाने के लिये अपने ९८ भाइयों के पास एक-एक दूत भेजा। दूतों ने जाकर उनसे कहा–"यदि आप अपने राज्य की रक्षा करना चाहते हैं तो भरत महाराज की आज्ञा शिरोधार्य कर उनकी अधीनता स्वीकार कर लें।" दूतों की बात सुनकर ९८ ही भाई एक जगह एकत्रित होकर विचार-विमर्श करने लगे–"जब पिताजी (भगवान ऋषभदेव) ने हमें अपने-अपने हिस्से का पृथक्-पृथक् राज्य दे दिया है, तब भरत का इसमें क्या

---

१. (क) 'शान्तसुधारस' में बोधिदुर्लभभावना, संकेतिका नं. १२ से भाव ग्रहण, पृ. ६१

(ख) 'अमूर्त्त चिन्तन' से भावांश ग्रहण, पृ. ८७

(ग) उत्तराध्ययनसूत्र, अ. ३६, गा. २५७, २५९

(घ) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणाम प्राप्त-प्रापणं बोधिः। –*द्रव्यसंग्रह टीका ३५/१४४*

२. 'संयम कब ही मिले?' में बोधिदुर्लभभावना के सम्बन्ध में निर्देश, पृ. ६८-६९

३. आवश्यकसूत्र में चतुर्विंशतिस्तव (लोगस्स) के पाठ का एक सुवाक्यरूप मंत्र

अधिकार है? वह क्यों हमसे अपनी अधीनता स्वीकारने को कहता है? मालूम होता है, उसकी राज्यलिप्सा बहुत बढ़ गई है। बहुत-से दूसरे राजाओं का राज्य ले लेने पर भी उसे संतोष नहीं हुआ। अब वह हम सब का राज्य भी हथियाना चाहता है। ऐसी स्थिति में हमें क्या करना चाहिए? अपने राज्य की रक्षा के लिए भाई भरत से युद्ध करना चाहिए या उसकी अधीनता स्वीकार कर लेनी चाहिए?" विचार-विमर्श के अन्त में सबने एकमत से निर्णय किया–"राज्य हमें पिताजी ने दिया है। इस विषय में उनकी ही सम्मति लेकर हमें कार्य करना चाहिए। उनसे बिना पूछे कोई भी कदम उठाना हितावह नहीं होगा।" यों विचार कर वे सभी भगवान ऋषभदेव के पास आए और उनके समक्ष अपनी समस्या प्रस्तुत की। उन्होंने फरमाया–"पुत्रो ! तुम इस बाह्य राज्यलक्ष्मी के लिए क्यों चिन्तित हो रहे हो? कदाचित् तुम भरत से अपने-अपने राज्य की रक्षा करने में समर्थ हो जाओगे, तो भी अन्त में देर-सबेर से तुम्हें ये चंचल राज्यलक्ष्मी छोड़नी पड़ेगी। इससे बेहतर है, तुम सभी धर्म की शरण में आ जाओ, तुम्हें मुक्तिरूपी राज्यलक्ष्मी प्राप्त हो जाएगी, जिसे कोई भी छीन न सकेगा। वह स्थायी, नित्य और अविनाशी है। इसके लिए फिर उन्होंने कहा–"आर्यो ! तुम सम्बोधि प्राप्त करो। तुम इस बोध को क्यों नहीं प्राप्त करते? परलोक में फिर तुम्हें यह सम्बोधि प्राप्त होनी दुर्लभ होगी। जो रात्रियाँ (समय) व्यतीत हो गईं, वे पुनः लौटकर नहीं आतीं। अतः (इस समय के बीत जाने पर) फिर संयमी जीवन प्राप्त होना सुलभ नहीं होगा।"[१] भगवान के उपदेश को सुनकर सबने बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा की और प्रबुद्ध होकर सभी ने अपना-अपना राज्य तथा धन-धाम छोड़कर भगवान के पास दीक्षा अंगीकार कर ली और साधना करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए। यह था ९८ राजकुमारों द्वारा की गई बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा का सुफल ![२]

(१२) धर्मानुप्रेक्षा : क्या, क्यों और कैसे ?

धर्म की आवश्यकता और उपयोगिता

मानव-जीवन को सरस, सुखद और निश्चिन्त बनाने के लिए धर्म ही एकमात्र साधन है। जब मनुष्य पर विपत्ति की बिजली कड़क रही हो, रोग, शोक और रोष-द्वेष की आँधियाँ उमड़ रही हों, भय का वातावरण हो, अपने वास्तविक शील,

---

१. संबुज्झह किं न बुज्झह, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
णो हुवणमंति राइओ, णो सुलभं पुणरावि जीवियं॥ –*सूत्रकृतांग, श्रु. १, अ. २, उ. १*

२. (क) सूत्रकृतांग, श्रु. १, अ. २, उ. १, शीलांकाचार्य टीका से संक्षिप्त
(ख) त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित, प्रथम पर्व

स्वभाव से डिगाने के लिए उपसर्ग के झंझावात आ रहे हों, आत्म-गुणों से च्युत करने के लिए प्रलोभनों के बंडल फेंके जा रहे हों अथवा परीषहों का दल सदलबल आ रहा हो, उस समय कौन ऐसा तत्त्व है, जो शान्ति, धैर्य, समत्व और सहिष्णुता के साथ इन सबसे आत्मा की रक्षा करके जीवन को आत्म-गुणों में, आत्म-स्वभाव में स्थिर कर सकता है? वह है—एकमात्र धर्म।

धर्म के नाम पर चलने वाले धर्म-भ्रम

आजकल लोग धर्म का नाम लेते ही उसका अर्थ या तो सम्प्रदाय, मत, पंथ या एक मार्ग समझते हैं अथवा धार्मिक क्रियाकाण्डों को धर्म समझते हैं। अपने सम्प्रदाय, मत, पंथ या मार्ग के नाम से आडम्बर, प्रोपेगेंडा, प्रचार-प्रसार, भीड़ इकट्ठी कर लेने या अमुक क्रिया करने-कराने को धर्म का रूप दे देते हैं। परन्तु धर्म कोई सम्प्रदाय, पंथ, मत या मार्ग नहीं है, अमुक मत, पंथ, सम्प्रदाय, मार्ग का अनुसरण करने मात्र से धर्म नहीं हो जाता, बल्कि कई बार साम्प्रदायिकता के व्यामोह में आकर तथाकथित सम्प्रदाय, मत, पंथ या मार्ग के अनुयायी परस्पर एक-दूसरे की निन्दा, ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य बढ़ाते हैं। परस्पर सिरफुटौव्वल या मुकद्दमेबाजी करके शुद्ध धर्म को तो धक्का देकर निकाल देते हैं और धर्म के नाम से अठारह पापस्थानों में से हिंसा, द्वेष, पर-परिवाद, पैशुन्य, मायामृषावाद, क्रोध, मान (अहंकार) आदि पापस्थानों का सेवन करने से नहीं चूकते। अनेकान्तवाद, सामायिक, संवर (आस्रव निरोध) और निर्जरा को केवल कहने की वस्तु बना देते हैं। चलते हैं—एकान्तवाद (हठाग्रह, पूर्वाग्रह और दुराग्रह) पंर, वैषम्यवृद्धि के मार्ग पर, अशुभास्रवों को उत्तेजित करने के पथ पर और कर्मसंवर-निर्जरारूप धर्म के बदले शुभ कर्म (पुण्य) की पगडंडी पर। और उसे ही धर्म का बाना पहना देते हैं।

धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है ?

'प्रवचनसार' में कहा गया है—"पर के प्रति शुभ परिणाम पुण्य है और अशुभ परिमाम है—पाप। और जो दूसरे के प्रति प्रवर्तमान नहीं है, ऐसा शुद्ध परिणाम, आगम में दु:ख (कर्म) क्षय का कारण बताया है।" तथा धर्म वह है, जो मिथ्यात्व व रागादि में नित्य संसरण करने रूप भावसंसार से प्राणियों को निकालकर निर्विकार शुद्ध चैतन्य (आत्मा) में धारण कर दे।"[1] 'द्रव्यसंग्रह टीका' में

---

१. (क) सुहपरिणामो पुण्णं, असुहो पावत्ति भणियमण्णेसु।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये॥ —*प्रवचनसार मूल १८१*

(ख) मिथ्यात्व-रागादि-संसरणरूपेण भावसंसारे प्राणिनमुद्धृत्य निर्विकार-शुद्ध-चैतन्ये धरतीति धर्मः। —*प्रवचनसार ता. वृ. ७/९/९*

निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म का अन्तर बताते हुए कहा है–निश्चय से–"संसार में गिरते हुए आत्मा को जो धारण = रक्षण करे, ऐसा विशुद्ध ज्ञान-दर्शन लक्षण वाला निज-शुद्धात्मा की भावना-स्वरूप धर्म है; व्यवहार से उसकी साधना के लिए इन्द्र-नरेन्द्रादि द्वारा वन्दनीय पद पर पहुँचने वाला उत्तम क्षमा आदि दस प्रकार का धर्म है।[1]

धर्म क्या है, क्या करता है ?

'परमात्मप्रकाश' के अनुसार–निज शुद्ध भाव का नाम ही धर्म है। ज्ञान, दर्शन, आत्मिक-सुख और आत्म-शक्ति, ये चारों आत्मा के स्वभाव हैं–स्वगुण हैं। परन्तु सांसारिक जीवों में ये गुण सुषुप्त, आवृत, कुण्ठित और विकृत हैं। इन्हें जाग्रत, अनावृत, शुद्ध और क्रियान्वित करने के लिए आचार्य समन्तभद्र ने कहा–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, ये तीनों समन्वित रूप में होने पर धर्म हैं, अर्थात् कर्मक्षय अथवा कर्मनिरोध करने वाले हैं। आत्मा का शुद्ध भावरूप धर्म ही संसार में पड़े हुए जीवों की चतुर्गतिक संसार दुःखों से रक्षा करता है।[2]

सम्यक्तप सम्यक्चारित्र में गतार्थ हो जाता है। ये तीनों मिलकर मोक्ष (कर्ममुक्ति) के मार्ग = साधन या उपाय हैं। धर्म त्याग-प्रत्याख्यान, बाह्यान्तर तप सिखाता है। विषयभोगों या विषयसुखों की उपलब्धि धर्म नहीं कराता, वह इनसे विरक्ति, निवृत्ति या त्यागनिष्ठा सिखाता है। धर्म आफतों के तूफानों में अडिग रहने की शक्ति देता है। दारुण दुःखों को सहन करने का मनोबल और आत्म-बल धर्म से प्राप्त होता है। संकटों में भी प्रसन्नतापूर्वक समभाव में रहने की शक्ति धर्म से मिलती है। धर्म अपकारी और हिंसक का हृदय बदलने के लिए सहन-शक्ति और धैर्य देता है।

धर्म ही संवर, निर्जरा और मोक्ष का अवसर देने में समर्थ

मानव-समुदाय को असत् से सत् की ओर, अर्थात् मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, अर्थात् अज्ञानतिमिर से ज्ञानालोक की ओर

१. निश्चयेन संसारे पतन्तमात्मानं धरतीति विशुद्ध-ज्ञान-दर्शन-लक्षणनिजशुद्धात्मभावनात्मको धर्मः। व्यवहारेण तत्साधनार्थं देवेन्द्र-नरेन्द्रादि-वन्द्य-पदे धरतीत्युत्तमक्षमादिः दशप्रकारो धर्मः। *–द्रव्यसंग्रह टीका ३५/१०१/८*

२. (क) भाउ विसुद्धणु अप्पणउ धम्मु भणेविणु लेह।
चउगह दुक्खहँ जो धरइ जीउ परंतउ एहु॥ *–प. प्र. मूल २/६८*

(ख) सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः। *–रत्नकरण्डक श्रावकाचार ३*

(ग) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्ष (सर्वकर्ममुक्ति) मार्गः। *–तत्त्वार्थसूत्र १/१*

तथा जन्म-मरणादि दुःखों से अमरत्व के शाश्वत सुख की ओर ले जाने वाला कोई है तो धर्म ही है। मोह के प्रगाढ़ अन्धकार को दूर करके सत्य का सूर्य प्रकाशित करने में धर्म ही समर्थ है। राग-द्वेष के विष को मिटाने के लिए धर्ममंत्र ही उपयोगी है। पूर्वबद्ध अनन्त कर्मदलों के जंगल को भस्म करने वाला धर्मरूपी पावक ही है। सिद्धि-मुक्ति की साधना में परम सहायक धर्म ही है। समस्त कल्याण का असाधारण कारण भी धर्म ही है। ऐसे धर्म के आचरण से अशुभ कर्मों के कटते ही शुभ योग-संवर अथवा शुद्धोपयोगरूप धर्म के आते ही कर्ममुक्तिरूप मोक्ष का शाश्वत सुख प्राप्त होता है। दुःख के बादल बिखर जाते हैं।

संकटों के समय सहन-शक्ति देने वाला धर्म ही है

भंयकर वन में त्यक्त महासती सीता जी के पास कौन-सा तत्त्व था, जिसके सहारे वे वहाँ भी सुख के साधन प्राप्त कर सकीं? एकमात्र धर्मतत्त्व था। धर्म ने ही उनका योगक्षेम किया था। जिन पर मिथ्या कलंक लगाया गया था, इस कारण राजाज्ञा से जो शूली पर चढ़ाये गए थे, उस समय उसका कौन सहायक था? धर्म ही। धर्म के प्रभाव से ही शूली का सिंहासन बन गया था। धर्म के ऐसे-ऐसे अगणित चमत्कार हैं, जिन्हें देख-सुनकर भी धर्म पर श्रद्धा सुदृढ़ होनी चाहिए।[१]

भगवान महावीर से जब पूछा गया—"धर्मश्रद्धा से क्या प्राप्त होता है?" तब उन्होंने यही कहा—"धर्मश्रद्धा से साता सुखों (सातावेदनीयकर्मजनित विषयसुखों) के प्रति आसक्ति से विरक्त हो जाता है। आगारधर्म (गृहस्थ सम्बन्धी प्रवृत्ति) का त्याग करता है और अनगार होकर (धर्म के प्रभाव से) छेदन-भेदन आदि शारीरिक तथा संयोगादि मानसिक दुःखों का विच्छेद कर डालता है और अन्त में अव्याबाध सुख को प्राप्त करता है।" परन्तु ऐसी श्रुतचारित्ररूप धर्म या रत्नत्रयरूप धर्म के प्रति श्रद्धा (धर्माचरण करने की तीव्र इच्छा) का मूल स्रोत है—संवेग।[२]

---

१. (क) देखें—वैदिक उपनिषद् वाक्य—"ॐ असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतंगमय।"

(ख) 'संयम कब ही मिले?' में धर्मस्वाख्यातभावना के सन्दर्भ में दिये गये निर्देश, पृ. ६६-६७

२. (क) (प्र.) धम्मसद्धाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ?

(उ.) धम्मसद्धाए णं साया-सोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ। आगारधम्मं च णं चमइ। अणगारिए णं जीवे सारीर-माणसाणं दुक्खाणं छेयण-भेयण-संजोगाइणं वोच्छेयं करेइ। अव्वाबाहं च सुखं निव्वत्तेइ।

(ख) संवेगेणं अणुत्तरं धम्मसद्धं जणयइ।

अणुत्तराए धम्मसद्धाए संवेगं हव्वभागच्छइ॥ —*उत्तरा., अ. २९, बोल ३, १*

संवेग के विभिन्न प्रसिद्ध अर्थ और धर्मश्रद्धारूप अनुप्रेक्षा का अनन्तर-परस्पर फल

संवेग के निम्नोक्त अर्थ प्रसिद्ध हैं–(१) मोक्ष के प्रति सम्यक् उद्वेग = उत्कण्ठा, (२) मनुष्य-जन्म और देव-भव के सुखों के परित्यागपूर्वक मोक्षाभिलाषा, (३) नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव-भवरूप (जन्म-मरणादिरूप) संसार के दुःखों से नित्य डरना, (४) धर्म में, धर्मफल में अथवा दर्शन में हर्ष या परम उत्साह होना अथवा धार्मिक पुरुषों के प्रति अनुराग, पंचपरमेष्ठी के प्रति प्रीति होना, (५) तत्त्व, धर्म, हिंसा से विरति, राग-द्वेष-मोहादि से रहित देव (अर्हद्देव) तथा निर्ग्रन्थ गुरु के प्रति अटल अनुराग होना। निष्कर्ष यह है कि "संवेग से अनुत्तर धर्मश्रद्धा प्राप्त होती है। अनुत्तर धर्मश्रद्धा से शीघ्र ही संवेग प्राप्त होता है। फलतः अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्टय का क्षय कर देता है। तत्सम्बन्धी नया कर्म नहीं बाँधता। तन्निमित्तक मिथ्यात्वविशुद्धि करके जीव सम्यग्दर्शन का आराधक हो जाता है। दर्शनविशोधि से आत्मा के विशुद्ध होने पर (आयुष्य के अल्प रह जाने से) जिनके कुछ कर्म शेष रह जाते हैं, फिर भी वे तीसरे भव में तो अवश्य ही सर्वकर्मों से मुक्तिरूप मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।" यह है धर्मश्रद्धारूप अनुप्रेक्षा का अनन्तर और परम्परागत फल।[1]

धर्मानुप्रेक्षक क्या चिन्तन करे ?

वस्तुतः जीव के शुद्ध उपयोग या शुद्ध परिणाम में धर्म के सभी लक्षण गतार्थ हो जाते हैं। क्योंकि धर्म आत्मा का सहज स्वभाव है। धर्म का साक्षात् लाभ है– चेतना का जागरण, अव्याबाध सुख (आनन्द) की उपलब्धि और आत्म-शक्ति की जागृति। क्षमा, मार्दव, आर्जव, पावित्र्य (शौच), सत्य, संयम, तप, त्याग, अकिंचनता और ब्रह्मचर्य, ये सब आत्मा के गुणरूप आत्म-धर्म हैं।[2] इनके लिए किसी भी देश, वेष, धर्म, सम्प्रदाय, जाति, लिंग आदि का प्रतिबन्ध नहीं है। बशर्ते कि सद्धर्म के प्रति वफ़ादारी, सरलता और निष्ठा हो। धर्म आत्मा की शुद्धि करता है, अन्तःकरण को परिमार्जित करता है, जीवन को परिवर्तित करता है। धर्मानुप्रेक्षक इस प्रकार का चिन्तन करें और धर्म (अहिंसा-संयम-तपरूप) को उत्कृष्ट मंगल समझकर उसकी आराधना–साधना करें। क्षमादि दशविध धर्म

---

१. देखें–उत्तराध्ययनसूत्र विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), अ. २९, बोल १ में संवेग और उसके फल की व्याख्या, पृ. ४८८

२. (क) 'शान्तसुधारस' में धर्मभावना की संकेतिका नं. १० से भावांश ग्रहण, पृ. ४९

(ख) उत्तमः क्षमा-मार्दवार्जव-शौच-सत्य-संयम-तपस्त्यागाऽकिंचन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः।

–*तत्त्वार्थसूत्र* ९/६

जीवनशुद्धि के दस सोपान हैं। 'द्रव्यसंग्रह टीका' के अनुसार–"८४ लक्ष योनियों, दुःखों को सहते और भ्रमण करते हुए इस जीव को जब इस शुद्ध धर्म की प्राप्ति होती है, तब वह विविध अभ्युदय सुखों को पाकर, तदनन्तर अभेद रत्नत्रयरूप धर्म की भावना के बल से अक्षय, अनन्त गुणों के स्थानभूत अर्हत्पद और सिद्धपद को पाता है। इस कारण धर्म ही परम रस का रसायन है, धर्म ही गुण निधियों का भण्डार है, धर्म ही कल्पवृक्ष है, चिन्तामणि है, ऐसा अनुचिन्तन करना धर्मानुप्रेक्षा है।"[1]

'सर्वार्थसिद्धि' में कहा गया है–"धर्म जिनोपदिष्ट अहिंसालक्षण है। सत्य उसका आधार है। विनय उसकी जड़ है। क्षमा उसका बल है। ब्रह्मचर्य से वह रक्षित है। उपशम की उसमें प्रधानता है। नियति उसका लक्षण है। अपरिग्रहवृत्ति उसका आलम्बन है। ऐसे पवित्र धर्म की प्राप्ति न होने से दुष्कर्म के विपाक से प्राप्त दारुण दुःख को भोगते हुए जीव अनादि संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं। परन्तु जिसे इस सद्धर्म की प्राप्ति हो जाती है, उसे विविध अभ्युदयों की पूर्वक मोक्ष (सर्वकर्ममुक्ति) की प्राप्ति होना निश्चित है। ऐसा चिन्तन करना धर्म-स्वाख्यात तत्त्वानुप्रेक्षा है।" "निश्चयनय से–राग-द्वेषरहित परिणामों से शुद्ध आत्मा का ही नित्य चिन्तन करना धर्मानुप्रेक्षा है।"[2]

धर्मानुप्रेक्षक का विशिष्ट धर्म-चिन्तन

शुद्ध धर्म के अनन्त उपकारों को याद करो। अभी हमारे पास जो भी त्याग, तप, संयम और वैराग्य की शक्ति है, जो कुछ भी आत्मिक स्वाधीन सुख है, वह सब धर्म की देन है। केवल आत्म-धर्म की चेतना से व्यक्ति में तप, त्याग, प्रत्याख्यान, संयम, नियम आदि करने की क्षमता आती है। संसार के अन्य सभी शास्त्र भोग की बात सिखाते हैं, वे इन्द्रिय-विषयों के उन्मुक्त सेवन की, भोगों के साधन बटोरने की बात पर ही ज्यादा जोर देते हैं। आत्म-धर्म की चेतना ही एकमात्र त्याग, तप आदि की बात कहती है। विषय-कषायों का त्याग करके शुद्ध

---

१. चतुरशीति-योनिलक्षेषु मदये .... दुःखानि सहमानः सत् भ्रमितोऽयं जीवो यदा पुनरेवं गुणविशिष्टस्य धर्मस्य लाभो भवति तदा विविधाभ्युदय-सुखं प्राप्य पश्चादभेद-रत्नत्रयभावनाबलेनाऽक्षयानन्तसुखादिगुणास्पदमर्हत्-पदं सिद्धपदं च लभते। तेन कारणेन धर्म एव परमरस-रसायनं निधि-निधानं कल्पवृक्षः कामधेनुश्चिन्ता मणिरिति। .... इति संक्षेपण धर्मानुप्रेक्षागता। *–द्र. सं. टीका ३५/१४५*

२. अयं जिनोपदिष्टो धर्मोऽहिंसालक्षणः सत्याधिष्ठितो, विनयमूलः क्षमाबलो ब्रह्मचर्यगुप्तः उपशम-प्रधानो नियति-लक्षणो निष्परिग्रहताऽलम्बनः। अस्यालाभादनादिसंसारे जीवाः परिभ्रमन्ति दुष्कर्म-विपाकजं दुःखमनुभवन्तः। अस्य पुनः प्रतिलाभे विविधाभ्युदयपूर्विका निःश्रेयसोपलब्धिर्नियतेति चिन्तनं धर्मस्वाख्याततत्त्वानुप्रेक्षा। *–स. सि. ९/७/४१९*

आत्म-धर्म के द्वारा आत्मा की सुषुप्त शक्तियों को जगाओ, अनुपलब्ध ज्ञानचेतना को उपलब्ध करो, संवर-निर्जरा के द्वारा पुराने कुसंस्कारों, खोटी आदतों, गलत स्वभाव को क्षीण करो, कषायों पर विजय प्राप्त करो। यह सब धर्म ही सिखाता है। भविष्य में आध्यात्मिक स्वाधीन सुखों के साथ-साथ अनायास ही भौतिक सुखों की प्राप्ति धर्म के प्रभाव से ही होती है। धर्म की अद्वितीय नौका में बैठकर संसार-सागर को पार किया जा सकेगा।

धर्म की सम्यक् आराधना का तात्पर्य है—अतीत के प्रति जागरूक होकर अतीत के कुसंस्कारों के उदय को रोकना (संवर करना) तथा वर्तमान में पूर्णतया सजग रहना।[1] जो पूर्वबद्ध अशुभ कर्मों का जत्था उदय में आकर हमें वर्तमान में किसी न किसी निमित्त से पीड़ित कर रहा है, उसको समत्व धर्म द्वारा भोगकर उन कर्मों को नेस्तनाबूद कर देना निर्जरा धर्म की आराधना है। इतना ही नहीं, काम, क्रोध, लोभ, क्षुद्र-स्वार्थ, ईर्ष्या, वैर-विरोध, घृणा, विषमता, द्वेष, आवेश आदि से वर्तमान में होने वाले मानसिक रोगों (अधर्मों) का अन्त करने के लिए भी हमें धर्म का ही सहारा लेना होगा। तभी व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र स्वस्थ रह सकते हैं। अतः धर्मानुप्रेक्षा में का साधक प्रति क्षण जागरूक रहकर शरीर, मन और वचन के द्वारा प्रवृत्ति से तुरंत आत्मा को रोके, कदाचित् और कोई चारा न हो तो उदासीनतापूर्वक, लाचारी से शुभ कर्मबन्धक (पुण्य की) प्रवृत्ति करे। अपने मन को सदैव शुद्धात्मलक्षी रखने का प्रयत्न करे।

अर्हन्नक और धर्मरुचि : धर्मानुप्रेक्षा की प्रखर निष्ठा के ज्वलन्त उदाहरण

चम्पापुरी निवासी कुमार अर्हन्नक ने सबसे विदाई लेकर अपने साथी व्यवसायी यात्रियों के साथ जहाज द्वारा समुद्रमार्ग से प्रस्थान किया। जहाज अभी चौथाई रास्ता ही तय कर पाया था कि अकस्मात् समुद्र में भयंकर वर्षा और तूफान आ गया। एक भयंकर आकृति द्रुतगति से जहाज की ओर लपकी। अर्हन्नक ने उपसर्ग आया जानकर उपसर्ग से निपटने के परमात्मा, गुरुदेव और धर्म की शरण ली। वह निर्भय होकर परमात्म-स्मरण में बैठ गया कायोत्सर्ग करके। दैत्य ने रौद्ररूप दिखाकर कहा—"अगर तुम सुख से जीना चाहते हो तो अपना धर्म छोड़ दो, कह दो धर्म मिथ्या है अन्यथा मौत के लिए तैयार हो जाओ।" अर्हन्नक ने चिन्तन किया—धर्म आत्मा का गुण है, वह शाश्वत है, मोक्षदाता है, आत्म-शोधक है, मेरा सर्वस्व प्राण है, इसे कैसे छोड़ दूँ ! शरीर भले ही जाए, यह तो नाशवान्

१. (क) 'संयम कब ही मिले?' में धर्मानुप्रेक्षा के सन्दर्भ में धर्ममहिमा, पृ. ६६

(ख) 'अमूर्त्त चिन्तन' से भावांश ग्रहण, पृ. ८४

है ही, एक न एक दिन यह छूटेगा ही, शरीर के मोह में पड़ूँगा तो कर्मवन्धन होगा, आत्मा कर्म से भारी होगी, मृत्यु होगी तो शरीर की होगी ही, आत्मा को तो कोई भी मार नहीं सकता। अच्छा है, धर्म की रक्षा के लिए मुझे अपने प्राणों को होमना पड़े।" अर्हन्नक और उसके साथियों को विचलित भयभीत करने के लिए दैत्य ने जहाज को आकाश में अधर उठा लिया और चाक की तरह घुमाने लगा। किन्तु अर्हन्नक अब भी शान्त व निश्चल था। दैत्य ने ललकारा, भर्त्सना की। आखिर उसकी दृढ़धर्मिता के आगे दैत्य पराजित हो गया। उसने दृढ़धर्मिता और परीक्षा में सफलता के लिए अर्हन्नक को धन्यवाद दिया और गुणगान एवं नमन करके वह वापस लौट गया।

इसी प्रकार धर्मरुचि अनगार ने भी अहिंसा धर्म (करुणा) पर दृढ़ रहकर नागश्री द्वारा दिये गए कड़वे व विषाक्त तुम्बे के साग को चींटियों की रक्षा के लिए भूमि पर न परठकर उदरस्थ कर लिया। प्रसन्नतापूर्वक मृत्यु का वरण किया। धर्मरुचि अनगार में धर्मानुप्रेक्षा जाग्रत हो चुकी थी।

यह है संवरा-निर्जरा में सहायिका द्वादश अनुप्रेक्षाओं का रेखाचित्र।[1]

● ●

१. (क) शान्तसुधारस अनुवाद, परिशिष्ट १०, धर्मभावना से सार संक्षेप, पृ. १२६-१३०

(ख) ज्ञाताधर्मकथासूत्र, अ. १६ से संक्षिप्त

१५

मैत्री आदि चार भावनाओं का प्रभाव

मैत्री आदि चार भावनाओं की उपयोगिता क्या ?

पिछले दो प्रकरणों में आत्म-मैत्री के सम्बन्ध में विशद रूप से चर्चा की गई है। अब हम इस प्रकरण में विश्वमैत्री आदि चार भावनाओं द्वारा आत्मा को कर्मों से मुक्त कैसे किया जा सकता है? इन चारों भावनाओं से राग-द्वेष से रहित होकर समताभाव में स्थित होने से अपनी आत्मा पर अन्य आत्माओं पर क्या प्रभाव पड़ता है? अपनी आत्मा विश्वमैत्री आदि चार भावनाओं से कितनी शुद्ध, शान्त, सम, तपोयुक्त एवं तेजस्वी बन जाती है? इन चारों भावनाओं की कर्ममुक्ति की साधना में कितनी उपयोगिता और अनिवार्यता है? ये जीवन को प्रभावशाली, विश्वव्यापक, सर्वभूतात्मभूत एवं समर्थ तथा निर्भय बनाने में कितनी चमत्कारी हैं? इन सब तथ्यों पर प्रकाश डालेंगे।

समूहबद्ध होने पर अनेक दोषों का उत्पन्न होना सम्भव

जैनदर्शन की दृष्टि से प्रत्येक आत्मा एक स्वतंत्र इकाई है, यह पारमार्थिक सत्य है, किन्तु व्यावहारिक सत्य यह है कि वह अपने समुदाय का एक अंग है। मनुष्य मानव-जाति का या मानव-समाज का एक विशिष्ट चिन्तनशील विकसित चेतना वाला व्यक्ति है। व्यक्ति और समाज की अथवा व्यक्ति और समष्टि की अपनी-अपनी सीमा हैं। जब व्यक्ति व्यक्ति रहता है, तब बाहर के किसी प्राणी के साथ क्रूरता, असहिष्णुता, वैरवृत्ति, विरोध, वध आदि का प्रसंग व्यक्त रूप में नहीं आता। परन्तु जब व्यक्ति समूह के साथ मिल जाता है या समाजबद्ध हो जाता है, तब अथवा प्राणीमात्र के साथ उसका वास्ता एक या दूसरे रूप में पड़ता है, एक-दूसरे से सहयोग लेना-देना पड़ता है, तब ये और ऐसे ही अन्य दोष उभर आते हैं। जहाँ दो होते हैं, वहाँ शुभ भावनाओं का सम्बल न हो तो संघर्ष, कलह, वैर-विरोध, शत्रुता, स्वार्थान्धता आदि दोष आते देर नहीं लगती है।[1]

---

१. 'शब्दों की वेदी : अनुभव का दीप' से भाव ग्रहण, पृ. ३६६

विषमतामय संसार में चार कोटि के जीवों का संसर्ग व सम्पर्क

इस अनन्त जीवों से भरे संसार में सभी प्राणी या सभी मनुष्य एक समान नहीं होते। अपने-अपने कर्मानुसार प्राणियों को शुभ-अशुभ योनि, गति, जाति, शरीर, अंगोपांग आदि या मनःस्थिति, प्रकृति, परिस्थिति, अवस्था आदि का संयोग मिलता है। उन प्राणियों में कई अच्छे, शान्त स्वभाव के, सहृदय, हितैषी, सुख-सम्पन्न और स्वस्थ होते हैं और उनसे सम्पर्क आता है, कई प्राणी या व्यक्ति दुःखित, पीड़ित, अभावग्रस्त, दीनता-हीनता से युक्त होते हैं और उनसे भी वास्ता पड़ता है, कई गुणवान्, पुण्यवान्, आध्यात्मिक विकास में अग्रसर, परोपकार कर्मठ, स्वार्थ-त्यागी, त्यागी, तपस्वी, ज्ञानी, विद्वान्, साधनाशील आदि अनेक गुण-सम्पन्न होते हैं और उनसे भी एक या दूसरे प्रकार से सहयोग लेना या सम्पर्क करना होता है और ऐसे भी व्यक्ति या प्राणी मिलते हैं, जो प्रत्येक अवस्था में हमें विरोध, संघर्ष ही प्रायः करते हैं, वे सामाजिक नैतिक नियमों से विपरीत चलते हैं अथवा वे द्वेष, रोष, वैर-विरोध करते रहते हैं, पापपंक में मग्न रहते हैं।

चार कोटि के जीवों के साथ सम्पर्क होने पर चित्त में राग-द्वेषादि कालुष्य की उत्पत्ति

इन्हीं चारों कोटि के व्यक्तियों या प्राणियों को 'योगदर्शन' में चार प्रकार की संज्ञा से अभिहित किया गया है—सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापात्मा। साधारण जनों या स्थूलदृष्टि वाले व्यक्तियों के मन में इन चारों प्रकार के व्यक्तियों को देखकर उनके प्रति अपने अदूरदर्शी विचारों के अनुसार राग, द्वेष, घृणा, ईर्ष्या, वैर-विरोध, रोष आदि उत्पन्न होना सम्भव है। किसी व्यक्ति को शुभ निमित्तों से सम्पन्न तथा सुख-सम्पन्न देखकर उसके अनुकूल व्यक्ति या व्यक्तियों को उसके प्रति राग, मोह या आसक्ति उत्पन्न हो जाती है तथा प्रतिकूल व्यक्तियों को द्वेष, ईर्ष्या, असूया आदि उत्पन्न होती है। किसी व्यक्ति को दुःखित, पीड़ित या अभावग्रस्त देखकर उसके प्रति घृणा, अरुचि या तिरस्कार की दुर्भावना होने लगती है और अपने पद, प्रतिष्ठा, सत्ता और सम्पत्ति के मद के नशे में आकर उसे धिक्कारने, दुत्कारने तथा अपमानित करने का घृणित व्यवहार करके उसे और अधिक दुःखी करते रहते हैं। उसके प्रति हृदय सहानुभूति, सहृदयता, कोमलता, करुणा या दया से शून्य हो जाता है। किसी गुणवान् एवं पुण्यात्मा के प्रतिष्ठित, उन्नत, प्रशंसित एवं विख्यात जीवन को देखकर साधारण अविचारी जनों के चित्त में या साम्प्रदायिक कट्टरता से रँगे हुए मन में उसके प्रति ईर्ष्या, असूया, डाह आदि दुर्भाव उत्पन्न होते हैं। उसकी प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा, यशकीर्ति एवं आदर को देखकर कई लोग अकारण ही मन में जलने लगते हैं और इसी तेजोद्वेष, ईर्ष्या एवं जलन

से प्रेरित होकर ऐसे व्यक्ति उस पुण्यात्मा को नीचा दिखाने, उसके प्रति लोकश्रद्धा डिगाने अथवा उसके प्रति मिथ्या दोषोद्भावन करके कलंकित करने का प्रयास करते हैं। इसी प्रकार पर-निन्दा की भावना असूया है तथा पापात्मा को देखते ही उसके प्रति घृणा, द्वेष, तिरस्कार की भावना पैदा होती है।[1]

चित्त की प्रसन्नता और निर्मलता के लिए चार भावनाएँ

इस प्रकार कर्ममुक्ति के साधक के जीवन में इन चारों कोटि के प्राणियों और व्यक्तियों के प्रति चित्त में यदि राग, द्वेष, ईर्ष्या आदि अशुभ कर्मबन्धक विकार आते हैं। उसका चित्त राग-द्वेष-कषायादि कालुष्यों से मलिन होता है, उससे कोई कर्ममुक्तिरूप मोक्ष की साधना सफल नहीं हो सकती। इसी से बचने तथा चित्त की निर्मलता, त्रिविध योगों की पवित्रता के लिये 'योगदर्शन' ने चार भावनाओं से युक्त ठोस उपाय बताया है–

"मैत्री-करुणा-मुदितोपेक्षाणां सुख-दुःख-पुण्यापुण्य-विषयाणां भावनातश्चित्त प्रसादनम्।"

–सुख, दुःख, पुण्य और अपुण्य (पाप) विषयों से युक्त व्यक्तियों के प्रति क्रमशः मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावना से चित्त की प्रसन्नता (स्वच्छता) बनाये रखे।

कर्ममुक्ति के लिये अथवा संवर-निर्जरा-मोक्ष की साधना के लिये यह आवश्यक है कि उसका चित्त कर्ममलों के निष्पादक राग-द्वेषादि से दूर हो। इसके लिए शुभनिमित्तों से सम्पन्न सुखी व्यक्तियों के प्रति मैत्रीभावना हो, दुःखित प्राणियों या व्यक्तियों के प्रति करुणाभावना हो, पुण्यात्मा मुनिजनों के प्रति मुदिताभावना हो और पापात्मा या प्रतिकूलवृत्ति वाले व्यक्तियों के प्रति उपेक्षाभावना हो। इस प्रकार चार कोटि के व्यक्तियों या प्राणियों के प्रति साधक के मन में उक्त चारों भावनाएँ जाग्रत रखेगा तो उसके चित्त में विषमता पैदा करने वाली राग-द्वेषादि दुर्भावनाएँ उदित नहीं होंगी।[2]

आत्मा को समभावनिष्ठ बनाने हेतु चार भावनाओं की अभ्यर्थना

चूँकि राग-द्वेषादि से विषमता पैदा होती है, वह अशुभ कर्मबन्ध का कारण है, इस दृष्टि से सामायिक पाठ (अध्यात्म-द्वात्रिंशिका) के रचयिता आचार्य

१. 'योगदर्शन' (विद्योदयभाष्यसहित) से भाव ग्रहण, पृ. ६४

२. (क) पातंजल योगदर्शन, समाधिपाद १, सू. ३३

(ख) 'योगदर्शन' (विद्योदयभाष्यसहित) से भावांश ग्रहण, पृ. ६४

अमितगतिसूरि समता द्वारा कर्मों की निर्जरा अथवा नवकर्मनिरोधरूप संवर की प्राप्ति के लिये वीतरागदेव से आत्म-निवेदन के रूप में अभ्यर्थना करते हुए कहते हैं–

"सत्त्वेषु मैत्रीं, गुणिषु प्रमोदम्, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ्य-भावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममाऽऽत्मा विदधातु देव !"

–हे वीतरागदेव ! मेरी आत्मा सदैव प्राणीमात्र के प्रति मैत्रीभावना करे, गुणिजनों के प्रति मेरी प्रमोदभावना जाग्रत हो, प्रभो ! दुःखित-पीड़ित, क्लिष्ट जीवों के प्रति मेरी आत्मा करुणा-परायण बने और जो मेरी निन्दा करते हैं, मेरे से विपरीत व्यवहार एवं आचरण करते हैं या मेरी बात नहीं मानते, उन सबके प्रति मेरे मन में माध्यस्थ्यभाव जगे। मेरी आत्मा में ये चारों भावनाएँ यथायोग्य जाग्रत हों।[1]

'तत्त्वार्थसूत्र' में मैत्री आदि चारों भावनाएँ अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और भावब्रह्मचर्य आदि व्रतों की स्थिरता, संवृद्धि और सम्पुष्टि के लिये, समताभाव को सदैव जाग्रत रखने के लिये, साथ ही आत्मा के विशिष्ट गुणों के अभ्यास के लिए तथा 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना या 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना को सक्रियरूप देने के लिये मैत्री आदि चारों भावनाएँ बताई गई हैं।[2]

चार भावनाओं की उपयोगिता : अहिंसादि व्रतों की सुरक्षा के लिए

प्रज्ञाचक्षु पं. सुखलाल जी ने मैत्री आदि चारों भावनाओं की उपयोगिता बताते हुए लिखा है–"प्राणीमात्र के साथ मैत्रीवृत्ति हो, तभी प्रत्येक प्राणी के प्रति अहिंसक और सत्यवादी के रूप में बर्ताव किया जा सकता है। अतः मैत्री का विषय प्राणीमात्र है। मैत्री का अर्थ है–दूसरे में अपनेपन की बुद्धि। इसीलिए अपने समान ही दूसरे को दुःखी न करने की वृत्ति अथवा भावना मैत्री का आधार है।

कई बार मनुष्य को अपने से आगे बढ़े हुए व्यक्ति को देखकर ईर्ष्या होती है। जब तक इस वृत्ति का नाश नहीं हो जाता, तब तक अहिंसा, सत्य आदि व्रत टिकते ही नहीं। इसलिए ईर्ष्या के विपरीत प्रमोद गुण की भावना के लिये कहा गया है। प्रमोद का अर्थ है–अपने से अधिक गुणवान् के प्रति (ईर्ष्या, असूया आदि दुर्वृत्तियाँ न रखकर) आदर रखना, उसके उत्कर्ष को देखकर प्रसन्न होना।

---

१. 'सामायिक पाठ' (समतायोग-द्वात्रिंशिका) (आचार्य अमितगति) से भाव ग्रहण, श्लो. १

२. मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थानि सत्त्व-गुणाधिक-क्लिश्यमानाऽविनेयेषु।
–तत्त्वार्थसूत्र, अ. ७, सू. ६

किसी व्यक्ति या प्राणी को पीड़ित, दुःखित या व्यथित देखकर भी यदि अनुकम्पा का भाव पैदा न हो तो अहिंसा आदि व्रत कभी निभ नहीं सकते। इसलिए करुणा की भावना आवश्यक मानी गई है। इस भावना का विषय केवल क्लेश से पीड़ित (सहायापेक्षक या अनुग्रहापेक्षक दीन, दुःखी, अनाथ) प्राणी है।

सर्वत्र सर्वदा मात्र प्रवृत्तिपरक भावनाएँ ही साधक नहीं होतीं। कई बार अहिंसा आदि व्रतों को स्थिर रखने के लिये तटस्थभाव धारण करना उपयोगी होता है। इसी कारण यहाँ माध्यस्थ्यभावना का उपदेश दिया गया है। माध्यस्थ्य का अर्थ है–उपेक्षा या तटस्थता। जब नितान्त संस्कारहीन अथवा किसी तरह की भी सद्वस्तु को ग्रहण करने के अयोग्य पात्र मिल जाय और उसे सुधारने के सभी प्रयत्नों का परिणाम अन्ततः शून्य ही दिखाई दे तो ऐसे व्यक्ति के प्रति तटस्थभाव रखना ही उचित है। अतः माध्यस्थ्यभावना का विषय अविनेय या अयोग्य पात्र ही है।[1]

चारों भावनाओं से आध्यात्मिक और सामाजिक लाभ

'योगशास्त्र' के अनुसार–ये चारों भावनाएँ ध्यान को परिपुष्ट करने वाली रसायन के सदृश हैं। चित्त में मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्यभाव रखने से योग की विशिष्ट साधना सम्यक् प्रकार से चलती है। इन चारों भावनाओं को जीवन में क्रियान्वित करने वाला व्यक्ति प्रतिकूल प्रसंगों में भी राग-द्वेषादि विकल्पों से दूर रहकर समत्वभाव में स्थिर रह सकता है और अनायास ही संवर और निर्जरा का लाभ प्राप्त कर सकता है। इन भावनाओं के विकास से जन-जीवन में ईर्ष्या, द्वेष, संघर्ष, कलह आदि विषमभाव नष्ट हो जाते हैं। इनके बदले मैत्री, वात्सल्य, आत्म-बन्धुता, आत्मौपम्य, सद्भावना, गुणग्राहकता, करुणा और तटस्थता का विकास होता है।

इस प्रकार मैत्री आदि चारों भावनाएँ मन में उठने वाली विभिन्न विषमताओं को मिटाती हैं, विषमताओं से होने वाले अशुभ कर्मों के बन्ध को रोकती हैं, आत्मौपम्य की भावना को पुष्ट करती हैं, जिससे एक ओर से शुभ योग-संवर तो होता ही है, साथ ही आत्म-भावों की ऊर्मियों के कारण भाव-संवर और कर्मनिर्जरा तक भी हो जाती है। इन भावनाओं के प्रभाव से विश्व के प्राणीमात्र में शान्ति का संचार होता है।[2]

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, अ. ७, सू. ६ विवेचन (पं. सुखलाल जी) से साभार उद्धृत, पृ. १७१-१७२

२. (क) 'योगशास्त्र' (हेमचन्द्राचार्य), प्रकाश ४, श्लो. ११७

(ख) 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' (आचार्य देवेन्द्र मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. ६६३-६६४

मैत्रीभावना का प्रभाव

सर्वप्रथम मैत्रीभावना को ही लीजिए। मैत्रीभाव जव जीवन में आ जाता है, तो व्यक्ति-व्यक्ति में, कुटुम्ब में, समाज, देश, प्रान्त और राष्ट्र में फैली हुई अशान्ति, अराजकता और अव्यवस्था की आग बुझ जाती है, सर्वत्र शान्ति का वातावरण छा जाता है, प्रत्येक व्यक्ति सुखपूर्वक जीने लगता है, प्रत्येक व्यक्ति को सुख-शान्ति और स्वाभिमानपूर्वक जीने का अधिकार मिल जाता है। एक-दूसरे को परस्पर निर्भयता, अनाक्रमणता, विश्वास और सहिष्णुता का सम्बल मिल जाता है।[1] ये ही चारों मैत्री के परम आधार हैं। ये जहाँ नहीं होते, वहाँ मैत्री स्थायी नहीं हो पाती।[2]

हृदय में मैत्री की स्थापना से अलभ्य लाभ

मैत्री जब हृदय में व्यापक रूप धारण करके आती है, तब सारी क्षुद्रताएँ, संकीर्णताएँ, संकुचित स्वार्थभावनाएँ, अपने-परायेपन का भाव, दूसरे के प्रति शत्रु, विरोधी, वैरी या परायेपन के भाव नहीं रहते। अतः मैत्रीभावना से आत्मा में व्यापकता, सर्वभूतात्मभावना, विश्वबन्धुत्व की दृष्टि आ जाती है। अपनी आत्मा को विकसित एवं व्यापक बनाने का अथवा पूर्णता तक पहुँचाने का यदि कोई पुण्य साधन है तो विश्वमैत्री है। विश्वमैत्री की भावना के माध्यम से मनुष्य एक शरीर से सारे विश्व की आत्माओं तक पहुँच सकता है। मैत्रीभावना को अपनाने वाले के लिये सारा विश्व ही अपना कुटुम्ब हो जाता है। वह विश्वमैत्री की भावना हृदय में सँजोकर जहाँ भी जाता है, वहाँ उसे आत्मीय मिल जाते हैं।[3] अतः विश्वमैत्री को हृदय में स्थान देने का अर्थ है—हृदय में आत्मीयता, बन्धुता, विश्वास और निर्भयता, सहृदयता और क्षमा का भाव जाग्रत होना। जिसके मन में प्राणीमात्र के प्रति मैत्री का भाव जग जाता है, उसका कोई शत्रु नहीं रहता। जब मन से शत्रुता का भाव निकल जाता है तो आत्मा में आनन्द का स्रोत फूट पड़ता है। उस व्यक्ति का मनोबल बढ़ता जाता है। शत्रुता एक विषैला कीड़ा है, वह जिसके पीछे लग जाता है, उसे निरन्तर सताता रहता है, भय और आशंका से उसका प्राण सूखने लगता है, उसका मनोबल क्षीण होने लगता है। उसके मन में माने हुए शत्रु के प्रति

---

१. तुलना करें—सद्धर्मध्यान-सन्धान-हेतवः श्री जिनेश्वरैः।
मैत्रीप्रभृतयः प्रोक्ताश्चतस्रो भावनाः पराः॥
मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ्यानि नियोजयेत्।
धर्मध्यानमुपस्कर्तुं, तद्धि तस्य रसायनम्॥ —*शान्तसुधारस मैत्री १/२*

२. 'शब्दों की वेदी : अनुभव का दीप' से भाव ग्रहण, पृ. ३६७

३. 'समतायोग' (प्रवक्ता : रतन मुनि जी) से भाव ग्रहण, पृ. २६

घृणा, कुण्ठा, विषाद और उद्विग्नता जड़ जमा लेते हैं। जिस व्यक्ति को वह शत्रु या विरोधी मान लेता है, उसका तो वह बिगाड़ सके या न बिगाड़ सके, अपने जीवन की शान्ति और शारीरिक-मानसिक स्वस्थता को चौपट कर लेता है। इसके विपरीत, जिसने सबको अपना मित्र माना, मित्र की भावना से देखा, उसने अपना शारीरिक-मानसिक स्वास्थ्य बनाया, अपने आत्मिक शाश्वत सुख में वृद्धि की, अपनी प्रसन्नता हस्तगत की। ऐसा करके उसने अपने जीवन से घृणा, भय, आतंक, विषाद, दुःख और दैन्य को विदा कर दिया।[1]

अपने आप से सत्य को खोजो, किसी को शत्रु मत मानो

इसीलिए भगवान महावीर ने कहा–"अपने आप से (आत्मा से) दूसरों की तुलना करके सत्य को खोजो और प्राणीमात्र के प्रति मैत्री करो।"

तात्पर्य यह है कि हम सत्य को जानें और अपने आप को बदलें। मनुष्य सत्य को न जानकर अपने प्रमाद का दोष दूसरों पर मढ़ देता है और उसे शत्रु मान लेता है। मान लो, किसी व्यक्ति को रास्ते में पड़े हुए किसी पत्थर से ठोकर लगी, चोट आ गई। अब सचाई यह है कि उसे अपनी गफलत से, अपने प्रमाद से पत्थर की ठोकर लगी, चोट आई। किन्तु सारा दोष वह पत्थर का और वहाँ पत्थर रखने वाले का निकालेगा, वह दूसरों को दोषी मानकर सारा दोषारोपण दूसरों पर करता है और अपने आप को बचा लेता है। परन्तु जो अपनी आत्मा द्वारा सत्य को खोजता है, वह दूसरों पर आरोप नहीं लगाता, न ही उसे शत्रु मानता है। वह इस बात को परमार्थ दृष्टि से स्वीकार करता है, मेरी अपनी ही गलती से, प्रमाद से ऐसा हुआ। कर्मविज्ञान द्वारा सत्य को खोजकर, अप्रमत्त और जागरूक रहकर अपना अनिष्ट करने या अपने आप को संतप्त करने वाले को भी शत्रु नहीं मानेगा, बल्कि उसे कर्म काटने में सहायक मित्र ही मानेगा।[2]

प्राणीमात्र को अपना मित्र मानो, किसी को शत्रु मानो ही मत

इसीलिए भगवान महावीर ने साधक को प्रतिक्रमण करते समय यह पाठ दुहराने का कहा–

"मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झ न केणइ।"

–मेरा सब प्राणियों के साथ मैत्रीभाव है, किसी के प्रति वैरभाव नहीं है।

---

१. 'जीवन की पोथी' से भाव ग्रहण, पृ. ५५

२. (क) अप्पणा सच्चमेसेज्जा, मेत्तीं भूएहिं कप्पए। *–उत्तराध्ययन, अ. ६, गा. २*

(ख) 'अमूर्त चिन्तन' (युवाचार्य महाप्रज्ञ) से भाव ग्रहण, पृ. ९२

मैत्री के इस महान् सूत्र का प्रतिदिन रटन करने वाले के समक्ष कोई शत्रु रहता ही नहीं। ईसामसीह ने कहा–"अपने शत्रु के साथ भी मैत्री करो।" भगवान महावीर ने इससे आगे की बात कही–"किसी को शत्रु मानो ही मत। पहले किसी को शत्रु मानो और फिर उससे मैत्री करो, इससे तो अच्छा है कि प्रारम्भ से ही किसी को शत्रु न मानो।"

'मेरा कोई भी शत्रु नहीं है', यह भावना अन्तर्हृदय से जैसे-जैसे पुनः-पुनः आवर्तन होकर पुष्ट होती जाती है, वैसे-वैसे विश्वमैत्री के साधक के दिल-दिमाग से शत्रुता का भाव नष्ट होता जाता है। प्रसन्नता और वत्सलता की, आत्मीयता और हितैषिता की ऊर्मियाँ प्रति क्षण उठती रहती हैं। मैत्रीपूर्ण हृदय में प्रतिशोध की आग तो भड़क ही नहीं सकती।

वस्तुतः संसार के सभी जीव मैत्रीभावना के विषय हैं। परिचित-अपरिचित, विरोधी-अविरोधी सभी जीवों का इसमें समावेश है। सम्पूर्ण जीवराशि मैत्री की मंगलभावना से जुड़ी हुई होनी चाहिए। एक भी जीव को मैत्रीभावना से पृथक् नहीं रखा जाना चाहिए।

क्योंकि जब हम **'मित्ती मे सव्व भूएसु'** बोलते हैं, तब संसार के समस्त प्राणियों में से एक भी प्राणी को इससे अलग रखा तो भगवदाज्ञा के प्रतिकूल होगा। **'शिवमस्तु सर्वजगतः'** (सारे संसार का कल्याण हो) का नारा लगाकर यदि 'मेरे पड़ौसियों का कल्याण कतई न हो', ऐसी बादबाकी विश्वमैत्री की भावना में नहीं हो सकती। मैत्रीभावना का फ्रेण्ड सर्कल सारा विश्व है।

इंग्लैण्ड में **'इण्टरनेशलन लव'** नामक एक संस्था है। इसके सदस्य निश्चित दिन के निश्चित समय पर एक विशाल चौराहे पर इकट्ठे होते हैं और जोर-जोर से नारे लगाते हैं–"We love all." (हम सबसे प्यार करते हैं।) उसमें एक युवती भी नियमित रूप से भाग लेती थी। उसके पड़ौसी ने याद दिलाया–"बहन ! तुम सारी दुनियाँ से प्रेम करने का नारा लगाती हो, जरा अपने माता-पिता से......।" यह सुनते ही वह एकदम भड़क उठी–"उनसे तो कतई नहीं। वे मेरे जानी दुश्मन हैं।" क्या आप इसे विश्वमैत्री कहेंगे या विश्वमैत्री का केवल नारा !

समस्त जीवों के लिए मैत्री के द्वार खुले रखो

प्रकटरूप में कदाचित् कोई किसी को विश्वमैत्री के असीम दायरे से माइनस (बादबाकी) न भी करता हो, फिर भी अन्तःकरण के गर्भ में कुछ व्यक्तियों के साथ मैत्री के लिये हृदयमन्दिर के द्वार पर 'नो एडमिशन' का बोर्ड लगा रखा हो, तो वीतराग-प्रभु के आदेश की अवहेलना होगी। 'नंदीसूत्र' के मंगलाचरण में भगवान

महावीर को जगत् का हितचिन्तक पितामह तथा विश्ववत्सल कहा है। अगर कर्ममुक्ति-साधक भगवान का आज्ञाकारी पौत्र होकर भी अपने मनमन्दिर में आत्मौपम्यभाव से एक जीव को प्रवेश नहीं देता, दिल के दरवाजे उसके लिए बंद कर देता है तो समझ लो, उसमें भगवान का प्रवेश भी नहीं हो सकेगा, क्योंकि उस व्यक्ति का मन राग-द्वेष, पक्षपात आदि से मलिन है। अतः परमात्मा को मनमन्दिर में प्रतिष्ठित करना है, तो सर्वप्रथम सबके प्रति मैत्री के लिये दिल के द्वार खोल दो।[1] स्वजनों और मित्रों के लिये वेलकम का बोर्ड लगाने की तरह शत्रुता रखने वाले के लिए भी वेलकम का बोर्ड लगा दो।

सभी प्राणी हमें व हम सर्वप्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखें

'यजुर्वेद' में भी सर्वप्राणि-मैत्री की उदारभावना की गई है—"संसार के सभी प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें, मैं भी सभी प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूँ। हम सब परस्पर एक-दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखें।"

मैत्रीभावना क्यों करें ?

विश्व के सभी प्राणियों के प्रति मैत्रीभावना क्यों करनी चाहिए? इस सम्बन्ध में 'शान्तसुधारस' में सुन्दर समाधान दिया गया है—"हे आत्मन् ! तू सर्वत्र सबके साथ मैत्री की भावना कर। इस जगत् में मेरा कोई शत्रु नहीं है, ऐसा अनुचिन्तन कर। तेरा यह जीवन कितने दिनों तक स्थायी रहने वाला है? (फिर इस क्षणभंगुर नाशवान् अल्पकालीन जीवन में) दूसरे के प्रति शत्रुबुद्धि रखकर क्यों खिन्न हो रहा है? इस संसार-सागर में तूने सभी प्राणियों के साथ हजारों बार बन्धुता का अनुभव किया है। इसलिए वे सभी जीव तेरे बन्धु ही हैं। कोई भी तेरा शत्रु नहीं है, ऐसी प्रतीति कर। सभी जीव अनेक बार तुम्हारे पिता, माता, चाचा, भाई, पुत्र, पुत्री, पत्नी, बहन और पुत्रवधू आदि बन चुके हैं। इस दृष्टि से यह जगत् तुम्हारा कुटुम्ब ही है, कोई भी पराया नहीं है।" आशय यह है कि इस संसार में जितने भी जीव हैं, सबके साथ हमारे विविध सम्बन्ध रहे हैं। वे सभी जीव हमारे कुटुम्बी जन बन चुके हैं। फिर उनके साथ शत्रुभाव क्यों? सभी के साथ मैत्रीभाव रखना ही हितावह है।[2]

---

१. (क) 'हंसा ! तू झील मैत्री-सरोवर में' (मुनि अभयशेखरविजय जी म.) से भाव ग्रहण, पृ. १५-१६

(ख) जगवच्छलो ···· जगप्पियामहो भयवं। —*नन्दीसूत्र, मंगलाचरण गाथा*

२. (क) मित्रस्य मां चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा वयं सर्वभूतानि समीक्षामहे। —*यजुर्वेद ३३/१८*

(ख) 'शान्तसुधारस' में मैत्रीभावना विषयक, श्लो. ४-६

मैत्रीभावना का उद्देश्य

'भगवती आराधना' में मैत्रीभावना का उद्देश्य बताते हुए कहा गया है–"जीवों के प्रति मैत्री का चिन्तन मैत्रीभावना है। अतः सभी जीवों के प्रति मित्र की दृष्टि से चिन्तन करना चाहिए कि अनन्तकाल से मेरी आत्मा रेंहट की घटी के समान इस चतुर्गतिमय संसार में परिभ्रमण कर रही है। इस संसार में समस्त प्राणियों ने मेरे पर अनेक बार महान् उपकार किये हैं। अतः अब मुझे भी (मनुष्य-जन्म में) उनका हितचिन्तन करके मैत्री-संवर्द्धन करना चाहिए। इस प्रकार मन में आत्मीयता की भावनापूर्वक उनका हितचिन्तन करना मैत्रीभावना है।" 'दशवैकालिकसूत्र' की हारिभद्रीया वृत्ति में साधुवर्ग के लिए आहार प्रारम्भ करने से पूर्व षट्कायिक जीवों (समस्त प्राणियों) के प्रति कौटुम्बिकता की भावना करने का विधान किया है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक बर्ट्रेण्ड रसैल ने अपने द्वारा लिखी हुई पुस्तक 'The world, as I see it' (संसार को जैसे मैं देखता हूँ) में अपना चिन्तन दिया है–"इस संसार में मैं अगणित प्राणियों की सहायता से जी रहा हूँ। न मालूम कितने ज्ञात-अज्ञात का सहयोग मुझे प्राप्त हुआ है, हो रहा है और होगा। उन प्राणियों के उपकारों का विचार करता हूँ तो कृतज्ञता से मेरा हृदय भर आता है। मैं सोचता हूँ, उन प्राणियों के साथ कैसे मैत्री (प्रेम) करके मैं अपने प्रति किये गए उपकारों का बदला चुकाऊँ।"[१]

मैत्रीभावना का स्वरूप और उपाय

'ज्ञानार्णव' में मैत्रीभावना के स्वरूप निर्देशपूर्वक उसका उपाय बताया गया है–संसार में सूक्ष्म और बादर, त्रस और स्थावर प्राणी सुख-दुःखादि अवस्थाओं में जैसे-जैसे रह रहे हों, उनके प्रति तथा अनेक प्रकार की योनियोनियों को प्राप्त जीवों के प्रति समता की अविराधिनी, महत्त्व को प्राप्त समीचीन बुद्धि मैत्रीभावना कहलाती है। मैत्रीभावना का रूप यह है–समस्त जीव कष्ट, दुःख और आपदाओं से रहित होकर जीएँ तथा दूसरों के प्रति वैर, पाप एवं अपमान आदि मैत्रीबाधक विकारों का त्याग करके सुख प्राप्त करें।[२]

---

१. (क) जीवेषु हितचिंता मैत्री। .... अनन्तकालं चतसृषु गतिषु परिभ्रमित्वा घटीयंत्रवत् सर्वे प्राणभृतोऽपि बहुशः। कृतमहोपकारा इति तेषु मित्रता-चिन्ता मैत्री।

–भगवती आराधना १६९६/१५१६/१२

(ख) 'समतायोग' (प्रवक्ता रतन मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. ३३

२. क्षुद्रेतर-विकल्पेषु चर-स्थिर-शरीरिषु।

सुख-दुःखाद्यवस्थासु संसृतेषु यथायथम्॥५॥

मैत्री का फलितार्थ

इस तथ्य का आशय यह है कि मित्रता का अर्थ केवल दूसरे प्राणियों के प्रति वात्सल्यभाव प्रदर्शित करना ही नहीं, उसकी आशातना न करना भी है। 'श्रमणसूत्र' में ३३ प्रकार की आशातना बताई है। जैसे जीव की भी आशातना होती है, वैसे अजीव की भी आशातना होती है। काल, श्रुत, इहलोक, परलोक आदि अजीव पदार्थों की भी आशातना होती है, अपने से अल्प-विकसित चेतना वाले, न्यून इन्द्रिय, शरीर, मन आदि वाले जीवों की भी आशातना होती है। यह आशातना तब होती है, जब उनके अस्तित्व को नकारा जाता है तथा जो जैसा है, जिस स्थिति में है, उसे उसी रूप में स्वीकारा नहीं जाता। यह आशातना भी उनके प्रति एक प्रकार से द्वेष या शत्रुता है। अतः वस्तु सजीव हो या निर्जीव उसके प्रति तिरस्कार की भावना या तुच्छता की वृत्ति न हो, उसके अस्तित्व का स्वीकार करना तथा जो जैसा व जिस स्थिति में है, उसे उसी रूप में स्वीकार करना उनके प्रति मैत्रीभाव है। इस व्यापक दृष्टि से सजीव निर्जीव पदार्थों में निहित सत्य को खोजें, उसे स्वीकारें और उसके प्रति मैत्रीभावना करें।[1]

मैत्री का लक्षण और उद्देश्य

'सर्वार्थसिद्धि' में मैत्री का लक्षण किया गया है-"दूसरों को अपने से दुःख पैदा न हो, ऐसी अभिलाषा रखना मैत्री है।" 'शान्तसुधारस' में मैत्री का अर्थ किया गया है-"दूसरों का हित-चिन्तन करना मैत्री है।' 'योगशास्त्र' के अनुसार-"इस संसार में कोई भी प्राणी पापकृत्य न करे, कोई भी जीव दुःख का भागी न हो, सभी प्राणी दुःख से मुक्त हों और सुख का अनुभव करें, ऐसी बुद्धि मैत्री कहलाती है।" 'धर्मसंग्रह' में मैत्री का लक्षण दिया है-"दूसरे प्राणियों के वास्तविक सुख की चिन्तना या भावना करना मैत्री है।" जब साधक विश्वमैत्री के लिये उद्यत होता है, तब वह दूसरों के हित, सुख एवं कल्याण की भावना लेकर चलता है, किसी का भी अहित, अकल्याण या दुःखोत्पत्ति करने की भावना उसके मन के

पिछले पृष्ठ का शेष-

नानायोनि-गतेष्वपि समत्वेनाऽविराधिका।
साध्वी महत्त्वमापन्ना मतिर्मैत्रीति गद्यते॥६॥
जीवन्तु जन्तवः सर्वे, क्लेश-व्यसनवर्जिता।
प्राप्नुवन्तु सुखं, त्यक्त्वा वैरं पापं पराभवम्॥७॥ *-ज्ञानार्णव* २७/५-७

१. (क) पडिक्कमामि तेत्तीसाए आसायणणाए। *-आवश्यकसूत्र में श्रमणसूत्र*
(ख) 'अमूर्त चिन्तन' (युवाचार्य महाप्रज्ञ) से भावांश ग्रहण, पृ. १५

किसी भी कोने में नहीं होती। किसी को भी दुःख, पीड़ा या कष्ट देने या अपमानित-तिरस्कृत करने की कठोर भावना उसके हृदय में नहीं होती, न ही ईर्ष्या, छल या वैर-विरोध करके किसी को नीचा दिखाने, बदनाम करने या उखाड़ने का विचार या प्लान होता है। जहाँ इस प्रकार सोचा जाता है कि इस संसार में सभी जीव मेरे स्वजन हैं, प्रिय बन्धु हैं, मित्र हैं, कोई भी मेरा शत्रु नहीं है, वहीं मैत्रीभावना विकसित होती है। मैत्रीभावना का साधक यह सोचता है कि तू अपने मन को कलह, शत्रुता, वैर-भाव, द्वेष, क्लेश से कलुषित बनाकर क्यों अपने सुकृत (पुण्य) का नाश करता है।[1] तेरे मन में किसी भी प्राणी के प्रति तनिक भी दुर्भाव, घृणा, तिरस्कारवृत्ति न हो, तेरे वचन और व्यवहार द्वारा भी किसी को पीड़ा न हो, ऐसी भावना करना ही मैत्रीभावना है। यदि कोई अपने अशुभ कर्मोदयवश मुझ पर क्रोध, द्वेष या रोष करता है तो मुझे उन विकारों की अधीनता क्यों स्वीकारनी चाहिए? मुझे अपने हिताहित का विचार करके कलह का त्यागकर कलहंसवृत्ति स्वीकार करनी चाहिए।

विश्वमैत्री की सिद्धि

इस प्रकार जब मनुष्य की दृष्टि आत्मौपम्य की हो जाती है, तब वह अपने संकीर्ण क्षुद्र स्वार्थ में बन्द नहीं होता, अपने आप में केन्द्रीभूत नहीं होता। अपितु परमार्थदृष्टि से चिन्तन और तदनुरूप व्यवहार करके अपने तुच्छ स्वार्थ को, सुख और संरक्षण को गौण कर दूसरों के हित, सुख और संरक्षण की भावना करता है, दूसरों के प्रति सहृदयता और सहानुभूति रखता है, तब एकान्त स्वहित की और एकान्त स्व-रक्षण की वृत्ति सर्वहित और सर्वरक्षण में परिवर्तित हो जाती है, यही विश्वमैत्री की सिद्धि है।

विश्वमैत्री साधक की उन्नत मनःस्थिति और उसका प्रभाव

इस प्रकार की विश्वमैत्री जिस व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र एवं देश में अवतरित हो जाती है, वहाँ के जीवन को मधुर, सरस, सुखद, शान्तियुक्त एवं

---

१. (क) परेषां दुःखानुत्पत्त्यभिलाषा मैत्री। *—सर्वार्थसिद्धि ७/११/३४९*

(ख) मैत्री परेषां हित चिन्तनं यत्। *—शान्तसुधारस २*

(ग) मा कार्षीत् कोऽपि पापानि, मा च भूत्कोऽपि दुःखितः।
मुच्यतां जगदप्येषा मतिर्मैत्री निगद्यते॥ *—योगशास्त्र ४/११८*

(घ) सुखचिन्ता मता मैत्री। *—धर्मसंग्रह*

(ङ) परहितचिन्ता मैत्री।

(च) सर्वे ते प्रियबान्धवा, नहि रिपुरिह कोऽपि।
मा कुरु कलि-कलुषं मनो, निजसुकृतविलोपि॥ *—शान्तसुधारस मै. भा., श्लो. १०*

पुष्पित-फलित बना देती है। जहाँ ऐसी मैत्री होती है, वहाँ वैर-विरोध, द्वेष, घृणा, अहंकार, दुष्टता आदि दुर्गुण टिक नहीं सकते, क्योंकि ऐसी मैत्रीभावना विरोधी, वैरी, क्रूर एवं दुर्जन प्रतीत होने वाले जीवों को भी अपना बना लेती है, उनकी विश्वमैत्री का साधक ऐसे लोगों को अपना आत्मीय मित्र एवं बन्धु बनाकर उनकी क्रूरता को कोमलता में, उनकी दुर्जनता को सज्जनता में बदल देता है। जिसके मन में ऐसी मैत्रीभावना सुदृढ़ हो जाती है, वह क्रूर प्राणियों का संयोग मिलने पर भी क्षुब्ध, भयभीत एवं व्यथित नहीं होता। 'अपूर्व अवसर' में ऐसे विश्वमैत्री साधक की मनःस्थिति का चित्रण इस प्रकार किया गया है–

"एकाकी विचरतो वली श्मशानमां, वली पर्वतमां वाघ-सिंह-संयोग जो।
अडोल आसनने मनमां नहिं क्षोभता, परममित्रनो जाणे पाम्या जोग जो॥"[१]

विश्वमैत्री के आदर्श तक पहुँचने का क्रम

विश्वमैत्री के आदर्श तक पहुँचने के लिए साधक को व्यक्ति (विभूति या परम उपकारी), समाज (समग्र मानव-समाज) और समष्टि (मानवेतर समग्र प्राणीजगत्) के प्रति मैत्री के क्रम से अभ्यास करना आवश्यक हो तो करना चाहिए। परन्तु 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना तो प्रत्येक घटक के साथ मैत्री करते समय दृष्टिगत रखनी चाहिए। तभी वह निःस्वार्थ, निष्काया मैत्री के द्वारा संवर और निर्जरा का महान् लाभ प्राप्त कर सकता है।[२]

प्रमोदभावना का स्वरूप, व्यापकता और रहस्य

मैत्रीभावना का समुचित विकास होने के साथ-साथ साधक में प्रमोदभावना जाग्रत होती है। प्रमोदभावना का फलितार्थ है–गुणीजनों को देखकर मुख पर प्रसन्नता, अन्तरंग में भक्तिभाव तथा हृदय में असीम अनुराग को अभिव्यक्त करना। 'अष्टक' प्रकरण में कहा है–समस्त दोषों से मुक्त वस्तुतत्त्व का यथार्थ अवलोकन करने वाले वीतराग पुरुषों के गुणों के प्रति पक्षपात प्रमोद कहलाता है। अपने से गुणाधिक व्यक्ति के गुणों पर चिन्तन करके प्रसन्नता का अनुभव करना प्रमोदभावना है। प्रमोदभावना जिसके मन-मस्तिष्क में स्थापित हो जाती है, वह चाहे जिस जाति, धर्म, सम्प्रदाय, पंथ, देश, कुल आदि के गुणाधिक व्यक्तियों को देखकर उनके गुणों के प्रति प्रसन्न होता है, आदरभाव रखता है। उनकी उन्नति,

---

१. (क) 'समतायोग' से भाव ग्रहण, पृ. २५, २७

(ख) 'अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे?' (श्रीमद् राजचन्द्र जी) से, पद्य ११

२. देखें–समतायोग में 'विश्वमैत्री तक पहुँचने के लिए क्रम' का विस्तृत निरूपण, पृ. ३६-३९

प्रगति, उत्कर्ष और विकास देखकर उनके प्रति ईर्ष्या, तेजोद्वेष, दोषदृष्टि, असूया आदि न रखता हुआ, केवल उनके गुणों की प्रशंसा, अनुमोदना और गुणग्राहिता प्रगट करता है, प्रसन्न होता है। जैसे मेघगर्जना सुनकर और वर्षा के आगमन की सम्भावना देखकर मोर एकदम टहुकने लगते हैं, उसी प्रकार वीतराग पुरुषों, साधु-साध्वीजनों, धर्मात्मा पुरुषों, समाज के निष्ठावान एवं व्रतबद्ध जनसेवकों, श्रावकों, राष्ट्र के सेवाभावी नेताओं, सज्जनों एवं गुणीजनों को देखते ही उनके प्रति प्रसन्नता उमड़े, अपने से अधिक गुणवान्, क्षमतावान्, संयमी व्यक्तियों को देखते ही हृदय प्रसन्नता से झूम उठे, उनकी उन्नति देखकर चित्त में आल्हाद उत्पन्न हो, तभी समझना कि सही माने में प्रमोदभावना आई है।[1]

यह प्रमोदभावना नहीं : प्रमोदभावना का नाटक है

अधिकांश व्यक्तियों की यह पूर्वाग्रहभरी आदत होती है कि वे अपने धर्म, सम्प्रदाय, जाति, कुल, देश, राष्ट्र या प्रान्त आदि से भिन्न अन्य सम्प्रदाय, पंथ आदि का कोई व्यक्ति चाहे जितना गुणवान्, समभावी, विद्वान्, सत्कार्य समर्थ सज्जन हो, उसके गुणों की ओर दृष्टिपात करके, केवल उसके दोष देखने, उससे ईर्ष्या करने और उसे अप्रतिष्ठित करने की दुर्भावना उमड़ती है। ऐसा क्यों? इसलिए कि गुणान्वेषी दृष्टि या समभाव अथवा सम्यकूरूप से ग्रहण करने की दृष्टि नहीं है। ऐसे व्यक्ति कदाचित् प्रमोदभावना का नाटक भले ही कर लें, उनके अन्तर्मन में साम्प्रदायिकता, प्रान्तीयता, जातीयता, राष्ट्रान्धता, पक्षान्धता का जहर भरा होता है। इसलिये उसके अन्तर में उस व्यक्ति के गुणों से कोई प्रेरणा लेने, पुण्य वृद्धि करने या आदर करने की दृष्टि नहीं होती।

प्रमोदभावना से दूर व्यक्ति का मानस

महात्मा गांधी जी के नेतृत्व में जिन दिनों देशभर में स्वतंत्रता-संग्राम छिड़ा हुआ था, दो मुस्लिम भाई–मोहमद अली और शौकत अली गांधी जी से प्रभावित होकर स्वतंत्रता-संग्राम में जुड़े। गांधी जी पर उनकी श्रद्धा थी, किन्तु उनके अन्तःकरण में साम्प्रदायिकता व्याप्त थी। एक बार कुछ मुसलमानों ने उनसे पूछा– "गांधी जी आपको कैसे लगे?" गांधी जी के गुणों के प्रति अनुराग न होने से वे

---

१. (क) वदनं प्रसारादिभिरभिव्यज्यमानान्तर्भावितरागः प्रमोदः। —*सर्वार्थसिद्धि ७/११/३४९*

(ख) अपास्ताऽशेषदोषाणां वस्तुतत्वावलोकिनाम्।
गुणेषु पक्षपातो यः, स प्रमोदः प्रकीर्तितः॥ —*अष्टक १६*

(ग) भगवती आराधना वृत्ति १६९६/१५१६/१५

(घ) भवेत् प्रमोदो गुण-पक्षपातः। —*शान्तसुधारस १३/३*

अपनी साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के अनुसार बोले–"गांधी जी सज्जन हैं, निखालिस दिल हैं, स्वतंत्रता के लिये अहिंसक ढंग से जूझ रहे हैं, परन्तु इस्लाम की दृष्टि से तो वे खराब से खराब व्यक्ति (काफिर) हैं।" यह प्रमोदभावना नहीं है।[1]

बाहर से प्रशंसा और अन्तर में दोषदृष्टि प्रमोदभावना नहीं

निष्कर्ष यह है कि समाज के लिहाज या भय से या बुरा न बनने के डर से किसी गुणवान् की प्रशंसा की जाय, परन्तु अन्तर में उसके प्रति दोषदृष्टि हो अथवा छिद्रान्वेषिता हो, तेजोद्वेष हो, ईर्ष्या और द्वेष का विष भरा हो, वहाँ प्रमोदभावना नहीं हो सकती। इसी प्रकार जिनके दिल कषायों से कलुषित होते हैं, वे किसी प्रभावशाली गुणवान्, क्षमतावान् साधु-साध्वी की अथवा समाज-सेवक या अन्य सम्प्रदाय के श्रावक-श्राविका की बाहर से तो खुलकर प्रशंसा के पुल बाँध देंगे, किन्तु जहाँ दाव लगेगा, वहाँ उसके दोष प्रगट करने वाला विषैला वचन-बाण छोड़ देंगे। ऐसे लोगों में प्रमोदभावना टिक नहीं सकती।

गुणग्राहकता और चापलूसी में महान् अन्तर है

और यह भी प्रमादभावना नहीं कही जा सकती कि किसी व्यक्ति में अपने पद, प्रतिष्ठा या अधिकार के अनुरूप गुण न होते हुए भी उसे रिझाने या उसे अनुकूल बनाकर रूप में ऐंठने अथवा अपने किसी स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए उसकी झूठी प्रशंसा, खुशामद या चापलूसी की जाय। गुणग्राहकता और चापलूसी में महान् अन्तर है। गुणग्राहकता हृदय से समुद्भूत होती है, चापलूसी जीभ से। गुणग्राहकता जीवन का सच्चा ध्येय है, जबकि चापलूसी में स्वार्थसिद्धि का प्रयोजन है। पहली अभिनन्दनीय है, दूसरी निन्दनीय। पहली निःस्वार्थ समतावर्धिनी एवं आत्म-कल्याण में कारणभूत होती है, जबकि दूसरी परवंचनामयी तथा स्वार्थसाधिनी होती है।

जो जिसके विशिष्ट गुणों का चिन्तन करता है, एक दिन वैसा बन पाता है

एक आचार्य ने कहा–"यद् ध्यायति, तद् भवति।"–जो व्यक्ति जैसा चिन्तन करता है, वह वैसा ही बन जाता है। प्रमोदभावना के साधक की दृष्टि गुणों की ओर होती है। वह अपने से गुणों में अधिक महान् आत्माओं के तथा आत्म-विकास में आगे बढ़े हुए सत्पुरुषों के एवं किसी भी वीतराग प्रभु, जीवन्मुक्त या सिद्ध (मुक्त) परमात्मा का अथवा आदर्शगुणी पुरुष के उज्ज्वल गुणों का चिन्तन करता है, तो अभ्यास बढ़ जाने से उसमें भी वह गुण आ सकता है अथवा आगामी जन्म में भी वह प्रमोदभावना के कारण उस गुण की प्रतिमूर्ति बन सकता है। इसके

---

१. 'समतायोग' से भाव ग्रहण, पृ. ४२-४३

अतिरिक्त प्रमोदभावना का साधक गुणदृष्टि रखकर धर्मरुचि अनगार की करुणा, भगवान महावीर के उग्र तप, शालिभद्र के पूर्व-जन्म का दान, धन्ना का वैराग्य, गजसुकुमार मुनि की भेदविज्ञानदृष्टि, अर्जुन मुनि की क्षमा, श्रीराम का समभाव, श्रीकृष्ण के अनासक्त कर्मयोग आदि प्रशस्त गुणों का चिन्तन करता है तो तदनुरूप आचरण करने की प्रेरणा, प्रोत्साहन एवं आत्म-शक्ति मिलती है। वास्तव में प्रमोदभावना का विशिष्ट अंग गुणदृष्टि या गुणग्राहकता है। इसी भावना में यदि कोई एकाग्र होकर अपनी मनःशक्ति केन्द्रित कर दे या अपनी भावना को सुदृढ़ करता रहे तो वह एक दिन सद्‌गुणों की मूर्ति बन जाता है, उसकी मानसिक शक्तियाँ बढ़ जाती हैं, वैर-विरोध, ईर्ष्या, छल, द्वेष आदि दुर्गुण धीरे-धीरे नष्ट हो जाते हैं, उसकी सुख-सम्पत्ति बढ़ जाती है।

गुणग्राही व्यक्ति का हृदय : लोहचुम्बक के समान

जैसे लोहचुम्बक के पास अन्य चीजों के साथ लोहे की कोई छोटी-सी चीज पड़ी होती है तो उसे वह खींच लेता है, उसी तरह गुणग्राहक प्रमोददृष्टि-सम्पन्न साधक दूसरे व्यक्ति में अज्ञान के कण, अहंकार और क्रोधादि के कीटाणु होंगे तो वह उनमें से एक को भी नहीं अपनाएगा, वह उसमें से केवल गुण के कणों को अपनाकर अपनी ओर खींच लेगा। गुणग्राही व्यक्ति का हृदय लोहचुम्बक-सा होता है।[१]

गुणानुरागी नहीं है तो सब जप, तप आदि निरर्थक हैं

मनुष्य कितना ही जप-तप कर ले, शास्त्र-स्वाध्याय कर ले, विभिन्न परीषह या कष्ट सह ले, किन्तु गुणानुरागी नहीं बनता है तो उसका यह सब कष्टकारक तप-जप या कष्ट-सहन व्यर्थ होता है, क्योंकि उसकी दृष्टि सम्यक् नहीं बनी है, वह हर तथ्य को सम्यक्रूप से परिगृहीत नहीं करता। दूसरे के सद्‌गुण देखकर प्रसन्न न होना, अनायास ही प्राप्त आत्म-कल्याण के अवसर को खोना है। महान् आत्माओं के गुण-स्मरण से अनायास ही पुण्य-लाभ उपार्जित हो जाता है।

गुणान्वेषी दृष्टि विकसित होने पर अनेक आध्यात्मिक लाभ

गुणान्वेषी दृष्टि विकसित होने पर व्यक्ति दूसरे के सद्‌गुणों से प्रेरणा लेकर अपने में निहित गुणावगुणों की भलीभाँति जाँच-पड़ताल कर सकता है। गुणवान् व्यक्तियों के गुणों से हुए विकास का चित्र उसके सामने स्पष्ट हो जाता है, इससे वह भी विकास की ओर गुणी बनकर दौड़ लगा सकता है। प्रमोदभावना द्वारा गुणग्राहक दृष्टि विकसित हो जाने पर सबसे बड़ा लाभ यह है कि गुणग्राहक व्यक्ति

---

१. 'समतायोग' से भावांश ग्रहण, पृ. ५४-५५

द्वारा की गई सच्ची गुण-प्रशंसा और प्रोत्साहन भरी उक्ति से सामने वाले व्यक्ति में अपने गुणों की अनभिज्ञता दूर हो जाती है, उसमें छाई हुई निराशा, हीनभावना या निरुत्साहता खत्म हो जाती है और उसमें अपनी क्षमताओं, सद्‌गुणों, शक्तियों को बढ़ाने–पनपाने का उत्साह जाग्रत होता है, सत्कार्यक्षमता बढ़ती है, उनके मुरझाए हुए मन भी हरे-भरे हो जाते हैं। भगवान महावीर ने चाण्डाल, पापी, सर्प, पतित तथा दास कहलाने वाले अनेक व्यक्तियों को उनमें सुषुप्त सद्‌गुणों को बढ़ावा देकर सज्जन एवं साधुपुरुष बना दिया। रामकृष्ण परमहंस ने नरेन्द्र जैसे नास्तिक-सम युवक को परखकर प्रसिद्ध संन्यासी विवेकानन्द बना दिया। श्रीराम के प्रोत्साहन वानरजातीय सामान्य व्यक्ति लंका-विजय में समर्थ हुए। समदर्शी महात्मा गांधी जी ने हरिजनों का उनमें निहित सद्‌गुणों और विशेषताओं का भान कराकर उच्चस्तरीय मानव बना दिया।

प्रमोदभावना में सर्वाधिक बाधक : दोषदृष्टि

प्रमोदभावना में सर्वाधिक बाधक है–दोषदृष्टि। दोषदृष्टि वाला मानव निन्दा, चुगली, ईर्ष्या, द्वेष, छिद्रान्वेषण का शिकार होकर पापकर्मों का ही भार बढ़ाता है। फलतः वह दूसरों के प्रति ऐसी दोषदृष्टि से अपनी मानसिक शान्ति खो बैठता है। दूसरों को अपना शत्रु बना लेता है। स्वयं भी अपना और निमित्तों का शत्रु बन जाता है। उसे सारी दुनियाँ बुराइयों से भरी हुई दिखती है। दूसरों के दोष देख-देखकर वह दीन-हीन, दुःखी बना रहता है। इस प्रकार अपनी आत्म-शक्तियों का स्वयं ह्रास कर लेता है, क्योंकि दोषदृष्टि मानव गुणों की अपेक्षा दोषों को ही खोजता है, गुणों पर उसकी दृष्टि ठहरती ही नहीं है।[१] अगर मनुष्य गुणदृष्टि-परायण प्रमोदी बन जाय तो संसार के अधिकांश लोग उसके अपने आत्मीय बन जाते हैं।

प्रमोदभावना के अधिकारी की अर्हताएँ

जो हर आत्मा को अपने समान मानता है, प्रत्येक आत्मा में अनन्त चतुष्टय का सुषुप्त अस्तित्व और उन्हें प्रकट करने का अधिकार मानता है, वही आत्मा दूसरे का अभ्युदय व गुण-विकास देखकर ईर्ष्यालु नहीं बनता, उसी आत्मा में दूसरे में अभिव्यक्त गुणों की श्रेष्ठता को स्वीकारने की भावना जागती है, वही अपनी हीनभावना को त्यागकर तदनुरूप गुण-प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करता है। वही प्रसन्नचेता पुरुष प्रमोदभावना द्वारा सर्वकर्मों से मुक्त हो पाता है।

---

१. 'समतायोग' से भावांश ग्रहण, पृ. ५०-५१

करुणा मैत्रीभावना का ही विशिष्ट सक्रिय रूप है

करुणा जीवन की अमृतसरिता है। वह मैत्रीभावना का विशिष्ट सक्रिय रूप है। वैसे तो आत्मौपम्यभाव के साधक की समस्त प्राणियों के प्रति मैत्रीभावना रहती हैं, किन्तु जो विशेष रूप से दीन-हीन, दुःखित, पीड़ित, व्यथित, शोषित एवं पददलित हैं, उनके प्रति करुणा, सेवा, सहानुभूति और अनुकम्पा की भावना जागती है, तब वह उनके दुःखों को अपना दुःख समझकर निःस्वार्थ और निष्कांक्षभाव से उनके दुःख-निवारण की मंगलभावना करता है और तदनुसार सात्त्विक पुरुषार्थ भी। इस दृष्टि से मैत्रीभावना का ही विशिष्ट रूप करुणाभावना है।

करुणाभावना का लक्षण

'अष्टक' प्रकरण में करुणाभावना का लक्षण इस प्रकार किया गया है—"दीन-दुःखियों, पीड़ितों, भयभीतों तथा प्राणों (जीवन) की याचना करने वालों पर उपकार-परायण बुद्धि होना करुणाभाव कहलाता है।" इसका सामान्य लक्षण बताया गया है—"दूसरों का दुःख-निवारण करने की भावना उत्पन्न होना करुणा है।"

मानवता के नाते भी करुणापूर्ण हृदय होना अनिवार्य

अगर किसी दुःखित, पीड़ित और व्यथित प्राणी को देखकर हृदय करुणार्द्र या अनुकम्पामय नहीं होता है, तो समझना चाहिए, उसका हृदय सूखा रेगिस्तान है। कष्ट से पीड़ितों के स्वर और विलाप को सुनकर यदि सक्षम, सशक्त और स्वस्थ मनुष्य कठोर हृदय बनकर पड़ा रहे, निष्क्रिय और निस्पन्द होकर पड़ा रहे, सहृदयता और सहानुभूतिपूर्वक कुछ भी चिन्तन न करे, वह व्यक्ति सम्यग्दृष्टित्व से तो दूर ही है, मानवता से भी दूर है। मानवता के नाते साधारण व्यक्ति का भी यह कर्त्तव्य हो जाता है कि यदि वह सक्षम, सशक्त, स्वस्थ और विचारशील है, तो उन दुःखार्त्त जीवों के प्रति सहृदयतापूर्वक दुःख-निवारण का विचार करे, दूरस्थ और असम्पन्न हो तो भी शुभ भावना द्वारा निम्नोक्त प्रकार से उनका दुःख-निवारण होने में निमित्त बने—

"सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥"

—इस संसार में सभी प्राणी सुखी हों, सभी निरोग (स्वस्थ) हों, सभी अपना कल्याण जानें—देखें, कोई भी व्यक्ति (मन-वचन-काया से) दुःखी न हो।[1]

---

१. (क) दीनेष्वार्तेषु भीतेषु याचमानेषु जीवितम्।
उपकारपरा बुद्धिः कारुण्यमभिधीयते॥ —*अष्टक प्रकरण (हरिभद्रसूरि)*

(ख) परदुःख-प्रहाणेच्छा करुणा।

(ग) 'समतायोग' से भाव ग्रहण, पृ. ५९

करुणा आत्मा का स्वाभाविक गुण तथा धर्मवृक्ष की जड़ है

हृदय में सम्यग्दर्शन की धड़कन है या नहीं? इसकी पहचान भी अनुकम्पा से हो जाती है। एक आचार्य ने करुणा को धर्मवृक्ष का मूल बताते हुए कहा है–वीतराग प्रभु के उपदेश से जिन श्रावकों के करुणामृत-पूर्ण चित्त में प्राणिदया (करुणा) प्रादुर्भूत नहीं होती, उनके जीवन में (संवर-निर्जरारूप) धर्म कहाँ से हो सकता है? क्योंकि प्राणिदया (करुणा) धर्मरूपी तरु की जड़ है, व्रतों में प्रधान है, सम्पदाओं का धाम है और गुणों की निधि है। इसलिए विवेकी व्यक्तियों (सम्यग्दृष्टि-सम्पन्नों) को प्राणिदया (करुणा) अवश्य करनी चाहिए। 'धवला' में कहा है–करुणा जीव का स्वभाव (स्वाभाविक गुण) है, उसे (शुभ) कर्मजनित मानने में (सैद्धान्तिक) विरोध आता है।"[1] इसलिए जहाँ मानवता, सम्यग्दृष्टि या समता होगी, वहाँ करुणा का होना अनिवार्य है, भले ही वह रक्षा, दया, सेवा, अनुकम्पा, सहानुभूति, सद्भावना, सहृदयता, क्षमा, मृदुता आदि में से किसी भी रूप में हो। ये सब एक या दूसरे प्रकार से करुणा के ही रूप हैं।

ये सब करुणाभावना के ही अंग हैं

वस्तुतः किसी भी प्राणी को कष्टकारक स्थिति में पीड़ित, दुःखित, चिन्तित, शोकग्रस्त, भयभीत, व्याकुल, विलापमग्न एवं आर्त्तध्यानग्रस्त देखकर उसके प्रति मन में सहानुभूति तथा समवेदना उत्पन्न होना, करुणार्द्र हो जाना, उसके दुःख को स्वयं का दुःख समझकर उसके दूर होने या करने की भावना करना या यथाशक्ति दुःख-निवारण का प्रयत्न करना, उसको समाधि (मनःसमाधान) पहुँचाना, उसे आश्वासन देना, धैर्य बँधाना, उसे समुचित प्रेरणा एवं प्रोत्साहन देकर उसमें अनिवार्य दुःख को समभाव से सहने का मनोबल पैदा करना, यथाशक्ति उसके साथ मृदुता का व्यवहार करके उसे उसके मन से तथा आत्मा से उत्पन्न कल्पित या भ्रान्ति से मान्य दुःख के निवारण का उपाय बताना, उसे सुख-शान्ति पहुँचाना अथवा उसके दुःख-निवारण के लिए अपने सुख का त्याग करना, स्वयं सन्तोष धारण करना या अपने प्रिय से प्रिय पदार्थ या स्वार्थ का बलिदान देना पड़े तो भी न हिचकना; ये सब करुणाभावना के ही अंग हैं।

---

१. (क) येषां जिनोपदेशेन कारुण्यामृतपूरिते।
चित्ते जीवदया नास्ति, तेषां धर्मः कुतो भवेत्॥
मूलं धर्मतरोराद्या व्रतानां धाम सम्पदाम्।
गुणानां निधिरित्यंगिदया कार्या विवेकिभिः॥

(ख) करुणाए जीवसहावस्स कम्मजणिदत्त-विरोहादो। –धवला

करुणा की होली : हृदयहीनता और क्रूरतापूर्ण तर्क

कई लोग यह तर्क करते हैं कि भूकम्प, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी, दुष्काल आदि के कारण जब मनुष्य और पशु पीड़ित, बेघरबार और तबाह होने लगते हैं, तो हम क्या करें। क्या हमने उन्हें तबाह या पीड़ित किया है? वे जीव अपने-अपने अशुभ कर्मों (पापों) के फलस्वरूप कष्ट पा रहे हैं, इन्होंने इससे पूर्व स्वयं अज्ञान, कषाय और मोहवश दूसरों को कष्ट पहुँचाए होंगे, उन्हीं पापों की अधिकता का यह दण्ड इन्हें भोगना पड़ रहा है। उन दुष्कर्मों (चोरी, जारी, लूट, बेईमानी, ठगी, हत्या आदि पापों) का फल किसी भी निमित्त से इन्हें भोगना ही चाहिए। हमने इन्हें कोई दुःख या कष्ट नहीं पहुँचाया है। हम तो यह जानते हैं कि जो जैसा करता है, उसे उसका फल भोगना पड़ता है। हम इसमें क्या कर सकते हैं? दुनियाँ में प्रतिदिन सैकड़ों प्राणी मरते हैं, मनुष्य भी मरते हैं। तब हम इनके दुःखों का निवारण कैसे और क्यों करें? और इनके पूर्वकृत कर्मों का फल भोगने में बाधक निमित्त क्यों बनें?

दुःखार्त्तों पर करुणा करने से व्यक्ति कर्मफलभोग में बाधक नहीं होता

क्या इस प्रकार विपद्ग्रस्त दुःखार्त्त व्यक्तियों को उनके पापों का दण्ड भोगने का कहकर करुणा, सहानुभूति या अनुकम्पापूर्वक सहयोग देने से आनाकानी करना उचित है? क्या यह हृदयहीनता व करुणा की होली नहीं है? यह ठीक है कि उन दुःखार्त्त जीवों ने अज्ञानादि किसी भी कारणवश अशुभ कर्म बाँधे हों, उनके फलस्वरूप उन्हें दुःख भोगना पड़ रहा हो। परन्तु प्रथम तो आप (दूसरे व्यक्ति) को यह ज्ञात नहीं है कि यह फल उन्हें किस दुष्कर्म का मिल रहा है? सम्भव है, उन्हें अपने दुष्कर्मों का फल आपकी सहानुभूति, सहृदयता, करुणा और अनुकम्पा से सान्त्वना पाकर भोगने में इतना दुःखद न लगे अथवा आपके द्वारा की हुई करुणादि से आश्वस्त होकर शायद वे समभावपूर्वक शान्ति से कर्मफल भोग सकें। इस दृष्टि से तो आप उनके द्वारा कर्मफल भोगने में न तो बाधक बनते हैं या बन सकते हैं।[१] उन्हें जिस प्रकार से, जिस रूप में कर्मफल भोगना होगा, वे भोगेंगे।

करुणाभावना के साधक को अनायास ही पुण्य का लाभ

यदि कोई करुणाभावनापूर्ण साधक उनके दुःख-निवारण में सहायक बने, सहानुभूति, सद्भावना या दुःख-निवारण की मंगल कामना व्यक्त करे तो इससे उस करुणा-साधक को पुण्य का लाभ तो होगा ही, निःस्वार्थभाव से आत्मौपम्यभाव में

---

१. 'समतायोग' से भाव ग्रहण, पृ. ६०-६१

रमण करने पर कर्मनिर्जरा भी सम्भव है। 'भगवती आराधना' में इसी तथ्य का समर्थन किया गया है-"शारीरिक, मानसिक और स्वाभाविक ऐसे असह्य दुःख प्राणियों को पाते देखकर-बेचारे इन दीन प्राणियों ने मिथ्यात्व, अविरति (प्रमाद), कषाय और अशुभ योग से जो कर्म बाँधे हैं, उन्हीं अशुभ कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त हुए दुःख, ये भोग रहे हैं; प्रभो ! ये शीघ्र ही दुःखों से छूटें, इस प्रकार करुणार्द्र होना करुणा है, अनुकम्पा है।"[1]

करुणापूर्ण हृदय भय और प्रलोभनों से विचलित नहीं होता

यह बात अवश्य है कि जिस साधक का हृदय करुणाभावना से ओतप्रोत होता है, वह भय और प्रलोभनों से कदापि विचलित नहीं होता। एक अमेरिकन महिला करुणामूर्ति जॉन ह्विटले ने जब यह देखा कि अफ्रीकी देशों से छोटे-छोटे बालक-बालिकाओं को खरीदकर यूरोप में भेजे जाते हैं। निर्दय व्यवसायी उन्हें जिन धनिकों को बेचते हैं, वे धनिक उनके साथ बहुत बुरा बर्ताव करते हैं, उन्हें तरह-तरह से यातना देते, मनमाना काम कराते हैं और जीवितभर रहने के लिए अन्न और फटे-पुराने वस्त्र देते हैं। इस दयनीय दशा को देखकर जॉन ह्विटले का हृदय करुणा से भर आया। उसने इस अमानुषिक प्रथा का अन्त करने की ठान ली। जॉन ह्विटले ने अपनी सारी सम्पत्ति लगाकर 'सेनेगल' से आये हुए अफ्रीकी लड़कियों से भरा जहाज खरीद लिया। उन लड़कियों से गुलाम के रूप में व्यवहार न करके उन्हें गृहोद्योग का प्रशिक्षण दिया, उन्हें पढ़ना-लिखना सिखाया। गुलाम लड़कियों के साथ 'जॉन ह्विटले' का ऐसा मानवीय और करुणापूर्ण व्यवहार देखकर अमेरिकी गोरे उसकी जान के ग्राहक बन गए। जब इस नीति से जॉन अपने पंथ से विचलित नहीं हुई तो कुछ धनिक गोरों ने उसे प्रलोभन भी दिया। परन्तु जॉन न तो भयभीत हुई और न ही प्रलोभन से डिगी। उसने साफ-साफ कहा-"मैं नारी हूँ। नारी का वात्सल्य, कारुण्य और दयालु हृदय किसी भी देश या समाज की नारी को उत्पीड़ित और दुःखित नहीं देख सकती। मैं अपनी करुणा को साकार बनाकर ही रहूँगी, चाहे मुझे कितनी ही यातनाएँ सहनी पड़ें।"

सच्ची विश्वव्यापी करुणा से सामाजिक और आध्यात्मिक लाभ

सच्ची करुणा सीमित नहीं होती, वह विश्वव्यापी होती है। वह स्त्री-पुरुष देश-विदेश, काले-गोरे, स्वजातीय-परजातीय, स्वसम्प्रदायीय-परसम्प्रदायीय, स्वराष्ट्रीय-परराष्ट्रीय, स्वप्रान्तीय-परप्रान्तीय का भेदभाव नहीं करती। सच्चे करुणामूर्ति के

---

१. शारीरं मानसं स्वाभाविकं च दुःखमसह्यमाप्नुवतो दृष्ट्वा-हा वराका ! मिथ्यादर्शनेनाविरत्या कषायेणाऽशुभेन योगेन च समुपार्जिताऽशुभकर्म-पर्याय-पुद्गल-स्कन्ध-तदुपोद्भवा विपदो विवशाः प्राप्नुवन्तीति करुणा, अनुकम्पा। *-भगवती आराधना*

दिल में अपने-पराये या स्वत्वमोह की भावना नहीं होती। इसी तरह सच्ची करुणा बदला नहीं चाहती। किसी ने करुणाभावना से प्रेरित होकर किसी दुःखित, पीड़ित का दुःख-निवारण करने का प्रयत्न किया। उससे उसको आत्म-सन्तुष्टि तथा प्रसन्नता मिलती है। उसने अपनी सेवा से पीड़ित को आत्मीय बना लिया अथवा अज्ञानतावश प्रविष्ट दुर्व्यसनों का त्याग करा दिया, इतना पुण्यलाभ क्या कम है? साथ ही करुणा-साधक में आत्मौपम्य सिद्धान्त को क्रियान्वित करने की शक्ति प्राप्त हुई, आत्मा में करुणा गुण का विकास हुआ, यह आध्यात्मिक लाभ भी कम नहीं है। इस प्रकार करुणाभावना से सामाजिक, आध्यात्मिक उपलब्धियाँ प्रत्यक्ष हैं। सम्यग्दृष्टि-सम्पन्न को तप, त्याग के कारण करुणाभावना से संवर तथा अध्यात्मभावना के कारण निर्जरा का भी लाभ अनायास ही प्राप्त होता है।[1]

माध्यस्थ्यभावना क्यों और क्या है?

संसार में प्रत्येक प्राणी कहीं राग से बँधता है, कहीं द्वेष से। एक या दूसरे प्रकार से वह बँधता जाता है। कर्मविज्ञान ने बंधन के अनेक प्रकार और रूप बताए हैं, साथ ही उसने इन सर्वबन्धनों से छूटने का एक सरलतम मार्ग बताया है–माध्यस्थ्यभाव।

'सर्वार्थसिद्धि' के अनुसार–माध्यस्थ्यभावना का अर्थ है–राग-द्वेषपूर्वक पक्षपात न करना। 'व्यवहारसूत्र' की टीका में मध्यस्थ का अर्थ किया है–जो राग और द्वेष के मध्य में रहता है, अर्थात् सर्वत्र राग-द्वेष से अलिप्त रहता है, वह मध्यस्थ है। 'आवश्यकसूत्र निर्युक्ति' में कहा है–जो अति उत्कट राग-द्वेष से रहित होकर समचित्त रहते हैं, वे मध्यस्थ हैं।[2]

ऐसे दुष्टों, दुर्जनों के प्रति माध्यस्थ्यभावना की कर्मबन्ध से बचने का मार्ग

संसार में सदा सर्वत्र अच्छे ही अच्छे व्यक्ति या पदार्थ मिलें, अनुकूल ही अनुकूल प्राणी से वास्ता पड़े, ऐसा असम्भव है। जो व्यक्ति समभावी साधक है, किसी के प्रति स्वयं द्वेष या वैर-विरोध अथवा पक्षपात रखता है, उसके प्रति भी साम्प्रदायिकता, जातीयता आदि पूर्वाग्रहों अथवा अपने किसी तुच्छ स्वार्थ से प्रेरित

---

१. 'समतायोग' से संक्षिप्त भाव ग्रहण, पृ. ६४-६५, ६८

२. (क) रागद्वेषपूर्वक-पक्षपाताभावो माध्यस्थ्यम्। *–सर्वार्थसिद्धि*

(ख) मध्ये राग-द्वेषयोरन्तराले तिष्ठतीति मध्यस्थः, सर्वत्राराग-द्विष्टे। *–व्यवहारसूत्र टीका*

(ग) अत्युत्कटराग-द्वेष-विकलतया समचेतसो मध्यस्थाः।

(घ) सर्वेषु सत्त्वेषु समचित्ते। *–प्रवचन सारोद्धार ६५ द्वार*

होकर कई व्यक्ति दुष्टता, दुर्जनता, वैर-विरोध, शत्रुता या द्वेषयुक्त दुर्भावना रखते हैं, वे उसे बार-बार हैरान–परेशान करते रहते हैं, उसे हानि पहुँचाने तथा उसको बदनाम करने की चेष्टा करते रहते हैं। वे उस सज्जन व्यक्ति द्वारा उन्हें कही हुई हित की, कल्याण की या धर्म की बात को भी नहीं मानते, बल्कि उलटे रूप में ग्रहण करके उन पर प्रहार करने को भी उतारू हो जाते हैं। ऐसे समय में उन लोगों के साथ मैत्री रखने का तो प्रश्न ही नहीं रहता, न ही उनके प्रति करुणा या मुदिता (प्रमोद) भावना का इजहार किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में समभावी साधक के लिए माध्यस्थ्यभावना का प्रयोग ही कर्मबन्ध से बचने का एकमेव मार्ग है।

माध्यस्थ्यभाव का फलितार्थ मौनभाव है

एक समत्वसाधनाशील साधक है, वह किसी व्यक्ति के पापकृत्यों या दोषों को जानता है, फिर भी वह सबके सामने प्रकट नहीं करता और उस दोषी व्यक्ति को भी कहना ठीक नहीं समझता; क्योंकि वह अपने दोषों को सहसा स्वीकार ही नहीं करता, छिपाने और निर्दोष होने की सफाई देने की कोशिश करता है, उलटे उसका दोष एकान्त में कहने पर वह अधिकाधिक भड़ककर द्वेष और रोष करता है, दोष बताने वाले की हितकारी बात मानने के बजाय, उलटा उस पर ही दोषारोपण करके बदनाम करता है, इससे राग-द्वेष और क्लेश बढ़ता है, कर्मबन्ध होता है। यदि वह समभावी साधक उसके दोषों या पापकृत्यों का सार्वजनिक रूप से भण्डाफोड़ करता है, तो बहुत सम्भव है, जनता उसके खिलाफ होकर आक्रोशपूर्वक उसे मारे-पीटे, धिक्कारे, फटकारे या प्राण-हानि अथवा अन्य हानि करे, बहुत सम्भव है, ऐसी स्थिति में वह धर्मविरोधी या प्रतिक्रियाशील बनकर उद्दण्डता धारण करे, हत्या, चोरी, डकैती आदि कुमार्ग पर चढ़ जाए। अतः ऐसी विपरीत वृत्ति वाले पुरुष के प्रति मौनावलम्बन ही श्रेयस्कर है। इसीलिए एक आचार्य ने मध्यस्थ का अर्थ किया है–मौनशील।[1]

उनके प्रति न तो राग रखे, न द्वेष;
मौन या उपेक्षाभाव ही हितावह

आशय यह है कि जो अपने प्रति द्वेष, दुर्भावना, वैर-विरोध, निन्दा, घृणा आदि करते रहते हैं, जो दोषदर्शी हैं, समझाये-मनाये जाने पर भी अपने दुराग्रह या विपरीत भाव को नहीं छोड़ते, सदैव वक्र और कुतर्की रहते हैं, पापी, दुष्ट एवं

---

१. (क) 'समतायोग' से भावांश ग्रहण, पृ. ७४-७५

(ख) मध्यस्थो मौनशीलः। स्वप्रतीतानपि कस्यापि दोषान्न गृण्हाति, तद्ग्रहणाद्धि प्रभूत लोकविरोधितया धर्मक्षति-सम्भवात्।

अधार्मिक हैं तथा असहमत और उद्दण्ड हैं, हितैषी व्यक्ति को भी बदनाम करने की चेष्टा कर सकते हैं, ऐसे व्यक्ति चाहे अपने ही परिवार, सम्प्रदाय, जाति या समाज के हों, उन्हें पपोलने से अथवा उनके प्रति राग या मोह रखकर उनके उक्त दोषों पर लीपापोती करके गुण के रूप में प्रगट करने से, उनके दोषों, कुकृत्यों या पापों को अधिक बढ़ावा, पोषण या समर्थन मिलता है और उनके दोषों-अपराधों का जाहिर में या एकान्त में भी भण्डाफोड़ करने से भी पूर्वोक्त रूप से द्वेषभाव बढ़ता है; ऐसी स्थिति में समभावी साधक को मौन रखना ही हितावह है, राग-द्वेष और कर्मबन्ध से बचने का सुमार्ग है।

माध्यस्थ्यभाव की सार्थकता

माध्यस्थ्यभावना की सार्थकता इसी में है कि समभावी साधक ऐसे विपरीत वृत्ति वाले व्यक्ति के प्रति उपेक्षा धारण करे। न तो वह उसके प्रति राग, मोह, आसक्ति, मूर्च्छा, ममता में फँसे और न ही वह द्वेष, द्रोह, रोष, पूर्वाग्रह, दोषदृष्टि, घृणा, ईर्ष्या या वैर-विरोध के प्रवाह में बहे, न ही उसकी बदनामी या निन्दा करे। उसे गाली, अपशब्द, डाँट-फटकार, ताड़न-तर्जन का प्रयोग तो कतई न करे। बल्कि समतायोगी साधक उसे देखकर मन ही मन कुढ़ना, कोसना, उस पर आक्षेप, दोषारोपण या छींटाकशी करना भी माध्यस्थ्यभावना को दूषित करना है। इसी प्रकार ऐसे लोगों के मिथ्या विचार, प्रचार और आचार को झूठमूठ प्रोत्साहन देना भी विषमतावर्द्धक है। 'अष्टक' प्रकरण में इसी तथ्य को उजागर करते हुए कहा गया है-"मध्यस्थ-साधक को अपनी अन्तरात्मा से विरोधी अथवा प्रतिकूल तत्त्वों या व्यक्तियों को कोसना या उपालम्भ देना छोड़कर अनुपालम्भ (तटस्थ या समत्व) स्थिति में रहना चाहिए। ऐसे लोगों के प्रति कुतर्क के कंकरों को फेंकने की बालचेष्टा भी छोड़ देनी चाहिए।"[१]

दूसरों को गलत मान बैठना भी माध्यस्थ्यभावना में बाधक

इसी प्रकार दूसरों की नीयत को सहसा खराब मान बैठना, उनके प्रत्येक व्यवहार और कार्य में द्वेष और दुर्भाव की गन्ध पाना अथवा सद्भावनावश कोई भी व्यक्ति अपनी अपेक्षा से प्रतिकूल विचार या मत रख सकता है, इतने मात्र से उसे विरोधी, द्वेषी या शत्रु मान बैठना या गलतफहमी से किसी के विषय में पूर्वाग्रहवश उसे गलत मान बैठना, दूसरे धर्म, सम्प्रदाय, जाति या प्रान्त आदि के व्यक्तियों को निकृष्ट, पापी या हीन मान लेना भी माध्यस्थ्यभावना में बाधक है।

---

१. (क) 'समतायोग' से भाव ग्रहण, पृ. ७४-७५

(ख) स्थीयतामनुपालम्भं मध्यस्थेनान्तराऽऽत्मना।
कुतर्क-कर्कट-क्षेपैस्त्यज्यतां बालचापलम्॥ —अष्टक १६

माध्यस्थ्यभावना का विवेकसूत्र : घृणा पाप से हो, पापी से नहीं

भारतीय मनीषियों ने माध्यस्थ्यभावना को स्थिर रखने के लिये एक विवेकसूत्र दिया–"घृणा पाप से हो, पापी से नहीं।" इसके विपरीत कई लोग कहते हैं–"शठे शाठ्यं समाचारेत्।"–दुष्ट के प्रति दुष्टता का व्यवहार करना चाहिए। पापी, दुष्ट, आततायी, अत्याचारी आदि को तो देखते ही मार डालना चाहिए, ताकि वह पाप, दुष्टता या अत्याचार न कर सके। परन्तु यह मार्ग हिंसा, वैर और द्वेष की परम्परा को बढ़ाने वाला खतरनाक, आत्म-विकासघातक है। प्रतिशोध और आक्रमण-प्रत्याक्रमण के कुचक्र से अनेक जन्मों तक वैर-परम्परा का अन्त नहीं आता। अतः माध्यस्थ्यदृष्टि-परायण इस खतरनाक पथ को न अपनाए, न ही पापी, अत्याचारी और दुष्ट को देखकर उसके प्रति घृणा, द्वेष या प्रतिशोध करे।[1]

कई बार मनुष्य परिस्थितियों के वश कुमार्गगामी, पापकर्मी और दुराचारी बन जाता है। परन्तु आज़ का पतित, पापी, दुराचारी और दुष्ट व्यक्ति कल सभ्य, धर्मात्मा, सदाचारी और सज्जन भी बन सकता है। मनुष्य की आत्मा में परमात्मा (शुद्ध आत्मा) सोया हुआ है, वह मूल में तो पवित्र और शुद्ध है, उस पर कर्मों का आवरण आ गया है। मानव-जन्म उसे उच्चस्तरीय पुण्यराशि के फलस्वरूप मिला है। अतः माध्यस्थ्यभावना को सार्थक करने के लिए विरोधी आचार-विचार वाले व्यक्ति के प्रति भी सद्भावना, धैर्य, समभाव और राग-द्वेषरहित तटस्थ रहने का प्रयत्न करना चाहिए। संत विनोबा, लोकनायक जयप्रकाश नारायण, लोकसेवक रविशंकर महाराज आदि द्वारा खूँख्वार डाकुओं के प्रति सद्भावना एवं आत्मीयतापूर्ण व्यवहार से उनके जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन आया, उन्होंने आत्म-समर्पण करके डाकू जीवन की वृत्ति-प्रवृत्तियों को छोड़ दिया और सभ्य नागरिक बनकर जीवन यापन करने लगे।

माध्यस्थ्यगुणी-साधक सुधारने में विफल होने पर क्षुब्ध न हो

कई साधक पापकर्मी या कुमार्गगामी व्यक्तियों को धर्म-पथ पर लाने के लिए उत्साहपूर्वक प्रयत्न करते हैं, परन्तु जब उन लोगों को सुधारने के सभी प्रयत्न विफल हो जाते हैं, तब वे उन पर एकदम क्रुद्ध, क्षुब्ध या उद्विग्न हो जाते हैं, उन्हें अपशब्द, गाली या अभद्र वचन कहने लगते हैं। यह माध्यस्थ्यदृष्टि-सम्पन्न साधक की करारी हार है, दुर्बलता है, मध्यस्थता का गला घोंटना है। किसी पर अपने विचार और आचार को जबर्दस्ती थोपना हिंसा है, बलात्कार है। उसे तीर्थंकरों के 'जहासुहं' के सूत्र को ध्यान में रखना चाहिए।

---

१. 'समतायोग' से भावांश ग्रहण, पृ. ८२-८३

प्रत्येक प्राणी स्वकृत कर्मानुसार सुनने को तैयार न हो तो द्वेषभाव न लाए

प्रत्येक प्राणी अपने पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मानुसार शुभ-अशुभ संस्कारों से युक्त होते हैं। जब तक उनके ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तरायकर्म का क्षय या क्षयोपशम नहीं होते या स्व-पुरुषार्थ द्वारा स्वतः अशुभ को शुभ में परिवर्तन करने या शुभाशुभ कर्मों का क्षय करने के लिए तैयार नहीं होते, तब तक उनके शुभ संस्कार जाग्रत नहीं हो सकते, न ही वे सम्यग्ज्ञान की बातों को ग्रहण करने के लिये तैयार हो सकते हैं। अतः माध्यस्थ्य के साधक का कर्त्तव्य है-सद्भावनापूर्वक उद्बोधन या प्रेरणा करना, उद्बोधन को भी कोई सुनना न चाहता हो तो मौन रखना, अपनी बात न माने तो मौन धारण करना, किन्तु उस पर रोष, द्वेष या प्रहार करना कथमपि उचित नहीं है। समभावी आचार्य हरिभद्रसूरि का परामर्श इस विषय में द्रष्टव्य है-"सभी मानव अपने-अपने शुभाशुभ कर्मकृत संस्कारों के कारण स्व-स्वकर्मों का फल भोगते हैं। इसलिए जो व्यक्ति अनुरागी बनकर अपनी बात सुनते हों, उनके प्रति राग और जो (विरोध और द्वेषवश) न सुनते हों, उनके प्रति मध्यस्थ को द्वेष नहीं रखना चाहिए।" उसे विरोधी के विचारों और भावनाओं को सुनते ही उबल पड़ना नहीं चाहिए, किन्तु सुनने की सहिष्णुता रखनी चाहिए।

माध्यस्थ्य गुण की परीक्षा

माध्यस्थ्य गुण की परीक्षा के लिए एक आचार्य ने कहा-राग (मोह, आसक्ति) का कारण प्राप्त होने पर जिसका मन रागयुक्त न हो तथा द्वेष (घृणा, ईर्ष्या आदि) का कारण प्राप्त होने पर जो द्वेषयुक्त नहीं होता, यानी राग और द्वेष दोनों से मध्यस्थ का मन तटस्थ हो तो वहाँ माध्यस्थ्य गुण कहा गया है।[1]

इस प्रकार की माध्यस्थ्यभावना वाला साधक अत्यन्त दुष्ट, दुःसाहसी, महापापी द्वारा द्वेष, दुर्भावना, वैर-विरोध करने पर भी अपनी राग-द्वेषरहित वृत्ति को मौन, उपेक्षा, उदासीनता या तटस्थता धारण करके सुरक्षित रख पाता है। ऐसा करने से प्रायः उनका हृदय-परिवर्तन और जीवन-परिवर्तन भी हो जाता है। यह माध्यस्थ्यभाव की महाशक्ति है। ●●

---

१. (क) 'समतायोग' से भाव ग्रहण

(ख) स्व-स्वकर्मकृतावेशाः स्व-स्वकर्मभुजोनराः।
न रागं न चापि द्वेषं, मध्यस्थस्तेषु गच्छति॥ —अष्टक

(ग) रागकारण-सम्प्राप्ते न भवेद् रागयुग्मनः।
द्वेषहेतौ न च द्वेषस्तस्मान् माध्यस्थ्य-गुणः स्मृतः॥

१६

आत्म-मैत्री : कर्मों से मुक्ति का ठोस कारण

अपने सुखों और दुःखों के कर्तृत्व और विकर्तृत्व के लिए स्वयं जिम्मेदार

कर्मविज्ञान जीवन के अनुभूत सत्यों को जगत् के समक्ष प्रस्तुत करता है। मनुष्य विचारशील प्राणी है। उसका जीवन प्रारम्भ में अपने से सम्बद्ध रहता है। किन्तु बाद में ज्यों-ज्यों वह विभिन्न अवस्थाएँ पार करता है, त्यों-त्यों उसकी जीवनदृष्टि सम्यक् न हो तो वह विपरीत राह पकड़ लेता है। क्रोध, अहंकार, मद, लोभ, माया, ईर्ष्या, द्वेष, राग, मोह आदि विकार उसकी आत्मा को घेर लेते हैं, विषय-वासनाओं, कामनाओं और सुख-सुविधाओं को अपनाकर उसकी आत्मा पर सघन आवरण छा जाते हैं—अज्ञान, मोह, कुदर्शन, भ्रान्ति और दुर्बोध के। ये सब उसकी आत्मा को अशुभ कर्मों से जकड़ लेते हैं। उन पूर्वबद्ध अशुभ कर्मों के उदय में आने पर दुःख, पीड़ा, रोग, बुढ़ापा, चिन्ता, शत्रुता, आसक्तिजन्य व्याकुलता आदि फल भोगते समय वह निमित्तों को, भगवान को, काल को या कर्म को कोसता है। वह उस समय यह नहीं सोचता, ये दुष्कर्म मेरे ही द्वारा किये गये हैं, मैं ही कर्मों के इन दुःखद फलों के लिए जिम्मेवार हूँ। मैंने ही अपनी आत्मा को दुरात्मा और शत्रु बनाया, विपरीत मार्ग में प्रस्थान करके। कर्म बाँधते समय यदि मैं सावधान रहता तो सन्मार्ग की ओर प्रस्थित करके अपनी आत्मा को मित्र बना सकता था। इसीलिए भगवान महावीर ने अपने केवलज्ञान के प्रकाश में अनुभूत सत्य अभिव्यक्त किया—"आत्मा ही अपने सुखों और दुःखों का कर्त्ता और विकर्त्ता (विनाशक) है। आत्मा ही अपना मित्र है और आत्मा ही अपना शत्रु है।"[1]

व्यवहार में मैत्री की छह कसौटियाँ

संसार में स्थूलदृष्टि वाले लोग अपने स्वार्थ के लिए, अपने मोहवश दूसरे को दे-लेकर, खा-खिलाकर, अपने बाह्य सुख-दुःख की बातें एक-दूसरे के सामने प्रगट

---

१. अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च....॥ —*उत्तराध्ययन, अ. २०, गा. ३७*

करके दूसरों को मित्र बनाते हैं। जिसको मित्र बनाया जाता है, व्यवहार में उसकी कसौटी इन छह बातों से की जाती है—"जो देता भी है, लेता भी है; जो खाता भी है, खिलाता भी है; जो (तथाकथित) मित्र को अपनी गुप्त बातें दिल खोलकर बताता भी है और उसकी गुप्त बात सुनता–पूछता भी है।"[1] व्यावहारिक जगत् में मित्रता में दुराव-छिपाव नहीं होता, एक-दूसरे का स्वार्थ प्रायः नहीं टकराता। नीतिशास्त्र मित्रता की ये छह कसौटियाँ मानते हैं। इतना होते हुए भी एक मित्र दूसरे मित्र की बात को ठुकरा देता है या आर्थिक स्वार्थ आ जाता है अथवा दूसरे से छिपाने की वृत्ति आ जाती है, वहाँ यह व्यावहारिक मैत्री टूट जाती है।

ऐसी व्यावहारिक मैत्री प्रायः विश्वसनीय और चिरस्थायी नहीं

प्रायः देखा गया है कि छोटी-सी बात पर अहं की टक्कर होते ही मैत्री का महल धराशायी हो जाता है। कभी-कभी दो में से किसी एक की चरित्रहीनता, कुटिलता, कामुकता या पर-स्त्रीगामिता अथवा दुर्व्यसनलिप्तता को देखकर दूसरा व्यक्ति उक्त मित्र से सम्बन्ध तोड़ देता है। इसलिए व्यावहारिक जगत् की मैत्री बहुत ही जल्दी टूट जाती है। वह कई कारणों से प्रायः विश्वसनीय और चिरस्थायी नहीं हो पाती।

व्यावहारिक जगत् में मैत्री और वैर के लिए दूसरा चाहिए

व्यावहारिक जगत् में मैत्री के लिए भी दूसरा चाहिए और वैर-विरोध (शत्रुता) के लिए भी दूसरा चाहिए। जब तक सामने दूसरा नहीं होता, तब तक न तो मैत्री हो सकती है और न ही वैर-विरोध।

व्यावहारिक जगत् में वैर-विरोध के मुख्यतया छह कारण

व्यावहारिक जगत् में वैर-विरोध के मुख्यतया छह कारण होते हैं—(१) धन के लिए, (२) स्त्री के लिए, (३) जमीन-जायदाद के लिए, (४) जाति-सम्प्रदाय-राजनीतिक पक्ष-राज्य-राष्ट्रगत तथा वंशानुगत द्वेष के कारण, (५) अपराधों के प्रतिशोध को लेकर, और (६) अहंकारयुक्त वाणी के कारण।[2]

भारत की एक प्राचीन कहावत है—"जर जोरू जमीन जोर की, नहीं तो किसी और की।" इसी कहावत के आधार पर प्राचीनकाल में राजाओं, जागीरदारों, भूमिहारों तथा सम्राटों में धनलिप्सा के कारण एक-दूसरे के खजाने को लूटने के

---

१. ददाति प्रतिगृण्हाति गुह्यमाख्याति पृच्छति।
भुंक्ते भोजयते चैव, षड्विधं मित्र-लक्षणम्॥

२. 'सोया मन जग जाए' से भावांश ग्रहण, पृ. ९९

लिए परस्पर लड़ाई होती थी। जो उसमें जीत जाता, वह लूट का माल अपने कब्जे में कर लेता था। इसी प्रकार राज्यलिप्सा और अपने राज्य का क्षेत्रफल बढ़ाने के लिए दो राजाओं में परस्पर युद्ध होता था, जो राजा हार जाता था, उसका राज्य विजेता राजा ले लेता। किसी सुन्दर स्त्री को पाने के लिए राजाओं में ही नहीं, सामान्य लोगों में भी परस्पर झगड़े होते थे और उनके फलस्वरूप परस्पर वैर-परम्परा बढ़ जाती थी।

राजस्थान का इतिहास ऐसे अनेक युद्धों और परस्पर वैर-विरोध से भरा पड़ा है। जातिगत या वंशगत विद्वेष तो पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता रहता है। पाँच-सात पीढ़ियाँ बीत जाती हैं, फिर भी दोनों पक्ष के लोग उस वैर-विरोध को भूलते नहीं। परस्पर लड़ते हैं, मरते-खपते हैं। भले ही उससे उनको कुछ भी उपलब्धि न हो, परन्तु अपने अहं को पुष्ट करने के लिए ही वे परस्पर लड़ते हैं। इसी में वे अपनी आन, बान और शान समझते हैं। सम्प्रदाय-मत-पंथ को लेकर भारत में ही नहीं, विदेशों में भी परस्पर वैर-विरोध, लड़ाई, वाद-विवाद, शास्त्रार्थ एवं रक्तपात हुए हैं।[१] 'क्रूजेडो' इसका ज्वलन्त प्रमाण है। भारतवर्ष में भी आर्यों-अनार्यों का, हिन्दू-मुस्लिमों का, शैव-वैष्णवों का, श्रमण-ब्राह्मणों का, जैन- वैदिकों का संघर्ष, कलह, वैर-विरोध समय-समय पर हुआ है। आज भी हिन्दू- मुस्लिमों का संघर्ष, मारामारी और हत्याकाण्ड जारी है। वर्तमान युग में, जबकि अहिंसा का प्रयोग और विकास भारत में हो चुका है।[२] भारत-पाकिस्तान में, भारत और मुस्लिम देशों में परस्पर वैर-विरोध यदा-कदा फूट निकलता है। जैनों-जैनों में भी जरा-से साम्प्रदायिक मतभेद को लेकर संघर्ष, विद्वेष और विरोध उभर आता है। अनेकान्तवाद को ताक में रखकर केवल अपने अंहकार को, अधिकार को एवं स्वार्थ को लेकर परस्पर मुकद्दमेबाजी, संघर्ष, वाक्कलह जैन सम्प्रदायों में चल रहा है। इससे वैमनस्य बढ़ता है, भयंकर अशुभ कर्मबन्ध होता है, इसका कोई भी ठण्डे दिल से विचार करने को तैयार नहीं। राज्य को लेकर ही नहीं, अपने से भिन्न राष्ट्र को दुश्मन समझकर पाकिस्तान आजाद हुआ, तभी से तरह-तरह से भारत के साथ विभिन्न तरीकों से लड़ रहा है। इसी प्रकार का संघर्ष पंजाब में सिक्खों का और असम में बोडों का भारत सरकार के साथ भूमि के टुकड़े को लेकर या अपने अधिकारों के लिए चल रहा है। भारत राष्ट्र के प्रति विभिन्न राजनैतिक पार्टियाँ कितनी वफादार हैं ? और किस प्रकार वे राष्ट्र की उन्नति के लिए प्रयत्नशील हैं ?

---

१. ईसाइयों और मुस्लिमों में १०० वर्ष तक चले हुए भयंकर युद्ध को 'क्रूजेडो' की संज्ञा दी गई है।

२. 'धर्मानुबन्धी विश्वदर्शन, भा. ५' (गुजराती) (शिविर प्रवचन) से संक्षिप्त

यह तो समाचार-पत्रों से विदित है कि विभिन्न पक्षों में एक-दूसरे की कटु आलोचना, आक्षेप-प्रत्याक्षेप, सत्ता के लिए संघर्ष, किसी पक्ष के नेता की हत्या करवा देना, आपसी रंजिश आदि के कारण कितना वैर-विरोध चलता है? और इससे राष्ट्र-भक्ति के बदले पक्ष-भक्ति ही दृष्टिगोचर होती है। पाँचवाँ कारण है-अपराधों के प्रतिशोध को लेकर वैर-विरोध पैदा हो जाना। किसी के द्वारा जाने-अनजाने कोई अपराध हो गया। अपराध हो जाने के बाद अपराधी ने जिसका अपराध किया है, उससे क्षमा माँगकर विनयपूर्वक क्षतिपूर्ति नहीं करता, उलटे अहंकारवश उद्धत होकर जिसका अपराध किया हैं, उसको या उसकी सम्पत्ति को खत्म करने पर तुल जाता है, फलतः दोनों पक्षों में मारामारी, शास्त्रास्त्र-संचालन और मुकद्दमेबाजी चलती है। इस प्रकार वैर-विरोध की भावना दोनों पक्षों में बढ़ती जाती है और अहंकारयुक्त वाणी के कारण भी वैर-परम्परा, वैमनस्य और पारस्परिक द्वेष बढ़ता जाता है। द्रौपदी द्वारा दुर्योधन के प्रति अहंकारयुक्त वाणी-प्रयोग के कारण ही महाभारत का भयंकर युद्ध हुआ। मगध राज्य के सत्ताधीश पद के अहंकार के कारण ही कोणिक ने हल्लविहल कुमार को हार और हाथी हस्तगत करने के लिए अपने मातामह गणाधिप चेटक महाराज के साथ रथमूसल संग्राम किया। एक तुच्छ बात को लेकर एक करोड़ अस्सी लाख मनुष्यों का संहार कराना, कौन-सी बुद्धिमानी थी?[1] वर्तमान युग में भी एक विकसित राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को विकसित होते देखकर ईर्ष्यावश किसी भी बहाने से भयंकर युद्ध छेड़ने का प्रयास करता है। सबल राष्ट्र निर्बल राष्ट्र को आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा, गुलाम और अविकसित करने के लिए तरह-तरह की पैंतरेबाजी करता है। यह कुटिलता आखिर वैर-परम्परा को बढ़ाती है।

अपराध के प्रतिशोध से वैर-परम्परा बढ़ती है

अपराध का प्रतिशोध लेने से वैर-परम्परा कैसे बढ़ जाती है? इसे समझने के लिए महाभारत का एक आख्यान लीजिये। एक राजा के राजप्रासाद में पूजना नाम की एक चिड़िया रहती थी। वह राज-परिवार के साथ हिलमिल गई थी। राजा-रानी दोनों उसका आदर करते थे। जब रानी ने एक पुत्र को जन्म दिया, तभी चिड़िया ने एक बच्चे को जन्म दिया। राजपुत्र और चिड़िया का बच्चा दोनों का साथ-साथ पालन-पोषण हो रहा था। दोनों क्रमशः बड़े हुए, समझदार हुए तो साथ-साथ खेलते, साथ-साथ प्रेम से रहते। दोनों में गाढ़ी दोस्ती हो गई। चिड़िया प्रतिदिन वन में जाती और वहाँ से दो विलक्षण एवं दुर्लभ फल लेकर आती। उनमें से एक

---

१. देखें-निरयावलिकासूत्र और भगवतीसूत्र में महाशिलाकंटक और रथमूसल संग्राम का हृदयविदारक वर्णन

अपने बच्चे को और एक राजपुत्र को देती। प्रतिदिन के क्रमानुसार वह चिड़िया उन स्वादिष्ट और पौष्टिक फलों को लेने वन में गई हुई थीं। चिड़िया के बच्चे के साथ खेलते-खेलते पता नहीं राजकुमार के मन में क्या खुराफात सूझी कि उसने चिड़िया के बच्चे का गला मसोस दिया। बच्चा मर गया। चिड़िया जब फल लेकर आई तो उसने देखा कि बच्चा मरा पड़ा है। उसे दुःख हुआ। मन में विचार किया कि मेरे बच्चे को राजकुमार के सिवाय किसी ने नहीं मारा है। उसके मन में इस अपराध की कठोर प्रतिक्रिया हुई। उसमें इसका प्रतिशोध (बदला) लेने का तीव्र दुर्भाव जागा। चिड़िया ने झपट्टा भर राजकुमार की दोनों आँखें फोड़ डालीं। राजकुमार अन्धा हो गया। चिड़िया ने राजकुमार के अपराध का बदला ले लिया। वैर बँध गया। मैत्री से राजकुमार शुभ योग (पुण्य) कमा सकता था, परन्तु उसने घोर अशुभ कर्मबन्ध कर लिया। राजा ने आकर देखा, राजकुमार के अन्धे होने का रहस्य नहीं समझ सका। चिड़िया ने ही स्पष्टीकरण किया–"राजकुमार ने मेरे बच्चे को मार डाला, अतः मैंने उसकी दोनों आँखें फोड़ दीं। मैंने प्रतिशोध ले लिया। अब मैं यहाँ नहीं रह सकती, अतः जा रही हूँ।" राजा ने उसे बहुत समझाया, महल में ही रहने को कहा। परन्तु चिड़िया ने कहा–"यहाँ मेरे न रहने का कारण है–मैंने बेशक बदला ले लिया, लेकिन मेरे मन से अपराधजनित वैर निकलेगा नहीं। फिर वैर-परम्परा चलेगी। यह मैं नहीं चाहती। मैं अन्यत्र जा रही हूँ।"[१] सचमुच, वैर-परम्परा कई-कई जन्मों तक चलती है।

वैरभाव के उद्गम स्थान : कषाय और नोकषाय

अतः इन छह कारणों पर विचार करो। इनके सिवाय और भी अनेक कारण हो सकते हैं–वैरभाव उत्पन्न होने के। मूल में–कषाय और नोकषायवृत्ति ही वैर-विरोध का उद्गम स्थान है। और वे ही अठारह प्रकार के पापस्थानों अथवा पापकर्मों के बन्धन के कारण हैं। जिनसे इस जन्म में भी जीव संक्लिष्ट, दुःखी, अशान्त और भयभीत, चिन्तित एवं विषादमग्न रहता है। इसलिए प्रत्येक धर्म के महापुरुषों ने एक स्वर से मानव-जाति को यही सन्देश दिया कि वैर-विरोध को आगे मत बढ़ाओ, उसे वहीं समाप्त कर दो। भगवान महावीर ने कहा–"भय और वैर से उपरत (निवृत्त) बनो।"[२]

वैर से नहीं, अवैर (मैत्रीभाव) से ही वैर शान्त होता है

तथागत बुद्ध ने भी इसी तथ्य के समर्थन में कहा–

---

१. 'सोया मन जग जाये' में उद्धृत महाभारत के आख्यान का सारांश ग्रहण

२. भय-वेराओ उवरए। –*उत्तराध्ययन, अ. ६, गा. ७*

"नहि वेरेण वेराणि समंतीध कदाचन।

अवेरेण वेराणि समंतीध सदातन।"[१]

–संसार में वैर से वैर कभी शान्त नहीं होता, अवैर (मैत्रीभाव) से ही सदा वैर शान्त होता है।

इसे भलीभाँति समझने के लिए एक ऐतिहासिक उदाहरण लीजिए–काशी के राजा ब्रह्मदत्त की राज्यलिप्सा और वैभवमद बहुत बढ़ा हुआ था। उसने कौशल देश को हथियाने के लिए कौशलराज्य के शान्त एवं प्रजापालक राजा दीर्घेतिराय के पास दूत के द्वारा सन्देश भेजा–कौशलराज्य को सौंप देने का। कौशलराज के द्वारा दूत के द्वारा शान्ति रखने और युद्ध न करने का सन्देश भिजवाया। परन्तु उसे न मानकर काशीराज ने कौशल पर चढ़ाई कर दी। यद्यपि कौशल देश की सेना वीरतापूर्वक लड़ी। किन्तु संख्या में अल्प होने के कारण हार गई। कौशलराज को बंदी बनाकर काशीराज ने कौशल देश पर अपना झण्डा फहरा दिया। राज्य पर अपना अधिकार होने की घोषणा भी कर दी। इसे सुनकर कौशल की प्रजा को बहुत दुःख और क्षोभ हुआ, पर लाचार थी वह। इसके पश्चात् काशीराज ने कौशल-नरेश को अपनी रानी सहित देश निकाला दे दिया। कौशलराज के मन में राज्यलिप्सा तो थी नहीं। उन्होंने तथागत बुद्ध के सन्देश को जीवन में आचरित किया हुआ था।

अतः राजा-रानी दोनों ने कुछ आवश्यक सामान साथ में लेकर वहाँ से कूच किया। वे कई जगह घूमे, किन्तु कहीं भी स्थिर न हो सके। प्राचीनकाल में वाराणसी में गंगा के तट पर बहुत से साधकों को निःशुल्क रहने का फरमान था। वह भू-भाग काशी से बाहर माना जाता था। दोनों ने वहीं झोंपड़ी बनाकर रहने का निश्चय किया। वहीं गुप्त रूप से रहने लगें। रानी गर्भवती थी। अतः वहीं प्रसव कराया गया। पुत्र-जन्म हुआ। पुत्र का नाम रखा दीर्घायुकुमार। कुछ बड़ा होने पर उसे अपने पास रखना उचित न समझकर एक प्रसिद्ध गुरुकुल में भर्ती करा दिया। वहीं वह अध्ययन करता और कभी-कभी अवकाश के दिन माता-पिता से मिलने आ जाता था। इस प्रकार शान्ति और आनन्दपूर्वक दिन व्यतीत हो रहे थे। वहाँ रहते-रहते कई वर्ष बीत गये।

एक दिन कौशलराज का पुराना परिचित नापित, जो अब काशीराज के पास रहता था, उस झोंपड़ी पर आया, उसने कौशल के पूर्व राजा-रानी को वहाँ रहते देखा और काशीराज को सन्तुष्ट और प्रसन्न करके पुरस्कार पाने के लोभ से

१. धम्मपद, मैत्रीवर्ग

उसके समक्ष चुगली खाई। कहने लगा—"महाराज ! क्या आपको पता है, आपके शत्रु पूर्व कौशलराज और रानी आपकी ही नगरी के बाहर रह रहे हैं। हो सकता है, वे लोगों को भड़काकर काशी देश पर चढ़ाई करके आपके राज्य पर कब्जा कर लें।" काशीराज का अहंकार-सर्प यह सुनकर फुफकार उठा—"हूँ ! मेरे राज्य में, मेरा शत्रु रहता है ! मैंने इन्हें खत्म नहीं किया इसी कारण इनका हौसला बढ़ गया है।" काशीराज ने तुरन्त ही राजसेवकों को आदेश दिया कि "राजा और रानी दोनों को बंदी बनाकर मेरे सामने हाजिर करो।" आदेश के अनुसार दोनों को बंदी बनाकर उपस्थित किया गया। उन्होंने कौशलराज से अपने अपराध के बारे में पूछा तो उसकी त्यौरियाँ चढ़ गईं। गुस्से से तमतमाते हुए कहा—"अपराध पूछ रहे हो ! मेरे राज्य में न रहने के आदेश का तुमने उल्लंघन किया और तुम अन्दर ही अन्दर प्रजा में विद्रोह फैलाकर मेरे राज्य पर कब्जा करने की तैयारी कर रहे हो ! कितना बड़ा अपराध है यह !" कौशलराज द्वारा सफाई दिये जाने पर भी क्रूर काशीराज ने एक न सुनी और तुरन्त मृत्युदण्ड का आदेश देते हुए कहा—"इन्हें वध्य चिह्नों से अलंकृत करके सारी नगरी में घुमाकर वधस्थल पर ले जाओ और जल्लादों से कहकर इन दोनों के अंग के टुकड़े-टुकड़े करवाकर फेंक दो, परन्तु खबरदार, कोई भी इनकी अन्त्येष्टि क्रिया न कर सके, इसके लिए वहाँ कड़ा पहरा बिठा दो।"

राजा-रानी दोनों को वध्य चिह्नों से अलंकृत करके नगर के बीच से उनके अपराध की घोषणा करते हुए ले जा रहे थे। संयोगवश उसी दिन उनका युवक पुत्र दीर्घायुकुमार अपने माता-पिता से मिलने आया हुआ था। परन्तु झोंपड़ी में माता-पिता को न पाकर वह लोगों से पूछताछ करके इस जुलूस में काशी के अपार जनसमूह को देखकर शामिल हो गया। अपने माता-पिता की यह अवदशा देखकर वह अत्यन्त व्यथित और उद्विग्न हो गया। कौशलराज ने भी पुत्र को आये देख सोचा—यदि पुत्र को भगवान बुद्ध की शिक्षा नहीं मिली तो वह काशीराज के प्रति वैरभाव रखकर इन्हें मारने का प्रयत्न करेगा। इस प्रकार वैर-परम्परा बढ़ेगी। हमें तो अपने किसी पूर्वबद्ध अशुभ कर्मों का फल मिल गया है, किन्तु इस अशुभ कर्मबन्ध से बचे, इसके लिए उन्होंने सांकेतिक भाषा में पुत्र को अन्तिम शिक्षा देने के बहाने कहा—"तू दूर मत देखना, तू नजदीक भी मत देखना, वैर से वैर शान्त नहीं होता, अवैर से वैर शान्त होता है।" इन चार शिक्षासूत्रों का तीन बार जोर-जोर से उच्चारण किया। दीर्घायुकुमार बुद्धिमान् था, वह पिताजी के आशय को समझ गया। परन्तु उदास मन से उस अन्तिम यात्रा में चल रहा। वध्य स्थल पर जब राजा-रानी पहुँचे तो सब लोगों को राजपुरुषों ने वहाँ से हटा दिया और जल्लादों ने काशीराज के आदेश से उनके टुकड़े-टुकड़े करके इधर-उधर फेंक

दिये। दीर्घायुकुमार की आँखें माता-पिता की दुर्दशा देख आँसू बरसा रही थीं। रात्रि के घोर सन्नाटे में चौकीदार जब सो रहे थे, तो उसने माता-पिता के अंगों को समेटकर एक चिता पर रखा और अन्त्येष्टि क्रिया की। इसके बाद दीर्घायुकुमार बदला लेने की भावना से ब्रह्मदत्त राजा का विश्वासपात्र सारथी बन गया।

एक दिन राजा ब्रह्मदत्त सैर करने हेतु रथ में बैठा, सारथी ने रथ को इतना तेज दौड़ाया कि राजा के अंगरक्षक बहुत पीछे रह गये। वे दोनों एक घोर जंगल में जा पहुँचे। राजा ने रथ को रोकने का आदेश दिया। एक सघन वृक्ष के नीचे दीर्घायु ने रथ को रोका। एक वस्त्र बिछाया। राजा को बिठाया। राजा को नींद आने लगी, इसलिए दीर्घायु ने अपनी जंघा पर उसका मस्तक रखा। राजा निद्राधीन हो गया। दीर्घायु ने आज बदला लेने का अच्छा अवसर देख ब्रह्मदत्त राजा को मारने के लिए तलवार निकाली। किन्तु पिताजी के अन्तिम शिक्षासूत्रों को याद कर तलवार वापस म्यान में कर दी। इस प्रकार तीन बार तलवार निकाली और पिता की शिक्षा याद आते ही वापस म्यान में कर दी। तीसरी बार राजा एकदम हड़बड़ाकर उठा। दीर्घायु ने पूछा तो बोला—"मुझे बहुत बुरा स्वप्न आया कि मेरा शत्रु मुझे मारने के लिए उद्यत है।" दीर्घायु ने अपना परिचय छिपाना उचित न समझकर सारी बात स्पष्ट कर दी कि मैं ही आपका शत्रु-पुत्र हूँ। मैंने तीन बार आपको मारने के लिए तलवार निकाली थी, किन्तु पिताजी के अन्तिम शिक्षासूत्रों को याद करके मैंने तलवार म्यान में कर दी। अब आप क्या चाहते हैं—वैर-परम्परा बढ़ाना या वैर को शान्त करके मित्रता करना? राजा ने बहुत कुछ सोचकर कहा—"वैर-परम्परा बढ़ाने में अशान्ति है, इसलिए हम दोनों आज से सूर्यसाक्षी से परस्पर मित्र बन जाते हैं।" दोनों ने एक-दूसरे को गले लगाया और पुराने वैर को सदा के लिए भूल जाने का वादा किया।

रथ में बैठकर दोनों मैत्रीभाव से संकल्पबद्ध होकर काशी आये। ब्रह्मदत्त राजा ने राजसभा में सभासदों से पूछा—"अगर मेरा शत्रु यहाँ आ जाये तो उसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए?" इस पर किसी ने कहा—"उसे मार ही देना चाहिए।" किसी ने कहा—"उसे देश से निर्वासित कर देना चाहिए।" किसी ने पूछा—"आपका शत्रु है ही कौन? आपने तो कौशल-नरेश को शत्रु मानकर उसे मरवा ही दिया था।" राजा ने कहा—"शत्रु तो नहीं है। परन्तु शत्रु-पुत्र था, उसकी शत्रुता को नष्ट करने के लिए हम दोनों आज आजीवन मैत्रीभाव के संकल्प से आबद्ध हो गये हैं। उसके माता-पिता बड़े शान्तमूर्ति और मैत्रीभाव-सम्पन्न थे, हमें उनकी हत्या के लिए बहुत पश्चात्ताप है। उन्हीं के अन्तिम चार शिक्षासूत्रों की बदौलत उनका यह दीर्घायुकुमार पुत्र मेरे साथ मैत्रीभाव से संकल्पबद्ध हुआ है। आज से मेरे पक्ष के कोई भी व्यक्ति इसे शत्रुता की दृष्टि से न देखकर मित्रता की

दृष्टि से देखें और इसके पक्ष के लोग भी मुझे और मेरे पक्ष के लोगों को मित्रता की दृष्टि से देखें। आप लोग इससे सहमत हैं न? सभी ने स्वीकृतिसूचक सिर हिलाया। इस प्रकार अवैर से वैर शान्त होने का यह ज्वलन्त उदाहरण है।[1]

मैत्रीभाव में प्रवृत्त होने के लिए पाँच चिन्तनसूत्र

वैर-विरोध से विरत (विरक्त) होने और मैत्रीभाव में प्रवृत्त होने के लिए दो दृष्टियों से विचार करना चाहिए–एक है नैतिक दृष्टि और दूसरी है आध्यात्मिक दृष्टि। नैतिक दृष्टि से इस तथ्य पर विचार करने के लिए पाँच चिन्तनसूत्र जगत् के हितचिन्तकों ने प्रस्तुत किये हैं–(१) विवेक, (२) क्षमता, (३) धैर्य, (४) गम्भीरता, और (५) दाक्षिण्य (दक्षतापूर्वक उदारता)।

पाँचों चिन्तनसूत्रों पर विश्लेषण

विवेक व्यक्ति के जीवन का सच्चा साथी है। विवेक के द्वारा व्यक्ति शत्रुता और मैत्री, हित और अहित, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का झटपट निर्णय कर सकता है। विवेकदृष्टि खुल जाने पर व्यक्ति वैर-विरोध से हानि और मैत्री से लाभ का चिन्तन-विश्लेषण करके जाग्रत हो सकता है

परन्तु विवेक हो जाने पर भी व्यक्ति अपने पूर्वाग्रह, हठाग्रह, परम्पराओं, रूढ़ कुसंस्कारों आदि से बँधा होने पर वैर-विरोध को हानिकारक जानते हुए भी सहसा छोड़ नहीं पाता। इसलिए ऐसे वैर-विरोध के प्रसंगों को टालने और उससे विरत होने के लिए मनुष्य में 'क्षमता' आनी चाहिए। क्षमता आने पर व्यक्ति रूढ़ कुसंस्कारों, वंश-परम्परागत कुरीतियों, पूर्वाग्रहों आदि की कोई परवाह न करके मैत्री का हितकारक रास्ता अपना लेता है। यह क्षमता प्राप्त करने के लिए उसे मैत्री के राजमार्ग पर चलने वाले महान् पुरुषों के जीवन से प्रेरणा लेनी चाहिए अथवा किसी मार्गदर्शक हितैषी गुरु या बुजुर्गों से सीधा मार्गदर्शन प्राप्त करना चाहिए। क्षमता का अर्थ है–शक्ति अथवा सहिष्णुता। वैर-विरोध का जहाँ भी प्रसंग आये, दूसरे लोग भी विरोध के लिए उकसाने लगें, बदला लेने के लिए प्रेरित करें, ऐसे समय में मनुष्य में क्षमता या सहिष्णुता हो तो उस प्रसंग को हल्के रूप में लेकर टाल देता है और मैत्री का हाथ बढ़ाकर उसका हृदय बदल देता है। क्षमता के बिना इस मनोमालिन्य अथवा कालुष्य का शीघ्र अन्त लाना कठिन होता है। मनुष्य प्रातःकाल संकल्प करता है–"मैं किसी के साथ वैरभाव नहीं लाऊँगा, मैत्रीभाव का ही आचरण करूँगा।" परन्तु परिस्थिति आते ही वह मन पर वैरभाव ले आता है।

---

१. 'जातक कथा' से संक्षिप्त

चित्त का आकाश निर्मल नहीं होता, इस कारण वह संकल्प से डिग जाता है। किन्तु सहिष्णुता और क्षमता बद्धमूल हो जाये तो चित्त की निर्मलता खण्डित नहीं होती।

यद्यपि किसी महापुरुष के जीवन से किसी मार्गदर्शक सद्गुरु से या प्रज्ञा जाग्रत करके सन्मार्ग दिखाने वाले शास्त्र के उपदेश से क्षमता की प्रेरणा प्राप्त होने पर भी मनुष्य झटपट वैर-विरोध को शान्त करने और मैत्री का मार्ग पकड़ने को तैयार नहीं होता, जब तक कि उसे यह प्रतीति नहीं होती कि मैत्री के मार्ग को पकड़ने पर प्रत्यक्ष ही संवर और दूसरे व्यक्ति आत्मौपम्यभाव से देखने से निर्जरा का लाभ होता है और जीव भविष्य में कर्मों से मुक्त हो जाता है। इसलिए उसमें धैर्य का जाग्रत होना आवश्यक है। धैर्य जाग्रत होने पर कदाचित् पूर्वबद्ध अशुभ कर्मोदयवश उसे विरोधी या अपराधी व्यक्ति के साथ मैत्रीभाव को अपनाने से उलटा परिणाम आने लगे, वह व्यक्ति एक बार तो उसकी मैत्री की भाषा को न समझकर उलटा हो जाये, परन्तु साधक में धैर्य होगा तो वह मैत्री के प्रयोग को सहसा छोड़ेगा नहीं। वह अन्त तक विचलित नहीं होगा अपने मैत्रीभाव से और साथ ही वह जब देखता है विरोधी मेरे द्वारा धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करने के बाद अनुकूल हो गया है, तब उसकी प्रतीति दृढ़ हो जाती है। परन्तु इतना होने पर भी यदि उस कार्य की कुछ लोग अतिशयोक्तिपूर्वक प्रशंसा करने लगें अथवा कुछ लोग उसके कार्य को कायरता का रूप देकर उसे कायर, बुजदिल या डरपोक कहकर निन्दा करने लगें, उस समय उसका अपने मैत्रीभाव के प्रयोग के प्रति अहंकार, आसक्ति अथवा घृणा, अरुचि या निराशा आने की बहुत सम्भावना रहती है। ऐसे समय में यदि वह गाम्भीर्य गुण से अभ्यस्त होगा तो अपनी प्रशंसा या निन्दा से कदापि विचलित नहीं होगा। वह अपना सत्कार्य किये चला जाता है। वह सोचता है–निन्दा और प्रशंसा तो क्षणिक है, उससे शुद्ध आत्मा का कुछ भी बिगड़ने वाला नहीं है। अतः वह अपनी मस्ती से प्रसन्नतापूर्वक अपने सत्कार्य के प्रति श्रद्धा-भक्ति, विनय और सत्कार के साथ आगे बढ़ता जाता है। परन्तु गम्भीरता के साथ दाक्षिण्य न हो तो जिसके प्रति मैत्री का प्रयोग किया जायेगा, वह व्यक्ति कुछ दिन तक तो उसके अनुकूल रहे, यह सम्भव है, लेकिन बाद में सम्भव है, उसके दाक्षिण्य के प्रति कृतज्ञता का भाव भूलकर कृतघ्न हो जाये या उसके प्रतिकूल हो जाये। इसलिए दाक्षिण्य गुण की मैत्रीसाधक में बहुत आवश्यकता है। दाक्षिण्य गुण का अर्थ यों तो दक्षता है, किन्तु उसका फलितार्थ उदारता है मन की, तन की और साधन की। जिस व्यक्ति के प्रति मैत्री का प्रयोग किया गया, उसकी पात्रता, योग्यता और वास्तविक अपेक्षा जानने की दक्षता (चातुर्य) हो और साथ ही तदनुरूप उदारता हो तो व्यक्ति सदा के लिए उसका बन जाता है, वह कभी अकृतज्ञ नहीं होता।

महात्मा गांधी जी के जीवन में पाँचों चिन्तनसूत्र थे

महात्मा गांधी जी के जीवन में मैत्रीभाव के नैतिक दृष्टि से बताये गये ये पाँचों चिन्तनसूत्र ओतप्रोत थे। दक्षिण अफ्रीका में जिस समय काले-गोरों का रंगभेद बहुत जोर से चल रहा था। काले लोगों (जिसमें हिन्दुस्तानी भी गिने जाते थे) के खिलाफ गोरे लोगों का अत्याचार, घृणा, द्वेष, काले कानून, अन्याय, वैर-विरोध चल रहा था। गांधी जी ने हिन्दुस्तान के लोगों को संगठित करके सत्याग्रह करने का सर्वसम्मति से तय किया था। किन्तु तत्कालीन जनरल स्मट्स को इस बात का पता लगा तो उन्होंने गांधी जी को बुलाकर काले लोगों के खिलाफ अन्याय, अत्याचारपूर्ण कानून रद्द करने का विश्वास दिलाया, बशर्ते कि गांधी जी सत्याग्रह न करें। गांधी जी ने इस बात को स्वीकार किया, हिन्दुस्तानी लोगों से कहा कि अब हमें सत्याग्रह नहीं करना है। इस पर आलमगिर पठान बहुत उत्तेजित हो गया और उसने सभा में कहा—गांधी जी दोतरफी बात करते हैं। मैं गांधी जी को सत्याग्रह न करने पर मारूँगा। और सचमुच, जब गांधी जी कहीं जा रहे थे, तो रास्ते में ही रोककर उन्हें पीटा। गांधी जी के काफी चोट आई, फिर भी वे शान्त रहे। वहाँ खड़े एक अंग्रेज मित्र ने गांधी जी से कहा—"आप इस पर मुकद्दमा चलाइये। मैं साक्षी दूँगा।" परन्तु गांधी जी ने कहा—"इस भाई की गलतफहमी हुई है। यह जब समझेगा, तब अपने आप पश्चात्ताप करेगा। मुझे इस पर मुकद्दमा नहीं चलाना है।" और इसके कुछ ही दिनों बाद जब उसे अपनी भूल महसूस हुई तो वह गांधी जी के चरणों में आँसू बहाते हुए गिर पड़ा। उनसे क्षमा माँगी। गांधी जी ने उसे सान्त्वना दी। इस प्रकार मैत्री का कदम बढ़ाते हुए गांधी जी ने क्षमता (क्षमा), धैर्य और गम्भीरता का परिचय दिया।

गांधी जी के दाक्षिण्य गुण का एक उदाहरण

और जब गांधी जी अफ्रीका से स्वदेश के लिए विदा हो रहे थे। तब वहाँ के सभी हिन्दुस्तानी लोगों ने मिलकर उन्हें देश-सेवा के लिए बहुत-से सोने-चाँदी के आभूषण भेंट किये। कस्तूरबा का मन चल गया कि ये गहने तो मैं अपनी पुत्रवधू के लिए रखूँगी। परन्तु गांधी जी ने इससे बिलकुल इन्कार करते हुए कहा—"ये गहने हमें देश-सेवा के लिए मिले हैं। इसलिए हमें इनमें से कुछ भी अपने व्यक्तिगत उपयोग में लेने का अधिकार नहीं है।" यह था स्वदेश मैत्री के लिए गांधी जी का दाक्षिण्य।[1]

---

१. 'म. गांधी जी की आत्मकथा : सत्य के प्रयोग' से सार संक्षेप

सहजमित्र और कृतमित्र

ये पाँचों चिन्तनसूत्र हमारे लिए सहजमित्र हैं, ये स्वाभाविकतया व्यवहार में सदा हमारे साथ रहते हैं। दूसरे प्रकार के मित्र कृतमित्र होते हैं। ये मित्र बनाये जाते हैं। ये मित्र सहजमित्र नहीं होते हैं। ये कृतमित्र सदा साथ नहीं देते। अपने आश्रयदाता को भी ये छोड़ बैठते हैं।

आध्यात्मिक जगत् में मैत्री के लिए दूसरे की जरूरत नहीं

पहले बताया गया था कि व्यावहारिक जगत् में मित्रता के लिए दूसरा व्यक्ति आवश्यक है। वहाँ वैर-विरोध के लिए भी दूसरा चाहिए और मैत्री के लिए भी। किन्तु आध्यात्मिक जगत् में मैत्री के लिए दूसरे की अपेक्षा नहीं रहती। वहाँ वैर-विरोध भी अपने साथ ही होता है और मैत्री या बन्धुता भी अपने साथ होती है। इस आध्यात्मिक मैत्री का सम्बन्ध अपने साथ ही होता है। इसमें 'स्व' भी स्वयं है, 'पर' भी स्वयं है। आत्मा के साथ ही मैत्री और आत्मा के साथ ही शत्रुता। प्रत्येक धर्म के आध्यात्मिक मनीषी पुंगवों ने आत्मा के साथ मित्रता पर अपना चिन्तन दिया। परन्तु उनकी कसौटियाँ व्यावहारिक जगत् की मित्रता की पूर्वोक्त छह कसौटियों से भिन्न है। आध्यात्मिक मैत्री में आत्म-बाह्य वस्तुओं के दान और प्रतिग्रहण (आदान) की बात नहीं होती। वहाँ सम्यग्ज्ञान के ही आदान-प्रदान की बात होती है। उसमें प्रेरक, मार्गदर्शक अथवा गुरु ज्ञान देने में निमित्त होता है और शिष्य या जिज्ञासु ज्ञान ग्रहण करने में निमित्त होता है। अध्यात्म मैत्री में गुप्तता या प्रच्छन्नता, माया या छलकपट, प्रवंचना या कुटिलता बिलकुल नहीं होती।[१] अध्यात्म मैत्री में जीवन की किताब खुली होती है। उसमें दुराव-छिपाव करने वाला अपना ही अहित करता है। जहाँ दुराव-छिपाव होता है, वहाँ अध्यात्म मैत्री नहीं हो सकती। अपने से प्रवंचना, माया या दुराव-छिपाव या प्रमाद, कषाय, मिथ्यात्व, असंयम, अविरति या अशुभ योग प्रवृत्ति होने पर आत्मा अपनी ही दुश्मन बनकर अपने पतन के लिए स्वयं गड्ढा खोदती है। अपने आप का गला स्वयं ही काटती है। 'उत्तराध्ययनसूत्र' में कहा गया है-"सिर काटने वाला शत्रु भी उतना अपकार नहीं करता, जितना कि दुराचरण में प्रवृत्त अपनी आत्मा करती है। आत्म-दया से शून्य दुराचारी को (प्रमाद या अज्ञानवश) अपने दुराचरणों का पहले ध्यान नहीं आता, परन्तु जब वह मृत्यु के मुख में पहुँचता है, तब अपने सब दुराचरणों का स्मरण करते हुए पछताता है।"[२]

---

१. 'सोया मन जग जाये' से भाव ग्रहण, पृ. ११५

२. न तं अरी कंठ छेत्ता करेइ, जं से करे अप्पणिया दुरप्पा।
से नाहिइ मच्चुमुहं तु पत्ते, पच्छाणुतावेण दयाविहूणो॥ *-उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २०, गा. ४८*

दूसरों का अहित सोचने वाली आत्मा अपना ही अहित ज्यादा करती है

तथागत बुद्ध ने भी 'धम्मपद' में इसी तथ्य के समर्थन में कहा है–"शत्रु जो अपने शत्रु का बुरा करता है, वैरी अपने वैरी से जो बदला लेता है, दुष्ट बातों में लगा पापी चित्त आत्मा का उनसे भी बढ़कर बुरा (अहित) करता है।"[१]

यह एक माना हुआ तथ्य है कि दियासलाई जब दूसरे को जलाने के लिए जलती है, तब वह दूसरों को जला सके या न जला सके, स्वयं का मुख तो जला ही डालती है। वास्तव में सोचा जाय तो पूर्वबद्ध अशुभ कर्म स्वयं द्वारा कृत होने से आत्मा स्वयं ही अपना अपकारी–अपराधी है, किन्तु मिथ्यात्व या अज्ञानवश वह इस तथ्य को न समझकर दूसरे को–निमित्त को अपना शत्रु मानकर उसका अहित या अनिष्ट करने पर उतारू होता है। मगर वह दूसरे (निमित्त) का कोई अहित या अनिष्ट कर सके या न कर सके, कषाय, प्रमाद, मिथ्यात्व, द्वेष, वैर-वृत्ति आदि के कारण अपना अहित या अनिष्ट तो अवश्य ही कर लेता है, पापकर्मों का बन्ध करके अपने आप का शत्रु स्वयं बन जाता है, जिन पापकर्मों का फल उसे भविष्य में भोगना पड़ता है।

हिंसा आदि करके आत्मा स्वयं अपनी ही हिंसा करती है

इसीलिए भगवान महावीर ने हिंसा आदि करने वालों को चेतावनी देते हुए कहा–"तू वही है, जिसे तू मारने योग्य मानता है। तू वही है, जिसे तू आज्ञाधीन बनाकर रखना चाहता है। तू वही है, जिसे तू परिताप देने योग्य मानता है। तू वही है, जिसे तू दास (गुलाम) बनाने के लिए पकड़कर रखना चाहता है। तू वही है, जिसे तू डराने-धमकाने योग्य मानता है।"[२]

हिंसादि करने वाले आत्मा को शत्रु बनाकर अपना ही अनिष्ट करते हैं

हिंसा के इन विविध विकल्पों में प्रवृत्त होने से पहले भगवान ने आत्मौपम्य का प्रतिबोध देने की दृष्टि से उपर्युक्त वाक्यों में दो सिद्धान्त ध्वनित कर दिये हैं–

---

१. दिसो दिसं यं तं कयिरा वेरी वा पन वेरिनं।
मिच्छापणिहितं चित्तं, पापियो नं ततो करे॥ *–धम्मपद, तीसरा चित्त वर्ग, श्लो. १०*

२. तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं परियावेयव्वं ति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं परिघेतव्वं ति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं उद्दवेयव्वं ति मन्नसि।
–आचारांगसूत्र, श्रु. १, अ. ५, उ. ५, सू. १७० विवेचन (आ. प्र. स.), पृ. १८२

(१) हिंसा आदि की जाते समय जैसी पीड़ा, दुःख और बेचैनी की अनुभूति तुझे होती है, वैसी ही उस जीव को होगी, जिसे तू मारना आदि चाहता है। (२) हिंसा आदि करके तू दूसरे की नहीं, स्वयं अपनी ही आत्मा की हिंसा करता है। अर्थात् तेरी यह हिंसादि वृत्ति एक प्रकार से तेरी ही आत्म-हिंसा है। ऐसा करके तू दूसरे के साथ वैर-परम्परा तो बढ़ाता है, आत्मा को भी तू मित्र के बदले शत्रु बनाकर घोर पापकर्मों का फल भुगतवाएगा।

सभी आत्माएँ स्वरूप की दृष्टि से समान

यही कारण है कि भगवान महावीर ने अद्वैत की भाषा में कहा—आत्मा ही आत्मा का मित्र है और आत्मा का अपना शत्रु है। अध्यात्मदृष्टि से जब हम मैत्री का विचार करते हैं तो अपनी आत्मा के सिवाय दूसरा कोई होता ही नहीं। अथवा द्वैत का यानी दूसरा पराया है, ऐसा विचार किया जाये तो वहाँ मैत्री हो नहीं सकती। वैर-विरोध मन ही मन उठता रहेगा। 'स्थानांगसूत्र' में इसी दृष्टि से कहा गया है—"एगे आया।"—यानी सब आत्माएँ स्वरूप की दृष्टि से एक हैं—समान हैं। अध्यात्म का यह दृष्टिकोण द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से है। द्रव्यार्थिकनय में वस्तु की समग्रता का स्वीकार होता है।[1] द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि यानी समग्रता की दृष्टि से विचार करते हैं तो आत्मा आत्मा है, वह सिर्फ आत्मा है, इसके सिवाय कुछ नहीं। आत्मा केवल आत्मा है, ऐसा मानने पर प्रतिफलित होता है—आत्मा न तो शत्रु है, न मित्र ! आत्मा न तो अच्छा है, प्रिय है और न बुरा या अप्रिय। किन्तु पर्यायार्थिकनय का दृष्टिकोण है—वस्तु में समुत्पन्न होने वाले नये-नये रूपों का स्वीकार करना। आत्मा में एक पर्याय पैदा होता है, तब वह शत्रु बन जाती है, दूसरा पर्याय पैदा होता है, तब वही आत्मा मित्र बन जाती है। अच्छी-बुरी, मनोज्ञ-अमनोज्ञ ये सब पर्याय हैं। इसी पर्यायदृष्टि के कारण तो आत्मा के ८ प्रकार बताये हैं—द्रव्यात्मा, कषायात्मा, योगात्मा, उपयोगात्मा, ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा, चारित्रात्मा और वीर्यात्मा। ये सब पर्याय आत्मा के स्वरूप नहीं हैं, न ही उसका अस्तित्व है। आत्मा तो अपने मूलरूप में जैसी है, वैसी ही रहती है। ये सब पर्याय हैं, अवस्थाएँ हैं—आत्मा की। ये बदलती हैं। इन्हें पुरुषार्थ से बदला जा सकता है। यह अधिकार आत्मा के अपने हाथ में है। वह स्वयं अपना भाग्यविधाता है। दूसरा कोई हमारी आत्मा को अच्छा या बुरा, मित्र या अमित्र नहीं बना सकता। हम ही

---

१. (क) अप्पा मित्तममित्तं च। —*उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २०, गा. ३६-३७*

(ख) 'सोया मन जग जाये' से भाव ग्रहण, पृ. ११५-११६

(ग) स्थानांगसूत्र, स्था. १, उ. १, सू. १

चाहें तो अपनी आत्मा को मित्र या शत्रु बना सकते हैं। अपनी आत्मा को मित्र या शत्रु बनाने या मानने की बात सहसा गले नहीं उतरती। स्थूलदृष्टि वाले लोग यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि क्या हमारा अहित या अनिष्ट करने वाले को, हमें दुःख देने वाले को हम शत्रु न मानें? अथवा हमारा हित, अभीष्ट करने या सुख देने वाले को हम मित्र न मानें? इन सब तर्कों का निश्चयदृष्टि से कर्मविज्ञान की भाषा में समाधान यह है कि कोई भी व्यक्ति या पदार्थ किसी का हित-अहित, हानि-लाभ, इष्ट-अनिष्ट नहीं कर सकता, न ही कोई किसी दूसरे को सुखी या दुःखी कर सकता है। व्यक्ति (आत्मा) स्वयं अपने शुभाशुभ कर्मों से अपना हित-अहित करता है, स्वयं ही अपने पुण्य-पापकर्मों से सुखी-दुःखी होता है।

आत्मा को कब मित्र मानें, कब शत्रु मानें ?

भगवान महावीर से जब पूछा गया कि आत्मा को हम कब मित्र मानें और कब शत्रु मानें? भगवान ने समाधान दिया-"हमारी आत्मा के दो प्रस्थान होते हैं- सुप्रस्थान और दुष्प्रस्थान। जब आत्मा का सदाचरण की दिशा में उत्थान होता है या सुमार्ग की ओर कदम बढ़ता है, तब उसका सुप्रस्थान होता है और सुप्रस्थान होने पर आत्मा उस व्यक्ति की मित्र है, ऐसा समझना चाहिए। इसके विपरीत, कदाचरण की दिशा में आत्मा का जब उत्थान होता है, यानी कुमार्ग की ओर कदम बढ़ता है, तब वह उसका दुष्प्रस्थान होता है और दुष्प्रस्थान होने पर आत्मा उस व्यक्ति की शत्रु है, ऐसा मानना चाहिए।" आत्मा का सु-उत्थान अपने आप को और सबको प्रिय लगता है, वह उस समय मित्र बनती है और जब उसका दुरुत्थान होता है, तो अपने आप को भी नहीं सुहाता, अपने लिए वह दुःख और संकट पैदा करती है, उस समय आत्मा शत्रु बन जाती है।[1]

अपनी आत्मा की शुद्धि या अशुद्धि अपने हाथ में

'धम्मपद' के आत्मवर्ग में भी कहा है-आत्मा के द्वारा किया हुआ पाप आत्मा को ही क्लेश देता है और उसके द्वारा न किया हुआ पाप उसको ही विशुद्ध करता (रखता) है। प्रत्येक आत्मा की शुद्धि या अशुद्धि में स्वयं वही निमित्त होता है। दूसरा कोई भी किसी को शुद्ध अथवा अशुद्ध नहीं कर सकता।[2]

---

१. (क) 'सोया मन जग जाये' से भाव ग्रहण

(ख) सुख-दुःख दाता कोई न आन। मोहराग ही दुःख की खान॥

(ग) अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिओ सुपट्ठिओ। *-उत्तरा., अ. २०, गा. ३७*

२. अत्तना व कतं पापं अत्तना संकिलिस्सति। अत्तना अकतं पापं अत्तना व विसुज्झति। सुद्धी असुद्धी पच्चत्तं, नाञ्ञो अञ्ञं विसोधये॥ *-धम्मपद, आत्मवर्ग १२, गा. ९*

गीता की दृष्टि में आत्मा ही आत्मा का बन्धु और शत्रु है

'भगवद्गीता' में भी कहा गया है–अपनी आत्मा का उद्धार मनुष्य अपनी आत्मा के द्वारा करे, अपनी आत्मा का अवसाद (अधःपतन) कदापि न करे। वस्तुतः आत्मा ही आत्मा का बन्धु है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है। जिसने (अपने पराक्रम से) आत्मा को जीत लिया, उसी की आत्मा उसका बन्धु है और जिसने (प्रमादग्रस्त होकर) अपने आप को नहीं जीता, वही अपने प्रति शत्रु के समान बरतता है; अर्थात् उसकी आत्मा ही उसका शत्रु हो जाता है।[1]

गजसुकुमार मुनि ने आत्मा को शत्रु होने से बचाकर मित्र बनाया

वास्तव में, आत्म-विजेता अर्थात् आत्मा को शरीरादि पर-भावों और विभावों से हटाकर स्वभाव में स्थित करने वाली–स्व-वश करने वाली महान् आत्मा ही उसे अपना मित्र बना लेती है। वह शत्रुभाव में जाने वाली आत्मा को तुरन्त रोककर मित्रभाव में ले आती है। आत्म-स्वभाव में स्थित, भेदविज्ञान-परायण महामुनि गजसुकुमार ने आत्मा को स्वभाव में दृढ़ता से प्रतिष्ठित करके उसे परम मित्र बना लिया था। आशय यह है कि जब सोमल ब्राह्मण ने उन्हें मरणान्त कष्ट देने हेतु उन कायोत्सर्गस्थ मुनि के मुण्डित मस्तक पर गीली मिट्टी से पाल बाँधकर धधकते अंगारे उड़ेल दिये थे, तब सोमल ब्राह्मण के प्रति वैरभाव का प्रसंग था, किन्तु गजसुकुमार मुनि ने अपनी आत्मा को सोमल ब्राह्मण के प्रति वैरभाव लाकर शत्रु नहीं बनाया, अपितु पूर्वबद्ध घोर पापकर्मों का क्षय करने में सहायक मानकर सोमल के प्रति मैत्रीभाव अपनाया, इस प्रकार अपनी आत्मा को मैत्रीभाव में सुप्रतिष्ठित किया। दूसरे शब्दों में कहें तो उन्होंने शत्रुभाव की ओर जाने की संभावना वाली आत्मा को तीव्र आत्म-भावों में रमण करते हुए मैत्रीभाव में सुप्रतिष्ठित किया। भगवान महावीर की भाषा में–आत्मा को उस विकट मरणासन्न प्रसंग पर शत्रु बनाने के बदले मित्र बनाया। यही आत्मा के द्वारा आत्मा को जीतना है और यही आत्मा को और अशुद्ध बनाने के बदले तीव्रता से कर्मनिर्जरा (महानिर्जरा) करके पूर्ण शुद्ध अवस्था में स्थापित करना है। ऐसा करके महामुनि गजसुकुमार ने अपने ९९ लाख भवों पूर्व बाँधे हुए घोर पापकर्मों को तथा इस

---

१. उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥५॥
बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य, येनात्मैवाऽऽत्मना जितः।
अनात्मस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥६॥ —*भगवद्गीता, अ. ६, श्लो. ५-६*

जन्म तक बाँधे हुए शुभाशुभ सभी कर्मों को समभाव से भोगकर सर्वथा क्षय कर दिया और उनकी आत्मा सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परम शुद्ध तथा जन्म-मरणादि सदा के लिए सर्वथा रहित, सर्वदुःखों से रहित हो गई। यह है प्रत्येक मानसिक, वाचिक, कायिक प्रवृत्ति के समय आत्मा को शत्रु बनाने की अपेक्षा मित्र बनाने का ज्वलन्त उदाहरण ![1]

आत्मा को मित्र बनाने हेतु अपनी दृष्टि आदि बदलनी है

आत्म-मैत्री में अपने आप को बदलना अनिवार्य है। अपनी समग्र दृष्टि, वृत्ति या बुद्धि ही बदलनी है। किसी ने किसी व्यक्ति का अनिष्ट किया, उस समय प्रमाद, कषाय और अज्ञानवश वह सारा का सारा दोष उसी पर मढ़ देता है और उस अनिष्ट के निमित्त बनने वाले को शत्रु मान लेता है। वह व्यक्ति यह मानने को तैयार नहीं कि उसने मेरे ही किसी पूर्वबद्ध अशुभ कर्म के उदय में आने पर समभाव से भोगकर निर्जरा (कर्मक्षय) कराने में, परम्परा से आत्म-शुद्धि करने में मेरी सहायता की है। मुझे अवसर दिया है कर्मक्षय करके आत्म-शुद्धि का। अतएव वह तो मेरा परम मित्र हुआ, शत्रु कहाँ रहा? मेरी आत्मा ही पूर्व-भव में किसी अशुभ कर्म का बन्ध करके मेरी शत्रु बनी हुई थी। इस प्रकार के अनिष्ट, दुःख या संकट मेरे ही अपने किसी अपराध या दोष के कारण आया है। मैंने ही कर्म बाँधा है, मुझे ही भोगना है। समभाव से भोगकर आत्मा पर लगे कर्ममल को धो डालने से मैं भूतपूर्व शत्रु (विकारी) आत्मा को शुद्ध (आंशिक शुद्ध–निर्विकार) आत्मा बना लूँगा।[2]

आत्म-मैत्री का रहस्यार्थ

यह है आत्म-मैत्री का रहस्यार्थ। जो आत्म-मैत्री के इस सत्य (परमार्थ) को जान लेता है, हृदयंगम कर लेता है और अनुभव की आँच में तपा लेता है, वह सजीव-निर्जीव किसी भी पर-पदार्थ पर अथवा कषाय, राग-द्वेष-मोह आदि विभावों पर दोषारोपण नहीं करता। बहुत-से लोग कर्म को शत्रु कहते हैं, परन्तु गहराई से देखें तो कर्म शत्रु नहीं, कर्म से संयोग सम्बन्ध जोड़ने वाली आत्मा शत्रु है। इसीलिए भगवान महावीर ने कहा—आत्म-बाह्य किन्हीं सजीव-निर्जीव पर-भावों या विभावों को रागादिवश मित्र बनाने या उन पर दोषारोपण करके द्वेषादिवश शत्रु मानने की अपेक्षा अपनी दुष्प्रस्थित आत्मा को सुप्रस्थित करके उसे अपनी मित्र बना लें। हमारे मन-मस्तिष्क में किसी दूसरे के प्रति शत्रुता का भाव रहे ही नहीं।

---

१. देखें—अन्तकृद्दशांगसूत्र में गजसुकुमार मुनि की सर्वकर्ममुक्ति का वर्णन

२. 'सोया मन जग जाये' से भावांश ग्रहण, पृ. २४

अपनी आत्मा, जो अपने ही अशुभ कर्मों के कारण शत्रु बनी हुई है, उसे ही सुमार्ग पर चलाकर (सुप्रस्थित करके) मित्र बना लें।[1] ऐसा करने से सहज ही संवर और निर्जरा की उपलब्धि होगी।

यही कारण है कि भगवान महावीर ने आत्म-बाह्य मित्रों की खोज के बदले अपनी आत्मा को ही अपना मित्र बनाने पर जोर देते हुए कहा–"हे पुरुषार्थी मानव ! तू ही तेरा मित्र है, बाहर के मित्र की तलाश क्यों कर रहा है?"[2] इसका फलितार्थ है–आत्मार्थी और मुमुक्षु मानव को एकमात्र अपनी आत्मा को मित्र बनाने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

सभी सजीव-निर्जीव पर-पदार्थ या विभाव आत्म-बाह्य हैं, उनके साथ मैत्री कैसी ?

आध्यात्मिक दृष्टि से आत्म-बाह्य सजीव-निर्जीव पदार्थों या विभावों के साथ मैत्री प्रायः प्रेय, स्वार्थ, मोह या रागादिमूलक होती है। वह शुभाशुभ कर्मक्षयकारक, कर्मास्रव-निरोधक अथवा कर्मनिर्जराकारक प्रायः नहीं होती। आध्यात्मिक दृष्टि से बाहर के मित्र मनुष्य जातीय ही नहीं, पशु-पक्षी जातीय तथा वनस्पति पृथ्वी आदि सर्व प्राणिजातीय भी हो सकते हैं। कभी आत्मा से भिन्न विजातीय पर-पदार्थ, जैसे–खेत, घर, बंगला, दुकान, ग्राम, नगर, प्रान्त, देश, राष्ट्र आदि भी हो सकते हैं। इतना ही नहीं कदाचित् आत्मा के वैभाविकभाव–क्रोध आदि कषाय, राग, द्वेष, मोह, ईर्ष्या, कलह पर-परिवाद, अभ्याख्यान, पंचेन्द्रिय विषयासक्ति, शुभाशुभ कर्म-पुद्गल आदि भी तथाकथित बाह्य मित्र हो सकते हैं। इन सब बाह्य मित्रों का आत्मा के साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं होता, प्रायः रागादिमूलक कर्मोपाधिक संयोगसम्बन्ध होता है, जिसे आत्मा ही स्वयं जोड़ती है।

आत्मा से मैत्री-सम्बन्ध ही इष्ट

इन और ऐसे पर-भावों और विभावों से राग-द्वेषयुक्त संयोग-सम्बन्ध जोड़ने पर आत्मा इष्ट-वियोग और अनिष्ट-योग के समय बार-बार स्वयं दुःख का वेदन करती है। अतः ऐसी संयोग-सम्बन्धजनित परभाव-विभाव-मैत्री उसके लिए अनिष्टकारक, कर्मबन्धकारक, दुःखानुभूतिदायक, आत्मा को मलिन बनाने वाली,

---

१. अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिओ सुपट्ठिओ। *–उत्तराध्ययन, अ. २०, गा. ३७*

२. पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि?

–आचारांगसूत्र, श्रु. १, अ. ३, उ. ३, सू. ४०४

क्षणिक तथा नाशवान् होती है। इसीलिए भगवान महावीर ने पूर्वोक्त रीति से आत्मा ही अपना सच्चा मित्र बनाने का निर्देश दिया है।

संयोग-सम्बन्धजनित मैत्री कितनी दुःखदायी, कितनी आत्म-मैत्री विस्मृतिकारिणी

मनुष्य अनेक वस्तुओं, व्यक्तियों, परिस्थितियों तथा अवस्थाओं से जब संयोग-सम्बन्धजनित मैत्री जोड़ता है, तब उसे किस प्रकार दुःख उठाना पड़ता है? और उन दुःखों के समय वह आत्मा के साथ वास्तविक मैत्री-सम्बन्ध को कैसे भूल जाता है? इस पर विचार करना आवश्यक है।

वस्तुओं से मैत्री-संम्बन्ध जोड़ने के साथ वह वस्तुओं से सुख पाने की भ्रान्ति में उन वस्तुओं या विषयों की गुलामी में जकड़ जाता है। वह उन वस्तुओं को नित्य अपरिवर्तनीय समझने लगता है। इसी मोहजनित भ्रान्ति के कारण जड़ वस्तुओं का संग्रह करने, जुटाने और उनका संरक्षण करने का लोभ जागता है। इस उधेड़बुन में पड़कर वह अपनी आत्मा के साथ मैत्रीभाव को भूल जाता है। जड़ वस्तुओं से जुड़े रहने से उसमें मूढ़ता और जड़ता बढ़ती जाती है। यह आत्म-मैत्री के बजाय आत्मा को शत्रु बनाने का घातक उपक्रम है।

व्यक्तियों के साथ रागभाव के कारण मैत्री-सम्बन्ध प्रायः मोह एवं स्वार्थ से युक्त होता है। फलतः व्यक्ति उनके वियोग में तथा अपने और अपनों के अनिष्ट-संयोग में दुःखी होता रहता है। 'आचारांगसूत्र' में स्पष्ट कहा है–**"जिनके साथ वे स्व-सम्बन्धी (स्नेही आत्मीयजन) पहले ही एक दिन उसको छोड़ देते हैं, वह भी बाद में उन स्वजनों को छोड़ देता है।"** इस प्रकार संयोग और वियोग दोनों में ही वह मैत्री दुःखद बनती है। दोनों ओर से सुख की आशा रखी जाती है, वह भी भंग हो जाती है। परस्पर मोह, मूर्च्छा, ममता में आबद्ध होते हैं, वहाँ आत्म-चेतना के साथ मैत्री को विस्मृत कर दिया जाता है। बल्कि आत्मा के लिए व्यक्तियों के साथ स्वार्थपूर्ण मैत्री आत्मा के लिए वैर का काम करती है। 'आचारांग' में स्पष्ट कहा है–**"वेरं वड्ढेति अप्पणो।"**–आत्मा के साथ वह व्यक्ति वैर ही बढ़ाता है।

परिस्थिति और अवस्था सदा एक-सी नहीं रहती। आज अनुकूल है, इसलिए उसके प्रति आसक्ति होती है, सुख पाने की आशा रहती है; कल की परिस्थिति और अवस्था प्रतिकूल होते ही मानसिक संक्लेश, संताप और दुःख होता है। परिस्थिति और अवस्था का दास बनने पर व्यक्ति आत्मा के स्वभाव और उसके स्वरूप से दूर हो जाता है। फिर परिस्थिति और अवस्था दोनों स्वभावतः अपूर्ण

और किसी न किसी अभाव से युक्त होती है। अपूर्णता में सुख की कल्पना करना और आत्मा के वास्तविक स्वाधीन सुख से वंचित रहना भविष्य में दुःख का कारण बनता है। इन दोनों के साथ मैत्री दासता का ही प्रतीक होती है। ऐसी मैत्री आत्मा की सहन-शक्ति, सम्यग्ज्ञान-दर्शन की शक्ति को विस्मृत करा देती है। इसलिए विनाशी से तथाकथित मैत्री-सम्बन्ध विच्छेद करना ही बन्धनरहित होना है। बन्धनरहित होना ही कर्ममुक्ति है, निर्जरा है।

इसीलिए भगवान महावीर ने कहा—"**सव्वमप्पे जिए जियं।**"—एकमात्र आत्म-विकारों को जीत लेने पर मन को जीत लिया जाता है। ये सब आत्मा की पर्याय हैं, इन पर विजय प्राप्त कर लेने पर आत्म-विजय करना ही आत्मा के साथ सच्ची मैत्री है। वही शाश्वत सुख के मार्ग की ओर ले जाती है।[१]

●●

---

१. (क) 'दुःखमुक्ति : सुखप्राप्ति' (कन्हैयालाल लोढ़ा) से भावांश ग्रहण, पृ. २३-२४

(ख) जेहिं वा सद्धिं संवसति ते वा णं एगया णियगा तं पुव्विं परिहरंति, सो वा ते णियगे पच्छा परिहरेज्जा। —*आचारांग १/२/१/१९७*

(ग) वही, श्रु. १, अ. २, उ. ५, सू. ३११

(घ) उत्तराध्ययनसूत्र, अ. ९, गा. ३६

१७

विविध दुःखों के साथ मैत्री आत्म-मैत्री है

आत्मा को मित्र बनाने के बजाय शत्रु क्यों बना लेता है ?

मानव-जीवन में जन्म से लेकर मृत्यु तक अनेक उतार-चढ़ाव आते हैं। उन उतार-चढ़ावों में आत्मा के साथ तन, मन, वचन, बुद्धि, हृदय, इन्द्रियाँ आदि उपकरण रहते हैं। अनादिकालीन कर्म-संस्कारों के कारण मनुष्य संसार की भूलभुलैया में पड़कर अपना आपा भूल जाता है। मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? मुझे ऐसा संयोग क्यों मिला है? किस कारण से मेरी ऐसी स्थिति हुई है? मेरा लक्ष्य क्या होना चाहिए? इन बातों से अनभिज्ञ रहकर वह अपनी आत्मा को बार-बार दुष्कर्मों के दलदल में फँसा देता है। यही कारण है कि पिछले प्रकरण में बताये अनुसार वह आत्मा को मित्र बनाने के बजाय अपना शत्रु बना लेता है। पापकर्मों का बन्ध करके फिर दुर्गतियों में भटकता है। अगर वह विविध दुःखों और संकटों के समय अपनी आत्मा को, आत्म-गुणों और स्व-भाव को न भूलकर आत्म-मैत्री को बरकरार रखता रहे तो जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो सकता है, अव्याबाध सुख को प्राप्त कर सकता है।

ऐसी स्थिति में आत्म-मैत्री कैसे हो सकती है ?

कोई तर्क कर सकता है कि जीव (आत्मा) के पूर्वबद्ध अशुभ कर्मोदय के कारण जब उस पर रोग, बुढ़ापा, मृत्यु, संकट, विपत्ति आदि दुःख आ पड़ते हैं, उस समय आत्मा के साथ मैत्री कैसे रह सकती है? क्योंकि रोगादि दुःखों के आ पड़ने पर मनुष्य का मन आर्त्तध्यान में चला जाता है। वह रोता है, चिल्लाता है, विलाप करता है। भगवान, देवी-देव, कर्म तथा निमित्त आदि को कोसता है। उस समय उसे पीड़ा, व्यथा, आर्त्ति और कष्ट की ही प्रायः अनुभूति होती है। कई व्यक्ति शारीरिक या मानसिक व्याधि असह्य होने पर आत्महत्या करने को उतारू हो जाते हैं। ऐसे असह्य कष्ट, पीड़ा, रोग, संकट आदि आ पड़ने पर व्यक्ति शान्ति और समता में नहीं रह पाता। ऐसी स्थिति में इन दुःखों के साथ मैत्री कैसे हो सकती है? और दुःखों के साथ मैत्री होने पर ही आत्म-मैत्री रह सकती है। अतः

आध्यात्मिक क्षेत्र में ऐसा कौन-सा ठोस उपाय है, जिसे अपनाने पर विविध दुःखों के साथ मैत्री रह सके?

चिकित्सा क्षेत्र में दवा पीड़ा शान्त करने का अस्थायी उपचार है

चिकित्सा के क्षेत्र में तो आजकल असह्य दर्द, पीड़ा या बेचैनी होने पर उसे शान्त या स्वल्प करने के लिए कई प्रकार के पीड़ाशामक इंजेक्शन, गोलियाँ या केप्सूल दिये जाते हैं। परन्तु देखा जाता है, उनसे अमुक समय दर्द शान्त रहता है, फिर पहले की तरह दर्द उठ जाता है।[1]

दुःख क्यों आते हैं ? उन्हें कौन देता है ?

पहले तो यह सोचना अनिवार्य है कि दुःख क्यों आते हैं? कारण के बिना कार्य नहीं होता ! दुःखों को पैदा करने वाला या अकस्मात् दुःख देने वाला कोई भगवान, देवी-देव, ईश्वर या दूसरा मानव नहीं, दुःख देने वाली या विविध दुःख पैदा करने वाली अपनी आत्मा ही है, जिसने पूर्व-जन्म या जन्मों में अथवा इस जन्म में कोई न कोई अशुभ कर्म बाँधा होगा। उसी स्वकृत कर्मापराधरूप वृक्ष के ये दुःखरूप फल हैं। 'सामायिक पाठ' में कहा है—आत्मा ने जो पहले स्वयं कर्म किये हैं, उन्हीं का शुभाशुभ फल वह पाता है। कर्मफल यदि दूसरे के द्वारा किया हुआ पाता है तो स्वकृत कर्म निष्फल हो जाते हैं।[2]

स्वाश्रित सुख-दुःख को पराश्रित मानने से दुःख बढ़ता है

व्यक्ति जब सुख-दुःख का कारण स्वयं (आत्मा) को न मानकर किसी अन्य व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति या अवस्था को मान लेता है, तब उसका सुख-दुःख पराश्रित हो जाता है। फलतः व्यक्ति पराधीन हो जाता है। पराधीनता तो अपने आप में भी दुःख है। दुःख का कारण दूसरे को मान लेने का नतीजा यह होता है कि जिस दुःख को वह स्वयं ज्ञानबल से, त्याग, तप, सहिष्णुता से सदा के लिए मिटा सकता है अथवा सुखरूप में परिणत कर सकता है, उसे मिटाने या सुखरूप में परिवर्तित करने में स्वयं को पराधीन, पर-पदार्थ के आश्रित मान लेना है। फलतः दुःख दूर होने के बजाय दुःख के समय आर्त्ति, पीड़ा आदि आर्त्तध्यान के

---

१. 'जीवन की पोथी' से भाव ग्रहण, पृ. २५

२. (क) स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥

—सामायिक पाठ (अमितगतिसूरि), श्लो. २५

(ख) आत्मापराधवृक्षस्य फलान्येतानि देहिनाम्। *—चाणक्यनीति*

वश होकर उत्तरोत्तर दुःख में वृद्धि करता जाता है। उस समय उसे शास्त्र के इस निर्देश को मानकर चलना चाहिए कि "ये शब्दरूप आदि कामभोग (जड़पदार्थ) और हैं, मैं (आत्मा) और हूँ।"[1]

सुख-दुःख स्वकृत मानने से लाभ : कैसे और किस उपाय से ?

सुख-दुःख स्वकृत कैसे है? इसे ठीक से समझने के लिए एक उदाहरण ले लें–देवदत्त को यज्ञदत्त ने गाली दी–"तुम अत्यन्त मूर्ख हो।" यह गाली वहाँ खड़े अनेकों व्यक्तियों ने सुनी। उन अनेकों व्यक्तियों को उस गाली से कोई दुःख नहीं होता। दुःख उसी को होगा, जो गाली सुनकर मन से, वचन से या काया से प्रतिक्रिया करेगा। जो यह मानेगा कि इसने इतने लोगों के बीच 'मूर्ख' कहकर मेरा अपमान किया है, उसे ही दुःख होगा। जो व्यक्ति ज्ञानबल से या अनुप्रेक्षा से यह मान लेता है कि इसके मूर्ख कहने से मैं मूर्ख नहीं हो गया। मेरा क्या बिगड़ा है, इसके द्वारा मूर्ख कहे जाने से। इस प्रकार देवदत्त यदि उस गाली को समभाव से सह लेता है अथवा मन में यह विचार जमा लेता है कि केवलज्ञानियों या ज्ञानी पुरुषों की अपेक्षा से तो मैं बहुत ही अल्पज्ञ हूँ, मूर्ख हूँ, मोहग्रस्त हूँ। मुझे अपनी मूर्खता के प्रति सावधान करके यज्ञदत्त ने मुझे अपनी मूर्खता–अल्पज्ञता या मोहग्रस्तता दूर करने के लिए प्रेरित किया है। इस प्रकार उक्त गाली को प्रेरणादायी रूप में लेने से गाली का दुःख बिलकुल नहीं होगा, वह सुखरूप में परिणत हो जाएगी। इस प्रकार यदि व्यक्ति ज्ञानबल से किसी घटना, परिस्थिति, व्यक्ति या वस्तु को जान-देखकर उसके प्रति मध्यस्थ रहे अथवा अपने कर्मक्षय का कारण मानकर समभाव में स्थित रहे, समाधिपूर्वक सहन करे तो उसे वह घटना आदि दुःखरूप नहीं प्रतीत होगी, समभावपूर्वक सहने से उसे सन्तोष का सुख मिलेगा, कर्मनिर्जरा भी होगी, शुभ योग-संवर भी हो सकता है। यदि व्यक्ति प्रिय-अप्रिय मानी जाने वाली किसी घटना, परिस्थिति, व्यक्ति या वस्तु के प्रति प्रतिक्रिया न करे, केवल ज्ञाता-द्रष्टा बनकर रहे तो वह घटना आदि सुख या दुःख नहीं दे सकती। व्यक्ति यदि किसी भी दुःख के साथ पूर्वोक्त प्रकार से अपने आप को, अपने मन को न जोड़े, वह उस दुःख को स्वकृत कर्मजनित समझकर दुःख के मूल कारण पर प्रहार करे, यानी कर्मक्षय या कर्मनिरोध जिस-जिस उपाय से हो, उस-उस उपाय को अपनाए तो दुःख शीघ्र ही दूर होकर आत्म-शान्ति प्राप्त कर लेता है।[2]

---

१. अन्ने खलु कामभोगा, अन्नो अहमंसि। *–सूत्रकृतांगसूत्र, श्रु. २, अ. १, सू. १३*

२. 'दुःखमुक्ति : सुखप्राप्ति' से भावांश ग्रहण, पृ. १८, २१

दुःख को अन्य कृत मानने वाले के प्रयत्न

सुख-दुःख का कारण अन्य को मानने की भ्रान्ति का शिकार होकर अधिकांश मानव दुःखों के मूल कारण पर प्रहार न करके दुःखरूप फल से या तो बचने की कोशिश करते हैं या फिर कर्मफलस्वरूप प्राप्त हुए दुःख को बाह्य उपायों से दूर करने का प्रयत्न करते हैं। ये दोनों प्रयत्न ऐसे ही हैं, जैसे कोई बबूल के काँटों से बचने के लिए उन काँटों को थोड़ा-थोड़ा तोड़ता रहे, बबूल की जड़ को न उखाड़े। जड़ को न उखाड़ने से बबूल के काँटे तोड़ते रहने पर भी नये-नये काँटे आते जाएँगे। फलतः काँटों से छुटकारा कदापि नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार विविध दुःखों के मूल कारणों–मिथ्यात्व, अज्ञान, भ्रान्ति, प्रमाद, कषाय-नोकषाय, अविरति तथा राग-द्वेषयुक्त मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को दूर न करके केवल वर्तमान के कतिपय दुःखों को विविध साधनों से दूर करने का प्रयास करता है, परन्तु जब तक दुःख के कारणभूत कर्म और कर्म के कारणों को नहीं मिटाता है, तब तक नये-नये दुःख बराबर आते जायेंगे, वह व्यक्ति अज्ञानतावश नये-नये दुःख बीजरूप राग-द्वेष व कर्मों को बाँधता रहेगा। इस प्रकार दुःखों से छुटकारा कभी नहीं होगा।

सुख-दुःखानुभव अपने दोषों के कारण होता है

आशय यह है कि व्यक्ति को जो भी सुख या दुःख का अनुभव होता है, वह किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि अन्यान्य कारणों से नहीं होता, बल्कि अपनी ही किसी अज्ञानता, मिथ्यादृष्टि, विपरीत मान्यता, पर-पदार्थाधीनता आदि दोषों के कारण होता है। भगवान से जब पूछा गया–दुःख किसने किया है? उन्होंने कहा–"स्वयं आत्मा ने अपनी ही भूल से दुःख किया है।"[1] ये दोष किसी दूसरे की देन नहीं है, अपितु व्यक्ति की अपनी ही भूल, भ्रान्ति या प्रमत्तता का परिणाम है। ऐसी भूलें मनुष्य ने स्वयं ही की हैं, उन्हें मिटाने का दायित्व भी स्वयं का है। अतः न तो किसी दूसरे (पर-पदार्थ) ने भूलें की हैं और न ही दूसरा कोई अपनी भूल को मिटा सकता है। भगवान महावीर ने भी यही कहा है–"जो 'स्व' से अन्यत्र दृष्टि नहीं रखता है, वह 'स्व' से अन्यत्र रमता भी नहीं है।"[2] पूर्वोक्त स्व-दोष मिट जाने से बात-बात में इन क्षणिक, नाशवान् और पर-पदार्थाश्रित सुख-दुःखों का जो अनुभव होता है, वह नहीं होगा। व्यक्ति न तो सुख में आसक्त होगा और न दुःख

---

१. दुक्खे केण कडे? जीवेण कडे पमाएणं। —*स्थानांगसूत्र, स्था.* ३, उ. २

२. जे अणण्णदंसी से अणण्णारामे। —*आचारांग, श्रु. १, अ. २, उ. ६*

में व्यथित-चिन्तित होगा। सुख का भोग भी बुरा है, क्योंकि वह दुःख को बुलाता है और दुःख का भोग भी बुरा लगता है, पर अविवेकी और अज्ञानग्रस्त को वह बरबस भोगना पड़ता है। यों सारी अमूल्य जिन्दगी सुख-दुःखों के भोग में बिताकर अपनी आत्मा की सर्वस्व हानि करना है।

आत्मा शत्रु और मित्र : स्व-दोषों के कारण

निष्कर्ष यह है कि अज्ञानी-अविवेकी प्राणी अपने पूर्वोक्त दोषों के फलस्वरूप दुःखी होता है, यही उसका अपनी आत्मा के प्रति अपना अमित्र (शत्रु) होना है और पूर्वोक्त दोषों को दूर करके समभाव, माध्यस्थ्य या ज्ञाता-द्रष्टापन में स्थित होना, पूर्वकृत कर्मों का दुःखरूप फल प्राप्त होने पर समभाव से सहन कर लेना अपनी आत्मा के प्रति अपना मित्र होना है।[1]

दुःख का कारण स्वयं को मानने से दुःख-मैत्री

इसी प्रकार दुःख का कारण अन्य को न मानकर स्वयं (आत्मा) को मानने से व्यक्ति दुःख के साथ मैत्री करके, दुःख की निमित्त कारणभूत घटना, परिस्थिति या वस्तु अथवा व्यक्ति के रहने पर भी दुःख का अनुभव नहीं करता। वह दीर्घदृष्टि से सोचता है-दुःख आए हैं तो आने दो, इनका स्वागत है। इनके आने पर मेरी ज्ञानदृष्टि का विकास है। मुझे इन्होंने कर्मनिर्जरा करने का मौका दिया है। ये दुःख न आते तो मेरी आत्मा को कायक्लेशादि तप या परीषह-सहन करने के कर्मनिरोधरूप संवर का लाभ कैसे मिलता? ये दुःख भी सदा रहने वाले नहीं हैं। रात्रि के बाद दिन की तरह दुःख के बाद सुख अवश्य आता है। अभी शीघ्र न आए तो भी कोई हर्ज नहीं, मुझे संवर-निर्जरारूप धर्म पर दृढ़ रहकर आत्मा को निर्मल, शुद्ध करने का अवसर अनायास ही मिला है। वैसे देखें तो सारा प्राणिजगत् इस बाह्य सुख-दुःख के झूले में झूलता रहता है। मुझे सांसारिक सुख-दुःखानुभव से पर-आत्मा के स्वाधीन अव्याबाध सुख के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए। इस प्रकार दुःख-मैत्री आत्म-मैत्री का कारण बनेगी।

अपने दुःखों का कारण स्व को मानिए

अपने दुःख का कारण अन्य को न मानकर स्व (आत्मा) को मानने से व्यक्ति में आत्म-विश्वास जागता है, आत्मा दुःख का निवारण करने में स्वयं समर्थ और

१. 'दुःखमुक्ति : सुखप्राप्ति' से भावांश ग्रहण, पृ. २२

स्वाधीन है। ऐसी अनुप्रेक्षा करने से दुःख निवारण करने में आने वाले प्रमाद, आलस्य, उपेक्षा, अरुचि आदि को मिटाकर व्यक्ति उत्साह और साहस के साथ दुःख से मुक्ति पाने का आध्यात्मिक पुरुषार्थ करता है, जो उसकी कर्मनिर्जरा का कारण बनता है। इससे आत्मा को शत्रु बनने से बचाकर मित्र बनाने में सफल होता है।

जब व्यक्ति दुःख का कारण किसी अन्य सजीव-निर्जीव पदार्थ को नहीं मानता, तब उसके जीवन में अपने शरीरादि आत्म-बाह्य पदार्थों के प्रति मोह तथा दूसरे निमित्तों के प्रति द्वेषभाव मिट जाता है। फलतः राग-द्वेष के कारण जो आत्म-मैत्री का दीपक बुझने वाला था, उसे वह प्रज्वलित रख पाता है। आत्म-मैत्री स्थापित होने से आत्मा में समता, क्षमता, निर्भयता, मृदुता, ऋजुता आदि गुणों का अनायास ही प्रादुर्भाव हो जाता है।

जब व्यक्ति अपने पर आये हुए किसी भी दुःख का कारण दूसरे को मान लेता है तो वह दुःख के मूल कारणों की खोज न करके पराश्रित, दीन-हीन होकर क्षुब्ध एवं निराश मन से दुःख भोगता रहता है, दुःख से मुक्त होने में वह स्वयं को असमर्थ मान लेता है। जिससे अपने आत्म-स्वरूप व आत्म-गुणों तथा आत्म-शक्तियों को वह भूल जाता है, यही अपनी आत्मा के प्रति शत्रुता है। इसके विपरीत, जब वह अपने पर आये हुए दुःख का कारण किसी दूसरे को न मानकर स्वयं को मानता है, तब दुःख के मूल 'दोषों' की खोज की ओर उसका ध्यान जाता है और स्वयं प्रबुद्ध होकर वह उन दोषों का त्याग करने में समर्थ हो जाता है। यह आत्मा के साथ मैत्री का उपक्रम है।

विपरीत परिस्थितियों में भी आत्म-मैत्री कायम रखने का उपाय

किसी आकस्मिक दुर्घटना, विपत्ति या दुष्परिस्थिति का हो जाना पूर्वकृत दुष्कर्मों का फल है, इसे टाल नहीं सकता। यदि वे पूर्वकृत दुष्कर्म जब सत्ता (अबाधाकाल) में शान्त पड़े थे, तभी बाह्य सुख की मोह निद्रा में न पड़कर व्यक्ति बाह्याभ्यन्तर तप, त्याग, प्रत्याख्यान, परीषह-विजय, कषाय-विजय, कामनाओं पर संयम आदि साधनाओं के द्वारा उन पूर्वकृत दुष्कर्मों का संवर-निर्जरा-उदीरणा आदि के द्वारा संक्रमण या उद्वर्तन कर लेता या क्षय कर लेता तो उन कर्मों को उदय में आने का और इतना कटु परिणाम भुगवाने का अवसर नहीं मिलता। फिर भी मान लो, पूर्वकृत दुष्कर्म उदय में आ गए और उनके कारण दुर्घटना, इष्ट-वियोग, विपत्ति या दुष्परिस्थिति आ पड़ी तो उस पर किसी का वश नहीं चलता, यह जानकर विवेकशील आत्म-मित्र साधक उस भयंकरतम परिस्थिति में भी स्वयं आर्त्तध्यान नहीं करता, दुःखी नहीं होता, अपितु भगवान महावीर ने दुःख

से विमुक्त होने का उपाय बताया है-"हे पुरुषार्थी मानव ! अपने आप का ही निग्रह कर। स्वयं के निग्रह से ही तू दुःख से मुक्त हो सकता है।" इस उपाय का अनुप्रेक्षण करते हुए दुःखद मानी जाने वाली परिस्थितियों से स्वयं को पृथक्, असंग मानकर, शान्ति और समाधिपूर्वक अपने आप का निग्रह कर लेता है। समभावपूर्वक सह लेता है। वह अनुप्रेक्षा करता है-सभी परिस्थितियाँ परिवर्तनशील हैं, आत्मा से 'पर' हैं और अनित्य हैं। वे आत्मा का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकतीं, बशर्ते कि वह राग-द्वेष या प्रियता-अप्रियता का भाव न लाकर समभाव से सह ले। इस सहिष्णुता से उसकी आत्म-शक्ति तो बढ़ेगी ही, वह प्रतिकूल परिस्थिति भी उसकी आत्मोन्नति का साधन बनेगी, साथ ही उसकी ज्ञाता-द्रष्टा बने रहने की क्षमता भी बढ़ेगी। इस प्रकार वह आत्म-निग्रह उसे दुःख को सुख में परिवर्तित करके दुःख मुक्त करेगा, कर्मनिर्जरा होने से भावी दुःखद कर्मफल से भी बचेगा। यह आत्म-शुद्धि आत्म-मैत्री स्थापित करने या कायम रखने में सक्षम होगी।[1]

जो भी परिस्थिति प्राप्त है, उसी का सदुपयोग कर आगे बढ़ना है

सुख-दुःख का कारण पर को, यानी किसी अन्य व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति आदि को मान लेने पर अनुकूल सुखद मानी हुई परिस्थिति, वस्तु, व्यक्ति आदि के प्रति रागभाव और प्रतिकूल व दुःखद मानी हुई परिस्थिति आदि के प्रति द्वेषभाव होने लगता है। राग-द्वेष और मोह के अन्धकार में व्यक्ति दूसरे के गुण-दोष का यथार्थ निर्णय नहीं कर पाता। दूसरों की अनुकूल परिस्थिति आदि से ईर्ष्या, द्वेष करने लग जाता है। यह आत्मा के प्रति द्रोह या शत्रुता है। आत्म-मैत्री का साधक अनुकूल मानी जाने वाली परिस्थिति प्राप्त न होने पर निराश होकर बैठा नहीं रहता और न ही अनुकूल परिस्थिति वाले से ईर्ष्या करता है और न अनुकूल परिस्थिति की प्राप्ति के लिए न्याय, नीति, धर्म आदि को ताक में रखकर सतत प्रयत्न करता है, किन्तु उसे जैसी परिस्थिति प्राप्त है, उसी का सदुपयोग करता है। जैसा कि भगवान महावीर ने कहा है-"सद्-असद् विवेकशाली पण्डित ! जो बीत गया सो बीत गया। शेष रहे जीवन को ही लक्ष्य में रखते हुए प्राप्त अवसर को परख। समय का मूल्य समझ।"[2] प्रतिकूल परिस्थिति भी कई बार उसके सत्प्रयत्नों से अनुकूल बन जाती है।[3]

---

१. (क) 'दुःखमुक्ति : सुखप्राप्ति' से भावांश ग्रहण, पृ. २४-२५

(ख) पुरिसा ! अत्ताणमेवाऽभिणिगिज्झ, एवं दुक्खा पमोक्खसि।

-आचारांग, श्रु. १, अ. ३, उ. ३, सू. ४०६

२. अणभिक्कंतं च वयं संपेहाए, खणं जाणाहि पंडिए। *-वही, श्रु. १, अ. २, उ. १*

३. 'दुःखमुक्ति : सुखप्राप्ति' से भावांश ग्रहण, पृ. २५

दुःख-मैत्री-साधक द्वारा संवर-निर्जरा धर्म का अनुप्रेक्षण

दुःखों के साथ मैत्री करने वाला साधक संवर-निर्जरारूप धर्म की अनुप्रेक्षा करता है और आ पड़े हुए दुःखों को समाधिपूर्वक सहन करता है। वह अनुप्रेक्षणात्मक चिन्तन करता है–(१) मैंने जो दुःखद फलदायक दुष्कर्म बाँधे हैं, उन्हें मुझे ही भोगना है। हँसते-हँसते बाँधे हुए कर्म, अब रोने-चिल्लाने से छूटने वाले नहीं हैं। अतः मुझे अपने द्वारा बाँधे हुए अशुभ कर्मों का फल हँसते-हँसते भोगकर उनसे छुटकारा पाना चाहिए। दोष दूसरे किसी का नहीं, मेरा ही है। भगवान महावीर कहते हैं–आत्म-ज्ञानी पण्डित को ऊँची-नीची किसी भी स्थिति में न हर्षित होना चाहिए, न कुपित।[1] (२) मुझ पर जो दुःख आ पड़ा है, इससे अनेक गुणा दुःख दूसरे अनेकों पर आया दिखाई देता है। उनकी अपेक्षा तो मेरा दुःख किसी बिसात में नहीं है। संस्कृत भाषा में कहावत है–"**दुःखे दुःखाधिकं पश्यं।**" अर्थात् अपने पर दुःख आ पड़े तो अपने से अधिक दुःखी को देखो, तो तुम्हें अपना दुःख अधिक नहीं लगेगा। उस दुःख को प्रसन्नतापूर्वक सहकर निर्जरा कर लोगे। (३) मैं आ पड़े हुए दुःख को मन पर लूँगा, तभी तो मुझे दुःखी करेगा न? मैं अपने दुःख को मन पर ही नहीं लाऊँगा। मैं उसे बिलकुल हलके रूप में लूँगा। नीतिकार का कहना है–दुःख निवारण की दवा यही है कि उस दुःख का बार-बार चिन्तन न करे। (४) मैंने पापकर्म तो इतने किये हैं कि उनकी अपेक्षा से मुझे दुःखरूप में सजा मिली है, वह बहुत थोड़ी है। मुझे अपने पापकर्मों के फलस्वरूप कैंसर की एक ही गाँठ हुई है, जबकि मेरे पाप के अनुपात में मुझे होनी चाहिए थीं सात-सात कैंसर की गाँठें; क्योंकि मेरे द्वारा जवानी में किये हुए कामवासना के पाप, व्यवसाय में विश्वासघात, मिलावट आदि के पाप तो अत्यन्त भयानक कोटि के थे। आज उन्हें याद करता हूँ तो मुझे अपनी शैतानी पर धिक्कार के भाव आते हैं। (५) आये हुए दुःख या आपत्ति के समय मुझे माता कुन्ती के द्वारा भगवान से माँगे हुए वे शब्द याद करने चाहिए–"**विपदः सन्तु नः शाश्वत्।**"–हम पर सदैव विपत्तियाँ आती रहें, ताकि हम भगवान को न भूलें और विपत्तियों को समभाव से सहने पर हमारी आत्मा में निहित शक्तियाँ प्रकट हों।[2]

अहंकारवश जीने वाले ये पापकर्म के प्रति निःशंक लोग

सामान्य बेसमझ अदूरदर्शी व्यक्ति अथवा बड़े-बड़े सत्ताधीश, धनपति, राजनीतिज्ञ, योद्धा अथवा प्रसिद्ध भ्रष्ट शासक या पदाधिकारी निर्भय, निश्चिन्त

---

१. तम्हा पंडिए नो हरिसे, नो कुप्पे। —*आचारांग १/२/३*

२. (क) 'देवाधिदेवनुं कर्मदर्शन' (पं. मुनि श्री चन्द्रशेखरविजय जी) से भाव ग्रहण, पृ. ४७

(ख) भैषज्यमेतद् दुःखस्य यद्दुःखं नानुचिन्तयेत् ।

और अहंकारमग्न या गफलत में रहते हैं कि हमारा बहुत दबदबा है, सुख के सभी साधन मौजूद हैं, आनन्द से जी रहे हैं, हमें कौन दण्ड देने वाला है या हम अभी तो इतना सब पापकर्म, बेईमानी, अत्याचार, अनाचार करके भी सुख से जी रहे हैं, जीएँगे। इसीलिए भगवान महावीर ने कहा है–अज्ञानी आत्मा पाप करके भी उस पर अहंकार करता है।[1]

पापकर्म उदय में आने पर उन्हें नानी याद आ जाती है

यही ठीक है कि पूर्वबद्ध जब तक सत्ता (अबाधाकाल) में पड़ा रहता है, तब तक वह शान्त रहता है, सोया रहता है, कुछ भी नहीं कर पाता, इस कारण उपर्युक्त टाइप के अधिकांश लोग इस मुगालते में रहते हैं कि हम चाहे जितने पाप करें, हमारा कुछ भी बिगड़ने वाला नहीं है। परन्तु जब वे पूर्वबद्ध पापकर्म उदय में आते हैं, तब अकल्पनीय दुःख आकर सहसा टूट पड़ते हैं। उस समय बड़े-बड़े सुभटों, सत्ताधीशों या धनाढ्यों आदि के छक्के छूट जाते हैं। लाखों लोगों को अपनी मुट्ठी में रखने वालों की इतनी दयनीय दुर्दशा कर्मोदय कर डालता है कि वह उस समय कुछ भी नहीं कर पाता और हायतोबा मचाता हुआ रोते-रोते अगले दुर्गति लोक के लिए प्रस्थान करता है।

पापकर्मियों की अन्तिम समय में करुण मृत्यु से बोधपाठ लो

सिकन्दर ने लड़ाई करके आधी दुनियाँ जीतकर कब्जे में कर ली थी और आधी दुनियाँ की सम्पत्ति इकट्ठी कर ली थी, लेकिन अन्तिम समय में जब वह इस दुनियाँ से कूच करने वाला था, अपने दरबारियों से पूछा–"क्या यह जीती हुई जमीन, सम्पत्ति आदि वस्तुएँ परलोक में मेरे साथ जा सकेंगी?" इस पर दरबारियों ने कहा–"हजूर ! परलोक में आपके साथ बिलकुल नहीं जायेंगी। एक धागा भी नहीं चलेगा आपके साथ।" इस पर सिकन्दर बहुत रोया, बहुत पछताया और अन्त में आर्त्तध्यान करता-करता मरा। "काले लोगों को कालों के साथ लड़ाकर इस पृथ्वी पर से उनका नामोनिशान मिटा दो", इस प्रकार का आदेश देने वाले 'डलेस' को जब कैंसर रोग हुआ, तब वह अत्यन्त घबराया। उसने उस भयंकर रोग के निवारण के लिए एक लाख डॉलर के इनाम की घोषणा की थी। परन्तु कोई भी उसके इस भयंकर रोग को न मिटा सका। अन्त में, वह बेचारा रिब-रिबकर मर गया। भयंकर तानाशाह और अनेकों निर्दोष लोगों को मृत्यु के मुख में पहुँचाने वाले हिटलर दुःख के शिकंजे में पड़ने पर आत्महत्या करके मरा। ईरान के अत्याचारी शाह ने करुण दशा में मृत्यु प्राप्त की। भयंकर युद्ध जैसे

---

१. बाले पापेहिं मिज्जती। *–सूत्रकृतांग १/२/२/२१*

दुष्कर्म करने वाला मगधेश्वर कोणिक देव प्रकोप से भस्म हो गया। अपने भोग-विलास में मस्त और दूसरों पर अन्याय-अत्याचार करके जीने वाले अबोधिग्रस्त सुभूम और ब्रह्मदत्त चक्री जैसे छह खण्ड के साम्राज्य के मान्धाता बुरी मौत मरकर नरक के मेहमान बने। सच है जो दूसरों का परिभव (तिरस्कार) करता है, वह दीर्घकाल तक संसाररूपी अटवी में भटकता है।[1]

दुर्योधन जैसा अन्यायी अनीतिमान् व्यक्ति दुःखद वेदना से तड़फ-तड़फकर मरा। रावण जैसा अहंकारी और कामवासना से अतृप्त मानव युद्ध में भूलुण्ठित हो गया। कैसे-कैसे खूँख्वार तथा निःशंक होकर पापकर्म करने वाले वे लोग ![2] उन्होंने पापकर्म करते समय उनके दुःखद फल पाने का विचार तक नहीं किया, निःशंक और अहंकारी होकर पापकर्म करने में रत रहे। उनका पश्चात्ताप भी नहीं किया परन्तु उनकी मौत कितनी दुःखद हुई ! इस पर गहराई से चिन्तन किया जाय तो दुःखों के साथ मैत्री करने वाला अपने अनचाहे दुःख के निवारण और मनचाहे सुख को पाने के लिए दूसरों को दुःख नहीं देता, विपत्ति, त्रास, पीड़ा और व्यथा में नहीं डालता ! 'आचारांग निर्युक्ति' में कहा गया है—जो लोग अपने सुख की खोज में रहते हैं, वे दूसरों को दुःख पहुँचाते हैं।[3]

ऐसे मान्धाताओं को विपत्ति या स्वयं पर आ पड़े हुए दुःखद फल के समय चेत जाना चाहिए था कि अब हमारे द्वारा किये हुए अशुभ कर्मों का उदय या विपाककाल शुरू हो गया है। इसलिए हमें समभाव, शान्ति और धैर्य के साथ उसे सहन कर लेना चाहिए। परन्तु उन्हें ऐसे समय तीव्र मोहकर्म के उदय के कारण सद्बुद्धि आये कहाँ से ? परन्तु उस समय वे अपने अभिमान में छके रहते हैं कि हमें पापकर्मों का दण्ड देने वाला कौन है ? हिरण्यकश्यपु अपने आप को सर्वसत्ताधीश ईश्वरतुल्य मानता था ! प्रह्लाद जैसे प्रिय पुत्र को अपने से विपरीत शुद्ध विचार प्रकट करते हुए रोककर उसने उसकी हत्या कराने के कितने भयंकर उपाय आजमाए थे ? आखिर उसे स्वयं को क्रूर काल के पंजे में फँसना पड़ा। अतः कैसी भी प्रतिकूलता हो, अनचाही परिस्थिति हो, मनचाहा कार्य न होता हो या किसी अशुभ कर्म के उदय के कारण दुःख या पीड़ा आ पड़ी हो, उस समय दुःख-मैत्री का साधक अनुप्रेक्षापूर्वक चिन्तन करे और उस दुःखद मानी जाने वाली परिस्थिति, पीड़ा या विपत्ति के समय आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान न करे तो उसकी वह पीड़ा या

---

१. जो परिभवइ परे जणं, संसारे परिवत्तई महं। —*सूत्रकृतांग १/२/२/१*

२. 'देवाधिदेवनुं कर्मदर्शन' से भाव ग्रहण, पृ. ४६

३. (क) वही, पृ. ४७

(ख) सायं गवेसमाणा, परस्स दुक्खं उदीरंति। —*आचारांग निर्युक्ति ९४*

विपत्ति उतनी दुःखद नहीं प्रतीत होती और समभाव से भोग लेने से संवर-निर्जरा का कारण भी बन जाती है। इसी दृष्टि से भगवान महावीर ने कहा-"जो भी दुःख हो, साधक उसे प्रसन्न मन से सहन करे। कोलाहल न करे।" इसके विपरीत हायतोबा मचाने, चिल्लाने या विलाप करने से दुःख या पीड़ा तो घटती नहीं, कर्म भी कटते नहीं, प्रत्युत नये अशुभ तीव्र कर्म और बँध जाते हैं। इससे दुःख के साथ तो अमैत्री होती ही है, जो आत्मा के प्रति भी शत्रुता को भी आमंत्रित करती है।

अतएव पूर्वोक्त प्रकार की चिन्तन-शैली को विकसित कर लेने से कोई भी वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति या अवस्था दुःख के साथ मैत्री करने वाले आत्म-मित्र के लिए दुःखरूप नहीं बन सकेगी। 'उत्तराध्ययन' में कहा गया है-"मन और इन्द्रियों के विषय, रागात्मा को ही दुःख के हेतु होते हैं। वीतराग को तो वे किंचित्मात्र भी दुःखी नहीं कर सकते।"[१]

क्योंकि कोई भी वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि अपने आप में सुख या दुःख का कारण नहीं है। मन ही राग-द्वेष से युक्त होकर उनमें सुख-दुःख की कल्पना करता है। 'प्रवचनसार' में कहा गया है-"जिसकी दृष्टि ही स्वयं अन्धकार का नाश करने वाली है, उसे दीपक क्या प्रकाश देगा? इसी प्रकार जब आत्मा स्वयं सुखरूप है तो उसे विषय क्या दुख देंगे? फिर जो सुख इन्द्रियों से प्राप्त होता है, वह पराश्रित, बाधासहित, विच्छिन्न, बन्ध का कारण तथा विषय होने से वस्तुतः सुख नहीं, दुःख ही है।"[२] 'आचारांग' में तो स्पष्ट कहा गया है-"जिन भोगों या वस्तुओं से सुख की आशा रखते हो, वास्तव में वे सुख के हेतु नहीं हैं।"[३]

सुख के प्रचुर साधन होने से कोई सुखी नहीं हो जाता

अतः सुख के साधन या भोगों के साधन कितने ही अधिक हों, उनसे सुख प्राप्त नहीं होता। आज बड़े-बड़े सत्ताधारियों, व्यापारियों, नेताओं या अभिनेताओं के पास

---

१. एविंदियत्थाय मणस्स अत्था, दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो।
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं, न वीतरागस्स करेंति किंचि ॥ —उत्तरा. ३२/१००

२. (क) 'देवाधिदेवनुं कर्मदर्शन' से भाव ग्रहण, पृ. ४७
(ख) सुमणे अहियासेज्जा, न य कोलाहलं करे। —सूत्रकृतांग १/९/३१

३. (क) 'दुःखमुक्ति : सुखप्राप्ति' से भाव ग्रहण, पृ. २५
(ख) तिमिरहरा जइ दिट्ठी, जणस्स दीवेण णत्थिकायव्वं।
तह सोक्खं सयमादा, विसया किं तत्थ कुव्वंति?
सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहिं लद्धं, तं सोक्खं दुक्खमेव तहा॥ —प्रवचनसार १/६७, १/७६
(ग) जेण सिया, तेण नो सिया। —आचारांग १/२/४

करोड़ों की सम्पत्ति तथा सुखभोग के प्रचुर साधन होते हुए भी वे सुखी नहीं हैं। उनके जीवन में प्रायः तनाव, चिन्ता, भय, अशान्ति, अनिद्रा आदि दुःख प्रचुर मात्रा में हैं। उनके अधिक सुखी और निश्चिन्त वह त्यागीवर्ग है, जिसके पास बहुत ही कम साधन हैं और जिसे भोगों के साधनों को प्राप्त करने की स्पृहा नहीं है।

दुःख वस्तुओं के अभाव में नहीं, कामनोत्पत्ति में है

अतः यह अनुभूत तथ्य है कि दुःख वस्तुओं के अभाव में नहीं है, वस्तुओं को पाने की कामना जब से उत्पन्न होती है, तभी से दुःख प्रारम्भ होता है। इससे सिद्ध होता है कि इच्छाकाम और मदनकाम दोनों ही प्रकार के कामों को पहले बताई हुई अनुप्रेक्षाओं के द्वारा निरुद्ध कर दिया जाय अथवा उन कामनाओं का स्वेच्छा से त्याग कर दिया जाए और अपनी आत्मा में निहित स्वाधीन-सुख को ढूँढ़ा जाए तो आत्मा के साथ मैत्री कायम रह सकेगी। जीवन-निर्वाहोचित भोग्य वस्तुओं का किसी कामना–स्पृहा के बिना उपभोग करने पर भी वे वस्तुएँ कर्मबन्ध का कारण और भविष्य में दुःख का कारण नहीं बन सकेंगी। इसीलिए 'समयसार' में कहा गया है–"कर्मबन्ध वस्तु से नहीं, राग-द्वेष के अध्यवसाय से होता है। ज्ञानी आत्मा (अन्तर में रागादि न होने के कारण) विषयों का सेवन करता हुआ भी सेवन नहीं करता। जबकि अज्ञानी आत्मा (अन्तर में रागादि होने से) विषयों का सेवन नहीं करता हुआ भी (अन्तर में उन्हें पाने की लालसा का स्वेच्छा से त्याग न होने के कारण) सेवन करता है।" निष्कर्ष यह है–मनोज्ञ–मनचाही वस्तुओं, व्यक्तियों, परिस्थितियों को प्राप्त करने की कामना का अन्तर से त्याग न करने से उन्हें पाने की कामना–लालसा से अभाव का दुःख बना रहेगा। इसीलिए 'दशवैकालिकसूत्र' में कहा गया है–"कामनाओं (कामों) को दूर करो (मन से उनको पाने की लालसा न करो) क्योंकि कामना ही दुःख का कारण है।"[1]

संसार में अनेक प्रकार के दुःख, उनके विभिन्न रूप और प्रकार

संसार में अनेक प्रकार के दुःख हैं। शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि जीवन के जितने भी अंग या क्षेत्र हैं, उनमें प्रत्येक में नानाविध दुःख हैं। शारीरिक दुःखों में जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त जितनी भी अवस्थाएँ या परिस्थितियाँ तथा भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी,

---

१. (क) 'दुःखमुक्ति : सुखप्राप्ति' से भावांश ग्रहण, पृ. १२

(ख) णय वत्थुदो दु बंधो, अज्झवसाणेण बंधोऽत्थि। —*समयसार* २६५

(ग) सेवंतो वि ण सेवइ, असेवमाणो वि सेवगो होइ। —*वही* १९७

(घ) कामे कमाही, कमियं खु दुक्खं। —*दशवैकालिकसूत्र* २/३

बुढ़ापा, मृत्यु, शरीर की दुर्बलता, मोटापा तथा अनेक रोग आदि हैं। मानसिक दुःखों में तनाव, हीनभाव, उद्विग्नता, अशान्ति, बेचैनी, चिन्ता, शोक, भय, वियोग आदि नाना दुःख हैं तथा राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, कपट, अहंकार, मद, मत्सर आदि दुःखों की परिगणना आध्यात्मिक दुःखों में की जाती है तथा अतिस्वार्थ, ईर्ष्या, कलह, संघर्ष, छीनाझपटी, अभाव, चोरी, डाका आदि दुःखों की गणना पारिवारिक व सामाजिक दुःखों में की जाती है। इसी प्रकार आर्थिक तथा राजनैतिक क्षेत्र में भी घाटा, अर्थ की कमी, अकाल, बाढ़, भूकम्प, लूट, डाका, धोखाधड़ी आदि दुःखों का समावेश है।[1]

समस्त दुःखों के मूल कारण और उनके निवारण के दो मुख्य उपाय

इन और ऐसे ही समस्त दुःखों का मूल कारण तो पूर्वकृत अशुभ कर्मों का उदय है। इन समस्त दुःखों को दूर करने के दो मुख्य उपाय हैं–(१) कर्मबन्ध के मूल कारण–वस्तु आदि के प्रति राग, द्वेष, कषाय आदि का निरोध किया जाए। (२) कर्मोदयवश दुःख आ पड़े तो समभावपूर्वक सहन करके उन कर्मों (कर्मजनित दुःखों) का क्षय किया जाए। पहले कहा जा चुका है कि ये सारे दुःख राग-द्वेषयुक्त मन से कल्पित हैं। इस मनःकल्पित दुःख और सुख की परिभाषा है–प्रतिकूलता का वेदन (अनुभव) करना दुःख है और अनुकूलता का वेदन करना सुख है।

सुख और दुःख राग और द्वेष के कारण : क्यों और कैसे ?

गहराई से देखा जाए तो सुख और दुःख का यह सारा द्वन्द्व राग और द्वेष के कारण होता है, जो किसी व्यक्ति, वस्तु, घटना, परिस्थिति या अवस्था को लेकर होते हैं। मनोऽनुकूल वस्तु या व्यक्ति के पाने पर सुखी होना उस कल्पित सुख में आसक्त होना सुख का भोग है और मनःप्रतिकूल वस्तु या व्यक्ति के मिलने पर दुःखी होना, उस दुःख के प्रति अरुचि या घृणा होना दुःख का भोग है। सुख के भोग से राग और दुःख के भोग से द्वेष होता है। पूर्व कर्मोदयवश आ पड़े हुए दुःख या दुःख के कारणों से उपस्थित या मनःकल्पित दुःख को नहीं चाहने अथवा उसे शीघ्र मिटाने का भाव द्वेष है और पूर्वकर्मोदयवश प्राप्त सुख को चाहने, स्थायी रखने, सुख के मनःकल्पित कारणों या साधनों को बनाये रखने का भाव राग है। कामना, वासना, ममता, तृष्णा, इच्छा, लिप्सा, लालसा आदि सब राग के ही पर्याय हैं, तथैव घृणा, अरुचि, रोष, वैर-विरोध, ईर्ष्या, असन्तोष, शीघ्र दूर करने की इच्छा, उच्चाटन, मारण, नाश करना, हानि पहुँचाने की भावना आदि सब द्वेष के पर्याय हैं। वस्तुतः राग और द्वेष ही दुःख के मूल कारण हैं।

---

१. 'दुःखमुक्ति : सुखप्राप्ति' से भाव ग्रहण, पृ. ४

राग-द्वेष का क्षय करना ही एकान्त मोक्ष-सुख का कारण

इसीलिए भगवान महावीर ने एकान्त आत्मिक सुख के लिए अपनी अन्तिम देशना में कहा-"राग और द्वेष के सम्यक् प्रकार से क्षय करने से आत्मा (सर्वकर्ममुक्तिरूप) एकान्त सौख्यरूप मोक्ष को प्राप्त कर पाता है।"[1]

निष्कर्ष यह है कि वस्तुओं या व्यक्तियों के प्रति राग-द्वेषयुक्त सम्बन्ध जोड़ना ही बन्ध है, दुःख का कारण है। जहाँ राग है, वहाँ द्वेष अवश्य होता है। राग की पूर्ति में बाधा पड़ना ही द्वेष या दुःख का कारण है।

दुःखों के साथ मैत्री का फलितार्थ : वीतरागभाव या समभाव

इसलिए दुःखों के साथ मैत्री का फलितार्थ है-दुःख या मनःकल्पित सुख में तटस्थभाव, मध्यस्थभाव या उपेक्षाभाव रखना। इसी को शास्त्रीय भाषा में वीतराग-भाव या समभाव कहा गया है। भगवान महावीर ने वीतरागभाव की उपलब्धि का लाभ बताते हुए कहा-"वीतरागभाव से सम्पन्न जीव सुख और दुःख में समभाव रखने वाला होता है।" अर्थात् जहाँ वीतरागभाव होगा, वहाँ सुख दुःख में, हानि लाभ में, सम्मान अपमान में, विभिन्न संयोगों-वियोगों में, अनुकूलता और प्रतिकूलता में, निन्दा प्रशंसा में समभाव, तटस्थता, मध्यस्थता या उपेक्षाभाव अवश्य होता है।

सम्भव है, पूर्ण वीतरागता एकदम न प्राप्त की जा सके, किन्तु आंशिक वीतरागता तो सम्यग्दृष्टि साधक प्राप्त कर ही सकता है। मेले-ठेलों में हजारों प्रकार के मनोज्ञ-अमनोज्ञ सामानों की दुकानें लगी रहती हैं, अनेक अच्छे-बुरे लोग भी मिलते हैं, किन्तु उनके प्रति तटस्थभाव या उपेक्षाभाव या समभाव होने से व्यक्ति उनसे प्रभावित नहीं होता, न राग करता है, न द्वेष। इसलिए सुखासक्त या दुःख प्रभावित नहीं होता। इसी तरह संसार के मेले में अनेक वस्तु या व्यक्तियों से, घटना और परिस्थितियों से वास्ता पड़ने पर भी हम तटस्थ, समस्थ रहें तो सुख-दुःख के भोग से अलिप्त रहा जा सकता है। यही आत्मा के साथ मैत्री का ठोस उपाय है।[2]

---

१. (क) 'दुःखमुक्ति : सुखप्राप्ति' से भाव ग्रहण, पृ. १२

(ख) रागो य दोसो वि य कम्म बीयं। —*उत्तरा. ३२/७*

(ग) रागस्स दोसस्सय संखएणं, एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं। —*वही ३२/२*

२. (क) वीयराग-भाव-पडिवन्ने वि य णं जीवे समसुहदुक्खे भवई। —*वही, अ. २९, बोल ३६*

(ख) लाभालाभे सुहेदुक्खे जीविए-मरणे तहा।
समो णिंदा-पसंसासु तहा माणावमाणओ॥ —वही १९/९०

चार दुःखों में अन्य सभी दुःखों का समावेश

'उत्तराध्ययनसूत्र' में मुख्यतया चार दुःखों का उल्लेख भगवान महावीर ने किया है–जन्म, जरा (बुढ़ापा), रोग और मृत्यु, ये चार दुःख हैं। इन चारों दुःखों को बार-बार भोगने (वेदन करने) के कारण संसारी जीव क्लेश पाते हैं। अर्थात् पूर्वबद्ध अशुभ कार्य के उदय से आर्त्तध्यान करते हुए जीव अशुभ फल भोगते हैं, दुःखानुभव करते हैं। अगर इनके साथ मैत्री स्थापित कर ली जाए तो उस दुःख को समभाव से भोगने पर वही दुःख सुखरूप में परिणत हो सकता है। साथ ही कर्मों की निर्जरा भी हो सकती है। 'पंचास्तिकाय' में कहा गया है–"जिस साधक का किसी भी (सजीव-अजीव) द्रव्य के प्रति राग, द्वेष और मोह नहीं है, जो सुख-दुःख में समभाव रखता है, उसे न पुण्य का आस्रव होता है और न पाप का।" अर्थात् वह समभाव से भावित होने से कर्मनिर्जरा कर लेता है।

पहले अनेक प्रकार के जो दुःख गिनाये हैं, उनमें से शरीर-सम्बन्धी प्रतिकूल स्थितियों का जन्म दुःख में तथा शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक रोगों का रोगरूप दुःख में तथा अवशिष्ट दुःखों का जरा और मरणरूप दुःख में समावेश हो जाता है। अब हमें यह देखना है कि रोग, बुढ़ापा, मृत्यु, वर्तमान जीवन आदि दुःखों के साथ किस-किस प्रकार की अनुप्रेक्षा, भावना या आराधना करके मैत्री स्थापित कर सकते हैं, जो आत्म-मैत्री में सहायक हो।[1]

जन्म दुःखमय है, इसे सुखमय बनाने हेतु जन्म-मरण का अन्त करो

जन्म के समय शिशु को दुःख की अनुभूति नहीं होती। उसको जन्म देने वाली माता को होती है। वैसे जन्म और मरण दुःख के ही कारण हैं। अगर जन्म-मरण के दुःख को मिटाना है, सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप की शुद्ध साधना करके कर्मों का क्षय कर ले तो फिर जन्म-मरण से आत्मा मुक्त हो जाती है।

आध्यात्मिक दृष्टि से जन्म के दुःख के साथ बाल्य, युवा और वृद्धावस्था ये तीनों अवस्थाएँ लगी हुई हैं, साथ ही रोग, विपत्ति, संकट, असुरक्षा, इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग, मृत्यु आदि दुःख भी इसके साथ संलग्न हैं। अतः जन्म परमार्थतः दुःखमय है। इसे सुखमय बनाने हेतु जन्म-मरण का अन्त करना या कर्मास्रवनिरोध या कर्मनिर्जरा करके उसे अल्प करना अनिवार्य है।

---

१. (क) जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं रोगाणि मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसंति जंतवो॥ *–उत्तराध्ययन, अ. १९, गा. १५*

(ख) जस्स ण विज्जदि रागो, दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु।
णासवदि सुहं असुहं, समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स॥ *–पंचास्तिकाय १४२*

रोगादि दुःखों को मित्र बनाने की पद्धति

रोग, व्याधि या बीमारी के समय आत्मा योगों की चंचलता, राग-द्वेषादि-युक्तता के कारण अपने स्वभाव को छोड़कर आर्त्तध्यान या राग-द्वेष-मोह या कषाय के कारण दुःखी होती है। अतः रोग या व्याधि के आने पर उसके साथ मैत्री स्थापित करने की पद्धति यह है कि रोगादि आने पर उनसे भयभीत मत बनो; चिन्ता मत करो। यह सोचो कि यह रोग किसी पूर्वकृत अशुभ कर्म के फलस्वरूप आया है। यह इसलिए आया है कि तुम अपने पूर्वकृत कर्मों के फल को समभाव से, शान्ति से, ज्ञानबल से, ज्ञाता-द्रष्टा बनकर धैर्यपूर्वक भोगकर सकामनिर्जरा (उक्त कर्मों को क्षय) करके आत्मा को शुद्ध बना सको। अतः रोग हमारा मित्र है, अतिथि है। आगन्तुक अतिथि का स्वागत किया जाता है, उसे रहने के लिए स्थान दिया जाता है। रोग या व्याधि भी एक प्रकार की अतिथि है, उसका स्वागत करना चाहिए। रोग के साथ जब व्यक्ति मैत्री का दृष्टिकोण बना लेता है तो दुःख, पीड़ा या कष्ट का अनुभव सुख और शान्ति में परिणत हो जाता है। इसके दो परिणाम एक साथ निष्पन्न होते हैं—एक ओर से—रोग को कष्ट देने वाला या बुरा करने वाला न मानकर अपने लिये कर्म के कर्ज को चुकता कराके आत्मा को शुद्ध कराने में निमित्त समझा जाता है, ऐसा करने से आर्त्तध्यानवश नये कर्म का बन्ध नहीं होगा; दूसरी ओर से—स्वकृत कर्मों के उक्त रोगरूप फल को समभाव से, शान्ति से भोग लेने पर निर्जरा (कर्मक्षय) होगी। रोग को अपना बुरा न करने वाला कैसे समझा जाए?[१] व्याधि या तज्जनित पीड़ा आते समय अच्छी नहीं लगती, परन्तु जब व्याधि चली जाती है, उसकी पीड़ा मिट जाती है, तब वह बहुत अच्छी लगती है। प्राकृतिक चिकित्सा का सिद्धान्त है कि ज्वर, रोग या कष्ट शरीर में तभी होता है, जब विजातीय विषाक्त तत्त्व शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। रोग उसकी चेतावनी देने तथा शरीर में संचित उस विषाक्त तत्त्व को बाहर निकालकर सफाई करने आता है। शरीर के विजातीय विषाक्त तत्त्वों को हटाकर शुद्ध करने वाले रोग को शत्रु माना जाएगा या मित्र? ठीक है, वह आते समय कष्ट देता है, परन्तु थोड़ा-सा कष्ट देकर क्या वह (रोग) जाते समय सुख की अनुभूति नहीं कराता? दुःख देने वाले सभी शत्रु नहीं होते, न ही सुखद प्रतीत होने वाले सभी मित्र होते हैं। शत्रु और मित्र की पहचान उसकी प्रवृत्ति के परिणाम से होती है। डॉक्टर जब ऑपरेशन करते समय पेट चीरता है, तब अच्छा नहीं लगता, किन्तु जब रोगी स्वस्थ हो जाता है, उसके शरीर से विजातीय एवं विषाक्त तत्त्व निकालकर वह शरीर को शुद्ध कर देता है, तब कितना अच्छा लगता है? एक

---

१. 'जीवन की पोथी' (युवाचार्य महाप्रज्ञ) से भाव ग्रहण, पृ. २४-२५

व्यक्ति की पाचन शक्ति दुर्बल है, उसे मिष्टान्न खाने में सुखाभास होता है, किन्तु खाने के बाद अजीर्ण, गैस, अम्ल-पित्त आदि विकार पैदा हो जाता है, क्या उसके लिए मिष्टान्न अच्छा माना जाएगा? कभी नहीं। फलितार्थ यह है–जो अपने जाने के बाद अच्छाई छोड़ जाता है, वह हमारे लिए हितकारी मित्र का काम करता है; इसके विपरीत, जो जाने के बाद हमारे लिए बुराई छोड़ जाता है, वह शत्रु का काम करता है। रोग आते समय भले ही दुःखकर लगे, परन्तु जाने के बाद सुखकर लगता है, अतः रोग को हम हितकर समझकर उसे मित्र की दृष्टि से देखें तो वह हमारे जीवन के लिए कल्याणकारी, सुखद और मित्र ही सिद्ध होगा।[१]

रोग के साथ मैत्री करने के लिए चिन्ता आदि से छुटकारा

अब प्रश्न यह है कि रोग के साथ मैत्री कैसे की जाए? उसके लिए क्या-क्या साधक उपाय हैं? रोग के साथ मैत्री करने के लिए सर्वप्रथम तीन बातों से छुटकारा पाना जरूरी है–(१) चिन्ता, (२) भय, और (३) तनाव। किसी-किसी रोग का नाम सुनते ही व्यक्ति चिन्ता में पड़ जाता है, वह सिहर उठता है। टी. बी., कैंसर, दमा, मधुमेह आदि रोगों का आजकल बहुत दौरदौरा है। टी. बी., कैंसर, दमा, मधुमेह आदि रोग अब असाध्य नहीं रहे। मनुष्य इनके कारणों से पहले तो दूर रहे, खान-पान और रहन-सहन में सादगी रखे, संयम से रहे तथा परहेज रखे तो एकाएक बीमारी नहीं आती। कदाचित् पूर्वकृत कर्मोदयवश रोग आ भी जाए तो व्यक्ति चिन्ता, तनाव से दूर रहे, डरे नहीं। उचित शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक (ऑटो सजेशन) आदि उपचार करे तो दवा की अपेक्षा उनसे जल्दी ठीक होता है। चिन्ता और भय से ग्रस्त व्यक्ति जरा-सी पीड़ा या व्याधि को मन पर अधिक ले लेता है। पीड़ा होती है–पाँच प्रतिशत, उसे महसूस कर लेता है–पचास प्रतिशत। चिन्ता के कारण मस्तक में तनाव हो जाता है। भविष्य की अनिष्ट कल्पनाओं में डूबकर व्यक्ति भय के मारे काँपने लगता है। इससे व्यक्ति रोग के साथ स्वाभिमुखी मैत्री न होकर पराभिमुखी मैत्री (दोस्ती) कर लेता है। उसकी बीमारी, दुःख, पीड़ा बढ़ती जाती है और इन तीनों से मुक्त रहे तो व्यक्ति को पचास प्रतिशत बीमारी या उसकी पीड़ा पाँच प्रतिशत जितनी भी महसूस नहीं होगी।

अभय और निश्चिन्तता से आत्माभिमुखी मैत्री

अभय से, निश्चिन्तता से और घुटन न करने से रोग और पीड़ा के साथ आत्माभिमुखी मैत्री स्थापित की जा सकती है। कई दफा हम स्वयं अनुभव करते हैं

---

१. 'जीवन की पोथी' से भावांश ग्रहण, पृ. २६-२७

कि भयंकर पीड़ा, कष्ट या बीमारी होते हुए भी दृढ़ आत्म-विश्वास के धनी कई व्यक्ति उसकी कोई परवाह नहीं करते। वे परमात्म-भक्ति में या अपने इष्टदेव की भक्ति में इतने मग्न रहते हैं, बीमारी उनका कुछ भी बिगाड़ न सकी, बल्कि इष्टदेव के साथ तन्मय हो जाने से उनकी बीमारी भी समाप्त हो गई। अशुभ कर्म शुभ में परिणत हो गया।[1]

दृढ़ आस्थापूर्वक जप से कैंसर रोग मिट गया

आज से लगभग ४९ वर्ष पहले की सन् १९४५ की घटना है। जामनगर के श्री गुलाबचन्दभाई को गले और जीभ का कैंसर हो गया था। जिसके कारण गला अत्यन्त सिकुड़ जाने से पानी पीना भी कठिन हो गया। बम्बई के टाटा मेमोरियल होस्पिटल में भर्ती हो गए थे। डॉक्टर मोदी ने सभी प्रकार के टेस्ट करके बतलाया कि आपकी बीमारी आखरी स्टेज पर पहुँच गई है। घर जाओ और आराम से रहो। गुलाबचन्दभाई घर आए। निराशा में आशा का संचार हुआ। सोचा—मृत्यु तो एक दिन आएगी ही, परन्तु मैं पंचपरमेष्ठी भगवन्तों का नाम जपते-जपते शुभ भावना में जाऊँ तो मेरी सद्गति तो हो जाएगी। उन्होंने परिवार के सब लोगों से क्षमायाचना की। सब जीवों से क्षमा माँगी और सर्व जीवों के कल्याण, मंगल और सुख की भावना करके परमेष्ठी मंत्र का जाप करने बैठ गए। जाप में एकाग्र होने से पीड़ा की अनुभूति कम हो गई। सभी सांसारिक इच्छाएँ समाप्त-प्राय हो गईं। एकमात्र पंचपरमेष्ठी भगवन्तों के प्रति अनन्त आस्था में तन्मय हो गए। रात्रि के कोई ग्यारह बजे जोरदार वमन हुआ। शरीर में से विषाक्त रक्त निकल गया। पूरा तसला भर गया। आस्थापूर्वक नामस्मरण से कैंसर का विषाक्त रोग मानो समाप्त हो गया। तबियत हल्की हुई। पानी पिया। उनकी माँ ने प्याला भर दूध दिया, वह भी पी लिया। उस रात को अच्छी नींद आ गई। चार-पाँच दिनों में तो तरल पदार्थ और पौष्टिक खुराक भी खाने-पीने लगे। नवकार मंत्र पर आस्था दृढ़ हुई। डॉक्टरों को भी आश्चर्य हुआ। परन्तु गुलाबचन्दभाई के द्वारा दृढ़ विश्वास दिलाने पर उन्हें भी इष्टदेव के प्रति दृढ़ आस्था से रोग-निवारण और रोग के साथ मैत्री के अमुक प्रभाव को देखकर मानना पड़ा।[2]

यह था प्रभु-स्मरण के प्रति दृढ़ आस्था का अचिन्त्य प्रभाव, जिसके कारण असाध्य समझे जाने वाले रोग भी समाप्त हो जाते हैं।

---

१. 'जीवन की पोथी' से भावांश ग्रहण, पृ

२. *'मृत्युंजय णमोकार' से सार संक्षेप*

आस्था के साथ भावना से रोग के साथ मैत्री स्थापित होती है

आस्था के साथ भावना का तार भी जुड़ा हुआ होना चाहिए। भावना के प्रभाव से रसायन भी बदल जाते हैं। तपस्वी और संयमी संतों के वचन से भी रोग मिट जाते हैं, उनके चरणों की धूल से भी रोग और दुःख मिट जाते हैं। कहते हैं—परम प्रतापी पूज्य आचार्य श्री हुक्मीचन्द जी महाराज के चरणों की धूल शरीर पर लगाने से एक भाई का कुष्ट रोग मिट गया था। मेरे दादागुरु श्री ज्येष्ठमल जी महाराज की चरण-रज लगाने से अंधा व्यक्ति भी देखने लग गया था। यह सब भावनाओं का चमत्कार है।[1] शुभ भावना से आस्थापूर्वक आत्म-संकेत से भी टी. बी. जैसे भयंकर रोग मिट जाते हैं। गुजरात के प्रसिद्ध संत पुनीत को आस्थापूर्वक भगवन्नाम-स्मरण से टी. बी. रोग समाप्त हो गया था। प्रभु नाम के अनन्य आस्थापूर्वक स्मरण से रोग के प्रति ध्यान हट जाता है। फलतः रोग स्वतः ही भाग जाता है।

संकल्प-बल भी रोग के साथ मैत्री का अद्‌भुत उपाय

संकल्प-बल भी रोग के साथ मैत्री करने का अद्‌भुत उपाय है। अनाथी ने असह्य चक्षु-पीड़ा के निवारण के सभी उपाय आजमा लिये। जब किसी भी प्रकार से चक्षु रोग समाप्त नहीं हुआ तो उन्होंने सोचा—मैंने अब तक रोग-निवारण के लिए आत्म-बाह्य पर-पदार्थों का आश्रय लिया, मुझे आत्मा के गुणों—क्षमा, दमन, कषायोपशमन, निरारम्भता (अहिंसा) आदि का अवलम्बन लेना चाहिए। आत्मा के द्वारा कृत कर्मों के इस दण्ड को समभाव से भोगने पर ही यह कर्मरोगजनित पीड़ा जाएगी। अतः उन्होंने दृढ़ विश्वास के साथ संकल्प किया कि "यदि मैं पीड़ा से मुक्त हो जाऊँ तो क्षान्त, दांत होकर एकमात्र आत्मा की अनन्य शरण लेकर साधना करूँगा।" जब दृढ़ संकल्प के द्वारा उन्होंने रोग के साथ मैत्री स्थापित की तो प्रातः होते ही पीड़ा बिलकुल शान्त हो गई। वे अनाथी मुनि बनकर आत्म-मैत्री में निमग्न हो गए।[2]

कष्ट-सहिष्णुता भी रोग के साथ मैत्री करने का अचूक उपाय

सहन-शक्ति तो रोग के साथ मैत्री स्थापित करने का अचूक उपाय है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण सनत्कुमार मुनि का मिलता है। सौन्दर्य के प्रति गर्व से, रूपासक्ति से अशुभ कर्मोदय के फलस्वरूप उनके शरीर में सोलह ही भयंकर समझे जाने वाले कुष्ट रोग आदि फूट निकले। सनत्कुमार विरक्त होकर चक्रवर्ती से मुनि बन

१. 'दो आँसू' (उपाध्याय केवल मुनि) से सार संक्षेप, पृ. ३६-३७

२. देखें—उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २० में अनाथी मुनि का वृत्तान्त

गए। तपश्चर्या के प्रभाव से उनको कुछ लब्धियाँ प्राप्त हो गई थीं। किन्तु उन्होंने लब्धियों का प्रयोग न करके उन रोगों की पीड़ा को सहन करने की शक्ति बढ़ा ली थी। फलतः रोगों को मिटाने की शक्ति होते हुए भी उन्होंने रोगों के साथ मैत्री स्थापित कर ली। मन ही मन कहा—रोगो ! तुम भी इस शरीर में रहो, मैं (आत्मा) भी इस शरीर में रहता हूँ। दोनों साथ-साथ रहें। कोई हर्ज नहीं है। मुझे तुमसे कोई शिकायत नहीं है। इस प्रकार रोगों के साथ मैत्री स्थापित करके उन्होंने आरोग्य (अरोग) का अनुभव कर लिया था। लोगस्स के पाठ में उक्त '**आरुग्ग-बोहिलाभं समाहिवर मुत्तमं दिंतु**' का उन्होंने जीवन में साक्षात्कार कर लिया। फलतः समस्त कर्मरोगों से उन्होंने मुक्ति प्राप्त कर ली।[१] अतः रोग होते हुए भी "अरोग" की अनुभूति रोग को मित्र बनाने की अद्भुत कला है।

शुभ ध्यान से दुहरा लाभ

शुभ ध्यान भी रोग के साथ मैत्री स्थापित करने का सरल उपाय है। ध्यान क्या है—बाहरी दुनियाँ से सम्पर्क तोड़कर, अंदर की दुनियाँ में, अन्तर में अवगाहन करना। अन्तर की गहराई में डूब जाने पर बाह्य रोगों से ध्यान और सम्पर्क छूट जाना है। रोग के मूल कर्म के साथ आत्मा के द्वारा बद्ध कर्मों से भी मुक्ति मिल जाती है। इस प्रकार कर्मरोग के साथ मैत्री स्थापित करने से बाह्य रोग तो विफल हो ही जाता है, आन्तरिक रोग भी आत्म-साधना से मिट जाता है रोग के प्रति किसी प्रकार ध्यान न देने से वह अपने आप निष्फल होकर भाग जाता है।

वृद्धावस्था के साथ मैत्री : एक अनुचिन्तन

वृद्धावस्था के साथ भी मैत्री स्थापित कर लेने पर वृद्धावस्था के दुःख औ कष्ट का अनुभव नहीं होता। बुढ़ापे में इन्द्रियों और अंगोपांगों की शक्तियाँ क्षीण ह जाती हैं, शरीर दुर्बल हो जाता है, अशक्ति के कारण कुछ रोग भी लग जाते हैं हड्डियाँ, रीढ़ की हड्डी और धमनियाँ अकड़ जाती हैं, वे लचीली नहीं रहतीं। प्राय देखा गया है कि बुढ़ापे में मन की अक्कड़ और पकड़ भी गहरी हो जाती है। वृ जिद्दी, अत्याग्रही और पूर्वाग्रही हो जाता है। समाज और परिवार के लोग भ उसकी सेवा के प्रति उपेक्षा करने लगते हैं। फलतः वृद्धत्व, निराशा, भीति औ अवांछनीयता का कारण बन जाता है। इसी कारण शास्त्र में बुढ़ापे को दुःखरू बताया है। 'आचारांगसूत्र' में कहा है—"वृद्ध हो जाने पर मनुष्य न हास-परिहा

१. (क) 'जीवन की पोथी' से भावांश ग्रहण, पृ. २८

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र, अ. १८ तथा त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र से

के योग्य रहता है, न क्रीड़ा के, न रति के और न शृंगार के योग्य ही।" अतः बुढ़ापे में इन बातों के लिए अयोग्य हो जाने से व्यक्ति को स्वतः संयम कर लेना चाहिए, इन चीजों पर जिससे अनायास ही संवर का लाभ मिले।[१]

बुढ़ापे के साथ मैत्री करने के पाँच मुख्य सूत्र

आत्मार्थी व्यक्ति बुढ़ापे के साथ मैत्री करके बुढ़ापे के दुःख को सुख में बदल सकता है। बुढ़ापे के साथ मैत्री स्थापित करने के मुख्यतया पाँच सूत्र हैं– (१) अनाग्रहीवृत्ति, (२) हर परिस्थिति के साथ एडजस्ट होना, (३) चिन्ता और भावी भय से मुक्ति, (४) इन्द्रियों और मन पर नियंत्रण, और (५) आहार-संयम।

अनाग्रहीवृत्ति : बुढ़ापे के साथ सुखद मैत्री का उपाय

बुढ़ापे में व्यक्ति को अपना आग्रह दूसरों पर लादना नहीं चाहिए। अपने परिवार और समाज के लोगों को भी बिना माँगे कोई भी सलाह नहीं देनी चाहिए। युवक पुत्र और पुत्रवधू को बार-बार टोकते रहने से अपनी बात पर चलने के लिए आग्रह करने से वृद्ध/वृद्धा के प्रति उनकी श्रद्धा-भावना में शिथिलता आ जाती है। वे उक्त वृद्ध/वृद्धा से प्रायः उपेक्षा या किनाराकसी करने लगते हैं। बिना माँगे दी गई सलाह या अपनी बात मनवाने का आग्रह जब सफल नहीं होता है, तो वृद्ध को दुःख होता है, वह द्वेष-रोषवश कर्मबन्ध कर लेता है। अनाग्रहीवृत्ति अपनाने से उसे अपनी बात न मानने का कोई दुःख नहीं होता। युवक संतति का भी उस पर पूज्य भाव बना रहता है।[२] बुढ़ापे के साथ मैत्री करने का यह सफल उपाय है।

प्रत्येक परिस्थिति में स्वयं को एडजस्ट करना मैत्री का मंत्र

प्रतिकूल परिस्थिति आने पर सोचना–इसमें किसी और का दोष नहीं, मेरे अपने ही पूर्वकृत कर्मों का दोष है, इसे समभाव से सहने पर कर्मों की निर्जरा भी होगी, मन में भी शान्ति और सन्तुष्टि का अनुभव होगा। प्रत्येक परिस्थिति के साथ स्वयं को एडजस्ट कर लेने से बुढ़ापे का दुःख बहुत ही कम हो जाएगा। दुःख का अनुभव करने से दुःख बढ़ जाता है।

बुढ़ापे में गृह-परिवार की चिन्ता से मुक्त होकर समाज-सेवा में लगे

बुढ़ापे में गृह-परिवार की चिन्ता से मुक्त होकर व्यक्ति को अपनी रुचि और क्षमता के अनुरूप किसी न किसी समाज-सेवा के कार्य में, परमात्म-भक्ति में तथा

---

१. से ण हासाए, ण कीड्डाए, ण रतीए, ण विभूसाए। —*आचारांग, श्रु. १, अ. २, उ. १*

२. 'जीवन की पोथी' से भाव ग्रहण, पृ. ३२-३३

आत्म-साधना में लग जाना चाहिए, ताकि चिन्ता, तनाव और भविष्य के जीवन-निर्वाह आदि के भय से मुक्ति मिल सके। देखा गया है कि समाज-सेवा में निष्ठापूर्वक लगे रहने वाले व्यक्ति को समाज आदर की दृष्टि से देखता है, उसके गुणों पर मुग्ध होकर उसकी सेवा-भक्ति करने में समाज और परिवार के लोगों को आनन्द का अनुभव होता है। वृद्धावस्था में व्यक्ति को यही सोचना चाहिए शुद्ध धर्माचरण की निष्ठा से व्यक्ति को कैसी भी परिस्थिति में दुःख महसूस नहीं होता। समाज-सेवा से उसका पुण्य-बल बढ़ जाने से सभी लोग उसके वचनों को शिरोधार्य करते हैं।

इन्द्रियसंयम, ज्ञाता-द्रष्टाभाव : बुढ़ापे के साथ मैत्री का एक सूत्र

बुढ़ापे में इन्द्रियाँ वैसे ही क्षीण हो जाती हैं, वे काम करना बंद कर देती हैं या शिथिल हो जाती हैं। इसलिए इन्द्रियों और मन के विषयों के प्रति राग-द्वेष, प्रियता-अप्रियता या आसक्ति-घृणा अथवा मोह-द्रोह का भाव न लाकर ज्ञाता-द्रष्टा बनकर रहने का अभ्यास करने से तथा इन्द्रिय-संयम से व्यक्ति आत्म-साधना अधिकाधिक करके बुढ़ापे के प्रति मैत्री भी स्थापित कर सकता है और कर्मनिर्जरा का लाभ भी अनायास ही प्राप्त कर सकता है। किन्तु इन्द्रियाँ क्षीण हो जाने के साथ कषायों में, तृष्णा और मोह में वृद्धि पर भी नियंत्रण करना जरूरी है। कई वृद्ध लोग शक्ति होते हुए अपना कर्त्तव्य, सेवा-कार्य, दायित्व तथा कर्तृत्व क्षमता के प्रति उपेक्षा करके अकर्मण्य होकर बैठ जाते हैं, इससे वे परिवार और समाज को भारभूत लगते हैं। निवृत्ति का अर्थ अकर्मण्य बनकर बैठ जाना नहीं है, अपितु अठारह प्रकार के पापस्थानों, कषायों, ईर्ष्या, द्वेष, आवेश आदि से निवृत्त होकर निरवद्य एवं शुभ कार्यों में प्रवृत्ति करना भी है। तन, मन, वचन और अनुभव की जितनी शक्ति है, उसका यथोचित उपयोग करते रहने से बुढ़ापे के साथ सुखद मैत्री भी हो जाती है। शास्त्रों में बताया गया है कि जब तक साधक का उत्थान, कर्म (कर्तृत्वक्षमता), बल (शरीर-मन का बल), वीर्य (शक्ति), पुरुषार्थ-पराक्रम जब तक रहा, तब तक उन्होंने स्व-पर-कल्याण-साधना में उसका अनवरत अप्रमत्त रहकर उपयोग किया। अतः वृद्ध-वृद्धा को भी अपने उत्थानादि सुरक्षित हों, तब तक व्यर्थ के कार्यों में, लड़ाई-झगड़ों में अपनी शक्ति का अपव्यय न करके, समाज-सेवादि कार्यों में शक्ति का सदुपयोग करना चाहिए। इससे शक्ति का क्षय न होकर उसमें वद्धि ही होगा।

बुढ़ापे के साथ मैत्री के लिए आहार-विहार संयम जरूरी -

बुढ़ापे के साथ मैत्री करने के लिए अपने आहार-विहार पर तथा रहन-सहन पर भी संयम रखना आवश्यक है। कई लोग बुढ़ापे में गरिष्ठ और दुष्पाच्य चीजें

खा लेते हैं। सरस स्वादिष्ट आहार खा लेने से पाचन क्रिया विगड़ जाती है। भोजन और रहन-सहन पर संयम न रखने वाला असमय में बुढ़ापे को वुला लेता है। अतः बुढ़ापे के साथ मैत्री के लिए अपनी चर्या तथा आहार-विहार पर संयम रखना अनिवार्य है। जो खान-पान पर संयम नहीं रखते उनका बुढ़ापा सुखद नहीं होता। जो प्रत्येक चर्या में पराधीन और परमुखापेक्षी बन जाता है, वह अपनी शक्ति और क्षमता का सदुपयोग नहीं कर पाता। फलतः पद-पद पर दूसरों के साथ संघर्ष, रोष, आवेश और चिड़चिड़ेपन के कारण अशुभ कर्मों का बन्ध होता रहता है। जिस शक्ति को वह स्व-पर-कल्याण-साधना में लगा सकता था, उसका इस प्रकार अपव्यय करके बुढ़ापे को दुःखद तथा अपनी आत्मा को शत्रु बना लेता है।[१]

बुढ़ापे को मधुर के बजाय दुःखद और कटु न बनाएँ

वास्तव में वृद्धावस्था परिपक्व और अच्छी अवस्था है। पके फल में मिठास बहुत आ जाती है। इसी प्रकार बुढ़ापे में जीवन की मिठास आनी चाहिए। परन्तु जो वृद्ध/वृद्धा अपने जीवन को कषाय-नोकषायों से बचाकर संयममय नहीं बनाते, वे असंयम में पड़कर अपने हाथों बुढ़ापे को मधुर के बजाय कटु एवं दुःखद बना लेते हैं। चिन्ताओं और व्यस्तताओं का बोझ लादकर वे जीवन के अन्त तक बुढ़ापे से मैत्री नहीं कर पाते। वे सुख के साधन जुटाने पर भी सुख से जीना नहीं जानते।[२]

मृत्यु के साथ मैत्री : एक अनुचिन्तन

मृत्यु भी संसार में सबसे बड़ा दुःख माना जाता है। परन्तु भयोत्पादक और दुःखदायक उसी के लिए है, जो मृत्यु के साथ मैत्री नहीं कर पाता। मृत्यु को अपना मित्र बना लेने पर वह मनुष्य के लिए भय और दुःख का कारण नहीं बनती। परन्तु इस शरीर पर तथा शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव पर-पदार्थों पर मोह, आसक्ति और स्वार्थ होने के कारण व्यक्ति सोचता है, मेरी मृत्यु कदापि न हो, मृत्यु इन सबसे वियोग करा देती है, इसलिए मृत्यु दुःखदायी लगती है, वह जब आती है, तो मनुष्य को एकदम गहरी नींद में सुला देती है, मनुष्य अपनी मनचाही सुख-शान्ति, मनचाही मौज-शौक नहीं कर पाता, सभी कार्य अधूरे छोड़कर जाना पड़ता है, इसलिए उससे भयभीत रहते हैं। परन्तु भगवान महावीर ने समाधिमरण या पण्डितमरण की कला बताकर[३] मनुष्यों को मृत्यु से डरने और दुःखदायी

---

१. 'जीवन की पोथी' से भाव ग्रहण, पृ. ३२-३३

२. वही, पृ. ३५

३. देखें—उत्तराध्ययनसूत्र का ५वाँ अकाममरणीय अध्ययन

समझने की भ्रान्ति को दूर कर दिया है। मृत्यु वास्तव में हमारी मित्र है। जैसे वस्त्र जीर्णशीर्ण हो जाता है तो वह पहनने के काम नहीं आता। उसे फेंक देना पड़ता है। अगर कोई हमें पुराने वस्त्र के बदले नया वस्त्र दे दे तो हमें प्रसन्नता ही होती है। इसी प्रकार मृत्यु पुराने शरीर को छुड़ाकर नया शरीररूपी वस्त्र देती है, तो उसे दुःखदायी न मानकर सुखदायी व सहायक मित्र ही मानना चाहिए। दूसरी बात यह है कि आयुष्य क्षीण होने पर मृत्यु का आगमन निश्चित है। इसको मित्र बनाने का सर्वोत्तम उपाय यही है कि व्यक्ति को अपने जीवनकाल में ही मृत्यु ने मेरे केश पकड़ रखे हैं; ऐसा सोचकर धर्माचरण करने में प्रमाद नहीं करना चाहिए। सच्चा आत्मार्थी-साधक वैसे तो जीने और मरने की इच्छा नहीं करता, न ही वह विपत्ति या कष्ट से घबराकर आत्महत्या करके मृत्यु का आह्वान करता है, किन्तु जीवन के अन्तिम क्षणों में अथवा किसी आकस्मिक दुर्घटना या गम्भीर असाध्य बीमारी के समय मृत्यु का मित्र की तरह आह्वान करता है–मित्र ! आओ, मैं तुम्हारा स्वागत करता हूँ। मुझे शरीर पर मोह नहीं है। मैंने अपने कर्त्तव्य को पूर्ण किया है। मैंने अगले जन्म के लिए सुगति का मार्ग ग्रहण कर लिया है।" इस प्रकार संलेखना-संथारा करके समाधिमरणपूर्वक मृत्यु का आलिंगन करता है। उसकी मृत्यु असमाधि का नहीं, समाधि का कारण बनती है। वह अभय होकर मृत्यु को सुखद मानता है। इस प्रकार मृत्यु से मैत्री करने वाला साधक आत्मा पर लगे हुए कर्मदलों को हँसते-हँसते समभाव से भोगकर आत्म-मैत्री को पुष्ट करता है। कर्मबन्ध से अधिकांश रूप से मुक्ति पा जाता है। अतः मृत्यु से मैत्री कर्मनिर्जरा और भावसंवर का विशिष्ट कारण है।

● ●

१८

परीषह-विजय : उपयोगिता, स्वरूप और उपाय

दुःखमुक्ति का राजमार्ग

मनुष्य चाहता है-दुःखों से सर्वथा मुक्त होना। दुःखों से मुक्त होने का अर्थ है-मोह से मुक्त होना।[1] दूसरे शब्दों में कहें तो कर्मों से सर्वथा मुक्त होना। क्योंकि कर्मबन्ध के कारण ही जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, भय आदि दुःख प्राप्त होते हैं। इन्हें जड़ से मिटाना हो तो प्राणवान् बनकर समभावपूर्वक दुःखों, कष्टों, क्लेशों को तन-मन-वचन से सह लेना ही दुःखमुक्ति = कर्ममुक्ति का राजमार्ग है।

दुःखमुक्ति कब और कब नहीं ?

संसारस्थ जीवों को नाना प्रकार के दुःख, कष्ट या क्लेश आने पर कभी हाय-हाय करते, बरबस, कभी भयवश, कभी लोभ या स्वार्थ के वश, कभी दीनतापूर्वक, कभी अहंकार के नशे से, कभी अज्ञान और मिथ्यात्व के नशे से और कभी कामवासना के उन्माद से इन्हें सहने पड़ते हैं। उससे नारक जीवों के द्वारा निरुद्देश्य दुःख सहने की तरह अज्ञानतापूर्वक सहन करने पर कुछ कर्मक्षय होने के साथ-साथ नये कर्म भी बँध जाते हैं; किन्तु उन्हीं दुःखों को किसी भी निमित्त आदि को न कोसते हुए एवं उपर्युक्त प्रकारों में से किसी भी अज्ञानजनित प्रकार से न भोगते हुए ज्ञानपूर्वक समभाव से भोगने से सकामनिर्जरा होती है। दुःखमुक्ति का सिलसिला प्रारम्भ हो जाता है। आते हुए दुःखों के प्रवाह को समभावपूर्वक अपने ही द्वारा कृतकर्मों का फल जानकर प्रसन्नतापूर्वक भोगने से दुःखों को पैदा करने वाले कर्म भी कटते जाते हैं।

परीषह-विजय का रहस्य

इसे ही शास्त्रीय परिभाषा में परीषह-विजय या परीषह-सहन कहते हैं। 'तत्त्वार्थसूत्र' में परीषह-विजय को संवर कहा गया है।[2] उसका भी मतलब यही है

---

१. दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो।

२. (क) स गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा-परीषहजय-चारित्रैः।
(ख) तपसा निर्जरा च। *-तत्त्वार्थसूत्र, अ. ९, सू. २-३*

कि आते हुए सर्दी, गर्मी, दंश-मशक, भूख-प्यास आदि कष्टों से न घबराकर उनका सामना करना और उन पर विजय पाना।

सुख-सुविधावादी का उभयलोक दुःखकर

वर्तमान युग के अधिकांश मानव सुख-सुविधा चाहते हैं। उनका कहना है कि मानव-शरीर मिला है तो इस शरीर से जितना भी सुख मिले, उसका उपभोग कर लो। सुख से खाओ, पीओ और मौज करो। इस युग का दृष्टिकोण ही बन गया सुख-सुविधावाद। सुख-सुविधावाद के चक्कर में पड़कर मानव वर्तमान में व्यावहारिक दृष्टि से दुःख और कष्ट को न्यौता देता है और पारमार्थिक दृष्टि से–आध्यात्मिक दृष्टि से भी जरा-से कष्ट को समभावपूर्वक सहन करने की क्षमता के नष्ट हो जाने से भविष्य में बार-बार भवभ्रमणजनक दुःखों को (अशुभ कर्मफलों को) आमंत्रण देता है। सुख-सुविधावाद में अहर्निश रत रहने वाले लोगों का जीवन इस लोक में भी कष्टकर बन जाता है और परलोक का जीवन तो और अधिक कष्टमय बनता है। जो मनुष्य-जीवन, मानव-शरीर उसे जन्म-मरणादि दुःखों को–दुःखोत्पादक कर्मों को नष्ट करने के लिए मिला था, उसे वह यों ही सुख-सुविधा का आस्वाद लेकर बिता देता है। अपनी सहन करने की शक्ति को कमजोर बना देता है। उसकी धृति, मनोबल, तनबल, आन्तरिक आनन्द, आत्म-शक्ति आदि सब चौपट हो जाते हैं। वह अनेक शारीरिक, मानसिक रोगों का शिकार होकर अधिक कष्ट और दुःख में जीता है और उसकी मृत्यु भी शरीर और शरीर से सम्बद्ध सजीव-निर्जीव वस्तुओं और व्यक्तियों पर मोह व आसक्ति के कारण भयंकर विषाद में होती है। जिससे भावी जीवन भी उसे दुःखों और कष्टों से परिपूर्ण मिलता है।

स्वैच्छिक कष्ट-सहन : सुखद जीवन का नुस्खा

'सेन्फोर्ड बेनिट'[१] नामक एक अमेरिकन धनाढ्य व्यक्ति ने एक पुस्तक लिखी है–**'ओल्डएज : इट्स कॉज एण्ड प्रिवेन्शन'** (बुढ़ापा : इसका कारण और निवारण)। उसमें उसने आपबीती राम कहानी लिखी है। जिसका सारांश यह है–मैंने प्रत्येक इन्द्रिय के सुखभोगों का आस्वाद लिया। कूलर, हीटर, रेफ्रिजरेटर, वातानुकूलित भवन, प्रत्येक कार्य के लिए यंत्र का उपयोग, मनमोहक सुन्दरियों के साथ कामसुख का उपभोग आदि हर प्रकार के सुख-सुविधा के कृत्रिम उपायों और साधनों का आश्रय लिया। नतीजा यह हुआ कि मैं पैंतीस वर्ष की उम्र में ही ७०-८० वर्ष के बूढ़े जैसा दिखने लगा। चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गईं। गाल अंदर बैठ गये। आँखें अंदर धँस गईं। इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो गई। मैं जीवन से निराश,

१. 'Oldage : Its Cause and Prevention' (By Senford Benitt) से संक्षिप्त

अशक्त होकर आत्महत्या करने जा रहा था। परन्तु मेरे एक हितैषी मित्र ने मुझे सुख-सुविधावाद को छोड़कर श्रमनिष्ठापूर्वक वन में रहकर प्रकृति की गोद में जीने के लिए प्रेरित किया। मैंने वैसा ही किया। फलतः मुझे सच्चा आनन्द मिला। मेरे तन-मन स्फूर्तिदायक एवं तेजस्वी बन गए।

सेन्फोर्ड बेनिट तो अपने मित्र की प्रेरणा से सँभल गए। परन्तु जो व्यक्ति सिर्फ ऐश-आराम का या सुख-सुविधावादी जीवन जीते हैं, वे लोग जरा-सा कष्ट आने पर हायतोबा मचाने लगते हैं। जो व्यक्ति आरामतलब होता है या सुख-सुविधावादी जीवन जीता है, वह तन-मन से दुर्बल होकर रोते-रोते जीवन जीता है। वह जीवन में आने वाली समस्याओं और दुःखों का सामना नहीं कर पाता। कभी-कभी तो वह अकाल में ही मरण-शरण हो जाता है। जो विद्यार्थी कष्ट-सहन करने में सक्षम नहीं है, वह परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने पर अधृति का शिकार होकर आत्महत्या कर लेता है। ऐसे ही कई व्यक्ति जो कष्ट-सहिष्णु नहीं होते, वे कर्जदार होने पर, साहूकार से लिया हुआ कर्ज समय पर नहीं चुका पाने के कारण अज्ञानतावश प्राणान्त कर लेते हैं। इन सबके पीछे मुख्य कारण है—या तो वह कष्ट सहना नहीं चाहता अथवा कष्ट सहने में अक्षम है।

बाह्य और कृत्रिम साधनों से जीवन क्षणिक सुखी बनता है

कई व्यक्ति यह कहते हैं कि हम बाह्य साधनों का प्रयोग करके भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि शारीरिक कष्टों को तथा मनोऽनुकूल औषध, रसायन आदि का सेवन करके शरीर की क्षमता को बढ़ाकर इन कष्टों को झेल लेते हैं। परन्तु याद रखिये—बाह्य साधनों या कृत्रिम साधनों के सहारे जीने वाले और कष्टों के कम हो जाने की भ्रान्ति में रहने वाले लोगों की सहन करने की शक्ति अत्यन्त कम हो जाती है। उसकी रोग-प्रतिरोधक क्षमता भी कम हो जाती है, जिससे अकारण ही हृदयरोग, रक्तचाप, मधुमेह, सन्धिवात, क्षयरोग आदि बीमारियाँ उन्हें घेर लेती हैं।

कष्टों को सहन न करने वाले की प्राण-शक्ति क्षीण

अतः स्वेच्छा से समभावपूर्वक कष्टों को सहन न करने वाले व्यक्ति की प्राण-शक्ति क्षीण हो जाती है। वह हीनभावना का शिकार हो जाता है। उसका मनोबल कमजोर हो जाने से मानसिक कष्टों का भी सामना करना पड़ता है। कभी-कभी अत्यधिक मानसिक कष्ट, चिन्ता और शोक के कारण उसका हार्टफेल भी हो जाता है। भारतीय जनजीवन में धनिक या सत्ताधीश व्यक्ति में यह भ्रान्ति घुस गई है कि हाथ से श्रम करने से, कष्ट सहने से पोजीशन (प्रतिष्ठा) डाउन हो जाएगी। परन्तु इस भ्रान्ति के शिकार व्यक्तियों को हर काम में परमुखापेक्षी होना

पड़ता है। जिसकी प्राण-शक्ति क्षीण हो जाती है, वह व्यक्ति कष्ट सहने की अक्षमता के कारण बार-बार निराश हो जाता है, घबरा जाता है, हीनभावना का शिकार हो जाता है, उसमें अधृति का निवास हो जाता है, वह व्यक्ति आत्म-विश्वास खो बैठता है, वह समस्याओं का सामना करने में अक्षय होने के कारण कभी-कभी आत्महत्या भी कर बैठता है। प्रतिकूल परिस्थितियों से घबराकर वह मृत्यु का वरण करने की बात सोच लेता है। बात-बात में अधीर हो जाता है। सामान्य-सी प्रतिकूलता उसे अधीर बना देती है। इस प्रकार वह शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के दुःखों को सहन करने में असमर्थ हो जाता है।

असहिष्णुता अशान्ति एवं कर्मबन्ध का कारण है

असहिष्णुता का पर्यवसान अहंकार में होता है। कई बार असहिष्णु व्यक्ति के व्यवहार से दुःखी होकर लोग उससे बदला लेने की योजना बनाते हैं। असहिष्णुताजन्य प्रतिक्रिया से उद्वेग और सन्ताप बढ़ता है और विद्वेष की कष्ट-कारक एवं हानिमूलक परम्परा बढ़ने लगती है। किसी अन्य के भिन्न विचार-व्यवहार को न सहने की मनःस्थिति रहती है तो उसके मन को प्रति क्षण क्लेश, कटुता और अशान्ति ही वेधती रहती है।

संतुलित मनःस्थिति बनाये रखने के लिए सहिष्णुता आवश्यक

व्यावहारिक जीवन में सर्वदा बिलकुल भले आदमियों से ही वास्ता पड़ना या सदा अनुकूलताएँ ही प्राप्त होना सम्भव नहीं है। क्रोधी, विक्षुब्ध, कलहकारी, झगड़ालू या दुष्ट प्रकृति के व्यक्तियों से बचने का कितना ही प्रयत्न किया जाए, परन्तु उनसे अक्सर प्रतिदिन ही सम्पर्क आता है। कई सत्ता-प्राप्त, अधिकार-प्राप्त या धन-सम्पन्न, प्रतिष्ठा-प्राप्त भी इसी निकृष्ट प्रकृति के होते हैं। यदि उनके दुर्वचनों और दुर्व्यवहारों के प्रति असहिष्णु होकर उनसे संघर्ष किया जाए, जैसे को तैसा के रूप में बदला लिया जाए तो खुद की मानसिक शान्ति भंग होती है, वैर और विरोध के कारण कर्मबन्ध हो जाने पर पता नहीं कितने जन्मों में जाकर उसका भुगतान हो। अशान्त और उद्विग्न मनःस्थिति के चलते कोई भी मनोनीत सत्कार्य भलीभाँति सम्पन्न नहीं हो सकता। शान्त और सन्तुलित मनःस्थिति में ही व्यक्ति कार्य करने तथा भलीभाँति सोचने-समझने और यथार्थ निर्णय लेने में सक्षम होता है। ऐसी मनःस्थिति बनाये रखने के लिए सहिष्णुता नितान्त आवश्यक होती है।

असहिष्णुता से मनःस्थिति अशान्त और उद्विग्न हो जाती है। सारा शरीर काँपने लगता है। क्रोध और आवेश से व्यक्ति भड़क उठता है। ऐसी स्थिति में कुछ अनहोनी भी घटित हो सकती है। अतः क्रोधादि के आवेगों से बचने के लिए

सहिष्णुता अत्यावश्यक है। प्रतिकूल परिस्थिति एवं व्यक्ति के प्रति असहिष्णु बने रहने पर चित्र विचलित होता है, सजीव-निर्जीव निमित्तों के प्रति आवेग-उद्वेग उठते हैं। इससे कार्यसिद्धि में कठिनाई उत्पन्न होती है। इसलिए प्रतिकूलताओं के बीच भी मानसिक सन्तुलन बनाये रखना चाहिए। उसके लिए सहिष्णुता महत्त्वपूर्ण साधन है। सुसंस्कृत व्यक्ति सदा सहिष्णु और निर्भय होता है, क्योंकि वह जानता है कि विश्व-व्यवस्था ऐसी ही है कि यहाँ अनुकूलताओं के साथ प्रतिकूलताएँ, भले लोगों के साथ बुरे लोगों एवं पुष्पों के साथ काँटों का भी अस्तित्व है। उनसे हम बचकर नहीं रह सकते। बुरे व्यक्ति में भी अच्छाई के अंश रहते हैं। सहिष्णु व्यक्ति ही संयत ढंग से स्नेहपूर्वक उनकी बुराइयों को एकान्त में समझा-बुझाकर और आवश्यक असहयोग करके उन्हें दूर कर सकता है। असहिष्णुता तब पैदा होती है, जब व्यक्ति अहंकारवश अपनी ही विचारधारा तथा अपने ही मत, पंथ, सम्प्रदाय या दृष्टिकोण को सही मानने और दूसरों के मत, पंथ, सम्प्रदाय, विचारधारा एवं दृष्टिकोण निकृष्ट या सर्वथा गलत मानने की क्षुद्रता या मूढ़ता अथवा हठाग्रहिता करता है। इससे सामाजिक विद्वेष एवं घृणा की भावना तथा अपनी श्रेष्ठता का दम्भ पैदा होता है। दूसरे का विचार व्यवहारहीन कोटि का लगने से उसे मिटा देने की हिंसा की भावना पनपती है। यह सब संकीर्ण एवं क्षुद्र अहं के सिवाय और कुछ नहीं है।

कष्ट-सहिष्णुता ही श्रेयस्कर मार्ग

मानव-जीवन में सभी प्रकार के अवसर उपस्थित होते हैं। कभी प्रशस्त राजमार्ग मिलता है, सीधी पगडंडी भी मिलती है, तो कभी ऊबड़-खाबड़ विकट रास्ता भी मिलता है। सभी जगह फूल ही फूल मिलें ऐसा नहीं होता, अधिकतर काँटे ही मिलते हैं। नदी-नाले भी मिलते हैं, चट्टानें भी, जो रास्ता रोके खड़ी रहती हैं। इन सब में होकर आगे बढ़ते जाने का एक ही उपाय है—कष्ट-कण्टकों को धैर्यपूर्वक सहन करना।

जीवन के किसी भी क्षेत्र में बना-बनाया निष्कंटक मार्ग किसी को कभी नहीं मिला, न ही मिलता है। जिन्हें हम महापुरुष मानते या कहते हैं, उन्हें भी अपने जीवन में निष्कंटक मार्ग नहीं मिला। किसी के जीवन में कोई बाधाएँ थीं, किसी के जीवन में विकसित एवं सुसंस्कृत समाज नहीं था। किसी के जीवन में अभाव की पीड़ा थी, तो किसी के जीवन में भोगों का अम्बार लगा होने से उस जाल से निकलकर कर्ममुक्ति के आग्नेय पथ पर आना बहुत दुष्कर था। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में काम करते समय विघ्न-बाधाएँ, प्रतिकूलताएँ, अनिष्टसंयोग, विपरीत परिस्थितियाँ आया ही करती हैं। विघ्न-बाधाएँ, प्रतिकूलताएँ या विपरीत

परिस्थितियाँ उत्पन्न होते ही विक्षुब्ध हो उठने, भाग खड़े होने, नदी-तालाब में डूबकर मर जाने, चट्टानों से सिर टकराने या काँटों पर गुस्सा करके उन्हें पैरों से रौंदने की मूर्खता से अपने ही आध्यात्मिक विकास में रुकावटें आती हैं, कर्ममुक्ति के लक्ष्य तक पहुँचने में मदद मिलने की अपेक्षा कर्मबन्ध को अधिकाधिक मजबूत और गाढ़ कर दिया जाता है।

असहिष्णुता और सहिष्णुता के परिणामों में अन्तर

असहिष्णुता एक प्रकार की क्षुद्रता, अधीरता, आतुरता या उथलापन ही है, जबकि सहिष्णुता समुद्र की-सी गम्भीरता का नाम है। मुक्त आत्माओं को 'सागरवरगंभीरा' इसीलिए कहा गया है कि उन्होंने धीर-गंभीर एवं सहिष्णु बनकर अध्यात्म के शिखर पर आरूढ़ होने की और सर्वकर्मों से मुक्त होने की सफलता (सिद्धि) अर्जित की है। सहिष्णुता से विघ्न-बाधाओं एवं प्रतिकूलताओं की बड़ी-बड़ी चट्टानें बिना व्यापक उथल-पुथल किये अनुकूल बन जाती हैं, कष्टों का भयंकर तूफान भी क्षणभर में शान्त हो जाता है।

जान-बूझकर कष्ट सहने से क्या लाभ, क्या हानि ?

कई अध्यात्मवादी लोग यह भी शंका उठाते हैं कि सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रयरूप धर्म की साधना-आराधना ज्ञान, आनन्द और शक्ति की प्राप्ति के लिए है। हमारी आत्मा में अनन्त ज्ञान-दर्शन-आनन्द और अनन्त शक्ति विद्यमान है। फिर हम कष्टों, कठिनाइयों और दुःखों को क्यों सहन करें? क्यों जान-बूझकर इन कष्टों और दुःखों का सामना करें? कष्ट और दुःख को सहन करने से ज्ञान, आनन्द और शक्ति की प्राप्ति कैसे हो जायेगी?

दूसरी बात–मजदूर, श्रमजीवी, पहलवान तथा अन्य कतिपय गृहस्थ तो बहुत कष्ट उठाते हैं, कई तथाकथित तापस, साधु बाबा, संन्यासी आदि भी कष्टकारक तप करते हैं, पंचाग्नि तपते हैं, ठंडे पानी में घंटों खड़े रहते हैं, शरीर को कई प्रकार का कष्ट देते हैं, कई योगाचार्य भी हठयोग की कष्टकारक साधना करते हैं, कई योगसाधक भी विविध व्यायाम, आसन, प्राणायाम आदि द्वारा शरीर को कष्ट में डालते हैं।

इसी सन्दर्भ में कुछ लोग यह कहते हुए नहीं सकुचाते कि आगमों में श्रमणों के लिए काया को कष्ट देने, देह को दुःख में डालने और अपने शरीर को जीर्ण-शीर्ण बनाने का विधान[1] श्रमण-जीवन को अत्यन्त कठोर सिद्ध करता है। और उसी का

---

१. (क) कसेहि अप्पाणं, जरेहि अप्पाणं। *–आचारांग, श्रु. १, अ. ४, उ. ३१*
(ख) आयावयाहि चय सोगमल्लं। *–दशवैकालिक, अ. २/५*

अनुसरण करने वाले श्रमणोपासक (श्रावक) का जीवन भी विविध कष्टों और बाह्य तपस्याओं के कारण रूखा-सूखा नीरस बन गया है। वे भी अपेक्षाकृत कठोर जीवनयापन के पथ पर चलने लगे हैं। इससे श्रमणों और श्रमणोपासकों का सहज सुखमय जीवन नष्ट हो जाता है, कायक्लेश का ही प्राधान्य दिखाई देता है। 'दशवैकालिक' में कहा है—समभावपूर्वक अव्यथितभाव से जो देह दुःख सहता है, वह उसके निर्जरारूप महाफल का कारण होता है।"[1]

स्वैच्छिक कष्ट-सहन भी कब परीषह-विजय, कब नहीं ?

इन सब शंकाओं का सापेक्ष दृष्टि से समाधान यह है कि आगमों में श्रमणों और श्रमणोपासकों के लिए काया को तपाने, कृश करने, जीर्ण करने एवं मन पर स्वेच्छा से नियंत्रण करके सुख-सुविधाओं से मुख मोड़ने का जो विधान है, वह कथन एकान्त नहीं है। सभी श्रमणों और श्रमणोपासकों (गृहस्थ श्रावकों—उपासकों) के लिए उपवास और आतापनादि कायक्लेश (काया को कष्ट में डालना) अनिवार्य नहीं है। जिनकी रुचि ध्यान, मौन, कर्मक्षय, प्रायश्चित्तकरण, कामादिदोष-निवारण तथा काया को परीषह-उपसर्ग-सहन-सक्षम बनाने की होती है; वे ही इसे अपनाते हैं। किन्तु वह स्वैच्छिक कष्ट-सहन भी जड़ता-मूढ़तापूर्वक, निरुद्देश्य या अप्रसन्नतापूर्वक न हो तथा जो कष्ट-सहन सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दृष्टि एवं सम्यक्तप के साथ होता है, जिसके साथ समभाव की अखण्ड ज्योति प्रज्वलित रहती है, जो धैर्य, प्रसन्नता और उत्साह के साथ होता है, वही कष्ट-सहन परीषह-विजय की कोटि में आता है। जो वह किसी स्वार्थ, प्रलोभन या पद-प्रतिष्ठा-प्राप्ति के लिए होता है, अथवा जो कष्ट इनाम पाने, प्रशंसा पाने और कीर्ति पाने की लालसा से सहन किया जाता है, वह अज्ञान कष्ट है, बालतप है, निरुद्देश्य अकाम कष्ट-सहन है। ऐसे कष्ट-सहन से कदाचित् पुण्य हो सकता है; किन्तु वह भी स्वेच्छा से, प्रसन्नतापूर्वक हो तभी। किन्तु उससे कर्मक्षय नहीं हो पाता। 'व्यवहारभाष्य' में कहा गया है—साधना में मनःप्रसाद ही कर्मनिर्जरा का मुख्य कारण है।[2]

ज्ञानपूर्वक कायक्लेश तप कष्ट-सहन क्षमता बढ़ाने हेतु है

दूसरा समाधान यह है कि छह प्रकार के बाह्य तपों में जो कायक्लेश नामक तप है, उसका अभिप्राय भी अज्ञानपूर्वक निरर्थक ही काया को कष्ट देना नहीं है। कायक्लेश तप का प्रयोजन स्वधर्म-पालन में काया को कष्ट सहने में सक्षम तथा अभ्यस्त करना है। यह कष्ट-सहिष्णुता की क्षमता को बढ़ाने का प्रयोग है। प्रतिदिन

---

१. देहदुक्खं महाफलं। —*दशवैकालिक, अ. ८, गा. २७*

२. जो सो मणप्पसादो जायइ सो निज्जरं कुणति। —*व्यवहारभाष्य ६/१९०*

के अभ्यास से संवर-निर्जरा का साधक शारीरिक और मानसिक कष्टों को सहन करने में इतना अभ्यस्त एवं समर्थ हो जाए कि बड़े से बड़े कष्टों को भी सहने में उसे आनन्द आए, उसके स्नायु और माँसपेशियाँ विविध प्रकार के आसनों और व्यायामों से इतने अभ्यस्त हो जाएँ कि किसी भी कष्ट और दुःख की प्रतिक्रिया किये बिना, उससे भयभीत हुए बिना, धैर्यपूर्वक वह अपनी धर्म-साधना में दृढ़ रहे, जरा भी विचलित न हो।

कायक्लेश में मृदुता और कठोरता दोनों हैं

श्रमण भगवान महावीर ने श्रमणों और श्रमणोपासकों की साधना में मृदुता और कठोरता दोनों का सामंजस्य प्रारम्भ से ही किया है। मुनि-जीवन में कायक्लेश का एकान्तरूप से निषेध नहीं है। किन्तु अज्ञानपूर्वक निरुद्देश्य कायक्लेश (कष्ट-सहन) का उन्होंने प्रतिवाद करते हुए कहा है–"अज्ञानी जिन कर्मों को करोड़ों वर्षों के कायक्लेश से क्षीण करता है, ज्ञानी एक श्वासोच्छ्वास मात्र में उन्हें क्षय कर डालता है।"[1]

इसके साथ ही एक तथ्य और समझ लेना चाहिए कि जितना महत्त्व क्षमादि दशविध उत्तम धर्मों का, समिति-गुप्ति एवं महाव्रतों-अणुव्रतों के पालन का एवं अनुप्रेक्षा का है, उतना कायक्लेश का नहीं है। 'निशीथभाष्य' में कहा गया है–"हम साधक के केवल अनशन आदि से कृश हुए शरीर के प्रशंसक नहीं हैं।[2] वास्तव में इन्द्रिय (वासना), कषाय और अहंकार को कृश करना चाहिए।" ये साधनाएँ सीधे (Direct) काया को कष्ट देने के लिए नहीं हैं। किन्तु कदाचित् उन क्षमा आदि या अहिंसादि साधना करते समय क्वचित् कायक्लेश प्राप्त हो सकता है, मगर वह कायकष्ट उपर्युक्त साधनाओं की सिद्धि का मुख्य साधन नहीं है। इन साधनाओं के द्वारा कायकि, वाचिक और मानसिक संवर तथा निर्जरा ही मुख्यतया सिद्ध होती है। कर्मनिरोधात्मक एवं कार्मक्षयात्मक साधना के मुख्य अंग दो हैं–संवर और तपश्चरणात्मक निर्जरा। संवर के मुख्यतया पाँच प्रकार हैं–सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय और अयोग। संवर की साधना कर्मनिरोधात्मक होने से प्रायः कठोर कायक्लेशात्मक न होकर मृदु है।

---

१. जं अन्नाणी कम्मं खवेइ, बहुयाहिं वासकोडीहिं।
तं नाणी तिहिं गुत्तो खवेइ उसासमित्तेण॥ –*प्रवचनसार ३/३८*

२. इंदियाणि कसाये य, गारवे य किसे कुरु।
णो वयं ते पसंसामो, किसं साहु सरीरगं॥ –*नि. भा. ३७५८*

श्रमणत्व की सुदुष्करता के पीछे तात्पर्य

'उत्तराध्ययनसूत्र' के मृगापुत्रीय अध्ययन में जो श्रमणधर्म में पालनीय समभाव, अहिंसा-सत्यादि पंचमहाव्रतों आदि को सुदुष्कर एवं कठोर बताया है,[1] वहाँ इस सुदुष्करता, दुश्चरणता एवं कठोरता का मूल यावज्जीवन, आत्म-संयम है, कायक्लेश नहीं। इन महाव्रतों को पालन करने में जो कष्ट उत्पन्न होते हैं, उन्हें सहन करना, काया को क्लेश या मन को संक्लेश देना नहीं है, अपितु अपने स्वीकृत व्रत, नियम, त्याग-प्रत्याख्यान आदि के रूप में स्वीकृत रत्नत्रयात्मक धर्म में अविचलित रहने के लिए है।

कायक्लेश और परीषह-सहन दोनों भिन्न-भिन्न हैं

इस पर से यह स्पष्ट है कि कायक्लेश और परीषह दोनों पृथक्-पृथक् हैं। तत्त्वार्थ की श्रुतसागरीया वृत्ति में इन दोनों की भिन्नता का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है–कायक्लेश स्वेच्छा से ज्ञानपूर्वक किया जाता है और परीषह है–मोक्षमार्ग पर अविचल रहने हेतु समागत कष्ट को समभावपूर्वक सहना।

कायक्लेश के पीछे भी सापेक्ष दृष्टि

महापुराण में आचार्य जिनसेन ने अनपेक्षित कायक्लेश का निषेध और अपेक्षित कायक्लेश में सापेक्ष दृष्टियुक्त विधान किया है। उन्होंने भगवान ऋषभदेव के प्रसंग में इसी सापेक्ष दृष्टि को प्रस्तुत करते हुए कहा है–

"मुमुक्षुओं को अपना यह धर्म-पालन सक्षम शरीर व्यर्थ ही कृश नहीं करना चाहिए और न ही उसे प्रवर रसों द्वारा पुष्ट करना चाहिए, अपितु उसे दोष निवृत्ति के लिए उपवासादि तपश्चरण करना चाहिए, साथ ही प्राणधारण के लिए आहार भी ग्रहण करना चाहिए।"[2] श्वेताम्बर आचार्यों और मुनिवरों ने भी एकान्त उपवासादि बाह्य तपस्या का भी सापेक्ष दृष्टि से कथन करते हुए कहा है–"वहाँ तक ही बाह्य तप करना चाहिए, जब तक मन में दुर्ध्यान, संक्लेश न हो तथा इन्द्रियाँ क्षीण होकर एकदम निढाल न हो जाएँ।"[3] 'उत्तराध्ययनसूत्र' में भी आहार और अनशन (उपवासादि) का एकान्त विधान नहीं है, अपितु छह कारणों से आहार करने की और छह कारणों से आहार त्याग करने की अनुमति दी गई है।[4]

---

१. देखें–उत्तराध्ययनसूत्र, अ. १९, गा. २५-३०

२. (क) तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीया वृत्ति, अ. ९/१९
   (ख) महापुराण २०/१-१०

३. तदेव हि तपः कार्यं दुर्ध्यानं यत्र नो भवेत्।
   येन योगा न हियेत, क्षीयन्ते नेन्द्रियाणि च॥ *–महोपाध्याय यशोविजय जी म.*

४. उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २६, गा. ३२-३४

संक्षेप में, कायक्लेश का विधान आध्यात्मिक स्वास्थ्य को सुरक्षित रखने के लिए है। देहाध्यास या काय-ममत्व इसमें बाधक बनता है। उसकी जड़ें बहुत गहरी हैं। इसलिए जो स्थान आरोग्य-प्राप्ति के लिए शल्य-चिकित्सा का है, वही स्थान आध्यात्मिक आरोग्य की प्राप्ति के लिए कायक्लेश का है।[१] देहाध्यास या काय-ममत्व की जड़ों को उखाड़ने के लिए शरीर को कष्ट-सहन में इतना सक्षम और लोहमय बना लें कि रोगादि कष्ट आने पर भी उसका प्रतिकार न करके स्वतः स्वास्थ्य-प्राप्ति हो जाए।

कायक्लेश तप के सन्दर्भ में जो आसनों का विधान है, वह भी आसनसिद्धि के लिए है। किसी भी तपःसाधक का आसन सिद्ध हो जाने पर सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि द्वन्द्व उसे नहीं सता सकेंगे। ये द्वन्द्व उसकी साधना में बाधक नहीं हो पाएँगे। आसनसिद्धि लगातार दीर्घकाल तक आसनों (योगासनों) के करने से होती है। आसनसिद्ध हो जाने पर उसे सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्वों का वेदन या बोध नहीं होगा। इनके आने पर भी वह अपनी साधना से विचलित नहीं होगा। उसका शरीर सब कुछ सहन करने में लचीला व सक्षम बन जाएगा। 'योगदर्शन' में भी आसनसिद्धि को कष्टों को सहन करने का उपाय बतलाया है।[२]

शीत-उष्ण परीषह का तात्पर्य और उस पर विजय कैसे ?

संवर-निर्जरा-साधक के जीवन में सर्दी, गर्मी आदि द्वन्द्वों को सहन करने की शक्ति का विकास होना चाहिए। 'आचारांगसूत्र' में परीषह के मुख्य दो भेद बताए हैं–शीत परीषह और उष्ण परीषह। 'आचारांगसूत्र' में एक सूक्त है–"**सीउसिणच्चाइ से निग्गंथे।**" निर्ग्रन्थ वह होता है, जो शीत और उष्ण को सहन कर लेता है। शीत परीषह का तात्पर्य वहाँ केवल मौसम की सर्दी सहने से ही नहीं है, अपितु भावों में भी सर्दी आ जाए उसे भी सहने से है। यही तात्पर्य उष्ण-परीषह का है। अनुकूल कष्ट सर्दी है और प्रतिकूल कष्ट है गर्मी। जो साधक अपने शरीर से सर्दी या गर्मी को सहन नहीं कर पाता, वह शरीर से कच्चा साधक रह जाता है, इसी प्रकार जो साधक अपने मन में अनुकूलता और प्रतिकूलता के कष्ट को नहीं सह पाता, वह संवर-निर्जरा-साधना के क्षेत्र में कच्चा रह जाता है। कच्चा साधक जब चाहे तब, जरा-सी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति में दुःखी और संक्लिष्ट हो सकता है। इसके विपरीत जो साधक परिपक्व हो जाता है, वह कैसी भी दुःखों या कष्टों की आँधी या तूफान आए, कष्ट नहीं पाता, मन में संक्लिष्ट नहीं होता। संवर-निर्जरा की साधना की आँच में तपते-तपते, यानी अनुकूलता-प्रतिकूलता को झेलते-झेलते जो

१. 'संस्कृति के दो प्रवाह' (युवाचार्य महाप्रज्ञ) से भावांश ग्रहण

२. प्रयत्न-शैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्। ततो द्वन्द्वानभिघातः। –योगदर्शन, पाद २, सू. ४७-४८

अभ्यस्त और परिपक्व हो जाता है, वह विश्वसनीय बन जाता है। केवल वयोवृद्ध हो जाने से ही कोई साधक परिपक्व व विश्वसनीय नहीं हो जाता, परन्तु जो परीषहों की भट्ठी में तप कर परिपक्व हो जाता है वही सुदृढ़ एवं विश्वसनीय बन जाता है। मिट्टी का घड़ा जब तक कच्चा होता है, आँवे में पक नहीं जाता, तब तक वह जल-धारण के योग्य नहीं होता, न वह अन्य चीजों के रखने योग्य माना जाता है। जब वह आँवे में तप कर पक्का हो जाता है, तभी पानी या अन्य वस्तुओं के रखने योग्य स्थिर व विश्वसनीय माना जाता है। यही कारण है कि संवर-निर्जरा की साधना में परिपक्वता के लिए प्रतिकूलता और अनुकूलता, दोनों प्रकार की आँच में से तपना जरूरी है।[१] इससे शरीर और मन, इन्द्रियाँ और अंगोपांग, वचन और व्यवहार सभी परिवार तप कर परिपक्व हो जाते हैं, परीषहों से जरा भी विचलित न होकर उन पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। 'उत्तराध्ययनसूत्र' के परीषह-विभक्ति अध्ययन में कहा गया है–"इन बाईस परीषहों के विषय में सुनकर, जानकर, इन्हें जीतकर, इन पर अभिभूत (हावी) होकर साधक अपनी किसी भी चर्या में इन परीषहों के उपस्थित होने पर इनसे विनिहत (प्रतिहत) नहीं होता।"[२] यही परीषह-विजय की उपयोगिता और साधक के लिए अनिवार्यता है।

गृहस्थ-साधक के जीवन में भी परीषह-विजय की उपयोगिता

केवल साधु-जीवन में ही नहीं, गृहस्थ-साधक (श्रावक) के जीवन में भी पद-पद पर परीषह-विजय की उपयोगिता है। सामायिक, पौषध, देशावकाशिक एवं यथासंविभाग व्रत में तथा तीन गुणव्रतों और पाँच अणुव्रतों के पालन में भी संवर-निर्जरा-साधक गृहस्थ अपरिपक्व या अनभ्यस्त होता है, प्रतिकूलता और अनुकूलता की आँच में तपा हुआ नहीं होता है तो विचलित हो सकता है। अन्य अनेक व्यावहारिक जीवन में कष्ट-सहिष्णुता की साधना से वंचित गृहस्थ मन में अत्यधिक दुःखी अथवा अहंकारी होकर असातावेदनीय आदि कर्मों का बन्ध कर लेता है। इसलिए गृहस्थ-साधक के जीवन में भी परीषह-विजय जरूरी है।

जैनदर्शन के मूर्धन्य विद्वान् पं. बेचरदास जी कहते थे–"जब हमें स्वतंत्रता-संग्राम के सिलसिले में जेल जाना पड़ता और वहाँ सोने-बिछाने के लिए मामूली दरी मिलती, तब हम यही समझते कि हम पौषधव्रत में हैं। स्वेच्छा से पौषध स्वीकार करने से वह कष्ट हमें कष्ट ही महसूस नहीं होता था।

१. 'जीवनविज्ञान' से भावांश ग्रहण, पृ. ११४

२. ......जे भिक्खू सोच्चा नच्चा जिच्चा अभिभूय.....पुट्ठो नो विनिहन्नेज्जा।

–उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २

परीषह-सहन कष्ट-सहिष्णुता बढ़ाने के लिए है

अतः परीषह कष्ट-सहन करने के लिए नहीं, अपितु तितिक्षा-शक्ति बढ़ाने के लिए है। जब तक कष्ट-सहन करने की क्षमता नहीं बढ़ती, तब तक व्यक्ति कष्ट और दुःख को मन पर लेकर तथा भविष्य के दुःखों की कल्पना करके अत्यधिक व्यथित और दुःखित होता रहता है, उसे आत्मिक सुख का अनुभव नहीं होता, जो आत्मा का स्वाभाविक एवं निजी गुण है। पदार्थजनित सुख के बाह्य साधन होते हुए भी सहिष्णुता का अनभ्यासी व्यक्ति मन ही मन अनेक प्रकार से चितिन्त, व्यथित, उद्विग्न और आकुल-व्याकुल होता रहता है।

इसलिए जो यह कहते हैं कि सर्दी, गर्मी, भूख-प्यास आदि विविध द्वन्द्वों को सहन करने की क्या आवश्यकता है? हम विविध साधनों से सर्दी-गर्मी आदि मिटा लेंगे। इन सब द्वन्द्वों का उन उपायों के सामने कोई वश नहीं चलेगा।" परन्तु पूर्वबद्ध अशुभ कार्यों का उदय हो तो क्या इन द्वन्द्वों को मिटाया जा सकेगा? फिर कितना ही खा लेने पर, गरिष्ठ एवं स्वादिष्ट पदार्थों का उपभोग कर लेने पर भी भूख, रोग, प्यास आदि दुःख नहीं मिट सकेंगे। इन पूर्वबद्ध कर्मजनित दुःखों-कष्टों को मिटाने का उपाय है—कष्टों-दुःखों को समभावपूर्वक प्रसन्नता से सहना। अतः परीषहरूप कष्ट कष्ट के लिए नहीं, किन्तु कष्टों को मिटाने के लिए सहना आवश्यक है।

परीषह-विजय कर्मजनित दुःखों से मुक्ति का पथ है

सारा संसार कर्मजनित दुःखों से आक्रान्त है, व्याकुल है, पंचेन्द्रिय विषयों के उपभोग के साधन तथा बाह्य साधन होते हुए भी व्यक्ति आधि, व्याधि और उपाधि से त्रस्त है। ऐसी स्थिति में परीषह-सहन या परीषह-विजय का पथ इन कर्मजनित दुःखों से मुक्ति का मार्ग है। यह कष्टों को आमंत्रित करने का मार्ग नहीं है। बल्कि आन्तरिक शक्ति, आत्मिक आनन्द (सुख) बढ़े, मनोबल बढ़े, ज्ञानदर्शन का आवरण आंशिक रूप से अधिकाधिक हटने पर सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन का प्रकाश बढ़े, कषायों एवं राग-द्वेषों का आवेग क्रमशः मन्द हो, अनाकुलता बढ़े, इसके लिए परीषहरूप कष्ट सहना अत्यावश्यक है। परीषह-विजय का यह रहस्य पकड़ में आ जाए तो आज जो मार्ग अटपटा और दुष्कर लगता है, वह आनन्ददायक, सुख-शान्तिप्रदायक एवं आत्मिक-शक्तिवर्द्धक प्रतीत होगा।

परीषह-सहन के दो उद्देश्य : मार्गाच्यवन और निर्जरा

जैन-कर्मविज्ञान में केवल कर्मों के आने और बाँधने का ही निरूपण नहीं है,

अपितु पूर्वबद्ध कर्मों से छूटने और नये कर्मों को आते हुए रोकने का भी विधान है। जैनदर्शन के मूर्धन्य तात्त्विक ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र में परीषह-सहन करने के दो उद्देश्य बताते हुए कहा गया है–

"मार्गाच्यवन-निर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः।"[1]

परीषह-सहन करने का प्रथम उद्देश्य है–मार्गाच्यवन। जो रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग अथवा सर्वथा कर्ममुक्तिरूप मोक्षमार्ग या वीतरागता का जो मार्ग अंगीकृत किया है, उससे च्यवन-स्खलन न हो, उसमें स्थिर बने रहना। दूसरा उद्देश्य है–निर्जरा। निर्जरा (आंशिकरूप से पूर्वबद्ध कर्मों के क्षय) के लिए परीषह-सहन करना चाहिए।

व्यक्ति को अपने स्वीकृत पथ पर डटे रहने की क्षमता प्राप्त हो जाए और पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा हो जाए, इन दोनों उद्देश्यों के लिए परीषह-सहन करना चाहिए। साधक के सामने यदि ये दोनों उद्देश्य स्पष्ट हों तो भयंकर से भयंकर अनुकूल या प्रतिकूल कष्ट (दुःख) आ पड़ने पर भी वह रोयेगा नहीं, व्यथित और उद्विग्न नहीं होगा। वह यही सोचेगा कि मेरे पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा हो रही है, मेरी आत्मा में जो अनन्त शक्ति सोई पड़ी है, उसका कुछ हिस्सा भी बाहर प्रकट हो रहा है, आत्मा के अन्तर में आनन्द का सागर लहरा रहा है, उसका थोड़ा-सा अंश भी अभिव्यक्त होता है तो साधक कष्ट को कष्ट न मानकर उसे आनन्दपूर्वक सह लेता है। शान्ति और धैर्य के साथ दुःख को झेल लेता है। अतः आत्मा की आन्तरिक शक्ति जगाने और आन्तरिक आनन्द की अनुभूति कराने में परीषह-सहन की साधना वरदानरूप है। अगर परीषह-सहन के ये उद्देश्य और लाभ स्पष्ट न हों तो स्वीकृत पथ पर चलने में थोड़ी-सी कठिनाई आई कि व्यक्ति उससे विचलित, भ्रष्ट या उसे छोड़ने को उद्यत हो जाता है।

परीषह-सहन से शक्ति का प्रगटीकरण

आत्मा की सुषुप्त अनन्तशक्ति का बहुत बड़ा अंश सहिष्णुता के द्वारा प्रकट होता है। परीषह-सहन क्षमता (तितिक्षा) एक प्रकार की शक्ति ज्वाला की लौ है, जिसके द्वारा साधक का जीवन आलोकित होता है। जिसमें परीषह-सहन करने की चेतना जाग्रत नहीं होती, उसके जीवन में ज्ञान का प्रकाश नहीं हो पाता। जिसे अपने जीवन को उज्ज्वल प्रकाश से भरना है, उसे परीषह-सहिष्णु बनना होगा। परीषह-सहिष्णुता के साथ-साथ मनोबल, धृतिबल और अभयबल का भी विकास होता है।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, अ. ९, सू. ८

परीषह-सहिष्णुता के विकास के लिए धृति अपेक्षित है

परीषह-सहिष्णुता का विकास करने के लिए जीवन में धृति अपेक्षित है। धृति होती है तो मनुष्य कठोर से कठोर अनुशासन को सह सकता है। धृति कमजोर होने पर मनुष्य का मनोबल गिर जाता है। इसीलिए परीषहों को सहने के लिए साधक के हृदय में धैर्य का दीपक प्रज्वलित रहना चाहिए। परीषह बाईस प्रकार के बताए हैं।[१] उनमें सर्वप्रथम दो परीषह हैं–क्षुधा और पिपासा। इन दोनों का या अन्य परीषहों को सहने का तात्पर्य केवल भूख, प्यास, ठंड, गर्मी आदि को ही जैसे-तैसे सहन कर लेना नहीं है, उसका तात्पर्य है–भूख, प्यास, सर्दी-गर्मी आदि समभावपूर्वक सहन कर सके, ऐसी धृति का विकास करना 'चरक' के वृत्तिकार चक्रपाणी दल्हण ने धृति का लक्षण किया है–जिसके द्वारा मन पर नियंत्रण हो, ऐसी बुद्धि धृति है। 'दशवैकालिकसूत्र' में सुसमाहित संयमी साधकों की कष्ट-सहिष्णुता का दिग्दर्शन कराते हुए कहा गया है–"वे संयत सुसमाहित (सुख-समाधिस्थ) हैं, जो ग्रीष्म ऋतु में आतापना लेते हैं, हेमन्त ऋतु में अपावृत (खुले वदन) हो जाते हैं और वर्षा ऋतु में इन्द्रियों और मन को आत्मा में प्रतिसंलीना कर लेते हैं। साथ ही वे महर्षिगण परीषह-रिपुओं का दमन कर लेते हैं, मोह को प्रकम्पित कर देते हैं, जितेन्द्रिय हो जाते हैं। वे अपने सभी (पूर्वबद्ध कर्मजनित) दुःखों को प्रक्षीण करने के लिए ही ऐसा पराक्रम करते हैं।"[२]

परन्तु इन सब के पीछे धृतिबल है। सारा नियंत्रण धृति के द्वारा ही सम्भव है। 'दशवैकालिक निर्युक्ति' में एक प्रश्न उठाया गया है–श्रामण्य (श्रमण-जीवन) को कौन भलीभाँति निभा सकेगा? उत्तर में कहा गया है–जिसके जीवन में धृति है, वह श्रमण-जीवन का अन्त तक सम्यक् पालन करेगा। जिस साधक के जीवन में धृति नहीं है, वह सामान्य कष्ट से, मानसिक प्रतिकूलता से घबरा जाएगा, श्रमणत्व से भ्रष्ट हो जाएगा। मुख्य परीषह बाईस हैं, वे क्रमशः इस प्रकार हैं–(१) क्षुधा, (२) पिपासा, (३) शीत, (४) उष्ण, (५) दंश-मशक, (६) नग्नत्व, (७) अरति,

---

१. क्षुत्पिपासा-शीतोष्ण-दंशमशक-नाग्न्याऽरति-स्त्री-चर्या-निषद्या-शय्याऽऽक्रोश-वध-याचनाऽलाभ-रोग-तृणस्पर्श-मल-सत्कार-पुरस्कार-प्रज्ञाज्ञानाऽदर्शनानि।

–तत्त्वार्थसूत्र, अ. ९, सू. १०

२. आयावयंति गिम्हेसु, हेमंतेसु अवाउडा।
वासासु पडिसंलीणा संजया सुसमाहिया॥१२॥
परीसह-रिउदंता धूअमोहा जिइंदिया।
सव्वदुक्ख पहीणट्ठा पक्कमंति महेसिणो॥१३॥ *–दशवैकालिकसूत्र, अ. ३, गा. १२-१३*

(८) स्त्री, (९) चर्या, (१०) निषद्या, (११) शय्या, (१२) आक्रोश, (१३) वध, (१४) याचना, (१५) अलाभ, (१६) रोग, (१७) तृणस्पर्श, (१८) मल, (१९) सत्कार-पुरस्कार, (२०) प्रज्ञा, (२१) अज्ञान, और (२२) अदर्शन।

इन बाईस परीषहों में कुछ परीषह तो शारीरिक हैं, कुछ मानसिक हैं और कुछ परीषह हैं–भावनात्मक। इनका संक्षेप में लक्षण इस प्रकार है–
(१-२) **क्षुधा-पिपासा**–भूख और प्यास की चाहे जितनी वेदना हो, किन्तु अंगीकृत-मर्यादा के विपरीत आहार-पानी न लेते हुए समभावपूर्वक इन कष्टों को सहना। (३-४) **शीत-उष्ण**–ठंड और गर्मी से चाहे जितना कष्ट हो, फिर भी उनके निवारणार्थ अकल्प्य वस्तु का सेवन न करके समभावपूर्वक उन्हें सहन करना। (५) **दंश-मशक**–डाँस और मच्छर आदि जन्तुओं के उपद्रव से क्षुब्ध न होकर समभावपूर्वक सहन करना। (६) **अचेलत्व** (अल्प-जीर्ण वस्त्रत्व या निर्वस्त्रत्व) साधक के पास चाहे फटे-पुराने वस्त्र हों अथवा नग्नत्व हो, समभावपूर्वक सहना। (७) **अरति**–अंगीकृत मार्ग में अनेक कठिनाइयों के कारण अरुचि का प्रसंग आने पर भी अरुचि न लाते हुए धैर्यपूर्वक संयममार्ग में रुचि लेना। (८) **स्त्री**–पुरुष या नारी साधक का अपनी साधना में विजातीय आकर्षण के प्रति न ललचाना। (९) **चर्या**–स्वीकृत धर्मजीवन को पुष्ट करने के लिए निःसंग होकर विहार आदि विभिन्न चर्या करना। (१०) **निषद्या**–साधनानुकूल विविक्त स्थान में मर्यादित समय तक आसन लगाकर बैठे हुए साधक पर यदि कोई खतरा आ जाए तो उसे अकम्पितभाव से जीतना या आसन से च्युत न होना। (११) **शय्या**–कोमल या कठोर, ऊँची या नीची, जैसी भी जगह सहजभाव से मिले, वहाँ समभावपूर्वक शयन करना। (१२) **आक्रोश**–कोई पास आकर गाली दे, दुर्वचन कहे, कठोर वचन कहे, तो भी उसे सत्कार समझकर सहन करना। (१३) **वध**–किसी के द्वारा मारने-पीटने या धमकी दिये जाने पर भी उसे सेवा या सत्कार-सम्मान समझकर सहन करना। (१४) **याचना**–अपनी संयम यात्रा के निर्वाहार्थ-दैन्य या अहंकारभाव से रहित होकर याचकवृत्ति स्वीकार करना। (१५) **अलाभ**–याचना करने पर भी यदि अभीष्ट और कल्पनीय वस्तु न मिले तो प्राप्ति के बजाय अप्राप्ति को ही सच्चा तप मानकर संतोष रखना। (१६) **रोग**–किसी भी रोग के आने पर व्याकुल न होकर समभावपूर्वक उसे सहन करना। (१७) **तृण-स्पर्श**–संथारा व्रत में या अन्य समय में तृण आदि की तीक्ष्णता या कठोरता का अनुभव हो तो मृदुशय्या के सेवन जैसी प्रसन्नता रखना। (१८) **मल**–पसीना आदि के कारण शरीर पर मैल चढ़ जाने पर भी उद्विग्न न होना। (१९) **सत्कार-पुरस्कार**–सत्कार या पुरस्कार मिलने पर अहंकार या गर्व न करना, न मिलने पर खिन्न न होना। (२०) **प्रज्ञा**–चमत्कारिणी

प्रखर बुद्धि होने पर गर्व न करना, वैसी बुद्धि न होने पर खेद न करना। (२१) अज्ञान–विशिष्ट शास्त्रज्ञान से गर्वित न होना और उसके अभाव में मन में हीनभावना न लाना। (२२) अदर्शन–सूक्ष्म और अतीन्द्रिय पदार्थों का दर्शन न होने से स्वीकृत त्याग निष्फल न मानना, विवेकपूर्वक श्रद्धा रखना और प्रसन्न रहना।[1]

सर्वाधिक कठिन भावनात्मक परीषह : प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन

इन बाईस परीषहों में सबसे अधिक कठिन है–प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन परीषह। प्रजा परीषह उत्पन्न होने पर साधक सोचने लगता है–मुझें कितने वर्ष हुए साधना करते-करते, कितना तप, जप, ध्यान, मौन किया? फिर भी कहाँ स्वर्ग, मोक्ष या अन्य उपलब्धियाँ, सिद्धियाँ? मैं सचमुच ठगा गया। इसी प्रकार के दुश्चिन्तन से साधक भटक जाता है, पथभ्रष्ट हो जाता है, उपलब्ध संयम-सम्पदा को खो बैठता है। उसकी धृति ध्वस्त हो जाती है। इसी प्रकार अज्ञान परीषह जब आता है तो साधक दूसरे ज्ञान-सम्पन्न मुनियों से ईर्ष्या करने लगता है कि अमुक-अमुक साधु तो शास्त्रीयज्ञान को शीघ्र ही ग्रहण कर लेते हैं, कण्ठस्थ भी कर लेते हैं, एक मैं हूँ, इतने वर्ष हुए रटते-रटते एक अध्ययन भी कण्ठस्थ नहीं होता। ऐसी दशा में उसका मन एक बार तो माष-तुष मुनि की तरह उद्विग्न और अशान्त हो जाता है। परन्तु माष-तुष मुनि ने पूर्वकृत ज्ञानावरणीय कर्म का उदय समझकर गुरुवचन पर श्रद्धा रखकर रटना नहीं छोड़ा। पवित्र अन्तःकरण से किये हुए पुरुषार्थ के कारण भेदज्ञान की स्थिति में पहुँच गया और अन्त में आत्मा पर से शरीर तथा पर-भावों का मोह विच्छिन्न हो गया। फलतः केवलज्ञान प्रगट हो गया। परन्तु अश्रद्धालु और अधृतिमान् मुनि ज्ञानावरणीय कर्म को क्षय करने का पुरुषार्थ करने के बदले स्वयं अज्ञान में पड़े रहना श्रेयस्कर समझते हैं। ज्ञान और ज्ञानी की आशातना करके तथा अज्ञानवादी बनकर इस परीषह से पराजित हो जाते हैं। अदर्शन परीषह से ग्रस्त साधक तो कांक्षामोहनीय कर्म के वशीभूत होकर समाधि से ग्रस्त हो जाता है।

धृति और आत्म-शक्ति का विकास : सहिष्णुता के लिए सहायक

कई साधक ऐसे भी होते हैं, जो सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि कष्टों को सह लेते हैं, मासक्षपण तप कर लेते हैं, परन्तु मन के प्रतिकूल जरा-सी बात हुई या किसी ने उनका जरा-सा भी प्रतिवाद कर दिया तो वे एकदम भड़क उठते हैं, प्रतिपक्षी को मारने-पीटने या मरवाने या बदनाम करने तक का हिंसात्मक कदम उठा लेते हैं। परन्तु जिनकी धृति और आत्म-शक्ति का विकास हो जाता है, कष्ट-

---

१. 'तत्त्वार्थसूत्र, विवेचन' (पं. सुखलाल जी) से भाव ग्रहण, पृ. २१५

सहिष्णुता में जो अभ्यस्त हो जाते हैं। उनके तन-मन-वचन में भयंकर से भयंकर मानसिक, शारीरिक या भावनात्मक परीषह उपस्थित होने पर भी विचलितता नहीं आती। वे हँसते-हँसते आनन्दपूर्वक उस परीषह को सह लेते हैं।

आदर्श स्पष्ट हो तभी धृति और प्रसन्नता जाग्रत होती है

परीषह सहिष्णु साधक में ऐसी धृति, आत्म-शक्ति एवं प्रसन्नता तभी जाग्रत होती है—जब उसके सामने एक स्पष्ट आदर्श हो। वीतराग प्रभु या वीतरागता एक आदर्श है, जो व्यक्त नहीं है, फिर भी शुद्ध आत्मा में वीतरागता के या अर्हत्-आत्मा के अनन्त-ज्ञान-दर्शन-आनन्द-शक्ति नामक गुणों का समुच्चय प्रगट हो जाता है, प्रगट हो सकता है। अतः मेरा आदर्श वीतराग अर्हत् परमात्मा है। अर्हत् परमात्मा तक मुझे पहुँचना है। मुझे स्वयं आत्मा में सुषुप्त अर्हत्व को जगाना है। इस प्रकार बृहत्-आदर्श स्पष्ट होने पर साधक को बड़े से बड़ा, प्रतिकूल से प्रतिकूल परीषह सहने में आनन्द आएगा। उसकी आन्तरिक शक्तियाँ, क्षमताएँ जाग्रत और विकसित हो जाएँगी। यदि उसके सामने आदर्श स्पष्ट नहीं है तो केवल रटी-रटाई बातें प्रगट करेगा या देखा-देखी करेगा। वह परीषह के आने पर सुख-सुविधा वाला मार्ग खोजेगा, बाहर से सहिष्णुता का दिखावा करेगा। उसके अन्तर में व्याकुलता, दुराव-छिपाव, दम्भ, भय और पलायन की वृत्ति चलती रहेगी।

भगवान महावीर द्वारा परीषह-सहन का आदर्श प्रस्तुत

'आचारांगसूत्र' में भगवान महावीर की परीषह-सहिष्णुता का वर्णन है। उसे पढ़ने से उनकी धृति, आत्म-बल एवं तितिक्षा-क्षमता का स्पष्ट पता लगता है। उसका सारांश इस प्रकार है—

लाढ़ जैसे रूक्ष देश में तृणस्पर्श, शीतस्पर्श, उष्णस्पर्श एवं दंश-मशक के विभिन्न परीषह भगवान महावीर ने समभाव से सहन किये।

उस रूक्ष प्रदेश वाले लाढ़ देश में रूखा-सूखा आहार करने वाले लोग भी बड़े रूखे थे। इसलिए भगवान को निवास-स्थान और आसन भी खराब मिले। फिर भी उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक सहन किया।

कई लोग उनके पीछे हिंसक कुत्ते छोड़ देते थे, कई उन कुत्तों को छुछकारते थे, कुछ थोड़े-से लोग उन शिकारी कुत्तों को दूर भगा देते थे। वहाँ विचरण करने वाले अन्य धर्म-सम्प्रदाय के साधु हाथ में लंबी लाठी रखते थे, जिससे वे कुत्तों को भगा देते थे। परन्तु भगवान महावीर किसी प्रकार का दण्ड या लाठी नहीं रखते थे। न ही वे कोई बचाव करते थे। वे अपने आत्म-बल के आश्रय से वहाँ विचरण करते थे।

कुछ लोग वहाँ भगवान महावीर पर धूल उछालते, कुछ उन पर थूक देते थे, कुछ लोग डंडे, मुक्के, ढेले, ठीकरे और पटिये से उनको आहत करते थे। कुछ लोग उन्हें अपशब्द कह देते थे और कुछ शरारती लोग उनकी मजाक उड़ाते और उन्हें उठाकर नीचे पटक देते थे। भगवान मौन रहकर इन सब उपसर्गों को कर्मक्षय के हेतु मानकर समभावपूर्वक सह लेते थे।

भगवान महावीर जब आसन लगाकर ध्यान करने बैठते तो उपद्रवी लोग उनका आसन भंग कर देते थे।

भगवान महावीर इन सब उपसर्गों को इसी तरह सहन करते थे, जैसे शरीर से उनका पृथक् अस्तित्व हो।

इन परीषहों और उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन करने से भगवान के पूर्वबद्ध घातिकर्मों का अतिशीघ्र क्षय हो गया। भगवान महावीर की आत्मा में अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति का आवृत सूर्य अनावृत होकर प्रकाशमान हो उठा।

भगवान महावीर के सामने आदर्श स्पष्ट था, इस कारण उनका धृतिबल, आत्म-बल और आत्मिक आनन्द का बल उत्कृष्ट हो चुका था। इसलिए उनके द्वारा परीषहों पर विजय परम संवर और महानिर्जरा का कारण बना।

सहिष्णुता के छोटे लक्ष्य, निर्जरा-संवर के कारण कब, कैसे ?

कई लोग यह कहते हैं, राष्ट्र-सेवा, समाज-सेवा तथा ग्राम, नगर या प्रान्त की सेवा अथवा अपनी जाति और कौम की सेवा के लिए जो लोग भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदि का कष्ट सहते हैं, स्वतंत्रता-संग्राम के दिनों में कई स्वतंत्रता-सेनानी लाठी, गोली, मारपीट, अपमान आदि कष्टों को भी सहन करते थे। महाराणा प्रताप जैसे कई लोगों ने मेवाड़ की स्वतंत्रता के लिए जंगल में रहकर अभाव-पीड़ित जीवन बिताया, अनेक कष्ट सहे; क्या उनके या इसी प्रकार के अन्य लोगों के द्वारा कष्ट-सहन करना संवर या निर्जरा का कारण नहीं होगा? जैन-सिद्धान्त इसका समाधान इस प्रकार करता है—जिस व्यक्ति में सम्यग्दृष्टि नहीं है, तथा कष्ट-सहन के प्रति संकीर्ण सामुदायिक स्वार्थभावना है, साथ ही उसके विपक्षी या विरोधी के प्रति द्वेष या शत्रुता का भाव है अथवा जो लोग उन्हें कष्ट देते हैं या जिन लोगों ने उन्हें बरबस कष्ट सहने को विवश कर दिया, उन लोगों के प्रति उनमें समभाव रहे ही, ऐसा विरले व्यक्ति में होता है। हाँ, प्रतिपक्षी या विरोधी के प्रति बन्धुभाव हो, उनको सद्बुद्धि पैदा हो, ऐसी भावना हो, तो संवर-निर्जरा तो नहीं, किन्तु पुण्य उपार्जित हो सकता है। जो व्यक्ति दूसरों के प्रति

वैर-भाव, द्वेष, रोष आदि भाव न रखकर केवल अपने दोषों के प्रायश्चित्त रूप में कष्ट-सहन करता हो, तप करता हो, वहाँ इहलौकिक या पारलौकिक कामना-नामना न हो तो निर्जरा भी सम्भव है, संवर भी हो सकता है। अज्ञानपूर्वक तपश्चरण, कष्ट-सहन से पुण्यबन्ध हो सकता है, संवर-निर्जरा नहीं। फिर भी कषाय, रोष, आवेश, आसक्ति आदि से प्रेरित न होकर जो ज्ञानपूर्वक या समभावपूर्वक कष्ट-सहिष्णुता का अभ्यास करता है, वहाँ संवर, निर्जरा और पुण्य तीनों घटित हो सकते हैं।

धार्मिक कौन, अधार्मिक कौन ?

धार्मिक और अधार्मिक का अर्थ साम्प्रदायिक या विधर्मी नहीं है, अपितु जो सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक अहिंसादि धर्मों का आचरण करता हो, वह धार्मिक है और जो शुद्ध धर्म का आचरण न करके औरंगजेब की तरह केवल साम्प्रदायिक क्रियाएँ करता है और कट्टरता रखता है, दूसरों को विधर्मी मानकर उनका अपमान करता है, दूसरे धर्म-सम्प्रदायों से रोष, द्वेष, वैर, ईर्ष्या रखता है, उन्हें बदनाम करता है तथा अपने सम्प्रदाय को, अपने क्रियाकाण्डों को उत्कृष्ट बताकर दूसरों की निन्दा, बदनामी करने तथा सम्प्रदायान्तर धर्मान्तर करने-कराने को तत्पर रहता हो, वह भले ही धार्मिकता का जामा पहना हुआ हो, सरासर अधार्मिक है। वह भले ही धार्मिक क्रियाकाण्ड, तपस्या आदि करके कष्ट उठाता हो, कषायों का, राग-द्वेषों का एवं ईर्ष्या, निन्दारूप पापस्थान का मित्र है। उसका यह अकृत्य संवर-निर्जरा का तो क्या, पुण्य का भी होना कठिन है।

सच्चे धार्मिक की पहली कसौटी—सहिष्णुता

सच्चे धार्मिक की सबसे पहली कसौटी है—सहिष्णुता। वह परिस्थिति का दास नहीं बनता, न ही वह अपने पर आए हुए कष्ट के लिए निमित्तों को या अन्य सम्प्रदायी लोगों को कोसता है। सच्चा धार्मिक व्यक्ति कष्ट आने पर कभी यह नहीं कहेगा कि धर्मात्मा पर कष्ट आए तो धर्माचरण करने से लाभ क्या? सच्चा धार्मिक यही कहेगा—धर्माचरण करने वाले पर पूर्वकृत कर्मवश कष्ट आते हैं, पर वह कष्ट आने पर रोता-बिलखता नहीं, आनन्द से उस कष्ट को सह लेता है। धर्माचरण से मनुष्य में कष्ट सहने की क्षमता बढ़ती है। जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, विघ्न आदि संकट—दुःख धार्मिक पर भी आते हैं, अधार्मिक पर भी। परन्तु सच्चा धार्मिक रोग, शोक, दुःख, प्रियजनवियोग आदि के समय विलाप, रुदन, हाय-हाय नहीं करता, बल्कि दूसरों को किसी प्रकार का कष्ट न देकर स्वयं उस कष्ट को समभाव से सह लेता है।

सच्चे धार्मिक की पहचान

खरतरगच्छीय जैन साध्वी श्री विचक्षणश्री जी कैंसर जैसे भयंकर रोग से पीड़ित थीं। अत्यन्त वेदना हो रही थी। परन्तु उन्होंने कभी किसी के सामने प्रगट नहीं किया कि मुझे बहुत कष्ट हो रहा है, बल्कि पूछने पर वे यों ही कहतीं– "आनन्द ही आनन्द है। कर्मों की निर्जरा करने का सुन्दर अवसर आया है।" जबकि अधार्मिक या तथाकथित क्रियाकाण्ड-परायण व धार्मिकता का दावा करने वाला व्यक्ति उपर्युक्त कष्टों के समय हायतोबा मचाने और दूसरों को कोसने लगता है। रोगादि का कष्ट तो उसे बरबस सहना ही पड़ता है, किन्तु वह लाचारी से, हाय-हाय करते, रोते-बिलखते सहता है। शान्तभाव से उपर्युक्त दुःखों को सहने की शक्ति उसी में आती है, जिसे शरीर और आत्मा की भिन्नता का भेदविज्ञान हो जाता है। वह यही कहता है–"रोगादि कष्ट शरीर को होता है, मुझे नहीं। मेरी आत्मा में शान्ति है।"

सच्चा धार्मिक सहनशील होता है। वह स्वयं कष्ट सहकर दूसरों के कष्ट को कम करने की कोशिश करता है, दूसरों को सुखी देखकर उसे ईर्ष्या नहीं होती, बल्कि इस प्रकार के कष्ट सहने में आत्मौपम्यभाव की आत्म-धर्म की प्रेरणा होती है; किसी के प्रति एहसान के भाव नहीं होते। न ही कष्ट-सहिष्णु धार्मिक में छोटे-बड़े का भेदभावमूलक प्रश्न बाधक बनता है। बड़े छोटों को और छोटे बड़ों को सहन करते हैं।

सामूहिक जीवन में सहिष्णुता आवश्यक

पारिवारिक, सामाजिक तथा धर्मसंघीय, सम्प्रदायीय अथवा सामूहिक जीवन में तो सहिष्णुता के बिना काम नहीं चलता। इनमें परस्पर सहिष्णुता बहुत ही आवश्यक है। इनमें परस्पर सहिष्णुता न हो तो मैत्री का निर्वाह हो ही नहीं सकता। परिवार, समाज, राष्ट्र आदि की वृत्ति, रुचि और प्रवृत्तियों में भिन्नता होनी स्वाभाविक है। सम्यग्दृष्टि-सम्पन्न सच्चा धार्मिक संघ या समूह में एक-दूसरे के प्रति विघटन पैदा करने, दूसरे को नीचा दिखाने, निन्दा या बदनामी करने की द्वेष-घृणा भावना न रखकर सहिष्णुतापूर्वक जीता है। एक-दूसरे की खूबियों और खामियों के प्रति सहिष्णुता हो तो दोष, दुर्बलता दूर हो सकने की सम्भावना बढ़ती है। इस प्रकार की सहिष्णुता दुर्बलता या कायरता नहीं, अपितु सामूहिक व्यवस्था को बनाये रखने की, सुधार की उदात्तभावना है। स्वयं का व्यक्तित्त्व शक्तिशाली बनाने की क्षमता बढ़ती है। वैचारिक आचारिक सहिष्णुता अनेकान्तवाद को जीवन में चरितार्थ करने की कुंजी है। इससे व्यक्ति में सर्वभूतात्मभूत की भावना पनपती है। जो शुभ योग-संवर है, पुण्य है।

पारिवारिक जीवन में सहिष्णुता का आदर्श

जापान के एक वयोवृद्ध मंत्री थे 'भो-चो-शान'। उनके परिवार में उनके बेटे, पोते, पड़पोते आदि कुल मिलाकर सौ से अधिक सदस्य थे। वे सब एक ही स्थान में एक साथ रहते थे। उनमें कभी परस्पर तू-तू मैं-मैं, चखचख, वैमनस्य अथवा कलह नहीं होता था। जापान के तत्कालीन सम्राट् मिकाडो के कान में यह बात पहुँची। वह आश्चर्यान्वित होकर इसका रहस्य जानने के लिए एक दिन वृद्ध मंत्री के घर जा पहुँचा। वृद्ध मंत्री ने नमस्कार करके कुशलक्षेम पूछने के बाद आगमन का कारण पूछा। राजा मिकाडो ने पूछा–"मंत्रिवर ! आपके इतने बड़े परिवार में कभी संघर्ष नहीं होता, यह सुनकर मैं इसका रहस्य जानने के लिए आया हूँ कि इसका कारण क्या है?"

यह सुनकर वृद्ध मंत्री ने इशारे से अपने पौत्र को दवात, कलम, कागज लाने के लिए कहा–जब वह ये सब चीजें लेकर आया तो वृद्ध मंत्री ने अपने काँपते हाथों से कागज पर एकमात्र 'सहनशीलता' शब्द को सौ बार लिखकर राजा मिकाडो के सामने वह कागज प्रस्तुत कर दिया और कहा–"मेरे इतने बड़े परिवार में कभी किसी बात पर संघर्ष न होने का रहस्य यही है।"

वर्तमान वैचारिक आचारिक सहिष्णुता का प्रायः अभाव

आजकल गृहस्थों के जीवन की क्या बात करें, बड़े-बड़े साधकों में परस्पर अहंकार टकराने के कारण, साम्प्रदायिक द्वेष, ईर्ष्या आदि तथा तेजोद्वेष के कारण सहिष्णुता का, वैचारिक-आचारिक सहनशीलता का एक प्रकार से दुष्काल आ गया है। सहिष्णुता व परीषह सहिष्णुता के अभाव में छोटी-छोटी बात पर ठन जाती है, अपनी व अपने सम्प्रदाय की उत्कृष्टता और क्रियापात्रता की डींग हाँककर दूसरे सम्प्रदाय को या दूसरे सम्प्रदाय के गुणी साधु-साध्वी को हिकारतभरी दृष्टि से देखा जाता है, सहनशीलता न होने से अनेकान्तवाद की, समता की या परीषह-सहिष्णुता अथवा कषाय-विजय की बड़ी-बड़ी बातें केवल पोथी के बैंगन ही सिद्ध होती हैं। पर-परिवाद और खिंखिणी (निन्दा) तो पापकर्मबन्धक है, उसे तो असहिष्णु ही करता है। ऐसे गृहस्थ और साधु असहिष्णु होने के कारण जरा-जरा-सी बात में उत्तेजित हो जाते हैं, वे फिर आचार्य, गुरु या बुजुर्ग या बड़े साधुओं के अनुशासन में नहीं रहना चाहते हैं। ऐसे साधु आखिरकार स्वच्छन्दाचारी बन जाते हैं। वे फिर समूह में रहने से सहिष्णु बनकर सत्य या हितकर बातों को मानने से कतराते हैं। जबकि शास्त्र बार-बार कहते हैं–"अणुसासिओ न कुप्पेज्जा।"–साधक अनुशासित किये जाने पर कुपित न हों।

सहिष्णुता का विकास होने पर

सहिष्णुता की शक्ति का विकास होने पर ही अनुशासन, परस्पर विनय, वात्सल्य, सहयोग और सेवाधर्म के पालन करने का अवसर आता है। तभी सम्यग्दृष्टिपूर्वक संवर और निर्जराधर्म साधक-जीवन में आ पाता है। सहिष्णुता का विकास एक प्रकार से आत्मिक-शक्ति का विकास है। इसी शक्ति के सहारे दूसरों की कमियों को, विशेषताओं को, क्षमा आदि गुणों को सहा जा सकता है। सहिष्णुता का विकास होने पर किसी की अपने प्रति प्रतिकूल या अमनोज्ञ बात सुनकर व्यक्ति तत्काल उत्तेजित नहीं होता। वह सोचेगा कि इसने मुझ पर आवेश-रोषवश जो भी कहा है, वह यदि तथ्ययुक्त है तो मुझे स्वीकार करने में और उसके कथन को बुरा न मानकर अपने लिए हितकर मानकर सहन करना चाहिए। यदि दूसरे का आक्षेपयुक्त कथन अयथार्थ है, मिथ्या दोषारोपण है तो उसका प्रतिवाद या उस व्यक्ति पर क्रोध करने से कोई लाभ नहीं होता। शान्तिपूर्वक सहन करने से व्यक्ति की सहन-शक्ति बढ़ती है, क्षमा करने से वह व्यक्ति सत्य समझने पर स्वतः झुक जाता है।

सहिष्णु बनकर सिद्धान्त पर अडिग रहने का सुपरिणाम

महात्मा गांधी जी जब अहमदाबाद के कोचरब स्थित आश्रम में रहते थे, तब दूधाभाई नामक एक हरिजन परिवार स्वेच्छा से रहने के लिए वहाँ आ गया। कस्तूरबा के विरोध के बावजूद गांधी जी ने उसे रख लिया। इस पर आश्रम को अर्थ-सहायता देने वाले कतिपय सेठ बौखला उठे। उन्होंने गांधी जी से प्रत्यक्ष और परोक्ष में आश्रम में ढेढ़, भंगी को रखने का सख्त विरोध किया और कहा–"अगर आप इस परिवार को रखेंगे, तो हम लोग आश्रम को अर्थ-सहयोग नहीं देंगे।" गांधी जी ने कहा–"हरिजन या कोई भी आश्रम के नियमानुसार स्वतः रहना चाहे तो मैं उसे धक्का नहीं दे सकता। धर्म-पालन का सबको अधिकार है। इस बात पर अर्थ-सहयोगी कई धनिकों ने आश्रम को सहायता देना बंद कर दिया। मगर गांधी जी इसे प्रभु की इच्छा मानकर कष्ट[१] सहने के लिए कटिबद्ध हो गए। गांधी जी की कष्ट-सहिष्णुता और सिद्धान्त-निष्ठा देखकर दूसरे ही दिन एक अज्ञात व्यक्ति सुबह-सुबह आकर आश्रम चलाने के लिए चुपचाप तेरह हजार के नोट थमाकर चला गया। यह था कष्ट-सहिष्णुता का सुपरिणाम !

कष्ट-सहिष्णुता का विलक्षण प्रभाव

गांधी जी अफ्रीका में रहते थे, तब हिन्दुस्तानियों के खिलाफ वहाँ की गोरी

---

१. 'आत्मकथा' (महात्मा गांधी जी) से सारांश ग्रहण

सरकार द्वारा काले क़ानून लागू कर दिये थे। इस पर गांधी जी ने उन्हें समझाया और कहा कि "ये काले कानून रद्द नहीं करेंगे तो हम आपके हृदय को अपील करने के लिए सत्याग्रह करेंगे।" गांधी जी वहाँ के सभी भारतीय लोगों के नेता थे। भारतीयों के संगठन के सामने गांधी जी ने जनरल स्मट्स के साथ हुई बात रखी। इस पर सभी उपस्थित भारतीय सत्याग्रह के लिए स्वीकृत और उद्यत हो गए। परन्तु दूसरे ही दिन जनरल स्मट्स ने गांधी जी को बुलाकर उनकी बात मान ली। अतः सत्याग्रह स्थगित रखा गया। मगर कई भारतीय उत्तेजित होकर गांधी जी को भला-बुरा कहने लगे–"आपने ही सत्याग्रह के लिए हमें कहा था, आप ही अब इन्कार कैसे कर रहे हैं?" गांधी जी द्वारा प्रेम से उन्हें सत्य-तथ्य समझाने पर भी वे नहीं समझे। आलमगिर नामक एक भारतीय पठान तो इतना उत्तेजित हो गया कि "गांधी जी को मैं मार-पीटकर सीधा करूँगा।" परन्तु गांधी जी इससे उत्तेजित नहीं हुए। दूसरे दिन गांधी जी जब कहीं जा रहे थे तो आलमगिर पठान ने उन्हें धक्का दिया और नीचे गिराकर पीटा। किन्तु गांधी जी ने उस पर जरा भी रोष न किया और न ही उसे अपशब्द कहे। एक अंग्रेज मित्र ने गांधी जी से कहा–"आप इस पठान पर मुकद्दमा चलाइए। मैं इस घटना की साक्षी दूँगा।" परन्तु गांधी जी ने कहा–"मुझे ऐसा बिलकुल नहीं करना है। इसने अज्ञानतावश मुझे मारा-पीटा है। जब यह सत्य समझेगा तो अवश्य ही पश्चात्ताप करेगा। मैं अपने किसी भी भाई पर मुकद्दमा नहीं चलाऊँगा।" जब आलमगिर को सच्ची बात समझ में आई तो वह आँखों से अश्रुपात करता हुआ गांधी जी के चरणों में गिरकर क्षमा माँगने लगा। यह था कष्ट-सहिष्णुता का विलक्षण प्रभाव !

परीषह-विजय के लिए क्षमा अमोघ साधन

परीषह-विजय के लिए क्षमा अमोघ साधन है। क्षमा का लक्षण है–"सत्यपि सामर्थ्ये अपकारसहनं क्षमा।"–अपने में प्रतिकार का सामर्थ्य होते हुए भी प्रतिकार न करके उसके क्षणिक अपकार को, अपने कर्मक्षय के लिए प्रदत्त का अवसर रूप उपकार मानकर सहना क्षमा है। ऐसा होने पर संवर और निर्जरा की साधना फलित होती है। कभी-कभी तो अर्जुन मुनि की तरह कष्ट-सहिष्णुता के अमोघ साधन रूप क्षमा से पूर्वबद्ध कर्म शीघ्र ही कट जाते हैं। अतः जो साधक परीषह-विजय के प्राप्त अवसरों को सच्चा साधक चूकता नहीं है, वह संवर और निर्जरा का लाभ अनायास ही पा लेता है।

● ●

१९

चारित्र : संवर, निर्जरा और मोक्ष का साधन

मोक्ष का साक्षात्कारण

चारित्र मुमुक्षु-जीवन का मूलाधार है। इसके बिना न तो साधक सर्वकर्म-मुक्तिरूप मोक्ष को प्राप्त कर सकता है, न ही कर्मलिप्त आत्मा की शुद्धि कर सकता है और न नये आते हुए कर्मों (आस्रवों) का निरोध कर सकता है। सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान सम्यक् नहीं हो सकता और ज्ञान सम्यक् हो, तभी चारित्रगुण सम्यक्चारित्र हो सकता है।[१] इसका तात्पर्य यह है सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ये दोनों सम्यक्चारित्ररूपी वृक्ष के बीज और मूल हैं। जैसे बीज और मूल के बिना कोई भी वृक्ष पनप नहीं सकता, वैसे ही सम्यग्दर्शनरूपी बीज और सम्यग्ज्ञानरूपी मूल के बिना सम्यक्चारित्ररूपी तरु पनप नहीं सकता, उसका अस्तित्व भी इन दोनों के बिना रह नहीं सकता। दूसरी दृष्टि से देखें तो सम्यक्चारित्र अपने साथ इन दोनों को लेकर चलता है। इसलिए 'सर्वार्थसिद्धि' में कहा गया है-"चारित्र मोक्ष का साक्षात्कारण है, इसी तथ्य को बताने के लिए शास्त्रों में तथा 'तत्त्वार्थसूत्र' में चारित्र का ग्रहण अन्त में किया है। 'चारित्रपाहुड' में तो सम्यग्दर्शनादि तीनों को चारित्र (चरण) रूप बताते हुए कहा गया है-"प्रथम सम्यक्त्वचरण चारित्र मोक्ष स्थान के लिये है, अतः जो ज्ञानी अमूढ़दृष्टि होकर सम्यक्त्वचरण से शुद्ध होता है, वह संयमाचरण से विशुद्ध होकर शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त होता है।" 'महापुराण' के अनुसार-"सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान से रहित चारित्र कुछ भी कर्ममुक्तिरूप कार्य के लिए उपयोगी नहीं होता, अपितु जिस प्रकार अन्धे पुरुष का दौड़ना उसके पतन का कारण होता है, वैसे ही वह (कोरा चारित्र) उसके पतन (नरकादि गतियों में भ्रमण) का कारण होता है क्योंकि उस चारित्र में चारित्र का अहंकार आ जाता

---

१. नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं।। *-उत्तराध्ययन, अ. २८, गा. ३०*

है।" इसीलिए 'भगवती आराधना' में कहा गया है–चारित्र की आराधना करने से दर्शन, ज्ञान और तप तीनों आराधनाएँ भी हो जाती हैं।[१]

विभिन्न पहलुओं से सम्यक्चारित्र-स्वरूप

'उत्तराध्ययनसूत्र वृत्ति' में दो प्रकार से चारित्र का निर्वचन किया गया है– (१) जो अष्टविध कर्मों को चरता है, भक्षण करता है–खपाता है, वह चारित्र है। (२) "**चयरित्तकरं चारित्तं।**" अर्थात् पूर्वबद्ध कर्मों के चय (संचय) को द्वादशविध तप से जो रिक्त (खाली) करता है, वह चारित्र है।[२] 'तत्त्वानुशासन' के अनुसार–मन-वचन-काय से कृत-कारित-अनुमोदन द्वारा पापरूप क्रियाओं का त्याग सम्यक्चारित्र है। यह निर्जरारूप चारित्र है और नवीन कर्मों के आस्रव को रोकना संवररूप चारित्र है।

'भगवती आराधना' में चारित्र का निर्वचन किया गया है–सत्पुरुषों द्वारा जिसका आचरण किया जाता है, वह चारित्र है, उसके सम्मायिकादि भेद हैं। अथवा "जिससे आत्म-हित की प्राप्ति करते हैं और अहित का निवारण करते हैं, वह चारित्र है।" 'सर्वार्थसिद्धि' में इसका फलितार्थ दिया गया है–"जो सम्यग्ज्ञानवान् व्यक्ति संसार के कारणों से निवृत्ति के लिए उद्यत है, उसके द्वारा कर्मों के ग्रहण करने में निमित्तभूत बाह्य और अन्तरंग क्रियाओं से उपरत–निवृत्त होना चारित्र है।"[३] 'द्रव्यसंग्रह' में चारित्र का लक्षण दिया गया है–"अशुभ से

---

१. (क) चारित्रमन्ते गृह्यन्ते मोक्षप्राप्तेः साक्षात्कारणमितिज्ञापनार्थम्।

–सर्वार्थसिद्धि ९/१८/४३६/४

(ख) तं चेव गुणविसुद्धं, जिणसम्मत्तं सुमुक्खठाणाय।
जं चरइ णाणजुत्तं पढमं सम्मत्तं चरणचारित्तं॥८॥
सम्मत्त-चरण-सुद्धा संजमचरणस्स जइ व सुपसिद्धा।
णाणी अमूढदिट्ठी अचिरे पावंति णिव्वाणं॥९॥ *–चारित्रपाहुड, मू. ८-९*

(ग) चारित्रं दर्शन-ज्ञानविकलं नार्थकृत् मतम्।
पतनायैव तद्धि स्यात् अन्धस्यैव विवल्गितम्॥ *–महापुराण २४/१२२*

(घ) अहवा चारित्ताराहणाए आराहियं सव्वं।
आराहणाए सेसस्स चारित्ताराहणा भज्जा॥ *–भगवती आराधना मू. ८/४१*

२. चेतसा वचसा तन्वा कृतानुमत-कारितैः पापक्रियाणां यस्त्यागः सच्चारित्रमुवन्ति तत्।

–तत्त्वानुशासन (नागसेनसूरि) २७

३. (क) चरति अष्टविधकर्म भक्षयति = क्षपयति इति चारित्रम्।
(ख) उत्तराध्ययन, अ. २८, गा. ३२ बृहद्वृत्ति (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ४८१

निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति को चारित्र जानना चाहिए। व्यवहारनय से उस चारित्र को व्रत, समिति और गुप्तिरूप कहा है।"[१]

यही तथ्य 'उत्तराध्ययनसूत्र' में दिया गया है-(सम्यक्चारित्र का विधान यह है कि) साधक एक ओर से विरति (निवृत्ति) करे और एक ओर से प्रवृत्ति। अर्थात् वह असंयम से निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति करे। इसका तात्पर्य यह है कि "निवृत्ति में असंयम उत्पन्न करने और बढ़ाने वाली तथा परिणाम में असंयमकारक वस्तु का विधिवत् त्याग-प्रत्याख्यान करना तथैव प्रवृत्ति में-संयमजनक, संयमवर्द्धक और परिणाम में संयमकारक वस्तु का स्वीकार करना।"[२] 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' में कहा है-"हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुनसेवन और परिग्रह, इन पाँचों पाप-प्रणालियों से विरत (निवृत्त) होना सम्यग्ज्ञानयुक्त चारित्र है।"[३] 'समयसार' में कहा गया है-(आत्मशुद्धि के लिये सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक) "जो नित्य प्रत्याख्यान करता है, नित्य प्रतिक्रमण करता है तथा प्रतिदिन आलोचना करता है, उस आत्मा के लिए वह वास्तव में चारित्र है।"[४] 'योगसार' के अनुसार-"व्रतादि का आचरण करना व्यवहारचारित्र है।" 'पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय' के अनुसार-"समस्त सावद्य-योग (पापयुक्त मन-वचन-काया के व्यापार) के त्याग से, सम्पूर्ण कषायों से रहित तथा पर-पदार्थों से विरक्तिरूप विशद चारित्र है, जो आत्मा का स्वरूप है।"[५] ये सब व्यवहारचारित्र के लक्षण हैं। इस व्यवहारचारित्र-

---

पिछले पृष्ठ का शेष-

(ग) चर्यते सेव्यते सज्जनैरिति वा चारित्रं, सामायिकादिकम्।
चरति याति येन हितप्राप्तिं अहितनिवारणं चेति चारित्रम्॥
-भगवती आराधना, वि. ८/४१/११

(घ) संसारकारण-निवृत्तिं प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतः कर्मादान-क्रियोपरमः सम्यक्चारित्रम्।
-सर्वार्थसिद्धि १/१/५/८

१. असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वद-समिदि-गुत्तिरूव-ववहारणयादु जिण-भणियं॥ *-द्रव्यसंग्रह मू. ४५*

२. एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं।
असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं॥ *-उत्तरा. ३१/२ व्याख्या (आ. प्र. स.), पृ. ५५३*

३. हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवा-परिग्रहाभ्यां च।
प्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम्॥ *-रत्न. क. श्रावकाचार ४९*

४. णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वइ, णिच्चं पडिक्कमदि यो य।
णिच्चं आलोचेयइ, सो हु चारित्तं हवइ चेया॥ *-समयसार मू. ३८६*

५. (क) कारणं निर्वृतेरतद्धारित्रं व्यवहारतः। *-योगसार, अ. ८, श्लो. ९५*

(ख) चारित्रं भवति यतः समस्त-सावद्ययोग-परिहरणात्।
सकलकषाय-विमुक्तं विशदमुदासीनकात्मरूपं तत्॥ *-पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ३९*

पालन के १३ अंग हैं–पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति। व्यवहारचारित्र की भावनाएँ इस प्रकार हैं–ईर्यादि (गमनादि) के विषय में यतना करना, अर्थात् ईर्या, भाषा, एषणा आदि पाँच समितियों का विवेकपूर्वक पालन करना, मन-वचन-काया की गुप्तियों का पालन करना तथा २२ प्रकार के शास्त्रोक्त परीषहों का सहन करना, इन्हें चारित्र की भावनाएँ समझना चाहिए।[१]

निश्चयदृष्टि से सम्यक्चारित्र के विविध लक्षण

अब निश्चयचारित्र के लक्षण देखिये–'समयसार' के अनुसार–"अपने (आत्मा के) ही ज्ञान–स्वभाव में निरन्तर चरण (विचरण) करना (निश्चयदृष्टि से) चारित्र है।" 'प्रवचनसार' का कथन है–"स्वरूप में चरण (रमण) करना, अर्थात् स्व-समय में प्रवृत्ति करना चारित्र है। वही वस्तु (आत्मा) का स्वभाव होने से धर्म है।" 'पंचास्तिकाय' में कहा है–"जीव का स्व-भाव में अवस्थित रहना ही चारित्र है।" 'नियमसार' के अनुसार–"निज-स्वरूप में अविचल स्थिति रूप सहज निश्चयचारित्र है।" 'परमात्म-प्रकाश' के अनुसार–"अपनी आत्मा को जानकर तथा उसका श्रद्धान् करके जो सम्यग्ज्ञानवान् पर-भाव को छोड़ता है, वह निज आत्मा का शुद्ध भाव चारित्र होता है।" 'समयसार तात्पर्य वृत्ति' में भी कहा है–"आत्माधीन ज्ञान व सुखस्वभावरूप शुद्ध आत्म-द्रव्य में निश्चल-निर्विकार-अनुभूतिरूप जो अवस्थान है, वही निश्चयचारित्र का लक्षण है।" 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' के अनुसार–"रागादि दोषों से रहित शुभ ध्यान में लीन आत्म-स्वरूप वस्तु को उत्कृष्ट चारित्र जानो।" 'मोक्षपंचाशिका' में कहा है–"अपने में ही अवस्थित आत्मा को, आत्मा द्वारा जो स्व-संवेद्य सहज निराकुलताजनक सुख (आनन्द) प्राप्त होता है, वह निश्चयात्मकचारित्र है।"[२]

---

१. (क) वद-समिदि-गुत्तिरूवं ववहारणयादु जिण-भणियं। —*द्रव्यसंग्रह मू. ४५*

(ख) ईर्यादिविषया यत्ना मनोवाक्काय-गुप्तयः परीषह-सहिष्णुत्वमिति चारित्रभावनाः। —*महापुराण २१/९८*

२. (क) स्वस्मिन्नेव खलु ज्ञानस्वभावे निरन्तर-चरणाच्चारित्रं भवति। —*समयसार आत्मख्याति ३८६*

(ख) स्वरूपे चरणं चारित्रं, स्वसमय-प्रवृत्तिरित्यर्थः।
तदेव वस्तु-स्वभावत्वाद्धर्मः॥ —*प्रवचनसार त. प्र. ७*

(ग) जीव-स्वभाव-नियत-चारित्रं भवति। तदपि कस्मात्? स्वरूपे चरणं चारित्रमिति वचनात्। —*पंचास्तिकाय ता. वृ. १५४/२२४*

(घ) स्वरूपाविचल-स्थितिरूपं सहज-निश्चय-चारित्रम्। —*नियमसार ता. वृ. ५५*

(ङ) जाणवि मण्णवि अप्पपरु जो परभाउ चएहि।
सो णियसुद्धउ भावडउ णाणिहिं चरणु हवेइ। —*परमात्म-प्रकाश मू. २/३०*

'समयसार' में संक्षेप में चारित्र का लक्षण किया है-"रागादि का परिहार करना चारित्र है।" 'द्रव्यसंग्रह टीका' के अनुसार-"समस्त संकल्प-विकल्पों के त्याग द्वारा उसी (वीतराग) सुख में तृप्त सन्तुष्ट आत्मा के द्वारा एकाकार परम समताभाव से द्रवीभूत चित्त का पुनः-पुनः उसी में स्थिर करना सम्यक्चारित्र है।" 'मोक्खपाहुड' में-पुण्य और पाप, दोनों के त्याग करने को चारित्र कहा है।" 'प्रवचनसार त. प्र.' के अनुसार-"ज्ञेय और ज्ञाता की क्रियान्तर से-यानी अन्य पदार्थों के जानने रूप क्रिया से-निवृत्ति के द्वारा रचित दृष्टि-ज्ञातृ तत्त्व में (ज्ञाता-द्रष्टाभाव में) परिणति ही जिसका लक्षण है, वह चारित्रपर्याय है।" वस्तुतः प्रत्येक प्रवृत्ति, व्यक्ति या अवस्था के समय राग-द्वेष-मोह-कषायादि के प्रवाह में न बहकर केवल ज्ञाता-द्रष्टा बनकर रहे तो वह आत्म-भावों में स्थित रहकर बहुत शीघ्र पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा कर सकता है, नये कर्म बाँधने से रुक सकता है।[1] इसी दृष्टि से 'नयचक्र वृत्ति' में चारित्र के एकार्थवाची शब्द प्रस्तुत किये गये हैं- "समता, माध्यस्थ्य, शुद्धोपयोग, वीतरागता, स्वभाव की आराधना, धर्म और चारित्र, ये सब एकार्थवाची हैं।" 'महापुराण' में भी इसी का समर्थन किया गया है-"इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में समताभाव धारण करने को सम्यक्चारित्र कहते हैं।" 'प्रवचनसार' में भी इसी तथ्य को उजागर किया गया है-चारित्र ही वस्तुतः धर्म है और निर्देश किया है कि जो धर्म है वह साम्य (समभाव) है तथा वह साम्य मोह

पिछले पृष्ठ का शेष-

(च) आत्माधीन-ज्ञान-सुख-स्वभावे शुद्धात्मद्रव्ये यन्निश्चल-निर्विकारानुभूतिरूपमवस्थानं तल्लक्षण-निश्चय-चारित्राज्जीवस्य समुत्पद्यते। *-समयसार ता. वृ. ३८*

(छ) अप्प-सरूवं वत्थु, चत्तं रायादिएहिं दोसेहिं।
सज्झाणम्मि णिलीणं तं जाणसु उत्तमं चरणं॥ *-कार्तिकियानुप्रेक्षा ११*

(ज) निराकुलत्वजं सौख्यं स्वयमेवावतिष्ठतः।
यदात्मनैव संवेद्यं चारित्रं निश्चयात्मकम्॥ *-मोक्षपंचाशिका मू. ४५*

१. (क) रागादि-परिहरणं चरणं। *-समयसार मू. १५५*

(ख) संकल्प-विकल्प-जाल-त्यागेन तत्रैव सुखे रतस्य सन्तुष्टस्य तृप्तस्यैकाकार-परम-समरसीभावेन द्रवीभूतचित्तस्य पुनः-पुनः स्थिरीकरणं सम्यक्चारित्रम्।
-द्रव्यसंग्रह टीका ४०/१६३/१३

(ग) तच्चारित्तं भणियं परिहारो पुण्णपावाणं। *-मोक्खपाहुड मू. ३७*

(घ) ज्ञेय-ज्ञातृ-क्रियान्तर-निवृत्ति-सूत्र्यमाण-इष्ट-ज्ञातृत्व-वृत्ति-लक्षणेन चारित्र पर्यायेण ......।
-प्र. सा. त. प्र. २४२

और क्षोभ से रहित आत्मा का शुद्ध परिणाम है।[1] चारित्र को निश्चयदृष्टि से शुद्धोपयोग कहा है।

'पंचास्तिकाय' के अनुसार–''जो ज्ञानमय आत्मा आत्मा के प्रति अनन्यमय होकर आत्मा से आत्मा को जानता-देखता है तथा आत्मा में ही संचरण करता है, वह आत्मा ही चारित्र है, क्योंकि वह चारित्र ज्ञान और दर्शन निश्छिद्र हो जाते हैं। अर्थात् आत्मा व्यवधानरहित ज्ञान-दर्शन-चारित्रमय हो जाता है। यही पर-भावों से रहित शुद्ध चैतन्य स्वभाव में तत्त्वाराधनायुक्त रमणरूप 'चारित्र' है।'' 'चारित्रपाहुड' में–''(आत्मा) जो जानता है उसे ज्ञान और जो देखता है उसे दर्शन कहा है। अतः (आत्मा में एकमात्र) ज्ञान और दर्शन दोनों का ही समायोग हो (अन्य किसी भी सजीव-निर्जीव पदार्थ के प्रति राग-द्वेषादि विकल्प न हो), वही चारित्र हो जाता है।''[2]

निश्चयचारित्र और व्यवहारचारित्र का समन्वय

'तत्त्वार्थ राजवार्तिक' के अनुसार–यद्यपि चारित्रमोहनीय के उपशम, क्षय और क्षयोपशम से होने वाली आत्म-शुद्धि की दृष्टि से चारित्र सामान्यतया एक है। किन्तु बाह्य और आभ्यन्तर निवृत्ति अथवा व्यवहार और निश्चय की अपेक्षा से वह दो प्रकार का है। तात्पर्य यह हैं कि यद्यपि चारित्र एक ही प्रकार का है, किन्तु उसमें जीव के अन्तरंगभाव और बाह्य त्याग दोनों बातें युगपत् (एक साथ) उपलब्ध होने के कारण अथवा पूर्व भूमिका और उच्च भूमिकाओं में क्रमशः विकल्पता और निर्विकल्पता[3] की प्रधानता रहने के कारण उसका निरूपण दो प्रकार से किया गया है–व्यवहारचारित्र और निश्चयचारित्र।

---

१. (क) समदा तह मज्झत्थं सुद्धो भावो य वीयरायत्तं।
तह चारित्तं धम्मो सहाव-आराहणा भणिया॥ —*नयचक्र वृ. ३५६*

(ख) माध्यस्थ्यलक्षणं प्राहुश्चारित्रं। —*महापुराण २४/११९*

(ग) चारित्तं खलु धम्मो, जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह-विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥ —*प्रवचनसार मू. ७*

२. (क) जे चरदि णाणी पेच्छदि अप्पाणं अप्पणा अणण्णमयं।
सो चारित्तं णाणं दंसण मिदि णिच्छिदो होदि॥ —*पंचास्तिकाय मू. १६२*

(ख) जं जाणइ तं णाणं, पिच्छइ तं च दंसणं भणियं।
णाणस्स पिच्छयस्स समवण्णा होइ चारित्तं॥ —*चारित्रपाहुड मू. ३*

३. (क) यदवोचाम चारित्रम्, तच्चारित्र-मोहोपशम-क्षय-क्षयोपशमलक्षणा आत्मविशुद्धि-लब्धि-सामान्यापेक्षया एकम्।

(ख) 'जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भा. २' (जिनेन्द्रवर्णी) में चारित्र शब्द की व्याख्या १० से, पृ. २८३

सरागचारित्र और वीतरागचारित्र में अन्तर

जहाँ जीव की अन्तरंग विरागता या साम्यता हो, वहाँ निश्चयचारित्र होता है और जहाँ उसमें बाह्य वस्तुओं का ध्यानरूप व्रत हो, बाह्य प्रवृत्तियों में यत्नाचाररूप समिति हो तथा मन-वचन-काया की प्रवृत्तियों को नियंत्रित करने रूप गुप्ति हो, वहाँ व्यवहारचारित्र होता है। व्यवहारचारित्र को सरागचारित्र और निश्चयचारित्र को वीतरागचारित्र कहते हैं। नीचे के गुणस्थानों की भूमिकाओं में व्यवहारचारित्र की, ऊपर-ऊपर के गुणस्थानों की भूमिकाओं में निश्चयचारित्र की प्रधानता रहती है। दूसरे शब्दों में–शुभोपयोगी साधु का व्रत, तप, समिति, गुप्ति के विकल्पोंरूपचारित्र सरागचारित्र है और शुद्धोपयोगी साधु के वीतराग-संवेदनरूप ज्ञाता-द्रष्टाभाव वीतरागचारित्र है।[1] 'सर्वार्थसिद्धि' के अनुसार–"जो साधक संसार के कारणों के त्याग के प्रति उत्सुक है, परन्तु जिसके मन से राग के संस्कार नष्ट नहीं हुए हैं वह सराग कहलाता है। प्राणी और इन्द्रियों के विषय में अशुभ योगों की प्रवृत्ति के त्याग को संयम (चारित्र) कहते हैं, किन्तु वह होता है रागी जीव का संयम (चारित्र)।" 'नयचक्र वृत्ति' के अनुसार–जो श्रमण मूल और उत्तर गुणों को धारण करता है तथा पंचविध आचारों का कथन करता है, पालन भी यथाशक्ति करता है तथा संयम की आठ प्रकार की शुद्धियों (भावशुद्धि, कायशुद्धि, विनयशुद्धि, ईर्यापथशुद्धि, भिक्षाशुद्धि, परिष्ठापनशुद्धि, शयनासनशुद्धि और वाक्यशुद्धि) में निष्ठ रहता है, वह उसका सरागचारित्र है तथा शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के योगों से निवृत्ति वीतरागसाधु का चारित्र है अथवा 'नियमसार ता. वृ.' के अनुसार–स्व-रूप में विश्रान्ति ही परम वीतराग चारित्र है।[2]

प्रधानरूप से उपादेय वीतरागचारित्र

यद्यपि वीतरागचारित्र उत्कृष्ट चारित्र है, किन्तु उसका आचरण करने की जिस साधक की अभी भूमिका नहीं है, चारित्रमोह कर्म का उदय होने से वह उसे पाल नहीं सकता, किन्तु व्यवहारचारित्री की दृष्टि अथवा लक्ष्य शुद्धात्मभाव अथवा शुद्धोपयोग या परमार्थ की ओर ही होना चाहिए। 'परमात्म-प्रकाश टीका' के

---

१. 'जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भा. २' में चारित्र शब्द की व्याख्या से, पृ. २८९

२. (क) संसारकारण-विनिवृत्तिं प्रत्यागूर्णोऽक्षीणाशयः सरागः इत्युच्यते, प्राणीन्द्रियेषु अशुभप्रवृत्तेर्विरतिः संयमः। सरागस्य संयमः, सरागो वा संयमः सरागसंयमः।

–*सर्वार्थसिद्धि* ६/१२/३३१/२

(ख) मूलुत्तरसमणण्णुणा धारणकहणं च पंच आयारो।
सोही तहव सणिट्ठा सरायचरिया हवइ एवं॥३३४॥
सुह-असुहाण-णि वित्ति चरणं साहुस्स वीयरायस्स॥३७८॥ –*नयचक्र वृ. ३३४, ३७८*

(ग) स्वरूप विश्रान्ति लक्षणे परम-वीतराग चारित्रे। –*नियमसार ता. वृ. १५२*

अनुसार–उपेक्षासंयम या वीतरागचारित्र और अपहृत्यसंयम या सरागचारित्र, ये दोनों भी एक उसी शुद्धोपयोग में होते हैं अथवा सामायिक आदि पाँच प्रकार के संयम (चारित्र) भी उसी में प्राप्त होते हैं। क्योंकि उपर्युक्त संयमादि सर्वगुण एकमात्र शुद्धोपयोग में (ज्ञानमय आत्मा में) प्राप्त होते हैं। इसलिए वही (निश्चयचारित्र ही) प्रधानरूप से उपादेय है।[1]

निश्चयचारित्रलक्षी व्यवहारचारित्र सार्थक है

वास्तव में जो साधक आत्म-स्वभाव में या परमार्थ (मोक्ष = कर्ममुक्ति) में लक्ष्य स्थिर किये बिना बहुत से शास्त्र पढ़ता है या बहुत से व्रत, समितिगुप्ति आदि रूप चारित्र पालन करता है, उसका वह चारित्र व्रत या तप बालचारित्र, बालव्रत तथा बालतप कहलाता है। 'मोक्खपाहुड' और 'समयसार' दोनों इस तथ्य के साक्षी हैं।[2]

व्यवहारचारित्र की सार्थकता

'प्रवचनसार' में भी कहा गया है कि जो साधक पापारम्भ को छोड़कर शुभ चारित्र में उद्यत होने पर भी (पर-पदार्थों में इष्टानिष्टरूप) रागादि (मोहादि) को नहीं छोड़ता (छोड़ने का प्रयत्न भी नहीं करता, न ही छोड़ने की रुचि रखता है), वह शुद्धात्मा (शुद्धात्म-स्थिति) को प्राप्त नहीं होता। अर्थात् वीतरागचारित्र को प्राप्त नहीं कर पाता, वह सरागचारित्र के दर्जे में ही बैठा रहता है। इसलिए वैसा वीतरागचारित्र के प्रति अलक्ष्यी सरागचारित्र, अचारित्र या मिथ्याचारित्र हो जाता है। ऐसा साधक व्रतादि भी कषायवश पालता है, इस कारण वह असंयमादि को प्राप्त हो जाता है। क्योंकि व्यवहारचारित्र की सार्थकता निश्चयचारित्र से ही है। अतः आत्म-स्व-भाव से विपरीत बहुत प्रकार से धारण किया हुआ चारित्र मिथ्याचारित्र या बालचारित्र कहलाता है।[3]

---

१. येन कारणेनं पूर्वोक्ताः संयमादयो गुणाः शुद्धोपयोगे लभ्यन्ते, तेन कारणेन स एव प्रधान उपादेयः। —*परमात्म-प्रकाश टीका २/६७*

२. (क) जदि पढदि बहुसुदाणि जदि कहिदि बहुवियं य चारित्तं।
तं बालसुदं चरणं हवेइ अप्पस्स विवरीदं॥ —*मोक्खपाहुड, मू. १००*

(ख) परमट्ठम्हि दु अहिदो जो कुण दि तवं वदं च धारेइ।
तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हू॥ —*समयसार, मू. १५२*

३. (क) चत्ता पावारंभो समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्हि।
ण जहदि जदि मोहादी ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं॥ —*प्र. सा. ७९*

(ख) णाणी कसायवसगो असंजमो होइ स ताव। —*रयणसार, मू. ७१*

व्यवहारपूर्वक ही निश्चयचारित्र की उत्पत्ति

व्यवहारचारित्र की प्राथमिकता इसलिए भी अभीष्ट है कि व्यवहारपूर्वक ही निश्चयचारित्र की उत्पत्ति का क्रम है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार-"भरत चक्रवर्ती ने जैनेन्द्री दीक्षा ग्रहण करने के दो घड़ी पश्चात् मोक्ष प्राप्त किया था। उन्होंने दीक्षा के पश्चात् थोड़े समय तक विषयों और कषायों की निवृत्तिरूप व्रत का परिणाम किया था। तत्पश्चात् शुद्धोपयोगरूप रत्नत्रयस्वरूप निश्चयव्रत नामक वीतराग-सामायिकनामा निर्विकल्प ध्यान में स्थित होकर केवलज्ञान प्राप्त किया था। किन्तु लोग उनके थोड़े समय तक रहे व्यवहारचारित्ररूप व्रत परिणामों को जानते नहीं हैं।"[1]

सरागचारित्र भी परम्परा से मोक्ष का उपाय व कारण है

इसी अपेक्षा से 'प्रवचनसार ता. वृ.' में कहा गया है-सरागचारित्र से मुख्यवृत्त्या विशिष्ट पुण्य का बन्ध होता है और परम्परा से निर्वाण भी प्राप्त होता है। इसका समर्थन 'द्रव्यसंग्रह टीका' में भी किया गया है। 'पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय' में भी कहा गया है-"यद्यपि भेदरत्नत्रय (व्यवहारचारित्ररूप) की भावना से जो पुण्यबन्ध होता है, वह रागकृत है, फिर भी मिथ्यादृष्टि भी भाँति उसके लिए संसार का कारण नहीं, बल्कि परम्परा से मोक्ष का ही कारण है।"[2] 'नियमसार' के अनुसार-आचार्यों ने शील को मुक्तिसुख का मूल कारण कहा, परन्तु व्यवहारात्मक चारित्र भी उसका परम्पराकारण है।[3] 'पंचास्तिकाय ता. वृ.' में

पिछले पृष्ठ का शेष-

(घ) ध्रुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेइ तवयरणं।
णाऊण धुवं उज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि॥ *-मोक्खपाहुड ६०*

(ङ) मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः॥४७॥
रागद्वेषनिवृत्तेर्हिंसादि-निवर्त्तना कृता भवन्ति॥४८॥ *-रत्नकरण्डक श्रावकाचार ४७-४८*

१. देखें-द्रव्यसंग्रह टीका ५७/२३१ में भरतचक्री को केवलज्ञान-प्राप्ति का वर्णन

२. असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः।
सविपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो, न बन्धनोपायः॥ *-पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय २११*

३. (क) सरागचारित्र्यात्...... मुख्यवृत्त्या विशिष्ट पुण्यबन्धो भवति, परम्परया निर्वाणं चेति। *-प्रवचनसार ता. वृ. ६/८/१*

(ख) पारम्पर्येण मुक्तिकारणं चेति। (स विशिष्टपुण्यबन्धः) *-द्रव्यसंग्रह टीका ३६/१५२/६*

(ग) शीलमपवर्ग....... सुखस्यापिमूलमाचार्याः प्राहुर्व्यवहारात्मकवृत्तमपि तस्य परम्पराहेतुः। *-नियमसार ता. वृ. १०७*

व्यवहारपूर्वक ही निश्चयचारित्र की उत्पत्ति

व्यवहारचारित्र की प्राथमिकता इसलिए भी अभीष्ट है कि व्यवहारपूर्वक ही निश्चयचारित्र की उत्पत्ति का क्रम है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार-"भ त चक्रवर्ती ने जैनेन्द्री दीक्षा ग्रहण करने के दो घड़ी पश्चात् मोक्ष प्राप्त किया था। उन्होंने दीक्षा के पश्चात् थोड़े समय तक विषयों और कषायों की निवृत्तिरूप व्रत का परिणाम किया था। तत्पश्चात् शुद्धोपयोगरूप रत्नत्रयस्वरूप निश्चयव्रत नामक वीतराग-सामायिकनामा निर्विकल्प ध्यान में स्थित होकर केवलज्ञान प्राप्त किया था। किन्तु लोग उनके थोड़े समय तक रहे व्यवहारचारित्ररूप व्रत परिणामों को जानते नहीं हैं।"[१]

सरागचारित्र भी परम्परा से मोक्ष का उपाय व कारण है

इसी अपेक्षा से 'प्रवचनसार ता. वृ.' में कहा गया है-सरागचारित्र से मुख्यवृत्त्या विशिष्ट पुण्य का बन्ध होता है और परम्परा से निर्वाण भी प्राप्त होता है। इसका समर्थन 'द्रव्यसंग्रह टीका' में भी किया गया है। 'पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय' में भी कहा गया है-"यद्यपि भेदरत्नत्रय (व्यवहारचारित्ररूप) की भावना से जो पुण्यबन्ध होता है, वह रागकृत है, फिर भी मिथ्यादृष्टि भी भाँति उसके लिए संसार का कारण नहीं, बल्कि परम्परा से मोक्ष का ही कारण है।"[२] 'नियमसार' के अनुसार-आचार्यों ने शील को मुक्तिसुख का मूल कारण कहा, परन्तु व्यवहारात्मक चारित्र भी उसका परम्पराकारण है।[३] 'पंचास्तिकाय ता. वृ.' में

पिछले पृष्ठ का शेष-

(घ) ध्रुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेइ तवयरणं।
णाऊण धुवं उज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि॥ *-मोक्खपाहुड ६०*

(ङ) मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः॥४७॥
रागद्वेषनिवृत्तेर्हिंसादि-निवर्त्तना कृता भवन्ति॥४८॥ *-रत्नकरण्डक श्रावकाचार ४७-४८*

१. देखें-द्रव्यसंग्रह टीका ५७/२३१ में भरतचक्री को केवलज्ञान-प्राप्ति का वर्णन

२. असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः।
सविपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो, न बन्धनोपायः॥ *-पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय २११*

३. (क) सरागचारित्र्यात् ...... मुख्यवृत्त्या विशिष्ट पुण्यबन्धो भवति, परम्परया निर्वाणं चेति।
-प्रवचनसार ता. वृ. ६/८/१

(ख) पारम्पर्येण मुक्तिकारणं चेति। (स विशिष्टपुण्यबन्धः) *-द्रव्यसंग्रह टीका ३६/१५२/६*

(ग) शीलमपवर्ग .... सुखस्यापिमूलमाचार्याः प्राहुर्व्यवहारात्मकवृत्तमपि तस्य परम्पराहेतुः।
-नियमसार ता. वृ. १०७

इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है–"कोई साधक भाव-पूजादि शुभानुष्ठान के कारण यद्यपि अनन्त संसार की स्थिति का छेद कर देता है, परन्तु कोई भी अचरमशरीरी उसी भव में समस्त कर्मक्षय नहीं कर पाता, तथापि भवान्तर में देवेन्द्रादि पदों को प्राप्त करता है। वह पंचमहाविदेहों में जाकर समवसरण में तीर्थंकर भगवान के साक्षात् दर्शन भी कर लेता है। तदनन्तर विशेष रूप से दृढ़धर्मा होकर चतुर्थ गुणस्थान के योग्य आत्म-भावना को न छोड़ता हुआ देवलोक में कालयापन करता है। जीवन के अन्त में वहाँ से च्यवकर वह मनुष्य-भव में चक्रवर्ती आदि की विभूति को प्राप्त करके भी पूर्व-भव में भावित शुद्धात्म-भावना के बल से उसमें मोह नहीं करता और विषय-सुखों का त्याग करके जैनेन्द्री दीक्षा ग्रहण कर निर्विकल्प समाधि की विधि से विशुद्ध दर्शन-ज्ञान-स्वभावी निज शुद्धात्मा में स्थित होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। उत्तराध्ययनसूत्र, भगवतीसूत्र आदि आगमों में जितने भी साधकों के वर्णन आते हैं, उन्होंने पहले निज शुद्धात्मा को उपादेय मानकर वैसी दृढ़ श्रद्धा से युक्त होकर व्यवहारचारित्र का आश्रय लिया है, उसके साधकरूप से तदनुकूल विशेष परिज्ञान के लिए तदनुकूल अंगशास्त्रादि का अध्ययन भी करता है तथा तदनुकूल तपश्चरण भी करता है, इस प्रकार वह (व्यवहारचारित्रानुसार) भेदरत्नत्रय की साधना करता हुआ परम्परा से (अभेदरत्नत्रयरूप आत्मभावनिष्ठ होकर) मोक्ष प्राप्त कर लेता है।[१]

सरागचारित्र और वीतरागचारित्र दोनों में साध्य-साधनभाव

'नयचक्र वृत्ति' में दोनों प्रकार के चारित्रों का परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध बताते हुए कहा गया है–सराग अवस्था में जिस चारित्र का भेदोपचाररूप से आचरण किया जाता है, उसी का वीतराग अवस्था में अभेद व् अनुपचाररूप से करना होता है। तात्पर्य यह है कि "सराग और वीतरागचारित्र में इतना ही अन्तर है कि सरागचारित्र में बाह्य क्रियाओं का विकल्प रहता है, जबकि वीतरागचारित्र में उनका विकल्प नहीं रहता। सरागचारित्र में वृत्ति बाह्य त्याग के प्रति जाती है और वीतरागचारित्र में अन्तरंग की ओर।"[२] मोक्षमार्ग में दोनों में साध्य-साधकभाव बताने के लिए 'पंचास्तिकाय ता. वृ.' में कहा है–"व्यवहारचारित्र बहिरंग साधकरूप से वीतरागचारित्रभावना से उत्पन्न परमामृततृप्तिरूप निश्चयसुख का बीज है और वह निश्चयसुख भी अक्षय, अनन्त सुख का बीज है। इस प्रकार

---

१. देखें–पंचास्तिकाय ता. वृ. १७०/२४३/१५ में परम्परा से व्यवहारचारित्र को मोक्ष का कारण कहने का तात्पर्य

२. जं विय सरागचरणे भेदुवयारेण भिण्ण चारित्तं।
तं चेव वीयराये विपरीयं होइ नायव्वं। *–नयचक्र वृ. २०४*

के कथन से निश्चय व्यवहार दोनों चारित्रों का मोक्षमार्ग में साध्य-साधकभाव मुख्यतया ज्ञान होता है, अविनाभाव भी। 'द्रव्यसंग्रह टीका' में इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है–"सरागचारित्र व्रत समिति आदि शुभोपयोगरूप होता है (उसमें युगपत् दो अंग प्राप्त हैं–एक बाह्य और एक आभ्यन्तर), बाह्य अंग में पाँचों इन्द्रियों के विषय आदि का त्याग है, अतः वह उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से चारित्र है, जबकि आभ्यन्तर अंग में रागादि का त्याग है, वह अशुद्ध निश्चयनय से चारित्र है। अतः निश्चयचारित्र को साधने वाला व्यवहारचारित्र उसका साधन है। अतः उस व्यवहारचारित्र से साध्य परमोपेक्षा-लक्षण शुद्धोपयोग से अविनाभूत होने से (व्यवहारचारित्र को भी) उत्कृष्ट सम्यक्चारित्र जानना चाहिए।" तात्पर्य यह है कि व्यवहारचारित्र के अभ्यास द्वारा क्रमशः बाह्य और आभ्यन्तर दोनों क्रियाओं का निरोध होते-होते अन्त में पूर्ण निर्विकल्पदशा प्राप्त हो जाती है। यही इनका साध्य-साधनभाव है।[1]

एक ही चारित्र में युगपत् दो अंश

'मोक्खपाहुड की जयचंद छाबड़ा टीका' में इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है–"चारित्र के निश्चय और व्यवहार के भेद से दो भेदरूप हैं (अर्थात् एक ही चारित्र में युगपत् दो अंश हैं), जहाँ महाव्रत, समितिगुप्ति आदि के भेद करके कहा गया है, वहाँ वह व्यवहारचारित्र है। उसमें प्रवृत्तिरूप क्रिया है, जो शुभ बन्धकारी है और उन क्रियाओं में जितना अंश निवृत्ति का है, उसका फल (कर्म) बन्ध नहीं है। उसका फल कर्म की एकदेश (आंशिक) निर्जरा है और जो सर्वकर्म से रहित अपने (शुद्ध) आत्म-स्वरूप में लीन होना निश्चयचारित्र है, उसका फल कर्म का सर्वथा नाश है।" तात्पर्य यह है कि (सम्यग्दृष्टि की निश्चयमुखी) बाह्य प्रवृत्ति में अवश्य ही निवृत्ति का अंश विद्यमान रहता है। इस तथ्य से स्पष्ट है कि शुभोपयोग में अवश्य ही शुद्धोपयोग का अंश मिश्रित रहता है। इसलिए सरागचारित्री भी

---

१. (क) व्यवहारचारित्रं बहिरंगसाधकत्वेन वीतराग-चारित्र-भावनोत्पन्न-परमामृत-तृप्तिरूपस्य निश्चयसुखस्य बीजं। तदपि निश्चयसुखं पुनरक्षयानन्तसुखस्य बीजमिति। अत्र यद्यपि साध्य-साधक-भाव-ज्ञापनार्थं निश्चय-व्यवहार-मोक्षमार्गस्यैव मुख्यत्वमिति भावार्थः।

–पंचास्तिकाय ता. वृ. १०७/१७१/१२

(ख) (व्रतसमितिआदि) शुभोपयोगलक्षणं सरागचारित्राभिधानं भवति। योऽसौ बहिर्विषये पंचेन्द्रियविषय-परित्यागः स उपचरितासद्भूतव्यवहारेण यच्चाभ्यन्तर-रागादि-परिहारः स पुनरशुद्धनिश्चयनयेनेति नयविभागः। एवं निश्चयचारित्र-साधकं व्यवहारचारित्रं व्याख्यातमिति। तेनैव व्यवहारचारित्रेण साध्यं परमोपेक्षा-लक्षण-शुद्धोपयोगाविनाभूतं परमं सम्यक्चारित्रं ज्ञातव्यम्। *–द्रव्यसंग्रह टीका ४५-४६/१९६/१०*

शुद्धोपयोगलक्षी होने से उसके जितना-जितना रागांश है, उतना-उतना बन्ध है और जितना वीतरागांश है, उतना संवर-निर्जरा है।[१]

असंख्यातगुणी निर्जरा का विधान

'तत्त्वार्थसूत्र' में बताया गया है कि सम्यग्दृष्टि (चतुर्थ गुणस्थानवर्ती) से पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक में असंख्यातगुणी निर्जरा होती है, उससे क्रमशः सर्वविरत मुनि अनन्तानुबन्धी कषाय के विसंयोजक, दर्शनमोह का क्षय करने वाले, उपशमश्रेणी-आरोहक, उपशान्तमोह, क्षपकश्रेणी-आरोहक, क्षींणमोह और तेरहवें गुणस्थानवर्ती जिन (वीतराग) के क्रमशः परिणामों की विशुद्धता से प्रतिसमय असंख्यातगुणी असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

इसमें सर्वप्रथम सम्यग्दृष्टि की निर्जरा असंख्यातगुणी बताई है, क्योंकि प्रथम उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति से पूर्व मिथ्यादृष्टि तीन करण करता है, उनमें अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय में प्रवृत्तिमान विशुद्धता से विशुद्ध जो सम्यक्त्व-सम्मुख मिथ्यादृष्टि होता है, उसे आयुष्यकर्म के सिवाय सात कर्मों की जो निर्जरा होती है, उसकी अपेक्षा अविरत-सम्यग्दृष्टि गुणस्थान प्राप्त करते हुए जीव को असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। उसके पश्चात् ऊपर के गुणस्थानों में उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा बताई गई है।[२]

असंख्यातगुणी निर्जरा क्यों और कैसे ?

प्रश्न होता है—चौथे, पाँचवें और छठे गुणस्थान वाले सभी सराग संयमी होते हैं और निर्जरा तो वीतरागचारित्री के बताई गई है। सरागचारित्री में मुख्यतया शुभोपयोग बताया गया है, यहाँ शास्त्रकार चतुर्थ गुणस्थान से उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा अधिक बताते हैं, यह कैसे? इन गुणस्थानों में तो पुण्यबन्ध होना चाहिए? इसका समाधान यह है, सम्यग्दृष्टि आदि तीन गुणस्थानों में या आगे के गुणस्थानों में भी एकान्तरूप से राग नहीं होता, होता है तो भी (उपशान्त और क्षीण) प्रशस्त राग होता है, उनकी दृष्टि आत्म-स्वरूपलक्षी होती है, वे जितनी भी संयम की प्रवृत्तियाँ करते हैं, वे सब आत्माश्रय से होती हैं। इस कारण शुभोपयोग

---

१. (क) देखें—मोक्खपाहुड पर पं. जयचंद छाबड़ा की टीका ४२

(ख) देखें—द्रव्यसंग्रह टीका ५७/२३०/४ में निवृत्ति में प्रवृत्ति के अंश का चिन्तन

(ग) येवांशेन नु रागस्तेवांशेनास्य बन्धनं भवति। —*पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय* २१२-२१६

२. (क) सम्यग्दृष्टि-श्रावक-विरतानन्त-वियोजक-दर्शनमोह-क्षपकोपशमकोपशान्तमोह-क्षपक-क्षीणमोह-जिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुण-निर्जराः। —*तत्त्वार्थसूत्र, अ. ९, सू. ४७*

(ख) 'मोक्षशास्त्र' (गु. टीका) (रामजीभाई दोशी), अ. ९, सू. ४७ की व्याख्या से भाव ग्रहण

के साथ-साथ शुद्धोपयोग भी अवश्य रहता है। इसलिए जितने अंशों में शुभ राग होता है, उतने अंशों में भले ही बन्ध हो, परन्तु जितने अंशों में राग नहीं है, सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र और तप है, उतने अंशों में बन्ध नहीं है, संवर और निर्जरा ही है।[1] इस अपेक्षा से ही यहाँ सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर तेरहवें सयोगी केवली गुणस्थान तक उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा बताई है। शर्त इतनी ही है कि निश्चय और व्यवहार दोनों परस्पर सापेक्ष हों।

निश्चयसापेक्ष व्यवहार और व्यवहारसापेक्ष निश्चय

'पंचास्तिकाय ता. वृ.' में स्पष्टतया बताया गया है–(१) जो व्यक्ति निश्चय मोक्षमार्ग से निरपेक्ष केवल शुभानुष्ठानरूप व्यवहार को ही मानते हैं, वे उससे देवलोकादि की क्लेश परम्परा के द्वारा संसार में ही परिभ्रमण करते हैं। (२) यदि वे ही श्रद्धा में शुद्धानुभूति लक्षण वाले मोक्षमार्ग को मानते हुए चारित्र में निश्चय मोक्षमार्ग के अनुष्ठान (निर्विकल्प समाधि) की शक्ति का अभाव होने के कारण निश्चय को सिद्ध करने वाले ऐसे शुभानुष्ठान को करें तो परम्परा से मोक्ष प्राप्त करते हैं। (३) यदि कोई केवल निश्चयनयावलम्बी होकर शुद्धात्मा की प्राप्ति न होते हुए भी साधुओं के योग्य षड्आवश्यकादि अनुष्ठान को तथा श्रावकों के योग्य दान, शील, तप आदि अनुष्ठान को दूषण देते हैं, वे उभय भ्रष्ट होकर केवल पाप का ही बन्ध करते हैं। (४) यदि वे ही श्रद्धा में शुद्धात्मा के अनुष्ठानरूप निश्चय मोक्ष मार्ग को तथा उसके साधक व्यवहार मोक्ष मार्ग को मानते हुए चारित्र में चारित्रमोहोदयवश शुद्ध चारित्र की शक्ति का अभाव होने के कारण, अन्य साधारण शुभ-अशुभ अनुष्ठानों से रहित वर्तते हुए भी शुद्धात्मभावना-सापेक्ष शुभानुष्ठानरत पुरुष के सदृश न होने पर भी परम्परा से मोक्ष प्राप्त करते हैं।[2]

इन चार विकल्पों में निश्चयसापेक्ष व्यवहार और व्यवहारसापेक्ष निश्चय, ये दो ही विकल्प ठीक हैं। शेष दो विकल्प–निश्चयनिरपेक्ष व्यवहार तथा व्यवहार-निरपेक्ष निश्चयालम्बन–ठीक नहीं हैं।

'प्रवचनसार' पर पं. जयचन्द जी की टीका में भी इसका स्पष्टीकरण किया गया है–दर्शनापेक्षा से तो श्रमण का तथा सम्यग्दृष्टि तथा विरताविरत श्रावक के शुद्धात्मा का ही आश्रय है, परन्तु चारित्र की अपेक्षा से श्रमण के शुद्धात्म परिणति (शुद्धोपयोग) मुख्य होने से शुभोपयोग गौण होता है और सम्यग्दृष्टि या व्रती श्रावक के मुनि योग्य शुद्ध परिणति (इतनी उच्च कोटि की और सतत) प्राप्त नहीं

१. देखें–'पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय', श्लोक २१२-२१६

२. देखें–पद्मनन्दि पंचविंशतिका ६/६० और पंचास्तिकाय ता. वृ. १७२/२४७/१२ का गद्य पाठ

हो सकने से अशुभ से निवृत्यर्थ शुभोपयोग मुख्य होता है, शुद्धोपयोग गौण।[१] अर्थात् दोनों में से एक के निश्चय व्यवहारसापेक्ष होता है, जबकि दूसरे के व्यवहार निश्चयसापेक्ष होता है। दोनों ही अपनी-अपनी भूमिका में रहते हुए संवर, निर्जरा और परम्परा से मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। यदि सम्यग्दृष्टि श्रावक गृहस्थ वर्ग को संवर, निर्जरा और मोक्ष की प्राप्ति न होती तो पन्द्रह प्रकार के सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होने में गृहीलिंगसिद्धा, अन्यलिंगसिद्धा आदि उदारतासूचक विधान जैन तीर्थंकरों का न होता। बल्कि उपासकदशांग और सुखविपाकसूत्र में जिन-जन दानादि शुभोपयोगी सम्यग्दृष्टि तथा व्रतधारी श्रमणोपासकों का वर्णन है, वहाँ उनमें शुद्धोपयोगलक्षी शुभोपयोग होने से देवगति प्राप्त होने पर भविष्य के भवों में शुभोपयोग सापेक्ष शुद्धोपयोगी श्रमण बनकर मोक्ष प्राप्त करने का निरूपण भी किया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि सरागचारित्र या व्यवहारचारित्र एकान्त हेय नहीं है और न ही नीची भूमिका वाले श्रमण वर्ग के लिए शुभोपयोग निरपेक्ष एकान्त शुद्धोपयोग का अवलम्बन उपादेय है।[२]

व्यवहारचारित्र कथंचित् उपादेय है; क्यों और कैसे ?

व्यवहारचारित्र को एकान्ततः हेय और पाप के समान मानने वालों के समक्ष 'मोक्खपाहुड' में व्यवहारचारित्र की अभीष्टता और उपयोगिता युक्तिसंगत प्रस्तुत करते हुए कहा है—"व्रत और तप से स्वर्ग प्राप्त होता है तथा अव्रत और अतप से नरकादि गति में दुःख प्राप्त होते हैं। इसलिए इन दोनों में व्रत श्रेयस्कर है, अव्रत नहीं। जैसे—छाया और आतप (धूप) में खड़े होने वाले को दोनों के प्रतिपालक कारणों में बड़ा अन्तर मालूम होता है।"[३]

'भावसंग्रह' में भी बताया गया है—"सम्यग्दृष्टि का पुण्य नियम से (एकान्ततः) संसार का कारण नहीं होता, अपितु यदि वह निदान (नियाणा) न करे तो मोक्ष का कारण होता है। आवश्यक आदि या वैयावृत्य, दान आदि जो कुछ भी शुभ क्रिया सम्यग्दृष्टि करता है, वह (उसकी आत्माश्रयीभावना के कारण) सब की सब उसके लिए निर्जरा की निमित्त होती है।"[४]

---

१. 'प्रवचनसार' (पं. जयचन्द जी कृत टीका) २५४ से भाव ग्रहण

२. (क) देखें—समवायांगसूत्र, समवाय १५ में—तीर्थसिद्धा आदि सिद्धों के १५ प्रकार
(ख) देखें—उपासकदशांगसूत्र में आनन्दादि श्रावकों का वर्णन, सुखविपाकसूत्र में सुबाहुकुमार आदि का वर्णन

३. वरवय-तवेहिं सग्गो, मा दुक्खं होउ णिरइ इयरेहिं।
छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं॥ —*मोक्खपाहुड*, मू. २५

४. सम्यग्दृष्टेः पुण्यं न भवति संसारकारणं नियमात्।
मोक्षस्य भवति हेतुः, यदि च निदानं न करोति॥४०४॥

सरागचारित्र और वीतरागचारित्र अथवा व्यवहारचारित्र और निश्चयचारित्र का कथन किया जा चुका है। सरागचारित्र के दो भेद किये गए हैं–सकलचारित्र और देशचारित्र। वही चारित्र औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक के भेद से तीन प्रकार का है अथवा उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य विशुद्धि के भेद से तीन प्रकार का है। औपशमिक आदि तीनों सकलचारित्र के प्रकार हैं।[1] इनका लक्षण इस प्रकार है–

औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिकचारित्र के लक्षण

दर्शनमोहनीय की ३ और चारित्रमोहनीय की २५, इन २८ प्रकृतियों के उपशम से औपशमिकचारित्र होता है। पूर्वोक्त २८ ही प्रकृतियों के सर्वथा क्षय होने से क्षायिकचारित्र होता है। क्षायोपशमिकचारित्र का लक्षण इस प्रकार है– अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी और प्रत्याख्यानी। इन बारह प्रकार के कषायों के उदयाभावी क्षय होने से तथा इन्हीं के सदवस्थारूप उपशम होने से एवं संज्वलन के चार कषायों में किसी एकदेशघाती प्रकृति के उदय में आने पर इसी प्रकार नौ नोकषायों के यथासम्भव उदय में आने पर आत्मा का निवृत्तिरूप (त्यागरूप) परिणाम होता है, वह क्षायोपशमिकचारित्र है।[2]

सामायिकादि पाँच चारित्रों का स्वरूप

इसी चारित्र के ५ भेद मुख्य हैं–सामायिकचारित्र, छेदोपस्थापनिकचारित्र, परिहारविशुद्धिचारित्र, सूक्ष्मसम्परायचारित्र और यथाख्यातचारित्र।[3]

पिछले पृष्ठ का शेष–

आवश्यकादि कर्म वैयावृत्यं च दानपूजादि।
यत्करोति सम्यग्दृष्टिस्तत् सर्वं निर्जरानिमित्तम्॥६१०॥ *–भावसंग्रह ४०४, ६१०*

१. (क) जैनसिद्धान्त प्र. २२२
(ख) सयलचारित्तं तिविहं-खओवसमियं ओवसमियं खइयं चेदि। *–धवला १/९, ८/१४*
(ग) त्रिधा-औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक विकल्पात्। *–राजवार्तिक १/७/१४/४१*

२. (क) देखें–राजवार्तिक २/३/३/१०५/१७ तथा २/४/७/१०७/११ में औपशमिक और क्षायिकचारित्र के लक्षण
(ख) देखें–सर्वार्थसिद्धि २/५/१५७/८ में क्षायोपशमिकचारित्र का लक्षण

३. सामाइयत्थ पढमं छेदोवट्ठावणं भवे बीयं।
परिहारविसुद्धीयं सुहुमं तह संपरायं च॥३२॥
अकसायं अहक्खायं छउमत्थस्स जिणस्स वा।
एवं चयरित्तकरं चारित्तं होइ आहियं॥३३॥ *–उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २८, गा. ३२-३३*

सामायिकचारित्र : लक्षण, प्रकार और परम्परागत विधि

सामायिकचारित्र–यह चारित्र 'करेमि भंते ! सामाइयं' से यावज्जीवन सामायिक (समतायोग) में रहने का संकल्प किया जाता है। इसे समस्त सावद्ययोगों से निवृत्ति और निरवद्ययोगों में प्रवृत्ति की जाती है। 'राजवार्तिक' के अनुसार–सर्वसावद्य-निवृत्तिलक्षण सामायिक छेदोपस्थापनीय आदि शेष चारों में होने से एक ही व्रत (चारित्र) है। किन्तु भेद की विवक्षा को लेकर छेदोपस्थापनीय आदि शेष चारों मिलाकर पाँच प्रकार का चारित्र है।[1] श्रावकवर्ग की अपेक्षा को लेकर सामायिकचारित्र के दो भेद किये गए–इत्वरिक और यावत्कथिक। थोड़े काल की यानी कम से कम एक मुहूर्त्त की श्रमणोपासकवर्ग के लिए सामायिक साधना इत्वरिक है और साधुवर्ग के लिए यावज्जीवन समताभाव (सामायिक) की साधना होने से यावत्कथिक है। 'मूलाचार' के अनुसार–प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के समय इत्वरिक सामायिक नवदीक्षित शिष्य/शिष्या को प्रदान की जाती है (जिसे आजकल छोटी दीक्षा कहते हैं। परम्परा यह है कि जघन्य ७ दिन, मध्यम ४ मास तथा उत्कृष्ट ६ मास तक सामायिकचारित्र के बाद बड़ी दीक्षा (पक्की दीक्षा) दी जाती है, जिसे छेदोपस्थापनिकचारित्र अंगीकार करना कहते हैं। इसमें षड्जीव निकाय का पाठ सुनाकर महाव्रतारोपण किया जाता है। जबकि पूर्व स्वीकृत सामायिकचारित्र तो यावज्जीवन तक रहता है) तथा बीच के २२ तीर्थंकर नवदीक्षित को सामायिकचारित्र ही देते हैं, छेदोपस्थापनीय नहीं।[2] दिगम्बर परम्परा में भी सामायिकचारित्र में सर्वसावद्यनिवृत्तिरूप संकल्प की मुख्यता मानी गई है।[3]

छेदोपस्थापनीयचारित्र : दो अर्थ, दो प्रकार

छेदोपस्थापनीयचारित्र–छेदोपस्थापनीय के यहाँ दो अर्थ किये गए हैं–(१) सर्वसावद्य त्यागरूप सामायिकचारित्र का छेदशः–विभागशः पंचमहाव्रतों के रूप में उपस्थापित (आरोपित) करना, (२) पंचमहाव्रतरूप साम्य या समताभाव में या मूल गुणों में प्रमादवश दोष सेवन करने वाले साधु (या साध्वी) के दीक्षापर्याय

---

१. सर्वसावद्य निवृत्तिलक्षण-सामायिकापेक्षया एकं व्रतं; भेदपरतंत्रच्छेदोपस्थापनापेक्षया पंचविधं व्रतम्। *–राजवार्तिक*

२. बावीसं तित्थयरा सामायिकं संजमं उवदिसंति।
छेदोवट्ठावणियं पुण भयवं उसहो य वीरो य॥ *–मूलाचार ७/३६*

३. (क) देखें–उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २८, गा. ३२-३३ का विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ४८१

(ख) सर्वार्थसिद्धि में अ. ९, सू. १८ का विवेचन, पृ. ३३४ (सं. पं. फूलचन्द जी सिद्धान्तशास्त्री)

का छेद करना अथवा दूषित महाव्रत या महाव्रतों का पुनः आरोपण करना। इस दृष्टि से छेदोपस्थापनीयचारित्र दो प्रकार का बताया गया है–निरतिचार और सातिचार। छेद का अर्थ जहाँ विभाग किया जाता है, वहाँ निरतिचार और जहाँ दीक्षापर्याय का छेदन (घटाना) किया जाता है, वहाँ सातिचार समझना चाहिए।[1]

दिगम्बर परम्परा में छेदोपस्थापनाचारित्र का स्वरूप

दिगम्बर परम्परा में छेदोपस्थानाचारित्र के मुख्यतया तीन लक्षण किये गए हैं–(१) जिसमें हिंसा, चोरी, असत्य आदि विशेष रूप से भेद (छेद) पूर्वक पापं क्रियाओं का त्याग किया जाता है, उनके स्थान पर महाव्रत या महाव्रतों का आरोपण किया जाए। (२) श्रमणों के मूल गुण रूप महाव्रतों में से किसी एक या अनेक महाव्रत का भंग हो जाने पर महाव्रत में गम्भीर दोष लग जाने पर अमुक काल तक की दीक्षा घटाकर छेद प्रायश्चित्त देकर शुद्धि की जाए। (३) पूर्णतः साम्यचारित्र का नाम सामायिक (निश्चय) चारित्र है, जो निर्विकल्पात्मक होती है। परन्तु उसमें अधिक समय तक स्थिर न रहने के कारण विकल्पात्मक (व्यवहार) चारित्र यानी व्रत, समिति, गुप्ति आदि रूप शुभ क्रियानुष्ठानों में अपने को स्थापित करना भी छेदोपस्थापनीयचारित्र है।[2]

श्वेताम्बर परम्परा में परिहारविशुद्धि का स्वरूप और विधि

परिहारविशुद्धिचारित्र–यहाँ परिहार का अर्थ है–प्राणिवध से निवृत्ति। परिहार से जिस चारित्र का अंगीकार करके कर्मकलंक की विशुद्धि (प्रक्षालन) की जाती है, वह परिहारविशुद्धिचारित्र है। इसकी विधि इस प्रकार है–प्रथम छह महीनों में ४ साधु (ऋतु के अनुसार उपवास से लेकर पचौला तक की) तपस्या करते हैं, ४ साधु उनकी सेवा करते हैं और एक साधु वाचनाचार्य (गुरु स्थानीय) रहता है। दूसरी छमाही में तपस्या करने वाले ४ साधु सेवा करते हैं और जो सेवा करने

---

१. देखें–उत्तराध्ययन, अ. २८, गा. ३२-३३ का विवेचन, पृ. ४८२

२. (क) यत्र हिंसादिभेदेन त्यागः सावद्यकर्मणः।
व्रतलोपे विशुद्धिर्वा छेदोपस्थानं हि तत्॥ –*तत्त्वार्थसार ५/४६*

(ख) तस्यैकस्य व्रतस्य छेदेन द्वित्र्यादि भेदेनोपस्थापनं व्रतसमारोपणं छेदोपस्थापन-शुद्धिसंयमः। –*धवला १/१, १/१२३/३७०/१*

(ग) छेत्तूण य परियायं पोराणं जो ठवेइ अप्पाणं।
पंचजमे धम्मे सो छेदोवट्ठावगो जीवो॥ –*पंचसंग्रह (प्रा.) १/१३०*

(घ) एदं खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि॥ –*प्रवचनसार, मू. २०९*

(ङ) देखें–'जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भा. २' में छेदोपस्थापनाचारित्र की व्याख्या, पृ. ३०७

वाले थे, वे पूर्वोक्त रीति से तप करते हैं। वाचनाचार्य वही होता है। इसके पश्चात् तीसरी छमाही में वाचनाचार्य तप करते हैं, एक को छोड़कर शेष साधु उनकी सेवा करते हैं, उनमें एक साधु वाचनाचार्य हो जाता है। तप का पारणा सभी साधु आयम्बिल से करते हैं। इस दृष्टि परिहार का यहाँ तात्पर्यार्थ हुआ तपस्या (बाह्याभ्यन्तर) उसी से विशेष रूप से आत्म-शुद्धि की जाती है। जब साधक तप करता है, प्राणिवध के आरम्भ-समारम्भ के दोष से सर्वथा निवृत्त हो ही जाता है।

दिगम्बर परम्परा में परिहारविशुद्धिचारित्र का स्वरूप और विधि

दिगम्बर परम्परा में परिहार का अर्थ प्राणिवध निवृत्ति किया गया है, उससे आत्म-शुद्धि जिस चारित्र में हो, उसे परिहारविशुद्धि कहा है। इस परम्परा में परिहारविशुद्धिचारित्र की विधि विलक्षण है–परिहारविशुद्धिचारित्र ऐसे संयत के होता है, जो ३० वर्ष तक गृहस्थावस्था में सुखपूर्वक रहकर संयमी साधु बने और तीर्थंकर प्रभु के पादमूल की परिचर्या करता हुआ ८ वर्ष तक प्रत्याख्यान पूर्व का अध्ययन करता है तथा जीवों की उत्पत्ति, योनि, जन्मादि के प्रकार एवं उनकी रक्षा में विशेषज्ञ हो जाता है। वह अप्रमत्त, महाबलशाली, दुष्कर चर्या करने वाला एवं कर्मों की महानिर्जरा करके आत्म-विशुद्धि करने वाला होता है।[1]

सूक्ष्मसम्परायचारित्र–सामायिक या छेदोपस्थापनीयचारित्र की साधना करते-करते जब क्रोधादि तीन कषाय उपशान्त या क्षीण हो जाते हैं। एकमात्र लोभकषाय सूक्ष्मरूप (संज्वलनरूप) में रह जाता है, उस स्थिति को सूक्ष्मसम्परायचारित्र कहते हैं। यह चारित्र दशमगुण स्थानवर्ती साधु-साध्वियों को होता है। दिगम्बर परम्परा भी इसी प्रकार मानती है–जिस चारित्र में कषाय अति सूक्ष्म हो जाता है।[2]

यथाख्यातचारित्र : श्वेताम्बर परम्परा की दृष्टि से

यथाख्यातचारित्र–जब चारों कषाय (नोकषाय भी) सर्वथा उपशान्त या क्षीण हो जाते हैं, उस समय की चारित्रिक स्थिति को यथाख्यातचारित्र कहते हैं। यह चारित्र गुणस्थान की अपेक्षा से दो भागों में विभक्त है–(१) उपशमात्मक यथाख्यातचारित्र, और (२) क्षयात्मक यथाख्यातचारित्र। प्रथम चारित्र ग्यारहवें

---

१. (क) उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २८, गा. ३२-३३ के विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ४८२

(ख) देखें–सर्वार्थसिद्धि विवेचन, अ. ९ सू. १८ (सं. पं. फूलचन्द जी सिद्धान्तशास्त्री), पृ. ३३४

२. (क) उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २८, गा. ३२-३३ का विवेचन, पृ. ४८२

(ख) अतिसूक्ष्मकषायत्वात् सूक्ष्म-सम्पराय-चारित्रम्।

–सर्वार्थसिद्धि (सं. पं. फूलचन्द जी), अ. ९, सू. १८, पृ. ३३४

गुणस्थान वाले साधक को और द्वितीय चारित्र बारहवें और उससे ऊपर के गुणस्थानों के अधिकारी महापुरुषों के होता है।[1]

दिगम्बर परम्परामान्य यथाख्यातचारित्र

दिगम्बर परम्परा में इसके दो रूप मिलते हैं–अथाख्यात और यथाख्यात। पहले का अर्थ है–अथ शब्द अनन्तर अर्थ में प्रयुक्त होने से जो चारित्रमोहनीय कर्म के उपशम या क्षय के अनन्तर आविर्भूत हो, वह अथाख्यात है। यथाख्यातचारित्र का अर्थ है–जिस प्रकार आत्मा का स्वभाव अवस्थित है, उसी प्रकार यह भी आत्म-गुणों में अवस्थित हो जाए।[2]

पाँचों चारित्रों में विशुद्धिलब्धि : उत्तरोत्तर अनन्तगुणी

उत्तरोत्तर गुणों (आत्म-गुणों) के प्रकर्ष का ख्यापन करने–आत्म-शुद्धि उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रबल करने के लिए सामायिक, छेदोपस्थापना इत्यादि क्रम से पाँचों चारित्रों का नाम-निर्देश किया है। इन पाँचों की विशुद्धिलब्धि भी उत्तरोत्तर अनन्तगुणी होती जाती है। जैसे–सामायिक और छेदोपस्थापनाचारित्र की जघन्य विशुद्धिलब्धि सबसे अल्प होती है। इससे परिहारविशुद्धि की जघन्य विशुद्धिलब्धि अनन्तगुणी, फिर इसी की उत्कृष्ट विशुद्धिलब्धि अनन्तगुणी होती है। फिर उससे सामायिक और छेदोप्रस्थापना की उत्कृष्ट विशुद्धिलब्धि अनन्तगुणी होती है। इससे सूक्ष्मसम्परायचारित्र की जघन्य, फिर उसी की उत्कृष्ट और इन सबसे अनन्तगुणी विशुद्धिलब्धि होती है–यथाख्यातचारित्र की।[3]

चारित्र का पृथक् कथन : सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष-प्राप्ति प्ररूपणार्थ

यद्यपि दशविध उत्तम धर्म में चारित्र अन्तर्भूत हो जाता है, किन्तु चारित्र से संवर और निर्जरा के अतिरिक्त सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष से होता है, इस अपेक्षा से चारित्र का अलग से कथन किया गया है।[4]

● ●

---

१. देखें–उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २८, गा. ३२-३३ विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ४८२

२. मोहनीयस्य निरवशेषस्योपशमान् क्षयाच्च आत्मस्वभावावस्थापेक्षालक्षणं अथाख्यातचारित्र-मित्याख्यायते। पूर्वचारित्रानुष्ठायिभिराख्यातं न तत्प्राप्तं प्राङ्मोहक्षयोपशमाभ्यामित्यथाख्यातम्। अथ-शब्दस्यानन्तर्यार्थ वृत्तित्वान्निरवशेष-मोह-क्षयोपशमानन्तरमाविर्भवतीत्यर्थः। यथाख्यातमिति वा, यथाऽऽत्मस्वभावोऽवस्थितस्तथैवाख्यातत्वात्। ततो यथाख्यातचारित्रात् सकल-कर्म-क्षय-परिसमाप्तिर्भवहीति ज्ञाप्यते। *–सर्वार्थसिद्धि* ९/१८/८५४/३३४

३. (क) सामायिकादीनामानुपूर्व्यवचनमुत्तरोत्तर-गुणप्रकर्षं ख्यापनार्थं क्रियते। *–वही,* ९/१८/८५४/३३४

(ख) सर्वार्थसिद्धि, अ. ९, सू. १८ के विशेषार्थ से (सं. पं. फूलचंद जी सिद्धान्तशास्त्री), पृ. ३३४

४. तत्त्वार्थ सर्वार्थसिद्धि, अ. ९, सू. १८ के विवेचन से भाव ग्रहण

२०

सम्यक्त्व-संवर का माहात्म्य और सक्रिय आधार

अनादि मिथ्यात्वी को सम्यक्त्व-प्राप्ति का अपूर्व आनन्द लाभ

कोई साहसिक यात्री महासमुद्र को तैरकर यात्रा कर रहा हो और वह कई दिनों तक तैरते-तैरते थककर चूर-चूर हो रहा हो और तभी उसे ठीक सामने किनारा दिखाई दे, तब शेष रहे हुए थोड़े-से अन्तर को देखकर उसे कितनी प्रसन्नता होती है? ठीक इसी तरह संसाररूपी महासागर का यात्री मिथ्यादृष्टि भव्य जीव, मिथ्यात्व के मार्ग से संसार-यात्रा करता-करता थककर अत्यन्त परिश्रान्त हो जाये, किन्तु भव्यत्व की परिपक्वता के कारण यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण[1] करके राग-द्वेष की प्रगाढ़ गाँठ का भेदन करके सम्यक्त्व प्राप्त होने पर जब मोक्षमार्ग पर चढ़कर सामने देखता है, तब जैसे समुद्र-यात्री को किनारा दिखाई देता है, उसी तरह सम्यक्त्वी जीव को मोक्ष का क्षितिज सामने[2] दिखाई देता है। 'इस अनन्त दुःखरूप संसार से मुक्त होकर अवश्य ही मोक्षधाम प्राप्त करूँगा' ऐसा विश्वास हो जाने से उसे अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है; क्योंकि अनन्त-पुद्गल-परावर्तनकाल तक संसार-यात्रा की तुलना में अब शेष बची हुई अर्द्ध-पुद्गल-परावर्तनकाल[3] की अन्तिम संसार-यात्रा उक्त सम्यक्त्वी जीव के लिए अत्यन्त अल्पकालावधि है। भले ही इस अर्द्ध-पुद्गल-परावर्तनकाल में असंख्य भव भी हों, फिर भी सम्यक्त्वी जीव को अपूर्व एवं अनुपम आनन्द की अनुभूति होती है।[4]

समभावी आचार्य हरिभद्रसूरि इस तथ्य को एक सुन्दर दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं–"कोई व्यक्ति जन्म से ही अन्धा हो, जिसने अपने जीवन में कभी रूप, रंग और

---

१. यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के लिए देखें–कर्मविज्ञान, भा. ५

२. सम्यक्त्वेन हि युक्तस्य ध्रुवं निर्वाणसंगमः।

३. अंतोमुहुत्तमित्तं पि फासियं हुज्ज जेहिं सम्मत्तं।
तेसिं अवड्ढ-पुग्गल-परियट्टो चेव संसारो॥ –नवतत्त्वगाथा ५३

४. 'कर्म की गति न्यारी' (पन्यास श्री अरुणविजयगणि जी) से भावांश ग्रहण, पृ. ८८

प्रकाश आदि की दुनियाँ न देखी हो; उसे अचानक किसी पूर्वकृत शुभ कर्मोदयवश आँखों से दिखाई देने लगे, तो उसे उस समय जैसे अपूर्व एवं अनुपम आनन्द की अनुभूति होती है, ठीक इसी तरह अनन्त पुद्गल-परावर्तनकाल में अनन्त जन्मों तक अनादि-मिथ्यात्व के कारण, जिसके सम्यग्दर्शनरूप नेत्रयुगल नष्ट हो चुके थे, जिसके कारण वर्षों से जो सत्य के प्रकाश और स्वरूप को देख नहीं पा सका था, संयोगवश उस भवाभिनन्दी जीव का भव्यत्व परिपक्व होने पर अपूर्व करणादि तीनों करणों की सहायता से ग्रन्थिभेद होने से सम्यग्दर्शनरूपी जो नेत्रोन्मिलन होता है, जिससे मिथ्यात्वरूपी अन्धकार का नाश होने से सम्यक्त्व का–सत्यश्रद्धान का जो प्रकाश प्राप्त होता है; उसका आनन्द उस जन्मान्ध की अपेक्षा भी अनेक गुना होता है।"[१]

'योगबिन्दु' में भी कहा गया है–ग्रन्थिभेद किये हुए प्रशस्तभाव वाले महान् आत्मा को सम्यक्त्व प्राप्त होते ही जो तात्त्विक आनन्द प्राप्त होता है; वह वैसा ही है, जैसे किसी[२] महाकुष्ट रोग से पीड़ित रोगी को शीतोपचार आदि किसी औषध-विशेष से अकस्मात् चमत्कारवत् रोगोपशमन हो जाने से अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है; वैसा ही अनादि संसार के मिथ्यात्व रोग से पीड़ित जीव को तीनों करणरूप-महौषध से मिथ्यात्व के नष्ट हो जाने से सम्यक्त्व-प्राप्ति का पारमार्थिक परम आनन्द प्राप्त होता है।

एक अन्य रूपक द्वारा भी इसे समझाया गया है–सशक्त एवं कुशल योद्धा भयंकर संग्राम में युद्ध करते-करते अन्त में हारने जैसी स्थिति में घोर निराशा के सागर में डूब जाता है, तभी अकस्मात् शुभ संयोगवश उसके द्वारा छोड़ा गया तीर ठीक निशाने पर लग जाता है और शत्रु पक्ष की हार हो जाती है, ऐसे समय में उस योद्धा को विजय का जो आनन्द प्राप्त होता है, उससे भी अनेक गुणा आनन्द, भव्य जीव को संसार-संग्राम में मोहनीय कर्म की प्रकृतिरूपी सेना के साथ युद्ध करते-करते हारने के अन्तिम क्षण में अपूर्वकरण आदि शस्त्रों से मोहनीयजनित राग-द्वेष की दुर्भेद्य ग्रन्थि का भेदन करने से मिथ्यात्व रिपु की हार हो जाने पर सम्यक्त्व-प्राप्तिरूपी विजय पाने का होता है। अर्थात् ग्रन्थिभेद करने से सम्यक्त्व-मोहनीय आदि तीन तथा अनन्तानुबन्धी चार कषाय; यों मोहनीय कर्म की सात

---

१. जात्यन्धस्य यथा पुंसश्चक्षुर्लाभे शुभोदये।
सद्दर्शनं तथैवाऽस्य ग्रन्थिभेदेऽपदे जगुः॥

२. आनन्दो जायतेऽत्यन्तं तात्विकोऽस्य महात्मनः।
सद्व्याध्याभिभवे यद्वत् व्याधितस्य महौषधात्॥ –*योगबिन्दु*

प्रकृतियों का भेदन होने पर सम्यक्त्व-प्राप्तिरूपी विजय का अपूर्व आनन्द उसे प्राप्त होता है।[1]

सम्यक्त्व-प्राप्ति से ही भवसंख्या सीमित होती है

सम्यक्त्व-प्राप्ति से सीधा मोक्ष शीघ्र ही नहीं मिलता, किन्तु इतना अवश्य है कि सम्यक्त्व-प्राप्ति के बाद उसे मोक्ष-प्राप्ति की गारण्टी मिल जाती है, मुक्ति-प्राप्ति का लाइसेंस या अधिकार-पत्र मिल जाता है। उसकी भवसंख्या निश्चित-सी हो जाती है। एक और बात का आश्वासन सम्यग्दर्शी या सम्यक्त्वी को 'आचारांगसूत्र' में दिया गया है कि "सम्यग्दृष्टि या सम्यक्त्व प्राप्त हो जाने के बाद वह मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबन्धी कषाय (तीव्रतम कषाय) से होने वाले पापकर्म का बन्ध नहीं करता।" 'धर्मसंग्रह' में यह भी बताया है कि सम्यग्दृष्टि जीव ने यदि सम्यक्त्व-प्राप्ति से पूर्व पर-भव का आयुष्य न बाँधा हो या सम्यक्त्व का वमन न हुआ हो (अर्थात् सम्यक्त्वावस्था में यदि आयुष्यकर्म बाँधे तो) निश्चित ही वह वैमानिक देवलोक में जाता है, जोकि अन्य सभी गतियों की अपेक्षा उच्च सुख की श्रेष्ठ गति है।[2]

जैन-कर्मविज्ञान के सिद्धान्तानुसार यह नियम है कि जीव जिस भव से सम्यक्त्व प्राप्त करता है, उसी भव से उसके आगे के भवों की गणना की जाती है, अर्थात् उसी भव से उसकी कर्ममुक्तिरूप मोक्ष की ओर यात्रा शुरू हो जाती है और सम्यक्त्व-प्राप्ति से लेकर मोक्ष-प्राप्ति तक के भवों (जन्मों) की गणना की जाती है। इसी नियम के आधार पर अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी के २७ ही भवों का लेखा-जोखा 'आवश्यक निर्युक्ति' में प्रस्तुत किया गया है। यों तो सम्यक्त्व-प्राप्ति से पूर्व मिथ्यात्व अवस्था में भगवान महावीर की आत्मा भी चार गति एवं चौरासी लाख जीव योनियों में परिभ्रमण करती हुई अनन्त भव कर चुकी थी। लेकिन उनको सम्यक्त्व-प्राप्ति हुई–नयसार के भव में, तब से लेकर मोक्ष-प्राप्ति के भव तक २७ भवों की गणना की गई है। मरुभूति के भव में गुरु के उपदेश से सम्यक्त्व प्राप्त करके भव-भ्रमण को सीमित करके भगवान पार्श्वनाथ ने १०वें भव में मोक्ष प्राप्त कर लिया था।

---

१. 'कर्म की गति न्यारी' से भावांश ग्रहण

२. (क) समत्तदंसी न करेइ पावं। —*आचारांगसूत्र*

(ख) सम्मदिट्ठी जीवो, गच्छइ णियमा विमाणवासिसु।
जइ न विगय-सम्मत्तो, अहव न बद्धाउओ पुव्विं॥ —*धर्मसंग्रह २/३*

(ग) 'कर्म की गति न्यारी' से भाव ग्रहण, पृ. ७/८९

इसी तरह युगादि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की आत्मा ने धन्य सार्थवाह के भव में धर्मघोष आचार्य का धर्मोपदेश श्रवण करके सर्वप्रथम सम्यक्त्व प्राप्त किया था। इसके पश्चात् उन्होंने संसार-यात्रा करते हुए १३वें भव में तीर्थंकर ऋषभदेव बनकर सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष[1] प्राप्त किया। इस पर से यह स्पष्ट होता है कि सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष के अभिलाषी जीव के लिए सम्यक्त्व को प्राप्त करना कितना महत्त्वपूर्ण है, कितना उपयोगी है? इहलौकिक और पारलौकिक जीवन को भी सुख-शान्ति-सम्पन्न बनाने के लिए भी सम्यक्त्व-प्राप्ति की कितनी उपयोगिता और अनिवार्यता है?

सम्यक्त्व के बिना व्रतनियमादि मोक्ष के कारण नहीं

अतः सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष के सम्बन्ध में विचार करने अथवा संवर-निर्जरा रूप धर्म के सम्बन्ध में विचार करने से पूर्व सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व के सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक होता है। क्योंकि सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन के बिना कोई भी व्रत, नियम, तप, सामायिक, संवर, त्याग, प्रत्याख्यान आदि तथा असम्यग्ज्ञान, चारित्र आदि मोक्ष-प्राप्ति के कारण नहीं बन सकते। मिथ्यात्वी की कोई भी धर्मक्रिया मोक्षमार्ग का कारण नहीं बन सकती।

अतः तप और त्याग का, व्रतों का, नियमों का मूल सम्यग्दर्शन है। अध्यात्म-साधना का मूल केन्द्र भी सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व के अभाव में चाहे उच्च से उच्च कष्ट-सहन की प्रक्रिया हो, वह संसारमार्ग का ही परिपोषण करने वाली होगी।[2]

सम्यक्त्व मोक्ष का द्वार

इसीलिए सम्यक्त्व को मोक्ष की नींव, मूलाधार, प्रतिष्ठान, मोक्ष का प्रथम द्वार, प्रथम सोपान एवं मोक्ष का प्रमुख पात्र एवं निधि बतलाया गया है। जैसे—अंक के बिना हजारों शून्यों का कोई मूल्य नहीं होता, उसी प्रकार सम्यक्त्वरूप अंक के बिना हजारों त्याग, व्रत, नियमों, प्रत्याख्यानों का मोक्ष (कर्मक्षय) की दृष्टि से कोई

---

१. देखें—कल्पसूत्र (सम्पादक—पं. मुनि श्री नेमिचन्द्र जी म.) के द्वितीय खण्ड में इन तीर्थंकरों के भवों का वर्णन

२. (क) दर्शनेन विना ज्ञानमज्ञानं कथ्यते बुधैः।
चारित्रं च कुचारित्रं व्रतं पुंसां निरर्थकम्॥४४॥
अधिष्ठानं भवेन्मूलं, हर्म्यादीनां यथा तथा।
तपो-ज्ञान-व्रतादीनां दर्शनं कथ्यते बुधैः॥४५॥ *—प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, श्लो. ४४-४५*

(ख) सम्यक्त्वमेवामुच्यते सारं सर्वेसां धर्म-कर्मणाम्। *—अध्यात्मसार प्रबन्ध ४/१२/३४*

मूल्य नहीं होता। सम्यग्दर्शन सभी धर्मकार्यों का सार है। अणुव्रत-ग्रहण करने से पूर्व भी सम्यक्त्वरूपी मूल को स्वीकार करना परम आवश्यक होता है।[1]

बोधि, श्रद्धा, सम्यक्त्व या सम्यग्दृष्टि परम दुर्लभ है

सम्यग्दृष्टि या सम्यक्त्व के लाभ को अथवा सम्यक् बोधि-लाभ को और सम्यक् श्रद्धा की प्राप्ति को शास्त्रों में परम दुर्लभ बताया गया है। सम्यक्त्व को अनुपम आध्यात्मिक रत्न बताया है। सम्यक्त्व-प्राप्ति को तीन लोकों के राज्य की प्राप्ति से भी बढ़कर बताया गया है। यही आध्यात्मिक जीवन का मेरुदण्ड है। दूसरे शब्दों में धर्म का मूल भी सम्यग्दर्शन है।[2] सम्यग्दर्शनरहित जीव देव, गुरु और धर्म को यथार्थरूप में नहीं जान-पहचान पाता। इसीलिए सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व को मोक्षमार्ग का प्रथम साधन कहा है। यही अध्यात्म-साधना-मन्दिर का प्रवेशद्वार है। आध्यात्मिक गुणों की विशुद्धि का आधार भी यही है। भगवान महावीर ने तो स्पष्ट कहा है–"सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) नहीं होता तथा सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्र (सम्यक्चारित्र) गुण नहीं होता, चारित्रगुण से रहित को मोक्ष (सर्वकर्मक्षय) नहीं होता और मोक्ष के बिना निर्वाण (अनन्त परम शान्ति) नहीं होता।" 'लाटी संहिता' में तो और भी स्पष्ट कहा है–"सम्यग्दर्शन के बिना ही तो इस जीव का ज्ञान अज्ञानी पुरुष के समान अज्ञान या मिथ्याज्ञान, चारित्र-कुचारित्र और तप-बालतप कहलाता है।" इसीलिए 'प्रश्नोत्तर श्रावकाचार' में कहा गया है–"ज्ञान और चारित्र का बीज सम्यग्दर्शन है। वही मुक्ति के सुखों का प्रदाता है, बहुमूल्य है, अनुपम है। इसलिए हे भव्य ! तू मोक्ष सुख के लिए इसे ग्रहण कर !" आचार्य समन्तभद्र के शब्दों में–"जैसे बीज के अभाव में वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलोदय नहीं होते; वैसे ही ज्ञान और चारित्ररूपी दोनों वृक्षों की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और मोक्षफल-प्राप्ति (फलोदय) भी सम्यक्त्वरूपी बीज के अभाव में नहीं हो सकती। सम्यग्दर्शन ही ज्ञान और चारित्र को सम्यक् बनाने का कारण है। सम्यग्दर्शन ही ज्ञान और चारित्र तथा तप को उज्ज्वल करता है। ज्ञान, चारित्र और तप की सम्यक् आराधना सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन की आराधना से ही हो सकती है। इसलिए इन तीनों में सम्यग्दर्शन की ही प्रधानता है। सम्यग्दर्शन का

---

१. द्वारं मूलं प्रतिष्ठानमाधारो भाजनं विधिः।
द्विषट्कस्याऽस्य धर्मस्य सम्यक्त्वं परिकीर्तितम्॥ *–तत्त्वार्थसूत्र भाष्य*

२. (क) दंसण मूलो धम्मो। *–षट्खण्डपाहुड दर्शनप्राभृत*
(ख) सद्धा परम दुल्लहा। *–उत्तराध्ययन ३/९*
(ग) बोही होइ सुदुल्लहा ते सिं। *–वही, अ. ३६, गा. २५५/२५७*

अन्तर में प्रकाश होते ही अज्ञान का अँधेरा क्षणभर में ही नष्ट हो जाता है। सम्यग्दर्शन एक कुशल और बाहोश कर्णधार है। वह अपार संसार-समुद्र पर चलते हुए रत्नत्रयरूप जहाज को संसार-समुद्र से सहीसलामत पार लगा देता है। सम्यक्त्वरूपी कर्णधार बीच में कहीं भी विषयासक्ति, तीव्रतम कषाय, राग-द्वेष-मोह एवं मिथ्यात्व की चट्टानों से टकराने से बचाता है और मोक्षरूपी लक्ष्य की दिशा में इस धर्म-जहाज को ले जाता है।[1]

अतः रत्नत्रयरूप धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। जिस प्रकार नेत्रहीन जीव रूप को नहीं जान पाता, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन से रहित जीव भी न सुदेव-कुदेव को, न सुगुरु-कुगुरु को और न ही धर्म-अधर्म को भलीभाँति जान-परख सकता है। इसलिए सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग की साधना का या कहें कि अध्यात्म-साधना का प्रथम साधन या मूलकेन्द्र है। गुणस्थानों की दृष्टि से सम्यग्दर्शन आध्यात्मिक विकास का सिंहद्वार है। 'नंदीसूत्र' में इसे चातुर्वर्ण्य धर्मप्रधान संघरूपी सुमेरु पर्वत की आधारशिला बताया गया है। सम्यग्दर्शनरूपी नींव न हो तो अध्यात्म-साधना का भव्य महल बहमों, अन्ध-विश्वासों, निरर्थक क्रियाकाण्डों, कुमार्गगामी ज्ञानभार, अहंकार, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, प्रदर्शन, प्रसिद्धिलिप्सा, आडम्बर आदि अनेक अंधड़ों और तूफानों से ध्वस्त हो सकता है। इसलिए मोक्षपथ की विशुद्ध अध्यात्म-साधना को सुरक्षित रखने के लिए सम्यग्दर्शनरूपी सुदृढ़ नींव की आवश्यकता है।

आत्मिक परिपूर्णता यानी आत्मिकश्री की पूर्णता की अन्तिम मंजिल चौदहवाँ गुणस्थान है, परन्तु उसकी यात्रा प्रारम्भ होती है–अविरति सम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान से। इसलिए सम्यक्त्व आध्यात्मिक विकास की यात्रा का प्रथम पड़ाव है। वास्तव में आत्मा की पूर्णता का अथवा आत्मा के शुद्ध स्वरूप का बोध कराने वाला भी सम्यग्दर्शन है। जिसे अनन्तचतुष्टयश्री से सम्पन्न आत्मा के वास्तविक स्वरूप का बोध हो जाता है, वह जगत् में आनन्दमय, क्षेमकुशलमय, मंगलमय,

---

१. (क) नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥ *–उत्तराध्ययन २८/३०*

(ख) अपि येन विना ज्ञानमज्ञानं स्यात्तदज्ञवत्।
चारित्रं स्यात् कुचारित्रं तपो बालतपः स्मृतम्॥ *–लाटी संहिता, सर्ग ३, श्लो. ५*

(ग) ज्ञानचारित्रयोर्बीजं दर्शनं मुक्ति-सौख्यदम्।
अनर्घ्यमुपमात्यत्तं, गृहाण त्वं सुखाय यत्॥ *–प्रश्नोत्तर श्रावकाचार ११/६८*

(घ) विद्यावृत्तस्य संभूति-स्थिति-वृद्धि-फलोदयाः।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे, बीजाभावे तरोरिव॥ *–रत्नकरण्डक श्रा. ३२*

(ङ) सम्यक्त्वाध्युषिते जीवे नाज्ञानं व्यवतिष्ठते।
भास्वता भासिते देशे तमसः कीदृशी स्थितिः? *–अमितगति श्रावकाचार, प. २/६८*

परमात्माभिमुखी, ज्ञाता-द्रष्टा का जीवन जी सकता है। इसलिए ऐसे आत्म-जागरण का श्रीगणेश सम्यग्दर्शन से ही होता है। अनादिकाल से मोह निद्रा में सुषुप्त आत्मा को अपने यथार्थ स्वरूप के अज्ञान, मोह, मिथ्यात्व के कारण क्रोधादि कषाय, राग-द्वेष-मोह परेशान कर रहे हैं, परन्तु सम्यग्दर्शन के कारण आत्म-जागृति होने से ये सब विभाव और विकार शान्त हो जाते हैं। अज्ञान, मिथ्यात्व और विकारों के आतंक को सम्यग्दृष्टि आत्मा अपनी प्रबल शक्ति से शीघ्र भंगा सकती है। सम्यग्दर्शन से आत्मा को जीव-अजीव का, स्व-पर का, स्वभाव-विभाव का सम्यक् बोध हो जाने से तथा भेदविज्ञान को हृदयंगम कर लेने से उसे अपनी-अपनी अनन्त-शक्ति पर विश्वास हो जाता है। जीवादि तत्त्वों के वीतराग आप्तपुरुषों द्वारा प्ररूपित स्वरूप और कार्य पर पूर्ण श्रद्धान हो जाता है, आत्मा में परमात्मतत्त्व को प्रगट करने की शक्ति का भान हो जाता है। सम्यग्दर्शन का प्रादुर्भाव आत्मा में होते ही वह आत्मा परमात्मभाव का बीजारोपण कर देती है। शुद्ध चेतना पर आने वाली मलिनता का निवारण भी सम्यग्दर्शन द्वारा हो सकता है। चेतना को बाह्य दशा से आन्तरिक दशा में लौटाने का साधन भी सम्यग्दर्शन है। वीतरागभाव या जिनत्व की प्रथम भूमिका निजभाव को समझना है, यही सम्यक्त्व, सम्यग्दृष्टि या सम्यग्दर्शन है। आत्म-स्वरूप की उपलब्धि सम्यग्दर्शन से ही होती है। संक्षेप में, मनुष्य की समस्त आध्यात्मिक शक्तियों का मूल नियंता सम्यग्दर्शन है, जो आत्मा में हिंसादि विभिन्न आस्रवों, पंचेन्द्रिय-विषयों की आसक्ति के प्रवाहों को रोकने की सतत प्रेरणा करता है। अतः सम्यग्दर्शन जीवन-निर्माण का मूल मंत्र और शाश्वत सुख-शान्ति का अधिष्ठान है। सम्यग्दर्शनरूपी धर्म जीव का सबसे श्रेष्ठ मित्र और बन्धु है।[१]

सम्यक्त्व का जीवन पर सुप्रभाव

सम्यग्दृष्टि के जीवन में प्रत्येक क्षेत्र में सम्यक्त्व का प्रभाव देखा जा सकता है। वह कर्त्तव्यकर्म करते हुए भी निर्लिप्त रहता है। लाचारीवश उसे आरम्भजन्य कर्म करने पड़ते हैं फिर भी वह अन्तर में उनसे उदासीन रहता है। पर-भावों के प्रति भी तटस्थ और उदासीन रहने का प्रयत्न करता है। विपत्ति, संकट या दुःख आने पर वह आर्त्त-रौद्रध्यान नहीं करता, न ही निमित्तों को कोसता है, वह अपने उपादान का ही विचार करता है। सम्यग्दृष्टि अपने और सबके अन्तर में

---

१. (क) 'सम्यग्दर्शन : एक अनुशीलन' (अशोक मुनि) से भाव ग्रहण

(ख) दर्शनबन्धोर्न परोबन्धुर्दर्शनलाभान्न परो लाभः।
दर्शनमित्रान्न परं मित्रं, दर्शनसौख्यान्न परं सौख्यम्॥

—*अमितगति श्रावकाचार, प. २/८५*

परमात्मज्योति जगमगाती देखता है। इसलिए किसी के प्रति घृणा या विषमता नहीं लाता। 'लाटी संहिता' में कहा गया है–"सम्यग्दर्शन ही सत्पुरुषार्थ है, वही परम पद है, वही परम ज्योति है और वही परम तप है।"[१] सम्यग्दर्शन की ज्योति को ही परमात्म-प्राप्ति का कारण समझता है।

सम्यग्दर्शन की सम्पन्नता से महालाभ

भगवान महावीर से जब पूछा गया कि सम्यग्दर्शन की सम्पन्नता (प्राप्ति) से जीव को क्या लाभ होता है? तो उन्होंने फरमाया–"सम्यग्दर्शन की सम्पन्नता से जीव संसार के मूल मिथ्यात्व एवं अज्ञान का छेदन करता है, फिर उसके ज्ञान का प्रकाश कभी बुझता नहीं है। उस ज्ञान के प्रकाश में वह श्रेष्ठ ज्ञान और दर्शन से अपनी आत्मा को संयोजित करके सम्यक् भावों से भावित होकर विचरण करता है।"

इसीलिए महापुरुषों ने बताया कि "सम्यक्त्व से बढ़कर संसार में कोई लाभ नहीं है। जिसके पास सम्यक्त्व है, उसके हाथ में चिन्तामणिरत्न, घर में कल्पवृक्ष और उसके पीछे-पीछे चलने वाली कामधेनु गाय समझना चाहिए।" क्योंकि सम्यग्दृष्टि यही विचार करता है कि "यदि मेरे ज्ञानावरणीयादि अशुभ कर्मों का आगमन (आस्रव) सम्यग्दर्शन के प्रभाव से रुक गया और सम्यक्त्व-संवर-सम्पदा प्राप्त हो गई तो मुझे अन्य सांसारिक (धन) सम्पदा से क्या प्रयोजन है? और यदि छल, झूठ, अनीति और बेईमानी आदि से प्राप्त सम्पदा से पापकर्मों का आस्रव होता है तो मुझे उससे भी क्या प्रयोजन है?" भौतिक सम्पदा भी न्याय-नीति और धर्म से युक्त आजीविका से प्राप्त होती है, तो भी वह उसे विनश्वर एवं पराधीनता की कारण समझकर ग्रहण करता है, उसमें लिप्त या आसक्त नहीं होता।[२]

---

१. (क) तदेव सत्पुरुषार्थस्तदेव परमं पदम्।
तदेव परमज्योतिस्तदेवं परमं तपः॥ *–लाटी संहिता, सर्ग ३, श्लो. २*

(ख) सम्मदिट्ठी सया अमूढे। *–दशवैकालिक १०/७*

२. (क) (प्र.) दंसणसंपन्नयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ?
(उ.) दं. भवमिच्छत्त-छेयणं करेइ, परं न विज्झायइ। परं अविज्झाएमाणे अणुत्तरेणं नाण-दंसणेणं अप्पाणं संजोएमाणे सम्मं भावेमाणे विहरइ।
–उत्तराध्ययन, अ. २९, सू. ६०

(ख) सम्यक्त्वलाभान्न परो हि लाभः। *–अमितगति श्रा. २/८३*

(ग) सम्यक्त्वं यस्य भव्यस्य हस्ते चिन्तामणिर्भवेत्।
कल्पवृक्षो गृहे तस्य, कामगव्यनुगामिनी॥ *–प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, प. ११, श्लो. ५४*

(घ) यदिपापनिरोधोऽन्य-सम्पदा किं प्रयोजनम्?
अथ पापास्रवोऽस्त्यन्यसम्पदा किं प्रयोजनम्? *–रत्नकरण्डक. अ. १, श्लो. २७*

सम्यक्त्व-संवर-प्राप्ति हेतु विमर्शनीय बिन्दु

इस प्रकार सम्यक्त्व की महिमा और लाभ को जानने के पश्चात् निम्नोक्त बिन्दुओं पर विचार करना आवश्यक है कि वह सम्यक्त्व क्या है? उसे प्राप्त करने, उसकी सुरक्षा करने तथा उसकी स्थिति, स्थिरता और वृद्धि करने का क्या-क्या उपाय है, जिससे कर्ममुक्ति का इच्छुक साधक सम्यक्त्व-संवर में स्थिर रह सके?

सम्यक्त्व-संवर का साधक

सम्यक्त्व-संवर के साधक को सर्वप्रथम सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन का यथार्थ स्वरूप जानना आवश्यक है। सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन का जैनदर्शन में दो दृष्टियों से लक्षण किया गया है–निश्चयनय से और व्यवहारनय से।

निश्चय-सम्यग्दर्शन : आत्मा के प्रति श्रद्धा, प्रतीति, विनिश्चिति

मूल में सम्यग्दर्शन आत्मा का गुण है, वह आत्मा में निहित है। इस अनन्त विश्व में यदि कोई सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है तो आत्मा ही है। मोक्ष भी आत्म-स्वरूप है, इसलिए सम्यग्दर्शनादि भी आत्म-स्वरूप होने चाहिए। 'उपासकाध्ययन' में कहा गया है–इस आत्मा के मुक्त हो जाने पर न तो इन्द्रियों से ज्ञान होता है, रुचि भी मोहजन्य नहीं होती और न ही शरीर से आचरण होता है। इसलिए ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनों (निश्चयदृष्टि से) आत्म-स्वरूप ही हैं।[1]

अतएव निश्चय-सम्यग्दर्शन का लक्षण किया गया है–"बिना किसी उपाधि या उपचार के आत्मा की शुद्ध रुचि, श्रद्धा, प्रतीति, अनुभूति, विनिश्चिति या उपलब्धि करना निश्चय-सम्यग्दर्शन है। वास्तव में निश्चय-सम्यग्दर्शन शुद्ध आत्म-स्वरूप की दृष्टि से देखना एवं पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का निश्चय करना है। चेतना की बाह्योन्मुखी दृष्टि ज्यों-ज्यों हटती जाती है, त्यों-त्यों अन्तर्मुखी दृष्टि जाग्रत होती है।[2] ऐसी स्थिति में स्व (आत्मा) और पर (पर-भाव या विभाव) के सम्बन्ध में बाह्य दृष्टि से नहीं, केवल आत्मा की उपलब्धि होने मात्र से निश्चय-सम्यग्दर्शन नहीं हो जाता; अपितु अन्तर्मुखी दृष्टि से आत्मा की शुद्ध उपलब्धि

---

१. अक्षाज्ज्ञानं रुचिर्मोहाद् देहाद् वृत्तं च नास्ति यत्।
आत्मन्यस्मिन् शिवीभूते, तस्मादात्मैव तत्त्रयम्॥ *–उपासकाध्ययन क. २१/२४५*

२. शुद्धस्यानुभवः साक्षाज्जीवस्योपाधिवर्जितः।
सम्यक्त्वं निश्चयान्नूनमथदिकविधं हि तत्॥११॥
तत्त्वं जीवास्तिकायाद्यास्तत्स्वरूपोऽर्थसंज्ञकः।
श्रद्धानं चानुभूतिः स्यात्तेषामेवेति निश्चयात्॥८॥ *–लाटी संहिता, सर्ग ३/११, ८*

करता है, तभी उस व्यक्ति को निश्चय-सम्यग्दृष्टि उपलब्ध होती है। ऐसी निश्चय-सम्यग्दृष्टि प्राप्त होने पर व्यक्ति अन्तर्मुखी दृष्टि से वस्तुस्वरूप का शुद्ध दर्शन निश्चय या अनुभव कर सकता है। ऐसा निश्चय-सम्यग्दर्शन होने पर व्यक्ति अन्तर्मुखी होकर अपने कार्यकलाप, प्रवृत्ति, नियमोपनियम, क्रियाकाण्ड आदि के सम्बन्ध में झटपट निर्णय कर सकेगा कि ये मेरे आत्म-विकास के अनुरूप या आत्मलक्ष्यी—शुद्ध आत्म-स्वभाव के अनुरूप हैं या नहीं? यदि अन्तर्मुखी दृष्टि नहीं होगी तो मिथ्यात्व या अज्ञान के कल्मष के कारण आसक्ति-घृणा, राग-द्वेष, प्रियता-अप्रियता, द्रोह-मोह आदि उस पर छाये रहेंगे। फिर वहाँ शुद्ध आत्मोपलब्धि न होने से यथार्थ निर्णय या अनुभव नहीं होगा।[१]

निश्चय-सम्यग्दर्शन : आत्मा में ही सीधा सम्बन्धित

निश्चय-सम्यग्दर्शन के बिना किसी भी वस्तु का वास्तविक (मूल) रूप नहीं जाना जा सकता। क्योंकि वस्तु का मूल रूप तो उसका अन्तरंग ही होता है। दूसरी बात सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व को मोक्ष का साधन बताया गया है। बन्धन या मोक्ष, दोनों ही आत्मा से सम्बन्धित हैं। इसलिए सम्यग्दर्शन न तो शरीर का धर्म है, न इन्द्रियों का और न ही किसी जड़ भौतिक वस्तु का। वह तो आत्मा का ही भाव है। इस दृष्टि से सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व आत्मा का अमूर्तिक गुण है। मोक्ष जब आत्म-स्वरूप है तो सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय भी निश्चयदृष्टि से आत्म-स्वरूप है। हेमचन्द्राचार्य के अनुसार—आत्मा ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। क्योंकि आत्मा रत्नत्रय के साथ तादात्म्य होकर ही शरीर में स्थित है।[२]

निश्चय-सम्यग्दर्शन होने पर ही व्यवहार-सम्यग्दर्शन सफल

निश्चय-सम्यग्दर्शन के लक्षणानुसार मूल में तो आत्मा के प्रति श्रद्धा, रुचि, प्रतीति, विश्वास या विनिश्चय हो तभी देव, गुरु, धर्म, शास्त्र या तत्त्वों के प्रति श्रद्धानरूप व्यवहार-सम्यग्दर्शन सफल या कृतार्थ हो सकेगा। आत्म-स्वरूप की प्रतीति नहीं होगी तो आस्रव या बन्ध को कैसे छोड़ा जायेगा? संवर, निर्जरा और मोक्ष की साधना कैसे की जायेगी? आत्म-शक्तियों की पहचान नहीं हुई तो कर्म-बन्धनों को

---

१. न्य स्यादात्मोपलब्धिर्वा सम्यग्दर्शनलक्षणम्।
शुद्धा चेदस्ति सम्यक्त्वं, न चेत् शुद्धा, न सा सुहग्॥ —*पंचाध्यायी उत्तरार्ध २१५*

२. (क) आत्मैव दर्शनज्ञानचारित्राण्यथवायतेः।
यत्तदात्मक एवैष शरीरमधितिष्ठति॥ —*योगशास्त्र प्रकाश ४, श्लो. २*

(ख) अध्यात्मसार प्रबन्ध ६, अ. १८, श्लो. ३

(ग) आत्ममात्ररुचिः सम्यग्दर्शनं मोक्षहेतुकम्।
तद्विरुद्धमतिर्मिथ्या-दर्शनं भवहेतुकम्॥ —*अन्तर्नाद (उपाध्याय अमर मुनि)*

कैसे तोड़ा जायेगा? इस प्रकार का निश्चय-सम्यग्दर्शन होने पर ही आत्मा की शुद्धता और अमरता का ज्ञान परिपक्व हो सकेगा। इसलिए आत्मा पर श्रद्धा करना, उसकी अनुभूति, प्रतीति, विनिश्चिति या उपलब्धि करना जो निश्चय-सम्यग्दर्शन है, वही व्यवहार-सम्यग्दर्शन का मूल आधार है, क्योंकि तत्त्वों, पदार्थों या देव, गुरु, धर्म, शास्त्र आदि के प्रति श्रद्धान का लक्ष्य आत्म-श्रद्धान ही है।

व्यवहार-सम्यग्दर्शन के दो प्रसिद्ध लक्षण और उनका स्वरूप

व्यवहार-सम्यग्दर्शन के मुख्यतया दो लक्षण प्रसिद्ध हैं–(१) जीवादि नौ या सात तत्त्वों पर सम्यक् श्रद्धान, और (२) देव, गुरु और धर्म पर दृढ़ श्रद्धा।

इस सम्बन्ध में निम्नोक्त गाथा प्रसिद्ध है–

"अरिहंतो मह देवो, जावज्जीवाय सुसाहूणो गुरुणो।
जिणपण्णत्तं तत्तं, इअ सम्मत्तं मए गहीयं॥"[1]

–अरिहंत मेरे देव हैं, यावज्जीव तक सुसाधु मेरे गुरु हैं और जिन (वीतराग) भगवान द्वारा प्रज्ञप्त नौ तत्त्व सम्यक् हैं, इस प्रकार मैंने सम्यक्त्व ग्रहण किया।

'सूत्र प्राभृत' में कहा है–"जिनेन्द्र भगवान ने जीव-अजीव आदि बहुविध पदार्थ सुतथ्य बताये हैं, उनमें से जो हेय हैं, उन्हें हेयरूप में और उपादेय को उपादेयरूप में जानता-मानता है, वही सम्यग्दृष्टि है।"[2]

तत्त्वभूत पदार्थों पर श्रद्धान : कुछ शंका-समाधान

व्यवहार-सम्यक्त्व का प्रथम लक्षण किया गया है–तत्त्वभूत पदार्थों पर श्रद्धान। किन्तु प्रश्न उठता है कि तत्त्वभूत पदार्थ किसे और क्यों कहा जाये? क्योंकि जिसके लिए जो पदार्थ इष्ट है या जिसके प्रति जिसकी श्रद्धा या रुचि है, उसके लिए वही तत्त्वभूत पदार्थ हो जायेगा। जैसे धनलोभी धन को, कामवासना लोभी कामभोग को, राज्यलोभी राज्य को तत्त्वभूत पदार्थ मान सकता है अथवा जो अल्पज्ञ है, मन्दबुद्धि है, मिथ्यात्वग्रस्त है, वह भ्रान्तिवश अतत्त्व को भी तत्त्वभूत पदार्थ जान-मान सकता है और इसका भी क्या प्रमाण है कि आगमों, शास्त्रों या ग्रन्थों में बताये गये ये सात या नौ पदार्थ ही तत्त्व हैं, अन्य पदार्थ तत्त्वभूत नहीं हैं?

इसका समाधान यह है कि व्यवहार-सम्यक्त्व के दिगम्बर-श्वेताम्बर परम्परा के प्रायः सभी लक्षणों में तत्त्व शब्द से पूर्व एक महत्त्वपूर्ण विशेषण का प्रयोग

---

१. आवश्यकसूत्र मूल/सम्यक्त्व पाठ

२. सुतत्थं जिणभणियं जीवाजीवादि बहुविहं अत्थं।
हेयाहेयं च तहा जो जाणइ, सो हु सुद्दिट्ठी॥ –*सूत्रपाहुड, गा. ५*

किया गया है–'जिणपण्णत्तं तत्तं' (जिनेन्द्र द्वारा प्रज्ञप्त तत्त्व) अथवा 'रुचिर्जिनोक्त तत्त्वेषु' (जिनोक्त तत्त्वों पर रुचि), 'जिणवरेहिंपण्णत्तं' (जिनवरों–वीतरागों द्वारा प्ररूपित या उपदिष्ट)। इससे यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि ये सात या नौ तत्त्व, षट्द्रव्य, पंचास्तिकाय, किन्हीं अल्पज्ञों द्वारा मनःकल्पित या मनगढ़न्त नहीं हैं, अठारह दोषरहित बारह गुण सहित वीतराग सर्वज्ञ आप्तपुरुषों द्वारा कथित, प्ररूपित अथवा उपदिष्ट हैं। इसलिए इनकी तत्त्वरूपता और प्रामाणिकता असंदिग्ध है। "क्योंकि वीतराग सर्वज्ञ कदापि मिथ्या भाषण नहीं करते। इसलिए उनके वचन तथ्य-सत्यरूप होते हैं। वे यथार्थ वस्तुस्वरूप के द्रष्टा होते हैं।"[१]

ये सात या नौ तत्त्व इस प्रकार हैं–(१) जीव, (२) अजीव, (३) आस्रव, (४) बन्ध, (५) संवर, (६) निर्जरा, और (७) मोक्ष।[२]

पुण्य और पाप, ये दोनों शुभ-अशुभ आस्रवरूप होने पर भी पृथक् कथन करने पर नौ तत्त्व होते हैं। वीतराग सर्वज्ञ देवों ने इन्हें तत्त्वभूत इसलिए भी बताया है कि जीव तत्त्व को छोड़कर शेष तत्त्व आत्मा के विकास-ह्रास या शुद्धि-अशुद्धि या संसारह्रास-संसारवृद्धि में निमित्त कारण हैं–साधक-बाधक हैं। आध्यात्मिक विकास के लिए ये सभी पदार्थ ज्ञेय हैं, इनमें से जीव, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये उपादेय हैं तथा अजीव, आस्रव और बन्ध, ये तीन हेय हैं, पाप भी हेय है, पुण्य कथंचित् हेय है और कथंचित् उपादेय है। ये तत्त्वभूत पदार्थ जिस रूप में वीतराग सर्वज्ञों ने बताये हैं, उन्हें उसी रूप में जानना, मानना, उन पर आत्मलक्ष्यी श्रद्धा करना, अन्तःकरण से निश्चयपूर्वक श्रद्धा रुचिपूर्वक अनुभव करना ही व्यवहार-सम्यग्दर्शन है।[३]

देव, गुरु और धर्म तत्त्व : सच्चे-झूठे की पहचान

व्यवहार-सम्यक्त्व का दूसरा लक्षण है–देव, गुरु और धर्म पर श्रद्धा करना। इस पर प्रश्न होता है–विश्व में जितने भी धर्म-सम्प्रदाय हैं, उनके अनुयायी अपने-अपने सम्प्रदाय-मत-पंथ द्वारा मान्य या अपने-अपने गुरुओं द्वारा बताये हुए

---

१. वीतरागा हि सर्वज्ञा मिथ्या न ब्रुवते क्वचित्।
यस्मात्तस्माद् वचस्तेषां तथ्यं भूतार्थ दर्शकम्॥ *–आचारांग वृत्ति पत्र २०१*

२. जीवाजीवास्रवबन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्षास्तत्त्वम्। *–तत्त्वार्थसूत्र, अ. १, सू. ४*

३. (क) जीवाजीवा य बंधो य पुण्णं पावासवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो संतेए तहिया नव॥१४॥
तहियाणं तु भावाणं सब्भावे उवएसणं।
भावेण सद्दहंतस्स सम्मत्तं तं वियाहियां॥१५॥ *–उत्तरा. २८/१४-१५*

(ख) 'सम्यग्दर्शन : एक अनुशीलन' (अशोक मुनि) से भावांश ग्रहण

इष्टदेव (ईश्वर, गॉड, खुदा, अल्ला, सिद्ध-अरिहंत, बुद्ध, परमात्मा आदि), गुरु (पादरी, प्रीस्ट, मौलवी, फकीर, साधु, संन्यासी, अवतार, वाहे गुरु, निर्ग्रन्थ श्रमण, भिक्षु आदि) और धर्म (वैदिक, जैन, बौद्ध, इस्लाम, ईसाई, हिन्दू, सिक्ख, सनातन आदि) पर श्रद्धा, विश्वास रखते हैं और समय आने पर कई कट्टरपंथी तो उनके लिए मरने-मारने को तैयार हो जाते हैं, तो क्या उनकी यह दृष्टि श्रद्धा, रुचि या विश्वास, भक्ति सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व है?

जैनदर्शन का किसी भी नाम से कोई विरोध नहीं है। वह गुणों का पुजारी है। चूँकि सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व भी आत्मा के निजी गुणों को प्राप्त करने, विकास करने तथा कर्मों से मुक्तिपथ पर आगे बढ़ाने के लिए दिशादर्शन कराने का-मोक्षमार्ग का एक साधन है। इस दृष्टि से देव, गुरु और धर्म के भी जैनदर्शन ने अमुक गुण बताये हैं, उन गुणों में जो फिट होता हो, उसे मानने में कोई ऐतराज नहीं है। किन्तु जहाँ आत्मा-अनात्मा का वास्तविक ज्ञान नहीं हो, जीव-अजीव का, आत्मा के पूर्वजन्म-पुनर्जन्म का, नित्यानित्यत्व का, शुभाशुभ कर्म का, हिंसादि पापकर्मों का तथा उनसे निवृत्ति का कोई चिन्तन, मनन, मार्गदर्शन या सिद्धान्त न हो, उस देव, गुरु, धर्म को जैनदर्शन मान्य नहीं करता। इसीलिए आचार्य हेमचन्द्र ने कहा-"सच्चे देव में देवत्वबुद्धि, सच्चे गुरु में गुरुत्वबुद्धि और सद्धर्म में धर्मबुद्धि होना सम्यक्त्व कहलाता है।" पूज्यपाद आचार्य ने इसी का स्पष्टीकरण करते हुए कहा-"अर्हंतदेव से बढ़कर कोई देव नहीं है, दया के बिना कोई धर्म नहीं है तथा तपःपरायण निर्ग्रन्थ साधु ही सच्चे गुरु हैं; इस प्रकार का दृढ़ श्रद्धान ही सम्यक्त्व का लक्षण है।" इसी प्रकार 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में कहा गया-"जो राग-द्वेषादि अठारह दोषों से रहित वीतराग को देव, सर्वजीवदया-परायण धर्म को श्रेष्ठ धर्म तथा निर्ग्रन्थ साधु को गुरु मानता है, वह स्पष्टतः सम्यग्यदृष्टि = सम्यक्त्वी है।"[1]

देव-गुरु-धर्म पर श्रद्धा क्यों और कैसे?

व्यवहार-सम्यग्दर्शन का लक्षण केवल 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' कहने से आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करने वाले सम्यक्त्व-संवर के साधक का काम नहीं

---

१. (क) या देवे देवताबुद्धिर्गुरौ च गुरुतामतिः।
धर्मे च धर्मधीः शुद्धा, सम्यक्त्वमिदमुच्यते॥ —*योगशास्त्र* २/२

(ख) नास्त्यर्हतः परो देवो, धर्मो नास्ति दयां विना।
तपः परं च नैर्ग्रन्थ्यमेतत् सम्यक्त्व-लक्षणम्॥ —*पू. पा. श्रावका.* १४

(ग) णिज्जयदोसं देवं, सव्वजीयाणं दयावरं धम्मं।
वज्जियगंथं गुरुं जो मण्ण दि सो हु सद्दिट्ठी॥ —*का. अ., गा.* ३१७

चल सकता, सभी साधक उच्च भूमिका वाले नहीं होते, इसीलिए प्राथमिक भूमिका के सम्यक्त्व-साधकों को बताया गया कि अरिहंत देव पर, निर्ग्रन्थ गुरु पर और वीतराग-प्ररूपित धर्म पर या जिनोपदिष्ट शास्त्र (आगम) पर श्रद्धा करो। जो महान् आत्मा अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-शक्ति की उच्चतम भूमिका–आत्मा की पूर्ण विकसित अवस्था पर पहुँच चुके हैं, वे आदर्श वीतरागदेव हैं, जो उस ओर स्वयं बढ़ रहे हैं, दूसरों को बढ़ने के लिए उपदेश देते हैं, वे मार्गदर्शक निर्ग्रन्थ गुरु हैं और घातिकर्म क्षय करके उच्चतम भूमिका पर पहुँचे हुए सफल महापुरुषों ने अपने पूर्ण अनुभव से जो कल्याणकारी तत्त्वरूप पथ बताये हैं, वे धर्म हैं। इन्हीं तीन तत्त्वों को जैनधर्म सच्चे देव, सद्गुरु और सद्धर्म कहता है।

देवतत्त्व साधना का आदर्श उपस्थित करता है; गुरुतत्त्व साधना के यथार्थ मार्ग पर स्वयं चलता और दूसरों को भी उनकी भूमिका के अनुरूप सन्मार्ग बताता है, इधर-उधर विचलित होने से रोकता है, शिथिलता आने पर सावधान करके आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है, तीव्र राग-द्वेष-कषाय आदि दोषों का शमन-दमन-वमन करने का उपाय बताता है। तीसरा धर्मतत्त्व आत्मा के विकास और शोधन के लिए मार्ग है, मोक्ष-सुख को प्राप्त कराने का पथ है, स्व-रूप में स्थिर होने का राजमार्ग है। वह भी वीतराग-प्ररूपित ही उपादेय है। ये तीनों श्रद्धेय तत्त्व प्राथमिक सम्यक्त्वी के लिए आलम्बनरूप हैं।[१]

इस दृष्टि से देव, गुरु और धर्म को पूर्वोक्त कसौटी पर कसने पर जो सही उतरे, उसे जानना-मानना, उस पर श्रद्धा-निष्ठापूर्वक दृढ़ रहना, चल-मल-अगाढ़ दोष न आने देना व्यवहार सम्यक्त्व है।

सम्यक्त्व-संवर की साधना के दो रूप

वास्तव में "स्व (निज आत्मा) और पर (स्वात्मभिन्न समस्त बाह्य पदार्थ–पर-भाव या विभाव) के विभाग (भेद) के दर्शन का नाम सम्यग्दर्शन है।" इसलिए सम्यक्त्व-संवर के मुख्यतया दो रूप शास्त्रकारों ने यत्र-तत्र प्रस्तुत किये हैं–(१) निश्चय और व्यवहार-सम्यग्दर्शन के स्वरूप के अनुसार अपनी श्रद्धा, भक्ति, रुचि, दृष्टि, प्रतीति और अनुभूति करना या रखना। इनके पूर्वोक्त लक्षणों से बाहर जहाँ भी वृत्ति-प्रवृत्ति जाती हो, वहाँ उसे तुरन्त ज्ञानबल से, देव, गुरु, धर्म और शास्त्र के बल से रोकना सम्यक्त्व-संवर का एक रूप है। (२) दूसरा रूप है–सभी प्रकार के मिथ्यात्व-आस्रवों का निरोध करना। ये दो ही सम्यक्त्व-संवर की सक्रिय साधना के प्रमुख रूप हैं। इन्हीं दोनों रूपों पर सम्यक्त्व-साधना की उपलब्धि, स्थिरता, सुरक्षा, पुष्टि, वृद्धि, लक्ष्यसिद्धि, विशुद्धि और दृढ़ता निर्भर है।

---

१. 'सम्यग्दर्शन : एक अनुशीलन' से भाव ग्रहण

अब हम क्रमशः उन मुद्दों को सर्वप्रथम प्रस्तुत करेंगे कि सम्यक्त्व के दोनों लक्षणों के अनुसार चलने–वृत्ति-प्रवृत्ति करने में कहाँ-कहाँ अवरोध, विरोध, स्खलन, विचलन, शैथिल्य या अनुत्साह पैदा होता है?

निश्चय-सम्यक्त्व-संवर की साधना

(१) सर्वप्रथम निश्चय-सम्यक्त्व-संवर को लीजिये। निश्चयदृष्टि से सम्यग्दर्शन आत्मा को मोक्ष (कर्ममुक्ति) पहुँचाने वाला साधन है। वह आत्मा में ही रहता है, इसलिए जहाँ भी आत्म-हित विरोधी शुभ कर्म (पुण्य) बन्धकरी, तीव्र राग-द्वेष-कषायवर्द्धिनी प्रवृत्ति एवं शुद्ध आत्मा के प्रति श्रद्धा–निष्ठा में खतरा देखें, वहाँ तुरन्त सँभलकर ब्रेक लगाये, तभी निश्चय-सम्यक्त्व-संवर के मार्ग पर सही कदम पड़ सकता है।

(२) सम्यक्त्व-संवर-साधक जब यह निश्चय कर लेता है कि बाहर का धन, वैभव, सुख-साधन, परिवार, समाज, राष्ट्र, मकान, व्यापार आदि ही संसार नहीं, यह अपने आप में बन्धनकर्त्ता नहीं, मेरे अन्दर का राग-द्वेष-कषाय-कामना-वासनात्मक संसार ही जन्म-मरणादिरूप वास्तविक संसार है, वही बन्धनकर्त्ता है। इसलिए पूर्वोक्त बाह्य संसार को छोड़ देने या अल्प कर देने पर भी यदि मन में कामना-वासना, राग-द्वेष-कषाय आदि की उधेड़बुन चलाता है, तो वह अपने निश्चय-सम्यक्त्व-संवर से भ्रष्ट या विचलित होता है। उसका वह आन्तरिक संसार उसके कर्मबन्धन को बढ़ाता है।[1]

जब तक मोक्ष में नहीं पहुँचते हैं, तब तक साधुवर्ग और गृहस्थ श्रावकवर्ग (सम्यग्दृष्टि या व्रती) दोनों ही बाह्य संसार में हैं। परन्तु दोनों ही वर्ग के निश्चय-सम्यक्त्व-संवर के साधकों के लिए श्रमण भगवान महावीर ने सुन्दर जीवन-दर्शन दिया है–

"न लिप्पए भववारि-मज्झे वि संतो जलेण वा पोक्खरिणीपलासं।"

–वह संसार में रहता हुआ भी संसार सागर के राग-द्वेष-मोह-कषायादि जल (पंक) से लिप्त नहीं होता, जैसे कमलपत्र जलाशय में रहता हुआ भी जल से अलिप्त रहता है।

---

१. (क) 'सम्यग्दर्शन : एक अनुशीलन' से भावांश ग्रहण

(ख) जे गुणे से आवट्टे। –*आचारांग., सू. १*

(ग) कामनां हृदये वासः संसारः परिकीर्तितः।

(घ) रागो य दोसो वि य कम्मबीयं ···· कम्मं च जाइ-मरणस्स मूलं। –*उत्तरा., अ. ३२*

जैसे बाजार में जाने वाला व्यक्ति हजारों तरह की चित्ताकर्षक वस्तुएँ दुकानों पर सजी हुई देखता है, परन्तु देखने मात्र से वे वस्तुएँ उसकी नहीं हो जातीं, तटस्थभाव से, उपेक्षाभाव से, देखने मात्र से दुकानदार उन वस्तुओं को उस व्यक्ति के गले नहीं मढ़ देता। वे वस्तुएँ तभी उसकी होंगी, जब वह उन वस्तुओं से आकर्षित होकर उनके दाम चुका देगा। इसी प्रकार दुनियाँ के बाजार में विचरण करते हुए भी यदि सम्यक्त्व-संवर-साधक ज्ञाता-द्रष्टा बनकर रह रहा है। किसी भी सजीव-निर्जीव वस्तु को देखकर मन में किसी प्रकार का राग-द्वेष-मोह-कषाय का विकल्प नहीं लाता, उस पर आसक्त होकर लेने के लिए आतुर नहीं होता, इन्द्रियाँ व मन-वचन-काया का प्रयोग रागादिपूर्वक नहीं करता तो वे वस्तुएँ उसके मन में नहीं चिपकेंगी, वे उसे बाँधेंगी नहीं, ममत्व-अहंत्ववश उस वस्तु को अपना बनाने का विचार या संकल्प नहीं जागता तो यह संसार उसके लिए बन्धनकर्त्ता नहीं होगा। अन्दर का संसार छोड़ दे तो बाहर का संसार उस व्यक्ति का कुछ भी नहीं कर सकेगा। यदि सम्यक्त्व-संवर-साधक अन्तःकरण से आन्तरिक संसार से दूर रहने का पुरुषार्थ नहीं करता है, तो वह सम्यक्त्व-संवर से उतने अंशों में स्खलित हो जाता है, फिर चाहे वह कितना ही तप, जप, धर्म-क्रियाएँ कर ले, व्यवहारचारित्र का पालन कर ले, वह राख पर लीपने जैसा होगा।

अतः सम्यक्त्व-संवर के साधक को इस बाह्य संसार से भागना नहीं है, न ही अपने शरीरादि को नष्ट करके कषायवश मृत्यु का वरण करना है, किन्तु संसार में रहते हुए उससे निर्लिप्त रहना है। वह यह समझे कि संसार मेरे अंदर है तो मुक्ति (कर्ममुक्ति) भी मेरे अन्दर है। रोग होता है, वहाँ उसका उपचार भी किया जाता है। इसीलिए जैनाचार्य ने कहा–"कषायों से मुक्ति ही वास्तविक मुक्ति है।" संसार के बीजरूप राग-द्वेष को जितने-जितने अंशों में समाप्त करने की सम्यग्दृष्टि संवर-साधना की जायेगी,[१] उतने-उतने अंशों में आन्तरिक संसार से मुक्ति होती जायेगी। बशर्ते कि वह परिवार, समाज, सम्प्रदाय, राष्ट्र आदि समस्त घेरों की आसक्ति, ममता, अहंता, मूढ़ता आदि से निर्लिप्त एवं दूर रहे। जैसे कि 'बृहदालोयणा' में सम्यग्दृष्टि गृहस्थ के लिए कहा है–

"रे रे समदृष्टि जीवड़ा, करे कुटुम्ब-प्रतिपाल।
अन्तर से न्यारो रहे, ज्यों धाय खिलावे बाल॥"

अतः निश्चय-सम्यक्त्व-संवर के साधक का मिथ्यात्व आदि विभाव छूट गया जो राग-द्वेष, कषाय, आसक्ति, घृणा आदि विकार तीव्र रूप में थे, वे जितने अंशों

---

१. येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनाऽस्य बंधनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनाऽस्य बंधनं भवति॥ –*पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय २१२*

में छूट गये, उतने अंशों में संसार भी छूट गया तथा मोक्षभाव आत्मा में जाग्रत हो गया। वैसे तो निश्चयनय की दृष्टि से मोक्ष आत्मा में ही है, स्थान-विशेष तो बाद की बात है। जितने भी मुक्त हुए, उन सब की मुक्ति आत्मा में ही हुई है। आत्मा पूर्ण शुद्धोपयोग में आई, तभी वहीं उनकी मुक्ति (सर्वकर्ममुक्ति) हो गई।[1]

(३) निश्चय-सम्यक्त्व-संवर-साधक आत्मा के मूल स्वभाव को पकड़कर चलता है। संसार में ये जो विभिन्न भेद दिखाई दे रहे हैं, उन्हें वह मौलिक नहीं, आत्म-स्वभाव नहीं, कर्मोपाधिक और विभावजन्य मानता है। इसीलिए विभिन्न भेदों में अभेदरूप से प्रतीत होने वाले इस अखण्ड चैतन्य को लक्ष्य करके भगवान ने कहा था–"एगे आया।" स्वरूप की दृष्टि से आत्मतत्त्व सबमें एक-सा है। सत्ता और स्वरूप की दृष्टि से आत्मा-आत्मा में कोई भी मौलिक भेद नहीं है। अमुक-अमुक कर्मों के उदय के कारण ही भेद है। अतः रंगभेद, लिंगभेद, वर्णभेद, स्त्री-पुरुषभेद आदि सब भेद शरीर के हैं, बाह्य हैं, मिट्टी के हैं, आत्मा के नहीं। जब इस प्रकार की विशुद्ध आत्म-दृष्टि विकसित होगी, तभी निश्चय-सम्यक्त्व-संवर सक्रिय होगा। उससे सर्वभूतात्मभूतदृष्टि और आत्मौपम्यदृष्टि का विकास होने से पापकर्म का बन्ध तो रुक ही जायेगा, शुभ योग-संवर का लाभ होगा। निश्चय-सम्यक्त्व-संवर की भावना सक्रिय होने पर कर्मनिर्जरा और सर्वकर्ममुक्ति भी हो सकेगी। साथ ही 'रयणसार' के अनुसार–सम्यक्त्व-संवर का वह साधक अपना समय (व्यर्थ की निन्दा चुगली या कलह विकारादि में न खोकर) ज्ञान और वैराग्यभाव में व्यतीत करता है।[2] "यदि निश्चय-सम्यक्त्व-संवर के साधक में भी निश्चयदृष्टि से भेद-बुद्धि, विकल्प-बुद्धि, परनिन्दा-जुगुप्सा-कलहादि वृत्ति रही तो वह मिथ्यात्व एवं रागादि प्रवाह को जीतने में सफल नहीं होगा। परन्तु 'द्रव्यसंग्रह टीका' के अनुसार–असंयत सम्यग्दृष्टि भी मिथ्यात्व व रागादि को जीतेंगे तो उतने अंशों में एकदेशतः (अंशतः) वीतराग कहे जा सकेंगे।"[3]

(४) निश्चय-सम्यक्त्व-संवर के साधक के ज्ञान-नेत्र खुल जाने से उसके अन्तर में भेदविज्ञान जग जाता है, फलतः वह शरीरादि पर-भावों तथा रागादि विभावों से ज्ञानादि स्वभावमय आत्मा को पृथक् समझता है। अपने जाति, कुल,

---

१. (क) उत्तराध्ययनसूत्र, अ. ३२, गा. ३४

(ख) 'सम्यग्दर्शन : एक अनुशीलन' से भाव ग्रहण, पृ. ६-७

(ग) कषायमुक्तिः किलमुक्तिरेव।

(घ) 'बृहदालोयणा' (लाला रणजीतसिंह जी) से भाव ग्रहण

२. समाइट्ठी कालं नोलेइ वेरग्ग-णाण-भावेण। *–रयणसार, गा. ५७*

३. जिनमिथ्यात्व-रागादित्वेन एकदेशजिनाः असंयतसम्यग्दृष्ट्यः। *–द्रव्यसंग्रह टीका १/५/११*

बल, रूप, ऐश्वर्य, लाभ आदि तथा बुद्धि, शरीर, वाणी, मन एवं तप, श्रुत (ज्ञान) आदि को लेकर न ही अहंकारभाव लाता है, न ही हीनभाव लाता है। वह वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि को भी आत्मा का नहीं, शरीरादि का पौद्गलिक स्वभाव जानता है। इस प्रकार भेदविज्ञान का चिन्तन करके आत्मदृष्टि को सुदृढ़ करता है। यदि भेदविज्ञान के सिद्धान्त को ठुकराकर या नजरअंदाज करके वह शरीरादि पर मोह करता है या जाति आदि को लेकर अहंता-हीनता का भाव लाता है तो समझना चाहिए, वह निश्चय-सम्यक्त्व-संवर की साधना से विचलित है, डगमगा गया है, आत्मदृष्टि में स्थिर नहीं है। वह परीषहों और उपसर्गों अथवा विपत्ति, संकट और कष्ट के क्षणों में आत्म-ध्यान छोड़कर आर्त्त-रौद्रध्यान में लिप्त हो जायेगा।

(५) इसी प्रकार निश्चय-सम्यक्त्व-संवर के साधक को स्व-पर-तत्त्व का विवेक होने से हेय और उपादेय का निश्चय शीघ्र हो जाता है। फलतः वह उपादेय को भी ज्ञानपूर्वक ग्रहण करता है और हेय को भी ज्ञानपूर्वक छोड़ता है। निश्चय-सम्यग्दृष्टि-साधक का लक्षण भी पूज्यपाद आचार्य ने इसी दृष्टि से किया है- "जिसका अपने स्व-तत्त्व में उपादेय का और पर-तत्त्वों में हेय का निश्चय (पक्का विवेक) हो जाता है तथा जो संशय, विभ्रम, विमोह, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित है, वही (निश्चय) सम्यग्दृष्टि कहलाता है।"[1]

इस लक्षण के अनुसार निश्चय-सम्यक्त्व-संवर का साधक के लिए मुख्यत्वेन उपादेय तत्त्व वही होता है, जिसके ग्रहण करने से आत्मा का कल्याण, विकास और कर्मबन्धन से छुटकारा हो। फलतः अहिंसा-सत्यादि महाव्रत या अणुव्रत, समता, क्षमा, दया आदि सम्यक्चारित्र गुण ही उपादेय हो सकते हैं, बशर्ते कि इनके साथ भी इहलौकिक-पारलौकिक सुखाकांक्षा, भोगाकांक्षा, लोभ, मोह, तुच्छ स्वार्थ, कषाय आदि का दूषण न हो। अन्यथा उपादेय होते हुए भी राग, आसक्ति, लोभ, पद-प्रतिष्ठालिप्सा, सुखाकांक्षा, अधिकारलिप्सा, स्वार्थ-पूर्ति की लालसा आदि के वशीभूत होकर इन्हें ग्रहण करने से ये बन्धनमुक्ति के बदले बन्धनकारक ही सिद्ध होंगे। यदि निश्चय-संवर-साधक ऐसा करता है तो वह संवर को छोड़कर अशुभ

---

१. (क) 'सम्यग्दर्शन : एक अनुशीलन' से भावांश ग्रहण

(ख) एगे आया। —स्थानांग. १/१/१

(ग) सव्वभूयप्पभूयस्स समं भूयाइं पस्सओ।
पिहिआसवस्स दंतस्स पावकम्मं न बंधइ॥ —दशवैकालिक, अ. ४, गा. ९

(घ) स्वतत्त्व-परतत्त्वेषु हेयोपादेय-निश्चयः।
संशयादि-विनिर्मुक्तः स सम्यग्दृष्टिरुच्यते॥ —पूज्यपाद श्रावकाचार, श्लो. ९

आस्रव (पापकर्म) अर्जित कर लेगा। अतः निश्चय-संवर-साधक के हेयोपादेय को नापने के पैमाने या तौलने के बाँट सामान्य लौकिक या व्यावहारिक दृष्टि वाले लोगों के-से नहीं होते, अपितु वह आत्म-कल्याण, आत्म-विकास या आत्म-रमण के गज से तथा आत्मलक्ष्यता के बाँट से हेयोपादेय को नापता-तौलता है। वह पुण्य-प्रकर्ष से प्राप्त भोगोपभोग-सामग्री को या इन्द्रिय-विषयों को भी सामान्य लौकिक लोगों की तरह सर्वथा उपादेय नहीं मानता। वह भोजन, वस्त्र, मकान आदि जीवन-निर्वाह के लिए अत्यावश्यक सामग्री को ही अनिवार्य आवश्यक की कोटि में रखता है, उपादेय पदार्थों की कोटि में नहीं। सम्यक्त्व प्राप्त होते ही समस्त पर-द्रव्यों को हेय तथा निज स्वभाव को–स्वरूप को उपादेय जानता-मानता है। तथारूप श्रद्धान भी करता है, मिथ्याभाव को मिथ्या समझता है, किन्तु चारित्र मोहनीय कर्म का उदय प्रबल होने से तथा उसका उतना क्षयोपशम न होने से उसमें पर-द्रव्यों को सर्वथा छोड़कर पूर्ण चारित्र अंगीकार करने की शक्ति नहीं होती। 'धर्मसंग्रह' तथा 'दर्शनपाहुड' के अनुसार–"जिसका जितना आचरण हो सके, उतना करे, जिसका आचरण न हो सके, उस पर श्रद्धा और सम्यग्ज्ञान रखे। श्रद्धा रखता हुआ जीव भी जरा और मरण से रहित स्थान (मोक्ष) को प्राप्त होता है।"[1] आशय यह है सम्यग्दृष्टि जीव यथाशक्ति मार्गानुसारी, देशविरति या सर्वविरति के गुणों को यथाशक्ति अपनाता है। जितनी शक्ति होती है, उतना तो आचरण अपनी-अपनी भूमिका में रहता हुआ करता है, बाकी के विषय में श्रद्धान करता है। पुण्योदय से प्राप्त साधनों को भी वह पर-भाव समझकर उनमें राग या आसक्ति नहीं करेगा। जहाँ तक हो सके उदासीनभाव से ही वह उनका उपयोग करेगा और चतुर्थ गुणस्थान में भी सबको क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता, क्षयोपशम सम्यक्त्व या उपशम सम्यक्त्व प्राप्त होता है। पूर्ण निर्दोष सम्यक्त्व तथा पूर्ण निर्दोष सम्यक्चारित्र भी सबको प्राप्त नहीं होता। उसमें भी तारतम्य रहता है।[2]

यदि वह इन्हें उपादेय समझकर आसक्तिपूर्वक उपभोग करेगा तो वह आत्मलक्षी दृष्टि से भ्रष्ट हो जायेगा। जिस पदार्थ के रागादिपूर्वक ग्रहण करने से आभा और अधिक कर्मबन्ध में पड़ती हो, उसका विकास रुकता हो, उसे वह उपादेय नहीं मानेगा। क्योंकि 'पंचाध्यायी' (उ.) के अनुसार–"चूँकि रागांशों से बन्ध होता है, रागांशों से रहित हो तो बन्ध कदापि नहीं होता।" 'समयसार

---

१. जं सक्कइ तं कीरइ, जं न सक्कइ तयंमि (तं च) सद्दहणं। –*दर्शनपाहुड, गा. २२*
सद्दहमाणो जीवो वच्चइ अयरामरं ठाणं॥ –*धर्मसंग्रह, अ. २/२१*
(केवलिजिणे हिं भणियं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं) –*दर्शनपाहुड, गा. २२*

२. 'सम्यग्दर्शन : एक अनुशीलन' से भावांश ग्रहण, पृ. १९७

टीका' में कहा है—"इस प्रकार के सम्यग्दृष्टि के नित्य ज्ञान और वैराग्य की शक्ति बढ़ती है।"[1]

(६) निश्चय सम्यग्दृष्टि वस्तु को जैसी है, वैसी ही, उसी रूप में देखता है, उसकी दृष्टि अविपरीत होती है। उसके परिणाम मिथ्यात्व मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न विशुद्ध होते हैं।[2] जिससे उसकी दृष्टि आत्मलक्ष्यी या मोक्षलक्ष्यी होती है। सम्यक्त्व-संवर के साधक में यदि ऐसी श्रद्धा-मान्यता में राग-द्वेष, अहंकार, स्वार्थ, लोभ, कपट आदि विकार घुस जाते हैं, तो उसकी दृष्टि हठाग्रहगृहीत मिथ्या—विपरीत—हो जाती है। 'अमितगति श्रावकाचार' के अनुसार—इस प्रकार के मिथ्यात्व के परिणाम से उसका विवेक नष्ट हो जाता है। मूढ़ता उत्पन्न हो जाती है। उस मिथ्यात्व का भयंकर दुःखद परिणाम दुर्गति के सिवाय और क्या हो सकता है? पर्वत और नारद दोनों सहपाठियों में 'अजैर्यष्टव्यम्' इस वाक्य के अर्थ पर विवाद छिड़ा। पर्वत ने जान-बूझकर अहंकर एवं हठाग्रहवश नारद के मना करने पर भी "बकरों को होम कर यज्ञ करना चाहिए", इस गलत अर्थ का प्रतिपादन किया। फलतः आत्मौपम्यदृष्टि के विरुद्ध होने एवं असत्य की परम्परा चलाने के कारण पर्वत को नरक-यात्रा करनी पड़ी।[3] अतः निश्चय-सम्यक्त्व-संवर के साधक को ऐसी भयंकर असत्य एवं हिंसामूलक प्ररूपणा के कारण सम्यक्त्व से सर्वथा भ्रष्ट, घोर मिथ्यात्वग्रस्त होने के परिणामों से बचना चाहिए।

(७) निश्चय-सम्यग्दर्शन-सवंर के साधक के जीवन में किसी पूर्वबद्ध अशुभ कर्म के उदयवश अत्यन्त बुद्धिमन्दता हो जाने या भयंकर विपन्नता आ जाने पर भी वह अपने आत्मलक्ष्यी सम्यक् विश्वास को किसी भी प्रकार से डिगने नहीं देता, वह ऐसी दुःस्थिति में भी आर्त्तध्यान करके खिन्न और उदास नहीं होता। 'मासतुष मुनि' का ज्वलन्त उदाहरण इस सम्बन्ध में विचारणीय है। वह बुद्धिमन्दता के कारण 'मा रुष मा तुष' इतना-सा गुरुप्रदत्त सूत्र भी याद न रख सका, किन्तु आत्मा में निहित, किन्तु सुषुप्त अनन्त विशुद्ध ज्ञान के प्रति उसका अटल विश्वास होने से 'मा रुष मा तुष' के बदले 'माष-तुष' गलत रटता रहा। फलतः इस

---

१. (क) रागांशैर्वन्धः स्यान्नारागांशैः कदाचन। —*पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध, श्लो. ७७१*

(ख) सम्यग्दृष्टेर्भवति नित्यं ज्ञान-वैराग्यशक्तिः।

—*समयसार आत्मख्याति, गा. १९७, कलश १३६*

२. मिथ्यात्व-मोहनीय-क्षयोपशमादि-समुत्थे (विशुद्ध) जीव परिणामे।

—*प्रश्नव्याकरणसूत्र टीका, संवरद्वार ४*

३. *देखें—योगशास्त्र (हेमचन्द्राचार्य) की स्वोपज्ञ टीका में यह उदाहरण*

अविचलित सम्यक् विश्वास (श्रद्धा) के कारण उसके ज्ञान के आवरण सर्वथा दूर हो गये, भेदविज्ञान उसके तन-मन-नयन में परिनिष्ठित हो गया, उसे केवलज्ञान प्राप्त हो गया। निश्चय सम्यग्दृष्टि के आत्मा के साथ अभिन्न ज्ञान-गुण पर अटल अकम्प सम्यक् विश्वास का ही यह परिणाम है।[१]

(८) 'बृहद्द्रव्यसंग्रह' के अनुसार–निश्चय-सम्यग्दर्शन का एक लक्षण है– "नित्यनिरंजन शुद्ध-बुद्ध आत्म-तत्त्व के प्रति सम्यक् निश्चयपूर्वक श्रद्धान हो जाना। ऐसे सम्यक्त्व-संवर के साधक को शरीर से पृथक् आत्मा के अजर-अमर-अविनाशित्व की दृढ़ प्रतीति हो जाती है, तब वह मृत्यु से भी नहीं घबराता। उसे आत्मा की शुद्ध उपलब्धि हो जाती है, वह शुद्धोपयोग में ही रमण करता है, उसकी ज्ञान-चेतना सक्रिय रहती है। मैं शुद्ध-बुद्ध-चैतन्यघन आत्मा हूँ, ये देहादि मेरे नहीं हैं, ये मोह, माया, ममत्व आदि अज्ञानता, मिथ्यात्व आदि के तथा आत्मा की विभाव परिणति के फल हैं।" इस प्रकार उसकी मोह निद्रा उड़ जाती है। कामदेव श्रमणोपासक को शुद्ध आत्मा की प्रतीति हो गई थी। फलतः वह सम्यक्त्व-संवर की देव द्वारा ली गई कठोर परीक्षा में भी सफल रहा। भयंकर उपसर्गों के बीच भी उसने शुद्ध आत्मा के प्रति अटल निष्ठा–श्रद्धा को डिगने नहीं दिया। ऐसी ही स्थिति निश्चय-सम्यक्त्व-संवर के साधक की होनी चाहिए। "आत्मा का आत्मा में रत–लीन होना ही निश्चय सम्यग्यदृष्टि हो जाना है।"[२]

(९) वृद्धवादी आचार्य का जीवन भी शुद्ध आत्म-स्वरूप की उपलब्धि–प्रतीति का चमत्कार है। अपने गुरु की आत्म-बोधक आत्मोपलब्धि-प्रेरक वाणी सुनकर वे वृद्धावस्था में मंदबुद्धि होते हुए भी आत्म-विश्वासपूर्वक जुट गये अध्ययन में– ज्ञानाभ्यास में। अपनी आत्मा की ज्ञान-शक्ति पर अटल विश्वास होने से वे एक दिन महाविद्वान् बन गये। इस प्रकार के शुद्ध आत्म-स्वरूप का निश्चय ही निश्चय-सम्यग्दर्शन की भूमिका है।[३]

(१०) निश्चय-सम्यक्त्व-संवर की साधना इस प्रकार की जागरूक आत्म-बोध की स्थिति से चमक उठती है। फिर वह अपनी शुद्ध आत्मा में ही परमात्मा के दर्शन करने लगता है। साथ ही आत्म-स्वरूप निश्चयी साधक सर्वत्र सभी प्रसंगों में

---

१. देखें–विशेषावश्यक भाष्य की वृत्ति में माष-तुष का दृष्टान्त

२. (क) बृहद्द्रव्यसंग्रह की गा. ३९ की टीका

(ख) देखें–उपासकदशांगसूत्र, अ. २ में कामदेव श्रावक का जीवनवृत्त

(ग) अप्पा अप्पम्मि रओ, समाइट्ठी हवेइ फुड जीवो।

–जिनसूत्र (आ. रजनीश), भा. २, गा. ६९

३. देखें–वृद्धवादी आचार्य का वृत्तान्त–प्रबन्धचिन्तामणि

अपनी आत्मा को शुद्ध स्वच्छ रखता है, निर्मल ज्ञानधारा में प्रवाहित रखता है। ऐसे आत्म-दृष्टि-परायण या आत्म-दृष्टि से अभ्यस्त सम्यक्त्व-संवर-साधक के समक्ष शरीर और आत्मा दोनों में से किसी एक की सुरक्षा और शुद्धता का प्रश्न हो, वहाँ वह आत्मा की रक्षा और शुद्धता को प्राथमिकता देता है। ऐसा साधक चाहे समूह में हो, एकान्त में हो, बड़े से बड़े भय या प्रलोभन के अवसरों पर भी वह विचलित न होकर आत्मा की शुद्धता और सुरक्षा बरकरार रखता है। कामविजेता स्थूलिभद्र मुनि ऐसे ही आत्म-दृष्टि-परायण थे। पाटलिपुत्र में कोशावेश्या के यहाँ उसकी रंगशाला में मोहक, मादक और कामोत्तेजक वातावरण में रहकर भी वे शुद्ध ब्रह्म (आत्मा) में ही लीन रहे, उसी में विचरण करते रहे। आत्मा को उन्होंने जरा भी कामवासना से विचलित–स्खलित नहीं किया। वे जाग्रत एवं स्वस्थ, शान्त आत्म-दृष्टि-सम्पन्न सम्यक्त्व-संवर के सफल साधक सिद्ध हुए। अतः निश्चय-सम्यक्त्व-संवर के साधक को भी ऐसे विकट प्रसंगों में आत्मा के शुद्धोपयोग की ज्ञानधारा में अवगाहन करना चाहिए।[1]

(११) ऐसे निश्चय-सम्यक्त्व-संवर को जब शुद्ध आत्मानुभव हो जाता है, तो उसे अन्तर में ही आत्मिक-सुख का रसास्वाद होता है, वह बाह्य पौद्‌गलिक वैषयिक सुखों से विरक्त हो जाता है। 'बृहद्द्रव्यसंग्रह' की टीका में निश्चय-सम्यक्त्व का यही लक्षण दिया गया है–"मैं रागादि विकल्पों से रहित चित्-चमत्कार भावों से समुत्पन्न मधुर रस के आस्वाद (आत्मिक) सुख का धारक हूँ।" इस प्रकार का शुद्धोपयोगरूप चिन्तन निश्चयरूप सम्यग्दर्शन है। जिस प्रकार सुई के चुभने का प्रत्यक्ष वेदन होता है, उसी प्रकार का आत्मिक-सुख का अनुभव (वेदन) सम्यक्त्व-साधक को होता है।[2]

ये और ऐसे ही कुछ अन्य मुद्दे हैं, जिन पर निश्चय-सम्यक्त्व-संवर के साधक को जागरूक रहना है और सम्यक्त्व को मलिन, विचलित और शिथिल होने से बचाना है।

व्यवहार-सम्यक्त्व-संवर की साधना में सावधानी

अब व्यवहार-सम्यक्त्व-संवर की साधना के विषय में थोड़ा-सा विचार कर लें कि उसमें साधक को कहाँ-कहाँ सावधानी रखनी है? तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन में जो वीतराग प्ररूपित नौ तत्त्वों पर श्रद्धा रखने की बात है, वहाँ भी

---

१. (क) 'सम्यग्दर्शन : एक अनुशीलन' से भावांश ग्रहण
(ख) परिशिष्ट पर्व, सर्ग ८-९ से संक्षिप्त

२. रागादि-विकल्पोपाधिरहित-चिच्चमत्कार-भावोत्पन्न-मधुर-रसास्वादसुखोऽहमिति निश्चयरूपं सम्यग्दर्शनम्। *–बृहद्द्रव्यसंग्रह टीका ४०/१६३/१०*

मुख्यतया जीवतत्त्व (आत्मा) को ही प्रधानता दी जानी चाहिए। जीव (आत्मा) तत्त्व पर इसलिए सतर्कतापूर्वक विचार करना चाहिए कि मूलतः ये शेष ८ तत्त्व जीव के कर्ममुक्तिरूप मोक्ष के साधक और बाधक के रूप में बताये गये हैं। यदि आत्मा को अन्य दर्शनों की मान्यता की तरह कूटस्थ नित्य या एकान्त अनित्य अथवा क्षणिक माना जायेगा तो उसके धर्म, पुण्य, संवर, निर्जरा आदि की साधना निरर्थक हो जायेगी। इसीलिए जैनदर्शन ने आत्मा (जीव) को परिणामी नित्य माना है। शुद्ध स्वरूप की दृष्टि से आत्मा नित्य है, किन्तु कर्मपुद्गलों से सम्बद्ध होने के कारण वह नाना गतियों और योनियों में भटकती है। किन्तु अपनी इस संसार-यात्रा को वह संवर, निर्जरा एवं धर्म की साधना से सीमित करते-करते एक दिन पूर्ण शुद्ध सर्वकर्ममुक्त अवस्था को प्राप्त कर सकती है। इसलिए आत्मा को नित्य मानते हुए भी उसके बीच की संसार-यात्रा के लिए परिणामी भी मानना आवश्यक है। अतः आत्मा के इस परिणामी नित्य सिद्धान्तानुसार 'आचारांगसूत्र' में दिये गये चिन्तन निर्देश के अनुसार व्यवहार-सम्यक्त्व-संवर-साधक को प्रतिदिन यह जानना और चिन्तन करना आवश्यक है—मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? मुझे मनुष्य-जन्मादि कैसे प्राप्त हुए हैं? मैं आत्मा हूँ या शरीरादि? मेरा असली स्वरूप क्या है? अब मुझे कौन-सा पुरुषार्थ करना चाहिए, जिससे यह कर्मोपाधिक भवभ्रमण मिटे? क्योंकि आत्मा को मानने के साथ ही इसके पूर्ण शुद्ध रूप परमात्मतत्त्व को तथा अशुद्धता के कारण होने वाली शुभ-अशुभ कर्मोपाधिक दशाओं को भी मानना जरूरी है। अतः आत्मा की सर्वांगीण दशाओं को मानने के साथ ही पूर्वजन्म-पुनर्जन्म, पुण्य-पाप, इहलोक-परलोक (चारगतिरूप लोक) तथा इन स्थितियों के होने में कारणभूत विविध क्रियाओं, शुभ-अशुभ योग और शुद्धोपयोग आदि[1] बातों को मानना आवश्यक हो जाता है। इसलिए बन्ध, आस्रव और पाप ये तीन जीव के कर्मबन्ध के स्रोत हेय हैं, पुण्य भी कथंचित् हेय है, उपादेय भी। अजीव से तो जीव का सम्बन्ध कर्मोपाधिक है। उसे जानना भी है, यथाशक्ति यथावसर राग-द्वेष, कषायादिवश लिप्त नहीं होना है, जहाँ तक हो सके उससे अलिप्त रहना है। संवर, निर्जरा और मोक्ष, ये तीनों तत्त्व कर्मबन्ध से कर्मसंयोग

---

१. (क) इहमेगेसिं णो सण्णा भवइ, तं पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि ..... अण्णयरीओ वा दिसाओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि।

(ख) के अहं आसी? के वा इओ चुए, इह पेच्चा भविस्सामि।

(ग) एवमेगेसिं जं णायं भवइ—अत्थि मे आया उववाइए, जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ अणुदिसाओ सोऽहं।

(घ) आयावाई लोयावाई कम्मावाई किरियावाई।

—*आचारांग, श्रु. १, अ. १, उ. १, सू. १, २, ४, ५*

से जीव को मुक्त होने के लिए हैं। सम्यग्दृष्टि-संवर-साधक प्रति क्षण इन तत्त्वों का सम्प्रेक्षण-अनुप्रेक्षण करता रहेगा, तभी वह संवर को सुरक्षित रख सकेगा।

बहुत से स्थूलदृष्टि लोग पुण्य को ही धर्म समझने लगते हैं। पुण्य शुभ कर्मों का आस्रव और बन्धरूप है, जबकि धर्म कर्मक्षयरूप है। पुण्य संसार का मार्ग है, जबकि धर्म मोक्ष का मार्ग है। परन्तु धर्म के अहिंसा-सत्यादि या क्षमादि तथा तप, संयम आदि अंगों का आचरण भी सांसारिक कामना-नामनावश किये जाने पर वे भी पुण्य, पाप या अधर्म बन सकते हैं। सम्यक्त्व-संवर-साधक को यह विवेक अवश्य रखना है।

स्थानांग-सूचित मिथ्यात्व के दस भेदों में प्रथम-द्वितीय भेद हैं–जीव को अजीव और अजीव को जीव समझना-मानना। सम्यक्त्व-संवर के साधक को जो प्रत्यक्ष जीव दिखाई देते हैं–द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक, उनके विषय में कदाचित् शंका न हो, किन्तु पृथ्वीकायिक से लेकर वनस्पतिकायिक तक जो पाँच एकेन्द्रिय स्थावर जीव हैं, वे सर्वज्ञ प्ररूपति हैं, उनको भी हमारी तरह सुख-दुःखादि का संवेदन होता है, भले ही उनकी चेतना मूर्च्छित हो, अविकसित हो। मगर प्रत्यक्ष न दिखाई देने के कारण उनके विषय में शंका करना, उन्हें न मानना, उनकी अवज्ञा करना, सम्यक्त्व-संवर-साधक के लिए कथमपि उचित नहीं है। भगवान ने कहा है–"उनकी अवज्ञा या अभ्याख्यान या अपलाप करना अपनी आत्मा की अवज्ञा करना है।" अतः एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक किसी भी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व की आशातना, अवज्ञा या उपेक्षा करना सम्यक्त्व में बाधक है।[१] इसी प्रकार अण्डे, माँस, मछली आदि में जीव को अजीव मानना तथा अजीव को भी अन्ध-विश्वासवश जीव मानना, अजीव को देखकर मन में काम, क्रोध, लोभ आदि विकारवश होना, धन तथा भोगोपभोग के निर्जीव साधनों को जीव की तरह नित्य, अविनाशी मानकर उनके इष्ट-अनिष्ट संयोग-वियोग में राग-द्वेष, आसक्ति-घृणा आदि करना, ये सब सम्यक्त्व-दोष हैं। इसी प्रकार धनादि को धर्म, पुण्य का कारण मानकर येन-केन-प्रकारेण अन्याय, अनीति, पापकर्म आदि का आचरण करना-कराना भी मिथ्यात्व है। पशुबलि, माँस, मद्य आदि के सेवन को एवं अन्य हिंसादिकारक या अन्ध-विश्वासकारक कुप्रथाओं, कुरूढ़ियों को धर्म मानना और उनको चलाना। गाँजा, भाँग, शराब आदि नशीली चीजों का या अनाचार का सेवन

---

१. (क) जे लोयं अब्भाइक्खइ से अत्ताणं अब्भाइक्खइ।

जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ, से लोयं अब्भाइक्खइ॥ *–आचारांग, श्रु. १, अ. १, उ. ३*

(ख) पाण-भूय-जीव-सत्ताणं आसायणाए। *–आवश्यकसूत्र में तैंतीस आशातना पाठ*

करने वाले अन्ध-विश्वास प्रेरक, आडम्बरी एवं प्रंपची असाधु को साधु समझना और सच्चे साधुओं को असाधु समझना, तथैव पुण्य, पाप, अधर्म, युद्ध, राज्यलोभ, धनलोभ, सांसारिक अधिकार, पद आदि संसार के मार्ग को मोक्ष का मार्ग समझना और जो कर्ममुक्ति का मार्ग है, उससे कतराकर उसे लौकिक मार्ग समझना अथवा उससे लौकिक कार्य लेने की प्रेरणा देना सम्यक्त्व में बाधक है। जो सर्वकर्ममुक्त विदेह सिद्ध परमात्मा हैं, उन्हें आवागमनकारी मानना और जो सृष्टि के कर्ता-हर्ता, लीला करने वाले तथा आवागमनकारी हैं, उन्हें ईश्वर या परमात्मा मानना, यह भी सम्यक्त्व में बाधक है।[1] इस प्रकार नौ तत्त्वों के विषय में अविवेक, अश्रद्धा, कुशंका आदि मन में लाना, वचन से प्रगट करना सम्यक्त्व में दोष है। सम्प्रदाय-मत-पंथों को धर्म मानकर उनके नाम पर लड़ना-लड़ाना सम्यक्त्व में बाधक है।

सम्यक्त्व-संवर-साधक के लिए उपादेय

इसी प्रकार कुगुरु, कुदेव और कुधर्म को सुगुरु, सुदेव या सुधर्म मानना तथा देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता, धर्ममूढ़ता, शास्त्रमूढ़ता, लोकमूढ़ता[2] आदि मूढ़ताओं में मन-वचन-काया से संलग्न रहना भी सम्यक्त्व में बाधक है। जो अठारह दोषों से सर्वथा रहित हैं, सर्वज्ञ सम्पदा से युक्त हैं, जीवों को मुक्तिपथ का उपदेश देते हैं, त्रिलोक-स्वामी हैं, दिव्य औदारिक शरीरधारी हैं, जिन्होंने ज्ञानावरणीयादि चार घातिकर्मों का सर्वथा क्षय कर दिया है, जो अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय से परिपूर्ण हैं, धर्मोपदेश है, वे आप्त अर्हन्त परमात्मा सम्यग्दृष्टि के लिएं धर्मास्पद देव हैं, इसके विपरीत जो रागादि दोषों से युक्त हैं, अनुग्रह-निग्रह (वरदान-श्राप) परायण हैं, जो स्त्री-शस्त्रादि रखते हैं, जिनके शत्रु होते हैं, जो सांसारिक रागरंग आदि में लिप्त हैं, वे कुदेव सम्यग्दृष्टि के लिए उपास्य एवं शरण्य नहीं हो सकते।[3]

---

१. दसविहे मिच्छत्ते म. तं.—अधम्मे धम्मसण्णा. इत्यादि पाठ।

—स्थानांगसूत्र स्था. १०, सू. ११३

२. इन मूढ़ताओं का लक्षण आगे देखें रत्नकरण्डक श्रावकाचार में भी इनका उल्लेख है।

३. (क) मुक्तोऽष्टादशभिर्दोषैर्युक्तः सार्वज्ञ-सम्पदा।
शास्ति मुक्तिपथं भव्यान् योऽसावाप्तो जगत्पतिः॥ *—अनगार धर्मामृत, श्लो. १४*

(ख) दिव्यौदारिकदेहस्थो धौत-घातिचतुष्टयः।
ज्ञान-दृग्-वीर्य-सौख्याढ्यः, सोऽर्हन् धर्मोपदेशकः॥ *—लाटी संहिता, सर्ग ४/१३१*

(ग) देखें—जैनतत्त्वप्रकाश में १८ दोषों से रहित अर्हन्त का वर्णन

(घ) योगशास्त्र प्र. २, श्लो. ६-७

श्रद्धेय गुरुतत्त्व के विषय में 'आवश्यकसूत्र' में एक पाठ में बताया गया है– जो पाँचों इन्द्रिय-विषयों को वश में करने वाले हैं, नौ प्रकार की ब्रह्मचर्य गुप्तियों के धारक हैं, चार प्रकार के कषायों से मुक्त हैं, इन अठारह गुणों से युक्त हैं तथा पाँच महाव्रतों के पालक, ज्ञानादि पंच आचार के पालन में समर्थ एवं पाँच समिति और तीन गुप्तियों से युक्त हैं, यों ३६ गुणों वाले श्रेष्ठ साधु मेरे गुरु हैं।" 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' में कहा है–"जो पाँचों इन्द्रियों के विषयों की आसक्ति और वांछा से रहित हैं, षट्जीवनिकाय की हिंसा (आरम्भ) से विरत हैं, निष्परिग्रही हैं और तपश्चरण में रत रहता है, वही गुरु प्रशस्त (प्रशंसनीय) है। नये साधु, श्रमण, संयत, मुनि, भिक्षु, निर्ग्रन्थ, संयमी आदि जैनजगत् में प्रसिद्ध हैं। 'योगशास्त्र' के अनुसार–"जो रात-दिन भोग-विलास में रत रहते हैं, राजसी ठाट-बाट से रहते हैं, भेंट चढ़ावे लेते हैं, माल-मलीदा खाते हैं, कंचन और कामिनी के चक्कर में पड़े रहते हैं, नाटकादि देखते हैं, मादक पदार्थों का सेवन करते हैं और आरम्भ-परिग्रह में आसक्त रहते हैं, वे गुरु सम्यग्दृष्टि के लिए श्रद्धेय नहीं हो सकते।"

धर्म का व्यावहारिक दृष्टिसम्मत लक्षण

धर्म का व्यावहारिक दृष्टि से सम्मत लक्षण योगशास्त्र में इस प्रकार बताया गया है–"जो नरक और तिर्यंचगति में गिरते हुए प्राणियों को धारण करता है, रक्षण करता है, वह धर्म कहलाता है। सर्वज्ञ तीर्थंकरों द्वारा उक्त संयम आदि दशविध धर्म मोक्ष-प्राप्ति के लिए श्रेष्ठ है।" 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' में कर्ममुक्ति (मोक्ष) की दृष्टि से धर्म का लक्षण दिया गया है–"मैं कर्मक्षयकारक समीचीन धर्म बताता हूँ, जो प्राणियों को संसार के दुःखों से बचाकर उत्तम सुख को प्राप्त कराता–धारण कराता है। धर्म-धुरंधर जिनेश्वरों ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धर्म कहा है। इनके विपरीत कुदर्शन, कुज्ञान और कुचारित्र संसारमार्ग के पोषक हैं। कर्मक्षयरूप वे धर्म नहीं हो सकते। जो मिथ्यादृष्टि एवं रागी-द्वेषी पुरुषों द्वारा प्रचलित तथाकथित धर्म हैं, जो हिंसादि दोषों से कलुषित हैं, वे धर्मनाम से प्रसिद्ध होने पर भी संसार-परिभ्रमण के कारण हैं।"

शास्त्र या गुरु का लक्षण

दिगम्बर परम्परा में गुरु के बदले 'शास्त्र' या 'आगम' पर श्रद्धा को सम्यग्दर्शन माना है। शास्त्रों का उपदेशक 'गुरु' होता है। सत्-शास्त्र का लक्षण 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' में इस प्रकार बताया गया है–"जो सर्वज्ञ आप्तपुरुषों द्वारा कथित हो, जिनके वचनों का वादी-प्रतिवादी द्वारा खण्डन न किया जा सके, जो प्रत्यक्ष और अनुमान से विरुद्ध या बाधित न हो, जो वस्तुतत्त्व के यथार्थस्वरूप

का उपदेश करता हो, जो सर्वजीवों के लिए हितकर हो, जो मिथ्यामार्ग का युक्ति, प्रमाण आदि से निराकरण करता हो, वही शास्त्र है।" 'उत्तराध्ययनसूत्र' के अनुसार-"शास्त्र वह है, जिसे सुनकर साधक की आत्मा प्रतिबुद्ध होती है, वह तप, क्षान्ति (संयम) और अहिंसा की साधना में प्रवृत्त होता है।"[1]

इस प्रकार व्यवहार-सम्यक्त्व-संवर के साधक को इन दोनों प्रकार के लक्षणों के सन्दर्भ में विवेक, यतना, शुद्धि और सुरक्षा का ध्यान रखना आवश्यक है।

सम्यक्त्व-संवर की साधना में मिथ्यात्व आस्रवों का निरोध

सम्यक्त्व-संवर की साधना के लिए सब प्रकार के मिथ्यात्व आस्रवों का निरोध करना आवश्यक है। मिथ्यात्व के दस भेदों का उल्लेख पहले किया जा चुका है, इसके अतिरिक्त आभिग्रहिक, अनाभिग्रहिक, आभिनिवेशिक, सांशयिक और अनाभोगिक, इन पाँच मिथ्यात्वों के स्वरूप और लक्षण का उल्लेख भी कर्मविज्ञान के तीसरे भाग में हम कर चुके हैं। ये १५ प्रकार हुए।[2] आगे १६ से २५ तक के मिथ्यात्व इस प्रकार हैं-(१६) लौकिक मिथ्यात्व (लोकरूढ़ियों में अविचारपूर्वक बँधे रहना), (१७) लोकोत्तर मिथ्यात्व (पारलौकिक उपलब्धियों के लिए स्वार्थवश

---

१. (क) पंचिंदिय-संवरणो तह नवविहबंभचेरगुत्ति धरो।
चउविहकसायमुक्को इअ अट्ठारस गुणेहिं संजुत्तो॥
पंचमहव्वयजुत्तो पंचविहायारपालण समत्थो।
पंचसमिओ तिगुत्तो छत्तीसगुणो गुरु मज्झ॥ *-आवश्यकसूत्र*

(ख) विषयाशा-वशातीतो निरारम्भो निष्परिग्रहः।
ज्ञानध्यान-तपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते॥ *-रत्नकरण्डक श्रा., श्लो. १०*

(ग) योगशास्त्र प्रकाश २/९-१०

(घ) दुर्गतौ प्रपतत्प्राणिधारणाद्धर्म उच्यते।
संयमादिदशविधः सर्वज्ञोक्तो विमुक्तये॥ *-वही २/११*

(ङ) देशयामि समीचीनं धर्मं कर्म-निवर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे॥२॥
सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीय-प्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः॥३॥ *-र. श्रा. २-३*

(च) अत्तागम-तच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं। *-नियमसार जीवाधिकार, गा. ५*

(छ) आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमहष्टेष्टाविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्, सार्वं शास्त्रं कापथ-घट्टनम्॥ *-र. श्रा. ९*

(ज) जं सोच्चा पडिवज्जंति तवं खंतिमहिंसयं। *-उत्तराध्ययन ३/८*

२. मिथ्यात्व के दस भेद तथा आभिग्रहिक आदि ५ भेदों की व्याख्या कर्मविज्ञान, भा. ३ (कर्मों के आस्रव और संवर) में की जा चुकी है।

देव-गुरु-धर्म की आराधना करना), (१८) कुप्रावचनिक मिथ्यात्व (अनेकान्त-निरपेक्ष मिथ्या दर्शनों की मान्यताओं, मतों या विचारधाराओं का स्वीकार), (१९) न्यून मिथ्यात्व (पूर्ण सत्य को या तत्त्व-स्वरूपों को आंशिक सत्य समझना या न्यून मानना), (२०) अधिक मिथ्यात्व (आंशिक सत्य को उससे अधिक या पूर्ण सत्य मानना), (२१) विपरीत मिथ्यात्व (वस्तुतत्त्व को उसके विपरीत रूप में मानना), (२२) अक्रिया मिथ्यात्व (आत्मा को एकान्तरूप से क्रियारहित मानना या सिर्फ ज्ञान को महत्त्व देकर क्रिया की उपेक्षा करना), (२३) अज्ञान मिथ्यात्व (एकान्तरूप से अज्ञानवाद को ही महत्त्व देना, अज्ञानग्रस्त रहना अथवा ज्ञान या विवेक की उपेक्षा करना), (२४) अविनय-मिथ्यात्व (श्रद्धेय देव, गुरु, धर्म एवं शास्त्र तथा तत्त्वों के प्रति विनय, भक्ति, बहुमान या आदर न करना, उनकी आज्ञाओं का पालन न करना), और (२५) आशातना मिथ्यात्व (पूज्यवर्ग की निन्दा, आलोचना, बदनामी या अवज्ञा करना)। सम्यक्त्व-संवर की साधना के लिए इन २५ मिथ्यात्वों से बचना बहुत आवश्यक है। इसके अतिरिक्त मिथ्यात्व में प्रवृत्त होने के अन्तरंग और बहिरंग दो कारण माने गये हैं, जो सम्यक्त्व-घातक हैं, इनसे भी बचना जरूरी है। मिथ्यात्व का अन्तरंग कारण–अनन्तानुबन्धी चार कषाय एवं दर्शनमोहनीय की तीन, यों सात कर्मप्रकृतियों के बन्ध का उदय और बहिरंग है– पूर्वोक्त मिथ्यात्व के दस भेद। इन ७ प्रकृतियों के बन्ध से सम्यक्त्व-संवर-साधक को दृढ़तापूर्वक बचना चाहिए। एक जैनाचार्य ने मिथ्यात्व के अनर्जित (नैसर्गिक) और अर्जित (मिथ्या धारणा वालों के उपदेश से स्वीकृत) यों दो भेद किये हैं। अनर्जित मिथ्यात्व मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के उदय से होता है। परन्तु अर्जित (परोपदेशपूर्वक) मिथ्यात्व के मुख्य ४ भेद हैं–क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद। ये चारों एकान्तरूप से अपने-अपने वाद को ही सत्य मानते हैं, दूसरे को नहीं, इसलिए मिथ्या हैं। 'सूत्रकृतांग' में इनके क्रमशः १८०, ८४, ३२ और ६७ भेद बताये गये हैं। इन चारों वादों के एकान्त से सम्यक्त्व-संवर-साधक को बचने का प्रयत्न करना चाहिए।[1]

सम्यग्दर्शन की विशुद्धि संवर का मूल कारण

सम्यग्दर्शन की विशुद्धि को 'ज्ञाताधर्मकथा' तथा 'तत्त्वार्थसूत्र' में तीर्थंकर नामकर्म के उपार्जन का आद्य एवं प्रमुख गुण बताया गया है।[2] 'भगवती आराधना'

---

१. (क) 'सम्यग्दर्शन : एक अनुशीलन' (अशोक मुनि) से भावांश ग्रहण
(ख) देखें–अर्जित मिथ्यात्व (औपदेशिक) के क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयकारी और अज्ञानवादी के भेद-प्रभेदों की व्याख्या सूत्रकृतांग, नन्दीसूत्र आदि आगमों में

२. ज्ञाताधर्मकथा, अ. ८, सू. ६४

में कहा है–"शंकादि से रहित शुद्ध सम्यक्त्व होने पर अविरत सम्यग्दृष्टि भी तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन कर लेता है। केवल शुद्ध सम्यक्त्व के कारण ही राजा श्रेणिक तीर्थंकर नामकर्म बाँधकर भविष्य में तीर्थंकर होगा।" 'मोक्षपाहुड' में कहा है–"जो सम्यग्दर्शन की विशुद्धि से शुद्ध है, वही (आत्मा) वास्तव में शुद्ध है, अर्थात् उसी आत्मा का ज्ञान, चारित्र और तप शुद्ध है। दर्शन-शुद्ध आत्मा ही निर्वाण को प्राप्त करता है। दर्शन-विशुद्धि से विहीन व्यक्ति उस अभीष्ट (मोक्ष) को नहीं पा सकता।" वे नररत्न धन्य हैं, कृतार्थ हैं, शूरवीर हैं, शास्त्रज्ञ और पण्डित हैं, जो मुक्ति प्राप्त कराने वाले निर्मल सम्यक्त्व को ग्रहण करके स्वप्न में भी मलिन नहीं करते।" अहिंसा-सत्यादि धर्मों का यथार्थ पालन और लाभ भी सम्यक्त्व-शुद्धि होने पर ही होता है। 'प्रश्नोत्तर श्रावकाचार' के अनुसार–"जो बुद्धिमान् मनुष्य अतिचारों (दोषों) से रहित शुद्ध सम्यग्दर्शन को धारण कर लेता है, उसे मुक्तिलक्ष्मी स्वयं वरण करने आती है, स्वर्ग-सुखों का तो कहना ही क्या?" शुद्ध सम्यग्दृष्टि से युक्त सम्यक्त्व-संवर-साधक अहिंसादि धर्मों का आचरण अविवेक, यशकीर्ति, किसी लौकिक-पारलौकिक लाभ, गर्व, भय, निदान (सुखभोगाकांक्षा-संकल्प), कामना-नामना, स्वार्थ, संशय, रोष, अबहुमान, शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, उत्कृष्टता के प्रदर्शन, ईर्ष्या आदि अनेक दोषों की अपेक्षा से नहीं करता, अपितु निष्काम, निःस्वार्थ एवं विशुद्ध दृष्टि से ही करता है।[1]

'धवला' में सम्यग्दर्शन की विशुद्धता की व्याख्या इस प्रकार की गई है–"दर्शन का अर्थ सम्यग्दर्शन है। उसकी विशुद्धता अर्थात् तीन मूढ़ताओं, आठ मलों से रहित सम्यग्दर्शन का नाम दर्शन विशुद्धता है।" दिगम्बर परम्परा के रयणसार, प्रवचनसार आदि अनेक ग्रन्थों में सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के लिए निम्नोक्त पच्चीस दोषों का त्याग अनिवार्य बताया है–"(१) तीन मूढ़ताएँ, (२) जाति आदि आठ मद, (३) छह

---

१. (क) दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता ..... प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकृत्वस्य।

–तत्त्वार्थसूत्र, अ. ६, सू. २३

(ख) शुद्धे सम्मत्ते अविरदो वि अज्जेदि तित्थयरणामं।
जादो दु सेणिगो आगमे सिं अरुहो अविरदो वि॥ *–भगवती आराधना, गा. ७४०*

(ग) दंसणसुद्धो सुद्धो, दंसणसुद्धो लहेइ णिव्वाणं।
दंसणविहीणपुरिसो, न लहइ इच्छियं लाहं॥३९॥
ते धण्णा सुकयत्था, ते सूरा ते वि पण्डिया मणुआ।
सम्मत्तं सिद्धिकरं सुविणे वि ण मइलियं जेहिं॥८९॥ *–मोक्षपाहुड, गा. ३९, ८९*

(घ) अतिचारविनिर्मुक्तं यो धत्ते दर्शनं सुधीः।
तस्य मुक्तिः समायाति, नाक-सौख्यस्य का कथा? *–प्रश्नोत्तर श्रावकाचार परि. ११/९४*

(ङ) सम्यक्त्वशुद्धाविव धर्मलाभः। *–सम्यग्दर्शन : एक अनुशीलन से, पृ. ४५६*

अनायतन, (४) शंका, कांक्षा आदि ८ दोष (मल)। इन २५ दोषों के रहते सम्यग्दर्शन शुद्ध नहीं रह सकता।" तीन मूढ़ताएँ ये हैं–देवमूढ़ता, (गुरुमूढ़ता या) शास्त्रमूढ़ता एवं लोकमूढ़ता। आठ मद ये हैं–जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, तपोमद, लाभमद, श्रुत (ज्ञान) मद एवं ऐश्वर्य (प्रभुत्व अधिकार) मद। छह अनायतन ये हैं–(१) मिथ्यादर्शन, (२) मिथ्याज्ञान, (३) मिथ्याचारित्र, (४) मिथ्या-दृष्टि, (५) मिथ्याज्ञानी, और (६) मिथ्याचारित्री, इनका सेवन (सम्पर्क) करना।

शंकादि आठ दोष ये हैं–(१) शंका, (२) कांक्षा, (३) विचिकित्सा, (४) मूढ़-दृष्टित्व, (५) अनुपबृंहण या अनुपगूहन, (६) अस्थिरीकरण, (७) अवात्सल्य, और (८) अप्रभावना।[1]

सम्यक्त्व-संवर के साधक को इन २५ दोषों का त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है।

सम्यक्त्व की विशुद्धि और सुरक्षा के लिए ६७ बोल

श्वेताम्बर परम्परा में सम्यक्त्व की विशुद्धि एवं सुरक्षा के लिए परमार्थदर्शी आचार्यों ने ६७ बोल बताये हैं, उन्हें भलीभाँति जान-समझकर, उनमें से जो पालन (आचरण) करने योग्य हों, उनका पालन करना और जो परिहार (त्याग) करने योग्य हों, उनका परिहार (त्याग) करना चाहिए। सम्यक्त्व शुद्धि के परम निमित्त वे ६७ बोल इस प्रकार हैं–

(१) चार प्रकार की श्रद्धा, (२) तीन लिंग, (३) दस प्रकार का विनय, (४) तीन प्रकार की शुद्धि, (५) पाँच दूषण (अतिचार), (६) आठ प्रकार की सम्यक्त्व प्रभावना, (७) पाँच भूषण, (८) पाँच लक्षण, (९) छह प्रकार की यतना, (१०) छह आगार, (११) छह भावनाएँ, और (१२) षट्-स्थानक।[2] क्रमशः विवेचन इस प्रकार है–

---

१. (क) दंसणं सम्मद्दंसणं तस्स विसुद्धदा .... तिमूढावोढ-अट्ठमल-वदिरित्त-सम्मद्दंसणभावो दंसणविसुद्धदा नाम। –*धवला ७/७९-८०*

(ख) निज-शुद्धात्मरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्व-साधकेन मूढत्रयादि-पंचविंशति-मल-रहितेन तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणेन दर्शनेन शुद्धा दर्शन शुद्धाः पुरुषाः।

–*प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति ८२/१०४/१८*

(ग) मूढत्रयं मदश्चाष्टौ तथाऽनायतनानि षट्।
अष्टौ शंकादयश्चेति दृग्दोषाः पंचविंशतिः॥ –*ज्ञानसार, त. ता. श्रावका.*

(घ) इन सबकी व्याख्या आगे पढ़ें।

२. तस्स विसुद्धि-निमित्तं, नाऊण सत्त-सट्ठि ठाणाइं।
पालिज्ज-परिहरिज्जं च जहारिहं, इत्थ गाहाओ॥

–*सम्यक्त्वसित्तरी, पृ. १३८, धर्मसंग्रह, अ. १, गुण १३*

(१) **चार प्रकार की श्रद्धा**–सम्यक्त्व-प्राप्ति के पश्चात् उसे शुद्ध रखने के लिए ४ बातों का श्रद्धान एवं ध्यान रखना चाहिए–(१) परमार्थ संस्तव, (२) सुदृष्ट परमार्थ सेवा, (३) व्यापन्न (सम्यक्त्व भ्रष्ट), तथा (४) कुदर्शन का परिहार।[1]

(२) **तीन लिंग**–सम्यक्त्व शुद्धि की तीन चिह्नों से पहचान–(१) परम आगम-शुश्रूषा (सुशास्त्र सुनने की अत्यन्त उत्कण्ठा), (२) धर्मसाधना में उत्कृष्ट अनुराग (प्रीति और उद्यम), (३) जिनेश्वरदेव तथा पंचाचारपालक गुरु की सद्भावपूर्वक वैयावृत्य (सेवा-भक्ति) नियमित रूप से करना।

(३) **दस प्रकार का विनय**–अरिहन्त, अरिहन्त-प्ररूपित धर्म, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, कुल, गण, संघ, साधर्मिक एवं धार्मिक क्रियाओं का विनय करना। दर्शन विनय के मुख्य दो प्रकार–शुश्रूषा विनय और अनाशातना विनय। अनाशातना विनय के ४५ भेद हैं। पूर्वोक्त १0 भेद और ५ ज्ञान के, यों १५ भेद हुए, इनके प्रत्येक के अनाशातना, भक्ति और बहुमान यों तीन-तीन भेद होने से १५ × ३ = ४५ भेद हुए।[2]

(४) **तीन प्रकार की शुद्धि**–मन, वचन और काया की शुद्धि। प्रशस्त मन से निःशंकित आदि ८ अंगों के पालन करने का चिन्तन करना, वचन से उनकी प्रशंसा करे और काया से निःशंक और प्रशस्तरूप से पालन करना सम्यक्त्व की शुद्धि है।[3]

(५) **शंकादि पाँच दूषणों का निवारण**–शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टि प्रशंसा और मिथ्यादृष्टि संस्तव (अतिसंपर्क), इन ५ अतिचारों (दोषों) से दूर रहना सम्यक्त्व शुद्धि के लिए आवश्यक है।

(६) **आठ प्रभावक के रूप में प्रभावना करना**–(१) प्रावचनी, (२) धर्मकथी, (३) वादी, (४) नैमित्तिक, (५) तपस्वी, (६) विद्यावान, (७) सिद्ध (सिद्धियों से युक्त), और (८) कवि।[4] इनमें से किसी भी उपलब्धि द्वारा निःस्वार्थभाव से धर्म एवं संघ की प्रभावना करना, बशर्ते कि अपनी ज्ञानादि साधना में विक्षेप न हो।[5]

---

१. परमत्थ-संथवो वा, सुदिट्ठ-परमत्थ सेवणा वावि।
वावण्ण-कुदंसण-वज्जणा, इअ सम्मत्त-सद्दहणा॥ –*उत्तराध्ययनसूत्र* २८/२८

२. सम्यक्त्व-सित्तरी, पृ. १६७

३. मण-वाया-कायाणं सुद्धी सम्मत्तसोहिणी तत्थ। –*भगवतीसूत्र*, श. २५, उ. ७

४. प्रावचनिक धर्मकथिक आचार्य वज्रस्वामी थे। वादी प्रभावक मल्लवादी थे। नैमित्तिक भद्रबाहु आचार्य थे। तपस्वी प्रभावक विष्णुकुमार मुनि, विद्या प्रभावक खपुटाचार्य, सिद्ध प्रभावक पादलिप्ताचार्य प्रसिद्ध हैं।

५. (क) प्रवचनसारोद्धार द्वार १४८, गा. ९३४
(ख) सम्यक्त्व-सप्तति प्रकरण

(७) **पाँच भूषण**–(१) जैनदर्शन और धर्मशासन सम्बन्धी निपुणता–दक्षता, (२) प्रभावना, (३) तीर्थ सेवना, (४) स्थिरता[1] (दृढ़ता), और (५) भक्ति। इन पाँचों से सम्यक्त्व को विभूषित करना।[2]

(८) **सम्यक्त्व के पाँच लक्षण**–शुद्ध सम्यक्त्वी के ये पाँच अन्तरंग लक्षण हैं–(१) शम (कषायों का उपशमन या समभाव की वृत्ति), (२) संवेग (मोक्ष की तीव्र इच्छा), (३) निर्वेद (संसार से विरक्ति), (४) अनुकम्पा, और (५) आस्तिक्य।[3]

(९) **छह प्रकार की यतना**–(१) वन्दना, (२) नमस्कार, (३) दान, (४) अनुप्रदान (सम्मान, बहुमान), (५) आलाप, और (६) संलाप। अरिहन्त देव, निर्ग्रन्थ गुरु और सद्धर्म के सिवाय अन्य तीर्थिक देव, गुरु और धर्म को देव बुद्धि, गुरु बुद्धि और धर्म बुद्धि से इन ६ बातों का व्यवहार न करें, सावधानी रखें।[4]

(१०) **सम्यक्त्व के छह आगार**–(१) राजाभियोग, (२) गणाभियोग, (३) बलाभियोग, (४) देवाभियोग, (५) गुरुनिग्रह, और (६) वृत्तिकान्तार; ये छह सम्यक्त्व के आपवादिक कारण हैं। राजा या मंत्री आदि शासनकर्त्ता, गण (संघ या गच्छ), प्रबल (जबर्दस्त), भूतप्रेतादि देव, गुरु (बुजुर्ग, बड़े या शिक्षा-दीक्षा गुरु धर्मोपदेशक आदि) एवं वृत्ति-कान्तार (आजीविका की कठिनता); इन छह का अभियोग यानी दबाव हो, बल प्रयोग हो या अत्यन्त आग्रह हो और मानने के सिवाय कोई चारा न हो, तब लाचारी से, उदासीनतापूर्वक आपवादिक गाढ़ कारण से उनको मानता है तो उसका सम्यक्त्व भंग नहीं होता। मारणान्तिक या प्राणान्तक संकट आ पड़ने पर ही ये छह आगार हैं।[5]

(११) **छह भावनाएँ**–छह प्रकार की भावना से सम्यक्त्व शुद्ध और दृढ़ होता है–(१) सम्यक्त्व धर्मरूपी वृक्ष का मूल है, (२) सम्यग्दर्शन धर्मरूपी नगर का द्वार है, (३) सम्यग्दर्शन धर्मरूपी महल की नींव है, (४) सम्यग्दर्शन धर्मरूपी (धार्मिक)

---

१. सम्यक्त्व में स्थिरता = दृढ़ता के लिए श्रेणिक नृप का और भक्ति के लिए सुलसा श्राविका का दृष्टान्त द्रष्टव्य है।

२. पावयणी धम्मकही, वाई निमित्तओ तवस्सी य।
विज्जा सिद्धो य कई अट्ठेव पभावगा भणिया॥ *–सम्यक्त्व-सप्तति प्रकरण*

३. वेदान्त में भी शम, दम, उपरम, तितिक्षा, श्रद्धा, विवेक इन्हें षट्साधक सम्पत्ति कहा गया है।

४. इन छह प्रकार की यतनाओं से सम्यक्त्व-संवर-साधक अशुद्धि प्रवेश से, चल-मल-अगाढ़ दोषों से बच जाता है।

५. अन्यतीर्थिक देव और गुरु को देव-गुरु बुद्धि से वन्दन, स्तुति, नमस्कार, दामादि, किन्तु संकट आदि कारणों में अनुकम्पा बुद्धि से अथवा सन्मार्ग पर लाने की बुद्धि से करने का निषेध नहीं है।

जगत् का आधार है, (५) सम्यक्त्व धर्मरूपी वस्तु को धारण करने (रखने) का पात्र (भाजन) है, और (६) सम्यक्त्व धर्मरूपी गुणरत्नों को रखने की निधि (निधान) है।

(१२) सम्यक्त्व-साधना के लिए छह स्थानक–सम्यग्दर्शन की नींव आत्मा पर स्थित है। आत्मा के विषय में ही चित्त में अस्पष्टता, भ्रान्ति, अस्थिरता या शंका हो तो सम्यग्दर्शन सुदृढ़ और शुद्ध नहीं रह सकता। अतः सम्यक्त्व-संवर-साधक की दृष्टि आत्मा से सम्बन्धित छह स्थानकों (कारणों) के विषय में स्पष्ट और शुद्ध होनी आवश्यक है–(१) आत्मा है, (२) आत्मा नित्य है, (३) आत्मा अपने कर्मों का कर्त्ता है, (४) आत्मा कृतकर्मों का फलभोक्ता है, (५) आत्मा कर्मों से मुक्ति प्राप्त कर सकती है, और (६) मुक्ति प्राप्त करने का उपाय भी है।

इस प्रकार इन ६७ बोलों पर बार-बार चिन्तन करने से, इनमें से हेय-उपादेय का विवेक करने से सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व-संवर सुदृढ़, सुनिश्चित, सुरक्षित एवं शुद्ध रह सकता है।

सम्यक्त्व-संवर में स्थिरता के लिए आवश्यक भावसम्पदा

सम्यक्त्व में जिसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है, उसे गीता की भाषा में 'स्थितप्रज्ञ' और आचारांग की भाषा में 'स्थितात्मा' कहा जाता है। सम्यक्त्व में मन, बुद्धि और हृदय को स्थिर रखने के लिए निम्नोक्त भावसम्पदाओं को अपनाना आवश्यक है, ताकि सम्यक्त्व-संवर और कर्मनिर्जरा का उपार्जन कर सके–

(क) आत्मा के सिवाय सभी वस्तुएँ "पर' हैं, मेरी नहीं हैं। परन्तु मैं आसक्तिवश शरीर तथा अन्य पदार्थों को अपनी मानकर इनके लिए हिंसादि तथा कषाय-विषयादि का सेवन करता हूँ, पर-भावों और विभावों में रमण करता हूँ। अतः मेरा पर-पदार्थों के प्रति मोह-ममत्व हटे, रागादि विभावों से मैं दूर रहूँ। आत्मा के शुद्ध गुणों–स्वभाव में रमण करूँ, जाग्रत रहूँ। समता और निर्भयता बढ़ाऊँ।

(ख) पर-वस्तु को पाने की आकांक्षा ही आकुलता है, जो आत्म-भाव को विस्मृत करने वाली भव-व्याधि है। अतः मुझे सम्यक्त्व-संवर की स्थिरता के लिए पर-पदार्थ की आकांक्षा का त्याग करना चाहिए, ताकि निराकुलता, शान्ति और समाधि प्राप्त कर सकूँ।

(ग) अनादिकाल से मिथ्यात्ववश मैं इन्द्रिय-सुखों को ही सुख मानता आ रहा हूँ। अब मैंने सम्यक्त्व-संवर के लिए कदम उठाया है, तो मुझमें विषय-सुखों की लालसा समाप्त हो, आत्मिक-सुख की भावना जागे। चाह नष्ट हो, निःस्पृहता, निष्कांक्षता बढ़े।

(घ) तत्त्वों की यथार्थ समझ मुझमें प्रकट हो, विपरीत समझ नष्ट हो। पूर्वाग्रह, हठाग्रह या दुराग्रह या तत्त्वों के प्रति अरुचि–अश्रद्धा न रहे, सत्यग्राही दृष्टि, रुचि प्रकट हो।

(ङ) व्यवहारदृष्टि से सर्वज्ञ वीतराग प्रभु मेरे देव, ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप के सम्यक् आराधक मेरे गुरु तथा अहिंसादि व्रतरूप, रत्नत्रयरूप विषय-कषाय-निवृत्तिरूप संवर-निर्जरात्मक मेरा धर्म रहे, किन्तु निश्चयदृष्टि से शुद्ध सिद्ध-स्वरूप आत्मा ही देव है, आत्म-ज्ञान ही मेरा गुरु है, रागादिरहित आत्म-स्वरूपरमणतारूप धर्म ही मेरा निश्चय धर्म है। ऐसे निश्चय देव-गुरु-धर्म की मुझे प्राप्ति हो।

इस प्रकार की भाव-सम्पदा से सम्यक्त्व-संवर में स्थिरता और दृढ़ता आती है।[1]

सम्यक्त्व-संवर के लिए सम्यक्त्व के आठ अंगों का पालन करना अनिवार्य है

सम्यक्त्व-संवर का साधक जीवादि नौ तत्त्वों का ज्ञाता होकर जब उनमें से हेयोपादेय का विवेक करके हेय को छोड़ने और उपादेय को ग्रहण करने में तत्पर एवं कुशल हो जायेगा, तब वह अपने स्व-स्वरूप में अधिकाधिक स्थिर होकर सम्यग्दर्शन की वृद्धि और सुरक्षा कर सकेगा। अपने सम्यक्त्व गुण की वृद्धि के लिए वह निम्नोक्त आठ अंगों को मन-वचन-काया से अपनायेगा, जीवन में रमायेगा–(१) निःशंकता, (२) निष्कांक्षता, (३) निर्विचिकित्सा, (४) अमूढ़दृष्टित्व, (५) उपबृंहण या उपगूहन, (६) स्थिरीकरण, (७) वात्सल्य, और (८) प्रभावना।[2]

(१) निःशंकता–इसके दो अर्थ जैन परम्परा में प्रसिद्ध हैं–(१) सर्वज्ञ जिनोक्त तत्त्वों पर किसी प्रकार की शंका न रखना। 'आचारांगसूत्र' में कहा है–"**तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं।**"[3]–वीतराग सर्वज्ञ जिनेश्वर देवों द्वारा जो कथित–प्ररूपित है, वही सत्य और निःशंक है। अतीन्द्रिय पदार्थों पर तो आप्त (निर्दोष वीतराग सर्वज्ञ) पुरुषों के वचन (आगम) पर श्रद्धा रखकर चलना ही अनिवार्य है। (२) इहलोकभय, परलोकभय, आदान (अत्राण) भय, अकलाद्भय, आजीविकाभय या वेदनाभय, अपयशभय या अश्लोकभय एवं मरणभय, इन भयों

---

१. 'सम्यग्दर्शन : एक अनुशीलन' से भावांश ग्रहण, पृ. ४३३

२. निस्संकिय-निक्कंखिय-निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठीय।
उववूह-थिरीकरणे वच्छल-पभावणे अट्ठ॥

–उत्तराध्ययन २८/३१, प्रज्ञापनासूत्र, पद १, मूलाचार २०१

३. आचारांगसूत्र १/५/५/१६३

से रहित होना, यह निःशंकता का दूसरा अर्थ है। सम्यक्त्व वृद्धि के लिए सम्यग्दृष्टि के हृदय में निर्भयता और निःशंकता होनी आवश्यक है।[1]

(२) निष्कांक्षता—यह सम्यक्त्व-संवर-साधक का दूसरा गुण है। कर्ममुक्ति की साधना में साधक द्वारा अपने संयम, तप, अहिंसादि व्रत, नियम, त्याग, प्रत्याख्यान, ध्यान, मौन, जप, सेवा, क्षमादि दशविध धर्म, पंचविध आचार, रत्नत्रयी साधना के फलस्वरूप इहलौकिक या पारलौकिक भौतिक वैभव, लौकिक लाभ, सुखभोगों की वांछा करना, अपनी साधना का लक्ष्य इन्हीं क्षणिक भौतिक सुखों तथा भौतिक सिद्धियों को बना लेना कांक्षा दोष है। इस दोष से मुक्त होकर किसी भी पर-भाव की आकांक्षा या फलाकांक्षा न करके शुद्ध आत्म-स्वभाव में, सच्चिदानन्दस्वरूप में निष्ठावान् या तृप्त—सन्तुष्ट रहना निष्कांक्षता है।

जो ऐसा निष्कांक्षता गुण से युक्त सम्यक्त्व-संवर-साधक है, उससे अनेक मुमुक्षु एवं जिज्ञासु मार्गदर्शन चाहते हैं। 'सूत्रकृतांगसूत्र' में कहा गया है—"जिसने कांक्षा (फल की वांछा) का अन्त कर दिया है, वह अनेक मनुष्यों का नेत्र है—नेता या मार्गदर्शक है।"[2]

एक विद्वान् ने निष्कांक्षता का अर्थ किया है—"किसी पुण्यकार्य के बदले में इहलौकिक-पारलौकिक सुखभोगों की वांछा न करना। कर्म और कर्मफलों को अपना न मानना।" सम्यग्दृष्टि-संवर-साधक इन्द्रियजन्य सुखों को सुखरूप न मानकर इन्द्रियज सुखभोगों की वांछा नहीं करता।

कांक्षामोहनीय कर्म के वेदन के कारण और निवारण

'भगवतीसूत्र' में कांक्षामोहनीय कर्मबन्ध और उसके वेदन का विवरण प्रस्तुत करते हुए कहा गया है—"चौबीस दण्डक के (समस्त संसारी) जीव कांक्षामोहनीय का तीन काल में बन्ध, चय, उपचय, उदीरण, वेदन और निर्जीर्ण करते हैं। उन-उन कारणों से शंकायुक्त, कांक्षायुक्त, विचिकित्सायुक्त एवं भेद-समापन्न और कलुष-समापन्न होकर जीव उक्त कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन (उदय में आये हुए उक्त कर्मों का फलभोग) करते हैं। आशय यह है कि कांक्षामोहनीय कर्मबन्धादि के फलभोग के शंकादि ५ कारण हैं। शंका का अर्थ है—वीतराग सर्वज्ञ प्रभु ने अपने अनन्त ज्ञान-दर्शन में जिन तत्त्वों का निरूपण किया, उन पर या उनमें से किसी एक पर शंका करना—कौन जाने यह यथार्थ है या नहीं। एकदेश से, सर्वदेश से अन्य दर्शन को स्वीकार करने की इच्छा करना कांक्षा है। एकदेश या सर्वदेश से

१. देखें—स्थानांगसूत्र में ७ भयों का वर्णन

२. से हु चक्खु मणुस्साणं जे कंखाए य अंतए। —*सूत्रकृतांगसूत्र*

तप, जप, ब्रह्मचर्य आदि पालन के फल के विषय में संशय करना–कौन जाने इसका फल मिलेगा या नहीं? विचिकित्सा है। बुद्धि में द्वैधीभाव (बुद्धिभेद) उत्पन्न होना भेद-समापन्नता है अथवा अनध्यवसाय (अनिश्चितता) भी भेद-समापन्नता है। अथवा पहले शंका या कांक्षा उत्पन्न होने से बुद्धि में विभ्रम पैदा हो जाना भी भेद-समापन्नता है। जो वस्तु जिनेन्द्र भगवान ने जैसी प्रतिपादित की है, उसे उसी रूप में निश्चय न करके विपरीत बुद्धि रखना या विपरीत रूप में समझना कलुष-समापन्नता है।" अतः कांक्षामोहनीय कर्म सम्यक्त्व-संवर की स्थिरता और दृढ़ता में बहुत ही बाधक है। इसलिए इसी सन्दर्भ में भगवान ने कांक्षामोहनीय कर्म के निवारण का उपाय बताया है–"छद्मस्थता (अल्पज्ञता) वश जब भी किसी जिन प्ररूपित तत्त्व या तथ्य के विषय में शंकादि उपस्थित हो तब **"तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं।"** (जो जिनेश्वर देवों ने प्ररूपित किया है, वही सत्य है, शंकारहित है।) इस सूत्र को मन में धारण (निश्चय), आचरण करता हुआ, यों रहता हुआ, संवर करता हुआ जीव आज्ञासाधक होता है। यदि एक क्षण का भी प्रमाद किया तो **प्रमाद कषाय और योगों** के निमित्त से तत्क्षण कांक्षामोहनीय कर्म का बन्ध हो जायेगा। साधारण जीव या मानव की बात तो दूर रही, "श्रमण निर्ग्रन्थ भी (जब तक छद्मस्थ हैं) उन-उन कारणों से ज्ञानान्तर, दर्शनान्तर, चारित्रान्तर, लिंगान्तर, प्रवचनान्तर, मार्गान्तर, मतान्तर, भंगान्तर, नयान्तर, नियमान्तर और प्रमाणान्तरों के द्वारा शंकित, कांक्षित, विचिकित्सित, भेद-समापन्न और कलुष-समापन्न होकर कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं।[1] अतः सम्यक्त्व-संवर के साधक को कांक्षामोहनीय कर्म से अवश्य बचना चाहिए।

---

१. (क) देखें–भगवतीसूत्र, श. १, उ. ३ में कांक्षाप्रदोष का पाठ, सूत्र १-५

(ख) (प्र.) कहं णं भंते ! जीवा कंखा-मोहणिज्जं कम्मं वेदेंति?

(उ.) गोयमा ! तेहिं तेहिं कारणेहिं संकिया, कंखिया, वितिगिच्छिया भेदसमावन्ना कलुससमावन्ना एवं खलु जीवा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति।

"..... गोयमा ! तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेदितं। .... से नूणं गोयमा ! एवं मणं धारेमाणे, एवं पकरेमाणे, एवं चिट्ठेमाणे, एवं संवरेमाणे आणाए आराहए भवति।"

–भगवती, श. १, उ. ३, सू. ५-६; आ. प्र. समिति, ब्यावर, खण्ड १, पृ. ६७-६८

(ग) (प्र.) जीवा णं भन्ते ! कंखा-मोहणिज्जं कम्मं बंधंति?

(उ.) हंता, बंधंति। पमाद-पच्चया जोगनिमित्तं च ....। *–वही, श. १, उ. ३, सू. ८-९*

(घ) तेहिं तेहिं नाणंतरेहिं दंसणंतरेहिं चरित्तंतरेहिं लिगंतरेहिं पवयणंतरेहिं, पावयणंतरेहिं कप्पंतरेहिं, मग्गंतरेहिं मतंतरेहिं, भंगंतरेहिं नयंतरेहिं नियमंतरेहिं पमाणंतरेहिं संकिया कंखिया वितिगिच्छिया भेदसमावन्ना कलुससमावन्ना, एवं खलु समण निग्गंथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति। *–भगवतीसूत्र, श. १, उ. ३, सू. १५/२*

(३) निर्विचिकित्सा–यह तीसरा अंग है। इसका अर्थ है–धर्माचरण के फल की प्राप्ति के सम्बन्ध में सन्देह न करना। मैं जो भी तप, त्याग, व्रत, नियम आदि धर्माचरण कर रहा हूँ या साधना कर रहा हूँ, इसका फल मुझे मिलेगा या नहीं? कहीं यह साधना व्यर्थ तो नहीं जायेगी? इस प्रकार की आशंका रखना विचिकित्सा है। इस प्रकार के शंकित हृदय से साधना करने वाले व्यक्ति का मन अधीर हो उठता है। उसके लिए भगवान महावीर ने कहा–"विचिकित्सा-समापन्न आत्मा मनःसमाधि (अथवा ज्ञानादि से युक्त चित्त की एकाग्रता) प्राप्त नहीं कर पाता।"[१] विचिकित्सा का एक अर्थ जुगुप्सा या घृणा करना भी है। अपने से बल, बुद्धि, रूप, वैभव, ज्ञान आदि में न्यून या हीन देखकर उसके प्रति घृणा, निन्दा करना, स्वयं की प्रशंसा करना भी विचिकित्सा है। सम्यक्त्व-संवर-साधक न तो स्वयं को अधिक मानकर अहंकार करता है और दूसरे से घृणा करता है। वह निर्विचिकित्सा-गुणधारक होता है।

(४) अमूढ़दृष्टित्व–यह सम्यक्त्व-संवर का चौथा अंग या गुण है। सम्यग्दृष्टि देव, गुरु, धर्म, शास्त्र और लोक-व्यवहार आदि के विषय में मूढ़ताओं के चक्कर में नहीं फँसता। वह अपने जीवन में विचारधारा स्वच्छ–स्पष्ट एवं विवेकयुक्त तथा पवित्र रखता है।

(५) उपबृंहण–यह सम्यक्त्व-संवर की साधना के लिए आवश्यक अंग है। उपबृंहण का अर्थ है–वृद्धि कराना, बढ़ाना या पुष्टि करना। अपनी आत्म-शक्तियों को बढ़ाना; उन्हें कुत्सित या मलिन मार्ग में न लगाना। उपबृंहण गुण के होने से सम्यक्त्वादि रत्नत्रय में शिथिलता या स्खलना नहीं होती। उपबृंहण के बदले 'उपगूहन' गुण भी जैनग्रन्थों में पाया जाता है। जिसका अर्थ होता है–गोपन करना, ढकना। किसी साधर्मी बन्धु या सहृदय व्यक्ति से प्रमादवश कोई दोष या गलती हो गई हो तो उसका ढिंढोरा न पीटकर उसे एकान्त में प्रेम से समझाकर गलती को सुधारना। उसे अपमानित या निन्दित न करना। गलती का स्वीकार और सुधार कर लेने पर भी उसे न तो स्वयं प्रकट करना, न ही दूसरों द्वारा प्रकट कराना उपगूहन गुण है।

(६) स्थिरीकरण–यह छठा अंग है। कोई भी सम्यग्दृष्टि, व्रती श्रावक या महाव्रती साधु किसी प्रबल कषाय के उदयवश, मोहवश या कुसंगति से अथवा रोगादि या निर्धनता आदि कारणों से धर्म से पतित च्युत या विचलित हो रहा हो, धर्मान्तार करने को उद्यत हो रहा हो, उस समय धर्मवत्सल या सम्यक्त्वी-साधक

---

१. वितिगिच्छा-समावन्नेणं अप्पाणेणं नो लहइ समाहिं। –*आचारांग, श्रु. १, अ. १, उ. ५*

द्वारा उसे धर्म में स्थिर करना स्थिरीकरण है। स्थिरीकरण के दो भेद हैं–अपनी आत्मा का स्थिरीकरण तथा दूसरे व्यक्तियों का स्थिरीकरण।

(७) वात्सल्य–निःस्वार्थ स्नेह, शुद्ध प्रेम या आत्मीयता रखना वात्सल्य है। यह धर्ममार्ग में समाचरण करने वाले सहधर्मी भाई-बहनों के प्रति शुद्ध स्नेहभाव रखना सम्यक्त्व-संवर की स्थिरता के लिए अतीव आवश्यक है। कल्याणमार्ग में स्थित व्यक्तियों के प्रति कुटुम्ब का-सा प्रेम रखना भी वात्सल्यभाव है।

(८) प्रभावना–प्रभावना का अर्थ है–धर्म की महिमा या कीर्ति बढ़ाना। लोगों को धर्म के प्रति प्रभावित करना। अपनी आत्मा को भी सम्यग्दर्शनादि धर्म के तेज से प्रभावित करना भी प्रभावना है। धर्म की उत्कृष्टता प्रगट करना ही प्रभावना का उद्देश्य है।[1] सम्यक्त्व-संवर में स्थिरता के लिए ८ अंगों या गुणों को जीवन में अपनाना आवश्यक है।

सम्यक्त्व-संवर में श्रावकवर्ग की दृढ़ता के लिए एक कवित्त प्रसिद्ध है–

"नौ तत्त्व जान, सहाय न वांछे, डिगे नहीं देव-अदेव डिगाये।
दोष बिना धरै दर्शन को, जिन सर्व अर्थ दिये गुंजाये॥
धर्म को राग रंग्यो हिरदे, अति धर्म करे, आपस में मिलाये।
निर्मल चित्त, अभंग दुवार, अंतेउर नांही परिग्रह नाये॥"

यह है सम्यक्त्व-संवर का श्रावक-जीवन में सक्रिय आचार ! इससे उत्तरोत्तर निर्जरा और परम्परा से सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष भी प्राप्त होना अवश्यम्भावी है।

● ●

१. 'सम्यग्दर्शन : एक अनुशीलन' से भावांश ग्रहण

२१

विरति-संवर : क्यों, क्या और कैसे?

सुविधावाद का लक्ष्य : अधिकाधिक पदार्थोपभोग

वर्तमान युग भौतिकवादी है। भौतिकविज्ञान ने एक से एक बढ़कर यंत्रों का आविष्कार करके मनुष्य को अधिकाधिक सुविधावादी बना दिया है। यंत्रों के सहारे से मनुष्य इन्द्रिय-विषयों और विषयसुखोपभोग के साधनों का अधिकाधिक उपभोग करने लगा है। वह इतना सुविधावादी बन गया है कि उसे अपने जीवन पर किसी प्रकार का कंट्रोल करने, स्वेच्छा से ब्रेक लगाने और अपने आध्यात्मिक विषय पर सोचने की रुचि, इच्छा और तड़फन प्रायः जाग्रत नहीं होती। भौतिक (पौद्‌गलिक = जड़) पदार्थों के अहर्निश सम्पर्क और संसर्ग के कारण उसकी बुद्धि, संस्कार और वाचिक-कायिक चेष्टाएँ, मानसिक स्फूर्ति भी प्रायः भौतिक पदार्थानुगामिनी तथा आत्मिक-चेतना के प्रति जड़-मूढ़-सी बन गई है।

सुविधावादी मनुष्य के दिल-दिमाग में अध्यात्म-चेतना को अवरुद्ध करने, कुंठित करने, शक्तिहीन करने तथा आवृत और सुषुप्त करने वाले कर्मास्रवों और कर्मबन्धनों की बात न तो स्फुरित होती है और न ही ठसती-जँचती है। कर्मविज्ञान द्वारा प्रस्तुत पाप, पुण्य और धर्म की बात को वह कतई ग्रहण नहीं करना चाहता। वह अपनी हर कामना, तृष्णा, आकांक्षा, कामभोगों की पिपासा और मनोज्ञ पदार्थों को पाने की लिप्सा—लालसा की पूर्ति को ही सुख और शान्ति मानता है। भर्तृहरि ने अनियंत्रित सुखभोगवादियों की सुखविषयक विपरीत मति का दिग्दर्शन कराते हुए कहा[1]—"जब प्यास से कण्ठ सूखने लगते हैं तो वह ठंडा और मधुर जल पी लेता है, भूख से पीड़ित होने पर माँसादि से युक्त भात खा लेता है; कामाग्नि उद्दीप्त होने पर अपनी प्रियतमा का गाढ़ आलिंगन कर लेता है, शरीर में व्याधि होने पर (उपचारादि से) उसका प्रतिकार कर लेता है। इस प्रकार पर (आत्म-बाह्य =

---

१. तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं शीतमधुरम्। क्षुधार्त्तः शाल्यन्नं कवलयति मांसादिकजितम्॥
प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरमालिंगति वधूम्। प्रतीकारं व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः॥

—भर्तृहरि वैराग्यशतक १९

इन्द्रियादिजन्य) भावों के अधीन जो विषयसुखभोग दुःखरूप हैं, उन्हें सुखभोगवादी सुखरूप मान लेता है।''

भौतिकवाद द्वारा सुविधावाद को अत्यधिक उत्तेजन

भौतिकविज्ञान से मनुष्य के इस सुविधावाद को और अधिक उत्तेजन और प्रोत्साहन मिला है। जैसे-जैसे भोग की सामग्री का विकास हुआ, मनुष्य की मनोवृत्ति भोगवादी बनती गई। इतना ही नहीं, वह इन्द्रियों और मन पर किसी प्रकार की लगाम लगाना पसंद न करके अनियंत्रित = स्वच्छन्द भोगवादी बनता गया।

उसे भूख लगी है, सामान्य सादे सात्विक आहार से उसकी तृप्ति हो सकती है, मगर वह अपनी स्वच्छन्द मनोवृत्ति के अनुसार, भोजन को मिर्च-मसाले तथा मिष्ट पदार्थों से उसे गरिष्ठ अथवा स्वादिष्ट बनाकर, उसका उपभोग करेगा, तृप्ति होने पर भी स्वाद के लोभ में पड़कर अधिकाधिक मात्रा में उसका उपभोग करेगा। उस तथाकथित स्वादिष्ट पदार्थ के उपभोग से तथा अत्यधिक मात्रा में उपभोग से भले ही अजीर्ण, कब्ज, अम्लपित्त, गैस आदि रोगों का शिकार हो जाए। मान लो, वह निर्जन वन में जा रहा है, वहाँ उसे भूख और प्यास लगी है। उसके पास या आसपास कहीं भूख-प्यास मिटाने का कोई साधन दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है। ऐसी स्थिति में सुविधावादी या निरंकुश भोगवादी मनोवृत्ति वाला मानव व्याकुल हो जायेगा, आर्त्तध्यान करने लगेगा; क्योंकि इस पराधीन या पर-पदार्थाधीन मनोवृत्ति ने उसकी सहन-शक्ति ही समाप्तप्राय कर डाली है। उसकी समभावपूर्वक सहन करने की प्राकृतिक क्षमता भी प्रायः नष्ट हो गई है। सुविधाओं को भोगते-भोगते वह पर-पदार्थों के वशवर्ती हो गया है; इस कारण अपने पर जरा भी अंकुश या नियंत्रण नहीं रख सकता। गर्मी लग रही है तो सुविधावादी तुरन्त पंखा खोल लेता है अथवा कूलर लगाकर एयरकंडीशन रूम में बैठता है। सर्दी लग रही है तो तुरन्त हीटर लगा लेता है। अगर वातानुकूलित स्थान सहज प्राप्त न हो तो वह छटपटा उठता है, जैसे-तैसे उसे जुटाने की वृत्ति जागती है अथवा सर्दी लगने पर सुविधावादी व्यक्ति अधिक गर्म कपड़े और गर्मी लगने पर अत्यन्त बारीक कपड़े तथा समाज में अपनी प्रतिष्ठा और प्रशंसा के लिए सभ्यता के नाम पर वह सादे कपड़ों के बजाय बहुत ही कीमती, मुलायम और ऊँचे दर्जे के कपड़े से शरीर को ढकने का प्रयास करेगा। इसी प्रकार कहीं थोड़ी-सी दूर जाना हो तो वह साइकिल, स्कूटर, मोटरसाइकिल का सहारा लेता है, दो-चार मील जाना हो या दूर जाना हो तो पैदल जाने के बदले कार, बस, ट्रेन, वायुयान आदि की सवारी खोजता है।

सुविधावाद का दुष्परिणाम

प्राचीनकाल में यंत्रवाद का इतना विकास नहीं हुआ था, तब बहनें पानी भरने के लिए कुएँ या नदी पर जाती थीं, उससे श्रम भी होता था, सहन-शक्ति भी बढ़ती थी, पानी का उपयोग भी नाप-तौलकर किया जाता था। परन्तु इस सुविधावाद के युग में घर-घर नल लग जाने से प्रचुर पानी बिना ही परिश्रम के उपलब्ध हो जाता है। घर का सब कार्य तब महिलाएँ अपने हाथ से ही करती थीं; सफाई, गो-सेवा, रसोई, पानी छानना, बर्तन माँजना आदि गृहकार्यों को वह विवेक और यतनापूर्वक करती थीं, इससे श्रमजन्यशरीर शक्ति, जीवरक्षा, सहन-शक्ति और स्वावलम्बिता ये चारों ही लाभ थे, परन्तु सुविधावादी मनोवृत्ति ने केवल शारीरिक सहन-शक्ति ही नहीं, शारीरिक-मानसिक शक्ति को भी चौपट कर दिया है। सुविधावादी व्यक्ति को यह चिन्ता भी नहीं होती कि इस पराधीनता से मेरा स्वास्थ्य खराब हो जायेगा, डायबिटीज, अजीर्ण, गैस, कब्ज आदि अनेक भयंकर उदर रोग लग जायेंगे। उसके पश्चात् चिकित्सकों के द्वार खटखटायेंगे। उनके कहने से बरबस ही उन्हें भले ही मिठाई, खटाई, मिर्च, तली हुई वस्तुएँ, मीठे पेय पदार्थ छोड़ने पड़ें, तब मजबूरी से ही छोड़ेगा, वह संवर की कोटि में नहीं है। परन्तु सम्यग्दृष्टिपूर्वक स्वेच्छा से पहले ही अमुक-अमुक पदार्थों के उपभोग-परिभोग की मर्यादा कर लेता तो उसका जीवन संयम और संतोष से सुख-शान्ति और स्वस्थता से व्यतीत होता। खाद्य पदार्थों के अत्यधिक और स्वच्छन्द उपभोग से उसकी वृत्ति कलुषित हुई, अनेक रोगों से जनित दुःख उत्पन्न हुए, मानसिक शान्ति और स्वस्थता भंग हुई, फिर चिकित्सक और दवाइयों के चक्कर में पड़कर आर्थिक दृष्टि से भी परेशान हुआ। यह हुआ अविरति का दुष्परिणाम !

सुविधावादी लोगों का पदार्थों के स्वच्छन्द उपभोग विषयक तर्क

सुविधावादी लोगों से कहा जाए कि "आप लोग वस्तुओं के अनियंत्रित उपभोग के कारण इतना अधिक कष्ट उठाते हैं, यदि थोड़ा-सा दृष्टिकोण बदलकर तथा मन को समझाकर अपने पर थोड़ा-सा संयम रखने तथा स्वेच्छा से नियमन करने का अभ्यास कर लें तो आपको इतना कष्ट भी न उठाना पड़े और अपने मनोनीत और आवश्यकतानुसार वस्तु न मिलने पर भी मन में किसी प्रकार की ग्लानि न हो, संतोष और सादगी का आनन्द आ जाए। आप तन और मन से भी स्वस्थ और शान्त रहें।" तो वे तपाक से कहने लगते हैं—"ये सब वस्तुएँ हैं किसलिए? मनुष्य के उपभोग के लिए ही तो हैं ! हम इनका यथेष्ट उपभोग नहीं करेंगे तो ये पड़ी-पड़ी सड़ जायेंगी। जब हम इन साधनों का उपभोग कर सकते हैं अथवा ये साधन हमें उपलब्ध हैं तो क्यों हम अभाव का जीवन जीकर दुःख उठाएँ?"

ज्ञानपूर्वक अभावयुक्त जीवन जीने वाला दुःखी नहीं

यह तो भलीभाँति जान लेना चाहिए कि स्वेच्छा से गरीबी धारण करने से या अभाव में जीने से अथवा स्वेच्छा से किसी वस्तु से विरत होने का व्रत स्वीकार करने से कोई भी व्यक्ति दुःखी नहीं होता। व्यक्ति दुःखी होता है–अज्ञान से, मिथ्यादर्शन से अथवा त्याग, प्रत्याख्यान, व्रत, नियम आदि स्वेच्छा से सोच-समझकर स्वीकार न करने से अथवा स्वीकृत त्याग, प्रत्याख्यान, नियम, व्रत आदि स्वेच्छा उत्साह और उल्लास के साथ पालन न करने से। जो व्यक्ति अज्ञान, अन्ध-विश्वास और बहकावे में, साम्प्रदायिकता–जातीयता आदि के पूर्वाग्रह में या मिथ्यादर्शन में जीता है, वही अपने मन पर ऐसी मिथ्या धारणाओं, परम्पराओं और मान्यताओं के वजनी पत्थर रख लेता है; उसे ही हर कदम पर दुःखानुभव होता है। अभाव आदि वस्तुएँ अलग हैं और दुःखानुभव अलग है। कई साधक अभावयुक्त जीवन जीते हुए भी सुखी जीवन जीते हैं, इसके विपरीत, कई व्यक्ति भावयुक्त (साधन-सामग्री से परिपूर्ण) जीवन जीते हुए भी दुःखी हैं। अभावयुक्त जीवन जीने से या स्वेच्छा से गरीबी का (अपरिग्रह या परिग्रह-परिमाण) व्रत स्वीकारने से दुःख होता तो वीतराग पथानुगामी साधु-संन्यासी सबसे ज्यादा दुःखी होते। क्योंकि उनके पास न ही अपना मकान है, न ही प्रचुर भोजन का संग्रह है, न ही जीवन-निर्वाह की विभिन्न वस्तुएँ खरीदने के लिए धन है, न ही सवारी का साधन है, न ही वस्त्र-संग्रह है, एक तरह से देखा जाए तो साधु का जीवन अभावयुक्त है, गरीबी का जीवन है, उसके पास में कुछ भी नहीं, फिर भी वीतराग-पथ का संयमी यात्री बाह्य पदार्थों के अभाव में भी सन्तुष्ट, तृप्त, सुखी और शान्त है, क्योंकि उसकी आन्तरिक ऋद्धि बढ़ी हुई है। जैसे वीतराग तीर्थंकर भगवान को आन्तरिक जगत् की सारी सम्पदा–सम्पन्नता उपलब्ध हो जाती है; उसी तरह वीतराग पथानुगामी साधुवर्ग के भी आन्तरिक सम्पदा अकूत होती है, बाह्य सम्पन्नता न होते हुए भी वे आत्म-तृप्त होते हैं; अत्यन्त सुखी और सन्तुष्ट होते हैं। अन्तर्जगत् की अपार सम्पदा तभी बढ़ती है, जब बाह्य जगत् के पदार्थों से स्वेच्छा से विरति हो। आज के सामान्य व्यक्ति को भी सारी सुख-सुविधाएँ, बाह्य सम्पन्नताएँ प्राप्त हैं, जोकि पुराने जमाने में बड़े-बड़े सम्राटों को प्राप्त नहीं थीं। फिर भी आन्तरिक सम्पदा के अभाव में आध्यात्मिक जगत् से परिचित न होने से त्याग, तप, व्रत, नियम की शक्ति न बढ़ने से वह विपन्न है, दुःखी है, अशान्त है। जबकि साधु या विरति-संवर-साधक को बाह्य सम्पदा या पदार्थों के अभाव के कारण वस्तु की कमी हो सकती है, गरीबी हो सकती है, किन्तु समभावी और विरति-संवर के साधक की ओर से न तो अभाव के विषय में कोई शिकायत होती है, न ही राग-द्वेषयुक्त या प्रियता-अप्रियतायुक्त प्रतिक्रिया होती है।

वह मस्ती से आनन्दपूर्वक जीवन जीता है। जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक वस्तुएँ न मिलने पर भी वह दुःखी नहीं होता।

अज्ञानादि जीवन जीने वाला दुःखी है

युआनसीन नामक दार्शनिक साधक से एक दिन 'लू नगर' निवासी एक धनिक 'सीकुंग' अपनी बग्घी में बैठकर मिलने हेतु चल पड़ा। युआन्सीन एक छोटी-सी कुटिया में रहता था। उसकी कुटिया से पहले गली बहुत सँकरी थी, अतः सीकुंग को पैदल चलना पड़ा। युआनसीन को पता चला तो वह उक्त धनिक का स्वागत करने हेतु कुटिया से बाहर निकला। सीकुंग ने देखा कि युआनसीन एक फटा-सा कमीज और पत्तों की बनी टोपी पहने आ रहा है। उन्हें देखते ही वह धनिक बोला—"आप तो अभावग्रस्त जीवन जी रहे हैं, बहुत ही दुःखी और गरीब नजर आ रहे हैं।" युआनसीन ने मुस्काराते हुए जवाब दिया—"सीकुंग ! यह तुम्हारी गलत धारणा है। मैं अभावयुक्त हूँ, गरीब हूँ, पर दुःखी कतई नहीं हूँ। दुःखी वह होता है, जो अज्ञान, अन्ध-विश्वास, मिथ्यादृष्टि एवं अविरति का जीवन जीता है। मैं अज्ञानादि का जीवन कतई नहीं जीता।"[1]

सुविधाओं से सुख मिलता है, यह भ्रान्ति है

सर्वप्रथम तो इस भ्रान्ति को तोड़ना आवश्यक है कि सुविधा से या सुविधा-जनक साधनों से सुख हो ही जाएगा। कई बार तो सब प्रकार के साधनों के होते हुए भी रोग, शोक, संकट आदि कारणों से सुखानुभव नहीं होता। कई बार सुविधा न होते हुए भी सुखानुभव होता है। सुविधा और सुख में कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। सुविधा का सम्बन्ध पदार्थों से है और सुख-दुःख का सम्बन्ध मानव के द्वारा होने वाले प्रिय-अप्रिय या मनोज्ञ-अमनोज्ञ संवेदन से है अथवा एक वीतराग या वीतरागता-पथ के अनुगामी साधक को सुविधा न होने पर भी अथवा स्वेच्छा से सुविधाजनक अमुक पदार्थों का त्याग करने पर भी आत्मिक सुख-शान्ति की अनुभूति होती है। स्वेच्छा से त्याग करने वाला व्यक्ति उक्त पदार्थों या सुविधाओं के न मिलने पर भी शान्ति और सन्तोष का जीवन जी सकता है।

अमेरिका के समाजशास्त्रियों का कथन है कि वहाँ अधिकांश व्यक्तियों के पास प्रचुर धन, भोगोपभोग के साधन और सुविधा हैं; फिर भी उन्हें मानसिक सुख-शान्ति नहीं है, जबकि भारतवर्ष के किसान एवं श्रमजीवी वर्ग के अधिकांश व्यक्ति अल्पतम साधन, धन और सुविधा होते हुए भी बाह्य सुखानुभूति में उनसे आगे हैं। हालांकि स्वेच्छा से त्याग या विरति उनमें नहीं है।

---

१. 'सोया मन जाग जाए' (आचार्य महाप्रज्ञ) से भाव ग्रहण, पृ. ४७

सुविधावादी का जीवन अनैतिकता के शिकंजों में

किन्तु दुःख की बात यह है कि जो लोग सुविधावादी हैं, वे लोग पंचेन्द्रिय के प्रिय विषयों को पाने की धुन में रात-दिन दौड़ लगाते हैं, उन्हें आराम करना और सुख से बैठे रहकर, आलसी बनकर या श्रम से जी चुराकर रहना अच्छा लगता है। इसके परिणामस्वरूप उनका जीवन अनेक भयंकर लोगों का शिकार होता जाता है, समाज में अपने कर्त्तव्य और दायित्व बोध से वे दूर होकर अपने स्वार्थ को ही प्रधानता देने लगते हैं। वे दूसरों की आवश्यकताओं और अधिकारों की ओर से आँखें मूँद लेते हैं। उनमें परार्थभावना प्रायः प्रादुर्भूत नहीं होती है, परमार्थभावना तो बहुत ही दूर की बात है।

प्रकृतिदत्त चीजों को बर्बाद करने का अधिकार नहीं

साबरमती आश्रम में महात्मा गांधी जी ठहरे हुए थे। प्रातःकाल वे एक छोटे-से लोटे भर पानी से हाथ-मुँह धो रहे थे। सरदार पटेल ने उनसे कहा–"बापू ! यहाँ तो साबरमती नदी बह रही है। आप इतने थोड़े-से पानी से अच्छी तरह कुल्ला नहीं कर पा रहे हैं। कहें तो मैं अभी बाल्टी भरकर पानी ले आऊँ।" महात्मा गांधी जी बोले–"सरदार ! साबरमती नदी अकेले हमारी नहीं है। इस पर लाखों-करोड़ों लोगों का अधिकार है। जरूरत से ज्यादा पानी ढोलना हमारी अनैतिकता होगी, प्रकृति की चीजों को व्यर्थ बर्बाद या दुरुपयोग करने का हमें अधिकार नहीं है।"[१]

संसार की सभी वस्तुओं पर एक व्यक्ति का अधिकार नहीं

ऐसी परार्थभावना तभी होती है, जब व्यक्ति का दृष्टिकोण निजस्वार्थ-परायण सुविधावाद से युक्त न हो। स्मृतिकार ऋषियों ने कहा है–"जितने भर से अपना पेट भरे उतने मात्र पर व्यक्ति का उपभोग करने का अधिकार है, जो उससे अधिक उपभोग करता है, वह चोर है।"[२] इसी प्रकार जितने से निर्वाह हो सके उतनी ही सम्पत्ति या वस्तुओं पर व्यक्ति का अधिकार है। शेष समग्र पदार्थ अनधिकृत हैं। उन पर अकेले एक व्यक्ति का अधिकार नहीं है। कोई अकेला व्यक्ति जीवन-निर्वाह योग्य पदार्थों पर अपना अधिकार जमाकर बैठ जाए, यह अन्याय है, अनुचित साहस है।

सुविधा के प्रायः सभी साधन प्रकृति-विरुद्ध और कृत्रिम हैं

आज सुविधा के प्रायः सभी साधन प्रकृतिजन्य नहीं हैं। न ही प्राकृतिक हवा है, न ही नैसर्गिक प्रकाश है, कृत्रिम आहार, कृत्रिम पानी आदि हैं। इस प्रकृति-

---

१. 'हरिजन सेवक' से भावांश ग्रहण

२. यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
योऽधिकमुपभुङ्क्ते स स्तेनो दण्डमर्हति॥ –मनुस्मृति

विरुद्ध कृत्रिमता के कारण तन और मन दोनों बिगड़े हैं। बुद्धि बिगड़ी है, आदत बिगड़ी है, स्वार्थभावना और असहिष्णुता बढ़ी है; विषम और दुःख भी बढ़े हैं।

सुविधावादी का दृष्टिकोण

दूसरी बात यह है कि सुविधावादी मनोवृत्ति वाला व्यक्ति सारी सुविधाएँ स्वयं भोगना चाहता है, दूसरों के प्रति उसकी सद्‌भावना या सहानुभूति अत्यल्प होती है। वह स्वयं चाहे संगृहीत सभी वस्तुओं का उपभोग न कर पाता हो, परन्तु दूसरों-जरूरतमंदों को भी उसका उपभोग नहीं करने देना चाहता।

जयपुर के निकट पहाड़ी पर बहुत बड़ा भवन था। उसमें एक राजा ने पुरानी चीजें संग्रह करके रखी हुई थीं। उसकी रखवाली के लिए दो पहरेदार तैनात किये हुए थे। उनसे पूछा गया-"यह मकान किसका है? यहाँ कौन रहता है?" उन्होंने कहा-"यह मकान अमुक राजा साहब का है, वे जब कभी आते हैं तो यहाँ ठहरते हैं। दूसरे किसी को भी यहाँ ठरहने भी नहीं दिया जाता और न ही इन चीजों को छूने दिया जाता है।" कभी-कभी तो सुविधावादी यह नहीं सोचता कि मुझे जिन चीजों की आवश्यकता है, उतनी ही आवश्यकता दुनियाँ के सभी लोगों को है। पानी की जितनी आवश्यकता मुझे है, उतनी ही दूसरों को है। मैं क्यों आवश्यकता से अधिक पानी ढोलूँ या अन्न बर्बाद करूँ? परन्तु देखा गया है कि कई जगह लोग पानी का जरूरत से ज्यादा उपयोग करते हैं और नल खुला छोड़ देते हैं, जिससे व्यर्थ ही पानी गिर रहा है, उसे कोई परवाह नहीं। अतः सुविधावादी दृष्टिकोण में अपने स्वार्थ पर ही अधिक ध्यान दिया जाता है, परार्थ और परमार्थ की ओर ध्यान बिलकुल ही नहीं जाता। इससे कर्मों का अशुभ आस्रव और पापबंध ही अधिकाधिक उपार्जित होता है।

सुविधावादी मनोवृत्ति के कारण समाज में स्वार्थचेतना का विकास, मर्यादाओं और सम्यक् आचार का अतिक्रमण, स्वच्छन्दाचार, उन्मुक्तता-निरंकुशता, परस्पर सुख-सुविधा पाने की होड़, ईर्ष्या, विषमता आदि अनिष्ट पनपते हैं। सुविधावाद और निरंकुश भोगवाद की मनोवृत्ति के पोषण के लिए मनुष्य येन-केन-प्रकारेण, अन्याय-अनीति, शोषण, भ्रष्टाचार और अनैतिकता की ओर स्वयं को धकेलता रहता है। उसे किसी प्रकार की सूझबूझ नहीं पड़ती कि मैं अपनी आत्मा के प्रति द्रोही बनकर किस प्रकार अहिंसा-सत्यादि शुद्ध धर्म और अध्यात्म के विरुद्ध आचरण कर रहा हूँ? कर्मास्रवों और कर्मबन्ध को सम्यग्दृष्टिपूर्वक रोकने और आत्म-स्वरूप में स्थित होने-पर-पदार्थों के प्रति राग-द्वेष से मुक्त होने का प्रयत्न इस मनुष्य-भव में नहीं करूँगा, तो फिर न मालूम आगे किन-किन भवों में भटकना पड़ेगा ! भगवान महावीर ने निरंकुश सुविधावादी जीवन को इस लोक और

परलोक में गर्हणीय–निन्दनीय बताते हुए कहा है–"शीलरहित, व्रतरहित, गुणरहित, मर्यादारहित एवं प्रत्याख्यान तथा पौषधोपवास से रहित व्यक्ति के तीन स्थान गर्हित (निन्द्य) होते हैं–(१) इहलोक (वर्तमान भव), (२) उपपात (देवों और नारकों में जन्म), तथा (३) आगामिजन्म (देव या नरक भव के पश्चात् होने वाला मनुष्य या तिर्यंच भव) भी गर्हित होता है। वहाँ भी उसे अधोदशा प्राप्त होती है।"[1]

सुविधावाद के साथ स्वच्छन्द भोगवाद की लहर आई

प्राचीनकाल में चार्वाकदर्शन भी भारत में एक बार प्रचलित हुआ था, जिसका मत था–"**जब तक जीओ, सुख से जीओ, कर्ज करके भी घी पीओ।**"[2] उसकी छाया पश्चिमी देशों के लोगों पर पड़ी–Eat, drink and be merry (खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ) के रूप में। भारतवर्ष में भी मुगल शासनकाल में तथा ब्रिटिश शासनकाल में उसी भोगवाद और सुविधावाद की लहर आई। उसके प्रवाह में बहकर वर्तमान युग के अधिकांश व्यक्ति भोगोपभोग से विरतिरूप-संवर से कतराने लगे और कहने लगे–"हम क्यों अपने भोगोपभोग पर नियंत्रण करें? क्यों सुविधा पर प्रतिबन्ध लगाएँ? क्यों अभाव का जीवन जीकर दुःख उठाएँ? क्यों व्रत-नियम, त्याग-प्रत्याख्यान करके अपने आप को बन्धन में डालें?

व्रत-नियम आदि बन्धनरूप नहीं, रक्षणरूप हैं

वास्तव में देखा जाए तो सुख और शान्ति के लिए तथा अपने जीवन को उपर्युक्त दुर्गुणों से बचाने हेतु अपने आसपास व्रत-नियमों का सुदृढ़ किला बाँधना अनिवार्य है। लोक-व्यवहार में भी सुरक्षा के लिए कितने ही बन्धन स्वीकारने आवश्यक होते हैं। बीमारी पड़ने पर रोगी को डॉक्टर के द्वारा कुपथ्य से बचने और पथ्य आहार एवं दवा लेने का बन्धन स्वास्थ्य को नष्ट करने वाला नहीं, अपितु स्वास्थ्य की सुरक्षा करने वाला होता है। क्या इससे कोई भी सुविधावादी इन्कार कर सकता है? तिजोरी का बन्धन जवाहरात की सुरक्षा के लिए क्या अनिवार्य नहीं है? पशु को घर में खूँटे से नहीं बाँधा जाए तो उस आवारा भटकते ढोर को बाड़े (काजी होज) में बंद कर दिया जाता है। कुत्ते के गले में पट्टे का बंधन न हो तो नगरपालिका के कर्मचारी उसे पकड़कर बंद कर देते हैं या भोजन

---

१. तओ ठाणा णिस्सीलस्स णिव्वयस्स णिगुणस्स णिमेरस्स णिप्पच्चक्खाण-पोसहोववासस्स गरहिता भवंति, तं.–अस्सिं लोगे गरहिते भवति, उववाते गरहिते भवति, आयाती गरहिता भवति। *–स्थानांग, स्था. ३, उ. ३, सू. ३१५*

२. यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

में जहर मिलाकर मार डालते हैं। बंधन स्वीकारने से कितना लाभ है? इसे जानने के लिए कुछ वर्षों पहले की सच्ची घटना प्रस्तुत है–

कुत्तों के लिए गलपट्टे का बन्धन सुरक्षारूप बना

फ्रांस के रेडियो स्टेशन लकज़मबर्ग में काम करने वाले जेक एंटोइन नामक कर्मचारी को समाचार मिले कि "गलियों में इधर-उधर आवारा भटकते लगभग ४०० कुत्तों को पुलिसमेन पकड़कर ले गए हैं। शाम तक इन सभी कुत्तों को पुलिस गैस-चेम्बर में प्रविष्ट कराकर गैस से बेहोश करके मार डालेगी।"

यह सुनते ही वह सीधा पुलिस के पास पहुँचा। उसने अर्ज की–"मुझे सिर्फ १२ घंटे के लिए इन कुत्तों को सौंप दो, बाद में आपको जो करना हो सो करना।" पुलिस ने उसकी माँग मंजूर की। ४०० ही कुत्ते उसे सौंप दिये। उसने तत्काल १५-२० मनुष्यों को बुलाकर प्रत्येक कुत्ते के लिए उनसे एक-एक तख्ती लिखाई– "तुम मुझे दत्तक ले लो, मैं जिन्दगीभर तुम्हारे प्रति वफादार रहूँगा।" फिर उसने इस प्रकार के लेख वाली तख्ती प्रत्येक कुत्ते के गले में पट्टा डालकर उसमें लटका दी। साथ ही उसने २०-२५ ट्रक मँगाये। उन ट्रकों में उसने सभी कुत्ते अच्छी तरह खड़े कर दिये। फिर वे ट्रक अलग-अलग गलियों में रवाना किये। साथ ही रेडियो पर उद्घोषणा की–"आपके दिल में दया का झरना बहता हो तो आपकी गली में आने वाले ट्रक में बैठे हुए कुत्तों को अपना लीजिए। सिर्फ एक ही घंटे में आप इसका निर्णय कर लीजिए। अन्यथा, देर होने पर ये कुत्ते प्रभु के धाम में पहुँच जाएँगे।" आश्चर्य है कि सिर्फ १५ ही मिनट में प्रत्येक कुत्ते को अपना-अपना घर मिल गया और अपनी जिंदगी की सुरक्षा हो गई।" क्या इतने पर भी कोई कह सकता है कि कुत्तों के गले में बाँधा हुआ पट्टा उनकी गुलामी का सूचक था? कुत्तों के गले में पट्टा उनके लिए रक्षणरूप बना या बन्धनरूप? यही बात जीवन में व्रत-नियम, त्याग-प्रत्याख्यान के विषय में समझ लीजिए; वे बन्धनरूप नहीं, जीवन की सुरक्षा, शान्ति और (कर्म) मुक्ति के लिए वरदानरूप हैं, कर्मबन्ध का निरोध तथा क्षय करने के लिए आवश्यक हैं। खेत के चारों ओर लगाई हुई काँटों की बाड़ अनाज को सुरक्षित रखने के लिए जैसे आवश्यक है, वैसे ही कुनिमित्तों से ब्रह्मचर्यव्रत की सुरक्षा के लिए भगवान द्वारा निर्दिष्ट दशविध ब्रह्मचर्य-गुप्ति या नवविध ब्रह्मचर्य की बाड़ बन्धनरूप नहीं, रक्षणरूप है। जंजीर से बँधा हुआ हाथी तथा करंडिये में डालकर बंद किया हुआ सर्प स्वयं भी सुरक्षित रहता है और दूसरे जीव भी सुरक्षित रहते हैं। इसी प्रकार व्रत-नियमों (विरति-संवर) से बद्ध जीवन भी कुविचारों, कदाचारों और कदाग्रहों तथा दुर्व्यसनों से एवं अत्यधिक सुविधाओं–सुखोपभोगों से होने वाली जीवन की हानि से बचाता है। स्पष्ट है

व्रत-नियम आदि जीवन के लिए बन्धनरूप नहीं, सुरक्षणरूप हैं। हाँ, जो बन्धन पापकर्मों के बन्धनकारक हों, जीवन के आध्यात्मिक विकास को, व्यक्तित्व को रोकते हों, ठप्प करते हों, उसे असुरक्षित बनाते हों, जीवन के लिए खतरनाक हों, वे बन्धन अवश्यमेव त्याज्य हैं। किन्तु जिन बन्धनों के स्वीकार से व्यक्ति का व्यक्तित्व विकसित हो, उसका संयमी जीवन सुरक्षित रहता हो, उसके आत्म-गुण खिलते हों, वे बन्धन त्याज्य नहीं, उपादेय हैं।[1]

वैसे ही देखा जाए तो गृहस्थ-जीवन में भी कई मर्यादाओं का बन्धन स्वीकार करना पड़ता है। गृहस्थाश्रम में माता-पिता, भाई-बहन, पति-पत्नी आदि परिवार तथा समाज के लोगों के साथ व्यवहार में बोलने में, चलने में, खाने में, सोने में, उठने-बैठने में बहुत-सी मर्यादाओं का स्वीकार करना पड़ता है। यदि गृहस्थ-जीवन में रहकर उन मर्यादाओं का तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, काम, मोह आदि वृत्तियों पर संयम का बन्धन न स्वीकारे तों वहाँ अराजकता और उच्छृंखलता का साम्राज्य छा जाता है। इसलिए व्रत, नियम, त्याग, प्रत्याख्यान आदि का बन्धन वहाँ स्वीकार करके चलने पर अनेक अनिष्टों और बुराइयों से स्वतः मनुष्य बच सकता है। वहाँ भी संतुलित, संयमित, नियंत्रित होकर चलना पड़ता है, उच्छृंखल होकर बुराइयों और दुर्व्यसनों में प्रवृत्त हो तो वहाँ भी सुख-शान्ति भंग हो जाती है। पापकर्मों का बन्ध करके वह दुर्गतिगमन को आमंत्रित कर लेता है।

उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत

इसीलिए भगवान महावीर ने गृहस्थ श्रावकों के लिए उपभोग और परिभोग की मर्यादा का व्रत बताया। उसके पीछे उनका उद्देश्य यही था कि संसार में भोग्य और उपभोग्य जितने भी पदार्थ हैं, उन सब का उपभोग एक व्यक्ति एक समय में, एक दिन में या जिंदगीभर में भी नहीं कर सकता भले ही उसके पास भोग्य-उपभोग्य सामग्री प्रचुर मात्रा में हो। जैसे—एक व्यक्ति दिनभर में या दो या तीन टाइम में या जिंदगीभर में भी दुनियाँ के समग्र पदार्थों का सेवन नहीं कर पाता। मान लीजिए—एक व्यक्ति भोजन के समय दो या तीन साग खाता है, वह जितने भी प्रकार के साग हैं या भाजी हैं, उन सब का सेवन नहीं कर पाता। यों भी कह दें तो कोई अत्युक्ति नहीं कि जीवनभर में भी संसार की समस्त वनस्पतियों का उपभोग नहीं कर पाता। और उन्हें भी दो या तीन टाइम के भोजन के अलावा नहीं खाता, दिन और रात के २४ घंटे नहीं खाता, न ही सब पेय वस्तुएँ, दिन-रात के २४ घंटे तक पीता है। इसी प्रकार स्नान, अभ्यंगन, दाँतुन, मुख-शुद्धि, फलाशन या प्रातराश (नाश्ता), भोजन, वस्त्र-धारण, विलेपन, आभूषण-परिधारण आदि बुहत थोड़ी मात्रा में, बहुत थोड़े

---

१. 'दिव्यदर्शन', दि. १०-३-९० के अंक से भाव ग्रहण, पृ. १९१

समय तक ही ग्रहण–सेवन कर पाता है। फिर प्रत्येक व्यक्ति की साँसें सीमित हैं। इसी तरह पाँचों इन्द्रियों के विषयों का सेवन भी सीमित मात्रा में, सीमित काल तक ही कर पाता है; सोना-जागना भी उसका अमुक काल तक सीमित है। देखना, चखना, सूँघना, स्पर्श करना, सुनना आदि भी २४ घंटे नहीं करता है, ये सब भी सीमित हैं। अतः सुविधावादी–भोगवादी व्यक्ति यह सोच लें कि परिवार या समाज के साथ रहते हुए भी किसी वस्तु का निरंकुश उपभोग या असीमित या अमर्यादित काल तक उपभोग नहीं किया जा सकता। तब फिर इन सब पदार्थों के उपभोग का जीवन में व्रत-नियम ग्रहण द्वारा स्वेच्छा से संतुलन करे तो उसके जीवन में सम्यग्दृष्टिपूर्वक विरति-संवर हो सकता है अपरिमित अविरति का निरोध भी। भगवान महावीर ने व्रतनियम-मर्यादायुक्त जीवन को सर्वत्र प्रशस्त (प्रशंसनीय) बताते हुए कहा है–"सुशील, सुव्रती, सद्‌गुणी, मर्यादायुक्त एवं प्रत्याख्यान-पौषधोपवास से युक्त व्यक्ति के तीन स्थान प्रशस्त होते हैं–इहलोक भी, परलोक भी तथा उससे आगे का जन्म भी प्रशस्त होता है।"[1]

महारम्भी महापरिग्रही के लिए व्रताचरण दुःशक्य

यद्यपि संसार में पदार्थ असंख्य हैं, परन्तु व्यक्ति की साँसें सीमित हैं, इस कारण वह सभी पदार्थों का, सर्वकाल तक उपभोग नहीं कर पाता, फिर भी सुविधावादी या भोगवादी उपभोग-परिभोग के मामले में सन्तुष्ट नहीं है, वह अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं तथा आवश्यकताओं को अनापशनाप अमर्यादितरूप से बढ़ाकर उनकी पूर्ति करने के लिए बाहरी दौड़ लगाता है। कुछ जमानावाद के शिकार लोगों ने फैशन और कुव्यसन के चक्कर में पड़कर अच्छे और मनोज्ञ पदार्थों के अधिकाधिक उपभोग करने का प्रयास किया। आकांक्षा वह विस्तार है, जिसमें आदमी का मन कहीं रुकता ही नहीं। आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए आज के निरंकुश अर्थप्रधान दृष्टि वाले लोगों ने नारा लगाया–"**खूब कमाओ और खूब भोगो।**" अर्थात् वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाओ और अधिकाधिक भोग सामग्री का उपभोग करो। प्राचीनकाल में जिनकी दृष्टि भोगवादी होती थी वे महारम्भ और महापरिग्रह बढ़ाते थे। अनापशनाप आरम्भ करके अत्यन्त परिग्रहवृद्धि करने वाले लोगों को भगवान ने नरकगति का मेहमान बताया है,[2] साथ ही उन्हें केवली

---

१. तओ ठाणा सुसीलस्स सुव्वयस्स सगुणस्स समेरस्स सप्पच्चक्खाण-पोसहोववासस्स पसत्था भवंति, तं.–अस्सिं लोगे पसत्थे भवति, उववाए पसत्थे भवति आजाती पसत्था भवति।

–स्थानांगसूत्र, स्था. ३, उ. ३, सू. ३१६

२. (क) बह्वारम्भ-परिग्रहत्वं च नारकस्यायुषः। *–तत्त्वार्थसूत्र* ६/१६

(ख) चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरइयत्ताए कम्मं पगरेंति, तं.–महारंभयाए महापरिग्गहयाए, पंचेंदिय वहेण कुणिमाहारेणं। *–ठाणांगसूत्र, स्था. ४, उ. ४*

(वीतराग) प्ररूपित• शुद्ध धर्म-श्रवण के भी अयोग्य बताया है।[1] व्रताचरण या विरति-संवर करना तो ऐसे लोगों के लिए बहुत ही दुर्लभतर है।

अशान्ति अविरतियुक्त जीवन से विरतियुक्त जीवन की ओर

जिनका लक्ष्य अधिकाधिक धन येन-केन-प्रकारेण कमाकर सुखोपभोग करना होता है, उनका जीवन कितना चिन्तातुर, कितना अशान्त तथा महारंभ-महापरिग्रह के कारण पापकर्मों से ग्रस्त रहता है ! यूरोप के एक धनकुबेर आर्थर का जीवन इस तथ्य का ज्वलन्त प्रमाण है। आर्थर का जीवन संसार-मान्य सभी सुख-सुविधाओं और भोग-साधनों से सम्पन्न था। त्याग और विरति का उसके जीवन में नामोनिशान न था। वह अहर्निश भोगों में मग्न रहता था। उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य था–अधिकाधिक धन कमाना और सुखोपभोग में जीवन बिताना। परन्तु धनार्जन के साथ-साथ उसका जीवन चिन्ताओं से ग्रस्त रहता था। इस चिन्ता के मारे उसका खाना-पीना, नींद और भूख सभी पलायन कर गये। स्वास्थ्य चौपट हो गया। अनेक बार पत्नी के समझाने के बावजूद भी उसके मन को शान्ति और चिन्तामुक्ति न मिली। अतः उसकी पत्नी ने किसी तरह समझाकर उसके एक जिगरी दोस्त डॉक्टर के पास भेजा। आर्थर ने डॉक्टर से अपनी मानसिक चिन्ता, व्याकुलता, अशान्ति और अनिद्रा की दवा माँगी। डॉक्टर समझ गया कि इसे कोई शारीरिक रोग नहीं है, किन्तु धन की तृष्णा, भोग-लालसा और सांसारिक पदार्थों की आसक्तियों से ग्रस्त हैं, इसी कारण यह चिन्ताओं से घिरा रहता है। इसे अविरति का ही रोग है। इसी रोग को मिटाने की दवा इसे देनी है। अतः डॉक्टर अंदर कमरे में गया और चार कागजों पर कुछ लिखकर उनकी चार पुड़िया बाँधकर लाया और आर्थर के हाथों में थमाते हुए बोला–"कल प्रातःकाल से ही यह दवा लेनी है। तीन-तीन घंटे बाद एक-एक पुड़िया ले लेना। इससे एक ही दिन में तुम्हारा सारा रोग छूमंतर हो जाएगा। इसकी सरल विधि यह है कि कल प्रातःकाल ही सूर्योदय से पहले यहाँ से दूर समुद्रतट पर एकान्त शान्त स्थान पर चले जाना। वहाँ तुम्हें १२ घंटे तक अकेले ही रहना है। साथ में भोजन-सामग्री और शरीर पर ढीलेढाले वस्त्रों के सिवाय और कुछ भी नहीं ले जाना है।" इसे सुनकर पहले तो आर्थर ने आनाकानी की कि अपना व्यवसाय छोड़कर १२ घंटे तक एकान्त में मुझसे नहीं रहा जाएगा। मेरे जिम्मे कितने काम होते हैं ? उन्हें कौन करेगा ?" डॉक्टर मित्र ने समझाते हुए कहा–"तुम्हें शान्ति चाहिए न ? मन को चिन्तामुक्त करने के लिए एक बार १२ घंटे का समय निकालकर देखो तो सही !

---

१. दोहिं ठाणेहिं जीवा न लभेज्ज केवलिपण्णत्तं धम्मं सवणयाए–महारंभेण चेव महापरिग्गहेण चेव। *–ठाणांगसूत्र, ठा. २*

तुम्हारी अशान्ति और चिन्ताएँ काफूर हो जायेंगी।" आर्थर मान गया। वह दूसरे दिन सूर्योदय से पहले ही भोजन का टिफिन और कुछ जरूरी वस्त्र लेकर समुद्रतट पर पहुँच गया। वहाँ कुछ देर तक बैठा, फिर टहलने लगा। इतने में ही सूर्य का लाल गोला और मनोरम दृश्य दिखाई दिया। वह भावविभोर हो गया। तीन घंटे का समय होते ही उसने एक नंबर की पुड़िया निकाली, खोली। उस पर लिखा था–Listen carefully. (ध्यान से सुनो।) इस पर सोचते-सोचते अकस्मात् वहाँ बच्चों के मधुर हास्य और प्रमोद की किलकारियाँ सुनाई दीं। फिर आकाश में पक्षियों का कलरव सुनाई दिया। इन पर सोचते-सोचते बाहर की आवाज को छोड़कर अन्तर में उठने वाली आवाज की ओर ध्यान केन्द्रित किया। उसके प्रसन्न एवं एकाग्र मन में स्फुरणा हुई–"भीतर से तू स्वयं को जान। तू कौन है? कहाँ से आया है? कैसा है? आज तक तूने क्या कमाया है? क्या किया है?" यों चिन्तन करते ३ घंटे बीत गए। दूसरी पुड़िया खोली। उसमें लिखा था–Try reaching back. (वापस लौटने का प्रयत्न करो।) यह भूतकाल में लौटने का संकेत था। आर्थर का चिन्तन चला–"गरीब विधवा माता का पुत्र। चार भाई-बहन। खाने-पीने-पहनने के साधन पर्याप्त नहीं; फिर भी निर्दोष और शान्त जीवन का आनन्द ! उस समय अल्पतम साधनों और गरीबी में आनन्द था, आज धन और प्रचुर साधन होने मर भी सुख-शान्ति नहीं। भगवान का डर रखे बिना धन-प्राप्ति की तृष्णा में भयंकर पाप किये। अतः धन की तृष्णा कम हो तभी सुख-शान्ति हो सकती है।" यों सोचते-सोचते मन शान्त हुआ। ६ घंटे बीतने के बाद तीसरी पुड़िया खोली। उसमें लिखा था–Re-examine your motives. (अपने उद्देश्यों की पुनः जाँच करो।) सोचा–"खाना, पीना और मौज उड़ाना, स्वच्छन्द भोगोपभोग करना ही मेरे जीवन में रहा। धन कमाना और उसके सहारे से यश, प्रतिष्ठा, प्रशंसा और प्रसिद्धि ही मेरे जीवन का चरम उद्देश्य रहा। पर इस विश्व में जितने भी धनकुबेर हुए हैं, किसका नाम रहा है? उसी का, जिसने अपने भोगों पर प्रतिबन्ध लगाकर परोपकार में तन-मन-धन लगाया है ! मेरे जीवन का उद्देश्य होना चाहिए था–त्याग करके उपभोग करना।" फिर चौथी पुड़िया खोली। उसमें लिखा था–Write your worries on the sand. (बालू पर तुम्हारी चिन्ताएँ लिखो।) सोचने लगा–"चिन्ताएँ तो अपार हैं ! कितनी लिखी जाएँ? फिर उँगलियों से रेत पर लिखने लगा। मन हलका हो गया। सन्ध्या होते ही समुद्र में लहरें उठीं। एक बड़ी लहर बालू पर लिखी हुई सभी चिन्ताएँ लेकर समुद्र में विलीन हो गई। स्फुरणा हुई–"इसी तरह मेरी चिन्ताएँ भी कालरूपी समुद्र में विलीन होने वाली हैं। मैं व्यर्थ ही दुःखी हो रहा हूँ।" इस तरह प्रकृति की गोद में लेटे-लेटे आर्थर सो गया। चन्द्रमा की शीतल किरणों, ठंडी और मन्द हवाओं के कारण आर्थर को आज ऐसी गाढ़ी नींद आई कि सूर्य की पहली किरण ने जब

प्रभात में स्पर्श क्रिया, तभी आँखें खुलीं। समुद्रतट पर १२ घंटे के बदले उसने २४ घंटे मस्ती से बिताये और तरोताजा होकर घर लौटा। पत्नी-बालकों ने उसका स्वागत किया। आर्थर के जीवन के मूल्य बदल गए। पहले जहाँ वह अविरति का तामसिक एवं राजसिक जीवन जीता था, वहाँ अब विरति का सात्त्विक, त्यागमय एवं सादा जीवन जीने लगा।[1]

विरति से ही सुख-शान्ति, कर्ममुक्ति या सुगति सम्भव है

इसलिए जब तक सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक असंयम से, भोगोपभोगों से या सुविधावाद से विरति नहीं होती, तब तक सच्चे माने में सुख, शान्ति और सन्तुष्टि नहीं मिल सकती। कई लोग कह देते हैं, धन से सब कुछ मिल सकता है, परन्तु अनुभवियों ने इस बात को गलत कहा है। उनका कहना है–रुपयों से कदाचित् सुविधा मिल सकती है, शान्ति नहीं; रुपयों से औषध मिल सकती है, रोगमुक्ति या आयुवृद्धि नहीं; रुपयों से डॉक्टर मिल सकते हैं, स्वास्थ्य नहीं; रुपयों से साधन मिल सकते हैं, सुखानुभव नहीं; रुपयों से स्त्री मिल सकती है, धर्मपत्नी नहीं; रुपयों से सहचर मिल सकता है, सच्चा मित्र नहीं; रुपयों से पुस्तक मिल सकती है, विवेक विद्या नहीं; रुपयों से शरीर की साजसज्जा हो सकती है, आत्मा की साजसज्जा नहीं; रुपयों से गृहस्थ-जीवन में अनाथी मुनि के पास अपार वैभव था, सभी तरह के सुखभोग के साधन थे, एक से एक बढ़कर सुविधाएँ थीं, परिवार के सभी सदस्य उनकी सेवा-परिचर्या में संलग्न थे, चिकित्सक, मंत्र-तंत्रवादी आदि सभी अपने-अपने ढंग से अच्छे से अच्छा उपचार कर रहे थे, फिर उनकी आँखों में जो दारुण वेदना हो रही थी, वह शान्त नहीं हुई। किन्तु जब उन्होंने स्वयं पर-भावों और शरीर के प्रति आश्रयरागभाव को छोड़कर अर्थात् इनसे होने वाले पापकर्मों से निवृत्त होकर आत्म-भाव में, आत्माश्रित होने का विरति-संवर का संकल्प किया तो रातभर में रोग शान्त हो गया और वे अविरति से हटकर विरति के पथ पर चल पड़े। दूसरी ओर ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के पास अपार वैभव, सुखोपभोग के प्रचुर साधन थे, किन्तु गाढ़ रागभाव और मोहमूढ़ता के कारण वह पंचेन्द्रिय भोगों की आसक्ति से, हिंसादि पापों से तथा असंयम से विरत न हो सका, इतना ही नहीं, वह न्यायनीति संगत आर्यकर्म भी न कर सका। फलतः अविरति के कारण वह मरकर नरकगामी बना। अविरति के कारण जीवनभर मूढ़तावश उसने पापाचरण ही किया।[1]

एकान्त अविरति क्या है, क्या नहीं ?

भगवान महावीर ने अठारह पापस्थानों के त्याग को विरति और उनके त्याग न करने (प्रवृत्त रहने) को अविरति कहा है। ऐसी अविरति को उन्होंने आस्रव =

---

१. 'मैं आत्मा हूँ, भा. २' (डॉ. तरुलताबाई साध्वी) से संक्षिप्त, पृ. १८४

कर्म-आगमन का प्रवेशद्वार कहा है। साथ ही उन्होंने कहा कि "प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शन-शल्य तक के पापों का त्याग न करने से जीव (कर्मों से) भारी हो जाता है। जो व्यक्ति इन १८ पापों का त्याग नहीं करता (प्रतिज्ञाबद्ध नहीं होता), उसका (जन्म-मरणरूप) संसार बढ़ता है, दीर्घ होता है और वह बार-बार संसार में परिभ्रमण करता रहता है।" "तलवार आदि द्रव्यशस्त्रों की तरह अविरति भावशस्त्र हैं, जोकि मन, वचन और काया को दुष्प्रयुक्त करने से होती है।" अविरतियुक्त मानव को क्रूरकर्मा बताकर भगवान के कहा–"वह वैर का आयतन खड़ा करके तथा बहुत पापकर्मों को संचित करके कृत पापकर्मों के भार से उसी प्रकार अधमाधम नरक में जाता है, जैसे पत्थर का गोला जल में डालने पर अथाह जल को पार कर एकदम नीचे पृथ्वीतल पर पहुँच जाता है।"[२]

सप्त कुव्यसनों से अविरति का भयंकर दुष्परिणाम

आज अविरति के अन्धचक्र में पड़े हुए लोग जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने की बेतहाशा दौड़ में समाज-व्यवस्था को विकृत और विशृंखल करने वाले सप्त कुव्यसनों से ग्रस्त हो रहे हैं। उनमें बढ़ रही है–विलासिता, स्वच्छन्दता, असीमित आकांक्षा, अनैतिकता और व्यक्तिवादी (अतिस्वार्थी) मनोवृत्ति। इस अविरति के कारण निरंकुशता, स्वच्छन्दता आज के युवकों में पनप रही है। बड़ों के प्रति, गुरुओं के प्रति सम्मान, विनय और आदर का स्थान उपेक्षाभाव और उदासीनता ने ले लिया है। खानपान और रहन-सहन के तौर-तरीके प्रायः पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित हो रहे हैं। और तो और, गृहस्थवर्ग में तथा छात्र-छात्राओं में भी नशीली चीजों का सेवन धड़ल्ले से चल रहा है, वैसा ही भंगेड़ी-गंजेड़ी साधु बाबाओं में भी शराब, हिरोइन, ब्राउनसुगर आदि के सेवन की प्रवृत्ति जोरों पर है। इसके साथ ही माँस, मछली और अंडों का सेवन तथा बलात्कार एवं व्यभिचार भी बेधड़क हो रहा है। मतलब यह है कि जब अपनी अनियंत्रित इच्छाओं और वासनाओं पर स्वेच्छा से

---

१. (क) 'आज का आनन्द' (दैनिक समाचार-पत्र) दि. २६-१२-९४ से भाव ग्रहण

(ख) देखें–उत्तराध्ययन का चित्रसम्भूतीय १३वाँ अध्ययन

(ग) देखें–उत्तराध्ययन का महानिर्ग्रंथीय नामक २०वाँ अध्ययन

२. (क) पंच आसवदारा पण्णत्ता, तं.–मिच्छत्तं अविरती पमाया कसाया जोगा।

–स्थानांग. ५/२/१०९, समवायांग. ५/४

(ख) ......जीवा संसारं आउलीकरेंति, ... एवं दीहीकरेंति, ... एवं अणुपरियट्टयंति।

–भगवतीसूत्र १/९/१८४, ज्ञाताधर्मकथा, अ. ७

(ग) ......जहा सत्थमग्गी विसं लोणं सिणेहो खारमंबिलं (तहा) दुप्पउत्तो मणो वाया काओ भावतो अविरती। *–ठाणांग १०/९३*

(घ) सूत्रकृतांगसूत्र, श्रु. १, अ. २, उ. २, गा. ५९

नियंत्रण (दमन) नहीं किया जाता, तब बेधड़क होकर जुआ, चोरी, माँसाहार, मद्यपान (नशीली चीजों का सेवन), वेश्यागमन, पर-स्त्रीगमन और शिकार (पशुपक्षीवध, पशुबलि, कत्ल, हत्या और आखेट और दगा आदि पंचेन्द्रियवध); इन सात कुव्यसनों का सेवन करने वाले नरकगामी बनते हैं, इहलोक और परलोक में भी अनेक चिन्ताओं, उद्विग्नताओं, दुःखों, संकटों, रोगों और तनावों से कष्ट पाते रहते हैं। एक बहुत ही सुन्दर रूपक इस सम्बन्ध में पढ़ा था, वह विचारणीय है–

एक बाबाजी को किसी मनचले भक्त ने कहा–"महाराज ! आप विचित्रनगर पधारें, वहाँ सभी तरह की सुख-सुविधाएँ आपको मिलेंगी।" बाबाजी विचित्रनगर जाने और वहाँ सभी तरह के सुखोपभोग पाने के लोभ में पड़े। वहाँ से चलकर बाबाजी विचित्रनगर के मुख्य दरवाजे पर पहुँचे। वहाँ के दरबान ने कहा–"यहाँ पहले जुआ खेलो, फिर नगरप्रवेश का टिकट मिलेगा। उसे लेकर दूसरे दरवाजे पर जाना।" यह सुनते ही बाबा चौंका–"हाय ! मैं जुआ कैसे खेलूँ ?" फिर मन को समझाया–"जुए में क्या है ? ताश के पत्ते ऊपर-नीचे करने हैं। इसमें कहाँ कोई जीव मारना पड़ता है ?" यों सोचकर बाबा जमकर जुआ खेलने लगा। जुआ खेलने पर टिकट मिली। उसे लेकर दूसरे दरवाजे गया। यहाँ का दरबान बोला–"पहले मदिरापान करो तो टिकट मिलेगा। उसे लेकर तीसरे द्वार पर जाना।" लोभ में अन्धे बने हुए बाबा ने सोचा–"मद्य पीने में क्या हर्ज है ? यह तो वनस्पति का ही रस है।" यों बाबा मद्य की बोतल गट्गटा गया। फिर यहाँ से टिकट लेकर गया तीसरे दरवाजे। यहाँ का दरबान बोला–"यहाँ पहले माँस खाओ, फिर टिकट मिलेगा। उसे लेकर चौथे दरवाजे पर जाना।" बाबा ने सोचा–"अरर् ! माँस कैसे खाया जाए ?" परन्तु पापकर्म के मूल लोभ का कीड़ा कुलबुला रहा था। अतः बाबा ने मन को समझाया–"माँस खाने में क्या है ? हम स्वयं कोई जीव मारते नहीं, यह तो प्राणी का मृत शरीर है। गेहूँ, बाजरा आदि भी तो जीव के शरीर ही हैं न ?" अतः उसने मन को समझाकर माँस सेवन कर लिया। टिकट मिला। उसे लेकर गया चौथे दरवाजे। वहाँ के दरबान ने कहा–"वेश्यागमन करने पर ही तुम्हें अन्दर प्रवेश करने दिया जाएगा।" बाबा चौंका–"बाप रे ! इसमें तो भ्रष्ट होना पड़ेगा। यह मेरे से कैसे होगा ?" परन्तु अत्यधिक लोभ पाप के प्रति घृणा, भीति, लज्जा, मर्यादा सबको खा जाता है। बाबा ने भी वेश्यागमन जैसे महादुष्कृत्य के प्रति घृणा, लज्जा आदि उड़ा दी। मन को समझाया–"**न दोषो चर्मघर्षणे।**" "चमड़ी को घिसने में कोई दोष नहीं है, इसमें कहाँ कोई जीव मरता है ? कहाँ झूठ बोलना या चोरी करनी पड़ती है ?" अतः बाबा ने निःसंकोच वेश्यागमन भी कर लिया। अब क्या बाकी रहा पापकर्म करने में ? अविरतिजन्य पापकर्मबन्ध में ?" अब तो उस बाबा को जुआ, शराब,

माँसाहार और व्यभिचार बार-बार करने का चस्का लग गया। अतः अब उसे सुख-सुविधामय विचित्रनगर में प्रवेश करने की उतावल के बदले इन्हीं-इन्हीं पापकर्मों को बार-बार करने की लगन लगी। इसलिए दरबानों को चकमा देने के लिए वेश बदल-बदलकर प्रत्येक द्वार में घूमता रहा। आखिर एक दरबान ने उसको और उसकी ठगबाजी को पहचान लिया। उसने उस बाबा को पकड़कर अंदर धकेल दिया।

नगर के अंदर बाबा ने विचित्र दृश्य देखा–वहाँ की स्थिति नरकागार की-सी थी। जगह-जगह मारामारी, छेदन-भेदन, यंत्र-पीड़न तथा चमड़ी छिलना, भालों से बींधना, पीसना, कूटना, लातें मारना, उठाकर ऊपर से नीचे शिला पर गिराना, आग-सी जलती हुई रेत पर भुनना, तपतपाते तवे पर सेकना आदि भयानक परिस्थिति थी। बाबा को भी जब इन भयानक पीड़ाओं से गुजरना पड़ा, तब वह हायतोबा मचाने लगा। अपराधी को दण्ड देने वाले उसकी पुकार को अनसुनी करके कहते–क्यों, तूने मद्यपान किया था न? माँस खाया था न? जुआ खेला था न? और व्यभिचार भी खुलकर किया था न? याद कर उन पापों को, अब सजा भोगते समय क्यों रोता है? इस पर बाबा उनके चरणों में पड़कर कहता है–"ओ बाप ! आयंदा ऐसा नहीं करूँगा, माफ करो मुझे।" परन्तु दण्डकर्त्ता उसकी पुकार को क्यों सुनने लगे? वे लोहे के घन से उसे कूटते हैं। उसका मुँह फाड़कर गर्मागर्म तेल उँड़ेलते हैं।

सच तो यह है कि ऐसे पापों का सेवन करते समय जो उनके परिणामों का विचार नहीं करता, तब तो कहता है–"किसने देखा है, परलोक? परलोक है या नहीं, इसमें भी शक है। ये कामभोग हस्तगत हैं, इन्हें या इनके सुखों को छोड़कर भविष्यकालीन अज्ञात सुख का क्यों विचार करें?" ऐसा सोचकर वह हिंसा, झूठ, माया, पैशुन्य, धूर्तता, माँस-मदिरा सेवन, धन और स्त्रियों में आसक्ति, विषयभोगों का मत्त होकर सेवन आदि पापों को श्रेयस्कर मानता है।[१]

आत्मिक गुणों की रक्षा हेतु विरति पर दृढ़ रहने के परिणाम

नगर पर शत्रुओं का हमला भले ही बार-बार न होता हो, संवर-निर्जरा से उपार्जित धर्म की पूँजी पर कुनिमित्तों, कुव्यसनों और कुसंस्कारों का हमला तो

---

१. (क) 'दिव्यदर्शन', दि. ४-८-९० के अंक से संक्षिप्त, पृ. ३३०-३३१

(ख) हत्थागया इमे कामा, कालिया जे अणागया।
को जाणइ परे लोए अत्थि वा नत्थि वा पुणो।। –*उत्तराध्ययन, अ. ५, गा. ६*

(ग) वही, अ. ७, गा. ५-६

बार-बार होता ही रहता है, इन बाह्य हमलों के अवसर पर अज्ञात मन में चिरकाल से घुसे हुए मोहकर्मजन्य कुविचार एवं अज्ञानजन्य मूढ़ताएँ तो प्रायः प्रति क्षण हमला करती रहती हैं। उस समय पूर्वोक्त शुद्ध धर्म की पूँजी को सुरक्षित रखने का एकमात्र उपाय है—व्रत, त्याग, प्रत्याख्यान और नियमों का दृढ़ संकल्पपूर्वक स्वीकार !

व्रत, त्याग, प्रत्याख्यान एवं नियमों में पुरुषार्थ करके उत्थान के शिखर पर पहुँच जाने पर भी इनके आचरण में दृढ़ता की कमी, संकल्पबद्धता में शिथिलता के कारण, कुनिमित्तों और कुव्यसनों के कुसंस्कारों के कारण हजार-हजार वर्ष तक संयम-पालन की पूर्ण पूँजी होते हुए भी कंडरीक अविरति के गहरे गर्त्त में गिर गया। सुविधावाद एवं इन्द्रिय-विषयों में आसक्ति के कुनिमित्त के कारण कंडरीक ने संयमी जीवन को तिलांजलि देकर भोगी एवं कुव्यसनी अविरति जीवन स्वीकार करके सिर्फ तीन ही दिन में घोर तमस्तोम वाली सातवीं नरकभूमि में गमन किया। विरति का त्याग करके अविरति का स्वीकार करने का कितना भयंकर परिणाम ?

परन्तु अविरति के अन्धकारमय गर्त्त में पड़े हुए बंकचूल चोर ने जैनाचार्य का सुनिमित्त मिलने से सिर्फ चार नियमों का दृढ़तापूर्वक स्वीकार किया और फिसलन के निमित्त मिलने पर भी दृढ़तापूर्वक उन पर टिके रहने से, उसे भविष्य में आध्यात्मिक विकास करने हेतु बारहवाँ देवलोक मिला। (१) राजा की रानी को मातृवत् मानना, (२) अनजाना फल न खाना, (३) किसी की हत्या करने से पहले सात कदम पीछे हटना, (४) कौए का माँस न खाना; इन चार नियमों के पालन में बंकचूल को अनेक कष्ट, प्रलोभन, भय और मरणान्त वेदना के अवसर आए, परन्तु वह जीवन के अन्त तक उनके दृढ़तापूर्वक पालन में संलग्न रहा। अतः विरति के प्रभाव से व्यक्ति उच्च स्थान पर पहुँच जाता है, इसमें कोई संदेह नहीं।[1]

अविरति : स्वरूप, परिणाम, फल और स्थान

आशय यह है कि जो व्यक्ति त्याग, तप, संयम, नियम, व्रत, प्रत्याख्यान आदि से एकान्ततः प्रतिज्ञाबद्ध नहीं होता, वह अविरति है, अर्थात् वहाँ पापों से विरति-निवृत्ति नहीं है। अपितु असंयम, अव्रत, अप्रत्याख्यान, नियम-संयम से सर्वथा विहीनता, सर्वथा त्यागरहितता के रूप में अविरति है; वही तो पाप की हेतु है। जब तक स्वेच्छापूर्वक संकल्पबद्ध होकर पापों का त्याग नहीं किया जाता, नियमपूर्वक पाप नहीं छोड़े जाते, तब तक अविरतिरूप आस्रव (पापकर्मों का प्रवेश) चालू रहता

१. (क) 'दिव्यदर्शन', दि. १०-३-९० से भावांश ग्रहण
(ख) सुव्वए कम्मइ दिवं। —उत्तरा., अ. ५/२२

है, ऐसे अविरत, अप्रत्याख्यानी, असंयत, अव्रती जीव के परिणाम सदा सतृष्ण और मलिन रहते हैं। जीव को उन-उन पापकर्मों को पुनः-पुनः करने की पिपासा, तृष्णा, लालसा, वांछा, आशा, कामना और वासना लगी ही रहती है, भले ही उस पाप को उसने कार्यरूप में परिणत न किया हो। पापों के वासनामय दुष्परिणामों के कारण अविरत जीवों के निरन्तर पापकर्म का बन्ध होता रहता है। एकेन्द्रिय से लेकर तिर्यंच पंचेन्द्रिय तक के जीव जो बाहर से तो हिंसादि करते, भोगोपभोग सेवन करते दिखाई नहीं देते, किन्तु उन-उन से संकल्पपूर्वक विरत न होने से, यानी व्रतबद्ध नियमबद्ध न होने से अविरत ही हैं। विरत नहीं कहलाते।

भगवान महावीर ने इस एकान्त अविरति के स्थान को अनार्य, केवलज्ञानरहित, अप्रतिपूर्ण, अन्याययुक्त, अशुद्ध, शल्य काटने के लिए अयोग्य कहा है। अविरति मोक्ष (कर्ममुक्ति) का मार्ग नहीं है, निर्वाण (परम शान्ति) का मार्ग नहीं है, यह सर्वदुःखों को प्रहीण (क्षय) करने का मार्ग भी नहीं है। अविरति का यह स्थान एकान्त मिथ्या है, अप्रशस्त है, असाधु और अनार्य है।

अविरत जीव का अन्धकारमय भविष्य

भगवान महावीर ने अविरत जीव के भविष्य के विषय में कहा–"जिस प्रकार कोई वृक्ष पर्वत के अग्र भाग में उत्पन्न हुआ हो, उसकी जड़ काट दी जाय तथा वह आगे से भारी हो तो वह जिधर नीचा, विषम या दुर्गम स्थान होता है, उधर ही गिरता है; उसी प्रकार अप्रतिविरत (पापों से अविरत) और क्रूरकर्मा मानव एक गर्भ से दूसरे गर्भ को, एक जन्म से दूसरे जन्म को, एक मरण से दूसरे मरण को, एक नरक से दूसरे नरक को एवं एक दुःख से दूसरे दुःख को प्राप्त होता है। ऐसा मनुष्य कृष्णपक्षी और भविष्य में दुर्लभबोधि होता है।"[१]

विरत जीव का लक्षण और फल-प्राप्ति

इसके विपरीत जो जीव प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक अठारह पापस्थानों से विरत, संवृत, निवृत्त या रहित होता है, वह (पापकर्मों के बोझ से) शीघ्र ही हल्का होता है, उसका संसार (परिभ्रमण) घटता है, संक्षिप्त (short) होता है और वह संसार (सागर) को शीघ्र ही पार कर जाता है। वह आर्य है, विरति-संवर अर्जित कर लेता है।[२]

---

१. (क) सूत्रकृतांगसूत्र, श्रु. १, अ. २, उ. २, सू. ६२
(ख) वही, श्रु. १, अ. २, उ. २, सू. ६१

२. पाणाइवाइय-वेरमणेणं जाव मिच्छादंसण-विरमणेणं एवं खलु गोयमा ! जीवा लहुयत्तं हव्वमागच्छंति, एवं संसारं परित्तीकरेंति .... एवं हस्सीकरेंति, ... एवं वीतिवयंति। पसत्था चत्तारि। –*भगवतीसूत्र १/९/३८५, ३८७, ३८९, ३९१*

हिंसा का प्रत्याख्यान करता है, किन्तु वह जीव, अजीव या त्रसजीव, स्थावरजीव का सम्यक् प्रकार से जानता नहीं है, उसका वह प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान नहीं, दुष्प्रत्याख्यान होता है।" जीवादि तत्त्वों से अनभिज्ञ व्यक्ति यदि ऐसा प्रत्याख्यान करता है, तो वह मिथ्याभाषी है और सर्वप्राणी आदि के प्रति विविध रूप से असंयत, अविरत है, पापकर्मों का प्रत्याख्यान शब्दों से करने पर भी वह पापकर्म को प्रतिहत (नष्ट) नहीं कर पाता; वह उक्त पापकर्म के प्रत्याख्यान से रहित है, असंवृत है, (साम्परायिक) क्रियायुक्त एकान्तदण्डी और एकान्तबाल है। इसके विपरीत जो जीवादि को सम्यक् जानकर प्रत्याख्यान करता है, वह सत्यभाषी है, संयत, विरत, सप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान से पापकर्मों का नाश करता है, साम्परायिक क्रियारहित, संवृत और पण्डित है।[1]

नियम और व्रत; प्रत्याख्यान का अन्तर

इसलिए पं. आशाधर जी ने भी गृहस्थों के नियम और व्रत का अन्तर समझाते हुए कहा है–भोग्य वस्त्रादि पदार्थों (सचित्त, द्रव्य, वस्त्र आदि १४ प्रकार के पदार्थों) की संकल्पपूर्वक मर्यादा करना नियम है और हिंसादि अशुभ कृत्यों से निवृत्ति और शुभ कार्यों में प्रवृत्ति व्रत कहलाता है। दूसरे शब्दों में–मन, वचन, काया की सावद्य प्रवृत्तियों और कार्यों का प्रत्याख्यान (त्याग) तथा आध्यात्मिक सदनुष्ठानों का करना व्रत है। 'स्थानांगसूत्र' में श्रद्धानविशुद्धि, विनयविशुद्धि, अनुभाषणाशुद्धि, अनुपालनाशुद्धि और भावशुद्धि; ये पाँच प्रकार (स्थान) प्रत्याख्यानशुद्धि के बताये हैं।[2]

विरति-संवर का अनन्तर और परम्परागत फल

इस प्रकार के विरति-संवर का फल श्रमण-पर्युपासना, श्रवण, ज्ञान और विज्ञान के पश्चात् प्रत्याख्यान बताया है, फिर क्रमशः प्रत्याख्यान का फल संयम, संयम का फल आस्रव-निरोध (संवर), आस्रव-निरोध का फल तपश्चरण, तप का फल निर्जरा (व्यवदान), निर्जरा का फल अक्रिया (सभी प्रकार की कायिक वाचिक और मानसिक प्रवृत्तियों-व्यापारों-क्रियाओं का निरोध) और

---

१. एवं खलु से दुप्पच्चक्खाई ...... पच्चक्खाणमिति वदमाणो नो सच्चं भासं भासइ।

–भगवतीसूत्र, श. ७, उ. २, सू. २७

२. (क) संकल्पपूर्वकः सेव्ये, नियमोऽशुभकर्मणः, निवृत्तिर्वाव्रतंस्याद् वा प्रवृत्तिः शुभकर्मणि।

–सागार धर्मामृतम् २/८०

(ख) सद्दहणसुद्धे विणयसुद्धे अणुभासणासुद्धे अणुपालणासुद्धे भावसुद्धे।

–स्थानांगसूत्र, स्था. ५, उ. ३

हिंसा का प्रत्याख्यान करता है, किन्तु वह जीव, अजीव या त्रसजीव, स्थावरजीव का सम्यक् प्रकार से जानता नहीं है, उसका वह प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान नहीं, दुष्प्रत्याख्यान होता है।" जीवादि तत्त्वों से अनभिज्ञ व्यक्ति यदि ऐसा प्रत्याख्यान करता है, तो वह मिथ्याभाषी है और सर्वप्राणी आदि के प्रति विविध रूप से असंयत, अविरत है, पापकर्मों का प्रत्याख्यान शब्दों से करने पर भी वह पापकर्म को प्रतिहत (नष्ट) नहीं कर पाता; वह उक्त पापकर्म के प्रत्याख्यान से रहित है, असंवृत है, (साम्परायिक) क्रियायुक्त एकान्तदण्डी और एकान्तबाल है। इसके विपरीत जो जीवादि को सम्यक् जानकर प्रत्याख्यान करता है, वह सत्यभाषी है, संयत, विरत, सप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान से पापकर्मों का नाश करता है, साम्परायिक क्रियारहित, संवृत और पण्डित है।[१]

नियम और व्रत; प्रत्याख्यान का अन्तर

इसलिए पं. आशाधर जी ने भी गृहस्थों के नियम और व्रत का अन्तर समझाते हुए कहा है–भोग्य वस्त्रादि पदार्थों (सचित्त, द्रव्य, वस्त्र आदि १४ प्रकार के पदार्थों) की संकल्पपूर्वक मर्यादा करना नियम है और हिंसादि अशुभ कृत्यों से निवृत्ति और शुभ कार्यों में प्रवृत्ति व्रत कहलाता है। दूसरे शब्दों में–मन, वचन, काया की सावद्य प्रवृत्तियों और कार्यों का प्रत्याख्यान (त्याग) तथा आध्यात्मिक सदनुष्ठानों का करना व्रत है। 'स्थानांगसूत्र' में श्रद्धानविशुद्धि, विनयविशुद्धि, अनुभाषणाशुद्धि, अनुपालनाशुद्धि और भावशुद्धि; ये पाँच प्रकार (स्थान) प्रत्याख्यानशुद्धि के बताये हैं।[२]

विरति-संवर का अनन्तर और परम्परागत फल

इस प्रकार के विरति-संवर का फल श्रमण-पर्युपासना, श्रवण, ज्ञान और विज्ञान के पश्चात् प्रत्याख्यान बताया है, फिर क्रमशः प्रत्याख्यान का फल संयम, संयम का फल आस्रव-निरोध (संवर), आस्रव-निरोध का फल तपश्चरण, तप का फल निर्जरा (व्यवदान), निर्जरा का फल अक्रिया (सभी प्रकार की कायिक वाचिक और मानसिक प्रवृत्तियों-व्यापारों-क्रियाओं का निरोध) और

---

१. एवं खलु से दुप्पच्चक्खाई...... पच्चक्खाणमिति वदमाणो नो सच्चं भासं भासइ।

–भगवतीसूत्र, श. ७, उ. २, सू. २७

२. (क) संकल्पपूर्वकः सेव्ये, नियमोऽशुभकर्मणः, निवृत्तिर्वाव्रतंस्याद् वा प्रवृत्तिः शुभकर्मणि।

–सागार धर्मामृतम् २/८०

(ख) सद्दहणसुद्धे विणयसुद्धे अणुभासणासुद्धे अणुपालणासुद्धे भावसुद्धे।

–स्थानांगसूत्र, स्था. ५, उ. ३

सर्वक्रिया-निरोध का फल सिद्धि (सर्वकर्ममुक्ति) है।[1] यानी आत्मा का अपने पूर्ण शुद्ध स्वरूप में स्थित होना, रमण करना है।

प्रत्याख्यान : आस्रवों और इच्छाओं का निरोधक

'उत्तराध्ययनसूत्र' में भी बताया गया है कि प्रत्याख्यान से आस्रवद्वारों का निरोध (संवर) होता है तथा प्रत्याख्यान से (मनोज्ञ वस्तु के प्रति) इच्छा-निरोध होता है। इच्छा-निरोध से जीव सर्वद्रव्यों के प्रति तृष्णारहित होता है और तृष्णारहित होने से व्यक्ति शीतीभूत (शान्त शीतल) होकर विहरण करता है।[2]

प्रत्याख्यान का अर्थ, लाभ, स्वरूप

वस्तुतः शान्ति भोगोपभोग-सेवन में नहीं, त्याग करने में है। इस दृष्टि से सम्यग्दृष्टिपूर्वक समझ-बूझकर जब प्रत्याख्यान किया जाता है, तब शरीर और शरीर से सम्बन्धित पदार्थों के छूट जाने पर भी मन में शान्ति और प्रसन्नता होती है। अतः प्रत्याख्यान तन भरने का नहीं, मन भरने का उपाय है, शान्ति, संतुष्टि और तृप्ति का उपाय है। 'आचारांग निर्युक्ति' में भी कहा गया है—प्रत्याख्यान से आस्रवद्वार बन्द हो जाते हैं, तृष्णा का विच्छेद होता है। प्रत्याख्यान का सामान्य अर्थ है—त्याग करना। किसका त्याग करना ? इसे स्पष्ट करने के लिए आवश्यकसूत्र की वृत्ति में परिष्कृत अर्थ किया गया है—परिहरणीय = स्वेच्छा से त्यागने योग्य वस्तु को त्यागने का संकल्प करना प्रत्याख्यान है। 'योगशास्त्र वृत्ति' में आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—"(त्याज्य) प्रवृत्ति का मर्यादापूर्वक त्याग करना।" 'प्रवचन सारोद्धार' में प्रत्याख्यान का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ किया है—अविरतिस्वरूप जो प्रवृत्तियाँ अहिंसादि के प्रतिकूल हैं, उनका मर्यादापूर्वक कुछ आगार (छूट) सहित त्याग करने का गुरु आदि के समक्ष संकल्पबद्ध होकर कथन करना प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान में तीन शब्द हैं—प्रति + आ + आख्यान, प्रति—यानी असंयम (अविरति) के प्रति (सेवन की) आ = मर्यादापूर्वक, आख्यान = प्रतिज्ञा या संकल्प करना।[3]

---

१. देखें—पृष्ठ ४३९ पर फुट नोट नं. १ (क) और (ख)

२. पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरुंभइ, पच्चक्खाणेणं इच्छानिरोहं जणयइ, इच्छानिरोहं गए य जीवे सव्वदव्वेसु विणीय-तण्हे सीईभूए विहरई। —*उत्तराध्ययन २९/१४*

३. (क) पच्चक्खाणंमि कए आसवदाराइं हुंति पिहियाइं।
आसव-वुच्छेएणं तण्हा-वुच्छेयणं होइ॥ —*आवश्यक निर्युक्ति १५९४*

(ख) परिहरणीयं वस्तु प्रति आख्यानम् प्रत्याख्यानम्। —*आव. मलयगिरि वृत्ति*

(ग) योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्ति (हेमचन्द्राचार्य)

(घ) अविरति-स्वरूप-प्रवृत्ति (प्रभृति) प्रतिकूलतया आ मर्यादया, आकार-करण-स्वरूपया आख्यानं कथनं प्रत्याख्यानम्। —*प्रवचन सारोद्धार*

प्रत्याख्यान के विविध रूप

त्यागने योग्य वस्तुएँ सामान्यतया दो प्रकार की होती हैं–द्रव्यतः और भावतः। द्रव्य से त्याज्य–अन्न, वस्त्र, भवन, धन आदि। भाव से त्याज्य–मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग आदि। अथवा अष्टादश पापस्थान या हिंसादि पंच आस्रव। 'अनुयोगद्वारसूत्र' में प्रत्याख्यान का दूसरा नाम गुणधारण भी बताया गया है।

द्रव्य प्रत्याख्यान के 'भगवतीसूत्र' में १० भेद बताए हैं[१]–(१) अनागत, (२) अतिक्रान्त, (३) कोटिसहित, (४) नियंत्रित, (५) सागार, (६) निरागार, (७) परिमाणकृत, (८) निरवशेष, (९) सांकेतिक, और (१०) अद्धा-प्रत्याख्यान।[२] 'भगवतीसूत्र' में प्रत्याख्यान के दो प्रकार बताए हैं–मूलगुण प्रत्याख्यान और उत्तरगुण प्रत्याख्यान। मूलगुण प्रत्याख्यान के साधु और श्रावक की अपेक्षा से दो भेद किये–सर्वमूलगुण प्रत्याख्यान–पंचमहाव्रत और देशमूलगुण प्रत्याख्यान–पाँच अणुव्रत। उत्तरगुण प्रत्याख्यान के भी दो भेद साधु-श्रावक की दृष्टि से किये गए हैं। श्रावक के लिए देशउत्तरगुण प्रत्याख्यान हैं–तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत, १४ नियमों की मर्यादा आदि। साधु के लिए उत्तरगुण प्रत्याख्यान–पाँच समिति, तीन गुप्ति, समाचारी, कल्प, नियम, मर्यादा आदि। सर्वउत्तरगुण प्रत्याख्यान के उपर्युक्त अनागत आदि १० भेद हैं, जो साधु-श्रावक सभी के लिए हैं।[३]

अध्यात्म-साधना के लिए नवविध प्रत्याख्यान

इनके अतिरिक्त अध्यात्म-साधना की दृष्टि से–ज्ञान-दर्शन-चारित्र के माध्यम से आत्मा की उत्तरोत्तर शुद्धि के लिए 'उत्तराध्ययनसूत्र' में ९ प्रकार के उत्कृष्ट प्रत्याख्यानों का तथा उनसे होने वाले संवर-निर्जरा की, कषायमुक्ति और कर्ममुक्ति की उपलब्धि का स्पष्ट निरूपण है। वे क्रमशः इस प्रकार हैं–(१) संभोग प्रत्याख्यान, (२) उपधि प्रत्याख्यान, (३) आहार प्रत्याख्यान, (४) कषाय प्रत्याख्यान, (५) योग (मन-वचन-काय-प्रवृत्ति) प्रत्याख्यान, (६) शरीर प्रत्याख्यान, (७) सहाय प्रत्याख्यान,

---

१. अणागय मइक्कंतं कोडिसहियं निंदियं चेव।
सागारमणागारं परिमाण कडं निरवसेसं॥
संकेयं चेव अद्धाण-पच्चक्खाणं भवे दसहा॥ —*भगवतीसूत्र ७/२*

२. देखें–भगवतीसूत्र ७/२ तथा स्थानांग वृत्ति स्था. २० की वृत्ति में प्रत्याख्यान के १० भेद और उनकी व्याख्या

३. देखें–भगवतीसूत्र एवं आवश्यकसूत्र में प्रत्याख्यान के भेद-प्रभेदों का विवरण

(८) भक्त प्रत्याख्यान (यावज्जीव संलेखना-संथारा), और (९) सद्भाव प्रत्याख्यान (प्रवृत्तिमात्र का परित्याग)।[1]

व्रतबद्धता से जीवन मूल्यों में परिवर्तन

विरति के सन्दर्भ में व्रताचरण से लाभ के विषय में सोचें तो सर्वप्रथम यह स्पष्ट होगा कि व्रतबद्धता से या नियमबद्धता से, प्रत्याख्यान से भोगों की आकांक्षाएँ अत्यन्त कम हो जायेंगी। भोग और त्याग का, आवश्यकता-अनावश्यकता का विवेक उत्पन्न होगा, जिससे जीवन में सन्तुलन पैदा होगा। मर्यादाओं का भी विवेक प्राप्त होगा, जिससे परिवार, समाज आदि में सहयोग, सहिष्णुता और शान्ति बढ़ेगी। व्रतचेतना जाग्रत होने से पर-भावों का आकर्षण कम होगा। अपने आप को सूक्ष्मता से देखने-जानने का अवसर प्राप्त होगा। ज्ञाता-द्रष्टा बनने से प्रत्येक प्रवृत्ति के प्रति राग, द्वेष, कषाय, मोह आदि की मन्दता होगी, कर्मों का उपशमन, क्षय, क्षयोपशम होगा। व्रताचरण से दूसरों के प्रति मैत्री, करुणा, प्रेमाद और माध्यस्थ्यभाव और मनुष्य के भीतर सोई हुई मानवता जागेगी। व्रत ग्रहण करने के बाद मनुष्य अपनी अनियंत्रित इच्छाओं, आकांक्षाओं को कम करके, आवश्यकता और प्रियता (आसक्तिवशता) का विवेक कर सकेगा। व्रत ग्रहण से वह परिवार, समाज और राष्ट्र में विश्वस्त हो जाता है। जैसे साधारण लोहा १३ रु. किलो बिकता है, किन्तु जब उसी लोहे से घड़ी के छोटे-छोटे पुर्जे बनते हैं तो उस लोहे की कीमत हजारों गुना बढ़ जाती है, उसी तरह साधारण मानव की जीवनचर्या है—खाना-पीना, पहनना-ओढ़ना, धन कमाना, कामसुख भोगना, सुख में फूलना, दुःख में घबराना आदि, और अन्त में सब कुछ छोड़कर मर जाना। उसके जीवन का कोई मूल्य नहीं है, किन्तु जब विरति-संवर के सन्दर्भ में अपने जीवन को वह व्रत, नियम, त्याग, तप, प्रत्याख्यान से आबद्ध करता है, तब उसकी आध्यात्मिक, मानसिक, बौद्धिक शक्ति और समता की क्षमता बढ़ जाती है, उस आत्मा का जीवन बहुमूल्य, विश्ववन्द्य और विश्वपूज्य तक बन जाता है। वह सर्वसाधारण से सर्वमान्य तथा आत्मा से महात्मा और महात्मा से परमात्मा तक बन सकता है। आशय यह है कि जब व्रत की चेतना जाग्रत होती है तो व्यक्ति में संयम, तप, सहिष्णुता, समता आदि की चेतना समुद्भूत होती है। उसके जीवन-मूल्य बदल जाते हैं। धार्मिक दृष्टि से जीवन का निर्माण हो जाता है। फिर सादा-सीधा कठोर जीवन जीने में भी उसे कोई ग्लानि नहीं होती। वे ही चीजें जिनके प्रति उसे आकर्षण था, आसक्ति थी, लालसा थी, वे अब उसके लिए अनाकर्षणीय

---

१. देखें—उत्तराध्ययनसूत्र के २९वें अध्ययन के ३३वें से ४१वें बोल तक की व्याख्या। उत्तरा. (आ. आत्माराम जी म.), भा. ३, पृ. १३०-१४०

और अनासक्तिवर्द्धक बन जाती हैं। उसे प्रत्येक प्रतिकूल, विकट और भयावह परिस्थिति में भी समभावपूर्वक रहने का अभ्यास हो जाता है। स्वस्थ और शान्त जीवन जीने की कला व्रताचरण से आ जाती है।

गृहस्थवर्ग और साधुवर्ग के लिए व्रत-साधना का विधान

इसीलिए परम उपकारी वीतराग तीर्थंकरों ने कर्ममुक्ति के इच्छुक लोगों से कहा—अपने आप (अपनी इच्छाओं) पर दमन (नियंत्रण) करो। यह दमन (आस्रवों, भोगोपभोगों तथा पाप प्रवृत्ति पर नियंत्रण) है तो दुर्दम्य; किन्तु यही इस लोक और पर-लोक में सुखी बनाने वाला है। अगर तुम स्वेच्छा से संयम और तप से नियंत्रण (दमन) नहीं करोगे तो दूसरों के द्वारा अथवा अपने दुष्कर्मों द्वारा वध, बन्धन, रोग, संकट, पीड़ा, चिन्ता आदि से तुम्हारा बरबस नियंत्रण (दमन) किया जाएगा।[1] इसीलिए भगवान महावीर ने आध्यात्मिक दृष्टि से इहलौकिक और पारलौकिक जीवन को सुख-शान्ति, सन्तुष्टि और समता से सम्पन्न बनाने, निरर्थक हिंसादि से विरति के लिए तथा पापकर्मों से आस्रव और बन्ध से बचने के लिए एवं जीवन में भौतिकता और आध्यात्मिकता के सन्तुलन के लिए तथा संवर और निर्जरा के लिए विरति-संवर की साधना बतलाई। गृहस्थ साधकों के जीवन में संवर और निर्जरा की साधना हेतु पाँच अणुव्रतों तथा धनादि की महत्त्वाकांक्षाओं को सीमित करने, उपभोग्य एवं परिभोग्य वस्तुओं की मर्यादा के लिए एवं निरर्थक हिंसा आदि पापों से विरत होने के लिए क्रमशः छठा, सातवाँ, आठवाँ गुणव्रत बताए। आध्यात्मिक जीवन के विकास के लिए ४ शिक्षाव्रतों का विधान किया। साधुवर्ग के लिए उन्होंने पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, दशविध श्रमणधर्म, द्वादशविध अनुप्रेक्षा, परीषह-उपसर्ग-सहन, पंचविध आचार, सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय की तथा द्वादशविध तप की साधना का विधान किया। कितनी अपार अनुकम्पा और दया थी उनकी संसारी जीवों पर ?[2]

---

१. अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होई अस्सिं लोए परत्थ य॥१५॥
वरं मे अप्पा दंतो संजमेण तवेण य।
माऽहं परेहिं दम्मंतो बंधणेहिं वहेहिं य॥१६॥ *—उत्तरा., अ. १, गा. १५-१६*

२. (क) देखें—उपासकदशांगसूत्र में आनन्दश्रमणोपासक द्वारा व्रत-ग्रहण का पाठ
(ख) अगार धम्मं दुवालसविहं आइक्खइ, तं.—पंचाणुव्वयाइं तिण्णि गुणव्वयाइं, चत्तारि सिक्खावयाइं। *—उववाइसूत्र ७७*
(ग) हिंसाऽनृत-चौर्येभ्यो मैथुनसेवा-परिग्रहाभ्यां च।
पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम्॥४९॥
सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्वेषामविरतानाम्।
अनगाराणां, विकलं सागाराणं ससंगानाम्॥५०॥ *—रत्नकरण्डक श्रावकाचार ४९-५०*

व्रतबद्ध या प्रतिज्ञाबद्ध न होना, अनिश्चय, अविश्वास की स्थिति में जीना है

सचमुच व्रत ग्रहण करने और पालने से व्यक्ति के जीवन की सब तरह से रक्षा होती है। जिस प्रकार छत्री तान लेने से गर्मी और वर्षा से रक्षा हो जाती है, वैसे ही व्रतों की छत्री तान लेने से तन, मन और भावों के ताप–संताप से तथा मिथ्यात्व, प्रमाद, कषाय, अविरति और अशुभ योगों की वर्षा से व्यक्ति की रक्षा हो जाती है। व्रतों से स्वयं को बाँधना पापास्रवों के व्यापक द्वारों को रोककर शुद्धास्रवों (पुण्य कार्यों) अथवा शुभ योग-संवर से जुड़ना है। निर्जरा द्वारा शुद्धोपयोग में प्रवृत्त होना है। व्रतबद्धता का इतना माहात्म्य, लाभ और सुख-शान्ति अनायास हस्तगत होने पर भी वर्तमान युग के बुद्धिजीवी, व्यवसायजीवी, श्रमजीवी एवं अनेक कष्टों से पीड़ित अधिकांश लोग यह कहते सुने जाते हैं कि "हम व्रत, नियम, त्याग, प्रत्याख्यान तो ग्रहण नहीं करेंगे, ऐसे ही पालन कर लेंगे।" ऐसे लोगों के लिए महात्मा गांधी जी के अनुभवयुक्त ये वचन अतीव प्रेरणादायक हैं–"प्रतिज्ञा (व्रत) ग्रहण न करने का अर्थ है–अनिश्चित रहना। अनिश्चितता के आधार से जगत् में कोई काम नहीं हो सकता। 'हो सकेगा, तब तक चौकी करूँगा', ऐसा चाहने वाले चौकीदार के विश्वास पर कोई भी घर का स्वामी आज तक सुख से नहीं सो सका। 'हो सकेगा, वहाँ तक जाग्रत रहूँगा', ऐसा करने वाले सेनापति ने आज तक विजय प्राप्त नहीं की। 'जहाँ तक बन सकेगा, सत्य का पालन करूँगा', इस वाक्य का कोई अर्थ ही नहीं है। व्यापार में, बन सकेगा, वहाँ तक अमुक तारीख को अमुक रकम दी जाएगी, इस तरह की चिट्ठी, हुंडी या चेक के रूप में स्वीकार नहीं की जाती।" बिना प्रतिज्ञा का जीवन बिना नींव का घर अथवा कागज के जहाज के समान है। प्रतिज्ञा लेने का अर्थ है–अटल निश्चय करना। जो मनुष्य निश्चल नहीं, उसका विश्वास कौन कर सकता है ? 'जहाँ तक बन सकेगा', शब्द शुभ निश्चयों में विष के समान है। जहाँ तक हो सकेगा, वहाँ तक करने का अर्थ है–पहली ही अड़चन के समय फिसल जाना। "व्रत लेना दुर्बलतासूचक नहीं। अमुक बात करनी उचित है तो फिर करनी ही चाहिए; इसी निश्चय का नाम व्रत है, इसी में बल है।" जहाँ जीवन को (शुभ विचार-आचार से) बाँधने का प्रश्न उपस्थित हो, वहाँ व्रत के बिना कैसे चल सकता है ? अतः व्रत की आवश्यकता के विषय में मन में कभी शंका उठनी ही नहीं चाहिए।

प्रतिज्ञा जहाज के लिए (समुद्र में) प्रकाश-स्तम्भ की तरह है। इस ओर ध्यान रखने पर अनेक तूफानों में से गुजरता हुआ भी मनुष्य बच जाता है। प्रतिज्ञा हृदय-समुद्र के अंदर उछलती हुई अनेक प्रकार की (विषय) तरंगों से मनुष्य को बचाने वाली प्रचंड शक्ति है।

जो मनुष्य अपने जीवन को प्रतिज्ञामय (व्रतबद्ध) नहीं करता, वह कभी स्थिर नहीं हो सकता। ऐसा अहंकार करते हुए मनुष्य देखे जाते हैं, जो कहते हैं–मुझे व्रत की आवश्यकता नहीं। अमुक बात मैं अनायास ही करता हूँ, फिर कभी न हो तो क्या हर्ज है? जब करना चाहिए, तब तो कर ही लेता हूँ। शराब छोड़ने की प्रतिज्ञा की मुझे क्या जरूरत है? ऐसा कहने-करने वाला अपनी कुटेव की गुलामी से कभी छूट ही नहीं सकता।[१]

व्रतविहीन जीवन निरंकुश एवं ध्येय से डिगाने वाला

वास्तव में, व्रतविहीन जीवन बिना लगाम के घोड़े के समान है अथवा बिना अंकुश के हाथी या बिना डोर के पतंग के समान है। नियंत्रण के अभाव में मनुष्य को मानवीय दुर्बलताएँ अपने ध्येय से गिरा देती हैं, मनुष्य अपने उद्देश्य से भटक जाता है।

अन्यतीर्थिकों की पापकर्म के सम्बन्ध में मान्यता

भगवान महावीर के युग में अन्यतीर्थिकों का मत सिर्फ इतना-सा था कि "मन पापयुक्त होने पर मनःप्रत्ययिक, वचन पापयुक्त होने पर वचन-प्रत्ययिक और काया पापयुक्त होने पर काय-प्रत्ययिक पाप होता है। यदि किसी का मन, वचन, तन, पापयुक्त न हो, किसी के हनन में कोई प्रवृत्त न हो, मन-वचन-काय हिंसा करने के विचार से रहित हो तथा कोई स्वप्न में भी पाप न करता हो तो उसे पापकर्म नहीं लगता।"[२]

भगवान महावीर की पापकर्म सम्बन्धी स्पष्ट मान्यता

परन्तु भगवान महावीर ने इससे भिन्न सिद्धान्त की प्ररूपणा की है– मन-वचन-काया से दुष्प्रवृत्ति करने वाला तो पाप का भागी है ही, किन्तु वह भी पाप का भागी है, जिसने हिंसादि पापों का प्रतिज्ञापूर्वक प्रत्याख्यान नहीं किया है, अर्थात् जो हिंसादि पापों से विरत नहीं हुआ है, हिंसादि पापों का निरोध करके संव्रत नहीं हुआ है। अर्थात् भगवान महावीर के अनुसार–दोनों प्रकार के व्यक्ति पापकर्म का बन्ध करते हैं–एक वे जिनके मन-वचन-काय दुष्प्रयुक्त हैं; दूसरे वे, जो अविरत, असंयत और अप्रत्याख्याती पापकर्मा हैं।[३]

---

१. (क) 'जैनभारती' ७ जुलाई, १९८९ के अंक से भावांश ग्रहण, पृ. ४४१

(ख) 'धर्ममंथन' (गुजराती) के पृ. १२६, १२५, १३३, १३२, १३३, १२९, १२६ से उद्धृत और अनूदित

२. सूत्रकृतांगसूत्र, श्रु. २, अ. ४, उ. २

३. (क) वही, श्रु. २, अ. २, सू. २०-३२, ५८-५९

(ख) तं च पुण करेंति केई पावा असंजया, अविरया, अणिहय-परिमाणा-दुप्पओगी।

–*प्रश्नव्याकरणसूत्र, द्वार १/४*

जो प्रत्याख्यान नहीं करते, वे सभी पापकर्मभागी

इसी सिद्धान्त का विश्लेषण करके उन्होंने कहा–इस संसार में आत्माएँ हैं, जिनके पापों का प्रत्याख्यान नहीं होता, जो त्याग-क्रिया में कुशल नहीं होतीं। जो एकान्त सुप्त होती हैं; जिनके मन-वचन-काया में जरा भी विचारशीलता (मनस्कता) नहीं होती तथा जो पापों का हनन (नाश) और प्रत्याख्यान नहीं करतीं, प्रतिज्ञाबद्ध होकर पापों से विरत, संवृत नहीं होतीं, ऐसी आत्मा वाले जीव असंयत, अविरत और असंवृत होते हैं। वे मन-वचन-काया से पापयुक्त न होने पर भी, हिंसा में प्रवृत्त न होने पर भी, अमनस्क होने पर भी, पाप करने वाले मन से रहित होने पर भी, मन-वचन-काय से पाप करने के विचार से मुक्त होने पर भी, यहाँ तक कि स्वप्न में भी पापकर्म न करने पर भी ऐसी अविचारशील, एकान्त सुप्त आत्मा वाला पुरुष सक्रिय (साम्परायिक क्रियायुक्त) होता है–पापकर्म का भागी होता है।

असंयत अविरत आत्मा अठारह पापों का कारण क्यों ?

इसका कारण इस प्रकार है–जो आत्मा षड्जीवनिकाय (छह प्रकार के जीवों = पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक के जीवों) के प्रति पापकर्मों को हत नहीं करता–उनका प्रत्याख्यान नहीं करता, निश्चय ही वह आत्मा कर्मबन्ध के हेतुभूत षड्जीवनिकाय के प्रति प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शन तक के पापों को करने वाली है।

जैसे एक वधक है। उसकी चित्त-स्थिति ऐसी है कि मौका पाकर गाथापति या गाथापतिपुत्र के या राजा अथवा राजपुरुष के घर में प्रवेश करूँगा और मौका पाकर उसका वध करूँगा। इस प्रकार मौके की ताक में रहने वाला पुरुष रात-दिन, सोते या जागते गाथापति आदि का अमित्र है या नहीं ? वह मिथ्यासंस्थित, निरन्तर शठ और व्यतिपात चित्त वाला पुरुष उनके प्रति पापी है या नहीं ? इसी तरह पापों का प्रत्याख्यान न करने वाला बाल जीव सर्व प्राण, सर्व भूत, सर्व जीव और सर्व सत्त्वों के प्रति दिन-रात, सोते-जागते अमित्र होता है तथा प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शन शल्य तक के पाप को करने वाला होता है।[1]

---

१. (क) एवं खलु भगवया अक्खाए–असंजए अविरए, अपडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे सकिरिए, असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते। से बाले अवियार-मण-वयण-काय-वक्के सुविणमवि ण पासइ, पावे य कम्मे कज्जइ। –*सूत्रकृतांग २/४/२०*

(ख) वही २/४/१-२०

यह सिद्धान्त सभी असंयत-अविरत प्राणियों के लिए है

यह सिद्धान्त केवल मनुष्यों के प्रति ही लागू नहीं है, अपितु षड्जीवनिकाय में जो असंज्ञी (अमनस्क) जीव हैं, उनके प्रति भी; जिनमें न तर्क है, न संज्ञा है, न मन करने की शक्ति है, न ही उनके वाणी है। जो न तो स्वयं पाप करते हैं, न ही दूसरे से पाप कराते हैं और न पाप करते हुए को अच्छा समझते हैं। उनके (द्रव्य) मन नहीं है। ऐसे अज्ञानी प्राणी (एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के ऐसे जीव) भी अविरति (पापकर्मों से विरत होने का प्रत्याख्यान व्रत ग्रहण न करने के कारण अप्रत्याख्यान) के कारण सबके अमित्र हैं तथा प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों को दुःख, शोक, ताप, पीड़ा, परिताप, वध, बन्धन, परिद्वेष देने से (संकल्पपूर्वक) विरत न होने के कारण अठारह ही पापों के दोष के भागी हैं।

अप्रत्याख्यानी जीव पाप में प्रवृत्त न हों, तो भी पाप के भागी

भगवान महावीर का उपर्युक्त कथनानुसार ऐसा असंयत, अविरत (विरतिरहित), अप्रत्याख्यात पापकर्मा और असंवृत मनुष्य कोई भी संज्ञी या असंज्ञी (समनस्क या अमनस्क) प्राणी (भले ही) मन, वचन, काय से पाप करने का विचार रखता हो तथा स्वप्न में भी पाप न करता हो (किन्तु हिंसादि का प्रत्याख्यान लेकर व्रतबद्ध न होने के कारण); तो भी पापकर्मबन्ध का भागी होता है।[१]

असंयत व्यक्ति के पाँचों इन्द्रिय-विषय जाग्रत, जीव-अजीव कायिक त्रिकरण त्रियोगसम्बन्धी असमय चालू

'स्थानांगसूत्र' में कहा गया है–असंयत मानव चाहे सोये हों, चाहे जागते हों, उनके पाँचों इन्द्रिय-विषय–शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श जाग्रत ही रहते हैं। अर्थात् एकान्त असंयती–अवृती-अविरत पुरुष के इन पाँचों के निमित्त से कर्मबन्धन होता ही रहता है। तथैव अविरत पुरुष के पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय सम्बन्धी असंयम (विराधना) होता है; अजीवकाय सम्बन्धी असंयम होता है, पाँचों इन्द्रियों से सम्बन्धित असंयम होता है। मन, वचन और काया का असंयम होता है, करने-कराने-अनुमोदन करने का असंयम भी होता है।[१]

---

१. (क) सूत्रकृतांग २/४/१-१२

(ख) वही २/४/२०

२. (क) असंजय-मणुस्साणं सुत्ताणं वा जागराणं वा पंच जागरा पण्णत्ता, तं.–सद्दा जाव फासा।
–स्थानांग, स्था. ५, उ. २, सू. १२९

(ख) सत्तविधे असंजमे पण्णत्ता, तं.–पुढविकाइय-असंजमे जाव तसकाइय-असंजमे, अजीवकाइय-असंजमे।
–वही, स्था. ७, सू. ८३

असंयमी-अविरत जीव के पापों का स्रोत बहता रहता है

आशय यह है कि असंयम पापकर्म का हेतु है। जब तक पापों को स्वेच्छा से संकल्पपूर्वक, विधिवत्, नियम-व्रत-प्रत्याख्यान अंगीकार करके छोड़े नहीं जाते, उनका प्रतिज्ञाबद्ध होकर त्याग नहीं किया जाता; तब तक उसकी आत्मा उन पापों के प्रति वासनामय रहती है, भले ही उस समय वह पापकर्म में प्रवृत्त न हुई हो, तो भी अविरत जीवों के दुष्परिणामों के कारण निरन्तर पापों का स्रोत बहता रहता है।

साधक के लिये विरति-संवर की साधना अनिवार्य

सारांश यह है कि असंज्ञी जीवों के लिए ही नहीं, संज्ञी जीवों, उनमें भी संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्यों के लिए अविरति कितनी भयंकर है, अविरति के पाप से जन्म-जन्मों तक कितना भ्रमण करना और नानाविध दुःख पाना पड़ता है ? इसे ध्यान में रखकर प्रत्येक विचारशील मुमुक्षु कर्ममुक्ति के इच्छुक साधक को विरति-संवर की साधना–व्रत, प्रत्याख्यान, त्याग, तप, संयम, नियम के रूप में करने का पुरुषार्थ करना चाहिए। तभी संवर और निर्जरा करके वह कर्मों से रिक्त हो सकेगा।

●●

पिछले पृष्ठ का शेष–

(ग) तत्थ खलु भगवया छज्जीवणिकाय-रिऊ पण्णत्ता, तं.–पुढविकाइया जाव तसकाइया। इच्चेतेहिं छहिं जीवणिकाएहिं आया अप्पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे णिच्चं पसढ-विओवात-चित्त-दंडे, तं जहा–पाणाइवाए जाव परिग्गहे, कोहे जाव मिच्छादंसणसल्ले। *–सूत्रकृतांग २/४/२१/३*

(घ) मण-असंजमे वइ-असंजमे काइ-असंजमे। *–समवायांग १७/१*

२२

अविरति से पतन, विरति से उत्थान-१

'पर' को देखने से प्रवृत्ति और 'स्व' को देखने से निवृत्ति

पिछले निबन्ध में हम बता चुके हैं कि अठारह ही प्रकार के पापकर्म पर-पदार्थों की ओर देखने से होते हैं और उनसे बचाव होता है—स्व (आत्मा) की ओर दृष्टिपात करने में, अपने आप को देखने से, अपनी आत्मा का सम्यक् निरीक्षण-परीक्षण करने से। अब हम अठारह प्रकार के पापस्थानों में से प्रत्येक पापस्थान = पापकर्म के कारणभूत पर-पदार्थ (विभाव) के विषय में विश्लेषण करेंगे कि किस प्रकार दूसरों (सजीव-निर्जीव पर-पदार्थों) को देखने से प्राणातिपात आदि हो जाते हैं और आत्मा को (अपने आप को) आत्मा से सम्प्रेक्षण करने पर किस प्रकार प्राणातिपात आदि से विरति हो जाती है?

प्राणातिपात भी पर-पदार्थ को देखने से होता है

सर्वप्रथम प्राणातिपात को ही लें। यह सबसे पहला और सबसें प्रधान पापस्थान है। इसका पर्यायवाची प्रचलित शब्द हिंसा है। हिंसा या प्राणातिपात[१] अन्य सभी पापस्थानों का जनक है। असत्यादि का विचार मन में आते ही या उनका आचरण होते ही भाव-हिंसा हो गई।[२] हिंसा का निश्चयदृष्टि से कषाय-पाहुड, पंचाध्यायी, परमात्म-प्रकाश आदि में अर्थ किया गया है—"रागादि की उत्पत्ति होना, प्रादुर्भाव होना ही हिंसा है।" 'प्रवचनसार त. प्र.' में कहा है—"अशुद्धोपयोग अन्तरंग छेद (शुद्ध आत्म-गुण का छेद) है और वही हिंसा है।" अथवा हिंसा का अध्यवसाय ही हिंसा है। जब भी जीव किसी जीव या किसी अचेतन पदार्थ को देखता है, उसके मन में उसके प्रति राग, द्वेष या अन्य किसी अशुभ भाव का

---

१. पंचेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, उच्छ्वास-निःश्वासमथाऽन्यदायुः।
प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्तास्तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा॥

२. अभिमानभयजुगुप्सा-हास्य-रति-शोक-काम-कोपाद्याः हिंसायाः पर्यायाः सर्वेऽपि।
—*पुरुषार्थ सि.*, उ. ६४

प्रादुर्भाव होता है और वही भाव-हिंसा है।[१] द्रव्य-हिंसा प्रमाद के योग से किसी प्राणी के प्राणों का वियोग करना है।[२] 'प्रश्नव्याकरणसूत्र' में हिंसा के तीस पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख है।[३]

हिंसा-पापस्थान से विरति कैसे ?

हिंसा तभी होती है, जब व्यक्ति दूसरे की ओर देखता है, हिंसा दो के बिना हो नहीं सकती। भाव-हिंसा, आत्मा के साथ विभाव जुड़ते हैं, तभी होती है। राज्य, धन, जमीन, भोग्यपदार्थ आदि निर्जीव पर-पदार्थों के लिए अथवा किसी स्त्री, शत्रु, शासन, धनाढ्य आदि सजीव पर-पदार्थों को लूटने, अपहरण करने, ठगने, अपने कब्जे में करने आदि के लिये हिंसा होती है, तब भी दृष्टि पहले पर की ओर ही जाती है। उससे पापकर्म का बन्ध हो जाता है। यदि स्व (आत्मा) में, आत्म-भाव में या आत्म-स्वरूप में, आत्म-गुणों में दृष्टि रहे और वह व्यक्ति उनमें टिका रहे तथा पापकर्म के (अशुभास्रव) के आने की संभावना हो या आ गए हों, तो तुरन्त सावधान होकर उनसे विरत हो जाए, स्व में स्थिर हो जाए तो संवर धर्म उपार्जित कर सकता है।

हत्यारा दृढ़प्रहारी आत्मध्यानी होकर विरत हुआ

ब्राह्मणपुत्र दृढ़प्रहारी सातों ही दुर्व्यसनों में रत रहता था। पिता ने घर से निकाल दिया तो वह लुटेरा और हत्यारा बन गया। उसने अपनी ओर नहीं देखा, उसकी दृष्टि सदैव दूसरों की ओर ही रहती थी। एक दिन ब्राह्मण के यहाँ वह भोजन के लिए आमंत्रित था। परन्तु वहाँ ब्राह्मणी ने उसकी अशिष्टता देखकर डाँटा तो तलवार के प्रहार से उसके दो टुकड़े कर दिये। ब्राह्मण और उसका पुत्र सहायता के लिए दौड़े तो उनका भी काम तमाम कर दिया। स्वामिभक्त गाय दृढ़प्रहारी को भगाने के लिये दौड़ी तो उस पर भी तलवार चलाकर दो टुकड़े कर दिये। गाय गर्भवती थी। उसका तड़फड़ाता गर्भ भी बाहर निकल आया। इस प्रकार ५ प्राणियों की हत्या करके उसने घोर पापकर्म का बन्ध कर लिया। उन सब की

---

१. (क) तेसिं (रागादीणं) चं उप्पत्ती हिंसेति जिणेहिं णिदिट्ठा। *–कषाय-पाहुड १/१९/४२/१०२*

(ख) अशुद्धोपयोगो हि छेदः।......स एव च हिंसा। *–प्रवचनसार (त. प्र.) २१६-२१७*

(ग) रागाद्युत्पत्तिस्सु निश्चयो हिंसा। *–परमात्म-प्रकाश टीका २/१२५*

(घ) अर्थाद्रागादयो हिंसा स चास्त्यधर्मो व्रतच्युतिः। *–पंचाध्यायी (उ.) ७५५*

(ङ) हिंसाध्यवसाय एव हिंसा। *–समयसार (आत्मख्याति टीका), गा. २६२*

२. प्रमत्तयागात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा। *–तत्त्वार्थसूत्र, अ. ७, सू. १३*

३. देखें–प्रश्नव्याकरणसूत्र के प्रथम आस्रवदार में हिंसा के तीस नाम

लाशों को नरपिशाच दृढ़प्रहारी द्वारा घूर-घूरकर देखते-देखते और अकालजात बछड़े की छटपटाहट देखकर उसका कठोर दिल आज पसीज गया, उसका अन्तर रो उठा। उसके हृदय में करुणा जागी। वह सहसा अपनी आत्मा की ओर देखने–सोचने लगा। स्वयं को धिक्कारने लगा कि हाय ! इन पापकर्मों से मैं कैसे छूट पाऊँगा? यों वैराग्यभाव से आप्लावित होकर वह साधु बन गया। सोचा–इन पापकर्मों से छुटकारा पाने का यही उपाय है कि जिन लोगों को मैंने लूटा है या जिनके सम्बन्धियों का वियोग किया है, उनके सम्पर्क में आऊँ और वे लोग जो भी कष्ट दें, उस पर कोई ध्यान न देकर मैं अपने आत्म-ध्यान में रहूँ, समभाव से उन कष्टों को सहूँ। वह पहले डेढ़ महीने नगर के पूर्व द्वार के पास, फिर क्रमशः पश्चिम, दक्षिण और उत्तर के द्वारों के पास डेढ़-डेढ़ महीने ध्यानस्थ खड़ा रहा। इस प्रकार अनशन, प्रतिसंलीनता, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, ध्यान और व्युत्सर्ग तप के सम्मिलित प्रयोग से स्थितात्मा दृढ़प्रहारी मुनि छह महीनों में समस्त शुभ-अशुभ कर्मों का क्षय करके भगवद्वचन के अनुसार सर्वकर्मों के भार से मुक्त होकर ऊर्ध्वारोहण करके वे सिद्ध-बुद्ध होकर लोक के अग्र भाग में स्थित हो गया।[1]

बालमुनि अतिमुक्तक केवलज्ञानी हुए

नवदीक्षित बालमुनि अतिमुक्तककुमार ने स्थंडिल भूमि के मार्ग में एक जगह पानी की तलैया देखकर सचित्त पानी पर अपनी पात्री रखी, वह तैरने लगी। इस जीवविराधना (हिंसा) दोष से बचने के लिए इर्यापथिकी क्रिया-पाठ किया। इरियावही का पाठ बोलते समय 'पणग-दग.....' शब्द बोलते-बोलते उन्होंने अपना ध्यान बाहर से हटाकर अन्तरात्मा में डुबकी लगाई। पश्चात्ताप हुआ। इसी आत्म-जागृति के साथ हिंसा के पाप की तीव्र आलोचना करते-करते उनकी आत्मा क्षपक श्रेणी पर ऊर्ध्वारोहण कर गई, केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। यह हुआ पर-भाव में दृष्टि से हुए जीव-हिंसारूप पापकर्म से आत्म-भाव में दृष्टि से हिंसा-विरति से चेतना का ऊर्ध्वारोहण।[2]

जीव-हिंसा के इन सब पापों को त्यागने से ही पापकर्म से मुक्ति

इसी प्रकार देवी-देवों के नाम पशुबलि, यज्ञों में पशुओं को होमना, कुर्बानी, राज्यलिप्सा, राज्यवृद्धि आदि के लिए युद्ध, भ्रूणहत्या, आतंकवाद, हत्या, दंगा,

---

१. आवश्यकसूत्र टीका में अंकित दृढ़प्रहारी कथा

२. (क) देखें–अन्तकृद्दशासूत्र में अतिमुक्तककुमार की जीवनगाथा

(ख) 'पाप की सजा भारी' (मुनि श्री अरुणविजय जी) से सार संक्षेप, पृ. १५९

शिकार, आगजनी, बम-विस्फोट करना, कत्लखाना चलाना, माँस, मछली और अंडों का सेवन, सौन्दर्य-प्रसाधनों के पीछे हिंसा (रेशमी वस्त्र के लिए शहतूत कीट की हत्या, मोती के लिए हिंसा, हाथीदाँत के लिए हाथियों की हत्या, सीलप्राणी की हत्या, काराकुल जाति के भेड़ों की हत्या, ह्वेल मछली की हत्या, खरगोशों पर क्रूरता, कस्तूरी के लिए मृगहत्या), प्राणिज दवाइयों के लिए क्रूर-हिंसा आदि अनेक प्रकार से जो प्राणि-हिंसा की जाती है, उससे पापकर्मों का बन्ध होता है, इससे छुटकारा तभी हो सकता है, जब अन्तःकरण से प्राणि-हिंसा का त्याग करे। जैसे—कुमारपाल[1] राजा ने हेमचन्द्राचार्य के उपदेश से माँसाहार का सर्वथा त्याग कर दिया था, कुलदेवी कंटकारी के आगे होने वाली बकरों की बलि बंद करवा दी।

सुलसकुमार जीवहत्या के व्यवसाय से सर्वथा मुक्त रहा

इसी प्रकार पैतृक परम्परागत पशुहत्या (५०० पाड़ों की हत्या) करने वाले कालसौकरिक (कसाई) ने मगधेश श्रेणिकनृप ने भरसक प्रयत्न के बावजूद पशुहत्या नहीं छोड़ी, जबकि उसके पुत्र सुलस को इस कुल-परम्परागत जीवहत्या करने का बहुत अनुरोध करने पर भी उसने इस हत्या के व्यवसाय से अपने को सर्वथा मुक्त रखा। सुलसकुमार की आत्मा में दृष्टि थी, इसलिए वह इस हिंसक व्यापार से बिलकुल अलग रहा।[2]

श्रेणिक राजा को नरक-प्राप्ति क्यों ?

मगध नरेश राजा श्रेणिक जन्म से जैन नहीं थे। क्षत्रियकुलोत्पन्न होने से शिकार आदि करने का उन्हें शौक था। एक बार वे शिकार के लिए अंगरक्षकों सहित निकले। जंगल में एक हरिणी को देखते ही उस पर तीर छोड़ा। गर्भवती हरिणी के पेट को बींध दिया। हरिणी और उसका गर्भस्थ शिशु दोनों तड़फ-तड़फकर मर गए। इस शिकार पर उन्हें बहुत गर्व हुआ, उनके अंगरक्षकों ने भी उनकी प्रशंसा की। राजसभा में मगधेश के इस पराक्रम की गौरवगाथा गाई गई। अपनी स्तुति के शब्दों को सुनकर श्रेणिक के मन में पापकर्म के लिए पश्चात्ताप न होकर प्रशंसा, हिंसा की अनुमोदना आदि से पापकर्म कई गुना बढ़ गया। कर्मबन्ध गाढ़ गाढ़तर निकाचित हो गया। अतः उसके फलस्वरूप श्रेणिक राजा को पहली नरक में तो जाना ही पड़ा। यद्यपि बाद में चेलना रानी तथा अनाथी मुनि के सत्संग

---

१. देखें—कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य चरित्र

२. 'पाप की सजा भारी' से भाव ग्रहण, पृ. १७३-१७४

से उन्होंने जैनधर्म अंगीकार कर लिया, भगवान महावीर के अनन्य भक्त और क्षायिक सम्यक्त्वी बने।[1]

यदि पर-भाव में दृष्टि होने से पापकर्म हो जाने के बाद तुरंत या बाद में भी शीघ्र जागृति आ जाए, पश्चात्ताप की धारा बहने लगे तथा उस पापकर्म की प्रशंसा और अनुमोदना न की जाए तो उक्त पापकर्म से प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की तरह शीघ्र ही छुटकारा होकर उस स्थितात्मा की चेतना का ऊर्ध्वारोहण हो जाता है। वह मुक्त होकर लोकाग्र में स्थित हो जाता है।[2]

दूसरा मृषावाद नामक पापस्थान : क्या और कैसे-कैसे ?

दूसरा मृषावाद नामक पापस्थान है, इसका दूसरा नाम असत्य या झूठ है। मृषावाद भी दूसरे (पर-भाव) की ओर दृष्टि होने से होता है। किसी व्यक्ति को धोखा देने, ठगने, वंचना करने, मन में छलकपट करने या चोरी-लूटपाट करने का प्लान बनाने, वस्तु में मिलावट करने, झूठा लेख या दस्तावेज बनाने, झूठी साक्षी देने, आगमवचनों के मनःकल्पित झूठा अर्थ करने, अनेकान्त (सापेक्ष) दृष्टि से न बोलने, दूसरों का शास्त्र का झूठा अर्थ बताने या सिखाने के लिए मनुष्य मन से असत्य सोचता है, वचन से असत्य बोलता है और काया से असत्य आचरण करता है। कर्कश, कठोर, हास्यकारी, निश्चयकारी, छेदन-भेदनकारी, सावद्य (पापवर्द्धक या पापोत्तेजक) भाषा असत्य में गिनी गई है। अतः ऐसी सभी सावद्य भाषाओं का त्याग करना चाहिए, ताकि पापकर्मबन्ध न हो, जीव इसके कारण नरक में न जाए। मरीचि के भव में भगवान महावीर के जीव के पास कपिल नामक एक युवक आया। उसने उनसे धर्ममार्ग पूछा तो ऋषभदेव के पास जाने का उसे कहा। उसने पूछा–"क्या आपके पास धर्म नहीं है?" मरीचि ने शिष्य लोभवश कह डाला–"**कविला ! इत्थंपि इहमपि।**" अर्थात् कपिल ! धर्म वहाँ भी है, यहाँ भी है, ऐसा भी है और वैसा भी। इस प्रकार सत्य-असत्य मिश्रित (मिश्र) भाषा (अर्द्ध-सत्य) बोलने के कारण उस असत्य से पापकर्म (नीच गोत्र) का बन्ध कर लिया। उसका फल उन्हें कई जन्मों तक भोगना पड़ा।[3] इसलिए असत्या और सत्यानृता ये दोनों प्रकार की भाषाएँ पापवर्द्धक होने से त्याज्य हैं।

---

१. (क) देखें–ठाणांग वृत्ति में श्रेणिक वृत्तान्त

(ख) आवश्यक कथा में भी श्रेणिक का जीवनवृत्त अंकित है।

२. देखें–प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की कथा आवश्यक कथा में

३. (क) देखें–मरीचि की कथा, आवश्यकसूत्र, मलयगिरि टीका में

(ख) 'पाप की सजा भारी' से सार संक्षेप

असत्य मुख्यतया चार कारणों से बोला जाता है–क्रोधवश, लोभवश, भयवश और हास्यवश।[1] क्रोध, आवेश, रोष, ईर्ष्या और द्वेष, अहंकार आदि एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं। इसलिए अधिकांश लोग इनसे प्रेरित होकर असत्य बोलते हैं, मिथ्या दोषारोपण करते हैं, झूठा कंलक लगाते हैं, निन्दा-चुगली भी करते हैं। कई लोग व्यापार-धंधे, राज्य, सत्ता, धन आदि के लोभ में आकर झूठ बोलते हैं। बेईमानी, ठगी, भ्रष्टाचार, तस्करी, रिश्वतखोरी, चोरी आदि भी असत्य आचरण के अग्रदूत हैं। कई लोग पापकृत्य करते हुए या करके पकड़े जाने के डर से, अपने मालिक आदि के डर से, दण्ड पाने के भय से अथवा बच्चे बाप द्वारा पीटे जाने के डर से झूठ बोलते हैं। अधिकांश लोग बिना ही कारण हँसी-मजाक में झूठ का प्रयोग करते हैं। किसी ने एक सेठ को तार दिया–"आपका पुत्र मर गया है।" तार पढ़ते ही सेठ को बड़ा आघात लगा, तत्काल उसका हार्ट फेल हो गया। सेठ ने वहीं दम तोड़ दिया। उसके ठीक दो घंटे बाद तार आया–'फर्स्ट अप्रैल फूल' (पहली अप्रैल–मूर्ख बनाने की तारीख)। कितना भंयकर परिणाम आया–उक्त हँसी-मजाक में असत्य-सेवन का?[2]

असत्य के विभिन्न रूप और उनका फल दुर्गतिगमन

इसी प्रकार एकान्त कथन करना, सिद्धान्त या जिन-वचन से निरपेक्ष कथन करना, उत्सूत्र भाषण करना, सद्भाव-प्रतिषेध, अभूतोद्भावन, गर्हा-असत्य, भूत (अतीत में घटित का) निह्नव, (छिपाना), मिथ्या अर्थ बताना, अनुमान से असत्य कथन आदि सब असत्य के प्रकार हैं। **स्थूलमृषावाद के भी ५ कारण हैं–(१) कन्यालोक, (२) गवालोक, (३) भूम्यालोक, (४) न्यासापहार, (५) कूटसाक्षी,** अर्थात् कन्या, गो, भूमि आदि के लिए झूठ बोलना, किसी की धरोहर हड़पने के लिए झूठ बोलना, झूठी साक्षी देना आदि भी स्थूल झूठ के प्रकार हैं। किसी भी प्रकार का झूठ हो, वह दूसरों की (पर-भावों की) ओर देखने से होता है, योगशास्त्र के अनुसार–थोड़े से भी झूठ का कटुफल रौरव आदि नरकगमन है। मृषावाद के कारण जीव आगामी भवों में अनन्तकायिक निगोदों में, तिर्यंचों में तथा नरकावासों में उत्पन्न होता है। इसके सिवाय असत्य से पापकर्मोदय होने पर पागलपन, मूकता, बधिरता, बुद्धिहीनता, मूर्खता, कुष्ट व्याधि आदि दुष्फल प्राप्त होते हैं। असत्य-सेवन से परस्पर अविश्वास, वैर-विरोध, पश्चात्ताप तथा अपमान आदि अनेक अनिष्ट होते हैं।

---

१. (क) चउण्हं खलु भासाणं, परिसंखाय पन्नवं।
दुण्हं तु विणयं सिक्खे, दो न भासिज्ज सव्वसो॥ –*दशवैकालिक, अ. ७, गा. २*
(ख) सव्वं भंते मुसावायं पच्चक्खामि–से कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा। –*वही, अ. ४*

२. 'पाप की सजा भारी' (मुनि श्री अरुणविजय जी) से भाव ग्रहण, पृ. २८१

असत्य-सेवन का दुष्परिणाम : नरकगमन

'अज' शब्द का अर्थ–'नहीं उगने वाला धान्य' होता है, परन्तु नारद द्वारा इस प्रकार सच्चा अर्थ बताने पर पर्वत गुरु द्वारा 'अज' का अर्थ बकरा बताया और अपनी झूठी बात को सत्य सिद्ध करने के सहपाठी वसु राजा को साक्षी बनाया। वसु राजा ने भी जब अज का अर्थ बकरा होता है, इस प्रकार की झूठी साक्षी दी तो उसे इस सांस्कृतिक असत्य-प्रतिपादन के फलस्वरूप घोर नरक का मेहमान बनना पड़ा।[१]

असत्य-सेवन से विरत होने का सुफल

श्रीकान्त चोर था, किन्तु सत्य बोलने की प्रतिज्ञा लेने के कारण श्रेणिक राजा और अभयकुमार द्वारा पूछे जाने पर सच्ची-सच्ची बात बता देने से उसकी सजा माफ हो गई। इस प्रकार असत्य-सेवन नामक पापकर्म से अधोगति और असत्य-सेवन से विरत होने से भयंकर सजा से बचाव और उच्च पद-प्राप्ति का लाभ होता है।[२]

तृतीय पापस्थान : अदत्तादान क्या है ?

चौर्यकर्म अर्थात् अदत्तादान नामक पापस्थान भी सजीव-निर्जीव पर-वस्तुओं को देखने से होता है अर्थात् मन में उन वस्तुओं पर रागभावपूर्वक पाने का चिन्तन करने, लोभवश उस वस्तु की प्रशंसा करके दूसरों को ठगकर, धोखा देकर, वंचना करके, उक्त पर-वस्तु को लेने का उपक्रम करना और काया से अपने अधिकार से बाहर की वस्तु को अपने कब्जे में करना, अपहरण करना, छीनना, लूटना, चुराना, डकैती, जेबकटी करना आदि कायचेष्टाएँ उन-उन वस्तुओं या उन वस्तुओं के स्वामी या अधिकारी को देखने से ही होती हैं।

चौर्यकर्म के भयंकर परिणाम

चोरी एक भंयकर पापकर्म है, जिसकी सजा इहलोक में भी मृत्युदण्ड तक मिलती है और परलोक में तो इसकी सजा के रूप में यातनाओं का स्थान नरक, तिर्यञ्चगति अथवा दरिद्रतायुक्त दुःखदायक मनुष्यगति प्राप्त होती है, जहाँ उसे न तो कोई सद्बोध प्राप्त होता है और न ही सदाचार का मार्ग मिलता है, क्योंकि चौर्यकर्म के फंदे में फँसकर मनुष्य रात-दिन आर्त्त-रौद्रध्यान, चिन्ता, तनाव,

---

१. (क) असद्भिधानमनृतम्। —*तत्त्वार्थसूत्र, अ. ७, सू. ९*

(ख) अनन्तसंसारिओ होइ (उस्सुत्तपरूवओ)।

(ग) देखें–प्रश्नव्याकरणसूत्र, द्वितीय आस्रवद्वार में असत्य के विभिन्न प्रकार तथा उदाहरण

(घ) पाप नहीं कोई उत्सूत्र-भाषण जिस्यो। —*आनन्दघन चौबीसी*

२. 'श्रावक का सत्यव्रत' (आचार्य जवाहरलाल जी) से सार संक्षेप

आशंका, पकड़े जाने का तथा भयंकर सजा पाने के भय से ग्रस्त रहता है, उसे न तो सद्बोध पाने की कोई रुचि होती है और न ही सदाचार के मार्ग पर चलने की इच्छा होती है। 'प्रश्नव्याकरणसूत्र' में बताया गया है–चौर्यकर्म करने वाले का जीव हरदम मुट्ठी में रहता है। उसे सुख से खाने, पीने, सुख से सोने और रहने तक को भी प्रायः अवकाश नहीं रहता। उसे रात-दिन छिपकर रहने, चौकन्ने रहने, लड़ने-भिड़ने, दूसरे की हत्या करने तथा घायल करने, मर्मान्तक प्रहार करने आदि का अभ्यास करना पड़ता है।[1]

चोरी वही करता है, जिसकी आत्मा के प्रति वफादारी नहीं है

चोरी, चाहे छोटी हो या बड़ी, वही करता है, जिसे अपनी आत्मा के प्रति कोई वफादारी नहीं है, जो अपनी आत्मा की ओर कभी दृष्टिपात, चिन्तन-मनन, आत्म-हित का विचार नहीं करता; जिसे अपने परिवार, समाज और राष्ट्र के गौरव तथा कर्त्तव्य और दायित्व का भान नहीं होता अथवा विचार या अनुप्रेक्षण तक नहीं होता। चौर्यकर्म करने वाला समाज और राष्ट्र के हित, आत्म-हित एवं पारिवारिक हित के प्रति आँखें मूँद लेता है और एकमात्र धन, सुखोपभोग के साधन, बहूमूल्य वस्तु या सुन्दर नारी अथवा किसी के राज्य पर दृष्टि गड़ाये रहता है और मौका पाकर, योजनाबद्ध तरीके से, उक्त मनोज्ञ वस्तु को हथियाने और उसके स्वामी की नजर बचाकर या संघर्ष करके हथियाने का प्रयत्न करता है।

चोरी करने वाला अशान्ति फैलाता है

इस प्रकार वह किसी भी प्रकार की चोरी करके अपनी आत्मा को तो अशान्ति, दुर्गति और विपत्ति में डालने का प्रयत्न करता ही है, समाज और राष्ट्र में भी अशान्ति एवं अराजकता फैलाता है। जिसे अपनी आत्मा के प्रति तथा परिवार, समाज और राष्ट्र के प्रति वफादारी, जिम्मेदारी और कर्त्तव्य का भान होगा, वह कदापि किसी प्रकार का चौर्यकर्म नहीं करेगा, उसे भूख के मारे छटपटाते हुए प्राण त्यागना स्वीकार होगा, किन्तु चोरी करना मान्य नहीं होगा।[2]

सभ्यतापूर्ण चोरियाँ भी होती हैं

मानव ज्यों-ज्यों सभ्यता की ओर बढ़ रहा है, त्यों-त्यों विज्ञान ने एक से एक नयी चमत्कारिक एवं भोगोपभोग की, सुख-सुविधाओं की सामग्री प्रस्तुत की है और त्यों-त्यों ही मनुष्य की दृष्टि रागभाववश उन जीवों को येन-केन-प्रकारेण

---

१. (क) 'श्रावक का अस्तेय व्रत' (आचार्य श्री जवाहरलाल जी म.) से भावांश ग्रहण

(ख) देखें–प्रश्नव्याकरणसूत्र का तृतीय आस्रवद्वार

२. 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' (आचार्य देवेन्द्र मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. २८६

अपने अधिकार में लेने की योजना बनाता है। यह दृष्टि का ही दोष है कि वह आत्मा की ओर दृष्टि न करके दूसरों की मालिकी की वस्तु पर दृष्टिपात करता है, उसे हड़पने, अपने कब्जे में लेने या अपहरण करने का प्रयास करता है, यही अदत्त-आदान है। वैसे देखा जाए तो 'प्रश्नव्याकरणसूत्र' में अदत्तादान (चौर्यकर्म) के तीस नामों का उल्लेख किया गया है। चोरी का कार्य अपकीर्तिवर्द्धक अनार्यकर्म है, वह प्रियजनों को तथा अपने परिवार और समाज को कलंकित करने वाला और भेद डालने वाला है। मालिक की उपस्थिति या अनुपस्थिति में या उसकी असावधानी में गिरोह बनाकर या अकेले ही बना दिये जबरन किसी की वस्तु हथिया लेना अदत्तादान नामक पापस्थान है। आजकल सफेदपोश और सभ्य दिखने वाले व्यक्ति भी छल से, बल से, ठगी से, झूठे दस्तावेज लिखाकर, अंक बढ़ाकर, रिश्वत आदि लेकर सभ्य तरीकों से चौर्यकर्म करते हैं। ये सब एक या दूसरे प्रकार से आत्मा के प्रति द्रोह, वंचना या गैर-वफादारी सिद्ध करते हैं।[1]

अदत्तादान के मुख्य आठ प्रकार

अदत्तादान के मुख्यतया आठ प्रकार हैं-(१) देव-अदत्त, (२) गुरु-अदत्त, (३) शासनकर्त्ता-अदत्त, (४) गृहपति-अदत्त, (५) साधर्मि-अदत्त, (६) स्वामि-अदत्त, (७) जीव-अदत्त, और (८) तीर्थंकर-अदत्त।[2]

स्वामि-अदत्त आदि का भावार्थ-तात्पर्यार्थ

स्वामि-अदत्त से मतलब है, जिस वस्तु का जो स्वामी हो, मालिक हो, उसकी अनुमति या सहमति के बिना उस वस्तु का ले लेना या परिवार में यदि किसी वस्तु के लिये निषेध कर देने पर उस वस्तु को ले लेना अदत्तादान कहलाता है। साधर्मि-अदत्त से मतलब है वेष से, आचार से, विचार से तथा धर्म-सम्प्रदाय से जो एक ही धर्मसंघ का साधु, साध्वी या श्रावक-श्राविका है, उसके द्वारा निषिद्ध वस्तु का उसकी अनुमति-सहमति के बिना लेना, अपने कब्जे में ले लेना साधर्मि-अदत्त है। जीव-अदत्त का मतलब है-किसी जीव की इच्छा उसके दस प्राणों में से किसी प्राण का हरण कर लेने-देने की नहीं होती, परन्तु क्रूर लोग उस पशु-पक्षी आदि के प्राण हरण कर लेते हैं, जैसे-कस्तूरी के लिए कस्तूरीमृग की, हाथीदाँत के लिए हाथी की, रेशम के लिए शहतूत के कीड़ों की, चमड़े आदि के लिए विविध पंचेन्द्रिय पशुओं का वध उन-उन पशुओं की अनुमति-सहमति के बिना जबरन जाता है, उसके अंग काटे जाते हैं, ऐसा करना जीव-अदत्त है। तीर्थंकर-अदत्त का भावार्थ है-तीर्थंकर की आज्ञा का उल्लंघन करना, आज्ञा बाह्य प्रवृत्ति करके

---

१. 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' (आचार्य देवेन्द्र मुनि) से भाव ग्रहण

२. 'श्रमण-प्रतिक्रमण' से भाव ग्रहण

अहंकार करना, उसे धर्म का रूप देना आदि। शासनकर्त्ता-अदत्त का अर्थ है–राज्यविरुद्ध, राष्ट्रविरुद्ध कार्य करना, राष्ट्र के कानूनों, नियमों तथा मर्यादाओं को तोड़ना, शासनकर्त्ता का आदेश जिस राज्य में नहीं रहने का हो तो उस राज्य में रहना शासनकर्त्ता अदत्तादान है। शेष अदत्तादानों का अर्थ स्पष्ट है।

अभग्नसेन चोर को चौर्यकर्म की भयंकर सजा

'दुःखविपाकसूत्र' में अभग्नसेन चोर का करुण वृत्तान्त है। इन्द्रभूति गौतम स्वामी भिक्षाचरी के लिए नगर के राजमार्ग से होकर जा रहे थे। रास्ते में एक व्यक्ति को देखा, जो नीचा मुँह किये वधस्तम्भ के साथ बाँधा हुआ था। उसको चौर्यकर्म की सजा–मृत्युदण्ड देने से पहले उसके नाक-कान काट लिये थे। साथ ही उसकी आँखों के समक्ष उसके सभी रिश्तेदारों को क्रमशः खड़ा करके राजपुरुष चाबुकों से निर्दयतापूर्वक उन्हें मार रहे थे। फिर उस चोर के शरीर पर नुकीले भाले खोंसकर उसी के शरीर के माँस के छोटे-छोटे टुकड़ें निकालकर उसे ही खिला रहे थे। उसके शरीर से बहती हुई रक्त की धारा को एक बर्तन में भरकर उसी को पिला रहे थे। कितनी क्रूर और करुण सजा मिली थी अभग्नसेन चोर को। गणधर गौतम ने जब भगवान महावीर से उसको इतने क्रूर दण्ड मिलने का कारण पूछा तो उन्होंने कहा–पूर्व-जन्मों के भयंकर पापकर्मों के संस्कारों से इस जन्म में महाचोर के घर में जन्म पाकर वैसे ही पापकर्म करने लगा, उसके पूर्वकृत पापकर्मों का फल उसे मिल रहा है। इसे जन्म-जन्मान्तर से पापकर्मों में लिप्त रहने के कारण बोधि नहीं मिली, न ही इस जन्म में मिल पाई, भविष्य में भी कई जन्मों तक मिलनी कठिन है। इस कारण आत्म-देवता की ओर तो इसका ध्यान, दृष्टि व चिन्तन जाता ही कैसे? वह पूर्व-जन्मों में भी विविध भयंकर पापों में डूबा रहा, इस जन्म में भी डूबा है; क्योंकि इसका मुख व नेत्र सजीव-निर्जीव पर-पदार्थों की ओर ही रहे हैं।[१]

चौर्यकर्म से विरत होने वाले ऊर्ध्वारोही हुए

'जैन इतिहास में ऐसे भी चोरों का जीवन वृत्तान्त मिलता है, जिनका एक दिन पर-भावों की ओर मुख था, तो वे भयंकर चोरियाँ करते थे, पकड़ में भी नहीं आते थे, किन्तु जब उन्होंने स्वभाव (आत्म-भावों) की ओर मुख किया तो चौर्यकर्म को तिलांजलि देकर आत्मा के उत्थान में आध्यात्मिक विकास में लग गए।

रोहिणेय एक भयंकर चोर का बेटा था। उसके पिता लोहखुर ने अन्तिम समय में पुत्र को पास में बुलाकर कहा–"अपनी आजीविका अच्छी तरह चलाना है तो भगवान महावीर का उपदेश कभी मत सुनना।" रोहिणेय ने बाप को विश्वास दिलाया। एक दिन वह चोरी के लिए जा रहा था, रास्ते में उसके पैर में तीखा

---

१. देखें–दुःखविपाकसूत्र में अभग्नसेन चोर की कथा

काँटा गड़ गया। भगवान महावीर के समवसरण के पास उसने जो कानों में अँगुलियाँ डाल रखी थीं, उन्हें काँटा निकालने के लिये ज्यों ही निकालीं, त्यों ही उसके खुले कर्णकुहरों में भगवान महावीर की वाणी पड़ गई। देवों की पहचान के[1] विषय में ये बातें सुनीं। रोहिणेय पकड़ा जाने पर प्रमाण न मिलने पर दण्ड से बच जाता। अभयकुमार ने उसे पकड़ने के लिए कृत्रिम देवलोक के वातावरण का षड्यंत्र रचा। किन्तु उसे महावीर के देवों की पहचान के वे वचन याद आए और समझ गया कि यह मुझे पकड़ने का षड्यंत्र रचा गया है। अतः उसने अपना झूठा परिचय दिया, जिससे छूट गया। सोचा—जब भगवान के इतने से वचनों ने मुझे गिरफ्तार होने से बचाया है, तो अगर मैं उनकी पूरी देशना सुन लूँ, तो मेरे भव-भव के बन्धन कट सकते हैं, अतः वह वहाँ से छूटकर सीधा भगवान के समवसरण में पहुँचा। अनन्त उपकारी प्रभु महावीर का उपदेश सुनकर उसकी आत्मा जाग्रत हो गई। उसका ध्यान और चिन्तन, उसके मुख और नेत्र जो पहले पर-पदार्थों के प्रति अभिमुख थे, वे अब आत्मा की ओर अभिमुख हो गए। उसने अपने अन्तःकरण से अपने चौर्यकर्मों के प्रति पश्चात्तापपूर्वक भगवान के समक्ष आलोचना की, जाहिर में गर्हा की और चोरी का सारा माल महामंत्री अभयकुमार को सौंपकर पवित्र भावों से भगवान के चरणों में आर्हती दीक्षा अंगीकार कर ली। अपने पिछले पापकर्मों के क्षय के लिए कठोर तपश्चर्या तथा कठोर साधना की। साधुत्व का पालन करके वह देवलोक में गया। आगामी जन्मों में वह सर्वकर्म-निमुक्तिरूप मोक्ष को प्राप्त करेगा। यह है आत्मदृष्टि-सम्पन्न व्यक्ति का चौर्यकर्म से सर्वथा विरत होकर ऊर्ध्वारोहण का ज्वलन्त उदाहरण ![2]

दृढ़प्रहारी भी महाचोर ही था। किन्तु जब वह आत्मदृष्टि-सम्पन्न बना तो घोर तपश्चर्या एवं उपसर्गों को समभाव से सहकर सर्व पापकर्मों से ही नहीं, सर्वकर्मों से मुक्त होकर मोक्षगति में ऊर्ध्वारोहण कर गया।

और प्रभव चोर कौन था? वह भी जब पर-भावों पर दृष्टि गड़ाए हुए था, तब ४९९ चोर साथियों के साथ जम्बूकुमार के विवाह में ससुराल से प्रीतिदान के रूप में आए हुए धन को चुराने हेतु आया था। परन्तु जम्बूकुमार का अपनी आठ पत्नियों के साथ पर-भावों के प्रति या काम-कामनाओं के प्रति वैराग्यवर्द्धक वार्त्तालाप सुनकर उन्होंने पर-भावों से अपना मुख आत्म-भावों की ओर मोड़ लिया और प्रभव सहित ५०० ही चोरों ने चौर्यकर्म से सदा के लिए विरत होकर जम्बूकुमार के साथ भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली। फलतः प्रभव चोर से प्रभव

---

१. देवों की पहचान के लिए गाथा—

अनिमिस-नयणा मणकज्ज-साहणा पुप्फदाम-अमिलाणा।
चउरंगुलेण भूमिं न छुवंति सुरा जिणा बिंति॥

२. देखें—व्यवहारसूत्र वृत्ति में रोहिणेय चोर का वृत्तान्त

स्वामी बनकर अध्यात्मिक साधना करते-करते आचार्य पद पर पहुँच गए। आत्मदृष्टि-सम्पन्नता और आत्म-साधना के फलस्वरूप वे पापकर्मों से मुक्त होकर ऊर्ध्वारोहण कर गए।

चिलातीपुत्र भी चौर्यकर्म में प्रवृत्त हुआ था। उसने सुषमा नाम की श्रेष्ठीपुत्री का अपहरण किया। श्रेष्ठी, श्रेष्ठीपुत्रों और राजपुरुषों ने उसे पकड़ने के लिए उसका पीछा किया। जब भागते-भागते थक गया तो उसने सुषमा का सिर काटकर हाथ में ले लिया, बाकी का भाग वहीं गिराकर तलवार लिये आगे भागा। भागते-भागते सहसा उसके मन में एक विचार कौंधा–"यह भी कोई जीवन है–रात-दिन अशान्ति, भय, उद्वेग और चंचलता। मुझे अपनी आत्म-शान्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।" संयोगवश एक शान्त तपस्वी मुनि मिले। उनसे आत्म-शान्ति का उपाय पूछा। उन्होंने इसे अब आत्मदृष्टि-सम्पन्न देखकर कहा–"तीन सूत्रों पर चलो–उपशम, संवर और विवेक।" तीनों पदों पर गहन चिन्तन के फलस्वरूप उसने कायोत्सर्गस्थ होकर सभी कष्ट और उपसर्ग सहे और पापकर्मों से विरत होकर देवलोक में ऊर्ध्वारोहण किया। ऐसे अनेकों उदाहरण जैन, वैदिक, बौद्ध आदि धर्मों के शास्त्रों में मिलते हैं, जिसमें चौर्यकर्म से विरत होने पर उन्होंने आत्मदृष्टि-परायण होकर ऊर्ध्वारोहण किया।[1]

चतुर्थ अब्रह्मचर्य (मैथुन) पापस्थान : स्वरूप और उत्पत्ति

अब्रह्मचर्य पापस्थान : स्व-धर्म को छोड़कर पर-धर्म में रमण करने से

अब्रह्मचर्य पापस्थान भी पर-भावों की ओर (मोह, राग, द्वेष, आसक्ति, मूर्च्छा आदि विभावों के सहित) दृष्टि से उत्पन्न होता है। 'स्थानांगसूत्र' में सर्वप्रथम सूत्र है–"**एगे आया।**" (आत्मा एक है), यह कथन संख्या की दृष्टि से नहीं, स्वभाव = स्वरूप की दृष्टि से है। इसका फलितार्थ यह भी सम्भव है–स्व-भाव या स्व-धर्म की दृष्टि से आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है। इस विराट् विश्व में जितनी भी आत्माएँ हैं (चाहे वे चींटी की हों, हाथी की हों, मनुष्यों की हों या सिद्ध परमात्मा की हों), वे स्व-भाव = स्व-धर्म की दृष्टि से शुद्ध चेतनास्वरूप हैं, अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-शक्ति-सम्पन्न हैं और पूर्ण निर्मल (कर्ममलों से रहित) हैं। जो विभिन्नता या विचित्रता दिखाई दे रही है, वह उत्पन्न होती है–विभावों, पर-भावों

१. (क) देखें–दृढ़प्रहारी का वृत्तान्त आवश्यक कथा में

(ख) देखें–कल्पसूत्र सुबोधिका में प्रभव स्वामी का जीवन वृत्तान्त

(ग) देखें–ज्ञातासूत्र, अ. १८ में चिलातीपुत्र वृत्तान्त

आदि विकारों में, यानी पर-धर्म में रमण करने के कारण। आत्मा (जीव) में अब्रह्मचर्य नामक पापस्थान भी अब्रह्म = पर-धर्म अर्थात् विभावों–पर-भावों आदि विकारों में चर्या = रमण करने से उत्पन्न होता है। 'भगवद्गीता' भी इसी तथ्य की ओर इंगित करती है–"स्व-धर्म (आत्म-धर्म = आत्म-स्वभाव) में निधन (मरण) भी श्रेयस्कर है, किन्तु पर-धर्म (पर-भावों = विभावों) में रमण करना भयावह है, खतरे से खाली नहीं है। वह पापकर्मों का बन्धकारक होकर अधोगति–दुर्गति में ले जाने वाला है।"[1]

ब्रह्मचर्य आत्मा का स्वभाव है

जीव (आत्मा) अनन्तकाल से मोहकर्मवश अपने शुद्ध-स्वरूप को भूलकर पर-भावों या विभावों (राग, द्वेष, मोह, कषाय, नोकषाय आदि विकारों) में बार-बार जाता है, जो उसका निज स्व-भाव नहीं है, निज-गुण नहीं है, स्व-धर्म नहीं है, उसे वह अनादिकालिक कुसंस्कारवश स्व-भाव, स्व-धर्म, स्व-गुण मान बैठा है। अब्रह्मचर्य उसका स्व-भाव या स्व-धर्म नहीं है, किन्तु वह ब्रह्मचर्य = आत्म-भाव में विचरण = रमण करना भूलकर घोर प्रमादवश विभावों–भोग-वासनाओं, विकारों और पर-पदार्थों को रमणीय मान बैठता है, आत्मा को पापकर्म के बन्धन से ग्रस्त बनाता है और फिर ऊर्ध्वारोहण करने के बदले अधःपतन = अधोगति गमन करता है।

जैसे अग्नि का स्वभाव उष्ण और पानी का स्वभाव शीतल है, परन्तु अग्नि के स्पर्श से पानी के उष्ण हो जाने से यदि कोई पानी का स्वभाव उष्ण मान ले तो यह उसकी भ्रान्ति है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य आत्मा का स्वभाव है, किन्तु मोहादि विविध विकारों से लिप्त होने से अब्रह्मचर्य को आत्मा का स्वभाव या गुण मान ले तो यह उसका भ्रम है। आत्मा का स्वभाव विकाररहित है, विकार आत्मा का विभाव है, विकारों से आत्मा कर्मोपाधिक हो जाती है। जीव अब्रह्मचर्य पापस्थान में तभी जाता है, जब वह विभावों को स्व-भाव मानकर उन्हें अपनाता है। अर्थात् आत्मा जब स्व-स्वभाव से हटकर परभावों-विभावों में रमण करता है, तभी अब्रह्मचर्य नामक पापस्थान उसके जीवन में प्रविष्ट हो जाता है। उक्त पापकर्म के बन्ध के फलस्वरूप व्यक्ति भगवत्कथनानुसार अधोगतिगमन करता है।[2]

निर्ग्रन्थ मुनिवर अब्रह्मचर्य का त्याग क्यों करते हैं ?

निर्ग्रन्थ मुनिवर अब्रह्मचर्य का त्याग क्यों करते हैं? इसके उत्तर में 'दशवैकालिकसूत्र' में कहा गया है–चूँकि यह अब्रह्मचर्य, जो मैथुन-संसर्गरूप है,

---

१. (क) स्वधर्मे निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावहः। *–भगवद्गीता*
(ख) एगे आया। *–स्थानांगसूत्र १/१/१*

२. *'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' से भाव ग्रहण, पृ. ८२८–८२९*

वह अधर्म का, समस्त पापों का मूल है, बड़े-बड़े दोषों का उत्पत्ति-स्थान है, इसलिए निर्ग्रन्थ मुनिजन इसका त्याग करते हैं। संयमघातक दोषों का त्याग करने वाले मुनिजन दुनियाँ में रहते हुए भी महाभयंकर, प्रमादवर्द्धक, दुःखवर्द्धक अब्रह्मचर्य का आचरण नहीं करते।[१]

इसके अतिरिक्त शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, सामाजिक एवं राजनैतिक सभी दृष्टियों से अब्रह्मचर्य हानिकारक है। यही कारण है कि निर्ग्रन्थ श्रमण अब्रह्मचर्य का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव चारों प्रकार से दिव्य, मानुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी अब्रह्मचर्य का सर्वथा त्याग (प्रत्याख्यान) करते हैं। द्रव्य से सजीव-निर्जीव सभी रूपों के (आसक्तिपूर्वक प्रेक्षण) प्रेक्षण का तथा रूप के सहकारी रस, गन्ध और स्पर्श का भी (राग-द्वेष) आसक्ति का त्याग, क्षेत्र से–ऊर्ध्वलोक, अधोलोक या तिर्यक्लोक के सभी क्षेत्रों में, काल से–दिन या रात्रि में, भाव से माया–लोभरूप राग से तथा क्रोध–मानरूप द्वेष से भी मन-वचन-काया से, कृत-कारित-अनुमोदितरूप त्रिकरण से मैथुन (अब्रह्मचर्य) का वे त्याग करते हैं।[२]

ब्रह्मचर्य से सभी प्रकार से लाभ

ब्रह्मचर्य-पालन से शारीरिक लाभ बताते हुए 'योगशास्त्र' में कहा गया है–ब्रह्मचर्य के पालन से मनुष्य दीर्घायु, स्वस्थ, शुभ (सुदृढ़) संस्थान (शरीर के सौष्ठव) वाले तथा सुदृढ़ संहनन (मजबूत हड्डियों) वाले (सुडौल शरीर वाले), तेजस्वी (कान्तिमान), महापराक्रमी (शक्तिशाली, महावीर) होते हैं। इसके विपरीत अब्रह्मचर्यरत व्यक्ति अल्पायु, अनेक भयंकर रोगों से ग्रस्त, ढीले-ढाले या दुबले-पतले अथवा स्थूल शरीर वाले, कमजोर हड्डियों वाले, फीके चेहरे वाले, तेजोहीन, अशक्त एवं निर्वीर्य होते हैं। मानसिक दृष्टि से ब्रह्मचर्य-पालक मानसिक एकाग्रता, मनोबल एवं मजबूत मन वाले होते हैं, जबकि अब्रह्मचर्यरत व्यग्र,

---

१. मूलमेयमहम्मस्स महादोस-समुस्सयं।
तम्हा मेहुण–संसग्गं, निग्गंथा वज्जयंति णं॥१६॥
अबंभचरियं घोरं पमायं दुरहिट्ठियं।
नाऽयरंति मुणी लोए, भेयाययण वज्जिणो॥१५॥ *–दशवैकालिक अ. ६, गा. १६, १५*

२. (क) सव्वं भंते ! मेहुणं पच्चक्खामि, से दिव्वं वा माणुसं वा तिरिक्खजोणिअं वा। ..... से मेहुणे चउव्विहे पण्णत्ते, तं.–दव्वओ खित्तओ कालओ, भावओ। दव्वओ णं मेहूणे रूवेसु रूवसहगएसु वा। खित्तओ णं मेहूणे–उड्ढलोए वा अहोलोए वा, तिरिअलोए वा। कालओ णं मेहूणे–दिआ वा राओ वा। भावओ णं मेहूणे–रागेण वा दोसेण वा। *–पाक्षिकसूत्र*

(ख) पंचहिं कामगुणेहिं सद्देणं रूवेणं रसेणं गंधेणं फासेणं। *–श्रमणसूत्र (प्रतिक्रमण आवश्यक)*

उद्विग्न, क्रोधादि कषायों से उत्तप्त, कमजोर मन वाले होते हैं। बौद्धिक दृष्टि से ब्रह्मचर्यरत व्यक्ति प्रखर बुद्धि, तीव्र स्मृति, निर्णय-निरीक्षण-परीक्षण शक्ति के धनी होते हैं, जबकि अब्रह्मचारी की बुद्धि, स्मृति, निर्णय-शक्ति, बौद्धिकक्षमता प्रायः अत्यन्त मन्द होती है। सामाजिक दृष्टि से भी ब्रह्मचर्य-पालक के लिये हेमचन्द्राचार्य का कथन है–"चारित्रधर्म के प्राणभूत परब्रह्म-परमात्मपद की प्राप्ति के एकमात्र कारणभूत ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला[१] सुर, असुर, राजा आदि संसार में पूजित आत्माओं द्वारा भी पूजा जाता है। इसके विपरीत अब्रह्मचर्यरत कामुक पुरुष इहलोक में सरकार आदि द्वारा दण्डित होता है, परलोक में भी दुर्गति पाकर भयंकर यातनाएँ पाता है। आध्यात्मिक दृष्टि से भी अब्रह्म-सेवी की आत्मा कषाय-कलुषित, मोह-मूढ़ बन जाती है। ब्रह्मचारी को दुष्कर ब्रह्मचर्य-पालन के लिए देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर आदि भी नमस्कार करते हैं। अब्रह्मचारी के पास कोई देव नहीं फटकते। मंत्र-तंत्र सिद्धि नहीं होती। पाप ही पाप बढ़ता जाता है। ययाती, चण्डप्रद्योत, मणिरथ राजा आदि कई अब्रह्मचर्य में डूबे हुए लोग नरकगामी बने।[२]

ब्रह्मचर्य एक : लक्षण अनेक

अब्रह्मचर्य का स्थूल अर्थ मैथुन-सेवन करना, कामवासना-सेवन करना, वेदमोहनीयवश स्त्री-पुरुष-नपुंसक के परस्पर मैथुन-सेवन की इच्छा करना है। इससे आगे बढ़कर कुछ आचार्यों ने पाँचों इन्द्रियों के विषयों में रागादिवश प्रवृत्त होने को अब्रह्मचर्य माना है। जैसे कि 'पाक्षिकसूत्र' में मैथुन-विरमण व्रत के अतिक्रमण के सन्दर्भ में कहा है–(मधुरगीतादि के) शब्द, (स्त्री आदि के) मनोहररूप, (मीठे-मनोज्ञ) रस, (मनोज्ञ–मनभावन) सुगन्ध और (स्त्री आदि के कोमल अंगों आदि का, गुदगुदी शय्या आदि का) स्पर्श, इन पाँचों ही विषयों (२३ भेद सहित) में

---

१. (क) चिरायुषः सुसंस्थाना दृढ़-संहनना नराः।
तेजस्विनो महावीर्या भवेयुर्ब्रह्मचर्यतः॥
(ख) प्राणभूतं चारित्रस्य परब्रह्मैकधारणं।
समाचरन् ब्रह्मचर्यं पूजितैरपि पूज्यते॥ —*योगशास्त्र (आचार्य हेमचन्द्र)*

२. (क) देखें–अब्रह्मचर्य के महादोष–
कम्पः स्वेदः श्रमो मूर्च्छा, भ्रमिर्ग्लानिर्बलक्षयः।
राजयक्ष्मादिरोगाश्च भवेयुर्मैथुनोत्थिताः॥
षण्ढत्वमिन्द्रियच्छेदं वीक्ष्याब्रह्मफलं सुधीः॥ —*योगशास्त्र, प्र. २*
(ख) देव-दाणव-गंधव्वा जक्ख-रक्खस-किन्नरा।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करंति तं। —*उत्तरा.*
(ग) देखें–'जैनकथाकोष' (मुनि छत्रमल जी) में इनकी कथाएँ

कामभोगादिवासना (राग = आसक्ति) में मन-वचन-काया से प्रवृत्त होना ब्रह्मचर्य (मैथुन-विरमण-व्रत) का अतिक्रमण है = अब्रह्मचर्य है।[1]

मैथुन-सेवनरूप अब्रह्मचर्य के आठ अंग

एक आचार्य ने मैथुन के आठ अंगों में रमण करने को अब्रह्मचर्य बताते हुए कहा है–स्मरण (पूर्वभुक्तभोगों का या स्त्री आदि का), कीर्त्तन, केलि (स्त्री आदि के साथ क्रीड़ा), प्रेक्षण (स्त्री आदि के अंगोपांगों को टकटकी लगाकर विकारदृष्टि से देखना), गुह्य-भाषण (स्त्री आदि के साथ एकान्त में वार्त्तालाप या गुप्त संकेत), संकल्प (मन ही मन उक्त रमणी आदि को पाने का संकल्प करना या बार-बार उसके विषय में चिन्तन करना), अध्यवसाय (उक्त स्त्री आदि के साथ सहवास का दुर्भाव करना) तथा वासनापूर्ति (मैथुन-प्रवृत्ति) करना; मनीषिगण मैथुन के ये आठ अंग बताते हैं। ये सभी अंग पर-भावों की ओर देखने से तथा स्व-भाव की ओर उपेक्षा से उत्पन्न होते हैं।[2]

अब्रह्मचर्य का फलितार्थ

परन्तु कुछ आचार्य कहते हैं–अब्रह्मचर्य का अर्थ वीर्यरक्षण न करना, वीर्यपात करना है। इन सबसे ऊपर उठकर तीर्थंकरों ने तथा वैदिक मूर्धन्य मनीषियों ने ब्रह्मचर्य का अर्थ आत्मरमण किया है, इसके विपरीत अब्रह्मचर्य का अर्थ फलित होता है–आत्म-विमुखता, आत्म-बाह्य कुत्सित विचारों, विकारों, वासनाओं, इन्द्रिय-विषयों, वाचिक और कायिक विकारों में राग, मोह, आसक्तिपूर्वक प्रवृत्त होना। मतलब यह है कि ब्रह्मचर्य की जो नौ गुप्तियाँ बताई हैं,[3] उनका जान-बूझकर रागादिवश अकारण ही भंग करना अब्रह्मचर्य का आचरण है। 'सर्वार्थसिद्धि' के अनुसार–मोह का उदय होने पर रागपरिणाम से स्त्री-पुरुष में जो परस्पर संस्पर्श (सहवास) की इच्छा होती है, वह मिथुन है तथा तज्जनित चेष्टा या क्रिया मैथुन है।[4]

---

१. सद्दा रूव-रसा-गंधा-फासाणं पवियारणा।
मेहुणस्स विरमणे एस वुत्ते अइक्कमे॥ –*पाक्षिकसूत्र*

२. स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च।
एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः॥

३. ब्रह्मचर्य की ९ गुप्तियाँ–(१) विविक्त शय्यासन, (२) स्त्रीकथापरिहार, (३) निषद्यानुपवेशन, (४) स्त्री-अंगोपांग-अदर्शन, (५) कुड्यान्तर-शब्दश्रवणादिवर्जन, (६) पूर्वभोग-स्मरणवर्जन, (७) प्रणीतभोजनत्याग, (८) अतिमात्रभोजनत्याग, (९) विभूषा वर्जन।

४. सर्वार्थसिद्धि ७/१६

एक अब्रह्मचर्य के सेवन से अन्य अनेक पाप

अब्रह्म-सेवन में स्त्रीपुरुष-संस्पर्श के समय योनि यंत्र में समुत्पन्न जीवों की हिंसा तो है ही, किन्तु इसके कारण असत्य, चोरी (अपहरण), बलात्कार, निन्दा, पैशुन्य, मिथ्यात्व आदि अन्य पाप भी होते हैं। 'प्रश्नव्याकरणसूत्र' में कहा गया है– "एक ब्रह्मचर्यव्रत के भंग होने पर अन्य सभी व्रत भंग हो जाते हैं। जैसे–पर्वत से गिरने पर वस्तु के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं, वैसी ही स्थिति ब्रह्मचर्य-भंग के होने पर अन्य व्रतों की होती है।"[1]

अब्रह्मचर्य से विरत होकर आध्यात्मिक विकास में ऊर्ध्वारोहण

इसलिए आध्यात्मिक ऊर्ध्वारोहण के लिए, संवर और निर्जरा द्वारा सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष-प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य सुरक्षा अनिवार्य है।

भगवान अरिष्टनेमि ने अपने विवाह के निमित्त से बारातियों को दिये जाने वाले माँस भोजन के लिए होने वाली पशु-हिंसा को रोकने के लिए विवाह ही नहीं किया, वापस लौट आए। इस प्रकार अब्रह्मचर्य प्रवेशरूप विवाह में हिंसा आदि के निरोध के लिए अब्रह्मचर्य निरोधरूप संवर और ब्रह्मचर्यरूप निर्जरा से घातिकर्मक्षय करके नेमिनाथ ने आत्मा का ऊर्ध्वारोहण किया, सर्वकर्मविमुक्त हुए। पेथड़शाह दम्पति ने भरी जवानी में आजीवन ब्रह्मचर्य-पालन की प्रतिज्ञा ली थी। इसी तरह अब्रह्मचर्य से विरत होने के लिए ब्रह्मचर्य से पतन के अवसर आते ही तुरन्त सावधान होकर अपने आप को वहाँ से महात्मा गांधी जी जब पहले-पहल साधारण व्यक्ति के रूप में अफ्रीका (विदेश) गये थे, तो उनकी माता पुतलीबाई ने उन्हें जैन मुनि बेचर जी स्वामी से तीन नियमों में एक नियम पर-स्त्री-सेवन नहीं करने का भी दिलाया था। इस नियम की तीन बार कसौटी हुई और तीनों ही बार उन्होंने तुरन्त सावधान होकर अब्रह्मचर्य के पाप में गिरने से अपने को बचा लिया। सौराष्ट्र के नौजवान राजकुमार रा'दयास को एक दिन वायु-सेवन के लिए जाते समय पनघट से पानी का कलश लेकर आती हुई एक सर्वांग सुन्दरी तरुणी पर दृष्टि पड़ी, वे उस पर एक बार तो मोहित हो गए, परन्तु तत्काल सँभल गए और सीधे महल में आकर अपनी माता से कहा–"मेरी आँखों में मिर्च आँज दो, इन्होंने आज एक तरुणी को विकारी दृष्टि से देखा है।" माँ के मना करने पर उन्होंने स्वयं अपनी आँखों में मिर्च डाल ली। थोड़ी पीड़ा अवश्य हुई, परन्तु फिर सदा के

---

१. (क) प्रश्नव्याकरण २/४

(ख) योनियंत्र-समुत्पन्नाः सुसूक्ष्मा जन्तुराशयः।
पीड्यमानाविपद्यन्ते यत्र तन्मैथुनं त्यजेत्॥ —*योगशास्त्र, प्र. २*

लिए विकारी दृष्टि से देखना बंद हो गया। अपनी आँखों से जब व्यक्ति दूसरों को रागभाव से देखता है, तभी अब्रह्मचर्य का पाप उत्पन्न होता है।

विजय सेठ और विजया सेठानी में से एक ने अज्ञातरूप से कृष्ण पक्ष में और एक ने शुक्ल पक्ष में ब्रह्मचर्य-पालन की प्रतिज्ञा ले ली थी। विवाह के बाद रहस्य खुला तो दोनों आजीवन ब्रह्मचर्यपूर्वक रहे। अब्रह्मचर्य से आजीवन विरत होकर उन्होंने सुगति प्राप्त की, भविष्य में मोक्षगामी होंगे। वे ब्रह्म में यानी अपनी शुद्ध आत्मा को देखने में लगे, एक-दूसरे को विकारी दृष्टि से देखना बंद किया तभी ब्रह्मचर्यनिष्ठ हो सके।

स्थूलिभद्र मुनि जिस रूपकोशा गणिका के यहाँ बारह वर्ष तक रहकर अब्रह्मचर्यमग्न रहे। पूर्ण ब्रह्मचारी मुनि बनकर ब्रह्मचर्य-साधना में परिपक्व होकर वे गुरु-आज्ञा से उसी की रंगशाला में चातुर्मास करने आए। चारों ओर विषय-वासना-उत्तेजक मादक एवं मोहक वातावरण था, रूपकोशा ने भी उन्हें अब्रह्मचर्यगर्त्त में डालने और आकर्षित करने के लिए भरसक प्रयत्न किये, फिर भी स्थूलिभद्र ब्रह्मचर्य में अडोल और अविचल रहे। यह था अब्रह्मचर्य से विरत होकर ब्रह्मचर्य-साधना में परिपक्व होने से चेतना के ऊर्ध्वारोहण के ज्वलन्त उदाहरण ! साधक भी अब्रह्मचर्य नामक पापस्थान से विरत होकर अध्यात्म विकास में ऊर्ध्वारोहण कर सकता है।[1]

पंचम परिग्रह नामक पापस्थान : क्या और किस कारण से ?

परिग्रह नामक पापस्थान का चौर्यकर्म नामक पापस्थान से गहरा सम्बन्ध है। परिग्रहवृद्धि के लिए मनुष्य चोरी करता है, अपहरण, तस्करी, कालाबाजारी, भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, खाद्य वस्तु में मिलावट आदि करता है। इसलिए परिग्रह नामक पापकर्म भी पर-पदार्थों की ओर दृष्टि होने से तथा अपनी आत्मा की ओर से आँखें मूँद लेने पर ही होती है।

पर-पदार्थों पर मूर्च्छा आत्मदृष्टि से विमुखता

संसार में उपभोग्य पदार्थ सीमित हैं, जबकि मनुष्य की इच्छाएँ, आकांक्षाएँ और फिर आवश्यकताएँ आकाश की तरह असीम हैं—अनन्त हैं। मनुष्य जब विविध पर-पदार्थों की ओर दृष्टिपात करता है और अपने सजातीय मानवों को

---

१. (क) उत्तरा., अ. २२

(ख) देखें—गांधी जी की आत्मकथा : सत्य के प्रसंग

(ग) 'सौराष्ट्र की रसधार' (झवेरचंद मेघाणी) से भाव ग्रहण

(घ) उपदेश प्रासाद में देखें—विजय सेठ—विजया सेठानी का वृत्तान्त

उन पदार्थों को ग्रहण करते, सुरक्षित रखते और उनका उपभोग करते देखता है, तो वह अपनी आत्मा की ओर से दृष्टि हटाकर उनकी ओर दृष्टि गड़ाता है, उनको पाने और उपभोग करने की तथा उन पर ममता और आसक्तिपूर्वक रखने की ललक उठती है। इस प्रकार वह अहर्निश इसी उधेड़बुन में लगा रहता है। वह नहीं जानता या जानने पर भी अथवा पदार्थों पर मूर्च्छित होने का परिणाम जानते हुए भी वह पूर्वसंस्कारवश उन इन्द्रिय-विषयों, धन, साधन आदि निर्जीव पर-पदार्थों अथवा सजीव सुन्दर नारी, बालक, दास-दासी आदि पदार्थों को अपना बनाने या ममत्वपूर्वक ग्रहण करने का प्रयास करता है।

पर-भावों में आसक्तिपूर्वक झुकाव ही परिग्रह का कारण है

इसका एक कारण यह है कि आज का मानव भौतिक विकास को अपने जीवन का परम लक्ष्य मान रहा है। वह सम्पत्ति और सत्ता के लिए अपने अमूल्य जीवन को दाव पर लगा रहा है। अपनी भौतिक और भोगप्रधान आकांक्षा की पूर्ति के लिए अपने आध्यात्मिक सद्गुणों को तिलांजलि दे रहा है। यही कारण है पर-भावों की ओर अत्यधिक झुकाव के कारण परिग्रह आज पिशाच बनकर मनुष्य को विवधि प्रकार के नाच नचा रहा है, वह समाज में विषमता पैदा करता है।[1]

परिग्रहवृत्ति के कारण सभी पाप किये जाते हैं

'प्रश्नव्याकरणसूत्र' में कहा गया है कि परिग्रह के लिए लोग हिंसा करते हैं, झूठ बोलते हैं, ठगी और धोखेबाजी करते, विश्वासघात और अपमान, चोरी, तस्करी और डकैती करते हैं।[2]

परिग्रह के लिए अपने भाइयों का शत्रु बनकर कोणिक नृप ने महाशिला-कण्टक महायुद्ध छेड़ दिया। परिग्रह के कारण माता, पिता, भाई, बहन, पुत्र, पुत्री तक से भी सम्बन्ध कटु हो गए, यहाँ तक कि वे एक-दूसरे के प्राणों के ग्राहक बन गए। इसीलिए परिग्रह को पाप का मूल कहा गया है।

अतिपरिग्रही सुखशान्तिपूर्वक जीवन-यात्रा नहीं कर पाता

मनुष्य अपनी आत्मदृष्टि से विमुख होकर पर-पदार्थों पर ध्यान देता है, तब असंतोष और अशान्ति का विषचक्र उसके दिलदिमाग पर हावी हो जाता है। परिग्रह एक ऐसा जहरीला कीटाणु है, जो धर्मरूपी कल्पवृक्ष को तथा सद्गुणरूपी फलों को नष्ट कर देता है। वह किसी को शान्ति, संतोष और आनन्द के साथ जीवन-यात्रा नहीं करने देता।[3]

---

१. 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' से भावांश ग्रहण

२. प्रश्नव्याकरणसूत्र

३. 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' से भाव ग्रहण

परिग्रहवृत्ति जिस पर सवार हो जाती है, वह धनवृद्धि, भोगोपभोग साधनों की वृद्धि अथवा राज्यवृद्धि के लिए दूसरे पर आक्रमण करता है, येन-केन-प्रकारेण छीनाझपटी करके धन, राज्य या भोगसाधनों को अपने कब्जे में करता है। परिग्रही मानव अपनी तिजोरी में पड़े हुए धन को देख-देखकर संतुष्ट होता है, परन्तु उनका वह सदैव उपभोग कर सके, ऐसा बहुत ही कम सम्भव होता है।

तीव्र परिग्रह-पापस्थान से नरकगामिता अवश्यम्भावी

मम्मण सेठ के पास अपार सम्पत्ति थी। उसने सारी सम्पत्ति को हीरे, पन्ने, माणिक आदि रत्नों में बदलकर एक बैल को उनसे सुसज्जित किया। एक बैल को सुसज्जित देखकर उसे वैसा ही रत्नजटित बैल बनाने की हूक उठी और वह रात-दिन उसी चेष्टा में निमग्न रहने लगा। राजा श्रेणिक ने उसकी परिग्रहवृत्ति देखी तो उन्हें उसकी पर-पदार्थासक्ति और आत्मा के प्रति विमुखता देख-देखकर तरस आया। वह न तो अपने पुत्रादि को सुख से खाने-पीने देता था और न ही स्वयं सुख से खाता-पीता था। यह उसकी त्यागवृत्ति नहीं, कृपणता और धनासक्ति थी। इसी परिग्रहवृत्ति—पर-पदार्थासक्ति ने उसे अधोगति में पहुँचा दिया। इसीलिए महापरिग्रह को नरकायुबन्ध का कारण 'तत्त्वार्थसूत्र' में बताया गया है। चक्रवर्ती भी अगर गृहत्याग करके पूर्ण चारित्र अंगीकार न करे तो उसे नरक में जाना पड़ता है। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती भोगों और वैभव के प्रति तीव्र मूर्च्छा के कारण सातवीं नरक में गया।[1]

पर-पदार्थों के प्रति परिग्रहवृत्ति होने से दुर्गतिगामी बनना पड़ा

मगध देश के कुचिकर्ण नामक ग्राम-प्रमुख के पास एक लाख गायें थीं। वह अजीर्ण, अपच आदि रोग होने पर भी छककर गायों के दूध-घी का ही भोजन करता था। उसके हितैषियों के मना करने पर वह कहता—मेरी गायें हैं, मैं दूध-घी का भोजन करना नहीं छोड़ूँगा। फलतः उसके सारे शरीर में रसयुक्त अजीर्ण हो गया। अत्यन्त पीड़ा से ग्रस्त होने पर भी 'हाय ! मेरी गायों से मैं बिछुड़ जाऊँगा' इस प्रकार गाढ़ आसक्ति के कारण वह मरकर तिर्यञ्च पशु बना। अचलपुर के धान्य व्यापारी तिलक सेठ ने जब ज्योतिषी से यह सुना कि अगले वर्ष दुष्काल पड़ने वाला है, तो उसने धनार्जन करने के तीव्र लोभ के कारण सभी जनपदों से लाखों मन अनाज मँगवाकर अपने गोदाम भर लिये। फिर सोचने लगा कि "दुष्काल पड़ने से अनाज के भाव बढ़ेंगे तो मैं अपार सम्पत्ति कमा लूँगा।"

---

१. (क) 'उपदेशप्रसाद' से भाव ग्रहण

(ख) बह्वारम्भ-परिग्रहत्वं च नरकस्यायुषः। —*तत्त्वार्थसूत्र, अ. ६, सू. १६*

(ग) देखें—उत्तराध्ययन के चित्तसम्भूतीय अध्ययन १३ में

संयोगवश सारा पासा उलट गया। अगले वर्ष अच्छी वर्षा हुई। किसानों के खेतों में अन्न प्रचुर मात्रा में हुआ। तिलक सेठ के पास कोई अनाज खरीदने नहीं आया। दुर्भाग्य से वर्षा इतनी जोर की हुई कि सेठ के धान के सभी गोदामों में चारों तरफ पानी भर गया। सारा अनाज सड़ गया। लाखों रुपयों का नुकसान हो गया। इसी आर्त्तध्यानवश तीव्र अन्नासक्ति के कारण तिलक सेठ मरकर नरक में गया।

कहते हैं, सगर चक्रवर्ती के तीव्र कामभोगों में मूर्च्छा के कारण ६० हजार पुत्र हो गए, फिर भी तृप्ति न हुई। फलतः तीव्र मूर्च्छा के कारण परिग्रही सगर मरकर नरक में गया।

पाटलिपुत्र का तत्कालीन धनलोलुप राजा नन्द त्रिखण्डाधिपति बनना चाहता था। उसने अन्याय-अनीति से तथा प्रजा पर विविध प्रकार के कर लगाकर काफी धन बटोरा। चारों ओर से सोना इकट्ठा करके खजाना भर दिया। प्रजा पर लगाए हुए अनावश्यक कर से प्राप्त धन से सोने की पहाड़ियाँ निर्मित करवा दीं। सोने की मुहरों और रुपयों के सिक्कों का प्रचलन बंद करवाकर चमड़े के सिक्के चलाए। ऐसी स्थिति में तीव्र लोभी स्वर्णासक्त नन्द राजा के शरीर में आग की तरह तीव्र वेदना उत्पन्न हुई। शरीर में अनेक महारोग पैदा हो गए। एक ओर वह इन भयंकर रोगों के कारण दुःखी था, दूसरी ओर-हाय मेरे एकत्रित सोने का क्या होगा? इसी आर्त्तध्यान से पीड़ित था, यों हाय-हाय करते हुए आत्म-ध्यान से सर्वथा विमुख *होकर बेचारा नन्द राजा अधोगति में गया।*[१]

परिग्रह पापकर्मबन्धक और दुःख का कारण

इस प्रकार मनुष्य जिस-जिस सजीव-निर्जीव वस्तु को ग्रहण करके आसक्तिपूर्वक रखता है, एक भी वस्तु पर 'मैं और मेरी' की छाप लगाता है, वह वस्तु उसके लिए पापकर्मबन्ध की कारण बन जाती है, जिसका फल भविष्य में नाना प्रकार के दुःखों के रूप में भोगना पड़ता है। 'सूत्रकृतांगसूत्र' में इसी तथ्य को उजागर किया गया है-वस्तु सचित्त हो या अचित्त, बड़ी हो या छोटी, यदि थोड़ी-सी भी परिग्रहण की जाती है, दूसरे को परिग्रहण कराई जाती है अथवा परिग्रहण करके रखने वाले की अनुमोदना की जाती है, तो वह व्यक्ति दुःख से मुक्त नहीं हो पाता।[२] अर्थात् वह पापकर्म का बन्ध करके उसके फलस्वरूप दुःख पाता है।

---

१. तृप्तो न पुत्रैः सगरः कुचिकर्णो न गोधनैः।
न धान्यैस्तिलकश्रेष्ठी न नन्दः कनकोत्करैः॥
-'पाप की सजा भारी, भा. १' से उद्धृत, पृ. ५१३

२. चित्तमंतमचित्तं वा परिगिज्झ किसामवि।
अन्नं वा अणुजाणइ, एवं दुक्खाण मुच्चइ॥ *-सूत्रकृतांग, अ. १, उ. १*

साधुवर्ग के पास धर्मोपकरण होने पर भी परिग्रह नहीं

प्रश्न होता है–परिग्रह के सर्वथा त्यागी निर्ग्रन्थ मुनियों के पास भी रजोहरण, वस्त्र, पात्र, कम्बल या मोरपिच्छी, कमण्डलु, शरीर आदि तथा जिस मकान में रहता है, वह मकान (स्थानक या उपाश्रय), पट्टा, चौकी अथवा शिष्य-शिष्या, भक्त-भक्ता (श्रावक-श्राविका), शास्त्र, पुस्तक आदि पदार्थ रहते हैं या वे रखते हैं, तो क्या उन्हें भी परिग्रही माना जाएगा?

इसका समाधान तत्त्वार्थसूत्र एवं दशवैकालिक आदि आगमों में स्पष्टतः किया गया है कि वस्तु परिग्रह नहीं है, वस्तु सजीव हो या निर्जीव उसके प्रति मूर्च्छा, ममता, आसक्ति ही परिग्रह है। 'दशवैकालिकसूत्र' में कहा गया है–"श्रमण-निर्ग्रन्थ जो वस्त्र, पात्र या कम्बल, पादप्रोंछन आदि धर्मोपकरण रखते हैं, वे उन्हें संयम पालनार्थ अथवा लज्जानिवारणार्थ धारण करते हैं, पहनते हैं या रखते हैं, उन्हें ज्ञातपुत्र सर्वजीवत्राता भगवान महावीर ने परिग्रह नहीं कहा! उन महर्षि ने मूर्च्छा को परिग्रह कहा है; ऐसा आचार्यों ने कहा है।" यों तो 'भगवतीसूत्र' में शरीर, उपधि एवं कर्म (कर्मबन्धक कारणों) को (इनके प्रति ममता-मूर्च्छा हो तो) परिग्रह कहा गया है। किन्तु तत्वज्ञ मुनिवर सचित्त-अचित्त पदार्थों के प्रति ही नहीं, अपने शरीर के प्रति भी ममत्व नहीं रखते हैं।[१]

वस्तु को मूर्च्छा-ममतापूर्वक रखने या संग्रह करने की वांछा

सोना, चाँदी, सिक्के, नोट आदि घरों में, तिजोरी में पड़े रहते हैं, बाजार में, दुकानों में विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ सजी हुई रहती हैं, परन्तु उन वस्तुओं पर साधुवर्ग का तो क्या, गृहस्थ श्रावकवर्ग का भी परकीय वस्तु पर ममत्व नहीं होता, परन्तु जब उसमें से कोई भी वस्तु अपने कब्जे में करके या स्वयं ममत्वपूर्वक ग्रहण करके रखी जाती है या वस्तु उपस्थित न हो तो भी उसके प्रति रखने–संग्रह करने की वांछा की जाती है या शरीरादि, शिष्यादि या वस्त्रादि उपकरणों के प्रति ममत्व रखा जाता है, वहाँ वह परिग्रह हो जाती है।

---

१. (क) जं पि वत्थं वा पायं वा कंबलं पाय पुच्छणं।
तं पि संजमलज्जट्ठा धारंति परिहरंति य॥२०॥
न सो परिग्गहो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा।
मूच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा॥२१॥
सव्वत्थु वहिणा बुद्धा संरक्खण-परिग्गहे।
अवि अप्पणो वि देहे नायरंति ममाइयं॥२२॥ –*दशवैकालिक, अ. ६, गा. २०-२२*

(ख) मूर्च्छा परिग्रहः। –*तत्त्वार्थसूत्र, अ. ७, सू. १२*

(ग) कम्मपरिग्गहे, सरीरपरिग्गहे बाहिर भंडमुत्तपरिग्गहे। –*भगवतीसूत्र, अ. १८, सू. ७*

कहा भी है—"जिनकी बुद्धि मूर्च्छा से आच्छादित है, उनके लिए सारा जगत् परिग्रह है, किन्तु जिस साधक की बुद्धि मूर्च्छा से रहित है, उसके लिए सारा जगत् अपरिग्रह है। अहंकार और ममकार के मोहयुक्त मंत्र (जप) ने ही जगत् की बुद्धि को अन्धा बना दिया है।"[1] यही मंत्र नकारपूर्वक हो तो मोह विजयकारक बन सकता है।

सम्यग्दृष्टि श्रमणोपासक वस्तुएँ रखते हुए भी, अन्तर से निर्लिप्त

यही कारण है कि गृहस्थ श्रमणोपासक को आवश्यकतानुसार कई वस्तुएँ रखनी पड़ती हैं, किन्तु वह समय आने पर उन वस्तुओं का त्याग करते हुए परोपकारार्थ व्युत्सर्ग करते हुए भी या दान करते हुए भी नहीं हिचकता। सम्यग्दृष्टि श्रावक यह भलीभाँति समझता और मानता है कि ये बाह्य पुद्गल या शरीरादि भी तथा परिवार आदि भी मेरे नहीं हैं, मैं इनका नहीं हूँ। इन पुद्गलों या जीवों का मैं स्वामी नहीं हूँ, केवल अपनी जीवन-यात्रा के लिए इन्हें सहायक के रूप में स्वीकार किया है। इस दृष्टि से वह अपनी जमीन-जायदाद या माल-मिल्कियत का बाहर से संरक्षण, ग्रहण करता हुआ भी अन्तर से निर्लिप्त रहता है। जैसे—भरत चक्रवर्ती आदि के पास वैभव-सम्पत्ति या समृद्धि अपार थी, फिर भी वे उससे निर्लिप्त रहते थे।[2]

समय आने पर त्याग करते नहीं हिचके

आनन्द-कामदेवादि श्रमणोपासकों के पास जमीन-जायदाद, गोधन, खेती आदि पर्याप्त थी, परन्तु उन्होंने उनका तथा इच्छाओं का[3] परिमाण (मर्यादा) कर लिया था, उससे अधिक आवश्यकताएँ नहीं बढ़ाईं। पूणिया श्रावक तो अपनी अत्यल्प आवश्यकता रखकर संतोषपूर्वक जीवनयापन करता था। यद्यपि पेथड़शाह पहले अत्यन्त निर्धन था, परन्तु उसने अपने परिग्रह का परिमाण कर लिया था। वह मर्यादा से अधिक सम्पत्ति बढ़ने नहीं देता था। तुरन्त धर्म आदि कार्यों में दान या

---

१. (क) मूर्च्छाच्छन्नधियां सर्वं जगदेव परिग्रहः।
मूर्च्छया रहितानां तु जगदेवापरिग्रहः॥
(ख) अहं ममेति मंत्रोऽयं मोहस्थो जगदान्ध्यकृत्।
अयमेव हि नञ्पूर्वो प्रतिमंत्रोऽपि मोहजित्॥ —*ज्ञानसार*

२. (क) जे जे समदृष्टि जीवडा करे कुटुम्ब-प्रतिपाल।
अन्तर से न्यारा रहे, ज्यों धाय खिलावे बाल॥ —*बृहदालोयणा*
(ख) देखें—भरत चक्रवर्ती आदि की निर्लिप्तता का वृत्तान्त, त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित, पर्व १

३. इच्छापरिमाणं करेइ। —*उपासकदशांगसूत्र*

त्याग कर देता था। भामाशाह झगडूशाह, खेमाशाह सम्प्रति राजा आदि श्रावकों ने समय आने पर अपने देश के लिए व धर्मसंघ की सेवा के लिए अपनी सम्पत्ति, अन्न आदि पदार्थों का त्याग कर दिया था।[1]

श्रावक मुख्यतः बाह्य परिग्रह की मर्यादा करता है

श्रावक के लिए भगवान ने १५ प्रकार के अति हिंसादिकारक व्यवसायों (कर्मादानों–खरकर्मों) का सर्वथा त्याग करने का तथा ९ प्रकार के मुख्य बाह्य परिग्रहों की मर्यादा करने का विधान किया है। वे नौ प्रकार के बाह्य परिग्रह ये हैं– (१) क्षेत्र (खेत या खुली भूमि), (२) वास्तु (मकान, दुकान आदि), (३) हिरण्य (चाँदी के सिक्के, आभूषण आदि), (४) स्वर्ण (सोने के सिक्के, आभूषण आदि), (५) धन (हीरे-पन्ने, मोती, जवारहरात आदि), (६) धान्य (सभी प्रकार के अन्न आदि खाद्य पदार्थ), (७) द्विपद (दो पैर वाले मनुष्य, पक्षी आदि), (८) चतुष्पद (गाय, भैंस आदि चौपाये जानवर), और (९) कुप्य (यान, वाहन, वस्त्र, शयनादि की सामग्री तथा बर्तन आदि)। यों तो पदार्थ अगणित हैं, परिग्रह के भेद भी अगणित हो सकते हैं, परन्तु इन्हें ९ भेदों में परिगणित कर दिया है।[2]

बाह्य पदार्थ परिग्रहरूप कब ?

वास्तव में देखा जाए तो सजीव या निर्जीव बाह्य परिग्रहों से पापकर्म का बन्ध तभी होता है, जब व्यक्ति के अन्तःकरण में मन-वचन-काया से आभ्यन्तर परिग्रह का ग्रहण, संग्रहण, प्रग्रहण, परिग्रहण, आग्रहण, अतिग्रहण, दुर्गहण या दुराग्रहण हो। इसीलिए 'बृहत्कल्पसूत्र' में आभ्यन्तर परिग्रह १४ प्रकार का बताया गया है– (१) हास्य, (२) रति (सांसारिक पदार्थों में रुचि), (३) अरति (धर्मकार्यों–संवर-निर्जरात्मक कार्यों में अरुचि), (४) भय (डर, भीति, सप्तविधभय), (५) शोक (सजीव-निर्जीव परिगृहीत पदार्थ के वियोग या नुकसान से चिन्ता, शोक, विलाप, तनाव आदि), (६) जुगुप्सा (अनिष्ट पदार्थ के योग से घृणा, अरुचि, द्वेष), (७) क्रोध (रोष, कोप, गुस्सा, आवेश), (८) ध्यान (अहंकार, मद, दर्प, अभिमान), (९) माया (छलकपट, ठगी, कुटिलता, वंचना), (१०) लोभ (लालच, तृष्णा, लालसा, लिप्सा, गृद्धि, आसक्ति), (११) स्त्रीवेद (स्त्री को

---

१. (क) देखें—'पाप की सजा भारी, भा. १' में पेथड़शाह के द्वारा परिग्रह मर्यादा का वृत्तान्त
(ख) देखें–'जैन वीरों की गाथाएँ' में खेमाशाह आदि का वृत्तान्त

२. (क) खेत्तं वत्थु धणधन्न-संचओ मित्तवराइ-संजोगो।
जाण-सयणासणाणि य दासीदासं च कुव्वयं च॥ *–बृहत्कल्प भाष्य ८२६*

(ख) धण-धन्न-खित्त-वत्थु-कप्प-सुवन्नेअ कुविअ-परिमाणे।
दुपए चउप्पयम्मि पडिक्कम्मे देसिअं सव्वं॥ *–वंदितु प्रतिक्रमण (श्रावकाचारसूत्र)*

पुरुषेच्छा), (१२) पुरुषवेद (पुरुष को स्त्री की इच्छा), (१३) नपुंसकवेद (स्त्री-पुरुष दोनों की इच्छा), (१४) मिथ्यात्व (मोहवश तत्त्वार्थ पर श्रद्धा न होना, विपरीत श्रद्धा होना)।[1]

वास्तव में पर-पदार्थों या इन विभावों के प्रति जब मनुष्य तीव्र राग-मोह, ममत्व या मूर्च्छापूर्वक बार-बार दृष्टि दौड़ाता है, तभी वह परिग्रह नामक पापस्थान (पापकर्मबन्ध का कारण) होता है। अतः परिग्रह नामक पापस्थान से बचने के लिए आत्मा का चिन्तन-मनन, आत्म-भावों के प्रति अभिमुखता तथा आत्म-स्वरूप में रमणता का अभ्यास करना चाहिए। बाह्य परिग्रह का त्याग संतोष, वैराग्य, वस्तुस्वरूप के ज्ञान, तप, तितिक्षा, समभाव आदि के अभ्यास से सिद्ध होगा। तभी जीवन में अप्रमत्तता, आत्म-जागृति तथा परभाव-विरति आएगी और भगवत्कथनानुसार व्यक्ति की चेतना का ऊर्ध्वारोहण होगा।

इनसे आगे के पापस्थानों के विषय में हम अगले निबन्ध में प्रकाश डालेंगे। मूल वस्तु यही है कि पापस्थानों में प्रवृत्ति से जीव कर्मों से भारी होकर अधोगतियों में गिरता है और इनसे निवृत्ति से जीव कर्मों से रिक्त-हलका होकर या तो मोक्ष की ओर ऊर्ध्वगमन करता है या फिर मनुष्यगति या देवगति में जाता है, जहाँ उसे आत्मा के उत्थान के निमित्त मिलने की सम्भावनाएँ हैं और यह भी निश्चित है कि वह पापस्थानों में प्रवृत्ति भी तभी करता है, जब उसकी दृष्टि अधोमुखी होती है, अर्थात् विभावों से युक्त होकर पर-भावों की ओर देखता है, उन्हीं में रागादियुक्त होता है और उनसे विरति भी तभी कर पाता है, जब उसकी दृष्टि ऊर्ध्वमुखी होती है, पर-भावों-विभावों से हटकर स्वभाव-आत्म-भाव की ओर देखता है।

● ●

---

१. (क) कोहो माणो माया लोभो, पेज्जं तहेव दोसो य।
मिच्छत्त-वेद-अरइ-रइ हासो सोगो भय दुगुंछा॥ —*बृहत्कल्प भाष्य, गा. ८३१*

(ख) मिच्छत्त-वेद-राग हासादिभया होंति छद्दोसा।
चतारि तह कसाया, चोद्दसं अब्भिंतरा गंथा॥ —*प्रतिक्रमणत्रयी, पृ. १७५*

२३

अविरति से पतन, विरति से उत्थान-२

पिछले प्रकरण में हिंसा आदि पाँच पापस्थानों में प्रवृत्त होने से कैसे अधःपतन की ओर जाता है तथा इन्हीं पाँच पापस्थानों से विरत (निवृत्त) होने से कैसे ऊर्ध्वारोहण करता है? इसे हमने विभिन्न युक्तियों, आगमोक्तियों और प्रमाणों से सिद्ध किया है और यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि जीव जब राग-द्वेष, कषाय आदि विभावों से युक्त होकर पर-भावों की ओर देखता है, उनमें रमण करता है, उन्हीं में (सांसारिक) सुख मानता है, आसक्तिपूर्वक उनमें प्रवृत्त होता है, तब वह इन पापस्थानों में प्रवृत्त होकर नानाविध अशुभ कर्मों का बन्ध कर लेता है और जब वह राग-द्वेषादि विभावों से रहित होकर सम्यग्दृष्टिपूर्वक उनसे विरत होता है, आत्म-भावों में रत होता है, तब वह आत्मा कर्ममुक्ति की ओर प्रस्थान करता है, ऊर्ध्वारोहण करता है और स्व-भाव में रमण करता है, स्व-रूप में स्थित होने का पुरुषार्थ करता है। आगम में कहा गया है–"**जे पावे कम्मे कडे, कज्जइ, कज्जिस्सई से दुहे।**"–जो पापकर्म किया है, करता है या करेगा, वही दुःखरूप है। अतः पापकर्म से बचना प्रत्येक मुमुक्षु का कर्त्तव्य है।

इसी सन्दर्भ में अब हम आगे के अवशिष्ट तेरह पापस्थानों से अविरति और विरति के सम्बन्ध में चिन्तन प्रस्तुत करेंगे।

चार कषायरूप चार पापस्थान क्या, क्यों और कैसे ?

इस अनादि-अनन्त संसार में मूलभूत द्रव्य दो हैं–जीव और अजीव। जीव (आत्मा) ज्ञानादि गुणों से युक्त चेतन द्रव्य है, जबकि अजीव ज्ञान-दर्शनादि रहित वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शात्मक जड़ (अचेतन) द्रव्य है। इनमें एक-दूसरे का परस्पर कोई तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। जब आत्मा अपने ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि गुणों को छोड़कर अर्थात् इन गुणों को भूलकर, उपेक्षा कर या इन गुणों के प्रति बेखबर होकर बाह्य जड़ (पदार्थों) अथवा अपने से भिन्न सजीव प्राणियों के प्रति अधिक ध्यान देता है अथवा इष्ट-अनिष्ट पदार्थों का संयोग होने पर राग-द्वेष करता है, इष्ट पदार्थों का वियोग होने पर मन ही मन चिन्तित-व्यथित होता है, तभी या तो

क्रोध होता है या मान होता है अथवा माया आती है अथवा लोभ सवार होता है। स्पष्ट शब्दों में कहें तो जब अपने मन के, विचारों के या मान्यता के अथवा ममत्वपूर्वक माने हुए पदार्थ के प्रतिकूल होता है, अनुकूल नहीं होता, तब व्यक्ति में क्रोध, आवेश, द्वेष, रोष, वैर-विरोध आदि उत्पन्न होते हैं, आत्मा का चारित्र गुण दब जाता है, उसे उपेक्षित या विस्मृत कर दिया जाता है, ज्ञानगुण (ज्ञाता-द्रष्टा का गुण) भी पलायित हो जाता है। इसी प्रकार जब व्यक्ति अपने आत्म-स्वरूप या आत्म-भावों को भूलकर दूसरों को अपने से जाति, कुल, बल, रूप, तप, लाभ, ज्ञान (श्रुत), ऐश्वर्य, विद्या, बुद्धि, धन, भोगोपभोग के साधन आदि में हीन-न्यून देखता है, तब अहंकार का सर्प फुफकार उठाता है, मद के उन्माद में आकर दूसरों का तिरस्कार, अपमान और आशातना भी कर बैठता है। स्पष्ट है कि अहंकार की उत्पत्ति दूसरों (पर-पदार्थों) को देखने से होती है, इसी प्रकार हीनभावना की उत्पत्ति भी दूसरों को या दूसरों के ठाटबाट, सम्पत्ति, धन, ऐश्वर्य, तप, बल, श्रुतज्ञान, जाति, कुल, लाभ आदि को देखने से होती है। ये दोनों अहंकार (मान-कषाय) के ही दो पहलू हैं। मान-कषाय से जीव पापकर्मों से भारी होकर अधम गति को प्राप्त करता है। कहा भी है-"माणेण अहमा गई।"

माया-कषाय का भी यही हाल है। छल, कपट, वंचना, धोखा, कुटिलता, वक्रता, ठगी, झूठ-फरेब आदि सब माया के ही रूप हैं। ये भी दूसरों (पर-भावों) की ओर देखने से होते हैं। माया नामक पापस्थान के कारण जीव कर्मों से भारी होकर अधोगति गमन करता है। 'आचारांगसूत्र' के अनुसार-मायी और प्रमादी बार-बार माता के गर्भ में आता (जन्म-मरण करता) है। 'तत्त्वार्थसूत्र' के अनुसार-माया (कपट या कुटिलता) तिर्यञ्चायु-बन्ध का कारण है। 'स्थानांगसूत्र' में स्पष्ट कहा है-जीव चार प्रकार से तिर्यञ्चायु कर्म का बन्ध करते हैं-(१) छल-कपट से, (२) छल को छल द्वारा छिपाने से, (३) असत्य भाषण (झूठ-फरेब) से, और (४) झूठे तौल-माप से। धर्माचरण आदि में भी वक्रता एवं माया रखने से स्त्रीपर्याय को प्राप्त होता है। इसीलिए भगवान महावीर ने कहा-"मेधावी साधक अणुमात्र भी माया न करे।" माया के कटु परिणामों की ओर निर्देश करते हुए 'सूत्रकृतांग' में कहा गया है-"जो यहाँ मायापूर्वक आचरण करता है, वह अनन्त बार जन्म-मरण करता है।" माया के बन्धन में व्यक्ति तभी ग्रस्त होता है, जब वह आत्मवान् नहीं होता, आत्मदृष्टि से विमुख होकर पर-भावों या रागादि विभावों की ओर दृष्टिपात करता है या रममाण होता है।[१]

---

१. (क) माई पमाई पुणरेइ गब्भं। —*आचारांग, श्रु. १, अ. ३, उ. १*

(ख) माया तैर्यग्योनस्य। —*तत्त्वार्थ, अ. ६, सू. १७*

इसके पश्चात् लोभ-कषाय का नंबर है। वह पापस्थान भी पर-भावों को रागादि विभावों की दृष्टि से देखने-सुनने या सोचने-समझने से होता है। लाभ अकेले में नहीं होता। वह भी अपने सिवाय इतर को देखने या सम्बन्ध जोड़ने पर ही होता है। वैसे लोभ सब पापों का मूल है, सर्वनाश को न्यौता देने वाला है। इसीलिए 'दशवैकालिकसूत्र' में कहा है–क्रोध प्रीति का, मान विनय का, माया मित्रता का और लोभ सर्वगुणों का नाशक है। आत्म-हितैषी साधक को इन चारों कषायों का वमन (त्याग) कर देना चाहिए, क्योंकि ये[1] पुनः-पुनः जन्म-मरण की जड़ों को सींचने वाले हैं। ये चारों पापवर्द्धक हैं।[2]

राग-द्वेष आदि सब पर-भावोपजीवी विभाव हैं

राग, द्वेष, मोह आदि भी पर-भावोपजीवी विभाव हैं, आत्मा के स्वभाव नहीं। जब मनुष्य अपनी शुद्ध आत्मा का चिन्तन या आत्महित-प्रेक्षण छोड़कर अपने शरीर, अंगोपांगों, इन्द्रियों, विषयभोगों, वासना, कामना एवं तथाकथित सुख-साधनों का ही चिन्तन-मनन करता है, आत्म-चिन्तन से विमुख होने लगता है तभी राग, द्वेष, मोह आदि विभाव अपना पंजा फैलाते हैं। वे आत्मा को पापकर्मों के जाल में फँसा देते हैं। जो आत्म-द्रष्टा नहीं है, वह रागादि विभावों को अपने मानकर इनके जाल में फँस जाता है।

आत्म-द्रष्टा क्रोधादि अनिष्ट परिणामों से बचता है

आत्म-द्रष्टा जानता है कि क्रोधादि का एक-दूसरे से इतना निकट सम्बन्ध है कि एक के होने पर दूसरा आ ही जाता है। 'आचारांगसूत्र' में बताया गया है कि जो क्रोधदर्शी (क्रोध से होने वाले अहित का द्रष्टा) होता है, वह क्रमशः मानदर्शी, मायादर्शी, लोभदर्शी, रागदर्शी, द्वेषदर्शी व मोहदर्शी होता है और जो इनका द्रष्टा

पिछले पृष्ठ का शेष–

(ग) चउहिं ठाणेहिं जीवा तिरिक्खजोणियत्ताए कम्मं पगरेंति, तं.–माइल्लताते, णियडिल्लताते, अलियवयणेणं, कूडतुल्ल-कडमाणेणं।

–स्थानांग, स्था. ४, उ. ४, सू. ३७३

(घ) अणुमायं पि मेहावी मायं न समायरे। *–उत्तरा.*

(ङ) जे इह मायाइ मिज्जंति, आगंता गब्भायऽणंतसो। *–सूत्रकृतांग, अ. २, उ. १, गा. ९*

१. देखिये–चारों कषायों से आत्म-रक्षा के लिए 'अकषाय-संवर : एक सम्प्रेरक चिन्तन'

२. कोहो पीइं पणासेइ माणो विणय-णासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो॥३८॥
कोहं माणं च मायं च लोभं च पाव-वड्ढणं।
वमे चत्तारि दोसेउ, इच्छंतो हियमप्पणो॥३७॥ *–दशवैकालिक, अ. ८, गा. ३८, ३७*

होता है, वह गर्भदर्शी और जन्म (मरण) दर्शी होता है। अर्थात् जो आत्म-द्रष्टा या ज्ञाता-द्रष्टा होता है, वह क्रोध से लेकर राग, द्वेष, मोह तक से होने वाले अनिष्टों का यथार्थ द्रष्टा होता है और इनके फलस्वरूप गर्भ में पुनः-पुनः आगमन और दुर्गतियों में जन्म-मरण को जान-देख सकता है और इस प्रकार का आत्म-द्रष्टा मेधावी दीर्घदर्शी पुरुष क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह आदि पापस्थानों से निवृत्त होकर गर्भ, जन्म-मरण एवं नरक-तिर्यञ्च आदि दुर्गतियों में होने वाले पापकर्मजनित दुःखों से बच जाता है।[1]

कलह भी दूसरों की ओर देखने से होता है

कलह, झगड़ा, तू-तू मैं-मैं, युद्ध, विवाद, वाक्कलह, कटु व्यवहार, ईर्ष्या आदि भी दो में होते हैं, अकेले में नहीं होते। तात्पर्य यह है कि जब व्यक्ति अपने आप (आत्मा) को न देखकर दूसरों को देखता है और रागादिवश दूसरों के कार्यों, व्यवहारों, वचनों, मतों, मान्यताओं आदि को बर्दाश्त नहीं कर पाता है या अनेकान्त या सापेक्ष दृष्टि से समन्वय नहीं कर पाता, तभी कलह का जन्म होता है। कलह अशान्ति का मूल है। कषायों का ईंधन पड़ने से कलहाग्नि अधिकाधिक उत्तेजित–प्रज्वलित होती है, जिसके कारण वैर-विरोध, प्रतिशोध, ईर्ष्या आदि भड़क उठते हैं। कलह के विषय में 'धवला' में कहा गया है–क्रोधादि के वश तलवार, लाठी या असभ्य वचन आदि के द्वारा दूसरों के मन में सन्ताप उत्पन्न करना ही कलह है।[2]

कलह सभी कषायों आदि पापों का सामूहिक रूप है

एक विचारक ने कहा है–"जिस प्रकार तपी हुई रेती स्वयं को भी जलाती है और पृथ्वी को भी तपाती है, उसी प्रकार कलह अपने आप को (आत्मा को, शरीरादि को) तपाता है और दूसरों को भी तपाता (गर्म कर देता) है। इसलिए कलह स्व-पर दोनों के लिए दुःखकारक है।"[3] कलह सभी कषायों और पापों का

---

१. (क) जे कोहदंसी से माणदंसी ...... मायादंसी ...... लोभदंसी ...... पेज्जदंसी ...... दोसदंसी ...... मोहदंसी ...... गब्भदंसी ...... जम्मदंसी ...... मारदंसी ...... नरयदंसी ...... तिरियदंसी ...... से दुक्खदंसी।

(ख) से मेहावी अभिनिवट्टिज्जा कोहं च माणं च मायं च लोभं च पेज्जं च दोसं च मोहं च गब्भं च जम्मं च मारं च नरयं च तिरियं च दुक्खं च।

–आचारांगसूत्र, श्रु. १, अ. ३, उ. ४

२. क्रोधादिवशादसि-दण्डासभ्यवचनादिभिः परसन्ताप-जननं कलहः। *–धवला १२/४/२८५*

३. आत्मानं तापयेन्नित्यं, तापयेच्च परानपि।
उभयोर्दुःखकृत् क्लेशो, यथोष्णरेणुका क्षितौ॥

मिश्रित रूप है। क्रोधादि तथा रागादि पापस्थान तो अपने-अपने स्थान पर अकेले और स्वतंत्र हैं, लेकिन कलह इन सभी का एक सामूहिक रूप है। बिना कषायों आदि के कलह सम्भव ही नहीं है। कलह में ये सभी कषाय एक या दूसरे रूप में न्यूनाधिक रूप से निमित्त बनते हैं। यद्यपि कलह में क्रोध और मान (अहंकार) की प्रबलता होती है।

कलह से घोर पापकर्मों का बन्ध और उसका कटुफल

कलह से ज्ञानावरणीय, मोहनीय, असातावेदनीय, नीच गोत्र आदि पापकर्मों का बन्ध शीघ्र ही हो जाता है। एक परिवार के बच्चे स्कूल में शरारत करने पर शिक्षकों द्वारा पीटे गए। वे रोते-रोते घर आए तो उनकी माता ने बच्चों पर मोहवश शिक्षकों पर कुपित होकर उन्हें भला-बुरा कहा। बच्चों को स्कूल में मारा, इसलिए उन्हें स्कूल भेजना भी बन्द कर दिया। उनकी पुस्तकें आदि आग में डालकर जला दीं। शाम को पति ने आकर पूछा तो पत्नी ने बच्चों को स्कूल न भेजने की रट लगाई। पति ने कहा–"ऐसे तो ये बच्चे मूर्ख रहेंगे, इनकी शादी रुक जाएगी, ये व्यापारादि कैसे करेंगे?" इस पर वह और तन गई, अपने आग्रह पर डटी रही। जब उन लड़कों को कोई भी अपनी कन्या देने को तैयार न हुआ तो पति ने कलहकारिणी पत्नी से कहा–"तेरे पाप के कारण ये पढ़ न सके, इस कारण ही ऐसा हुआ।" पत्नी कौन-सी कम थी। उसने भी सुनाया–"पाप तेरा है, तुमने पढ़ाया नहीं। पापी मैं नहीं तू है, तेरा बाप है।" पति को भी उस मुँहफट पर बहुत गुस्सा आया। उसने भी एक पत्थर उठाकर पत्नी के सिर पर दे मारा। सिर फूट गया और रक्त बहने के कारण वहीं उसकी मृत्यु हो गई। इस प्रकार कलह से एक ओर ज्ञान की आशातना, दूसरी ओर क्रोध, गाली-गलौज, दोषारोपण के कारण पापकर्म बाँधकर पति-पत्नी दोनों मरकर वरदत्त और गुणमंजरी के रूप में मूक और वधिर बने।

कलह दूसरों के साथ रागादियुक्त सम्बन्ध जोड़ने से होता है

कलह प्रायः सम्बन्धों में–रिश्तेदारों में होता है, अकेले में–अपने में नहीं होता। कलह में प्रायः असभ्य, अविवेक, दोषारोपण, गाली आदि की गंदी भाषा का ही उपयोग होता है। विनय, विवेक, मर्यादा, लज्जा आदि सबको ताक में रख दिया जाता है। भाषा में व्यंग, कटाक्ष, दोषारोपण, आवेश, अहंकार आदि होते हैं तो तुरंत टकराहट, संघर्ष और कलह शुरू हो जाता है। कभी-कभी मामूली कलह युद्ध का रूप ले लेता है। वह कभी भाषा के नाम पर, कभी जाति, कौम, धर्म, सम्प्रदाय और कभी प्रान्त या राष्ट्र के नाम पर संग्राम छिड़ जाता है। गुजराती में कहावत

है–"जर (धन या जेवर, जवाहरात) जमीन ने जोरू, ए त्रणे कजिया ना छोरू।" कभी-कभी भाई-भाई में, भाई-बहनों में, पिता-पुत्र में आए दिन प्रायः इन्हीं निमित्तों को लेकर घोर कर्मबन्धक, वैर-परम्परावर्द्धक कलह ठन जाता है। परन्तु जहाँ कलह होता है, वहाँ लक्ष्मी निवास नहीं करती।[1] कलह के कारण आर्त्त-रौद्रध्यानवश शुभ लेश्या, शुभ चिन्तन, शान्ति और सन्तोष से युक्त जीवन नहीं रहता। परलोक में तीव्र कलह नामक पापकर्म के कारण व्यक्ति को दुर्गतियों में भयंकर दुःख भोगने पड़ते हैं। कई स्त्रियाँ और कई पुरुषों को एक-दूसरे को भिड़ाकर पारस्परिक कलह करा देते हैं, इससे उनमें वैर-परम्परा बढ़ती है। कलहकारी का सन्तोष धन नष्ट हो जाता है। वह सदा चिन्ता, सन्ताप, आर्त्त-रौद्रध्यान की अशुभ विचारधारा में बहता रहता है।

कलह से बचने के लिए सुन्दर सुझाव

कलह स्व की छोड़कर पर की ओर देखने से होता है। इसलिए कलह से बचने के लिए व्यक्ति को दूसरे के अवगुण, दोष, छिद्र की ओर नहीं देखना चाहिए। कलह का प्रसंग उपस्थित होते ही या तो मौन कर लेना चाहिए या फिर समताभाव, शान्ति और धैर्य रखना चाहिए। प्रतिदिन क्षमा पना और मैत्रीभाव का अभ्यास करना चाहिए। बोलते समय छोटे-बड़े की मर्यादा, विनय, विवेक, वाक्-संयम आदि का ध्यान रखना चाहिए। गम्भीरता और सहन-शक्ति बढ़ानी चाहिए। मन को समझाना चाहिये कि यदि किसी ने तुझे गधा या बंदर कह दिया तो क्या तू उसके कहने से गधा या बंदर बन गया? इस प्रकार प्रत्येक बात में दूसरे के कथन की ओर न देखकर अपनी आत्मा की ओर देखने से सहनशीलता, समता और धैर्य बढ़ेंगे; निरर्थक बोलना कम हो जाएगा, यही कलह-शान्ति का, कलह से होने वाले अशुभ कर्म (आस्रव) के विरोध का राजमार्ग है। दूसरों के प्रति सद्भाव रखने और उन्हें आत्म-भाव से देखने से भी कलह नहीं होता।[2]

अभ्याख्यान भी पर-दोषदर्शन से होता है

'अभ्याख्यान' नामक तेरहवाँ पापस्थान भी पर-दोषदर्शन से होता है। जब आत्मा (जीव) अपना दोष न देखकर पर-दोषों को देखने लगता है, तब स्वाभाविक ही वह राग-द्वेष या कषाय से लिप्त हो जाता है। जैसे–पीलिया रोग से ग्रस्त रोगी की आँखें, उसके दोष के कारण विपरीत ही देखती हैं, तदनुसार उसकी जिह्वा भी सहसा पर-दोषारोपण नामक अभ्याख्यान करती है, वहाँ किसका रोग है? आँख

---

१. 'पाप की सजा भारी, भा. २' से भाव ग्रहण, पृ. ८२४-८३६

२. वही, पृ. ८६८-८६९

का या जीभ का? वास्तव में, अभ्याख्यान में देखी हुई बात से विपरीत या भिन्न बातें जीभ से होती हैं। अभ्याख्यान का लक्षण 'धवला' में इस प्रकार किया गया है-क्रोध, मान, माया और लोभ (स्वार्थादि) के कारण दूसरों में अविद्यमान दोषों को प्रगट करना अभ्याख्यान है।[1]

महासती सीता पर लगे अभ्याख्यान से कितनी हानि ?

धोबी और धोबन के परस्पर कलह के प्रसंग पर धोबी के द्वारा सीता पर लगाये हुए दोषारोपणरूप अभ्याख्यान के कारण से प्रेरित रामचन्द्र जी ने भी सीता को राजमहल से निकालकर वनवास दिया। एक पवित्र सन्नारी महासती सीता पर हुए अभ्याख्यान के कारण उसे कितना सहना पड़ा। ईर्ष्या, द्वेष, पूर्वाग्रह, तेजोद्वेष आदि कारणों से व्यक्ति अभ्याख्यान नामक पापस्थान का सेवन करते हैं। जो किसी का उत्कर्ष, उन्नति, तरक्की नहीं देख सकते, वे लोग ही अभ्याख्यान नामक घोर पापकर्म का आश्रय लेते हैं। अभ्याख्यानी का लक्ष्य ही यह रहता है कि दूसरों को कैसे नीचा दिखाऊँ? बदनाम करूँ? उनके चारित्र पर कलंक लगाऊँ?[2]

अभ्याख्यान पाप से बचने के लिए सुझाव

अभ्याख्यान नामक पाप से बचने के लिए व्यक्ति को सुनी-सुनाई या एकपक्षीय बातों पर से सहसा निर्णय नहीं करना चाहिए। कभी-कभी आँखों से देखी हुई बात भी सत्य नहीं होती। आँखें भी धोखा दे जाती हैं। आँखों से देखने में भी भ्रम हो सकता है, इसलिए धैर्य, तर्क, युक्ति तथा प्रमाणों से निर्णय करने से मनुष्य अभ्याख्यान पाप से बच सकता है। नीतिकार कहते हैं-

"काने सुनी न मानिये, नजरे दीठी सो सच्च।
नजरे दीठी न मानिये, निर्णय करी सो सच्च॥"

भावार्थ स्पष्ट है। अतः अभ्याख्यान भी आत्म-दर्शन को छोड़कर पर-दर्शन से होता है। वह भी घोर पापकर्मबन्ध का कारण है।

अभ्याख्यान के पाप से बचने का सुपरिणाम

बंकचूल की बहन पुष्पचूला एक बार रात्रि में पुरुषवेश पहन नाटक देखने गई थी। वहाँ से आकर थकी-थकाई वह पुरुषवेश में ही अपनी भाभी के साथ सो गई। अपनी पत्नी के साथ एक जवान पुरुष को सोये देखकर बंकचूल चौंका और अपनी पत्नी तथा उक्त पुरुषवेशी को मारने के लिए तलवार निकाली। परन्तु सहसा

---

१. क्रोध-मान-माया-लोभादिभिः परेस्वविद्यमान-दोषोद्भावनमभ्याख्यानम्। -*धवला १२/४/२८५*

२. 'पाप की सजा भारी, भा. २' से भावांश ग्रहण, पृ. ८७९

उसे आचार्य के द्वारा दिया हुआ प्रतिज्ञावचन याद आया कि किसी भी कार्य को सात कदम पीछे हटकर कुछ सोचे बिना सहसा न करना। बस, इसी से वह पीछे हटा, तलवार की दीवार से टकराने की आवाज से पुष्पचूला जाग गई और उसके मुँह से निकला–पधारो भैया ! इस नियम के कारण आँखों देखी बात भी झूठी सिद्ध होने से बंकचूल अभ्याख्यान और हिंसा के पाप से बच गया।

अंजना जैसी महासती पर भी उसके पारिवारिक जनों ने किसी प्रकार की जाँच-पड़ताल किये बिना ही मिथ्या कलंक लगा दिया था। शंख राजा ने जाँच-पड़ताल या पूछताछ किये बिना ही अपनी पत्नी कलावती पर शंका करके उसके दोनों हाथ कटवाकर निष्कासित करवा दिया था। कितना सहना पड़ा था, उन सतियों को अभ्याख्यान (झूठा आल) लग जाने पर ?

अभ्याख्यानी प्रायः अविवेकी, छिद्रान्वेषी, मन्दबुद्धि, मूढ़ताप्रेरित और पूर्वाग्रही होता है। वह सत्य-असत्य का निर्णय न करके बहम या भ्रम से किसी के विषय में कुछ का कुछ समझ लेता है।

धार्मिक-साम्प्रदायिक क्षेत्र में भी अभ्याख्यान भयंकर है

अभ्याख्यान जैसे व्यावहारिक क्षेत्र में होता है, वैसे धार्मिक-साम्प्रदायिक क्षेत्र में होता है। 'स्थानांगसूत्र' में वर्णित 'धर्म का अधर्म माने-समझे तो मिथ्यात्व' आदि १० प्रकार का मिथ्यात्व भी अभ्याख्यान का ही रूप है। दस प्रकार के मिथ्यात्व से ग्रस्त व्यक्ति भी गुण को अवगुण और अवगुण को गुण के रूप में विपरीत आरोपण करके मानता-जानता-देखता है। मंखलीपुत्र गोशालक ने भगवान महावीर पर दोषारोपण किया कि "वह तीर्थंकर और सर्वज्ञ नहीं हैं, मैं तीर्थंकर हूँ" इत्यादि। अहिंसा की विभूति भगवान महावीर पर भी दोषारोपण किया कि उन्होंने माँसाहार किया था। बेसिर-पैर की गप्पें हाँकना अभ्याख्यानियों का काम है। हेमचन्द्राचार्य के विषय में यह गप्प उड़ा दी कि वे अन्तिम अवस्था में मुसलमान बन गये थे, क्योंकि मरते समय उनके मुँह से 'अल्ला' शब्द निकला था। साम्प्रदायिक कट्टरता से युक्त व्यक्ति दूसरे मत, पंथ, सम्प्रदाय पर कई प्रकार के झूठे आक्षेप लगाते हैं।[1]

अभ्याख्यानी द्वारा घोर कर्मबन्ध तथा कटुफल भोग

साधु-संतों, महासतियों एवं सज्जनों पर ऐसा दोषारोपण (अभ्याख्यान) करने से अभ्याख्यानी ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म का तो बन्ध करता ही है, मोहनीय कर्म का भी तीव्र बन्ध करता है, इसके अलावा अशुभ नामकर्म तथा नीचगोत्र का भी बन्ध करता है। इन अशुभ कर्मों के उदय में आने

---

१. 'पाप की सजा भारी, भा. २' से भाव ग्रहण, पृ. ८८३-८९७

पर व्यक्ति मंदमति, मूढ़, अज्ञानी, मुखरोगी, कुष्टरोगी, निन्दनीय, अनादरणीय बनता है। मोहनीय कर्म के उदय से तीव्र कषायी और अन्तराय कर्म के उदय से शक्तिहीन, सत्कार्य में विघ्न-बाधाओं से ग्रस्त, त्याग-व्रत-प्रत्याख्यानादि करने में अशक्त बनता है। वैर-परम्परा को भी बढ़ाता है। अतः अभ्याख्यान से बचने के लिए दोषदृष्टि छोड़कर गुणदृष्टि का, अन्धकार का पहलू छोड़कर प्रकाश का पहलू, सद्भावना और सद्वृत्ति का ग्रहण और आश्रय लेना चाहिए। व्यर्थ के वितण्डावाद में, साम्प्रदायिक कदाग्रह, हठाग्रह और पूर्वाग्रह में नहीं पड़ना चाहिए। स्वयं में विनम्रता, गुणग्राही, सत्यग्राही दृष्टि और प्रत्येक वस्तु के सारासार का, सत्यासत्य का निर्णय करने की अनेकान्त दृष्टि सापेक्ष दृष्टि होगी तो वह व्यक्ति अभ्याख्यान नामक पापस्थान से बच जाएगा।

पैशुन्य नामक पापस्थान : क्या और क्यों होता है ?

इसके पश्चात् पैशुन्य नामक पापस्थान है, वह भी दूसरों को सम्यग्दृष्टि से, आत्मदृष्टि से न देखने पर ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य, परोत्कर्ष के अदर्शन से होता है। पैशुन्य का अर्थ है–चुगली खाना। इसका लक्षण एक आचार्य ने किया है–"**पैशुन्यं पिशुनकर्म = प्रच्छन्नं सदसद्दोषाविर्भावनम्।**"[१]–पैशुन्य का अर्थ है–पिशुनकर्म, अर्थात् किसी के सच्चे-झूठे अनेक दोषों को पीठ पीछे (उससे छिपाकर) प्रगट करना।

अभ्याख्यान और पैशुन्य में अन्तर

अभ्याख्यान और पैशुन्य में पापकर्म एक सरीखा होते हुए भी दोनों की प्रक्रिया में अन्तर होने से दोनों को अलग-अलग पापस्थान कहा गया है। अभ्याख्यान की व्युत्पत्ति है–"**अभिमुखेन आख्यानं (पर) दोषाविष्करणमभ्याख्यानम्।**"[२] अर्थात् अभिमुख = सामने किसी के दोषों (सच्चे या झूठे) का प्रकटीकरण करना अभ्याख्यान है। जबकि पैशुन्य में दूसरे पर पीठ पीछे दोषारोपण करना होता है। दूसरे व्यक्ति में जो गुण है, उसे छिपाना और दोषों को (भ्रान्ति या मूढ़तावश) प्रगट करना, जो दोष नहीं, उन दोषों को भी कहना, परस्पर लड़ा-भिड़ा देना, झगड़ा पैदा करा देना, ये वृत्तियाँ दोनों में समान हैं। अभ्याख्यान में सहसा सीधा आरोप = कलंक लगाया जाता है, जबकि पैशुन्यवृत्ति वाला पीठ पीछे कानाफूसी करके किसी की भूलों या गुणों को भी दोष के रूप में प्रगट करता है। वह सामने नहीं आता। पैशुन्य (चुगली) किसी के पीठ का माँस खाने जैसा पाप है। 'दशवैकालिक' में कहा है–"पिट्ठीमंसं न खाएज्जा।"

---

१. पैशुन्यं पिशुनकर्म = सदसद्-दोषाविर्भावनम्। –*स्थानांग टीका, सू. ४८-४९*

२. भगवतीसूत्र, श. ५, उ. ६ टीका

अभ्याख्यानी में क्रोध, मान, द्वेष अधिक मात्रा में रहता है, जबकि पैशुन्यवृत्ति वाले में माया–कपट, ईर्ष्या और लोभ का अंश रहता है। दोनों ही मृषावाद के तथा ईर्ष्या, द्वेष, मात्सर्य और तेजोद्वेष, पर-द्रोह तथा छिद्रान्वेषण के पापों के ग्राहक हैं। परन्तु अभ्याख्यान और पैशुन्य ये दोनों पापकर्म होते हैं–स्व (आत्मा) को न देखकर पर को देखने से ही।

पैशुन्यवृत्ति का दुर्व्यसन जीवन को नरक बना देता है

वस्तुतः पैशुन्यवृत्ति वाले में गुणानुराग नहीं होता, वह अधिकतर दोषदृष्टि-परायण होता है। वह अपने मन में पाले हुए द्वेष, ईर्ष्या और छल को सफल करने के लिए भोलेभाले, सीधेसादे, सज्जन एवं सरलात्मा लोगों को अपना शिकार बनाता है, उनके कान में मीठे-मीठे शब्दों से जहर भरता है, दूसरों के मर्मों का उद्घाटन करता है। वह कहीं से किसी के विषय में थोड़ा-सा सुनकर अपनी ओर से नमक-मिर्च लगाकर दूसरे के कान भरता है। ऐसा व्यक्ति शत्रु का कार्य करता है और वचन से मित्र बनकर रहता है। चुगलखोर व्यक्ति पति-पत्नी में, भाई-भाई में, माता-पिता में, पति और सास में एक-दूसरे की चुगली खाकर लड़ा देते हैं। चुगलखोरी एक प्रकार का दुर्व्यसन है। चुगलखोर की आदत हो जाती है–बार-बार चुगली खाने की। प्रतिदिन उसे इस व्यसन का पोषण करना ही पड़ता है।[1] चुगलखोर राग, द्वेष, कषाय एवं स्वार्थभाव से प्रेरित होकर दूसरों के विषय में लोगों को झूठी-सच्ची बातें कहकर भड़काता है। उन्हें बदनाम करता है, उन पर से लोगों की श्रद्धा डिगाता है। यह भी मोहनीय कर्मबन्ध का कारण है।

पैशुन्यवृत्ति के साथ-साथ अनेकों पाप और दुर्गुण

चुगलखोर असत्यवाद का सेवन स्वयं तो करता है, साथ ही हजारों आदमियों को झूठे मार्ग पर लगाने तथा उनके मन में द्वेष, वैर-विरोध, वैमनस्य, संक्लेश, संताप, कलह आदि तथा क्रोधादि कषायों को पैदा करने का भी कारण बनता है। ये लोग परिवार, समाज, संस्था, प्रान्त, राष्ट्र या पंचायत में क्लेश, कषाय, वैमनस्य, वैर और कलह के बीज बो देते हैं। इतने पापकर्मों का बोझ सिर पर लादे फिरता है–पैशुन्य का व्यापार करने वाला व्यक्ति। किसी ने कहा भी है–"जो मनुष्य दूसरों को तपाने-सताने के लिए पैशुन्यवृत्ति का सेवन करता है, वह स्वयं (उसकी आत्मा) भी उसी ताप से तप्त होता है।"[2] पैशुन्यवृत्ति के दुष्परिणाम बताते

---

१. 'पाप की सजा भारी, भा. २' से भाव ग्रहण, पृ. ९१८-९१९

२. अन्यस्य तापनाद्यर्थं पैशुन्यं क्रियते जनैः।
स्वात्मा हि तप्यते तेन, यदुक्तं स्यात् फलं च तत्॥

हुए आचार्य कहते हैं–"जिसके मन में पैशुन्यवृत्ति का पाप सदा बना रहता है, उसका दान सर्वथा निष्फल जाता है, उसका शौर्य (पराक्रम) भी सब निरर्थक जाता है, संसार में उसका अपयश ही होता है।"[1] चुगलखोर को प्रायः लोग चोर भी कहते हैं, क्योंकि वह कई जगह से बातें होती हुई चुपके से चुरा लेता है, पैशुन्य पीठ पीछे से काटने वाला पाप है। इसीलिए 'दशवैकालिक' में कहा गया है–"**पिट्टीमंसं न खाएज्जा।**"–पीठ का माँस (चुगली) न खाए।[2]

पैशुन्य पाप-सेवन का भयंकर दुष्परिणाम

एक व्यक्ति ने चुगलखोरी से बिना पूँजी के करोड़ों रुपये कमा लिये। यद्यपि ऐसा व्यक्ति बाहर से शरीफ लगता है, परन्तु दिल का काला होता है। वह इस व्यवसाय में अनेक पापों का सेवन कर लेता है। बम्बई के व्यापारियों ने बताया कि इस व्यक्ति ने चुगली के धंधे से करोड़ों रुपये कमाये हैं। इसका काम यह है कि यह लोगों की आर्थिक पोल इकट्ठी करता है और आयकर विभाग के अधिकारियों को सूचना देता रहता है कि अमुक व्यापारी के यहाँ दो नम्बर के इतने धन की सम्भावना है। आज वहाँ छापा मारिये और कल अमुक के यहाँ पर। अधिकारियों द्वारा अमुक व्यापारी के यहाँ छापा मारने पर जो भी रकम या अन्य दो नम्बर का माल पकड़ा जाए, उसका १० प्रतिशत उस चुगलखोर को मिलता था। इस प्रकार अधिकारियों के साथ मिलीभगत से वह कई प्रकार की चोरी भी करता था। ४५ वर्ष की आयु तक उसने चुगलखोरी ही की। अधिकारियों को दो-चार नाम दे देना उसका धंधा था। फिर अधिकारी उसके यहाँ छापा मारकर जाँच-पड़ताल करके दो नम्बर का जितना माल पकड़ते थे, उसमें से १० प्रतिशत उसे मिल जाता। कहते हैं–उसने चुगलखोरी के इस धंधे में ३-४ करोड़ रुपये कमा लिये। पाप की इस कमाई से वह कोठी, बंगला, कार आदि लेकर ठाटबाट से रहने लगा। परन्तु पाप की कमाई में से उसके शुभ कार्यों में दान देने की वृत्ति नहीं होती थी। वह किसी संस्था में लोकदिखावे के लिए दान लिखा देता था, देता एक पैसा भी नहीं था। आखिर उसका यह पाप फूट निकला। ४५-४६ वर्ष की युवावस्था में ही उसके शरीर में भयंकर रोग हो गया। चिकित्सा के लिए विदेश भी गया। मगर ठीक नहीं हुआ। अन्त में उसे खून की उलटी हुई और क्षणभर में प्राणपखेरू उड़ गए।[3]

---

१. दानं च विफलं नित्यं, शौर्यं तस्य निरर्थकम्।
पैशुन्यं केवलं चित्ते, वसेद्यस्याऽयशो भुवि॥

२. दशवैकालिक, अ. ८, गा. ४७

३. 'पाप की सजा भारी, भा. २' से साभार ग्रहण, पृ. ९१७

चुगलखोरी से हानि

यद्यपि चुगलखोरी से व्यक्ति को कोई लाभ नहीं होता, फिर भी इस दुर्व्यसन से वह छूटता नहीं। समाज में या सभा-सोसाइटियों में उसकी कोई इज्जत नहीं होती। वह चुगलखोरी के साथ कई पापों का भागी बन जाता है। पैशुन्यवृत्ति भी मोहनीय कर्मबन्ध का कारण है।

अभ्याख्यान और पैशुन्य से बचने के उपाय

अभ्याख्यान और पैशुन्य, इन दोनों पापों से बचने के लिए वाणी संयम सबसे अच्छा उपाय है। किसी के विषय में मिथ्या दोषारोपण करने से पहले सौ बार विचार करना चाहिए। अपनी विचार-शक्ति को सजग रखना चाहिए। कोई कुछ भी कह दे, उसकी बात झटपट मान नहीं लेनी चाहिए।

मैत्रीभाव मन में रखकर हृदय की विशालता रखनी चाहिए। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की वृत्ति रखनी चाहिए। व्यक्ति को गम्भीरता धारण करनी चाहिए। पैशुन्यवृत्ति वाले व्यक्ति की बातों में सहसा नहीं आना चाहिए। अभ्याख्यान और पैशुन्य के पाप में स्वयं को न तो लगना चाहिए और न ही अभ्याख्यानी और पैशुन्यवृत्ति वाले व्यक्ति के चक्कर में आकर उसके प्रवाह में बहना चाहिए। हृदय की विशालता और स्वभाव की गम्भीरता से व्यक्ति इन पापों का शिकार होने से बच सकता है। उदार धार्मिकभावना ही व्यक्ति को इन पापस्थानों से बचा सकती है। आत्मौपम्यवृत्ति से ही व्यक्ति इन पापों से बच सकता है। ऐसा करने से व्यक्ति अशुभ कर्म के आगमन को रोक सकेगा।

पर-परिवाद भी भयंकर पापस्थान

पर-परिवाद (पर-निन्दा) तो स्पष्ट ही आत्मवाद को छोड़कर दूसरों के विषय में निन्दा, विकथा करने से होता है। पर-परिवाद का अर्थ है–दूसरों की निन्दा करना। इस पापस्थान का सेवन करने वाला भी स्व (अपनी और अपनों) की रागभाववश प्रशंसा करता है और जो अपने से भिन्न परिवार, जाति, सम्प्रदाय, पंथ, मत या प्रान्त व राष्ट्र आदि के हैं या जो अपने माने हुए नहीं हैं, उनकी द्वेषवश निन्दा या विकथा करता है, उन्हें बदनाम करने, उन पर से लोगों की श्रद्धा डिगाने का प्रयत्न करता है। यह घोर पापकर्म है, मोहनीय कर्मबन्ध का कारण है। 'सूत्रकृतांगसूत्र' में स्पष्ट कहा है–"जो 'स्व' (अपने मन) की प्रशंसा और 'पर' की गर्हा (निन्दा) करते हैं, वे राग-द्वेष के शिकार होकर संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं।" 'तत्त्वार्थसूत्र' में कहा गया–"पर-निन्दा और अपनी प्रशंसा एवं दूसरे के विद्यमान सद्गुणों को ढाँकना और उसके दुर्गुणों और उसमें जो दुर्गुण नहीं हैं, उन्हें

कल्पित करके प्रगट करने से तथा अपने अविद्यमान गुणों को प्रकाशित करने से नीचगोत्र कर्म का बन्ध होता है। 'स्थानांगसूत्र' की टीका में 'पर-परिवाद' का अर्थ किया है–"दूसरों का परिवाद, अर्थात् विकत्थन या विपरीत वाद–पर-परिवाद है।" 'सर्वार्थसिद्धि' के अनुसार पर-निन्दा (पर-परिवाद) का अर्थ है–"दूसरे के सच्चे या झूठे दोषों को (द्वेष या वैर-विरोधवश अथवा ईर्ष्यावश) प्रकट करने की इच्छा।"[१] पर-निन्दा का यह पाप आजकल सम्प्रदायों और पंथों में बहुत जोर-शोर से चल रहा है। साम्प्रदायिकता से ग्रस्त लोगों को यह पता भी नहीं रहता है कि हमें जिस पापस्थान का तीन करण तीन योग से त्याग करने का भगवान का आदेश है, उसकी अवहलेना करके हम क्यों अपने जीवन पर पापकर्म का बोझ लाद रहे हैं? वस्तुतः दूसरे की निन्दा वही करता है, जो स्वयं कुछ सत्कार्य कर नहीं पाता।

पर-निन्दा के साथ कई दुर्गुण, कई पापस्थानों की वृद्धि

पर-निन्दा भी एक प्रकार का व्यसन है। जिसको यह व्यसन लग जाता है, उसे इन पापी व्यसन को छोड़ना कठिन हो जाता है। पर-परिवाद में मिथ्यात्व का अंश भी आ जाता है। जो जैसा है, उसे वैसा न कहकर विपरीत रूप में मानना, जानना, देखना, कहना ये मिथ्यात्वी के लक्षण हैं और प्रायः ये ही लक्षण पर-परिवाद–पापस्थान से ग्रस्त व्यक्ति में पाये जाते हैं। पर-निन्दक छिद्रान्वेषी भी होता है। बगुले की तरह उसका ध्यान प्रायः किसी के दोष देखने (पकड़ने) में रहता है। कौआ या मक्खी जैसे जानवर अच्छी चीज में मुँह न डालकर विष्टा या गंदे मैल, थूक, वलगम पर डालता है, वैसे ही निन्दक दूसरों के गुणों को न छोड़कर दोषों–दुर्गुणों में मुँह डालता है। जैसे हाथी अपनी ही सूँड़ से अपने सिर पर धूल डालता है, वैसे ही निन्दक भी दूसरे के दोषों की निन्दा अपने मुख से करके उसके दोषों का भार अपने सिर पर डालता है। मुनि समयसुन्दरगणी ने ठीक ही कहा है–

"निन्दा न करशो कोइनी पारकी रे, निंदामां बहोला महापाप रे।
वैर-विरोध बाधे घणो रे, निन्दा करतो न गणे माय ने बाप रे॥"

भाव स्पष्ट हैं। निन्दा किसी को भी रुचिकर और प्रिय नहीं होती। इसलिए कोई जब किसी की निन्दा करता है, तो सामने वाले के दिल में आवेशयुक्त

---

१. (क) सयं सयं पसंसंता, गरहंता परं वयं।
जेउ तत्थ विउस्संति, संसारे ते विउस्सिया। *–सूत्रकृतांग, श्रु. १, अ. १, उ. २/२३*

(ख) परात्मनिन्दा-प्रशंसे सदसद्गुणाच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य। *–तत्त्वार्थसूत्र ६/४९*

(ग) परेषां परिवादः = विपरीतवादः, पर-परिवादो विकत्थनमित्यर्थः।
–स्थानांगसूत्र टीका, सू. ४८-४९

(घ) तथ्यस्य वा ऽतथ्यस्य वा दोषस्योद्भावनम्प्रति इच्छा निन्दा। *–सर्वार्थसिद्धि ६/२५/३३९*

प्रतिक्रिया होती है, परस्पर तनातनी, मारपीट और कभी-कभी झगड़ा एवं वैर-विरोध भी बढ़ जाता है। आगे समयसुन्दरगणी कहते हैं–"**निंदा करे ते थाये नारकी रे, तप-जप कीधुं सहु जाय रे।**"–निन्दक और पर-परिवादी मानव यहाँ भी अशान्ति, बेचैनी, पापकर्म-परायण बनता है और परलोक में भी भयंकर दुर्गति–दुर्योनि पाता है। इसका कारण यह है–निन्दक प्रायः असत्य का सहारा लेता है, दूसरे की उन्नति से उसे ईर्ष्या, द्वेष, बुद्धि होती है, वह दोषदर्शी होता है, ये सब दुर्गुण दुर्गति में ले जाने वाले हैं। दुर्गति में निंदक को भयंकर यातनाएँ सहनी पड़ती हैं। यह स्पष्ट है कि निन्दक व्यक्ति किसी के विषय में पूर्वाग्रहवश बिना सोचे-समझे या निर्णय किये प्रायः क्रोधादि कषायाधीन होकर दुष्ट, दुर्जन, लंपट या कुशील कह देता है तथा विपरीत रूप में किसी बात को प्रस्तुत करने हेतु निन्दक अपनी तरफ से नमक-मिर्च लगाकर बात को विकृत कर देता हैं। इसलिए पर-निन्दा से श्रावक को सत्य-अणुव्रत के '**सहसब्भक्खाणे, रहस्सब्भक्खाणे**' नामक अतिचार (दोष) भी लगते हैं। देवाधिदेव वीतराग परमात्मा, धर्म-गुरु (साधु-साध्वी) और धर्म (अहिंसादि धर्म) की निन्दा करने से तो सम्यक्त्व दूषित होता है, दर्शनमोहनीय कर्म का बन्ध होता है, वह निन्दक मिथ्यात्व का शिकार बनता है।

विविध धर्मों का इतिहास उठाकर देखें तो आपको मालूम हो जायेगा कि संसार में ऐसे कई पापी, दुर्जन, दुष्ट, डाकू, हत्यारे, चोर आदि थे, वे अपने प्रति जब जाग्रत हुए तो किसी के द्वारा अपनी निन्दा, आलोचना आदि सुनकर सुधर गए, महान् आत्मा धर्मात्मा बनकर अथवा साधु बनकर मोक्षगामी हो गए, कई उच्च देवलोक में गए।[1] किन्तु उनकी निन्दा करने वाला तो वहाँ का वहाँ ही रहा, वह चार गतिरूप संसार में अथवा दुर्गति में परिभ्रमण करता रहा। इसलिए निन्दक अपने जीवन में व्यर्थ ही विभिन्न पापकर्मों से लिप्त हो जाता है।

वीतराग परमात्मा की महानिन्दा, धर्मनिन्दा और गुरुनिन्दा के दुष्परिणाम

इसमें वीतराग जिनेश्वर परमात्मा की निन्दा तो महानिन्दा है, जिससे व्यक्ति के नीचगोत्र कर्म का बन्ध होकर नीच कुल में उत्पत्ति होती है। कहा भी है–

"जिनवरने निंदतां नीचगोत्र बंधाय।
नीचकुलमां अवतरी कर्म-सहित ते थाय॥"

नीचगोत्र में जन्म की पहचान के विषय में एक आचार्य ने कहा–"**चाण्डाल-मुष्टिक-व्याध-मत्स्यबन्ध-दास्यादिभाव-सम्पादकत्वं नीचगोत्रस्य लक्षणम्।**"

---

१. 'पाप की सजा भारी, भा. २' से भावांश ग्रहण, पृ. ९८२

अर्थात् नीचगोत्र कर्म बाँधने वाला जीव चाण्डाल, दरिद्र, मौष्टिक (जल्लाद), व्याध (बहेलिया), मच्छीमार एवं हल्के नीच कर्म करने वाला गुलाम बनता है और जिंदगीभर अज्ञान एवं मूढ़तावश वही काम प्रायः करता रहता है।" यदि जमाली की तरह तप-संयमादि के कारण कदाचित् वैमानिक देवों में उत्पन्न हो जाए तो भी वह वहाँ तीर्थंकर अर्हत् परमात्मा की निन्दा के कारण हल्की कक्षा का किल्विषिक देव बनता है, वहाँ भी हीनता का शिकार होता है।[1] कहा भी है—

"जिनवरने निंदतां नीचगोत्र बंधाय।
नीचकुलमां अवतरी कर्म-सहित ते थाय॥"

साथ ही ऐसा देव-गुरु-धर्म का निन्दक असातावेदनीय एवं नरक-तिर्यञ्चायुष्य कर्म का भी बन्ध कर लेता है। जो प्रत्यनीक = विरोधी, द्वेषी बनकर गुरु की निन्दा करता है, वह तो कुलबालूक की तरह ब्रह्मचर्य; अहिंसादि महाव्रतों से भ्रष्ट होकर स्वयं घोर नरकादि में गिरता है। अभीचिकुमार ने श्रावकव्रत ग्रहण किये, वह पौषधादि धर्मक्रिया भी करता था, किन्तु अपने पिता उदायी राजर्षि (मुनि) की अन्त तक निन्दा करता रहा, द्वेषवश उनकी हत्या भी करवाई। फलतः वह विराधक होकर मरा और नीच किल्विषिक देव बना।

पर-निन्दा के पापकर्म से छूटने का एक उपाय : गुणानुराग

अतः पर-निन्दा की इस अधमवृत्ति से छूटने का संवराराधक के लिए सबसे अच्छा उपाय यही है कि वह गुणानुरागी बने। अपने या दूसरे धर्म, सम्प्रदाय, जाति, राष्ट्र या प्रान्त के व्यक्ति को आत्मौपम्यभाव की दृष्टि से देखे। उसकी शुद्ध आत्मा पर ही दृष्टि डाले, उसके ऊपरी आवरणों या शुद्ध आत्म-भाव को आवृत करने वाले दुर्गुणों की ओर देखे ही नहीं, तभी गुणानुराग आ सकता है। संत-समागम, सत्संग और शास्त्रों के पठन एवं श्रवण से, तत्त्वज्ञान एवं शुद्ध परिणति का अभ्यास हो जाने से व्यक्ति पर-निन्दा के पाप से छूट सकता है। सम्यग्दृष्टि बनकर दूसरे के छोटे-से गुण को भी विशाल दृष्टि से = उदार दृष्टि से देखने से पर-दोषदर्शन से दृष्टि हटकर पर-गुणदर्शन में लग जाएगी। यादवकुलपति श्रीकृष्ण कहीं राजकार्यवश अपने सेवकों के साथ जा रहे थे। रास्ते में एक मरी हुई कुतिया पड़ी थी। उसकी लाश देखकर कई सेवक नाक-भौं सिकोड़ रहे थे। परन्तु श्रीकृष्ण जी ने गुणानुरागी दृष्टि से प्रेरित होकर कहा—देखो ! इस कुतिया के दाँत मोती-से कितने चमक रहे

---

१. 'पाप की सजा भारी, भा. २' से भावांश ग्रहण, पृ. ९९९

हैं।[१] यह कैसा वफादार प्राणी है? इसके अतिरिक्त दूसरा कोई व्यक्ति साधक की निन्दा करता हो तब भी उसे अपना उपकारी और आत्म-शुद्धि के लिए जाग्रत करने वाला मानना चाहिए। कबीर जी ने ठीक ही कहा है–

"निन्दक नियरे राखिये आँगन कुटी छवाय।
बिन पानी साबुन करे आतम शुद्धि सुभाय॥"[२]

इस प्रकार विधेयात्मक दृष्टिकोण से ग्रहण करने पर निन्दक के प्रति गुणानुरागिता दृष्टि रखी जा सकती है। इस प्रकार की गुणानुरागी दृष्टि प्रमोदभावना, आत्मौपम्यभावना या आत्म-भावों पर दृष्टि रखने से भी आ सकती है।

गुण-दोषदृष्टि-परायणता की अपेक्षा से चार कोटि के मानव

संसार में सब प्रकार के जीव होते हैं। गुण-दोषदृष्टि-परायणता की अपेक्षा से हम इन्हें चार भागों में विभक्त कर सकते हैं–(१) उत्तम पुरुष वह है, जो किसी के दोष देखे ही नहीं, पर-दोषों का ख्याल करे ही नहीं। कहना-सुनना तो दूर रहा, वह सबको शुद्ध आत्म-भाव की दृष्टि से देखता है; (२) मध्यम कोटि के व्यक्ति वे हैं, जो किसी के दोष देखने या सुनने में आ भी जाएँ, तो भी उसकी निन्दा नहीं करते, दूसरों के सामने प्रगट भी नहीं करते। इस प्रकार के गम्भीर व्यक्ति मध्यम कोटि के होते हैं; (३) तीसरी कोटि के व्यक्ति किसी के दोष देखकर, मन में रोष लाते हैं, किन्तु दूसरों के सामने न कहकर उसी (दोषी) व्यक्ति को कहते हैं; और (४) चौथे प्रकार के व्यक्ति तो दिन-रात दूसरे के दोषों को ढूँढ़ने और संसार के बाजार में ढिंढोरा पीटने में लगे रहते हैं। जो मिले, उसी के सामने वे पर-दोषों को कहते फिरते हैं। ऐसे व्यक्ति अधम निन्दक कोटि के होते हैं।

आत्म-निन्दा से आत्म-शुद्धि, पर-निन्दा से पापकर्मवृद्धि

पर-निन्दा के कर्मबन्धन से बचने के लिए संवर-साधक को यह सोचना चाहिए कि विश्व में सर्वगुण-सम्पन्न तो वीतराग-सर्वज्ञ देव के सिवाय कोई नहीं है। छद्मस्थ अवस्था में व्यक्ति में कोई न कोई दोष या दुर्गुण पाया जाना सम्भव है। कोई कम

---

१. (क) परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं।
निजहृदि विकसन्तः सन्तिः सन्तः कियन्तः?
(ख) 'आवश्यक निर्युक्ति' से भावांश ग्रहण

२. तुलना करें–
निंदा करे जो हमारी, मित्र हमारा होय।
साबु गाँठ का लेयके, मैल हमारा धोय॥

दोष एवं अवगुण से भरा है, तो कोई अधिक दोष से युक्त है। इसलिए संवर-साधक को पर-दोषों या पर-अवगुणों से एकदम दृष्टि हटाकर स्व-दोषों और दुर्गुणों की ओर ही नजर डालनी चाहिए।[1] पर-निन्दा के पापकर्म को आते हुए रोकने का यही सर्वोत्तम उपाय है कि व्यक्ति पर-निन्दा से दृष्टि–वृत्ति हटाकर आत्म-निन्दा, आत्म-सुधार एवं आत्म-शुद्धि में प्रवृत्त हो।

आत्म-निन्दा करने का उत्तम तरीका

आत्म-निन्दा (पश्चात्ताप) के द्वारा पर-निन्दा से व्यक्ति कैसे हटे? इसके लिए अध्यात्म-साधक श्री विनयचन्द जी का यह भजन अतीव प्रेरणादायक है–

"रे चेतन ! पोते तू पापी, परना छिद्र चितारे तू।
निर्मल होय कर्म-कर्दम से, निज-गुण-अम्बु नितारे तू।।टेर।।
जिम तिम करने शोभा अपनी, या जग माँही वधारे तू।
प्रगट कहाय धर्म को धोरी, अन्तरभर्यो विकारे तू।।रे चेतन.।।
परनिन्दा-अघपिण्ड भरीजे, आगम-साख सँभारे तू।
'विनयचन्द' कर आतम-निंदा, भव-भव दुष्कृत टारे तू।।रे चेतन.।।"

इस भजन में पर-निन्दा को छोड़कर आत्म-निन्दा पर जोर दिया गया है। इसलिए प्रत्येक साधक को प्रतिक्रमण आवश्यक के दौरान अपनी गलतियों, विराधनाओं और दोषों को पहले क्षमापना-जल से धोकर आलोचना (प्रतिक्रमण), निन्दना (आत्म-निन्दा = पश्चात्ताप) और गर्हणा[2] के तौलिये से मन-वचन-काया को रगड़कर साफ कर लेना चाहिए।

विधिवत् आत्म-निन्दा से आत्म-शुद्धि

आचार्य रत्नाकरसूरि जी म. ने अपने जीवन में आने वाले पापकर्मों को रत्नाकर-पच्चीसी के माध्यम से आत्म-निन्दा (पश्चात्ताप) के रूप में भगवान के समक्ष प्रगट कर दिये। इसी प्रकार परमार्हत् कुमारपाल राजा ने भी स्वयं द्वारा निर्मित 'आत्म-निन्दा द्वात्रिंशिका' के माध्यम से प्रभु के समक्ष आत्म-निन्दापूर्वक अपने पापों के लिये क्षमायाचना की थी। अतः आत्मार्थी, कर्मक्षयार्थी मुमुक्षु साधक पर-निन्दा से सर्वथा विमुख होकर मन-वचन-काया से हुए पापों की त्रिविधरूप से

---

१. 'पाप की सजा भारी, भा. २' से भाव ग्रहण, पृ. १००५, १०१७

२. (क) विनयचन्द चौबीसी के अन्त में (प्रकाशक–छोटेलाल यति, बीकानेर)

(ख) एवमहमालोइय-निंदिय-गरहिय-दुगंछियं सम्मं।
तिविहेण पडिक्कंतो, वंदामि जिणचउवीसं।। *–आवश्यकसूत्र में क्षमापना पाठ*

आलोचनादिपूर्वक आत्म-निन्दा और क्षमायाचना करे तो उसके अनेक पूर्वकृत पापकर्मों का क्षय (निर्जरा) हो सकता है, मन-वचन-काया को पर-निन्दा से सहसा रोकने से संवर का लाभ भी प्राप्त कर सकता है। अतः पर-निन्दा के महापाप से सर्वथा बचकर आत्म-निन्दा का अभ्यास करना ही हितावह है। प्रसन्नचन्द राजर्षि पहले पर-परिवाद के पाप में पड़कर मन ही मन घोर हिंसा और युद्ध के स्तर पर उतर आए थे, नरक-प्राप्ति के अशुभ आस्रव और बन्ध के जाल में फँस रहे थे, किन्तु सहसा वे सँभल गये, पर-निन्दा से हुए घृणित कार्य से अपने को एकदम रोककर आत्म-निन्दा (पश्चात्ताप) पर तीव्र गति से दौड़ने लगे, फलतः क्रमशः पहले चार घातिकर्मों का क्षय होने से केवलज्ञान प्राप्त हो गया। तत्पश्चात् शेष चार अघातिकर्मों का भी क्षय करके वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा हो गए। उत्तराध्ययनसूत्र इस तथ्य का साक्षी है। आत्म-निन्दा से जीव को क्या गुण प्राप्त होता है ? इसके उत्तर में भगवान महावीर ने कहा—आत्म-निन्दा से पश्चात्ताप उत्पन्न होता है। पश्चात्ताप वैराग्ययुक्त होकर जीव करणगुण (क्षपक) श्रेणी को प्राप्त करता है। क्षपक श्रेणी प्राप्त अनगार मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय कर देता है।[1] इस प्रकार आत्म-निन्दा का विधिवत् अभ्यास हो तो व्यक्ति पापकर्मबन्धक पर-परिवाद नामक पापस्थान से बच सकता है। साध्वी मृगावती, चन्दनबाला आदि ने पर-निन्दा से सर्वथा विरत होकर आत्म-निन्दा से ही केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर लिया था।

सोलहवाँ पापस्थान : रति-अरति : एक भयंकर पापचक्र

रति-अरति नामक पापस्थान भी आत्म-स्वरूपरमण से विमुख होकर पर-भावों में रमण करने से होता है। संक्षेप में कहें तो आत्मा के स्वाधीन अव्याबाध सुख (आनन्द) का तत्त्वचिन्तन-मनन और उस पर श्रद्धान व रमण करना छोड़कर या भूलकर पराधीन पर-वस्तु में सुख-दुःख का चिन्तन-मनन, श्रद्धान व रमण करना ही रति-अरति पापकर्मबन्ध का कारण है। 'धवला' में कहा गया—"रमण का नाम रति है। जिन (मोहनीयादि) कर्मस्कन्धों के उदय से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों में राग उत्पन्न होता है, वह रति है और जिन कर्मस्कन्धों के उदय से द्रव्यादि में अरुचि उत्पन्न होती है, वहाँ अरति है। वास्तव में, आत्म-भावों में या संयम में अरति और अनात्म-भावों—पर-भावों में या असंयम में रति होती है। रति-अरति का सामान्य शब्दार्थ इस प्रकार है—रति का अर्थ है—सुख, आनन्द या प्रीति होना; अरति का अर्थ है—अप्रीति, दुःख, अरुचि या ग्लानि। वस्तुतः मन के अनुकूल

---

१. निंदणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? निंदणयाए णं पच्छाणुतावं जणयइ। पच्छाणुतावेणं विरज्जमाणे करण-गुण-सेढिं पडिवज्जइ। करणगुण-सेढी-पडिवन्ने य णं अणगारे मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ॥ —*उत्तराध्ययन, अ.* २९, *सू.* ६

पदार्थों में सुख मानना और प्रतिकूल पदार्थों में दुःख मानना रति-अरति का अभिप्राय है।[1]

रति-अरति पापस्थान मनःकल्पित है, मनोगत है

रति-अरति के शब्दार्थ पर से स्पष्ट है कि ये दोनों मन से उत्पन्न होने वाले पापस्थान हैं। मन के द्वारा की हुई कल्पना से ही इन दोनों का उद्‌गम होता है। जैसा कि महामहोपाध्याय श्री यशोविजय जी महाराज कहते हैं–

"मन-कल्पित रति-अरति छे जी, नहीं सत्य पर्याय।
नहीं तो बेची वस्तुमां जी, किम ते सबि मिट जाय॥"[2]

अभिप्राय यह है कि रति-अरति ये दोनों मनःकल्पित हैं, क्योंकि किसी भी (सजीव-निर्जीव पर) पदार्थ में अपने आप में न तो रति रहती है और न ही अरति। न ही ये द्रव्यगुण-पर्यायरूप हैं। यदि ऐसा न होता तो जिस वस्तु में पहले सुख की लालसा (रति) उत्पन्न हुई थी, उसी वस्तु को दूसरे को बेच देने से वह (रति) कैसे मिट (नष्ट हो) जाती है? यदि रति-अरतिभाव मनोगत न होते, सिर्फ वस्तुगत ही होते तो वस्तु में ही सदैव रहते, फिर तो किसी वस्तु को अन्य को देने–बेचने का व्यवहार न होता। किन्तु वस्तु पर चाहे जितना रागभाव–रतिभाव हो, जरूरत पड़ने पर वही वस्तु जब दूसरे को बेच दी जाती है, तब उस वस्तु पर से रतिभाव नष्ट हो जाता है। इसलिए रति-अरति पापस्थान मन की कल्पना की उपज है, मात्र मान से माने हुए हैं।

रति-अरति तत्त्वविरुद्ध चिन्तन = अशुभ चिन्तन से होती है

वस्तुतः रति-अरति, ये दोनों आर्त्तध्यान-रौद्रध्यान के ही पर्याय हैं। बुरे विचारों को सुख, सन्तोष और आनन्द का कारण मानकर जब मनुष्य उनमें मन को एकाग्र करता है, तब अशुभ ध्यान होता है, जिसके ये दो प्रकार हैं। फिर मनुष्य जैसा सोचता है, तदनुसार उसकी प्रवृत्ति या क्रिया भी करता है। चिन्तन खराब हो, आत्म-भावों से विपरीत हो, वहाँ प्रवृत्ति शुभ कैसे हो सकती है? यही कारण है कि रति-अरति तत्त्व से विपरीत चिन्तन से, दुःख के कारणों में सुख मानने से, विकृत

---

१. (क) रमणं रतिः, रम्यतेऽनया विषयासक्तजीवेनेति रतिः।

(ख) जेसिं कम्मक्खंधाणमुदएण दव्व-खेत्त-काल-भावेसु रदी समुप्पज्जइ, तेसिं रदित्ति सण्णा; दव्व-खेत्त ··· जे सिमुदएण जीवस्स अरइ समुप्पज्जइ, से सिमरदि त्ति सण्णा।

–धवला ६/१/९/२४

(ग) 'पाप की सजा भारी, भा. २' से भावांश ग्रहण, पृ. ९३८

२. 'रति-अरति पापस्थान की सज्झाय' से भाव ग्रहण

चिन्तन से मानव-मन में उत्पन्न होती है, फिर पाने की उत्सुकता जागती है, उसके लिए मनुष्य अनिष्टकर उपाय सोचता है, जिससे पापकर्म का बन्ध होता है। इसी कारण रति-अरति को पापस्थान कहा गया है।[1]

पौद्गलिक पदार्थ के बनने-बिगड़ने से रति-अरतिभाव

मूल में, रति के पीछे सुख की लालसा रहती है और अरति के पीछे दुःखनिवृत्ति की तमन्ना। अज्ञानी जीव मनःकल्पित सांसारिक सुख कैसे मिले और दुःख कैसे मिटे? इसी उधेड़बुन में लगा रहता है। अज्ञ जीव जिन भौतिक-पौद्गलिक पदार्थों में सुख की कल्पना करता है, क्या वे वस्तुएँ सदा स्थायी रहती हैं? सभी पौद्गलिक पदार्थ नाशवान हैं, क्षणिक, सड़न-गलन-विध्वंसन स्वभाव वाले हैं। रति-अरति वस्तु में इसी मनःकल्पित सुख-दुःख की कल्पना से प्रादुर्भूत होती है। मान लीजिए—एक व्यक्ति अमेरिका से दो सौ रुपये का मनोरम्य फूलदान लाया। उसे देखकर तथा उसकी प्रशंसा के साथ ही अपनी तारीफ सुनकर वह बहुत ही खुश होता था। अपने मुँह से भी आसक्तिवश उस फूलदान की प्रशंसा कर रहा था। दुर्भाग्य से तीसरे ही दिन पुत्र के हाथ से अचानक वह छिटककर गिर पड़ा और फूट गया। आखिर तो वह जड़ व नाशवान वस्तु थी, फूट गई। एक दिन विनष्ट होने वाली थी ही। अन्तर इतना ही रहा कि जो कुछ अर्से बाद नष्ट होने वाली थी, वह तीसरे दिन ही नष्ट हो गई। अब सोचिए कि वह व्यक्ति पहले दिन उस फूलदान को देख-देखकर मन में उसके प्रति 'रति' (रागभाव) कर रहा था, उसमें सुख मान रहा था, अब उसके फूटते ही उसकी खुशी क्यों गायब हो गई? उसके मन में अरति (ग्लानि) क्यों पैदा हुई? वस्तु तो नाशवान क्षणिक थी ही। एकमात्र आत्म-तत्त्व के सिवाय शेष सभी पौद्गलिक पदार्थ विनश्वर हैं, क्षणिक हैं, यह जानते हुए भी जीव मोहदशावश अज्ञान के कारण पदार्थ को लेकर मन से रति-अरति करता है। विनाशी जड़ पुद्गल के बनने और बिगड़ने, जुड़े रहने और फूटने की प्रक्रिया पर वह राजी और नाराज होता है, क्या यह विपरीत दिशा का प्रयत्न नहीं है? कोई भी पौद्गलिक जड़ पदार्थ सुन्दर, इष्ट, प्रिय या अनुकूल लगा तो अज्ञ मनुष्य प्रसन्नता से झूम उठता है और वही पदार्थ बिगड़ा, टूटा-फूटा या विकृत हो गया तो अप्रिय, प्रतिकूल, अनिष्ट या खराब लगा तो नाराज हो जाता है, यह आत्मा के अखण्ड अव्याबाध सुख को भूलकर पौद्गलिक जड़ पदार्थों में सुख-दुःख की कल्पना करके आत्मा को व्यर्थ ही दुःखी करने का प्रयत्न है। यों रति-अरतिभाव करके आत्मा को आर्त्तध्यान में डालना है। स्पष्ट है कि रति-अरतिभाव पदार्थों का सही तत्त्वज्ञान न होने से, यथार्थ वस्तुस्वरूप न जानने

---

१ 'पाप की सजा भारी, भा. २' से भावांश ग्रहण, पृ. ९३९

से ही होता है। पदार्थ में अपने आप में न तो रति है न अरति है, न तो प्रियता का भाव है न ही अप्रियता का। वह स्वयं तो जड़ है।[1] जिसको[2] वस्तु के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यस्वरूप का ज्ञान-भान नहीं, वही व्यक्ति मोहनीय कर्मवश रति-अरति नामक पापस्थान में प्रवृत्त होता है। अतएव यह मानना यथार्थ नहीं है कि सुख या दुःख = रति-अरति जड़ वस्तुओं में से उत्पन्न होते हैं। मानसिक कल्पना मात्र से ही यह होती है।

कर्मसिद्धान्त का ज्ञान न होने से रति-अरति पाप का सेवन होता है

उदाहरणार्थ–'अंगज' शब्द का अर्थ होता है–'अंग से उत्पन्न हो, वह अंगज।' अंग से तो पुत्र भी उत्पन्न होता है, जूँ आदि भी। एक वीर्य से उत्पन्न होता है, दूसरा पसीने से। फिर भी पुत्र के प्रति रति–प्रीति होती है और जूँ के प्रति अरति–अप्रीति। इसलिए कि मन ने ऐसा मान लिया, एक को अच्छा और दूसरे को खराब। इसी प्रकार पुत्र उत्पन्न होने के समाचार सुनते ही रतिभाव उत्पन्न होता है और पुत्री के उत्पन्न होने का समाचार सुनते ही अरतिभाव, अप्रीति और ग्लानि होती है। ऐसा क्यों होता है? कर्मसिद्धान्त का तत्त्वज्ञान न जानने से और मोहनीय कर्म के उदय से ही ऐसी इष्ट-अनिष्ट की, प्रिय-अप्रिय की कल्पना होती है और अज्ञ पुरुष इन दोनों के निमित्त से व्यर्थ ही रति-अरति के पाप का सेवन करता है।

शरीर की उत्पत्ति में रति और नष्ट होने पर अरति क्यों ?

शरीर भी जड़-पुद्गल है। शरीर की उत्पत्ति और नाश होना शरीर का स्वभाव (धर्म) है। कर्मवश मृत्यु होती है, फिर दूसरा शरीर मिलता है, किन्तु दोनों ही अवस्थाओं में आत्मा तो अजर-अमर शाश्वत रहती है। फिर भी अपने या दूसरे के शरीर के जन्म होने, टिके रहने, स्वस्थ रहने आदि में जीव रति करता है और अपने या अपनों के बुढ़ापा या मृत्यु के होने पर अरतिभाव लाता है।

रति-अरति दोनों पृथक्-पृथक् क्यों नहीं, एक क्यों ?

प्रश्न होता है–रति और अरति दोनों को अलग-अलग पापस्थान बतलाकर एक ही पापस्थान क्यों कहा गया? इसका समाधान यह है कि रति और अरति जो उत्पन्न होती है, वह एक ही पौद्गलिक वस्तु के संयोग-वियोग से उत्पन्न होती है। वस्तु एक ही है, उसकी संयोग-वियोग की अवस्थाएँ भिन्न-भिन्न हैं। मगर मूल

---

१. 'पाप की सजा भारी, भा. २' से भाव ग्रहण, पृ. ९४३, ९४४, ९५४

२. उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्, सद्द्रव्यलक्षणम्। *–तत्त्वार्थसूत्र, अ. ५, सू. २९*

उद्गम स्थान तो एक ही वस्तु या व्यक्ति है। इसके अतिरिक्त रति-अरति दोनों एक ही वस्तु में अनुकूलता और प्रतिकूलता से उत्पन्न मानसिक कल्पना ही तो है। संयोग का वियोग होना अवश्यम्भावी है। जिस कारण या प्रसंग से किसी वस्तु या व्यक्ति के लिए मानसिक आनन्द उत्पन्न हुआ हो, उस कारण या प्रसंग के हट जाने से मानसिक निरानन्द (शोक), अप्रीति या दुःख भी होता है। आज या अभी जहाँ रति है, वहाँ कल या थोड़ी देर बाद अरति होते देर नहीं लगती। इसके विपरीत आज जहाँ अरति है, वहाँ कालान्तर से रति होते देर नहीं लगती। अतः इन दोनों का युगपद् संयोग-वियोग एक ही वस्तु, परिस्थिति या व्यक्ति के निमित्त से होने से सोलहवें पापस्थान के क्रम में दोनों को एक साथ रखा है।

रति-अरति को पापस्थान क्यों माना गया ?

एक प्रश्न यह भी होता है कि मन के अनुकूल परिस्थिति या संयोग में आनन्द और प्रतिकूल संयोग या परिस्थिति में दुःख होना स्वाभाविक है। यह तो वैचारिकभाव है। इसमें पाप कहाँ लगा, कैसे हुआ? पापकर्म को बन्ध का कारण कैसे हो गया? इसका समाधान यह है कि आत्मा मूल में अनन्तज्ञानादि चतुष्टय से युक्त, अनावृत शुद्ध चेतन तत्त्व है, किन्तु वर्तमान में वह कर्ममल से अशुद्ध है, आवृत्त है, उसे इसी स्थिति में न रहने देकर कर्मबन्धन से मुक्त करके शुद्ध, बुद्ध, सर्वदुःखमुक्त, सिद्ध बनानी है। दुःखोत्पादक कर्मबन्ध का कारण पापप्रवृत्ति है। आत्मा कर्मक्षय के लिए जो भी प्रवृत्ति करती है, वह लाभदायक एवं धर्म है। इसके विपरीत कर्मबन्धकारक जो भी प्रवृत्ति करती है, वह अहितकारक है, जन्म-मरणरूप संसारवर्द्धक है, मोक्ष से दूर ठेलने वाली है। अनन्त सुख का स्वामी सच्चिदानन्द आत्मा जब अपना शुद्ध स्वरूप भूलकर या छोड़कर प्रमादवश या मोहवश जब किसी पर-पदार्थ, पर-भाव या बाह्य व्यक्ति व परिस्थिति में सुख मानने की भ्रान्ति पालता है, रागी बनता है, तब कर्मबन्ध होता है। इसलिए रति-अरति आदि को पापस्थान (पापकर्मबन्ध के कारणभूत स्रोत) बताया गया है। क्या बाह्य पर-पदार्थ या व्यक्ति परिस्थिति-विशेष में रति-अरति रखना क्या स्वगुणोपासना या कर्मक्षय में आत्मा का सहायक बनेगा? क्या रति-अरति आत्मा को मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर करेगी? अतः आत्मा के लिए अहितकर होने से इसे पापस्थान बताया है।[1]

रति-अरति के साथ अनेकविध पापकर्मों का संचय

व्यावहारिक दृष्टिकोण से सोचें तो भी रति-अरति के कारण अनेकविध पापकर्मों का संचय एक व्यक्ति के जीवन में हो जाता है। मान लो, किसी व्यक्ति ने

१. 'पाप की सजा भारी, भा. २' से भावांश ग्रहण, पृ. ९५५, ९५०, ९५१

अपने जीवनकाल में मनोऽनुकूल सैकड़ों पदार्थों का संचय किया, उनके प्रति आसक्ति (रति) भी की और उनके बिगड़ने, नष्ट होने या चुराये जाने पर अरतिजन्य दुःख भी भोगा। इसी प्रकार कई लोगों से या अपने कुटुम्बीजनों से प्रीति, रागभाव एवं रति की तथा अपने पुत्र, पुत्री, पत्नी या उन्हीं प्रीतिभाजन लोगों के प्रतिकूल हो जाने, उनके खिलाफ हो जाने या मतभेद-मनोमालिन्य आदि हो जाने अथवा स्वार्थभंग हो जाने पर अप्रीति, अरति एवं द्वेषभाव रखा। यों अपने जीवनकाल में रति-अरति से अनेक पापकर्मों का बन्ध किया और मृत्यु के समय जब अपनी संचित धन-सम्पत्ति, कौटुम्बिकजनों, स्नेहीजनों एवं मन में ममकार-अहंकार से संलग्न सैकड़ों रतिजनक पदार्थों को छोड़कर जाना पड़ता है, तब अरतिजन्य काल्पनिक दुःख का पहाड़ टूट पड़ता है। साथ में कोई भी रतिजन्य पदार्थ नहीं आता तथा जिनके प्रति अरति हुई थी, उसका भी शमन नहीं हुआ। उस समय मृत्यु के प्रति भी अरति होती है, क्योंकि अनिच्छा होते हुए भी सबको छोड़कर जाना पड़ता है। तब साथ में क्या जाता है? रति-अरति आदि पापस्थानों से बद्ध पापकर्मों या कुछ पुण्यकर्मों से निर्मित कार्मणशरीर ही तो जाता है। इससे स्पष्ट है रति-अरति पापस्थान अपने साथ हिंसा से लेकर परिग्रह तक तथा क्रोध से लेकर मिथ्यात्व तक अनेक पापकर्मों का दल अपने साथ बटोर लेता है। एक बार रतिभाव तीव्र बना कि फिर सुख की लालसा सैकड़ों पाप करा देती है। चोरी, व्यभिचार, डाका, पर-स्त्रीगमन आदि वैषयिक सुखों में उसकी रति-अरति बढ़ने लगती है।

रति-अरति की परिवर्तनशीलता में न बहकर व्यक्ति दृष्टि बदले

जैसे मन में पड़ी हुई काल्पनिक वैषयिक सुख-प्राप्ति की लालसा पाप कराती है, वैसे ही मन में पड़ी हुई दुःखनिवृत्ति की लालसा भी पापकर्म कराती है। सुख-प्राप्ति की रति से अथवा दुःखनिवृत्ति की रति से मनुष्य येन-केन-प्रकारेण धन, सुखभोग के साधन, जड़-वस्तुओं की प्राप्ति, संग्रह और सुरक्षा में रात-दिन आर्त्त-रौद्रध्यान के चक्कर में फँसा रहता है। जबकि सुख-दुःख न तो वस्तुओं में है, न ही जड़-वस्तुओं के संग्रह में है। जो व्यक्ति या वस्तु आज सुखदायी लगती है, वही कालान्तर में दुःखदायी बन जाती है। परन्तु मोहमूढ़ मानव रति-अरति नामक पापस्थान को अपनाकर पापकर्मों का संचय करता रहता है। मनोगतवृत्तियों के परिवर्तन के साथ-साथ रति-अरति में भी परिवर्तन होता रहता है। एक भिखारी के पाँच लाख की लॉटरी खुली। वह अत्यन्त खुश हुआ। उसे उसमें रति हुई। ३-४ साल में उसने पाँच लाख और कमा लिये। अब दस लाख हो गए। रतिभाव की मात्रा में वृद्धि हुई। किन्तु एकाएक भाग्य ने पलटा खाया। व्यापार में पाँच लाख का

घाटा लग गया। अब अरति का भयंकर दौर चला। उसे असह्य दुःख हुआ। उसके एक हितैषी मित्र ने समझाया—"भाई ! तुम क्यों दुःखी हो रहे हो। पाँच लाख गये तो क्या हुआ? तुम्हारे पास पाँच लाख तो हैं न? एक दिन तो तुम भिखारी थे, उसकी अपेक्षा तो आज तुम्हारे पास काफी हैं। क्यों दुःख करते हो?" मित्र के समझाने से भिखारी चिन्ता से मुक्त हो गया। दुःख को भी सुखरूप बनाकर जीवनयापन करने लगा। निष्कर्ष यह है कि रति-अरति में भी परिवर्तन होता रहता है। आत्मार्थी व्यक्ति दोनों ही परिस्थितियों में इन दोनों से पर होकर सोचना चाहिए और दुःख को सुखरूप में बदल देना चाहिए।[1]

वस्तुस्वरूप का ज्ञान होने से रति-अरतिभाव नहीं होता

जिसको द्रव्य का यह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक स्वरूप हृदयंगम हो जाता है, वह किसी वस्तु के बनने, रहने या नष्ट होने, वियोग होने अथवा किसी प्रियजन के जन्म और मरण के अवसर पर रति-अरतिभाव नहीं लाता, वह तटस्थ रहकर वस्तु के संयोग-वियोग से हर्ष-शोक नहीं करता। वह समभाव में स्थित रहता है और संवर का लाभ अर्जित कर लेता है।

एक धनिक श्रावक का इकलौता लड़का जवानी में ही चल बसा। उस दिन घर में मेहमान आये हुए थे। सेठ ने मेहमानों से कहा—"आप सभी यहाँ के मन्दिरों में तथा उपाश्रयों में दर्शन तथा प्रवचन-श्रवण कर आइए। मुझे एक आवश्यक कार्य है।" मेहमान दर्शन-श्रवण करने चले गए। उधर उक्त श्रावक कुछ साथियों के साथ पुत्र के शव को लेकर श्मशान पहुँचे, वहाँ उसका दाह-संस्कार करके वापस लौटे। मेहमानों को उसकी जरा भी गन्ध नहीं मिली। उनके द्वारा पूछे जाने पर आपका क्या अनिवार्य कार्य था? श्रावक जी ने कहा—"एक मेहमान को जाना था, उसे पहुँचाने गया था।" दो-तीन दिन बाद सेठ जी को आश्वासन देने कुछ लोग पहुँचे। उन्होंने कहा—"आप तो कहते थे कि एक मेहमान को पहुँचाने गया था, किन्तु हमने सुना है कि आपका इकलौता लड़का चल बसा है। सत्य क्या है?" श्रावक ने कहा—"दोनों ही बातें सत्य हैं। दोनों बातों का स्वरूप और अर्थ एक ही है। मेरे घर में पुत्र का जन्म हुआ, अर्थात् एक मेहमान मेरे घर में आया। वह कुछ वर्षों के लिये ही आया था। उसकी अवधि (आयुष्मर्यादा) पूरी होते ही वह चला गया, अर्थात् वह मेहमान इतने समय तक मेरे घर में रहा। अब जब वह विदा हुआ तो मैं उसे श्मशान तक पहुँचाने गया। आखिर संसार में सभी परिवारों में मेहमान आते हैं और एक दिन चले जाते हैं, जब जाते हैं तो हम पहुँचाने जाते हैं।" लोगों

---

१. 'पाप की सजा भारी, भा. २' से भाव ग्रहण, पृ. ९५१, ९५२, ९५४, ९५६

ने पूछा–"तो आप उसके वियोग में रोए क्यों नहीं?" श्रावक जी बोले–"इसमें रोना क्यों चाहिए? उसकी आत्मा तो अजर-अमर शाश्वत है। यह शरीर उसने यहाँ बनाया था, जिसे यहीं छोड़कर वह चला गया है, साथ में नहीं ले गया है। फिर उसने अच्छा, पवित्र जीवन जीया है, अतः मुझे रोने की आवश्यकता ही क्या है? जिस व्यक्ति को इस प्रकार का तत्त्वज्ञान पच गया है, उसे इष्ट-संयोग में रति और वियोग में अरति करने की आवश्यकता ही कहाँ है? दोनों ही स्थितियों में वह शान्तचित्त है, समभावी है, तत्त्वज्ञान से समृद्ध है। ऐसा समभावी व्यक्ति रति-अरति के प्रसंगों में विचलित न होकर समभाव में स्थित रहता है।

रति-अरति की पाप प्रवृत्ति बंद करने से इस पापकर्मबंध से बच जायेगा

रति-अरति के प्रसंगों में समभाव न रखने से पापकर्मों के बन्ध की परम्परा जन्म-जन्मान्तर तक चल सकती है। रति-अरति नोकषाय मोहनीय की प्रकृति है। आज किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति व्यक्ति रति-अरति रखता है, उससे फिर नोकषाय मोहनीय का प्रबल बंध होता है। फिर इसके उदय से आगामी जन्मों में इसी पाप के संस्कारवश फिर रति-अरति की प्रवृत्ति होती रहेगी। फिर उसी कर्म का बंध, उदय और फिर वही पापकर्म ! यों अनन्त जन्मों तक उसका अन्त नहीं आयेगा। अतः यदि आज और अभी रति-अरति की पाप-प्रवृत्ति बंद कर दी जाए तो अवश्य ही आगे यह पापकर्म नहीं बँधेगा। एक बार यदि पूरी आत्म-शक्ति से रति-अरति की पापवृत्ति-प्रवृत्ति से बच गया तो फिर आगे बचता ही जायेगा। अतः पापकर्म से बचने के लिये सर्वप्रथम रति-अरति की कल्पना से बचना अनिवार्य है।[1]

रति-अरति राग-द्वेष की पूर्वावस्था है

रतिभाव राग की और अरतिभाव द्वेष की पूर्वावस्था है। रति के पीछे राग और अरति के पीछे द्वेष आता है। वस्तुतः रति-अरति ये दोनों राग-द्वेष की ही मन्द मात्रा है, यहीं से राग-द्वेष के बीज पनपते हैं। राग के बीज से रति के और द्वेष के बीज से अरति के अंकुर फूटते हैं। रति-अरति के लघु पाप के पीछे राग-द्वेष की विराट् मोहनीय कर्म की महासत्ता तैनात रहती है।

रति-अरति पापस्थान से बचने का सरल उपाय

अतः जो व्यक्ति रति-अरति को महत्त्व न देकर उन्हें नगण्य समझता है, सुख-दुःख, हर्ष-शोक, प्रीति-अप्रीति का भाव न लेकर दोनों प्रसंगों में समभाव

---

१. 'पाप की सजा भारी, भा. २' से भाव ग्रहण, पृ. ९४५, ९५७, ९५८

रखता है, वही इस पापकर्म से सही-सलामत बच सकता है। समभाव = समतायोग ही रति-अरति के पाप से बचने की एकमात्र रामबाण औषध है। रति-अरतिजन्य सुख-दुःख या संयोग-वियोग की परिस्थिति में तत्त्वज्ञानपूर्वक मन को समझाकर समभाव में स्थिर करना चाहिए–"हे मन ! सुख में लीन मत बन और दुःख में दीन मत बन।" सुख-दुःख, संयोग-वियोग ये सभी द्वन्द्व कर्मजन्य हैं, यहाँ बाह्य सुख भी दुःखबीजरूप है। तेरा वास्तविक आत्मिक-सुख (आनन्द) तो तेरे पास है। साथ ही सुख-दुःख के निमित्त कारणीभूत जो पदार्थ हैं, वे भी अनित्य हैं, क्षणिक हैं, ऐसा विचार करके समभाव में स्थिर रहना चाहिए। तभी इस क्षुद्र पाप से बचकर शाश्वत सुख को जीव प्राप्त कर सकता है।[1]

सुलसा समता की साधना से रति-अरति दोनों ही प्रसंगों पर इनसे बच गई

महासती सुलसा श्राविका के कोई सन्तान नहीं थी तब भी उसे कोई दुःख, चिन्ता, व्यथा नहीं थी। कर्मसिद्धान्त उसके जीवन में रमा हुआ था। उसके पति नाथ–सारथि ने दैवी-साधना से प्राप्त दिव्यफल लाकर सुलसा के खाने के लिये दिये। भवितव्यतावश सुलसा ने ३२ पुत्रों को जन्म दिया। ३२ पुत्र होने पर भी सुलसा को कोई हर्ष (रति) नहीं था। सभी लड़के बड़े होकर मगध सम्राट् श्रेणिक के अंगरक्षक वीर योद्धा बने। चेडा राजा के साथ कोणिक के युद्ध में वे ३२ ही पुत्र मारे गये। सुलसा को जब यह दुःखद सन्देश मिला, तब अंशमात्र भी उसे शोक (अरतिभाव) नहीं हुआ। उसने मन को समभावपूर्वक समझाया–संयोग और वियोग ये दोनों ही अवस्थाएँ अवश्यम्भावी हैं, इनमें रति-अरति करने से सिवाय कर्मबन्ध के कुछ पल्ले नहीं पड़ता। रति-अरति दोनों ही अवस्थाएँ दुःखदायिनी हैं। अतः इनमें समभाव रखना ही इस निरर्थक पापकर्म से बचने का उपाय है।[2]

आत्मरति-परायण समत्व के साधक के लिए क्या रति और क्या अरति ?

'आचारांगसूत्र' के अनुसार–"ऐसे साधक के लिए भला क्या अरति है और क्या आनन्द (रति) है? वह (रति-अरतिपूर्वक राग-द्वेष को ग्रहण न करने पर) अग्रह होकर विचरण कर पाता है।" मतलब यह है कि जिसे आत्म-ध्यान में ही आत्म-रति हो चुकी है, उसे बाह्य रति-अरति से कोई प्रयोजन नहीं रहता। संयम में

---

१. 'पाप की सजा भारी, भा. २' से भावांश ग्रहण, पृ. १७०-१७१

२. (क) आवश्यकचूर्णि

(ख) 'पाप की सजा भारी, भा. २' से संक्षिप्त, पृ. १४१

अथवा आत्म-स्वरूप में रमण करना–आनन्दानुभव करना आत्म-रति है। इससे विपरीत चित्त की व्याकुलता व उद्वेगपूर्ण स्थिति अरति है। इसी आशय से 'आचारांसूत्र' में कहा गया है–"अरति से मुक्त होने वाला मेधावी साधक क्षणभर में अर्थात् बहुत ही शीघ्र विषय/तृष्णा/कामना के बन्धन से मुक्त हो जाता है।"[1]

मनरूपी पक्षी को समाधिरूपी पिंजरे में बंद रखो

मनुष्य का मन पक्षी के समान है। पक्षी जैसे दो पंखों से उड़ता है, उसी तरह मनरूपी पक्षी भी रति और अरतिरूपी दो पंखों से उड़ता है। वह कभी रति में–सुखानुभूति में और कभी अरति में–दुःखानुभूति में उड़ता रहता है। इसकी उड़ान निरन्तर चालू है। अतः ज्ञानी महापुरुष कहते हैं कि इसे उड़ने से रोकने के लिए शरीररूपी पींजरा काम नहीं आएगा। इस पींजरे से तो यह भाग जाता है। अतः इसे समाधिरूपी पींजरे में बंद करके रखो, तभी यह स्थिर रह सकेगा।[2]

मन को समाधि में स्थिर करने के लिए ध्यानरूपी वृक्ष पर आरूढ़ करो

मन को कुछ न कुछ काम चाहिए; इसलिए रति का उदात्तीकरण करते हुए कहा कि मन आत्मा में रति करे, यही समाधि है अथवा रति-अरति की वृत्ति को अत्यन्त मंद करे या शुभ में प्रवृत्त रहे, यही उत्तम विकल्प है। बाह्य विषयों में रति-अरति दोनों ही अशुभ चिन्तनकारक हैं। रति की चिन्ता प्रिय-इष्ट-अनुकूल पदार्थ की प्राप्ति के विषय में है, जबकि अरति की चिन्ता अनिष्ट-अप्रिय-प्रतिकूल पदार्थों की निवृत्तिविषयक है। दोनों वस्तुतः एक ही आर्त्तध्यान वृक्ष की दो शाखाएँ हैं। इनसे निवृत्ति के लिए धर्मध्यान-शुक्लध्यानरूपी वृक्ष पर मन को आरूढ़ करना चाहिए। धर्मध्यानरूपी वृक्ष पर चढ़ा मन अशुभ योग से निवृत्त होकर आत्म-रति और विषयों से अरति के साथ शुभ-योग में प्रवृत्त होगा तथा शुक्लध्यानारूढ़ मन आत्मा में, आत्म-स्वरूप में, आत्म-गुणों में तथा आत्म-ध्यान में ही रति करेगा, पर-भावों और विभावों से उसकी अरति (निवृत्ति) होगी। यह रति-अरति पापस्थान

---

१. (क) का अरती, के आणंदे? एत्थं पि अग्गहं चरे।

–आचारांगसूत्र, श्रु. १, अ. ३, उ. २, सू. १२४ की व्याख्या

(आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. १०६-१०७

(ख) अरतिं आउट्टे, से मेधावी खणंसि मुक्के।

–वही, आ. प्र. स., ब्यावर, श्रु. ८, अ. २, उ. २, पृ. ४५-४६

२. देखें–महामहोपाध्याय श्री यशोविजय जी म. रचित सज्झाय में–

चित्त अरति-रति पांखशुंजी, उडे पंखी रे नित्त।

पिंजर शुद्ध समाधि में जी, रुंध्यो रहे ते मित्त॥

से विरत होने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है। इससे कर्मों का संवर और अंशतः क्षय (निर्जरा) भी होगा। आत्मा पर-भावों में रमण करने से हटकर स्वभाव में स्थित होकर ऊर्ध्वगामी बनेगी।[1]

सत्रहवाँ पापस्थान : माया-मृषावाद : एक अनुचिन्तन

माया-मृषावाद में दो पापस्थानों (आठवें और दूसरे) का मिश्रण है। इसका अर्थ किया गया है–**"मायातः उत्पन्नः मृषावादः = माया मृषावादः।"** अर्थात् माया = कपट से उत्पन्न मृषावाद = झूठ। झूठ ऐसे बोलना जो कपटपूर्वक हो। ऐसा झूठ बोलना या असत्याचरण करना, जो कपट सहित हो, पकड़ में न आ सके। अर्थात् माया का सेवन करते हुए असत्य का आचरण करना माया-मृषावाद है। इसे सीधे शब्दों में कहा जाए तो दम्भ, दिखावा, ढोंग, छलना या प्रतारणा करना या दूसरों को फँसाने के लिये जाल बिछाना, जालसाजी या झूठ-फरेब करना कह सकते हैं।

माया-मृषावादी वारांगना के समान अनेकरूपता से युक्त

माया-मृषावाद का लक्षण करते हुए कहा गया है–

"मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् मायामृषा च शोच्यते।
कदापि सुखदा न स्याद्, विश्वे यथा पण्यांगना॥"

–जिस प्रकार संसार में वारांगना की वृत्ति-प्रवृत्ति मन-वचन में भिन्न-भिन्न होती है, उसी प्रकार मन में कुछ और हो तथा वचन-व्यवहार में उससे भिन्न कुछ और हो, वह माया-मृषा कहलाती है। वह कदापि सुखदायिनी नहीं होती।

वेश्या के मन में केवल धन-प्राप्ति की इच्छा रहती है, उसके अन्तर में किसी के प्रति सच्चा प्रेम नहीं होता, किन्तु बाहर से वह कृत्रिम प्रेम दिखाती है, अनुरागपूर्ण वचन बोलती है, उसी प्रकार माया-मृषावादी मन में कुछ और विचार रखता है और बोलने में बहुत ही माधुर्ययुक्त अनुरागपूर्ण वचन-व्यवहार रखता है।

महात्मा और दुरात्मा में अन्तर : एकरूपता और विपरीतता

नीतिकार भी महात्मा और दुरात्मा का लक्षण इस प्रकार का बताते हैं– "महात्माओं के मन में, वचन में और कायचेष्टा में एकरूपता होती है, वे जो भी बात मन में सोचते हैं, वही वचन से बोलते हैं और काया से व्यवहार भी वैसा ही करते हैं, किन्तु दुरात्मा पुरुषों के मन में कुछ और होता है, वचन से कुछ और ही बोलते हैं और काया से व्यवहार कुछ और ही प्रकार का करते हैं।" निष्कर्ष यह है

---

१. 'पाप की सजा भारी, भा. २' से भाव ग्रहण, पृ. ९६१, ९६९

कि माया-मृषावादी के भी विचार, वाणी और व्यवहार तीनों रूपों में विपरीतता होती है।[1]

जान-बूझकर अपने बोले हुए वचन को भंग करने वाले भी माया-मृषावादी

आज तो प्रायः अधिकांश व्यक्ति विचार, वाणी और व्यवहार की एकरूपता से हटते जा रहे हैं। बोलने के बाद अपना ही बोला हुआ वचन पालने का लोगों को कम ध्यान रहता है। झूठ और वह भी कपट के साथ, इतना सहज हो गया है कि लोग अपने स्वार्थ के लिए ऐसा करने में जरा भी नहीं हिचकिचाते। कहाँ तो भारतीय संस्कृति का यह सूत्र था–"प्राण जाय पर वचन न जाई।" पर आज इसके विपरीत सूत्र–"प्राण जाय पर दाम न जाई।" या "प्राण जाय पर स्वार्थ न जाई।" प्रचलित हो रहा है। राजनैतिक स्वार्थ के वशीभूत होकर लोग सुबह एक बात कहेंगे, दोपहर को उसमें परिवर्तन कर देंगे और शाम को उससे बिलकुल विपरीत बात कहेंगे। इस प्रकार की हेराफेरी या गैर-वफादारी, वचनभग्नता या ठग-विद्या माया-मृषावाद के ही प्रकार हैं। माया-मृषावादी इसी प्रकार अपने वाग्जाल या मायाजाल में लोगों को फँसाकर अपना उल्लू सीधा करता है।

माया-मृषावादी कैसा होता है, कैसा नहीं ?

'उपदेश-सप्ततिका' नामक ग्रन्थ में धर्मबुद्धि और पापबुद्धि का दृष्टान्त माया-मृषावाद को स्पष्टतः समझने के लिए पर्याप्त है। धर्मबुद्धि सरल स्वभावी, भद्र परिणामी, परहित चिन्तन सज्जन था, जबकि पापबुद्धि महाकपटी, ठगवृत्ति वाला, दंभी, असत्यभाषी परगुणद्वेषी और विश्वासघाती था। पापबुद्धि ने चिकनी-चुपड़ी बातें बनाकर धर्मबुद्धि को अपना मित्र बना लिया और साझेदारी में व्यापार के लिये उसे तैयार कर लिया। दोनों मिलकर व्यापारार्थ परदेश गये। सौभाग्य से काफी धन कमाया। पापबुद्धि ने सलाह दी कि अब इस धन को लेकर अपने देश में लौट चलना चाहिए। धर्मबुद्धि ने स्वीकार किया। दोनों ही धन लेकर वहाँ से रवाना हुए। रास्ते में पापबुद्धि ने कहा–"मित्र ! हमें जंगल पार करना है। रास्ते में चोर आदि को पता लगा तो हमें लूट लेंगे। इसलिए यहीं जंगल में इस वृक्ष के नीचे धन को गाड़ दें। कभी मौके पर आकर वापस ले जायेंगे।" बेचारा धर्मबुद्धि उसकी बातों में आ गया। एक वृक्ष के नीचे धन गाड़कर दोनों गाँव में पहुँचे। दो-तीन दिन

---

१. (क) 'पाप की सजा भारी, भा. २' से भावांश ग्रहण

(ख) मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् कर्मण्यद् दुरात्मनाम्॥ –हितोपदेश

बाद एक दिन चुपचाप आकर पापबुद्धि गड़ा हुआ सब धन निकालकर ले गया। कुछ दिन बाद उसने धर्मबुद्धि से कहा—"चलो भाई ! वहाँ से धन निकाल लावें।" दोनों मिलकर निशान वाले पेड़ के पास पहुँचे। गड्ढा खोदा तो धन गायब। यह देख धर्मबुद्धि हक्काबक्का रह गया। यहाँ तक तो पापबुद्धि ने मायावृत्ति की। अब वह मृषावाद पर उतर आया। उसने निर्दोष धर्मबुद्धि को फटकारा—"चोर कहीं के ! मालूम होता है; तू ही गड़ा हुआ धन निकालकर ले गया ! तूने ही सारा धन चुराया है !" बेचारा धर्मबुद्धि किंकर्त्तव्यमूढ़ हो गया। पापबुद्धि ने राजदरबार में जाकर धर्मबुद्धि द्वारा धन चुराने की शिकायत की। राजा ने पूछा—"तुमने जहाँ धन गाड़ा था क्या वहाँ का कोई साक्षी है? धर्मबुद्धि ने ही वह धन लिया है, इस बात का कोई प्रमाण है?" माया-मृषावादी पापबुद्धि ने कहा—"हाँ, हुजूर ! मेरे पास साक्षी और प्रमाण दोनों हैं।" राजा ने कहा—"अच्छा, कल सुबह जंगल में चलकर देखेंगे, फिर न्याय देंगे।" पापबुद्धि तुरन्त घर जाकर अपने वृद्ध पिता से बोला—"आप अभी रात को ही जंगल में चले जाइए और निशानी वाले वृक्ष में जो खोखला है, उसमें घुसकर बैठ जाना। कल सुबह जब राजा के साथ सब लोग आएँ और पूछें तब आप विचित्र-सी आवाज निकालकर कहना—"हाँ, दोनों ने मिलकर धन यहाँ गाड़ा था, किन्तु धर्मबुद्धि परसों उसे खोदकर धन निकालकर ले गया है।" सुबह राजा, मंत्रिवर्ग और नगरजन वहाँ आए। राजा के पूछने पर वृक्ष के खोखले में छिपे हुए पापबुद्धि के वृद्ध पिता ने जैसा उसके मृषावादी पुत्र ने सिखाया था, वैसा ही बोला। यह सुनकर पापबुद्धि हर्षावेश में नाचने लगा और धर्मबुद्धि के सिर पर जूते मारने लगा। राजा तथा अन्य सब लोगों को इस पर शंका हुई। उन्होंने पापबुद्धि को पकड़कर कहा—"ठहरो, अभी न्याय का कार्य पूरा नहीं हुआ है। यदि इसमें वनदेव ही बोल रहा है, तो इस वृक्ष के खोखले में घास-तेल डालकर आग लगा दो।" जब आग की लपटें उठने लगीं तो अन्दर बैठा बूढ़ा चिल्लाया—"बचाओ-बचाओ" और स्वयं कूदकर खोखले से बाहर निकल आया। सब लोगों ने पहचाना—"अरे ! यह तो पापबुद्धि का ही बूढ़ा बाप है। इसी ने यह मायाजाल रचा है। पकड़ो इसे।" लोगों ने पापबुद्धि को पकड़कर उसकी अच्छी पूजा की और धर्मबुद्धि को सारा धन दिलाया।[१]

पापबुद्धि के मन, वचन और तन में माया-मृषावाद का पाप भरा था, वह प्रकट हो गया। मनुष्य अपने पाप को छिपाने के लिए उस पर मधुर वचन, कपटयुक्त व्यवहार का पर्दा डालता है, किन्तु आखिर तो पाप का पर्दाफाश हुए बिना नहीं रहता। माया-मृषावादी पाप का घड़ा फूटने पर यहाँ तो अपने पापकर्म

१. 'उपदेश-सप्ततिका' से संक्षिप्त भाव ग्रहण

की सजा पाता ही है, कदाचित् यहाँ चालाकी से छूट जाए, परन्तु अगले जन्म-जन्मान्तर में तो उसे सजा मिलनी ही है।

माया-मृषावादी की पहचान के लक्षण

माया-मृषावादी की पहचान के लिए 'उपदेशमाला' में कहा गया है–जो व्यक्ति आलसी (प्रमादी) होता है, शठ (धूर्त्त), कपटी, बहाना बनाने में स्वार्थवश तत्पर, अत्यन्त प्रमादी (निद्रालु) तथा स्वयं दोष–दुर्गुणों से भरा होने पर भी गुणवानों के समक्ष अपने आप को विशिष्ट गुण-सम्पन्न बताने का प्रयत्न करने वाला, अपने मुँह से अपनी तारीफ करने वाले व्यक्ति को माया-मृषावादी जानना चाहिए। ऐसा व्यक्ति इन दुर्गुणों के होते हुए भी अपने आप को 'मैं सद्गुणी और सुस्थित हूँ' ऐसा मानता है।

बाघ का चमड़ा ओढ़े हुए गधे के समान माया-मृषावादी

एक व्यक्ति ने अपने गधे को बाघ का चमड़ा ओढ़ाकर किसानों के खेतों में चरने के लिए छोड़ दिया था। पहले तो किसान लोग उससे डरकर निकट नहीं आते थे। परन्तु एक दिन उसे रेंकते देखकर एक किसान ने उसे गधा समझकर उसका व्याघ्रचर्म हटाकर डंडों से पीटकर खदेड़ दिया। उसी तरह साधुवेष में भी कई दंभी, ढोंगी और कपटी फिरते हैं। कई बाबा तो संन्यासी के वेष में दिन में श्रद्धालु लोगों के यहाँ पहुँच जाते हैं, घर का भेद ले आते हैं, रात को वहाँ चोरी करते हैं। जैसा कि कपट क्षपक बनकर महादम्भी घोर शिव नामक ब्राह्मण ने संन्यासी का ढोंग रचा था। ऐसे लोग और भी अनेक कुकर्म करते हैं। शराब, व्यभिचार और जुए के अड्डे भी चलाते हैं। कई संन्यासीवेश में इसी प्रकार साधुता के गुण न होते हुए भी अपने आप को परमहंस, साधुशिरोमणि, भगवद्-भक्त कहते फिरते हैं। कई कलियुगी भगवान भी लोगों को अपने शब्दजाल में फँसाकर गुमराह कर देते हैं। वे अपने पापों पर पर्दा डालने के लिए भगवां वेश पहन लेते हैं। परन्तु जब इनकी कलई खुल जाती है, तब इनकी दशा अत्यन्त शोचनीय हो जाती है।

आज से ढाई हजार वर्ष पहले तीर्थंकर महावीर प्रभु के समक्ष मंखलीपुत्र गोशालक ने भी माया-मृषावादी का नाटक किया था। गोशालक होते हुए भी कहा कि मैं गोशालक नहीं हूँ। वह तो कभी का मर चुका है। मैं तीर्थंकर भगवान हूँ। कुछ भी हो, ऐसे माया-मृषावादी की पापलीला अधिक समय तक नहीं चलती। वस्तुतः माया-मृषावादी जैसा है, उससे कई गुना अधिक अच्छा दिखने का प्रयत्न करता है। खराब होते हुए भी अच्छा दिखावा, आडम्बर एवं प्रदर्शन करके, लोगों की भीड़ इकट्ठी करके अच्छे दिखावे का प्रयत्न करना सरासर दम्भ है, लोकवंचना

है। झूठा होते हुए भी सत्यवादी हरिश्चन्द्र जैसा दिखावा करना भी माया-मृषावाद है। ऐसा दाम्भिक मानव स्वोत्कर्ष के लिए स्वार्थवश ऐसे झूठ-फरेब रचता है, जिससे घोर पापकर्म बँधता है। वह भले ही हर समय ऐसा पापकर्म नहीं कर पाता, फिर भी जनता में वह विश्वसनीय नहीं रहता।

माया-मृषावाद से विरत होने पर व्यक्ति अपनी आत्मा के प्रति वफादार आत्म-दृष्टि-परायण और लोक-विश्वसनीय बनता है। घोर कर्मबन्ध को रोककर वह संवर का लाभ भी प्राप्त कर सकता है।[१]

माया-मृषावाद से विरत होने के उपाय

माया-मृषावाद से विरत होने के दो ही प्रमुख उपाय हैं—सरलता और सत्यता। सरलता के आचरण से माया हटेगी और सत्य के आचरण से मृषावाद, दंभ, कपट हटेगा। सत्य का दृढ़ता से पालन करने के लिए सत्यवादी महापुरुषों के जीवन-चरित्र को पढ़ना, मनन करना तथा तत्त्वज्ञानी साधु-संतों का सत्संग एवं सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय करना चाहिए। दृष्टि सम्यक् होने पर अनुभवज्ञान भी सम्यक् होगा और सत्य-सिद्धान्त के आचरण की ओर कदम बढ़ेगा। सरलता का अर्थ है—शठवृत्ति, कपटाचरण या दम्भ-दिखावे का त्याग करना। मन से सोचने, वचन से बोलने और काया से प्रवृत्ति करने में एकरूपता लाने की भरसक कोशिश करनी चाहिए। जो भी वचन मुँह से निकाले जाएँ, उन्हें पालन करने का प्रयत्न करना चाहिए। जैसा हो वैसा ही सरल भाव से दिखाना-कहना चाहिए। ऐसा करने से माया और मृषावाद दोनों की वृत्ति शान्त हो जाएगी। माया-मृषावाद से विरत होने का यही सुगम राजमार्ग है।

अठारहवाँ पापस्थान : मिथ्यादर्शनशल्य : एक चिन्तन

मिथ्यादर्शन का अर्थ और स्वरूप

अन्तिम अठारहवाँ पापस्थान मिथ्यादर्शनशल्य है। मिथ्यादर्शन का अर्थ है—विपरीत दर्शन। पदार्थ के स्वरूप से जो विपरीतभाव है, वह मिथ्याभाव है।[२]

---

१. (क) अलसो सढोऽवलित्तो आलंबण-तप्परो अइपमाई।
एवं ठिओ वि मन्नई अप्पाणं सुट्ठिओ मि त्ति॥
जे विया पाउडेणं माया-मोसेहिं खाइमुद्धजण।
तिग्गाम-मज्झवासी सो सोअइ कवड-खवगुव्व॥ —*धर्मदासगणि रचित उपदेशमाला*

(ख) 'पाप की सजा भारी, भा. २' से भाव ग्रहण, पृ. १०३०

२. विपरीतभावः मिथ्याभावः। —*स्थानांग टीका*

मिथ्यादर्शन है। अर्थात् किसी भी वस्तु या व्यक्ति का जो सही स्वरूप है, उसे उस स्वरूप में न मानना, न जानना, न देखना, न ही तदनुरूप व्यवहार या प्रवृत्ति करना मिथ्यात्व या मिथ्यादर्शन है। संक्षेप में, पदार्थ वास्तव में जैसा है, उसे उससे विपरीत मानना-जानना मिथ्यात्व है। जैसे—अँधेरे में पड़ी हुई रस्सी को साँप मान लेना, अँधेरे में दूर से ठूँठ को देखकर सोचना—यह ठूँठ है या आदमी? सीप को चाँदी की तरह चमकती देखकर यह चाँदी ही है, ऐसी विपरीत धारणा बना लेना। इस प्रकार विपर्यय, संशय और अनध्यवसाय से युक्त ज्ञान को मिथ्याज्ञान—मिथ्यादर्शन कहा जाता है।[1]

मिथ्यादर्शन को शल्य क्यों कहा गया?

इसे शल्य इसलिए कहा गया है कि यह तीखे काँटे की तरह एक ही जिंदगी नहीं, कई जिंदगियों तक चुभता रहता है, दुःख देता रहता है। एक तरफ ढेर शास्त्रों का ज्ञान हो, भौतिकज्ञान हो, आचरण भी कठोर कष्टों से भरा हो, सहिष्णुता भी प्रबल हो, बाह्य तप भी उत्कृष्ट हो, परन्तु दृष्टि, बुद्धि या ज्ञान सम्यक् न हो—सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व न हो तो वह ज्ञान मिथ्याज्ञान है, वह चारित्र सम्यक्चारित्र नहीं है, वह तप भी सम्यक्तप नहीं, वह सकामनिर्जरा (अंशतः कर्मक्षय) का कारण नहीं, वह कर्ममुक्ति का कारण नहीं, कर्मबन्ध का कारण होकर संसार परिभ्रमण कराने वाला बनता है।

मिथ्यादर्शन में शेष १७ ही पापस्थानों का समावेश हो जाता है

इसीलिए उपाध्याय यशोविजय जी ने कहा कि तराजू के एक पलड़े में १७ पापों को रखो और दूसरे पलड़े में एकमात्र अठारहवें पाप को रखो। दोनों को तोला जाए तो १८वें पाप का पलड़ा भारी होगा। उसका वजन १७ पापों से भी ज्यादा बढ़ा हुआ होगा। क्योंकि १८वाँ मिथ्यादर्शन का पाप ऐसा खतरनाक है कि उसमें १७ ही पापस्थानों का समावेश हो जाता है। यह समस्त पापों का जनक है। इसमें आत्म-दृष्टि का दीप बुझ जाता है और पर-दृष्टि की अपेक्षा से ही समस्त पदार्थों को जाना-माना जाता है। इसलिए मिथ्यादर्शन को समस्त पापों का जन्मदाता कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं।[2]

---

१. संशय—विपर्ययानध्यवसाय युक्तं ज्ञानं मिथ्याज्ञानम्।

२. अठारमुं जे पापनुंस्थानक, ते मिथ्यात्व परिहरिये जी।
सत्तरथी पण ते एक भारी, होय, तुलाए धरीए जी॥

युद्ध में अंधे की तरह अज्ञानी मिथ्यात्वी भी विकारों के साथ युद्ध में विजयी नहीं हो पाता

जिस प्रकार अन्धा आदमी शस्त्रास्त्र चालन में कितना ही दक्ष हो, शूरवीर हो, साहसी हो, किन्तु युद्ध में विजयी नहीं हो सकता, इसी प्रकार मिथ्यात्वी चाहे जितना शास्त्रज्ञ हो, क्रियापात्र हो, उत्कट बाह्य तप करता हो, साधु भी बन गया हो, महाव्रतों की प्रतिज्ञा भी ले ली हो, फिर भी मिथ्यात्व की, मिथ्यादर्शन की उपस्थिति में वह क्रोधादि या राग-द्वेष-मोहादि विकारों पर विजय प्राप्त नहीं कर सकेगा। उसका वह ज्ञान, तप, क्रियाकाण्ड उसे मोक्षमार्ग की ओर न ले जाकर संसारमार्ग की ओर ले जायेगा, वह व्यर्थ ही कायकष्ट सिद्ध होगा। मिथ्यात्वी का ज्ञान, तप, आचार कर्मक्षय का कारण न होकर कर्मबन्ध का ही कारण होता है, भले ही उससे शुभ कर्म का बन्ध हो।[1] जन्मान्ध वीरसेन हठाग्रहवश युद्ध करने गया, शत्रु राजा ने उसकी पीठ में प्रहार किया, तो वह घायल हो गया, उसका भाई शूरसेन शत्रु सेना को हराकर वीरसेन को बचाकर ले आया।

मिथ्यादर्शन को पाप क्यों कहा गया ?

प्रश्न होता है–मिथ्यादर्शन को पाप क्यों कहा गया? इस विषय में यदि ऐसा प्रतिप्रश्न उठाया जाए कि विष को खराब क्यों कहा गया? साँप को खतरनाक क्यों कहा गया? इसका उत्तर यही मिलेगा कि ये जीव के लिए घातक हैं, प्राणहरणकर्त्ता हैं। इसी प्रकार मिथ्यादर्शन को भी घोर पाप इसलिए कहा गया कि यह जीव के समस्त आत्म-गुणों की घात करता है। विष तो एक ही बार मारता है, एक जन्म में ही घातक बनता है, उससे तो फिर भी योग्य उपचार से बचा जा सकता है, परन्तु मिथ्यात्व जन्म-जन्मों तक आत्म-गुणों का घातक बनता है, अनन्त जन्मों तक बार-बार जन्म-मरण का कारण बनता है, सद्‌बोध (बोधि) प्राप्त नहीं होने देता। दर्शनमोहनीय कर्म के कारण मिथ्यात्व जीव के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सब पर पर्दा डाल देता है, विवेक मूढ़ बना देता है। जैसे मदिरा के नशे में चूर व्यक्ति अंटसंट बोलता है, उसका विवेक नष्ट हो जाता है, उसका व्यवहार भी असम्बद्ध हो जाता है, वैसे ही मिथ्यात्व का नशा चढ़ जाने पर जो अपना नहीं है, उसे वह अपना मानता है तथा देव, गुरु और धर्म वास्तविक नहीं हैं, ढोंगी हैं,

---

१. (क) न जिणइ अंधो पराणीयं। —*आचारांग निर्युक्ति २१९*

(ख) अन्ध न जीते परनी सेना, तिम मिथ्यादृष्टि नवि सीजे जी।
वीरसेन-शूरसेन दृष्टान्ते समकितनी निर्युक्ते जी॥ —*१८वें पापस्थान की सज्झाय*

(ग) 'पाप की सजा भारी, भा. २' से भावांश ग्रहण, पृ. १०५६-१०५७

संसारमार्ग की ओर ले जाने वाले हैं, उन्हें वह सच्चे देव-गुरु-धर्म मानने-जानने लगता है और सच्चे देव-गुरु-धर्म को झूठे। इसीलिए मिथ्यात्व गुणस्थान सबसे भयंकर अधोगामी है, आत्मा का परम शत्रु है, घातक है। आत्मा में यह काँटा जब तक दूर नहीं होता, तब तक शुद्ध धर्माचरण नहीं हो पाता।

शास्त्रों में इस प्रकार मिथ्यात्व के १०, ५, ६, ३, २१ और सब मिलाकर २५ भेद माने गए हैं। यहाँ इन सब की व्याख्या करने का अवकाश नहीं है।[1]

मिथ्यादर्शनशल्य को निकालने के उपाय

मिथ्यादर्शनशल्य को निकालने का सरल उपाय है—स्वाध्याय, सत्संग, देव-गुरु-धर्म के प्रति श्रद्धा-भक्ति, यथाशक्ति बाह्य आभ्यन्तर तप करना, धर्माचरण में सम्यक् पुरुषार्थ करना, जीवादि तत्त्वों पर श्रद्धा न करना, उन्हें जानना-मानना और समय-समय पर कर्मबन्ध से छूटने का उपाय सोचना, तत्त्वज्ञान के द्वारा आत्मा को मिथ्यात्व आदि सभी पापस्थानों से विरत करने का प्रयत्न करना। मूल तो पर-भावों का चिन्तन, पर-भावों में सुख मानने का मिथ्यादर्शन छोड़कर आत्म-भावों—आत्म-गुणों का चिन्तन-मनन करने से मिथ्यात्व रोग से मुक्ति मिल सकती है। क्रोधादि चार कषाय, राग, द्वेष, रति-अरति और मिथ्यादर्शनशल्य, ये पापस्थान मन से सम्बन्धित हैं। इसलिए मनःसंवर पर अधिक ध्यान देना चाहिए।[2]

● ●

---

१. मिथ्यादर्शन की विशेष व्याख्या तथा उसके विभिन्न भेदों के विषय में देखें—कर्मविज्ञान के तृतीय भाग में आस्रव की आग के उत्पादक और उत्तेजक शीर्षक निबन्ध तथा छठे भाग में सम्यक्त्व-संवर से सम्बन्धित निबन्ध

२. (क) 'पाप की सजा भारी, भा. २' से भावांश ग्रहण

(ख) स्वाध्यायेन गुरोर्भक्त्या, दीक्षया तपसा तथा।
येनकेनोद्यमेन मिथ्यात्व-शल्यमुद्धरेत्॥

२४

पतन और उत्थान का कारण : प्रवृत्ति और निवृत्ति

जीव अठारह पापस्थानों से भारी होते हैं

गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्तानुसार जो चीज भारी होती है, वह पृथ्वी पर शीघ्र ही आ गिरती है। इसके विपरीत जो चीज हलकी होती है, वह ऊपर-ऊपर उठती जाती है। भगवान महावीर से कर्मविज्ञान के इसी सिद्धान्तानुसार जब जीवों के गुरुत्व (भारी) और लघुत्व के विषय में पूछा गया कि जीव किन कारणों से शीघ्र ही भारी हो जाते हैं और किन कारणों से हलके होते हैं? इसके उत्तर में उन्होंने गणधर गौतम को तथा जयन्ती श्रमणोपासिका को फरमाया–प्राणातिपात (हिंसा) से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक जो अठारह पापस्थान बताये गए हैं, उन पापकर्मों के मन-वचन-काया द्वारा आचरण करने पर जीव शीघ्र ही गुरुत्व (भारीपन) को प्राप्त होते हैं और जब जीव इन्हीं अठारह पापस्थानों (पापकर्मबन्ध के कारणों) से विरत हो जाते हैं, इनका त्याग करते हैं, तब वे शीघ्र ही लघुत्व (हलकेपन) को प्राप्त होते हैं।

आगे उन्होंने कहा–"इन्हीं अठारह पापस्थानों से विरत न होने वाले का संसार बढ़ता है, दीर्घ होता है और वह संसार में परिभ्रमण करता है। इसके विपरीत इनसे निवृत्त होने वाले का संसार घटता है, संक्षिप्त होता है और ऐसा जीव संसार-समुद्र के पार पहुँच जाता है।[1]

---

१. (क) कहं णं भंते ! जीवा गुरुयत्तं हव्वमागच्छंति? गोयमा ! पाणातिवातेणं, मुसावादेणं, अदिण्णा, मेहुण-परिग्गह-कोह-माण-माया-लोभ-पेज्ज-दोस-कलह-अब्भक्खाण-पेसुन्न-रति-अरति-पर-परिवाय-मायामोस-मिच्छादंसणसल्लेणं एवं खलु गोयमा ! जीवा गुरुयत्तं हव्वमागच्छंति।

कहं णं भंते ! जीवा लहुयत्तं हव्वमागच्छंति? गोयमा ! पाणातिवातवेरमणेणं जाव मिच्छादंसणवेरमणेणं, एवं खलु गोयमा ! जीवा लहुयत्तं हव्वमागच्छंति।

एवं आकुलीकरेंति एवं परित्तीकरेंति एवं दीहीकरेंति एवं हस्सीकरेंति एवं अणुपरियट्टंति एवं वीतीवयंति। पसत्था चत्तारि अप्पसत्था चत्तारि।

–भगवतीसूत्र, श. १, उ. ९, सू. १–३

आत्मा के अधोगमन के कारण : अठारह पापस्थान

'आवश्यकसूत्र' आदि आगमों के अनुसार-१८ पापस्थान (पापकर्मबन्ध के कारण) ये हैं-(१) प्राणातिपात, (२) मृषावाद, (३) अदत्तादान, (४) मैथुन, (५) परिग्रह, (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया, (९) लोभ, (१०) राग, (११) द्वेष, (१२) कलह, (१३) अभ्याख्यान, (१४) पैशुन्य, (१५) पर-परिवाद (पर-निंदा), (१६) रति-अरति, (१७) माया-मृषावाद, (१८) मिथ्यादर्शनशल्य।[1]

जीव पापों के सेवन से भारी और विरति से हलके होते दिखाई क्यों नहीं देते ?

कुछ लोगों का यह तर्क है कि इन अठारह पापस्थानों से जीव (आत्मा) भारी होता तथा इन पापस्थानों से विरत होने से हलका होता हुआ दिखाई नहीं देता है, तब कैसे समझा जाए कि इन १८ पापस्थानों से या इनसे निवृत्ति से जीव भारी या हलका होता है? इसका समाधान कर्मविज्ञान की दृष्टि से यों समझना चाहिए-मूल में (शुद्ध) आत्मा न तो भारी है और न हलकी है। आत्मा जब इन प्राणातिपात आदि अशुद्ध विभावों से युक्त होती है, तब भावतः पापकर्म का बन्ध करती है, जीव के वे भाव भी अवधिज्ञानी, मनःपर्यायज्ञानी आदि अतीन्द्रियज्ञानियों की पकड़ में नहीं आते, किन्तु जब वे भावकर्म कर्मवर्गणाओं से युक्त होकर द्रव्यकर्म के रूप में परिणत होते हैं-बँध जाते हैं, तब वे कर्मवर्गणा के पुद्गल चतुःस्पर्शी होने से अतीन्द्रियज्ञानियों की पकड़ में आ जाते हैं। पापकर्मों के कारण वह अशुद्ध आत्मा भारी हो जाती है और भारी वस्तु सदैव नीचे गिरती है तथा हलकी वस्तु सदैव ऊपर उठती है। इस अपेक्षा से उपर्युक्त भगवत्कथन का फलितार्थ यह है कि इन १८ पापस्थानों (पापकर्मबन्धक कारणों) से आत्मा भारी होकर नीचे गिरती है-उसका पतन होता है एवं इन पापस्थानों से विरत होने पर आत्मा हलकी होकर ऊपर उठती है, उसका उत्थान होता है।[2]

पिछले पृष्ठ का शेष-

(ख) तए णं सा जयंती समणोवासिया .... एवं वयासी-कहं णं भंते ! जीवा गुरुयत्तं हव्व मागच्छंति? जयंती ! पाणाइवाइएणं जाव मिच्छादंसणसल्लेणं, एवं खलु जीवा गुरुयत्तं हव्वमागच्छंति। एवं जहा पढमसए जाव वीईवयंति।

-भगवतीसूत्र, श. १२, उ. २, सू. ४४२

१. देखें-आवश्यकसूत्र में अष्टादश पापस्थान का पाठ, दशाश्रुतस्कन्ध, दशा. ६

२. (क) 'कर्मग्रन्थ, भा. २' (मरुधरकेसरी) से भाव ग्रहण, पृ. ४६५

(ख) देखें-भगवतीसूत्र, श. १२, उ. ५, सू. ४५० में अठारह पापस्थानों के लिए चतुःस्पर्शी-निरूपण

तुम्बे पर लेप के रूपक द्वारा पापस्थानों से गुरुत्व-प्राप्ति का बोध

गणधर गौतम स्वामी ने इसी सूत्र के सन्दर्भ में प्रश्न किया है–भगवन् ! (अष्टादश पापस्थानों से अविरति व विरति से) जीव कैसे गुरुत्व (भारीपन) या लघुत्व (हलकेपन) को शीघ्र प्राप्त हो जाता है? इसका समाधान करते हुए भगवान ने एक रूपक के द्वारा समझाया–गौतम ! जैसे कोई पुरुष एक बड़ा-सा निश्छिद्र और निरुपहत (बिना टूट-फूट वाला) सूखा तुम्बा लेकर उस पर कुश और डाभ (नारियल की जटा) लपेटता है, फिर उस पर मिट्टी के लेप से लेपन करता है। तत्पश्चात् उसे आँच में देकर तपाता है। उसके सूख जाने पर दूसरी बार फिर उस पर दर्भ और कुश लपेटता है और गीली मिट्टी का लेप करता है, फिर उसे आग में तपाता है, सूख जाने पर फिर तीसरी बार भी पूर्ववत् दर्भ और कुश लपेटकर तथा उस पर गीली मिट्टी का लेप करके आग में तपाता है, सूख जाने पर इसी उपाय से क्रमशः सात बार दर्भ-कुश को लपेटकर उस पर गीली मिट्टी का लेपन करके आँच में तपाकर सुखाता है। तत्पश्चात् आठवीं बार गीली मिट्टी के लेपनों से लीपता है। फिर उस तुम्बे को पुरुष डूब जाय तथा तैरकर पार न किया जा सके, ऐसे अथाह जल में डाल देता है। ऐसी स्थिति में हे गौतम ! मिट्टी के आठ-आठ लेपों से भारी भरकम बना हुआ वह तुम्बा उस पानी के ऊपरी सतह को लाँघकर नीचे भूमितल में जाकर स्थित हो जाता है। हे गौतम ! इसी तरह जीव भी प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य नामक १८ पापस्थानों से अष्टविधकर्मों की प्रकृतियाँ अर्जित करके गुरु, गुरुतर और गुरुतम होकर आयुष्यपूर्ण होने पर काल करके भूमितलों का क्रमशः अतिक्रमण करते हुए ठेठ नीचे नरकतल में जाकर ठहरते हैं। इस प्रकार हे गौतम ! जीव शीघ्र गुरुत्व (भारीपन) को प्राप्त होते हैं।[1]

पापस्थानों से मुक्त मानव ऊर्ध्वगमन करता है

हे गौतम ! इसी प्रकार जब उस तुम्बे का ऊपर का पहला मिट्टी का लेप पानी के कारण सड़-गलकर उतर जाता है, तब नीचे के भूमितल से थोड़ा-सा ऊपर उठ

---

१. कहं णं भंते ! जीवा गुरुयत्तं वा लहुयत्तं वा हव्वमागच्छंति? गोयमा ! से जहानामए केइ पुरिसे एगं महं सुक्कं तुंबं निच्छिद्दं निरुवहयं दब्भेहिं य कुसेहिं य बेढेइ, २ त्ता, मट्टियालेवेण लिंपइ २ त्ता उण्हे दलयइ २ त्ता सुक्कं समाणं दोच्चं पि.... तच्चं पि.... एवं खलु एएणं उवाएणं सत्तरत्तं अंतरा वेढेमाणे अंतरा लिंपेमाणे अंतरा सुक्कावेमाणे जाव अट्ठहिं मट्टियालेवेणं आलिंपइ २ त्ता अथाह-मतारमदपोरिसियसि उदगंसि पक्खिवेज्जा। से तुंबे.... गरुयभारियाए उप्पिं सलिलमइवइत्ता अहे धरणियलपइट्ठाणे भवइ। एकामेव गोयमा जीवा वि.... पाणाइवाएणं जाव मिच्छादंसणसल्लेणं अणुपुव्वेणं अट्ठकम्मपगडीओ समज्जित्ता तासिं गुरुपभारियाए कालमासे कालं किच्चा धरणियलमइवइत्ता अहे नगरतल-पइट्ठाणा भवंति।

–*ज्ञाताधर्मकथा*, अ. ६

जाता है। उसके पश्चात् दूसरा मिट्टी का लेप भी जब इसी प्रकार उतर जाता है, तब वह तुम्बा हलका होकर थोड़ा और ऊपर उठ जाता है। इस प्रकार आठों ही मिट्टी के लेप इसी उपाय से जब पानी में सड़-गलकर उतर जाते हैं, तब वह तुम्बा बन्धनमुक्त और हलका होकर नीचे के पृथ्वीतलों को क्रमशः लाँघता हुआ एकदम ऊपर सलिलतल (पानी के सतह) पर आ जाता है। हे गौतम ! इसी प्रकार जीव प्राणातिपात विरमण से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य-विरमण से क्रमशः आठों कर्मों की प्रकृतियों का क्षय करके (हलके होकर) क्रमशः आकाशतल को लाँघता हुआ ठठ ऊपर लोक के अग्र भाग में आकर स्थित हो जाता है। इस प्रकार, हे गौतम ! जीव लघुत्व (हलकेपन) को प्राप्त होते हैं।

निष्कर्ष यह है कि मिट्टी के लेप से लिप्त तुम्बा भारी होकर एकदम नीचे भूतल तक चला जाता है, इसी प्रकार आस्रवों के कारण कर्मों से गुरु (भारी) बने हुए जीव अधोगति में चले जाते हैं। इसके विपरीत, जैसे मिट्टी के लेपों से रहित एकदम हलका होकर तुम्बा जल की सतह पर स्थित हो जाता है, वैसे ही कर्मों के लेप से रहित—कर्म-विमुक्त होकर जीव क्रमशः लोक के अग्र भाग में जाकर स्थित हो जाते हैं। आशय यह है कि पापस्थानों के सेवन से पापकर्मों से भारी होने से जीव का अधःपतन हो जाता है और उन पापस्थानों से विरत होने से पापकर्मों से मुक्त जीव हलका होने पर उसका क्रमशः ऊर्ध्वगमन होता है। पापस्थानों के सेवन से आत्मा का अधोगमन, संसार-परिवर्धन, संसार-परिभ्रमण अप्रशस्त है, जबकि पापस्थानों से विरत होने से आत्मा का ऊर्ध्वगमन, संसार का परित्तीकरण (अल्पीकरण) तथा संसार-सागर से तरण प्रशस्त है।[1]

कर्मविज्ञान की दृष्टि से भगवान महावीर ने उपर्युक्त समाधान द्वारा यह स्पष्टतः ध्वनित कर दिया है कि हे भव्यजीवो ! देवदुर्लभ मनुष्य-जन्म पाकर क्यों पापकर्मों के आचरण से आत्मा को भारी बनाकर जन्म-मरण बढ़ाते हो? क्यों संसार-परिभ्रमण का पथ जान-बूझकर लेते हो? इस समय तुम्हारे हाथ में बाजी है,

---

१. (क) एवं खलु गोयमा ! से तुंबे ...... एएणं उवाएणं तेसु अट्ठसु मट्टियालेवेसु तिन्नेसु जाव विमुक्कबंधणे अहे धरणियलपइवइत्ता उप्पिं सलिल-तलपइट्ठाणे भवइ। एवामेव गोयमा ! जीवा पाणाइवाय-वेरमणेणं जाव मिच्छादंसणसल्ल-वेरमणेणं अणुपुव्वेणं अट्ठकम्म-पगडीओ खवेत्ता गगणतलमुप्पइत्ता उप्पिं लोयग्ग-पइट्ठाणा भवंति। एवं खलु जीवा लहुयत्तं हव्वमागच्छंति।

(ख) जह मिउलेवालित्तं गरुयं तुंबं अहो वयइ एवं।
आसव-कय-कम्मगुरु जीवा वच्चंति अहरगइं॥१॥
तं चेव तव्विमुक्कं जलोवरिं ठाइ जायलहुभावं।
जह तह कम्मविमुक्का लोयग्गपइट्ठिया होंति॥२॥ —ज्ञाताधर्मकथासूत्र, अ. ६

तुम चाहो तो संवर और निर्जरा द्वारा नवीन आते हुए कर्मों का निरोध और पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करके अपनी आत्मा को ऊर्ध्वगति (मोक्षगति) में लोक के अग्र भाग पर ले जा सकते हो।

परन्तु वर्तमान युग के अधिकांश मानव चाहते तो अक्षय सुख हैं, परन्तु अनेक दुःखों के कारणभूत पापकर्मों को अपनाकर दुर्गति के द्वार खोलने का पराक्रम करते हैं।

पापकर्म न करने का भगवान का उद्‌बोधन

इसीलिए भगवान महावीर ने उद्‌बोधन करते हुए कहा-"वह साधक जो पूर्वोक्त आदानीय (अठारह प्रकार के पापों से विरतिरूप संयम) को सम्यक् प्रकार से जानकर संयम-साधना के लिए समुद्यत हो गया है, (इसलिए) वह स्वयं पापकर्म न करे और न ही दूसरों से पापकर्म कराए (करने वाले की अनुमोदना भी न करे)।" आगे उन्होंने आत्मार्थी-साधक को यों चिन्तन करने के लिए कहा-"मैंने (मेरे इस जीव ने) आसक्तिवश अनेक प्रकार से बहुत-से पापकर्मों का बन्ध किया है", (ऐसा सोचकर) (उन कर्मों का क्षय करने हेतु) तू सत्य में धृति कर (दृढ़ हो), इस (सत्य) में स्थिर रहने वाला मेधावी समस्त पापकर्मों का शोषण (क्षय) कर डालता है।[1]

फिर भी पापकर्म क्यों और किसलिए करते हैं ?

इतना सावधान करने के बावजूद भी अधिकांश मानव अतीत में और वर्तमान में भी पापकर्म करते देखे जाते हैं। उन्हीं को लक्ष्य में रखकर 'आचारांगसूत्र' में कहा गया है-"राग और द्वेष से अथवा स्व और पर के निमित्त से या इहलोक और परलोक के लिए अथवा राग और द्वेष दोनों कर्मबीजों से जो हत-दुर्हत (कलुषित) है, वह (आत्मा) अपने वन्दन, सम्मान एवं पूजा-प्रतिष्ठा पाने के लिए (हिंसादि अठारह प्रकार के पापों में) प्रवृत्त होता है। ऐसा करने में कितने ही लोग प्रसन्नता का अनुभव (प्रमाद) करते हैं।"

आशय यह है कि मनुष्य अपनी पूजा, प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि एवं बहुमान के लिए बहुत ही आरम्भ-समारम्भ करता है, हिंसादि अठारह पापस्थानों का सेवन करता हुआ भी नहीं हिचकिचाता। उसके लिए बहुत ही आडम्बर और प्रदर्शन करता है।

---

१. (क) से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं, समुट्ठाय, तम्हा पावकम्मं नेव कुज्जा, न कारवेज्जा।
-आचारांग, श्रु. १, अ. २, उ. ६

(ख) बहुं च खलु पावं कम्मं पगडं, सच्चम्मि धिइं कुव्वहा।
एत्थोवरए मेहावी सव्वं पावं कम्मं झोसइ। *-आचारांग, श्रु. १, अ. ३, उ. २*

सत्ताधीश बनकर पूजा-प्रतिष्ठा पाने के लिए अनेक प्रकार के झूठ-फरेब, छल-प्रपंच और तिकड़मबाजी करता है। कई व्यक्ति ऐसे पापकृत्यों के लिए माया, कपट, झूठ, हिंसा, बेईमानी और धोखेबाजी करने में सिद्धहस्त होते हैं। अपने तुच्छ क्षणिक जीवन में पूजा-प्रतिष्ठा पाने के लिए कई नामी साधक भी हिंसा, असत्य, अभ्याख्यान, पर-परिवाद, माया, बेईमानी, रति-अरति आदि पापस्थानों का निःसंकोच सेवन करके अपने त्याग, वैराग्य और संयम की बलि दे देते हैं। वे मन ही मन राग, द्वेष, मोह, ईर्ष्या, घृणा, वैर-विरोध आदि में पापकर्मों की लहरों में डूबते-उतरते रहते हैं।[१]

परन्तु एक आचार्य ने आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा है–"मनुष्यलोक में यह आश्चर्य है कि ऐसे लोग (जो पाप और धर्म का स्वरूप और फल जानते हुए भी) प्रसंगवश धर्माचरण भी नहीं करते, प्रत्युत प्रयत्नपूर्वक (चलाकर) पापकृत्यों का आचरण करते हैं। सचमुच ऐसे लोग क्षीर (दूध) को छोड़कर विष का पान करते हैं।"[२]

पापकर्मों के फल से कोई भी बच नहीं सकता

कई लोग अन्ध-विश्वासपूर्वक यह सोचते हैं कि हम चाहे जितना पापकर्म करें, अमुक देवी, देव, भगवान, कुलदेवी अथवा अमुक सत्ताधीश या धनाढ्य व्यक्ति हमें पापकर्मों के फल से बचा लेंगे, हमारा बाल भी बाँका न होने देंगे। परन्तु यह निरा भ्रम है। कहा भी है–अपनी कर्म-परिणति से जीव ने जन्म-जन्मान्तर में जो भी अच्छे-बुरे = पुण्य-पापकर्म किये हैं, उन्हें बदलने या नष्ट करने में (स्वयं के सिवाय) देवी-देवता या असुर आदि कोई कुछ भी नहीं कर सकते हैं।" और "अत्यन्त उग्र (उत्कट) पुण्य-पापों का फल तो प्रायः इसी जन्म में यहीं प्राप्त हो जाता है। फिर वह तीन वर्ष में, तीन मास में, तीन पक्ष में या तीन दिन में ही क्यों न हो (जब भी कर्म उदय में आ जाए), फल अवश्य ही भोगना पड़ता है।"

जिनके लिए पापकर्म करता है, फल भोगने में वे हिस्सा नहीं बँटाते

आश्चर्य तो यह है, मनुष्य जिन निमित्तों के आधीन होकर पापकर्म करता है,

---

१. (क) दुहओ जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए जंसि एगे पमायंति (पमोयंति)।
–आचारांग, श्रु. १, अ. ३, उ. ३

(ख) देखें–इसी सूत्र की व्याख्या, आचारांगसूत्र, श्रु. १, अ. ३, उ. ३ (आ. प्र. समिति, ब्यावर) में, पृ. १११-११२

२. यत्नेन पापानि समाचरन्ति, धर्मं प्रसंगादपि नाचरन्ति।
आश्चर्यमेतद्धि मनुष्यलोके, क्षीरं परित्यज्य विषं पिबन्ति॥

उनके दुष्परिणामों के बारे में नहीं सोचता है कि मैं इन पापकृत्यों को कर रहा हूँ, इनका कितना बुरा नतीजा आएगा ![1] यह ठीक ही कहा है-"पुरुष अपने भाई-बहन, पत्नी-पुत्र आदि परिवार, स्नेहीजन या अपने सम्प्रदाय, जाति, प्रान्त, राष्ट्र एवं समाज के लोगों के लिए तथा अपने शरीर के निमित्त से (मोहवश) जितने पापकर्म करता है, उनके उदय में आने पर उनके फल (सजा) भोगने का समय आता है, तब बेचारा अकेला ही नरक, तिर्यंच आदि कुगतियों में उन सब पापों का, महाभयंकर दुःखरूप फल भोगता है।" इसी दृष्टि से भगवान महावीर ने कहा-"जो मनुष्य पापकर्मों, यानी छलकपट, झूठ-फरेब, धोखाधड़ी, चोरी-डकैती, तस्कारी, बेईमानी, ठगी, बलात्कार, व्यभिचार, मिलावट, गबन, भ्रष्टाचार या ऐसे ही अकरणीय पापकृत्यों द्वारा धन को अमृत समझकर अथवा कुबुद्धि से प्राप्त करते हैं, कमाते हैं, उसमें आसक्ति करके बैठ जाते हैं, उसका संग्रह करते हैं, वे राग, द्वेष, मोह, तृष्णादि पाशबन्धनों में फँसते हैं। अन्त में, धन तो यहीं धरा रह जाता है और उन्हें यहाँ से कूच कर अन्यत्र जाना पड़ता है। ऐसे मनुष्य कुटुम्ब या समाज आदि के लिए अनेक जीवों से वैर बाँधकर अन्त में नरकगति प्राप्त करते हैं।" (इतना ही नहीं) "संसारी मनुष्य दूसरों के-यानी अपने परिवार, सम्प्रदाय, जाति, देश आदि के लोगों के सुख के लिए बुरे से बुरे पापकर्म कर डालता है, पर जब उनके दुष्फल भोगने का समय आता है, तब अकेले को ही सब दुःख भोगने पड़ते हैं। सुख बँटाने के लिए तो सभी बन्धु-बान्धव हैं, पर कोई भी बन्धु-बान्धव या अपने माने हुए स्वजन उसका दुःख बँटाने के लिए नहीं आते।"[2] अपने और अपनों के लिए पापकर्म करके सुख देने वाले लोगों का यह सोचना भी अत्यन्त भ्रान्तिजनक है, मिथ्या है कि समय आने पर वे अपने माने हुए स्वजन या बन्धुजन हमें सुख देंगे, उनके सुख के लिए हम कुछ नहीं करेंगे तो वे हमें त्रास या दुःख

---

१. (क) यदुपात्तमन्यजन्मनि शुभमशुभं वा स्वकर्म-परिणत्या।
तच्छक्यमन्यथा नैव, कर्तुं देवासुरैरपि॥

(ख) अत्युग्र-पुण्य-पापानामिहैव फलमाप्यते।
त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः॥

२. (क) पुरुषः कुरुते पापं, बन्धुनिमित्तं वपुर्निमित्तं वा।
वेदयते तत्सर्वं नरकादौ पुनरसावेकः॥

(ख) जे पावकम्मेहिं धणं मणुस्सा, समाययंति अमयं गहाय।
पहाय ते पास-पयट्टिए नरे, वेराणुबद्धा नरयं उवेंति॥२॥
संसारमावन्न परस्स अट्ठा, साहारणं जं च करेइ कम्मं।
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले न बंधवा बंधवयं उवेंति॥४॥

-उत्तराध्ययन, अ. ४, गा. २, ४

देंगे। इस भ्रान्ति को दूर करने हेतु एक आचार्य ने कहा है–"न तो कोई किसी को दुःख देता है या दुःखी करता है और न ही कोई किसी को सुख देता है या सुखी करता है। हे आत्मन् ! जो भी तूने पूर्व-जन्म या जन्मों में शुभ या अशुभ आचरण किया है, वही संचित पूर्वकृत कर्म ही आज तुझे सुखी-दुःखी कर रहा है।" दूसरा कोई भी सुख-दुःख का दाता नहीं है। दूसरा मुझे सुख या दुःख देता है, यह खोटी बुद्धि (मिथ्याज्ञान) है। जिसने शरीरादि के कारणवश जो भी जल्दबाजी में पुण्य या पापकर्म किये हैं, उन्हीं का अच्छा-बुरा फल सभी भोगते हैं।"[१]

अविवेकी सुख-दुःख के मूल को नहीं सोचता

मनुष्य चाहता तो सुख है, परन्तु सुख के मूल धर्म का आचरण नहीं करता; धर्म (अहिंसा, संयम और तपरूप धर्म का या रत्नत्रयरूप धर्म) का आचरण नहीं करना चाहता। प्रत्युत पापकर्मों को वह आदर और उत्साहपूर्वक खुशी-खुशी, जाति-कुलादि के मद से गर्वित होकर करता है, परन्तु पाप का फल भोगना नहीं चाहता, उस समय टालमटूल करता है।[२] परन्तु वह पापकर्म जब उदय में आता है, तब किसी को भी नहीं छोड़ता, वह धन या अन्य रिश्वत से कदापि नहीं छोड़ता। पापी जीव अपने ही पापों से दुःख पाता है, भयंकर यातनाएँ उसे ही भोगनी पड़ती हैं। किसी भी भगवान या ईश्वर, गॉड या खुदा से माफी माँगने भर से कोई भी जीव अपने पापकर्मों के फल से बच नहीं सकता।

धर्मस्थानों में क्रिया करने से पाप नहीं धुल सकते

कई मनुष्य यह सोचते हैं कि हम मन्दिर, चर्च, मसजिद, उपाश्रय, गुरुद्वारा आदि धर्मस्थानों में जाकर भगवान की, खुदाताला की, गॉड की या परमात्मा की स्तुति, भक्ति, प्रार्थना, नमाज आदि कर लेते हैं और अपने धर्म-सम्प्रदाय के माने हुए क्रियाकाण्ड जप, नामस्मरण, तप या स्वध्याय (ग्रन्थवाचन) आदि कर लेते हैं, इतने से हमारे सब पापकर्म धुल जाएँगे। बाहर घर में, समाज या राष्ट्र में, व्यवसाय में या नौकरी में चाहे जो कुछ पापकृत्य करें, भ्रष्टाचार, असदाचार करें, उन सब पापकृत्यों को धर्मस्थान में जाकर धो आते हैं अथवा थोड़ा-सा दान, पुण्य

---

१. (क) न परो करेइ दुक्खं, नेव सुहं, कोई कस्सइ देई।
जं पुण सुचरिअ-दुचरिअ परिणमउ पुराणयं कम्मं॥
(ख) सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता, परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
पुराकृतं कर्म तदेव भुज्यते, शरीर हेतोस्त्वरया त्वया कृतम्॥

२. धर्मस्य फलमिच्छन्ति, धर्मं नेच्छन्ति मानवाः।
फलं पापस्य नेच्छन्ति, पापं कुर्वन्ति सादराः॥

करने से पाप धुल जाते हैं। परन्तु यह सब निराभ्रम है। जब तक उन पापकर्मों-दुष्कर्मों को मन से नहीं त्यागेंगे, स्वेच्छा से पापकर्मों को त्यागने का संकल्प नहीं करेंगे, तब तक वे पापकर्म जरा-से क्रियाकाण्डों के छींटों से या भगवान की बाह्य भक्ति से मिटने वाले नहीं हैं।

भय से पापकर्म न करने वाले भी पाप के फल से नहीं बचते

कई लोग यह सोचते हैं कि हमें पाप करते हुए कोई देखता नहीं है अथवा हम उन पापकृत्यों को ऐसे एकान्त में करेंगे कि समाज, राष्ट्र या परिवार में हमारी निंदा भी नहीं होगी और सरकार भी हमें अपने पापकर्मों की सज़ा नहीं दे पाएगी। रही बात परलोक की या भगवान की। भगवान तो दयालु है, वह तो माफी माँग लेने से माफी दे देगा, परलोक में वे पाप कहाँ हमें सजा देने आएँगे; क्योंकि पापकर्म तो जड़ हैं, पुद्गल हैं। उनमें सजा देने की शक्ति ही कहाँ है?" यह भ्रष्टचिन्तन भी कुबुद्धि और कुतर्क की उछलकूद है।

पापकर्म का भय नहीं, पापकर्म कोई देख न ले, यह भय है

इससे यह स्पष्ट है कि निःशंक होकर पापकर्म करने वाले ऐसे तथाकथित लोगों को पापकर्म का कोई भय नहीं है, अर्थात् वे पापभीरु नहीं हैं, सिर्फ डर इसी बात का है कि पापकर्म करते हुए कोई देख न ले। कोई मेरी पोल न खोल दे। ऐसे लोग छिपकर पापकर्म करते हैं। कोई न देखता हो तो चोरी, हिंसा, दुराचार आदि कर लेते हैं।[१] इसीलिए एक आचार्य ने पाप-पुण्य का लक्षण किया है-"**प्रच्छन्नं पापम्, प्रकटं पुण्यम्**।"-जो प्रच्छन्न (छिपकर) होता है, वह पाप है और प्रकट में होता है, वह पुण्य है। जो साधक भी छिपकर, एकान्त में, गुपचुप पापकर्म करते हैं, उनका मुनित्व या साधकत्व खोखला है, वे केवल वेष से साधु हैं, आचरण से नहीं। इसी तथ्य को भगवान महावीर ने स्पष्ट किया है-जो परस्पर एक-दूसरे की आशंका से, भय से या दूसरे के सामने (उपस्थिति में) लज्जा के कारण पापकर्म नहीं करता, तो क्या ऐसी स्थिति में उस (पापकर्म करने) का कारण मुनि होना है? कदापि नहीं।"[२]

अन्तर में पापकर्म-त्याग की प्रेरणा नहीं जगी, वहाँ पापकर्म-त्याग सच्चा नहीं

इस सूत्र का आशय यह है कि कोई भी आत्मार्थी-साधक अथवा अध्यात्मज्ञानी मुनि पापकर्म का त्याग केवल काया से या वचन से ही नहीं, मन से भी करता है।

---

१. 'पाप की सजा भारी, भा. १' (प्रवक्ता-मुनि श्री अरुणविजय जी) से भाव ग्रहण, पृ. १२१-१२२

२. जमिणं अण्णमण्ण-वितिगिच्छाए पडिलेहाए ण करेति पावं कम्मं किं तत्थ मुणी कारणं सिया?

ऐसी स्थिति में वह अपने त्याग के प्रति सतत वफादार रहता है। जो साधक (गृहस्थ हो या साधु) किसी दूसरे के लिहाज, भय, दबाव या उसके देखने के कारण पापकर्म नहीं करता; किन्तु परोक्ष में या छिपकर करता है, वह अपने त्याग के प्रति कहाँ वफादार रहा? इस पर यह भी ध्वनित होता है कि जो व्यक्ति केवल व्यवहारबुद्धि से प्रेरित होकर दूसरों के भय, दबाव या देखते हुए पापकर्म नहीं करता, वह उसका सच्चा त्याग नहीं है, त्याग का दिखावा मात्र है, क्योंकि उसके अन्तःकरण में पापकर्म-त्याग की प्रेरणा नहीं जगी है। इसलिए वह निश्चयदृष्टि से मुनि (या आत्मार्थी-साधक) नहीं है, मात्र व्यवहारदृष्टि से वह मुनि (या साधक) कहलाता है।[१]

पापभीरु या पापत्यागी की पहचान

ऐसे तो चोर, डाकू, गुंडे आदि असामाजिक तत्त्व चोरी, डाका, बलात्कार, हत्या, आगजनी आदि पापकर्म रात में, अंधेरे में, एकान्त में, चारों तरफ देखकर, दूसरे लोगों की नजर बचाकर पापकृत्य करते हैं। कोई देखता या सुनता है तो वे अपने मनोनीत पापकर्म को नहीं करते; इससे क्या उन्हें पापभीरु कहा जाएगा? कोई भी ऐसे व्यक्तियों को पापभीरु या पापत्यागी नहीं कह सकता।[२]

पापकर्म के फल से छुटकारा अन्यान्य उपायों से नहीं, स्वयं पापकर्म छोड़ने से ही संभव है

परन्तु यह भलीभाँति सोच लेना है कि कोई देखे या न देखे, पाप तो पाप ही है। किसी के देखने से सजा बढ़ जाएगी और न देखने से सजा कम हो जाएगी, ऐसा कदापि संभव नहीं है। उस पाप से गुरु-गुरुतर होने से आत्मा का पतन निश्चित है। उस पापकर्म के फलस्वरूप दुर्गति से कोई दूसरा बचाने वाला नहीं है। किसी भगवान या खुदा से माफी माँग लेने मात्र से अथवा धर्मस्थान आदि में जाकर केवल क्रियाकाण्ड या स्तुतिपाठ, प्रार्थना आदि कर लेने मात्र से भी उस पाप के फल से छुटकारा नहीं हो सकता। पापकर्मों से छुटकारा तभी हो सकता है, जब वह जीव (आत्मा) स्वयं ही उस-उस पापस्थान का स्वेच्छा से, अन्तःकरण से या मन-वचन-काया से सेवन कराने का त्याग करे। पापकर्म भले ही जड़-पुद्गल हों, उनसे आश्लिष्ट होने पर उनमें स्वयमेव फल देने की शक्ति है। जैसे—विष जड़-पुद्गल है, किन्तु उसे खाने पर मरण-शरण होना पड़ता है, मिर्च खाने पर वह

१. देखें—आचारांगसूत्र, श्रु. १, अ. ३, उ. ३ में 'जमिणं ....कारणं सिया' की व्याख्या (आ. प्र. समिति, ब्यावर), पृ. १०७-१०८

२. 'पाप की सजा भारी, भा. १' (मुनि श्री अरुणविजय जी) से भावांश ग्रहण, पृ. १२३

मुँह जलाती है, मदिरा पीने पर वह नशा चढ़ाती है। इसी प्रकार पापकर्म से आत्मा का संयोग होने पर वह स्वयमेव समय पर फल दे देता है।

पूर्वकृत पापकर्मों का फल देर-सबेर भोगना ही पड़ता है

चाहे लाखों-करोड़ों वर्ष बीत जाएँ, तो भी किये हुए पापकर्म का दण्ड तो अवश्यमेव भोगना पड़ता है, उसमें तो विकल्प ही नहीं है। कृत कर्मों को भोगे बिना कोई छुटकारा नहीं है। भगवान महावीर के २७ भवों की परम्परा को ही देख लीजिए–मरीचि के भव में बाँधे हुए नीच गोत्रकर्म के फलस्वरूप उन्हें १४वें भव तक लगातार याचक कुल में जन्म लेने का दण्ड भोगना पड़ा। फिर भी वे कर्म सत्ता (संचित) में से समाप्त नहीं हुए। अन्तिम २७वें भव में उन कर्मों के फलस्वरूप उन्हें देवानन्दा की कुक्षि में (गर्भ में) ८२ दिन तक रहना पड़ा। तभी उस कर्म से छुटकारा मिला।

भगवान महावीर को भी अनेक भवों तक पापकर्म का फल भोगना पड़ा

इसी प्रकार भगवान महावीर ने १८वें त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में शय्यापालक के कान में गर्मागर्म खौलता हुआ शीशा डलवाकर उसे मौत के घाट उतारा इत्यादि अनेक पापकर्मों के फलस्वरूप उन्हें १९वें भव में नरक में जाना पड़ा और वहाँ कृत पापकर्मों के दण्ड के रूप में भंयकर यातनाएँ भोगनी पड़ीं। फिर भी वह कर्म सत्ता में से समाप्त नहीं हुआ। फलतः २७वें (तीर्थंकर के) भव में उनको अपने कानों में खीले ठुकने की सजा मिली। अल्प समय में किये हुए घोर पापकर्म की सजा कितनी भारी और कितने भवों तक भोगनी पड़ी। इसलिए कहा है–"**नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।**"–"शतकोटि कल्पों तक में कृत कर्मों का फल भोगे बिना वे क्षीण नहीं होते। जिसमें निकाचितरूप से बँधे हुए पापकर्मों का फल तो कितने ही जन्म बीत जाएँ, अवश्यमेव उसी रूप में भोगना पड़ता है। अतः दुःखों, कष्टों, विघ्न-बाधाओं, विपत्तियों आदि से बचना है, दुर्गतियों में गमन रूप अधःपतन से बचना है, तो पापकर्म से बचना अनिवार्य है।[1]

पापकर्मों से कौन बच सकता है ?

जो आत्मा पापभीरु है, सच्चे अन्तःकरण से पापकर्मों से मुक्ति का इच्छुक है, भवभीरु है, पापकर्म करने से जिसका हृदय काँपता है, जिसे संसारवृद्धि नहीं करनी है, वही पापकर्म से अपने आप को बचा सकता है। इसीलिए भगवान

---

१. 'पाप की सजा भारी, भा. १' (मुनि श्री अरुणविजय जी) से भाव ग्रहण, पृ. १२४

महावीर ने कहा–"इसलिए जो आतंकदर्शी (पापकर्म से भय खाने वाले) हैं, वह तत्त्वज्ञ अतिविद्वान् अथवा त्रिविध विद्याओं का ज्ञाता परम (परमार्थ या कर्ममुक्तिरूप मोक्ष) को जानकर पापकर्म नहीं करता। अर्थात् वह स्वयं पापानुबन्धी कर्म नहीं करता, न ही दूसरों से कराता है, न ही पापकर्म का या करने वाले का अनुमोदन करता है।"

'आचारांगसूत्र' के अनुसार–"जहाँ पापकर्मों से बचने का प्रश्न हो, वहाँ समता (ज्ञाता-द्रष्टाभाव-माध्यस्थ्यभावरूप धर्म) का विचार करके अपनी आत्मा को प्रसन्न (स्वच्छ = राग-द्वेष से अकलुषित) रखे।" पापकर्मों से वही दूर रह सकता है, जो अपनी दृष्टि ऊँची (शुद्ध आत्मा या परमात्म-तत्त्व में) रखता है, क्षुद्र कामभोगों या पापकर्मों की ओर निम्न दृष्टि नहीं रखता। इसीलिए भगवान महावीर ने कहा–"उच्च (उन्नत) दृष्टि वाला (उच्चदर्शी) साधक ही पापकर्मों से दूर रहता है।"[1]

अपने आप को न देखने से मनुष्य पापस्थानों की ओर बढ़ता है

इन दोनों सूत्रों का तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य पापकर्मों से बचना चाहता है, वह अपनी आत्मा को राग-द्वेष के भावों से दूर शुद्ध रखे, अपने स्वच्छ स्वरूप में रखे तथा पर-भावों–सजीव-निर्जीव पर-पदार्थों, विभावों को न देखकर अपने आप को–अपनी शुद्ध आत्मा (परमात्मभावरूप) को देखें। मनुष्य के पास देखने के लिए दो नेत्र हैं। पर आश्चर्य है, उन दोनों नेत्रों से वह स्वयं (अपने आप) को न देखकर, दूसरों (पर-पदार्थों–सजीव-निर्जीव–पर-भावों और विभावों) को देखता है। इसी कारण प्राणातिपात आदि अठारह ही पापस्थान उसके मन-वचन-काया में प्रादुर्भूत हो जाते हैं और वह उन पापकर्मों के प्रवाह में बह जाता है। फलतः उसके जीवन में अशान्ति, असन्तोष, तनाव, चिन्ता, भय, उद्वेग, व्याकुलता आदि अनेक समस्याएँ पैदा हो जाती हैं।

पापस्थानों से विरत होने का दूसरा मूलमंत्र

उच्च (उन्नत) दृष्टि वाला साधक पापकर्मों से दूर रह सकता है, यह भगवत्कथन भी बहुत रहस्यपूर्ण है। जो व्यक्ति निम्न दृष्टि वाला होगा, वह बात-बात में राग, द्वेष, कषाय आदि से घिर जाएगा। प्रसिद्ध दार्शनिक देकार्ते के

---

१. (क) तम्हाऽतिविज्जो परमं ति णच्चा, आयंकदंसी न करेइ पावं।

–आचारांग, श्रु. १, अ. ३, उ. २

(ख) समयं तत्थुवेहाए, अप्पाणं विप्पसायए। *–वही, श्रु. १, अ. ३, उ. ३*

(ग) अणोमदंसी निसण्णे पावेहिं कम्मेहिं। *–वही, श्रु. १, अ. ३, उ. २*

साथ किसी ने अभद्र व्यवहार किया। दूसरा होता तो झट उबल पड़ता और गुस्सा, द्वेष या मारपीट पर उतर आता, मगर वह शान्त रहा। उसके मित्रों ने कहा–“इसने आपके साथ बहुत ही अशिष्ट व्यवहार किया है, आप इसका बदला लीजिए।” उच्चदर्शी देकार्ते ने सहजभाव से कहा–“जब कोई मेरे साथ अभद्र व्यवहार करता है तो मैं अपनी आत्मा को उस ऊँचाई तक ले जाता हूँ, जहाँ शुद्ध आत्मा के सिवाय कोई भी व्यवहार उसे छू नहीं सकता।” यही उच्चदर्शित्व का सिद्धान्त अर्जुन मुनि, गजसुकुमार मुनि आदि के जीवन में उतर गया था। उनके साथ घोर यातना का व्यवहार हुआ, फिर भी वे उच्चदर्शी बनकर शुद्ध आत्मदर्शी रहे। इसी कारण समस्त पापस्थानों से उन्होंने विरति प्राप्त की और उसके फलस्वरूप भगवदुक्त वचन के अनुसार वे ऊर्ध्वारोहण करके लोक के अग्र भाग में स्थित हो गए, अर्थात् परम शुद्ध, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, सर्वदुःखरहित हो गए। यह है पापकर्मों–पापस्थानों–से विरत होने का भगवान द्वारा प्ररूपित मूलमंत्र।[1]

आत्मा से आत्मा को सम्यक् प्रकार से देखो–जानो

यही कारण है कि भगवान महावीर ने आत्मार्थी एवं मुमुक्षु साधक को निर्देश दिया–“संपिक्खए अप्पगमप्पएणं।”–अपने आप का अपनी आत्मा से सम्यक् प्रकार से प्रेक्षण करो = देखो। अर्थात् आत्मा के द्वारा आत्मा को भलीभाँति देखो। यह तभी हो सकता है जब व्यक्ति दूसरों को न देखकर अपने आप को देखे, यानी अन्तर की गहराई में डूबकर अपने अन्तस्तल में जो आवृत है, उसे अनावृत करे; जो सुषुप्त है, उसे जाग्रत करे; जो कुण्ठित है, उसे भेदविज्ञान द्वारा सक्षम बनाए।[2]

आत्मा को आत्मा से देखने का रहस्यार्थ

कुछ भौतिकवादी या तार्किक लोग यह कहते सुने जाते हैं कि अपने आप को तो सब जानते-देखते हैं, उसका क्या देखना-जानना? किन्तु यह बात यथार्थ से दूर है। अल्पज्ञ या राग-द्वेष से क्लिष्ट मानव, जितना जानता–देखता है, उससे कई गुणा–एक अपेक्षा से कहें तो, सहस्रों गुना जानना–देखना अभी बाकी है। जो समुद्र के ऊपरी सतह पर देखता है, उसे मिलते हैं–छोटे-छोटे शंख, सीपियाँ, कीचड़, घास आदि। परन्तु जो समुद्र में गहरा गोता लगाता है, गहराई में जाता है, उसे मोती मिलते हैं, हीरा, पन्ना आदि भी मिल सकते हैं। कोयले आदि की खान में ऊपर तो धूल और पत्थर ही दृष्टिगोचर होते हैं; जो खान की गहराई में, यानी

१. (क) ‘जैनभारती, अक्टूबर १९९१’ से भाव ग्रहण

(ख) देखें–अन्तकृद्दशांगसूत्र में अर्जुन मुनि एवं गजसुकुमार मुनि का संयमी जीवन वृत्त

२. दशवैकालिकसूत्र विवित्त चरिआः बीआ चूलिआ, गा. १२

गहरी खुदाई में चला जाता है, उसे कोयले के साथ-साथ हीरा भी मिल जाता है। पन्ने की खान में गहरी खुदाई में जाने पर ही पन्ना मिल पाता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति अन्तरात्मा की गहराई में जाता है, उसे आत्मा के निजी गुणों की बहुमूल्य सम्पदा मिलती है।[1] जो उच्चदर्शी अर्थात् आदर्श-द्रष्टा नहीं है, वह निम्न दृष्टि पुरुष प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य आदि पापों को ही पाता है।

सामान्यतया लोग यह मानते हैं कि आँखें (चर्मचक्षु) खुली रहें, तभी व्यक्ति रंग, प्रकाश या बाह्य पदार्थों को देख सकता है, परन्तु यह एकान्त और अनुभूतिहीन तथ्य है। अनुभवी और अन्तर्द्रष्टा पुरुषों का यह अनुभव है कि आँखें बंद करने पर अन्तर की आँखों से प्रकाश, रंग एवं अज्ञात सत्य ज्ञात होने लगते हैं, दिखाई देने लगते हैं। होना चाहिए अन्तरात्मा में गहरी डुबकी लगाने वाला दृढ़-विश्वासी साधक, उसे अन्तर में गोता लगाने पर धीरे-धीरे आत्मिक गुणों से तथा सत्य से साक्षात् होने लगता है। फिर वह बाहर को देखने के चक्कर में नहीं पड़ता, न ही अन्तर के नेत्रों से बाहर के पर-पदार्थों को देखने–जानने का प्रयास करता है।[2]

पर-पदार्थ और उन्हें देखने से पापस्थानों की उत्पत्ति कैसे ?

शरीर और शरीर से सम्बन्धित सभी सजीव-निर्जीव वस्तुएँ पर-भाव में समाविष्ट हैं। उनके प्रति व्यक्ति जब अपनी दृष्टि गड़ाता है, तब या तो राग उत्पन्न होता है या उत्पन्न होता है द्वेष। आसक्ति और घृणा, मोह और द्रोह, ममता और अरोचकता आदि राग-द्वेष के ही पर्याय हैं। इन दोनों से अशुभ (पाप) कर्म का बन्ध हो जाता है।

इस प्रकार दूसरों को, पर-पदार्थों को देखने का अभ्यासी या प्रमादी मानव अपने आप (आत्मा) को नहीं देख पाता, इसी कारण उसका मन मानसिक तनावों से, कुण्ठता से, उद्विग्नता से, कभी आत्म-हीनता से और कभी गौरवग्रन्थि से घिर जाता है। दूसरों को देखते-देखते मानव अपनी जिंदगी से–बहुमूल्य मानव-जीवन से निराश-हताश, उदास, मनहूस, असन्तुष्ट, असहिष्णु और क्लान्त होकर बैठ जाता है, वह कुछ करने को उत्साहित नहीं होता। वह रात-दिन दूसरों के विषय में चिन्तन करता रहता है। किसी को देखकर उसे राग उत्पन्न होता है, किसी को देखकर भय, उत्तेजना, घृणा, क्रोध, द्वेष, वैर, मोह, ईर्ष्या, आवेश और उन्माद जाग्रत होता है। ऐसा व्यक्ति, जो दूसरों को–पर-पदार्थों को देखने में ही संलग्न

१. 'मन का कायाकल्प' से भावांश ग्रहण, पृ. १५६

२. वही, पृ. १५७

रहता है, वह पूर्वोक्त पापस्थानों से विरत नहीं हो पाता। पापस्थान उसके मन-मस्तिष्क पर हावी हो जाते हैं। पूर्वसंस्कारवश अथवा पैतृकसंस्कारवश चाहे वह द्रव्य-हिंसा नहीं कर पाता हो, परन्तु राग-द्वेष, कषायादिवश भाव-हिंसा = आत्म-हिंसा तो कर ही बैठता है।

पर-भावों की ओर देखने वाला अभव्य कालशौकरिक

राजगृह-निवासी कालशौकरिक कसाई, जो अभव्य था और प्रतिदिन ५०० भैंसे मारने-काटने की घोर हिंसा का पापकर्म करता था। ऐसी तीव्र हिंसा के पाप के कारण उसे सप्तम नरक का अतिथि बनना पड़ा। यद्यपि कालशौकरिक कसाई प्रतिदिन भगवान महावीर के समवसरण में बैठकर उनका उपदेश सुनता था। परन्तु मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के प्रबल प्रभाव से प्रभु महावीर की वाणी का लेशमात्र भी असर उस पर नहीं होता था। भगवान महावीर ने श्रेणिक राजा को पूणिया श्रावक की एक सामायिक खरीदने हेतु चार उपायों में से एक उपाय यह भी बताया था कि यदि कालशौकरिक पाडों का वध करना बंद कर दे तो तुम्हें सामायिक-प्राप्ति के कार्य में सफलता मिल सकती है। श्रेणिक को आशा बँधी, लेकिन वह आशा निराशा में ही परिणत हो गई, जबकि कालशौकरिक को बहुत कुछ समझाने-बुझाने, उसकी आजीविका का अन्य प्रबन्ध कर देने का आश्वासन देने एवं उससे यह पशुवध छुड़ाने हेतु उसे जबरन कुएँ में भी उतार देने के बावजूद भी वह पशु-हिंसा न छोड़ सका। कुएँ में भी कुएँ के पाल की गीली मिट्टी लेकर उससे पाड़ों की आकृति बनाकर ५०० पाड़े मारे। मानसिक हिंसा ही भाव-हिंसा है, उसी से तीव्र पापकर्म बँधे हैं, जो उसे अधमाधम अधोगति की ओर ले गए। जब तक वृत्ति से पापकर्म नहीं हटता, तब तक प्रवृत्ति से पापकर्मबन्ध से विरत होने की सम्भावना नहीं रहती।[१]

कालशौकरिक-पुत्र सुलसकुमार की हिंसादि पापों से विरति

कालशौकरिक के एक पुत्र था—सुलसकुमार। उसे भी वह प्रतिदिन अपने साथ भगवान महावीर के समवसरण में ले जाता था। उसे भगवान का उपदेश बहुत रुचिकर लगता था। इस कारण उसमें अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि धर्म के संस्कार प्रबल होते गए। सुलस का स्वभाव अपने पिता के स्वभाव से बिलकुल उलटा था। यह स्वाभाविक है कि पिता की व्यावसायिक प्रवृत्ति को देख-देखकर पुत्र की भी उसमें प्रवृत्ति हो; लेकिन ऐसा कोई नियम नहीं है। अतः पिता के द्वारा पशुवध आदि पापकर्म करने का आदेश देने पर भी वह उसे कतई स्वीकार न कर सका।

१. 'पाप की सजा भारी' से भाव ग्रहण, पृ. १७३

उसने पिता से साफ-साफ कह दिया—"मैं ये हिंसादि पापकर्म कतई नहीं करूँगा और न ही आपके पापवर्द्धक व्यवसाय में हिस्सेदार बनूँगा। मैंने भगवान महावीर से सुना है—यह महापाप है, जिसका भारी दण्ड अत्यन्त दुःखदायक नरक में लाखों-करोड़ों वर्षों तक भोगना पड़ेगा।" इस प्रकार हिंसादि पापों से विरत होकर सुलसकुमार भगवान महावीर का उच्च कोटि का श्रावक बना। उसने आत्मा में निरीक्षण-समीक्षण की वृत्ति बना ली, जिसके फलस्वरूप उसकी चेतना का ऊर्ध्वारोहण हो सका। निष्कर्ष यह है कि कुल परम्परागत पापकर्मों को वृत्ति में से छोड़ने पर पापस्थान छूटने हैं, वे प्रवृत्ति में भी नहीं आते।[1]

यतनापूर्वक प्रवृत्ति करने से पापकर्म से बचाव हो सकता है

'दशवैकालिकसूत्र' में शिष्य के इस प्रश्न पर कि चलने-फिरने, खाने-पीने, सोने-बोलने आदि प्रत्येक प्रवृत्ति में पापकर्म का बन्ध होता है, साधक पापकर्म से कैसे बच सकता है? इसके समाधान में कहा गया है—जयणा (यत्नाचार) से चलने-फिरने, सोने-खाने आदि की प्रवृत्ति करने से पापकर्म का बन्ध नहीं होता। यह सूत्रगाथा केवल साधुओं के लिए ही हो, ऐसी एकान्त बात नहीं है। जो भी आत्मार्थी है, कर्ममुक्ति का इच्छुक है, वह यदि अपने मन-वचन-काया से जो भी शुभ प्रवृत्ति करे, वह सावधान, विवेकी और आत्मदृष्टि-परायण होकर करे तो पापकर्म के बन्ध से विरत हो सकता है।[2]

'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का आत्मदृष्टि-साधक पापकर्मों से सहज विरत हो जाता है

पापकर्मों से विरत होने का दूसरा ठोस उपाय यह बताया है कि आत्मदृष्टि-साधक जब सर्वभूतात्मभूत समस्त प्राणियों के प्रति आत्मौपम्य दृष्टिवान् होकर समस्त प्राणियों पर समभाव की दृष्टि रखता है, अर्थात् जैसे अपनी आत्मा का अस्तित्व है, वैसे ही दूसरे प्राणियों की आत्मा का अस्तित्व है। वह जब दूसरे प्राणियों का अस्तित्व स्वीकारता है, तब उसकी दृष्टि अनायास ही पर-भावों से हटकर अपने आत्म-भावों की ओर जाती है। इस कारण वह स्व-रक्षण की वृत्ति को सर्व-रक्षण में बदल देता है। मेरी तरह दूसरों को भी हिंसा, असत्य, चोरी आदि प्रिय नहीं हैं। इस प्रकार के आत्म-सम्प्रेक्षण से वह हिंसादि विभावों में प्रवृत्त न होकर अपनी आत्म-हित की प्रवृत्ति में जुट जाता है। ऐसे करने से उसके आस्रवों का प्रवाह बन्द

---

१. 'पाप की सजा भारी' से भाव ग्रहण, पृ. १७४-१७५

२. जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो पावकम्मं न बंधइ॥ —*दशवैकालिकसूत्र, अ. ४, गा. ८*

हो जाता है, वह अपनी ही आत्मा को पर-भावों से हटने (दमन करने) को बाध्य कर देता है, जिससे वह पापकर्म का बन्ध नहीं करता। बल्कि कई बार आत्म-भावों में रमण तथा पूर्वबद्ध पापकर्मों को समभावपूर्वक रहने में आत्म-दमन करके भाव-संवर और सकामनिर्जरा का लाभ भी अनायास ही पा लेता है।[1]

इस प्रकार पापकर्मों में प्रवृत्ति से जो पतन की संभावना थी, उसे इस सूत्रपाठ के निर्देश द्वारा रोककर उत्थान के मार्ग पर आत्मा को आरूढ़ करने का यह आसान और अचूक उपाय है।

रागादियुक्त सम्बन्ध जोड़ने से नरक का निर्माण होता है

'ज्वॉपाल सात्र' का कथन है–"The other is Hell."–यह जो दूसरा (पर-भाव) है, वही नरक है। वास्तव में नरक निश्चित ही दूसरे की वजह से होता है। परन्तु प्रश्न यह है कि यह दूसरा 'दूसरा' क्यों है? "Why the other is other ? because I is I."–क्योंकि मैं, मैं हूँ; इस कारण दूसरा दूसरा। निश्चित ही दूसरा (पर) सदा 'मैं' के परिप्रेक्ष्य में पैदा होता है। इसी कारण प्रबुद्ध पुरुष कहता है–"Not the other out, Otherness is Hell."–व्यक्ति निपट अकेला हो, दूसरा (विभाव या पर-भाव) कोई संयुक्त होने के लिए हो ही नहीं; क्योंकि (व्यक्ति के लिए) दूसरापन ही नरक (का कारण) है। व्यक्ति (आत्मा) अकेला होता है (अर्थात् केवल निजस्वरूप में स्थित होता है) तो उसके मन में कोई भी बुराई, कोई भी (क्रोधादि कषायरूप या रागादिरूप) विकृति पैदा हो ही नहीं सकती। 'उपनिषद्' में भी कहा है–"**द्वितीयाद् वै भयम्।**"–दूसरे से अवश्य ही भय है। एकाकी अकेला व्यक्ति (आत्मा) किससे मोह करेगा? किससे ईर्ष्या करेगा? 'उपनिषद्' का वाक्य है–"**तत्र को मोहः कः शोक एकत्व मनुपश्यतः।**"–जहाँ एकत्व की (अकेले आत्मा की) दृष्टि से अनुप्रेक्षण हो, वहाँ क्या मोह है, क्या शोक है? मोह-शोकादि विकार वहीं पैदा होते हैं, जहाँ व्यक्ति रागादि या कषायादि से युक्त होकर पर-पदार्थों से जुड़ता है। व्यक्ति जैसे ही दूसरे (विभावयुक्त पर-भाव) से संयुक्त होना प्रारम्भ करता है, वैसे ही सम्बन्धों के साथ रागादि जुड़ जाते हैं। सम्बन्धों की बुनियाद ही प्रायः राग और द्वेष पर रखी होती है। ये राग-द्वेष ही फैलकर क्रोध, मान, माया, लोभ, मद, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष, वैर-विरोध आदि विकृतियों के पैदा होने के हेतु बनते हैं। ये ही सब विकृतियाँ मनुष्य के मन में नरक का निर्माण करती हैं। निश्चित ही इन सब बुराइयों का जन्म आत्मा के द्वारा दूसरे से (रागादि को लेकर)

---

१. सव्वभूयप्पभूयस्स समं भूयाइं पस्सओ।
पिहिआसवस्स दंतस्स पावकम्मं न बंधइ॥ –*दशवैकालिक ४/९*

सम्बन्धित होने से ही होता है।[१] अतः पापकर्मरूप पर-भावों से रागादियुक्त सम्बन्ध न जोड़ने से ही संवर का लाभ मिल सकता है।

पर-पदार्थों की ओर नहीं झाँकने वाले को आध्यात्मिक विकासारोहण

आशय यह है कि जब व्यक्ति सजीव-निर्जीव पर-पदार्थों की ओर रागादि दृष्टि से ताक-झाँक करेगा ही नहीं, वह सिर्फ अपनी आत्मा में ही झाँकेगा, आत्म-हित का ही चिन्तन-मनन करेगा, तब किसकी हिंसा करेगा? किससे व किसके लिए झूठ बोलेगा? चोरी क्यों और किसके लिए करेगा? राग-द्वेष, क्रोधादि कषाय, हास्यादि नौ नोकषाय, ईर्ष्या, पर-निन्दा, चुगली आदि पापकर्म भी क्यों और किसलिए करेगा? निश्चित है, ऐसा साधक अवश्य ही इन पापस्थानों से विरत होकर अपने आत्म-भावों में ही स्थिर हो जायेगा, उन्हीं में रमण करेगा तथा परमात्म-भाव = वीतराग-भाव के निकट पहुँचने का पुरुषार्थ करेगा। यही तो संवर और निर्जरा का मार्ग है। 'आचारांगसूत्र' में स्पष्ट कहा है–"वह आत्म-सम्प्रेक्षी साधक आगे चलकर (संयम में) उत्थित (उद्यत), स्थितात्मा (आत्म-भावों में स्थित), अस्नेह (अनासक्त), अविचल (परीषहों और उपसर्गों में अडोल रहने वाला), अध्यवसाय (लेश्या) को संयम से या आत्म-भाव से बाहर न ले जाने वाला साधक अप्रतिबद्ध होकर परिव्रजन (विचरण) करता है।" पापकर्मों से विरत होने वाले व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास के ऊर्ध्वारोहण का यह सुगम मार्ग है।[२]

पापस्थान अगणित, किन्तु उन सबका अठारह में परिगणन

आगमों में पापस्थान के १८ प्रकार बताये हैं, किन्तु वे अगणित हैं, भले ही उन्हें अठारह भेदों में परिगणित किया गया है। जैसे–शास्त्रकारों ने एक प्राणातिपात के ही १८२४१२० गिनाए हैं।[३] इसी प्रकार अन्य पापस्थानों में से प्रत्येक के कई-कई भेद हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक पापस्थान के तीव्र, मन्द और

---

१. 'जैन परम्परा, दिसम्बर १९९४' के अंक से भावांश ग्रहण

२. एवं से उट्ठिए ठियप्पा अणिहे अचले चले अबहिलेस्से परिव्वए।

–आचारांग, श्रु. १, अ. ६, सू. ६८६

३. **प्राणातिपात (हिंसा) के १८२४१२० प्रकारों का गणित**–जीवों के कुल भेद ५६३, इन्हें 'अभिहया' आदि १० प्रकारों से गुणा करने पर ५६३० हुए। फिर इन्हें राग-द्वेष से गुणा करने ५६३० × २ = ११२६० × ३ (मन-वचन-काया ३ योग) से = ३३२८० × ३ (तीन करण) से = १०१३४०, फिर इन्हें ३ काल से गुणित करने पर ३०४०२० हुए। फिर इन्हें अरिहन्त, सिद्ध, साधु, देव, गुरु और आगम की साक्षी इन ६ से गुणा करने पर ३०४०२० × ६ = १८२४१२० प्रकार हिंसा के होते हैं। *–सं.*

मध्यम के भेद से तथा उनके विभिन्न पर्यायों के भेद से अनेकानेक भेद हो जाते हैं। 'प्रश्नव्याकणसूत्र' में हिंसा, मृषावाद, चोरी आदि पापों (आस्रवों) के प्रत्येक के लगभग ३०-३० पर्यायवाची नाम बताए हैं। फिर उन पापास्रवों के अध्यवसायों, उपायों, प्रकारों आदि की भिन्नता से नाना भेद हो जाते हैं। किन्तु केवलज्ञानी तीर्थंकरों ने इन सब हिंसादि पापों–पापस्थानों को १८ प्रकारों में परिगणित कर दिया है। अतः इन १८ पापस्थानों के जितने भी पर्याय या प्रकार हैं, वे सभी पापकर्मबन्ध के कारणभूत समझने चाहिए। इनमें से एक पापस्थान के सेवन से भी जीव जब कर्मों से भारी (गुरु) होकर अधोगति को प्राप्त होते हैं, तब फिर सारे पापस्थानों के सेवन से तो अधमाधम अधोगति प्राप्त हो, इसमें तो कहना ही क्या?

फिर भी एक बात निश्चित है कि इन सब पापस्थानों की उत्पत्ति विभावों या सजीव-निर्जीव पर-भावों (पर-पदार्थों) को देखने से होती है; दूसरे शब्दों में कहें तो अपने आप (आत्मा) को न देखने से। यदि जीव रागादि विकारों से अलिप्त होकर अपने आप को ही देखे, इनकी ओर देखे ही नहीं, तो पापकर्मों के आस्रव और बन्ध से बचकर संवर और निर्जरा का महालाभ प्राप्त कर सकता है।

●●

कर्म विज्ञान :
कर्म सिद्धान्त का विश्व कोष

■ लोकभाषा में कहा जाता है-'यथा बीज तथा फलं' जैसा बीज वैसा फल। न्यायशास्त्र की भाषा में इसको कार्य-कारणभाव और अध्यात्मशास्त्र की भाषा में इसे क्रियावाद या कर्म-सिद्धान्त कह सकते हैं। भगवान महावीर अपने को क्रियावादी कहते थे। क्रिया ही कर्म बन जाती है। जो क्रियावादी होगा, वह लोक-परलोकवादी होगा। परलोकवादी आत्मवादी होगा। आत्मवादी का जीवन धर्म, नीति, लोक व्यवहार सभी में आदर्श और सहज पवित्रता लिये होगा।

■ भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित कर्मवाद या कर्म-सिद्धान्त विश्व के समस्त दर्शनों और आचार शास्त्रों में एक तर्कसंगत, नीति नियामक सिद्धान्त है। यह अध्यात्म की तुला पर जितना खरा है, नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, न्यायशास्त्र और आचारशास्त्र की दृष्टि में भी उतना ही परिपूर्ण और व्यवहार्य है। संक्षेप में जो कर्म-सिद्धान्त को जानता है/मानता है और उसके अनुसार जीवन व्यवहार को संतुलित/संयमित रखता है वह एक आदर्श मानव, एक आदर्श नागरिक और आदर्श अध्यात्मवादी का जीवन जी सकता है।

जैनमनीषियों ने कर्मवाद या कर्म-सिद्धान्त पर बहुत ही विस्तार से सूक्ष्मातिसूक्ष्म चर्चा की है। जीवन और जगत् की सभी क्रिया-प्रतिक्रियाओं के फल की संगति बैठाकर उसे वैज्ञानिक पद्धति से व्याख्यायित करने का प्रयास किया गया है। जिसे आधुनिक भाषा में कर्म-विज्ञान कह सकते हैं। यह मनोविज्ञान और परामनोविज्ञान की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है।

अतीत से वर्तमान तक के सैंकड़ों विद्वान विचारकों, व लेखकों के तथ्यपूर्ण निष्कर्षों के प्रकाश में तथा पौराणिक एवं अनुभूत घटनाओं के परिप्रेक्ष्य यह कर्म विज्ञान पुस्तक आपको कर्म-सिद्धान्त का विश्व कोष प्रतीत होगा। आठ भागों में समाप्त यह पुस्तक पठनीय, मननीय और सन्दर्भ देने के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

कर्म विज्ञान : जीवन का विज्ञान है

कर्म विज्ञान हमारे जीवन की प्रत्येक क्रिया का कारण, उसका फल (प्रतिक्रिया) और उसके निवारण (अवक्रिया) का वैज्ञानिक युक्तिसंगत समाधान देता है। मन की उलझी हुई अबूझ गुत्थियों और सृष्टि की विचित्र अप्रत्याशित/अलक्षित घटनाओं को जब हम 'प्रभु की लीला' या होनहार एवं नियति मानकर चुप हो जाते हैं, तब कर्मविज्ञान उनकी तह में जाकर बड़े तर्कपूर्ण व्यावहारिक ढंग से सुलझाता है। मन का समाधान जीवन का समाधान देता है कर्म विज्ञान।

—आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

प्रकाशक
श्री तारक गुरु जैन ग्रंन्थालय, उदयपुर

कर्म विज्ञान